जाट इतिहास

लेखक—

ठाकुर देशराज, जघीना (भरतपुर)

भूतपूर्व सम्पादक—

अर्द्ध-साप्ताहिक "राजस्थान सन्देश"

प्रकाशक—

श्री ब्रजेन्द्र साहित्य समिति, आगरा।

मुद्रक—

सत्यपाल शर्मा,

कान्ति प्रेस, माईथान—आगरा।

चौधरी लादूरामजी, सरपंच खंडेलवाटी जाट
पंचायत (हाल) रानीगंज-बंगाल।

समर्पण

सेवा में,

चौधरी लादूराम जी सरपंच जाट पंचायत

खंडेलावाटी-जैपुर।

मान्यवर !

आपके उत्कट जाति प्रेम, सच्ची लगन, अनुकरणीय दानशीलता, निष्कपट सहृदयता, सौम्यभाव और हँसमुख प्रकृति एवं स्वाभाविक उदारता पर मुग्ध होकर आपही के प्रोत्साहन से प्रेरित होकर की हुई अपनी यह कृति (जाट इतिहास) आपही के कर कमलों में सादर समर्पित करता हूँ।

आपका—

देशराज।

'जाट इतिहास' के लेखक—

ठा० देशराज जघीना, भरतपुर।
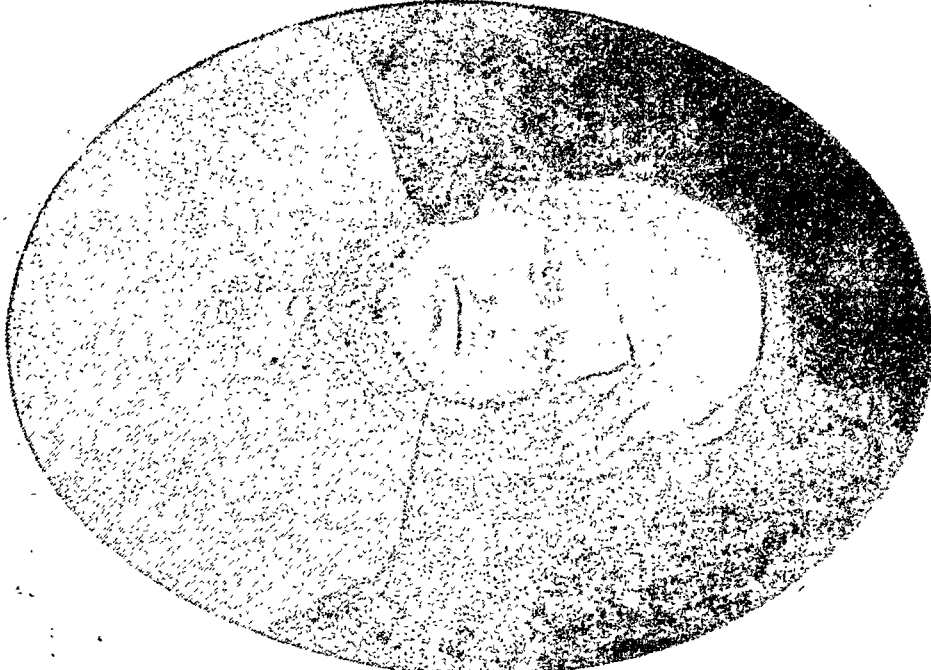
कुं० रतनसिंह जी, भरतपुर।
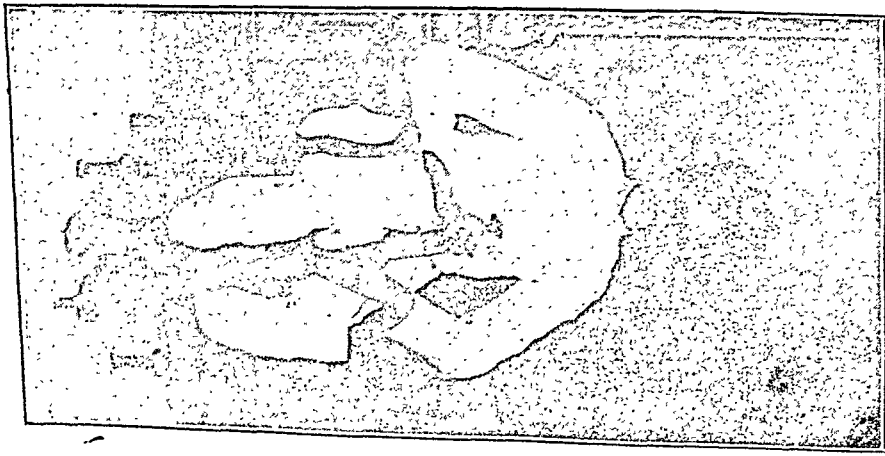
कुं० भूरसिंह जी देवरोड़, जैपुर।

प्रस्तावना

किसी भी समाज या जाति के विकास और अभ्युदय में इतिहास का स्थान सदा सब से ऊँचा रहा है। मानव जाति के सुदीर्घ जीवन में शायद ही कभी ऐसा अवसर आया हो जब इतिहास की आवश्यकता न रही हो। इस बात को यों भी कहा जा सकता है कि कोई भी जन-समाज बिना इतिहास के अपने अस्तित्व को सुरक्षित नहीं रख सकता है। जिस समाज का इतिहास नष्ट हो जाता है उसके पुनरुद्धार में बड़ी कठिनाइयाँ पेश आती हैं। क्योंकि मनुष्य का प्रकृति-जन्य स्वभाव अनुसरण करने का है। कुछ व्यक्ति समाज में ऐसे भी होते हैं कि एक नवीन मार्ग और आदर्श समाज के सामने अमल करने को पेश कर देते हैं। किन्तु समाज में ऐसे बहुत ही थोड़े आदमी होते हैं, और ऐसे उदाहरण हमें बहुत ही कम मिलते हैं जहाँ आदर्शवादियों ने भी प्राचीन इतिहास का सहारा न लिया हो। अभ्युत्थान के लिए इतिहास मार्ग-प्रदर्शक एवं नेता का काम देता है। नेता का मार्ग अस्पष्ट और संदिग्ध भी हो सकता है। किन्तु इतिहास का बताया हुआ मार्ग अनुभव में आया हुआ होता है। इतिहास जिन सिद्धान्तों को सामने रखता है वे कसौटी पर उतरे हुए होते हैं।

पुराने वैद्य और नवसिखुये वैद्य में जितना अन्तर होता है उतना ही इतिहास और नेता में समाज के कल्याण के मार्ग के लिए होता है। आज के युग में किसी देश और जाति को नेता की जितनी आवश्यकता है वह किसी से छिपी हुई बात नहीं। फिर इतिहास की तो नेता से भी अधिक आवश्यकता है।

इस कथन से हमारा तात्पर्य इतिहास की उपयोगिता प्रदर्शित करने भर का है, यह नहीं कि इतिहास नेता की भी कमी को दूर कर सकता है।

इतिहास में होता भी क्या है? यही न कि भूत काल में अमुक समाज और देश को अमुक नेता ने अमुक मार्ग से उन्नत किया।

वह समाज या जाति अथवा देश कितना कृतघ्न समझा जाना चाहिये जो अपने प्राचीन उद्धारकों और नेताओं तथा उनके सहायकों की स्मृति को जिसे कि इतिहास कहते हैं सुरक्षित न रक्खे। ऐसा समाज अपने पाप (कृतघ्नता) का फल भुगतता है और वह फल उसे अपमान के रूप में मिलता है। क्योंकि सदैव किसी का स्वरूप एकसा नहीं रहता है। प्रत्येक काल में उसका वर्तमान रूप देख कर लोक समूह उसे सन्मान देता है। यदि वह सन्मान में रियायत चाहता है तो उसे पूर्वकाल का अपना विशेष सम्मानित होने का प्रमाण देना होता है। प्राचीन प्रमाण भी इतिहास और उसका स्वरूप ही होते हैं।

जाट-जाति का गौरव-सूर्य किसी समय खूब चमका था, उसका प्रत्येक व्यक्ति स्वाभिमानी और योद्धा था। उसके राज्य थे, रिसाले थे और भूमि थी। आज जहाँ उसे केवल खेत करके जीवन निर्वाह करते देखा जाता है तो कोई उसे वैश्य अनुमान करता है और कोई केवल किसान जाट। इस कथन के विरुद्ध कुछ कहने की इच्छा रखते हुए भी कह नहीं सकते हैं, क्योंकि उन्होंने अपने गौरव का—अपने उच्च पद का कोई प्रमाण पत्र (इतिहास) सुरक्षित नहीं रक्खा। एक विदेशी इतिहासकार ने लिखा है—*'जाटों से जब कहा जाता कि अपने स्मारक के लिए कोई समाधि, लेख व स्तूप खड़ा कीजिये तो वे कहते सद्गुण ही सच्चा स्मारक हैं'*। इस समय भी जाटों के अनेकों दिमागों में यही बात है। अभी पिलानी में जाट विद्यार्थी परिषद् में बोलते हुए एक पढ़े लिखे कहे जाने वाले जाट ने इसी बात को दुहराया था। उसके शब्दों का सार इस प्रकार है—*"मैंने सुना है कोई सज्जन "जाट इतिहास" लिख रहे हैं, उससे तो अच्छा यह होता कि जितना रुपया इतिहास की छपाई में लगाया जायगा पिलानी में जाट बोर्डिंग हौस बनवा दिया जाता।"*

जाट लोगों ने इतिहास की आवश्यकता को अनुभव नहीं किया। दूसरी जातियों ने इस ओर पूरा ध्यान दिया। उसका फल सामने आया। जिन्होंने इतिहास की क़द्र की उनकी आज सब क़द्र करते हैं। जाट अपने विषय में खुद सोच लें कि इतिहास की उपेक्षा करने के कारण समाज में उनका स्थान गिरा या नहीं ?

भरतपुर व चित्तौड़ में आज कौन लोक निगाह में चढ़ा हुआ है ? चित्तौड़। क्यों ? इसीलिए कि चित्तौड़ के लोगों ने चारणों से, भाटों से, लेखकों से अपने कृत्यों का प्रचार कराया—उसका इतिहास तयार कराया। चित्तौड़ पर देहली की ओर से चढ़ाइयाँ हुईं। भरतपुर पर भी हुईं। किन्तु चित्तौड़ देहली पर चढ़ कर कभी नहीं गया। भरतपुर ने दिल्ली को ख़ाक में मिला दिया। चित्तौड़ से जो वस्तु दिल्ली गई, भरतपुर उसे दिल्ली से घर ले आया। किन्तु भरतपुर ने इन घटनाओं और कृत्यों का कोई प्रमाण (इतिहास) नहीं रक्खा, न उसके प्रचार के लिए कुछ व्यय किया।

जाटों के समान दूसरी क़ौमें इतिहास के लाभों से अनभिज्ञ नहीं रहना चाहतीं और न पहिले रहीं। उन्होंने इस काम के लिए लाखों रुपये व्यय किये हैं। हमने कई छोटी-छोटी राजपूत रियासतों के कई-कई इतिहास देखे हैं, किन्तु जाटों की बड़ी-बड़ी रियासतों का एक भी इतिहास नहीं मिला।

दूसरे लोगों ने जाटों के इतिहास के प्रति ऐसी उदासीनता देख कर खूब लाभ उठाया। कहीं उन्हें राजपूतों की औलाद लिखा तो कहीं वर्णशङ्कर। विदेशी लेखकों ने जब इनका कोई भी अपना इतिहास नहीं देखा, तो कई तो इतना झुंझलाये कि असभ्य और जंगली तक लिख गये। 'मथुरा मेमायर्स' के लेखक मि०

ग्राउस को भी फटकार बतानी पड़ी। कुछ एक विदेशी इतिहासकारों को भी वही बात माननी पड़ी जो इनके विरोधियों ने इनके सम्बन्ध में गढ़ी थी।

इतने समय के पश्चात् थोड़ी सी आँख जाटों की खुली। बस इतना कहने भर के लिए कि जाट इतिहास की बड़ी भारी आवश्यकता है। अब से तीन वर्ष पहिले जाट-महासभा ने भी प्रस्ताव पास किया था कि इतिहास बनना चाहिए।

इसमें सन्देह नहीं जैसा कि कर्नल टाड ने कहा है कि:—"*एक समय आधा एशिया जाट जाति के प्रताप से दग्ध हुआ था।*" जाट शासक जाति है। इस समय भी उसके कई राजवंश शासक हैं।

विदेशों में हम भारतीय साम्राज्य के जो चिह्न पाते हैं, जाटों का उनसे घनिष्ट सम्बन्ध है। भारत में भी उनका शासन विभिन्न शासन-प्रणालियों से रहा था। भारत उनकी जन्म-भूमि है। वे शुद्ध आर्य हैं, क्षत्रिय हैं, और पौराणिक-काल के नहीं, किन्तु वैदिक-काल के क्षत्रिय हैं। भारत में वीरता, धीरता और निर्भयता में उनकी समता करने वाली कोई दूसरी कौम नहीं, किन्तु इतिहास न होने से उनके सम्बन्ध में अनेक ग़लत धारणाएँ हो गईं। उन्हीं ग़लत धारणाओं के स्पष्टीकरण और जाटों के वास्तविक स्वरूप का दर्शन करा देने के लिए मैंने जाट जाति का इतिहास लिखने का साहस किया था। मैं अपने उद्योग में कहाँ तक सफल हुआ, यह तो मेरे बताने की बात नहीं, किन्तु यह मैं अवश्य कह सकता हूँ कि जाट जाति का इतिहास इससे कहीं कई गुना विस्तृत और महत्त्व-पूर्ण है। यदि लगातार दस-पाँच वर्ष तक अरबी, फ़ारसी और पाली भाषाओं के इतिहासों को देखा जाय, जाट प्रदेशों में भ्रमण करके अनुसन्धान किया जाय, शिला-लेख, ताम्र-पत्र और दन्तकथाओं का संग्रह किया जाय तो जाट जाति का इतना बहुत इतिहास लिखा जा सकेगा, जिसकी कि अभी से कल्पना नहीं की जा सकती।

जाट इतिहास के लिखने में मैं अपने लिए अयोग्य और असमर्थ समझता था। किन्तु किधर ही से इस काम के लिए कोई प्रयत्न न होते देखकर हिचकते और झिझकते हुए इस काम में हाथ डाला। आरम्भ में श्री विजयसिंहजी पथिक जोकि मेरे राजनैतिक गुरु हैं से मुझे काफ़ी प्रोत्साहन मिला। वे विशुद्ध राष्ट्रवादी हैं किन्तु उन्होंने इस ओर मेरी रुचि देखकर हिम्मत करके जुट जाने की सलाह दी। यदि उनके ही पास बैठ कर मुझे इतिहास लिखने का सौभाग्य प्राप्त होता तो इतिहास इससे कहीं अधिक अच्छा लिखा जाता। सन् १९३१ ई० के सितम्बर से मैंने इस ओर कदम बढ़ाया था। अभी इच्छा थी कि दो वर्ष में शनैः शनैः तैयार करूँ किन्तु कुँवर पन्नेसिंहजी की अचानक मृत्यु ने यह भाव पैदा कर दिया कि "शुभस्य शीघ्रम्" का अनुसरण किया जाय।

जिन कठिनाइयों को पार करके इस इतिहास को जाट संसार के सामने मैं रख रहा हूँ उनके लिए इतना ही कहना काफ़ी है कि ईश्वर को ही यह मंज़ूर था कि "जाट इतिहास" प्रकाशित हो जाय।

एक संपादक की हैसियत से मुझे इसकी छपाई में होने वाली अशुद्धियाँ बहुत ही खटकती हैं। किन्तु कार्य की अधिकता, पैसे की कमी, पारवारिकजनों की बीमारी तथा नन्हें-नन्हें दो बालक-बालिकाओं की मृत्यु ने इतना अवकाश मुझे नहीं मिलने दिया कि प्रूफ देख लेता या छपाई सम्बन्धी कोई सलाह दे देता। पुस्तक प्रेस में छप रही थी और मैं बीमार पड़ा था। एक बार नहीं दो बार बीमार हुआ।

उपरोक्त कठिनाइयों के कारण से ही मैं अपनी रफ़ कापियों को जिनमें कई-कई स्थानों पर शब्द भी छूटे हुये थे दुबारा न देख सका। अतः रफ़ कापियाँ ही प्रेस को देनी पड़ीं जो बहुत घसीट लिखी हुई थीं। प्रूफ देखने का सारा कार्य ठाकुर रामबाबूसिंहजी "परिहार" ने समयाभाव के कारण बहुत शीघ्रता में किया है। अतः जो अशुद्धियाँ रह गई हैं उनके लिए हम ही दोषी हैं।

"कान्ति प्रेस" के स्वामी श्री० पं० सत्यपाल जी शर्मा ने भी घरू काम समझ के बड़ी लगन के साथ अपने समय का हर्ज करके इस "इतिहास" को दो महीने के अल्प समय में ही मुद्रित करने की कृपा की है। वास्तव में यह प्रेस सुन्दर चित्ताकर्षक छपाई सफाई के लिए यू० पी० में अद्वितीय है।

अंत में कृतज्ञता प्रकाशन के लिए यह बताना अति आवश्यक है कि प्रोफेसर पण्डित इन्द्र विद्यावाचस्पति व्यवस्थापक "अर्जुन" कार्यालय, देहली ने जो इतिहास की भूमिका लिखने की कृपा की है उसके लिए पण्डितजी का मैं हृदय से कृतज्ञ हूँ और ठाकुर रामबाबूसिंह जी "परिहार" ने जब भी आवश्यकता पड़ी इस 'इतिहास' के लिखने में मेरी सहायता की है, इसके लिए वह प्रशंसा के पात्र हैं। कुँ० पद्मसिंहजी परिहार को भी धन्यवाद देता हूँ जिन्होंने अपनी सेवाएँ इतिहास के लिए देने की कृपा की।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि चौधरी लादूरामजी जैसे उदार और मेरे प्रति महरबान सज्जन की सहानुभूति और पं० ताड़केश्वरजी शर्मा का सहयोग प्राप्त न होता तो इस समय इस पुस्तक का प्रकाशित होना असंभव था। पण्डितजी ने कई दिन रात-रात भर जग कर इतिहास लेखन में मेरे साथ कार्य किया है जिसके लिए मैं उनका अत्यन्त कृतज्ञ हूँ।

माघ संक्रान्ति, संवत् १९९०

देशराज

कुँवर पन्नेसिंह जी
देवरोड़ (जैपुर)

चौ० लादूराम जी जाखड़,
माखर (जैपुर)

उनकी बात

जाट जगत की सेवा में आज इस "जाट इतिहास" को रखा जा रहा है। परन्तु लेखक ने जिन आकांक्षाओं को लेकर इतिहास लिखने का संकल्प किया था वे पूरी नहीं हुईं। उन्होंने समझा था कि जाट जाति जाग पड़ी है और सावधान जाति में जो लक्षण होते हैं वह उसमें हैं। वह अपने पर अभिमान भी करती होगी। किन्तु उनका यह ख़याल ग़लत निकला। या तो जाट जाति पूर्णतया सोई हुई है या जिन मनुष्यों से वह बनी है वे जातीय गौरव की ओर से उदासीन हैं।

जिस किसी तरह वे जी-जान से अन्वेषण में जुट पड़े और इतना बड़ा ग्रन्थ बना ही डाला। बीच में वह जिन कठिनाइयों से गुजरे मेरा तो विश्वास है कि अगर कोई दूसरा व्यक्ति होता तो अधूरा ही छोड़ देता। मैं रानीगंज से जब "अर्द्ध शताब्दी" अजमेर के लिए जाते हुए उनके पास पहुँचा तो देखता हूँ देवीजी श्री उत्तमादेवीजी, कुँवर शेरसिंह, छोटी लड़की सुबीरा (धर्मपत्नी ठाकुर देशराजजी, उनके पुत्र और पुत्री) बीमार हैं और आप इतिहास लिखरहे हैं। कुशलता के समाचार पूछे तो कहने लगे सब ठीक ही है हां, बुखार तो क़रीब क़रीब सब को आ रहा है। मैं हैरान हो गया, कैसे आदमी हैं सब बीमार हैं और उन्हें लिखने की धुन सवार है। जब देवीजी और कुंवर शेरसिंह को देखा तो स्तंभित रह गया। वह सूख कर कांटा हो रहे थे। छोटी लड़की के तो बचने की उम्मेद भी नहीं थी और अर्द्ध शताब्दी से लौटने के एक सप्ताह बाद तो उसकी मृत्यु का समाचार मिल ही गया। कुछ समय पश्चात् वह स्वयं भी बीमार हुए पर इतिहास की धुन सवार रही। २-३ दिन तक निराहार रहे परन्तु लिखे बिना न रहे।

मैं उनके पास पुनः पहुँचा तब वह बीमारी से उठने पर भी जितना श्रम कर रहे थे मुझ से नहीं हुआ। इधर बसंतपञ्चमी पर इतिहास के प्रकाशित हो जाने का नोटिस भी निकाल दिया था और उधर जाट स्टेटों का यह हाल था कि बार-बार प्रार्थना करने पर भी राजगान के फ़ोटो और मैटर कुछ भी न मिला। यहाँ तक कि कई स्थानों से तो कुछ भी उत्तर नहीं था। अर्थाऽभाव भी कम नहीं था। हार कर वह अस्वस्थ होते हुए भी रानीगंज, झरिया, कलकत्ता आदि स्थानों पर गए। इस दौरे में श्री ठाकुर गोपीचन्दजी परिहार (कठवारी) भी उनके साथ रहे। दौरे में रुपया और मैटर बहुत कुछ नहीं तो सन्तोषजनक मिल गया। तब पंजाब के मैटर को पूरा करने के लिए पंजाब का दौरा किया। लाहौर, पटियाला, फ़रीदकोट, संगरूर, करांची (सिन्ध) स्थानों की प्रसिद्ध-प्रसिद्ध लाइब्रेरियों और अन्वेषकों से भेंट की। सर्व-साधारण लोगों से भी बहुत कुछ जानकारी हासिल हुई। इसमें सन्देह नहीं कि पंजाब में बहुत ज्यादा सामग्री मिल सकती थी, परन्तु समय और रुपया दोनों

ही की कमी थी। २५ तारीख़ को जब मैं पंजाब के दौरे से लौटा तो ज्ञात हुआ कि उनके भाई के पुत्र उतर गए (मृत्यु हो गई) और वह उसी दिन पिलानी चले गए थे। आये तब मुँह उतरा हुआ था, मन का दुख छिपा नहीं रहता। शाम को बात-चीत में उन्होंने बताया कि लड़का मेरी गोद में आना चाहता था, पर मैं कैसा कठोर हूँ, इस लोभ से कि कम से कम आधे पेज का हर्ज हो जायगा, उसे गोद में भी न लिया। यह कहते हुए उनकी आँखों में आँसू भर आए।

पुत्र के शोक से उनके भाई भी आधे हो रहे थे। जब वह रात को सोये हुए थे तो यकायक कै और दस्त और जाड़े का दौरा हुआ। एक दम चहरा फक हो गया। बड़बड़ाने लगे। एक घण्टे में ही ऐसी गफ़लत हुई कि ठाकुर साहब घबड़ा उठे। उनमें कुछ बोलने की ताक़त भी न थी। आँखों में आँसू दिखाई पड़ने लगे। मैं स्वयं अवाक् हो गया। सुबह होते-होते कुछ फ़ायदा हुआ। ऐसे विकट समय में भी वह इतिहास को न भूले और कहा—पंडितजी! प्रेस में मैटर देने जाना है न? देखिये सात बज गए होंगे, गाड़ी न छूट जाय।

यह सब होते हुए भी वह बराबर काम करते रहे। ऐसी हालत में रफ़ कापी ही प्रेस में देनी पड़ी और प्रूफ़ भी न देख सके, यहाँ तक कि सिलसिले-वार मैटर भी न लगाया जा सका।

इसमें सन्देह नहीं कि इसके अलावा सब से अधिक निराशा उन्हें हुई, वह यह कि जाट जाति के शिक्षित और सम्पन्न कहे जाने वाले लोगों के कार्य से उदासीनता का बर्त्ताव हुआ। और तो और इतिहास के नोटिस हज़ारों स्थानों पर भेजे जाने पर भी जिसे कि हम वास्तविक आर्डर कह सकते हैं, की संख्या ७ मिली है। इसके लिखने का अभिप्राय यह है कि भावी पीढ़ी समझ ले कि बीसवीं सदी के मध्य में जाट केवल चाकरी और,पेट-पालन के लिए ही पढ़ते थे। राजपूत, अहीर, गूजर यहाँ तक कि अछूतों के सम्बन्ध में भी जिस समय साहित्य के ढेर के ढेर बढ़ रहे थे, उस समय जाटों का कोई अपना निजी इतिहास-ग्रन्थ न था, जिसके आधार पर वह इतना तो बता दें कि वह कौन हैं?

यह बिलकुल सही है कि लेखक अगर किसी अन्य जाति का इतिहास लिखता तो अधिक सफल होता। पर तो भी सहृदय पाठक उनकी कठिनाइयों को ध्यान में रख ग्रन्थ में रहीं त्रुटियों पर नज़र डालेंगे तो नगण्य होंगी, क्योंकि बहुतसे काम को तो वह स्वयं न देख सके। मैं भी अधिक समय बाहर रहने के कारण प्रेस में न रह सका। अतः शुद्धि-पत्र भी पूरा न हो सका। आशा है पाठक वर्ग उल्लिखित कठिनाइयों को देखते हुए रुष्ट न होंगे।

जाट इतिहास-अन्वेषण
कार्यालय
ता० १६-१-१६३४ ई०

ताड़केश्वर।

मैंने 'जाट इतिहास' का एक बड़ा हिस्सा पढ़ा है। जाट-जाति के उद्भव पर ऐसा योग्यता-पूर्ण और विस्तृत-विचार मैंने दूसरी जगह नहीं देखा। जो लोग यूरोपियन विद्वानों के मत को ईश्वरीय वाक्य समझ कर जाटों, राजपूतों और गूजरों को म्लेच्छों का वंशज मानने लगे हैं, उनके मस्तिष्कों के लिए यह पुस्तक एक औषध का काम देगी। लेखक का मत है कि जाट आर्य हैं।

प्रसिद्ध भारतीय इतिहास लेखक श्रीयुत चिन्तामणि वैद्य ने अपने मध्यकालीन इतिहास में कर्नल टाड की इस कल्पना का अकाट्य युक्तियों से खण्डन कर दिया था कि राजपूत, जाट आदि जातियों का जन्म सिथियन, हूण आदि म्लेच्छ जातियों से हुआ। 'जाट इतिहास' के लेखक ने मि० वैद्य का अनुसरण किया है और असाधारण परिश्रम द्वारा पाठकों को, हृदयङ्गम करा दिया है कि वीर जातियों को अनार्य्य बतलाना केवल पाश्चात्य विद्वानों की भारतीय आर्य-जाति के प्रति तिरस्कार युक्त भावना का फल है।

जाट शब्द की उत्पत्ति के सम्बन्ध में लेखक ने निम्न लिखित सिद्धान्तों की स्थापना की है। यदु वंश श्रीकृष्ण के समय में दो विभागों में विभक्त हो गया। एक भाग प्रजातन्त्र-वादी था, दूसरा एकतन्त्र-वादी। कृष्ण प्रजातन्त्र-वादी थे। प्रजातन्त्र-वादियों का कृष्ण के नेतृत्व में जो संघ स्थापित हुआ, वह 'ज्ञाति' नाम से पुकारा जाता था। जाट शब्द की उत्पत्ति 'ज्ञाति' शब्द से ही हुई है। जाट स्वभाव से प्रजातन्त्र-वाद के पक्षपाती हैं। लेखक की यह कल्पना यद्यपि नवीन प्रतीत होती है परन्तु प्रारम्भ में सभी कल्पनायें नवीन होती हैं, और मैं समझता हूँ कि जाट-शब्द के उद्भव के सम्बन्ध में अब तक जो भी कल्पनायें हुई हैं, उनमें से किसी से भी यह निर्बल या कम सम्भव नहीं है।

जाट-जाति के दो बड़े गुण हैं—एक तो यह कि वह किसी एक सत्ता को देर तक सिर झुका कर नहीं मान सकते, और दूसरा यह कि वह धार्मिक या सामाजिक रूढ़ियों की अत्यन्त दासता से घबराते हैं। इन्हीं गुणों का प्रभाव था कि वह ७०० वर्षों तक मुसलमानों के शासन में रहे, परन्तु रहे प्रायः विद्रोही बन कर ही। यह एक वीर जाति के लक्षण हैं। इन दो गुणों के साथ एक दोष भी लगा हुआ है, जो शायद उपर्युक्त गुणों का भाई है। जाट लोगों में एक खुरदरापन है, जो बिगड़ने पर परस्पर विरोध के रूप में परिणत हो जाता है। यदि यह एक दोष न होता तो दोनों गुणों के बल से जाट भारत के एकच्छत्र राजा होते। यह इतिहास मेरे इस कथन का साक्षी है।

लेखक ने 'जाट इतिहास' का सांगोपांग वर्णन करने का यत्न किया है, जाट-जाति की उत्पत्ति, जाट-शब्द की उत्पत्ति, जाटों के रस्म-रिवाज़ तथा वेष-भाषा, जाट-शासन-प्रणाली, और जाट-साम्राज्य आदि सभी सम्बन्धित विषयों पर लेखक ने गम्भीर अन्वेषण की है, और मेरी सम्मति है कि एक सन्देह-शील पाठक भी पुस्तक के १५० पृष्ठ पढ़ जाने के बाद लेखक से सहमत हो जायगा।

प्रारम्भिक इतिहास के पश्चात् लेखक ने जाट-जाति के ऐतिहासिक इतिहास को पंजाब, संयुक्त-प्रान्त, सिन्ध, मालवा और राजपूताना आदि विभिन्न भागों में बांट कर सब का अलग-अलग वर्णन किया है। लेखक ने यत्न किया है कि इस ग्रन्थ को यथासम्भव पूर्ण बनाये, ऐसा विश्व-कोष बनादे कि जाट-जाति के इतिहास के जिज्ञासुओं को दूसरे द्वार पर न जाना पड़े। लेखक की इसी शुभ अभिलाषा ने कहीं-कहीं उसे विचार की अत्यधिक उलझन में डाल दिया है। प्रथम अध्याय का सृष्टि-प्रकरण उस उलझन का ही फल है।

जाट-जाति के विस्तृत इतिहास की अत्यधिक आवश्यकता थी। 'जाट इतिहास' के लेखक ने उसे पूर्ण करके केवल जाट-जाति का ही नहीं, सम्पूर्ण आर्य-जाति का महान् उपकार किया है। लेखक एक विश्वासी व्यक्ति है, और विश्वास-शक्ति का जन्म स्थान है। मुझे पूरी आशा है कि लेखक का विश्वास-पूर्वक किया हुआ यह प्रयत्न जाट जाति के हृदयों में उत्साह, आत्म-सम्मान और आत्म-विश्वास की वृद्धि करेगा।

११-१-३४

'इन्द्र'

—※—

षष्टम अध्याय
जाट साम्राज्य

सप्तम अध्याय
पंजाब और जाट

अष्टम अध्याय

संयुक्त-प्रान्त के जाट राज्य

नवम् अध्याय

राजस्थान के जाट-राज्य

दशम अध्याय

सिंध के जाट राज्य

एकादश अध्याय

मालवा के जाट-राज्य

चतुर्दश अध्याय

परिशिष्ट (१)

द्वादश अध्याय

[दे]हली प्रान्त के जाट-राज्य

परिशिष्ट (२)

त्रयोदश अध्याय

जाट संस्थायें

———:※:———

जाट इतिहास

प्रथम अध्याय

सृष्टि प्रकरण

आर्यों का उद्गम, तथा वैदिक, रामायण, महाभारत और बौद्ध कालीन स्थिति।

इस विषय में देशी विदेशी इतिहासवेत्ताओं के अलग अलग मत हैं कि, मानव समाज का आदि—सृष्टि—स्थान कौनसा है? किन्हीं का कथन है कि सर्व प्रथम उत्तरी ध्रुव में मानव-सृष्टि हुई, किन्हीं किन्हीं के मत से मध्य एशिया की भूमि आदि सृष्टि-स्थान जान पड़ती है। कोई कोई यह भी कहते हैं कि अखिल मानव-समाज का उद्गम स्थान सिन्धु सरस्वती के बीच का प्रदेश है। लोकमान्य तिलक ने उत्तरी ध्रुव में सृष्टि मान कर 'भारतीय आर्यों का' फारिस्थान तट और ईरान के प्रदेशों से गुजरते हुए पंजाब में आना सिद्ध किया है। महाराष्ट्र देश के प्रसिद्ध विद्वान् नारायण भवनराव पावगी भारतीय आर्यों का मूल स्थान सप्त-सिन्धु मानते हुए सिद्ध करते हैं कि, "उत्तर ध्रुव तथा अन्य प्रदेशों में भारतीय आर्य उपनिवेश बनाने गये थे और जल प्रलय के बाद वह भारत में लौट आये, इसी आगम शाखा के लोग भ्रम से आर्यों का विदेश से

भारत में आना सिद्ध करते हैं।" बात कुछ भी हो, लेकिन निम्न बातों में प्रायः सभी का मत लगभग एकसा है कि:—

(१) ईरान यूरोप और एशिया की अधिकांश आबादी आर्य नस्ल की है। (२) वैदिक सभ्यता का प्रभाव सारे संसार के देशों की सभ्यता पर आच्छादित है। (३) भारतीय और ईरानियों का निकटतम सम्बन्ध है। (४) अति प्राचीन काल में काबुल, कन्दहार और तुर्किस्थान तथा तिब्बत का पश्चिमी हिस्सा भारत में शामिल थे। (५) इब्री, कूशी, यूनानी, लातिनी, आँग्ल, आदि भाषाओं की जननी आदि-संस्कृत है। (६) धर्म नीति और विज्ञान का प्रचार करने को भारतीय आर्य विदेशों में गये थे। (७) भारतीय राज-वंशों ने चीन, तुर्किस्थान, अफगानिस्तान, ईरान, लंका, कम्बोडिया और कोचीन तक में जाकर अपनी बस्तियाँ बसाई थीं।

भारत में आने वाले आर्य एक ही समय में तथा एक ही मार्ग से आये हों, ऐसी बात नहीं है। वे भारत में कई बार में आये[१]। भाषाविज्ञान के विद्वानों का कथन है कि, *"वर्तमान भारतीय आर्य-भाषाओं से पता चलता है कि आर्य लोग भारत में अधिक नहीं तो दो बार में अवश्य आये होंगे।"* मि० हार्नल और ग्रियर्सन के मतानुसार प्राचीन उत्तर भारत में दो भाषा-समुदाय थे। एक समुदाय की भाषा थी 'मागधी' और दूसरे की 'शौरसेनी'। भारत में प्रथम आने वाला आर्य समुदाय मागधी भाषा भाषी था जो कि (भारत के) पूर्वोत्तर कोने में बोली जाती है। शौरसेनी नवागत आर्यों की भाषा थी।

पहिली बार में आने वाले आर्यों का पथ सी० वी० वैद्य ने काबुल की घाटी और दूसरी टोली में आने वालों का चितराल बताया है। पहिली टोली के लोग मान्व कहलाते थे। इनके सम्बन्ध में कहा जाता है कि यह सुमेर के निकट से भारत में आये। दूसरी टोली के लोगों को ऐल नाम से पुकारा गया है[२], कारण कि उनका निवास स्थान इलावृत प्रदेश था। पुराण इन दोनों टोलियों के आर्यों को एक पुरुष की ही सन्तान मानते हैं। एक पुरुष की नहीं तो वे एक देशीय अवश्य थे।

इन लोगों ने अपने पूर्व स्थान को क्यों छोड़ा? इसका उत्तर पुराणों तथा बायबिल और जिन्दावस्था से यही मिलता है कि "जल-प्रलय" के समय—पुराणों के कथनानुसार सातवें मनु विवस्वान के काल में—सुरक्षित स्थान में

१ नागरी प्रचारिणी पत्रिका भाग ४ अङ्क ४ माघ संवत १९८० वि०।

पहुँचने के लिए छोड़ा था। नूह की किश्ती और मनु-मत्स्य संवाद की कथायें इस कथन की साक्षी हैं। इस तरह छः मन्वन्तर तक सब का साथ रहना सिद्ध होता है। कुछ लोग इस बात को सिद्ध करने में भी लगे हुए हैं कि ऋग्वेद की रचना आर्यों के भारत में आने से पहिले ही आरम्भ हो चुकी थी। स्वर्गीय जस्टिस पार्जीटर का मत है कि ईसा से २२०० वर्ष पहिले आर्य भारत में आ चुके थे१। देशी विदेशी विद्वान् इस विषय में ६००० वर्ष से अधिक समय बताने में अभी तक असमर्थ हैं। किन्तु पुराण नौ लाख वर्ष तो भगवान् राम के शासन समय का दिग्दर्शन कराते हैं। भगवान् राम के आदि पूर्वज राजा इक्ष्वाकु अयोध्या में उन से कई सहस्र वर्ष पूर्व आवाद हुए थे। यह विषय अभी विवादास्पद है।

जिस समय यह आर्य टोलियाँ भारत में आईं, उस समय इनके रास्ते में तथा भारत में आने के बाद कई विभाग हो गये। पहिली टोली के आर्यों में से कुछ तो कास्पियन, ईरान आदि देशों में रह गये जो शक कहलाने लगे और कुछ भारत में आने के बाद पूर्व उत्तर और मध्य देश में फैल गये। दूसरी टोली के ऐल आर्यों के कुछ साथी कुमायूँ या चितराल के रास्तों के मध्य से पामीर और कपिशा-कश्मीर की ओर फैल गये जो दरद और खस कहलाने लगे। कुछ गंगा यमुना के द्वाबे तथा पंचनद के बीच में फैल कर आवाद हो गये२। भारत में आवाद होने के पश्चात् भी अति काल तक आर्य लोग ईरान, तिब्बत, मलाया, चीन, सिंहल आदि देशों में जाते आते रहे। कुछ लोग तो सुदूरवर्ती देश जर्मनी, इटली, नार्वे, आयरलैण्ड, अमरीका, अफ्रीका आदि तक पहुँचे और वहाँ बस्तियाँ बसा कर रहने लग गये३।

प्राचीन साहित्य में आर्यों के भारत में आने के पश्चात सप्त-सिन्धु देश में सर्व प्रथम उन के बसने का वर्णन आता है। सप्त सिन्धु-शब्द को लेकर देशी विदेशी अनेक इतिहासकारों ने यह शंका प्रकट की है कि सप्त सिन्धु आज का पंजाब नहीं था। वह कोई अन्य प्रदेश था, और वह वही प्रदेश हो सकता है जिस में आक्सस और कुभा नदियों की गणना भी हो जाती है। इस वर्णन से भारत की सीमा इतनी बढ़ जाती है कि उसे वृहत्तर भारत नाम दिया जा सकता है। किसी समय वास्तव में उत्तर पश्चिम की ओर भारत की सीमा आक्सस और कुभा (कावुल नदी) तक ही थी।

---

१ प्रा० भा० पृष्ठ १८२—१८३
२ 'भारत भूमि और उस के निवासी' पे० २४१
३ 'आर्यों का मूल स्थान' चौदहवाँ अध्याय

आर्यों का कौन सा समूह कहाँ बसा ? इस प्रश्न के हल करने के लिए पुराणोक्त इतिहास हमें बहुत सहायता देता है। पृथ्वी को पुराणों ने सात द्वीपों में विभाजित किया है और प्रत्येक द्वीप को सात वर्षों (देशों) में[१]। यह बटवारा स्वायम्भूमनु के पुत्र प्रियव्रत ने अपने पुत्रों में किया है। प्रियव्रत के दस पुत्र थे[२] जिनमें से तीन तपस्वी हो गये। सात को उन्होंने कुल पृथ्वी बाँट दी। प्रत्येक के बट में जो हिस्सा आया वह द्वीप कहलाया। आगे चलकर इन सात पुत्रों के जो सन्तान हुई उनके बटवारे में जो भूमि भाग आया वह वर्ष या आवर्त (देश) कहलाया। निम्न विवरण से यह बात भली भाँति समझ में आ जाती है:—

द्वीप—जम्बू। २ शाल्मली। ३ कुश। ४ क्रौंच। ५ शाक। ६ पुष्कर। ७ प्लक्ष।

अधिकारी—अग्निध्र। २ वपुष्मान। ३ ज्योतिष्मान। ४ द्युतिमान। ५ भव्य। ६ सवन। ७ मेधातिथि[३]।

जम्बू द्वीप आगे चलकर अग्निध्र के नौ पुत्रों में इस भाँति बट गया। (१) भरतखण्ड के ऊपर वाला देश किम्पुरुष को मिला, जो उसी के नाम पर किम्पुरुष कहलाया। यही बात शेष ८ भागों के सम्बन्ध में भी है। जो देश जिसको मिला उसी के नाम पर उस देश का भी नाम पड़ गया। (२) हरिवर्ष को निषध पर्वत वाला देश (हरिवर्ष)। (३) जिस देश के बीच में सुमेर पर्वत है और जो सब के बीच में है, वह इलावृत को। (४) नील पर्वत वाला रम्य देश रम्य को। (५) श्वेताचल को बीच में रखने वाला तथा रम्य के उत्तर का हिरण्यवान देश हिरण्यवान को। (६) शृङ्गवान पर्वत वाला सब के उत्तर समुद्री तट पर बसा हुआ कुरु प्रदेश कुरु को। (७) भद्राश्व जो कि सुमेरु का पूर्वी खण्ड है, भद्राश्व को। (८) इलावृत के पच्छिम सुमेर पर्वत वाला केतुमाल को और (९) हिमालय के दक्षिण समुद्र का फैला हुआ भरतखण्ड नाभि को मिला[४]।

आज यह बता सकना कठिन है कि कौनसा द्वीप कहाँ था ? और उसके वर्ष (खण्ड, देश) आज किस नाम से पुकारे जाते हैं। विष्णु पुराण अंश २ अध्याय ४ में इन द्वीपों का पता बताया गया है, किन्तु तब से भूगौलिक स्थित में इतना परिवर्त्तन हुआ है कि आज इन द्वीपों का ठीक स्थान जान लेना कठिन है।

---

१ पुष्कर द्वीप दो देशों (वर्षों) में ही विभाजित है और जम्बू द्वीप ९ वर्षों में।

२ दस पुत्र दूसरी रानी के भी थे।

३ यह बटवारा क्रमशः है अर्थात् जम्बू अग्निध्र को और प्लक्ष मेधातिथि को मिला। श्री मद्भागवत में वर्णित नामों में कुछ अन्तर है।

विष्णु पुराण अन्श २ अध्याय १।

पुराणों के रचयिता ने जैसी बात सुनी थी उसी के अनुसार उसका वर्णन कर दिया है। यह वर्णन प्रथम मनु के समय का है। तब से तो भूगोल में बड़े हेर फेर हुये हैं। जल प्रलय तो सातवें मनु के प्रारम्भिक समय ही में हो चुका था। इसके अतिरिक्त जहाँ समुद्र थे१ आज रेत के बड़े बड़े टीले हैं। अथवा सहस्रों वर्ष पहिले जहाँ जल ही जल दिखाई देता था आज वहाँ आकाश चुम्बी पर्वत मालायें हैं२। फिर भी अनुमान के आधार पर पर्शिया और उसके निकटवर्ती देशों को शाक द्वीप कहने की कुछ इतिहासकारों ने हिम्मत की है। हमारे विचार में भी ईरान शाक द्वीप जंचता है, क्योंकि पुराणों में शाक द्वीप के ब्राह्मणों को मग लिखा है३। और यह बात सर्व विदित है कि मग ईरानी ब्राह्मण थे जिन्हें पौराणिक कथा के अनुसार शाम्ब सूर्य पूजा के निमित्त भारत में लाये थे। यह द्वीप प्रियव्रत ने अपने पुत्र 'भव्य' को सौंपा था।

जम्बू द्वीप के पच्छिमी किनारे के सहारे सहारे प्लक्षन द्वीप था। आज का पच्छिमी तिब्बत और दक्षिणी साइबेरिया इसे समझा जा सकता है। क्योंकि विष्णु पुराण में इसे जम्बू द्वीप को घेरने वाला बताया है। इस द्वीप के अधिकारी मेधातिथि बनाये गये थे।

शाल्मली द्वीप में शाल के वृक्ष बहुतायत से पैदा होते थे। तब अवश्य ही नैपाल के पच्छिम से आरम्भ होकर यह द्वीप प्लक्षन तक फैला हुआ था। इक्षुर-सोद समुद्र को दोनों ओर से स्पर्श करने वाला पर्वत पुराणों में इसे कहा गया है। इससे यह तो साबित ही है कि यह दोनों द्वीप पास पास थे। यह द्वीप वपुष्मान के बट में आया था।

---

१ राजपूतानेका उथला समुद्र। देखो 'भारतभूमि और उसके निवासी' पे० २१ पार्जीटर 'एन्श्येन्ट इन्डियन हिस्टोरिकल ट्रैडीशन' पृ० २६०।

२ कल्पों का इतिहास जानने वाले बताते हैं कि भारतवर्ष में सब से पुरानी रचना आड़ावला (अरावली) विन्ध्यमेखला और दक्खिन भारत का पठार है। उनका विकास अजीव-कल्प में ही पूरा हो चुका था। उत्तर भारत अफगानिस्तान, पामीर, हिमालय, तिब्बत उस समय सब समुद्र के अन्दर थे। उसी प्राचीन समुद्र की लहरों ने आड़ावला पर्वत को काट काट कर उसके लाल पत्थर से मालवा का पठार बना दिया। द्वितीय कल्प के अन्तिम भाग खटिका युग (Cretaceous Period) से एक भारी भूकम्पों का सिलसिला आरम्भ हुआ। जो तृतीय कल्प के आरम्भ तक जारी रहा। उन्हीं भूकम्पों से हिमालय, तिब्बत, पामीर आदि तथा उत्तर भारत के कुछ अंश समुद्र के ऊपर उठ आये। 'भारत भूमि और उसके निवासी' पे० ११।

३ विष्णु पुराण अंश २ अध्याय ४।

क्रौंच द्वीप जो द्युतिमान को मिला था वह भू-भाग हो सकता है जिसमें श्याम, चीन कम्बोडिया, मलाया आदि प्रदेश अब स्थिति हैं । यहाँ रुद्र की पूजा पुराण में होना बताई गई है। यहाँ शूद्र को तिग्मी कहा जाता था।

कुश द्वीप यह ज्योतिष्मान को मिला था। आज इस भू-भाग को किस नाम से पुकारें तथा यह कहाँ पर था यह पता पुराणों के वर्णन में कुछ भी नहीं मिलता है, इसमें एक मन्दराचल पहाड़ का वर्णन है। कल्पना से यह वही पहाड़ हो सकता है जिसे सूर्यास्त का पहाड़ कहा करते हैं। तब तो इस द्वीप का भू-भाग अमेरिका के सन्निकट रहा होगा।

लेकिन ऐतिहासिकों ने केवल शाक द्वीप की खोज दिलचस्पी के साथ की है। अथवा यह कहना चाहिये कि वे यहीं तक खोज करने में सफल हुए हैं।

इन समस्त द्वीपों में जम्बू द्वीप सब से बड़ा था। यदि पुष्कर को भी उसीका एक भाग मान लें तो फिर केवल छः द्वीप रह जाते हैं। जैन ग्रन्थ इन द्वीपों की संख्या १६ तक मानते हैं[१]। जैन हरिवंश पुराण में जम्बू द्वीप का इस तरह वर्णन है:—लवण समुद्र तक है। बीच में इसके सुमेर पर्वत है। इसमें सात क्षेत्र (देश-वर्ष-आवर्त) हैं[२]। छः कुल पर्वत चौदह महानदी हैं। पहिला क्षेत्र (देश) भारतवर्ष सुमेर की दक्षिण दिशा में है। (२) हेमवत (३) विदेह (४) हरि (५) रम्यक (६) हैरण्यवत (७) ऐरावत सुमेर के उत्तर में है[३]। जैन अथवा ब्राह्मण दोनों के पुराणों में यह भूगोलिक वर्णन प्रायः एकसा है। जो भी अन्तर है वह नगण्य है।

हरवर्ष को ऐतिहासिक लोग यूरोप मानते हैं[४]। मानसरोवर के पच्छिम और सुमेर पर्वत के बीच के देश रम्य और भद्राश्व थे। यह काश्मीर का उत्तरी प्रदेश रहा होगा। केतुमाल देश को एशियाई माइनर समझना चाहिये, यह वर्त्तमान रूस का दक्षिणी-पूर्वी भाग था, क्योंकि पुराण इसे इलावृत के पच्छिम में बताते हैं[५]। कुरु आज का मध्य एशिया अथवा पूर्वी साइबेरिया था, इसे विष्णु-पुराण ने समुद्र के किनारे और सब देशों के उत्तर में बताया है। किम्पुरुषवर्ष तातारियों का देश समझना चाहिये, इस का पता उसी पुराण में भारत के उत्तर में सब से पहले के स्थान में बताया है। इलावृत को सुमेर के चतुर्दिक फैला हुआ प्रदेश माना गया है।

---

१ जैन हरिवंश पुराण सर्ग ५।

२ हिन्दू पुराण ६ क्षेत्र मानते हैं।

३ जैन हरिवंश पुराण सर्ग ५।

४ 'भारतवर्ष का इतिहास' भाई परमानन्द रचित (प्रकरण दूसरा)।

५ विष्णु पुराण अंश २ अध्याय १।

आर्यों की दूसरी टोली इलावृत देश से भारत में आई बताई जाती है। पुराणों में विवस्वान मनु का भी स्थान सुमेर पर्वत बताया जाता है, जो कि इलावृत के मध्य में कहा गया है। इस तरह पहिली टोली के मान्व-आर्य और दूसरी टोली के ऐल-आर्य एक ही महादेश के निवासी सिद्ध होते हैं, किन्तु ऐल लोगों के साथ कुरु लोगों का भी एक बड़ा भाग था। मालूम ऐसा होता है, ऐल ही कुरु देश में बसने के कारण कुरु कहलाते थे। पुराणों में इला को चन्द्रपुत्र बुध की स्त्री कहा गया है। इला-बुध-सहवास से पुरुरवा हुए। भारत के समस्त चन्द्रवंशी क्षत्रिय पुरुरवा की ही संतति माने जाते हैं।

भारत में आने के पश्चात्––

भारत में कहाँ से और किस तरह आर्य लोग आये, यह तो ऊपर वर्णन किया जा चुका है। अब यह देखना है कि भारत में आने के पश्चात् उन्होंने क्या किया? तथा उन्हें किन कठिनाइयों का सामना करना पड़ा? सब से पहिला कार्य जो उन्हें करना पड़ा, वह भूमि को अधिकृत कर के बस्तियाँ बसाने का था। बड़े-बड़े घने जंगलों को काट कर, दलदलों को सुखा कर, बस्तियाँ बनाई गईं। अनेक इतिहासकार मानते हैं कि आर्यों के भारत में आने पर उन्हें यहाँ की आदिम कौमों के साथ[1] युद्ध करने पड़े। यही नहीं पहिले आये हुए लोगों को पीछे से आने वालों के साथ युद्ध करना पड़ा। ऋग्वेद में दाशराज्ञ-युद्ध की चर्चा इतिहास-वेत्ता मान कर उस युद्ध को चन्द्रवंशी और सूर्यवंशियों का युद्ध मानते हैं। कारण कि उस स्थल पर अनु, द्रुह्य (चन्द्रवंशी) और सुदास, दिवोदास (सूर्यवंशी) व्यक्तियों के नाम आते हैं[2]। वेदों में ऐसी प्रार्थना हैं, जिन में इन्द्र से युद्ध में विजय हेतु प्रार्थना की गई है। यथाः—

"योनो दास आर्यो वा पुरुष्टु ता देव इन्द्र युधये चिकेतति"।

अर्थ—हे इन्द्र! हम से जो युद्ध करना चाहता हो, वह दास हो, आर्य हो अथवा अदेव (असुर) हो। (कोई हो उस का नाश करो) ऋ० मं० १० सूक्त ३८ कां० ३। दास से यहाँ भारत के मूल निवासियों से तात्पर्य है। असुर वह लोग थे, जिन आर्यों को भारतीय आर्य ईरान में छोड़ आये थे। अथर्ववेद में भी अनेक स्थलों पर युद्ध के विवरण मिलते हैं, जिन में से कुछ यहाँ देना हम उचित समझते हैं।

'हंत्वेनान् प्रदहत्वरिर्यो नः पृतन्यति।
क्रव्यादाग्निना वयं सपत्नान् प्रदहा मसि॥'

अथर्व वेद संहिता सू० १। २६।

---

१ यह आदिम लोग भी हमारे ख्याल से तो आर्य ही थे, जो जल प्रलय के समय यहाँ आ गये थे, अथवा पहिले से मौजूद थे, इस में अनेक मत हैं।

२ महाभारत मीमांसा, सी० वी० वैद्य लिखित पृष्ठ १५२ से १६८ के बीच।

अर्थ—अग्नि के स्वभाव वाला तेजस्वी पुरुष इन शत्रुओं को मारे और जो शत्रु सेना लेकर हमें विनाश करता है, उस को पूर्वोक्त अग्नि अच्छी तरह जला दे। कच्चा माँस खाने वाले शवाग्नि के समान अति उग्र स्वभाव के पुरुष द्वारा हम शत्रुओं को जला दिया करें।

'अग्ने सपत्नान धरान् पादयास्मद् व्यथया सजान मत्पिपानं वृहस्पते'

अ० सं० सू० १। ३१।

अर्थ—हे अग्ने! तू हमारे शत्रुओं को नीचे गिरा दे। हमारे समान बल वाले और हम से ऊँचे होते हुए (शत्रुओं) को हे वृहस्पति! पीड़ित कर। स्थानाभाव से ये थोड़े से उद्धरण दिये जा रहे हैं, सो भी इसलिए कि पाठकों को यह समझने में कोई कठिनाई न रहे कि, भारत-आगत आर्यों का बहुत सा समय युद्ध करने में बीता।

अनेक संघर्ष और युद्धों के पश्चात् मान्व—आर्य पूर्वोत्तर भारत में और ऐल-आर्य पच्छिमोत्तर भारत में फैल गये। गंगा-यमुना के द्वावे और पंचनद की भूमि अधिकाँश में ऐल आर्यों के और सरयू हिमालय की तरेटी तथा विन्ध्याचल की समीपवर्ती (उत्तरी भारत की) भूमि मान्व आर्यों के अधिकार में आ गई। मध्य-भारत की भूमि में वह लोग सिकुड़ कर इकट्ठे हो गए, जिन्हें आर्य अपने से अयोग्य समझते थे और जिन्हें इतिहासकार भारत के आदिम निवासी मानते हैं। मान्व आर्यों ने जो पीछे से सूर्यवंशी कहलाने लगे थे अयोध्या, मिथिला, काशी, और ऐल (चन्द्रवंशी) आर्यों ने प्रयाग, हस्तिनापुर आदि सर्व प्रथम प्रसिद्ध बस्तियाँ आवाद कीं। इस समय को वैदिक-काल नाम देना सर्वथा उपयुक्त है। इस वैदिक-काल में भारतीय आर्यों की धार्मिक, सामाजिक तथा राजनैतिक स्थिति क्या थी? इस बात का वर्णन प्रत्येक इतिहास-प्रेमी के बड़े लाभ की बात है। इसीलिए संक्षेप से हम यहाँ तद्विषयक सामग्री उपस्थित करते हैं।

वैदिक-कालीन स्थिति—

धर्म

सत्याचारण ही वैदिक-काल में मुख्य धर्म था। ईश्वर के विषय में सब के एक से विचार थे। सभी उस को सर्व शक्तिमान, अजन्मा, निराकार, सर्वज्ञ और अनादि मानते थे। अग्नि, इन्द्र, विष्णु, रुद्र, मरुत, शिव और वृहस्पति आदि अनेक चमत्कारिक नामों से उसे पुकारने की भी प्रणाली थी। उसे (ईश्वर को) प्राप्त करने के लिए, साधनों की खोज की जा रही थी। पंच-यज्ञों का आविष्कार हो चुका था। मन्दिर, मठ,

समाज

व्यवसाय के ढंग पर संगतराश, बढ़ई आदि की उत्पत्ति अथर्व काल में हो चुकी थी किन्तु कोई जाति-पांति का पचड़ा न था। वर्ण व्यवस्था का अङ्कुर लगातार युद्धों के कारण प्रकट होने लग गया था किन्तु वह सुव्यवस्थित रूप में नहीं आई थी। विवाह सम्बन्ध दूध बचा कर होते थे क्योंकि गोत्र प्रवर आदि की रचना का आरम्भ वैदिक काल के उत्तरार्द्ध में हुआ था। एक समुदाय का एक ऋषि हुआ करता था, वह उस समुदाय का संचालक समझा जाता था। वैदिक उत्तरार्द्ध काल में विवाहों के ढंग आठ प्रकार के बन चुके थे। स्त्रियों को पहिले पति के मरने पर दूसरा पति कर लेने की आजादी थी[१]। आर्य-दस्यु का प्रश्न तो चल रहा था किन्तु छूत-छात अथवा ऊँच-नीच का पचड़ा उस समय तनिक भी न था। अधिकांश जन समूह मिट्टी के घर बना कर रहने लग गये थे। स्त्रियों का पुरुषों के बराबर ही सम्मान होता था। वह पर्दे के अन्दर बिल्कुल नहीं रहती थीं[२]। यज्ञ आदि शुभ कर्म करने में वह पूर्णतः भाग लेती थीं। घर के काम धन्धों में उनकी सलाह ली जाती थी[३]। सी. वी. वैद्य लिखते हैं कि, "*भारत में आने पर आर्यों के ब्राह्मण और क्षत्रिय दो दल हो गये थे। यज्ञ-याग करना ब्राह्मण का काम था और लड़ना-भिड़ना क्षत्रिय का। परन्तु विवाह शादियों में कोई भेद भाव न था, और यह क्रम कुछ न कुछ रूप में भारतीय युद्ध तक रहा। क्षत्रिय ब्राह्मण भी हो सकता था। विश्वामित्र आदि इसके उदाहरण हैं।*"

आर्थिक

सभी लोग पशु पालते थे यहाँ तक कि ऋषि भी अपने आश्रमों में गायें रखते थे। सभी लोग खेती करते थे। खेती और पशु रक्षा के लिये तथा गायों की वृद्धि के लिये वेदों में अनेकों स्थलों पर प्रार्थना की गई है। जैसे—

**"यां रक्षन्त्यस्वप्ना विश्व दानी देवा भूमिं पृथिवीम प्रमादम्।
सानो मधु प्रियं दुहा मथो उक्षतु वर्चसा॥"**

अथर्व सं० कां १२।७

अर्थ—जिस धन अन्नादि के उत्पन्न करने वाली पृथ्वी को आलस्य रहित सदा जागने वाले, सचेत देव, बिना प्रमाद के सदैव रक्षा करते हैं, वह हमें प्रिय मधु के समान मधुर मनोहर अन्न आदि पदार्थ उत्पन्न करे और (साथ ही) हमें तेज और बल से पुष्ट करे।

१—विधवे व देवरम् ऋ० १०।४०।२ इस्तग्राभस्यदि दिधो० ऋ० १०।१८।८। २—आर्य संस्कृति का उत्कर्षापकर्ष। ३—'स्तृशा स्वायजिर्वि विदथ मा वदासि' अथर्व १४।१।२१ (हे स्त्री!) तू ज्ञान वृद्धि हो सभा में भाषण कर। ४—महाभारत मीमांसा पेज १६६–१६८।

यस्या मन्नं व्रीह यवो यस्या इमाः पंच कृष्टयः ।
भूम्ये पर्जन्य पत्यैय नमोस्तु वर्ष मेद से ॥

अथर्व सं० कां १२।४२

अर्थ—जिस पर अन्न, खाने योग्य पदार्थ धान्य और जौ जाति के अन्न नाना प्रकार से उत्पन्न होते हैं। और जिससे ये पाँच प्रकार के कृष्टय-मनुष्य पैदा होते हैं। उस भूमि को जिसमें वर्षा होने पर खूब अन्न होता है हम नमस्कार करते हैं।

'पृथिवीं त्वा पृथिव्यामा वेशयामि तनूः समानी विकृता त एषा ।
यद्यद् द्युत्तं लिखितमर्पणेन तेन मा सुस्रोर्ब्रह्मणापि तद् वपामि ॥'

अथर्व सं० कांड १२।३।२२

हे पृथ्वी ! तुझ (पृथ्वी) को तुझ (पृथ्वी) में ही स्थापित करता हूँ। यह बिगड़ी हुई देह भी पूर्व के समान ही है। इसमें जो कुछ जुत गया है, या हल चलाने से खुद गया है, उससे अपना सार भाग नष्ट मत कर। उसको भी मैं अन्न द्वारा बो देता हूँ।

'शिवा भव पुरुषेभ्यो गोभ्यो अश्वभ्य शिवा ।
शिवास्मै सर्वस्मै क्षेत्राय शिवान इहैधि ॥'

अथर्व ३।२८।३

अर्थ—हे स्त्री ! तू पुरुषों, गौओं, घोड़ों, तथा गृह सम्बन्धी सर्व स्थानों अर्थ हमारे लिये कल्याणकारी बन कर आ।

वेदों में कम्बल का जिक्र कई स्थलों पर आता है। तन्तुकार शब्द का भी प्रयोग हुआ है। इससे मालूम होता है कि वस्त्र बुनने की, विशेपतया ऊनी वस्त्र बुनने की कला का आविष्कार हो चुका था। सारांश यह है कि भोजन सम्बन्धी सामिग्री उत्पन्न करने तथा वस्त्र तय्यार करने में वैदिक कालीन आर्य निपुण हो चुके थे। वैदिक-साहित्य में धन का जिक्र तो आता है किन्तु सिक्कों का जिक्र नहीं आता। धातुओं के आभूषणों का भी नाम नहीं मिलता।

राजनीति

आरम्भिक वैदिक-काल में आर्यों को अपनी सारी बुद्धि युद्ध करने की कलाओं व साधनों पर व्यय करनी पड़ी थी। भूमि को अन्य लोगों से अपने काबू में करने के लिये तथा प्राचीन निवासियों को अपने अधीन करने के लिये उन्होंने एक अत्यन्त उपयोगी और अचूक साधन निकाला था और वह साधन था यज्ञ। पहिले कुछ ऋषि किसी उत्तम भू-भाग पर पहुँच कर यज्ञ-स्थल तैयार करते थे। और यदि यज्ञ विरोधी समुदाय यज्ञ करने से मना करते तो युद्ध आरम्भ हो जाता था और यज्ञ रक्षा के नाम पर सारा आर्य-

समूह प्राण देने को एकत्रित हो जाता था। यज्ञ के समय नौजवानों से शत्रुओं के विरुद्ध प्रतिज्ञा कराई जाती थीं। यथा—

'वयं शूरेभिरस्तृभिरिन्द्र त्वया युजावयम्। सासह्याम पृतन्यतः॥
ऋ० १।८।४

वयं जयेम त्वया युजा वृतमस्माकमंशमुदवा भरे भरे।
अस्मभ्यमिन्द्र वरिवः सुगं कृधि प्रशत्रुणां मघवन् वृष्ण्या रुज॥'
ऋ० १।१०२।४

अर्थ—"हे इन्द्र! हम तेरे समीप (रह कर) तथा अस्त्रों का प्रयोग करने वाले शूरवीरों के सहवास में रह कर सेना के साथ आक्रमण करने वाले शत्रुओं का पराभव करें।"

"हे ऐश्वर्यसम्पन्न प्रभो! हम तेरे समीप रह कर घेरा डालने वाले शत्रुओं पर विजय प्राप्त करें। हे देव! युद्ध में तू हमारे भाग (पक्ष) की रक्षा कर। हे इन्द्र! ऐसा कर जिसमें हमें सुलभता से धन मिला करे। और शत्रुओं का बल क्षीण हो, उनका सर्वस्व नष्ट हो जावे।" यज्ञों से समाज संगठन भी खूब हुआ। श्री दिवेकर शास्त्री लिखते हैं '*यज्ञ संस्था ने आर्यों के सामाजिक जीवन पर अच्छा प्रकाश डाला था।*' इस संस्था के कारण (१) गोत्र-प्रवर का सम्बन्ध स्थिर हो गया (२) गान और नृत्य की सुधरी हुई कला का प्रादुर्भाव हुआ। (३) प्राणि-शास्त्र की उन्नति हुई। शिल्प-शास्त्र पूर्णता को पहुँचा तथा भाषण, कला और कथा-साहित्य की वृद्धि हुई। (४) जंगली और बिछुड़े हुए समाज उत्सव के निमित्त से इस संस्था में सम्मिलित हो गये। (५) अनेक लोगों के सम्मिलित हो जाने के कारण व्यवहार धर्म उत्पन्न हुआ। (६) यज्ञ सामाजिक सम्पत्ति के उपभोग का साधन बन गया। (७) अग्नि होत्र के साथ साथ उपनिवेश-स्थापन-कार्य सुगम हो गया। (८) धीरे धीरे व्यापार वृद्धि को सहायता मिली। (९) सब से बड़ी बात तो यह हुई कि ज्यों ज्यों समाज बढ़ता गया त्यों त्यों संघ निर्माण करने की कल्पना उत्पन्न होती गई। इन संघों में ऐक्य स्थापित करने के हेतु सार्वराष्ट्रीय-धर्म का प्रादुर्भाव हुआ। (१०) यज्ञ के लिये अनेक विद्वान एकत्रित होने लगे और तत्त्वज्ञान की उन्नति को प्रोत्साहन मिलने लगा१।" वास्तव में राष्ट्र निर्माण में यज्ञ-कर्म से आर्यों को बहुत सहायता मिली। यज्ञ के कारण ही वह वैद्यक शास्त्र के अभिज्ञाता हुये। वेदों में अनेक औषधियों का वर्णन है। उन औषधियों का अनुभव यज्ञ से ही हुआ था। परम्परा से आई हुई कच्चा मांस खाने की कुटेव भी यज्ञों के ही कारण छूटी थी। जैसा कि अथर्व वेद के वाक्य से प्रकट होता है—

१—आर्य्य संस्कृति का उत्कर्षापकर्ष पृ० ३६।४०।

'अयज्ञियो हतवर्चा भवति नैनेन हविरत्तवे ।
छिनत्ति कृष्या गोर्धनाद् यं क्रव्यादनुवर्तते ॥

कां १२ सू० २।३७

अर्थ—जिसके पीछे कच्चा मांस खाने वाला बाघ के समान (व्यसन) लग जाता है, वह यज्ञ के अयोग्य और निरतेज हो जाता है। उसके हाथ से यज्ञ का हवि न खावे। वह खेती-बाड़ी, गौ, धनादि से भी वंचित हो जाता है। और भी—

अग्ने अक्रव्याद्भिः क्रव्यादंनुदा देव यजनं वह ।

अ० सं० कां० १२ सू० २।४२

अर्थ—हे अग्ने ! तुम मांसाहारी नहीं। मांस भक्षीजनों को परे करो। देवों की उपासना करने वाले सज्जनों को हमें प्राप्त कराओ।

यज्ञ क्रिया ने आर्य्यों को मुर्दों को जलाना भी सिखाया था। क्योंकि गाड़ने तथा जल में बहा देने और हवा में सुखा देने के ढंगों से वह औषधियों के साथ मुर्दे को जलाना अच्छा समझने लग गये थे। यज्ञ करने के कारण उनमें साफ़ सुथरे और पवित्र रहने के भाव भर गये थे। यज्ञ का परिणाम था कि आर्य्य अनेक प्रकार के मिष्टान वगैरः बनाना सीखने लगे। अग्नि-बाण, विद्युत वज्र आदि के बनाने की क्रिया उनके मस्तिष्क में यज्ञ करने के कारण ही उत्पन्न हुई थी। तात्पर्य यह है कि राष्ट्र को सुसम्पन्न यज्ञ-संस्था के द्वारा ही आर्य्यों ने बनाया था।

शत्रुओं पर घेरा डालना, उनसे रक्षा के लिये दुर्ग बनाना आदि वह वैदिक काल के उत्तरार्द्ध में खूब जान गये थे।

विशेष घटना

इस वैदिक काल में विशेष घटना यह हुई कि ईरान स्थिति आर्य्यों ने अपना अलग धर्म खड़ा कर दिया। मूल तत्वों में कोई भेद न था फिर भी कुछ गौण में अन्तर पड़ ही गया। कुछ इतिहासकारों का कथन है कि—*ईरानी आर्य्य उन लोगों का समुदाय था जिन्हें भारतीय आर्य्य मध्य एशिया से भारत आते समय ईरान में छोड़ आये थे*[१]। कुछ लोग यह भी मानते हैं कि सरस्वती तीर के आर्य्य ही ईरान जाकर बसे थे[२]। कोई सा भी मत सही हो किन्तु यह बिल्कुल ठीक है कि ईरानी और भारतीय आर्य्य एक ही परिवार के दो दल थे। भारतीय लोग देवासुर-संग्राम नाम से बहुत परिचित हैं। लेकिन उन में से देवासुर संग्राम के विषय में जानकारी बहुत कम रखते हैं। भारतीय आर्य्यों का देव ही ईरानी आर्य्यों का असुर है। जेन्दावस्था[३] में देव या सुर को अदेव या असुर से नीच माना गया है। किन्ही किन्ही विद्वानों का कथन है कि—

१—लोक मान्य तिलक इस मत के समर्थक देशी इतिहासकारों में मुख्य स्थान रखते हैं। २—सिसेन्स आफ़ लेंगवेज जि० १ पे० २२९—आर्य्यों का मूल स्थान अध्याय ८। ३—ईरानियों की धर्म पुस्तक अथवा वेद।

भारतीय आर्य्य सोमरस पीना पसन्द करते थे। और ईरानी आर्य्य सोमरस को सुरा समझते थे। इसलिये वह सुरा के पीने वालों को सुर नाम से, अपने पक्ष के नेताओं को असुर 'जो सुरा न पियें' नाम से पुकारने लगे[१]। पार्सी भाषा में 'स' के स्थान पर 'ह' का प्रयोग होता है। इसलिये ईरान में अपने प्रिय असुर को अहुर बोलते थे, और ईश्वर के लिये अहुर-मज़द। किन्तु पीछे ईरानी आर्य्य भी सुरा सेवी बन गये। इसीलिये जिन्दावस्था में जहां सोम (पार्सी नाम-हाओम) की निन्दा है[२] वहीं आगे चलकर हाओम (सोम) की प्रशंसा भी की गई है। अध्यापक विनोद विहारीराय इस प्रसंग में लिखते हैं—

यदिच पार्सी और हिन्दू दोनों जाति के पुरखे पहिले एक ही जाति थे। एकत्र रहते थे और एक ही सामाजिक और धर्म नैतिक रीति नीति पर चलते थे। तथापि उनके बीच में परस्पर बहुत बैर हो गया था और इसी विरुद्धता के कारण एक दूसरे से पृथक् होकर दो जाति हो गये[३]। इस विरुद्धता का कारण निरूपण करना सहज नहीं है। आवस्ता के वर्णन पर सोच विचार करने से ऐसा बोध होता है कि महात्मा जरदुस्त और उनके विचार वाले लोग तीखी सोम के पीने के विरुद्ध और कृषि कार्य्य में उन्नति करने को जोर देते थे। किन्तु एक बड़ा समूह न सोम को छोड़ना चाहता था और न किसी स्थान पर रहकर खेती-कार्य्य में लगना चाहता था। किन्तु किसी अधिक रम्य देश की खोज में था। इसी पर दोनों दलों में भयंकर युद्ध भी हुआ। हमारे बाप दादे हिन्दूकुश को पार करके भारत में आ गये और जरदुस्त के साथी ईरान में रह गये[४]। ईरानी धर्म-ग्रन्थ जिन्दावस्ता में एक स्थल पर इस देवासुर संग्राम का वर्णन इस प्रकार है—मैं अन्द्र (इन्द्र) शौर्व (शर्व) और देव नाओंघैथ्य (ना सत्य) को इस घर से इस गाँव से इस नगर से इस देश से इस पवित्र अखंड जगत से निकाल देता हूँ[५]। पौराणिक हिन्दू देवासुर युद्ध का कारण यों बताते हैं कि—समुद्र मंथन से सुधा वा अमृत की उत्पत्ति हुई। देवताओं ने छल से असुरों को अमृत पीने से वंचित रक्खा। इस पर देवता और असुरों में संग्राम आरंभ हुआ। हिन्दू चन्द्रमा को भी अमृत वा सुधा-स्वरूप मानते हैं और चन्द्रमा का एक दूसरा नाम सोम भी बताते हैं। सो वैदिक सोमरस पुराणों में अमृत वा सुधा कहलाता है। देवगण इसके पीने की बड़ी कामना रखते थे। यह बात कि देवताओं ने असुरों को धोके से अमृत पीने नहीं दिया हिन्दुओं की मन गढ़न्त है। असल बात तो यह है कि असुर के उपासक

१—भारत का राष्ट्रीय इतिहास अप्रकाशित, दी होम आफ़ दी आर्य (आर्यों का स्वदेश) पे० ५६। २—आवस्ता यश्न ३२।३।४८।१०। ३—होम आफ़ दी आर्य पे० ५७। ४—इन्डो आरयन आर्टिकल 'प्रीमीटिव आरियन्स' डा० राजेन्द्रलाल मित्र द्वारा लिखित। ५—देखो जन्द आवस्ता दसवां फर्गद।

पार्सियों के पूर्व पुरुषों ने देवों के उपासक हिन्दुओं के पूर्व पुरुषों को सोम व अमृत पान की विरुद्धता की और इसीलिये दोनों में युद्ध हुआ।

जरुदुस्त के साथियों में विस्ताश्प एक मुख्य योद्धा था जिसे वेद में इष्टाश्व के नाम से पुकारा गया है। यथा—

'किमिष्टाश्व इष्ट रश्मिरेत ईशानासस्तरूप ऋञ्जते नृ न।'

ऋक् मं० १ सू० १२२ ऋ० १३

अर्थ—"जगत के शासन कर्त्ता इष्टाश्व और इष्टरश्मि हमारे आश्रय देने वालों का क्या कर सकते हैं।" ये उदाहरण तो हुए भारतीय और ईरानी आर्य्यों की विरुद्धता के कारणों के सम्बन्ध में, अब उनके आवस्तिक और वैदिक धर्म में कहां तक समानता है यह दिखाना भी जरूरी समझते हैं।

वैदिक-ऋषि दो लकड़ियों को घिस कर आग बनाते थे। पार्सियों में भी यही रीति प्रचिलित थी। हिन्दू अग्नि-होत्री अपने घर में पवित्र अग्नि-स्थापन करते थे। पार्सी लोग भी अपने घर में पवित्र अग्नि की आज तक रक्षा करते हैं। हिन्दू विवाह के समय अर्यन देवता का मन्त्र पढ़ते हैं। पार्सी भी विवाह के समय ऐर्यमन देवता का मंत्र पढ़ते हैं। आवस्ता में 'अथ्रव' और 'जओता' नाम के दो प्रकार के पुरोहित पाये जाते हैं, जो वेद में 'अथर्वन' और 'होता' नाम पुरोहितों से मिलते हैं। पार्सियों के क्रिया-कर्म में दूध, मक्खन, माँस, फल, हाओमा (सोम) भेड़ के रोम पतों के गुच्छे और पकवान का व्यवहार दृष्टिगोचर होता है। हिन्दू भी लगभग अपने क्रिया-कर्म में ऐसी ही वस्तुओं का व्यवहार करते हैं। पार्सियों की इजश्ने और वैदिकों की ज्योतिष्टोम यज्ञ-क्रिया एक ही थी। वैदिकों की आप्री, दर्श-पौर्णमास और चातुर्मास्य यज्ञों की जगह पर आफ्रिगान, दरुन, गाहानवर, आवास्तिक कृत्य हैं। कुछ अन्तर के साथ दोनों वर्गों में यज्ञोपवीत एक ही सी थी। दोनों ही शुद्धि के लिए गौ-मूत्र और नदियों के जल का प्रयोग करते थे। मूर्त्ति-पूजा वेद और आवस्ता दोनों ही में नहीं थी। तात्पर्य यह है, कि कुछ मत-भेदों के कारण ईरानी और भारतीय आर्य अलग प्रदेशों में बस कर तथा अलग-अलग धर्म-ग्रन्थ रच कर भी मूल-तत्त्वों में एक ही थे। यह क्रम भी बराबर जारी रहा था, कि कभी भारतीय ईरानी आर्यों में मिल जाते थे और कभी ईरानी भारतीय आर्यों में। सूर्य नामक देव बहुत काल तक ईरानियों का साथी रहा, फिर भारतीयों में मिल गया। किन्तु यम जो सूर्य का पुत्र समझा जाता है और शुक्र सदैव ईरानियों के साथी रहे। शुक्र अथवा उशना का मुकाबिले का एक देव बृहस्पति भारतीयों का पूरा मददगार था। ऋग्वेद में इन को भी कहीं-कहीं पर असुर कहा है; इस के अर्थ यही हैं, कि आरम्भ में भारतीय आर्य असुर शब्द को अधिक घृणा की दृष्टि से देखने की अपेक्षा अच्छा समझते थे, किन्तु ज्यों-ज्यों संघर्ष बढ़ा, भारतीय आर्यों को असुर शब्द उलटा जँचने लगा। ब्राह्मण-काल (जिस समय शतपथ

आदि ब्राह्मण ग्रन्थ बने थे) में यह युद्ध समाप्ति पर था और रामायण-काल में देवासुर-संग्राम बिल्कुल मिट चुका था । रामायण-काल में आर्य, राक्षस, वानर, गन्धर्व-युद्धों की चर्चा मिलती है । इस काल (रामायण-काल) में भारत, ईरान के आर्यों में परस्पर व्यापारिक व राष्ट्रीय सम्बन्ध कायम हो गये थे । रामायण-काल में आर्यों की क्या स्थिति थी ? वह नीचे के विवरण से जानी जा सकती है।

रामायण कालीन स्थिति—

धर्म

वैदिक-काल के ऋषियों के अनुभव शृंखलाबद्ध हो चुके थे और लोग उन्हीं अनुभवों अर्थात् आर्ष वाक्यों पर चलना अपना कर्त्तव्य समझते थे । ईश्वर-प्राप्ति के लिए यज्ञों के अलावा योग और एक नया साधन सामने आ चुका था । आश्रमों की पाबन्दी पूर्णतया की जाती थी । राजा लोग भी चौथे पन में तप करने के लिए चले जाते थे । सत्य बोलना सब से बड़ा धर्म समझा जाता था । ऋषियों का स्थान ब्राह्मणों ने ले लिया था, जिन को दान देने की प्रणाली का वृक्ष यौवन पकड़ता जाता था ।

समाज

चारों वर्णों का निर्माण हो चुका था । उन के अपने अलग-अलग कर्त्तव्य भी नियत किये जा चुके थे, किन्तु अभी प्रतिबन्ध (सीमा) नहीं हुआ था । वर्ण बदल सकता था, फिर भी ब्राह्मण वर्ण के हाथ में समाज की बागडोर बहुत कुछ आ चुकी थी । उन का प्रभाव रात-दिन बढ़ता जाता था । वे राज-शक्ति को अपने हाथ में नहीं लेते थे, किन्तु राजा का बनाना बिगाड़ना उन के हाथ में था । ब्राह्मणों के बढ़े हुए अधिकारों के विरोध में कुछ क्षत्रिय सिर भी उठा रहे थे । दक्षिण का कार्त्तवीर्यार्जुन ऐसे लोगों में उल्लेखनीय हैं। ये स्वतन्त्र विचार के क्षत्रिय अपने ऊपर ब्राह्मण वर्ग का प्रभुत्व स्वीकार नहीं करना चाहते थे । दत्तात्रय तो यहाँ तक विरुद्ध हुए, कि उन्होंने ब्राह्मणों की अपेक्षा पशु-पक्षियों को गुरू बना डाला । सरस्वती-आश्रम में ऐसे क्षत्रियों को दण्ड देने के लिए परशुराम के नेतृत्व में ब्राह्मणों का एक बड़ा संगठन हुआ[१] । कार्त्तवीर्यार्जुन जैसे विचार के क्षत्रियों का ध्वंश करके ब्राह्मणों ने बग़ावत को दबा दिया और उन क्षत्रियों की सन्तान को क्षत्रियत्व से पतित करार दे दिया । कायस्थ आभीर आदि उन्हीं प्राचीन क्षत्रियों की औलाद में से हैं, जिन्हें परशुराम के दल के ब्राह्मणों ने परास्त किया था[२] । ब्राह्मण क्षत्रिय संघर्ष का यह एक बड़ा धमका था, किन्तु खेद है कि इस विषय की पूरी सामग्री नहीं मिलती ।

१—परशुराम लेखक नरोत्तम व्यास । २—एवं हत्वार्जुनं रामः संधाय निशिख्न् ताञ्छरान । अन्वधा वत्स तान्हन्तुं सर्वानेवासु रान्नृपान ॥ ८७ ॥ तदा राम भयात्सर्वे नाना येप धरानृपाः ।स्वं स्वं स्थानं परित्यज्य यत्र कुत्र गताः किल ॥ ८८ ॥ चान्द्रसेनीय कायस्थोत्पत्तिमादर्कोद्दे रेणुका महात्म्य ।

अर्थ—परशुरामजी सहस्रार्जुन को मार कर पृथ्वी के अन्य राजाओं को मारने को दौड़े, तब राजा लोग इधर-उधर छिप गये ।

स्त्रियों का समाज में वैदिक-काल के ही अनुसार सन्मान था, किन्तु इस काल में उन की आज़ादी सीमिति हो चुकी थी। विवाह स्वयम्वर होते थे, किन्तु सवर्णीय विवाह होने की मर्यादा बाँधी जा रही थी, फिर भी ब्राह्मण क्षत्रियों के परस्पर यत्र-तत्र सम्बन्ध हो जाते थे[१]। राज-काज में वह समान भाग लेती थीं। युद्धों में भी शामिल होती थीं। बहु-विवाह की प्रथा थी, पर आदर्श एक पत्नीव्रत ही में समझा जाता था। स्त्रियाँ यदि चाहती थीं, तो विधवा होने पर पुनर्विवाह कर सकती थीं। चौथेपन में वह पतियों के साथ सन्यास भी ले सकती थीं। राज-घरों में दासी और धात्री भी रक्खी जाती थीं[२]।

पुत्र पिता की आज्ञा मानना अपना सब से बड़ा कर्त्तव्य समझते थे। आज्ञा-पालन में तर्क को स्थान न था। अपने पिता की कीर्ति बनाये रखने का वह सदैव प्रयत्न करते थे। भाई-भाई प्रेम से रहते थे। पिता का उत्तराधिकारी ज्येष्ठ पुत्र समझा जाता था।

अर्थ व्यवसाय

गाय, बैल, घोड़े, भेड़ और महिषी पालने का सभी वर्ग का धन्धा था। राजा लोग या रानियाँ स्वयम् दूध दुहने में लज्जा न समझते थे। ऋषि-लोग भी आश्रमों में गौ-बैल रखते थे। अनेक आश्रमों में तो खेती भी होती थी। अच्छे-अच्छे बाग़-बगीचे[३], तालाब, बावड़ी बनने लग गये थे। नगरों के पास सरोवर खोदे जाते थे। नगरों में रास्ते भी होते थे। कपास बोई जाती थी। रेशम के वस्त्र तैयार होने लग गये थे। लोग नावों द्वारा व्यापार करते थे। ढड़ाके वातायन जहाँ-तहाँ तैयार होते थे। नदियों के पुल बाँधने, और इमारत बनाने की कला को तरक्की हो रही थी[४]। कुछ पुरोहितों को छोड़कर सभी लोग खेती करते थे[५]। सिक्कों के लिए निष्क और मुद्रा का[६] प्रयोग कहीं-कहीं मिलता है। छटाँक के लिए कन्वाँस का प्रयोग भी मिलता है।

१—ययाति क्षत्रिय का देवहुति ब्राह्मण कन्या से और अगस्त्य ऋषि का लोपमुद्रा क्षत्रिया से विवाह हुआ था। (भारत का धार्मिक इतिहास, पे० ८१)। २—ज्ञाती दासी यतो जाता कैकेय्य। सहोषिता। (२) अविदूरे स्थितां दृष्ट्वा धात्रीं प्रपच्छ मन्थरा। वाल्मीकि अयोध्या काण्ड सर्ग छटा। ३—उद्यानानि परित्यज्य क्षेत्राणि च गृहाणि च। वा० अयोध्या का छटवां सर्ग। ४—कर्मान्तिकान् शिल्पकारान्वर्धकान् खनकानपि। वा० रा० बालकाण्ड सर्ग १३। ५—तत्रासीत पिंगलो गार्ग्य स्त्रिजटोनाम वै द्विजः। क्षतवृत्तिर्वनेनित्यं फाल कुद्दाल लाङ्गली। वा० रा० अयो० काण्ड ३८वाँ सर्ग।

अर्थ—वहाँ पर एक भूरे रंग का गर्ग गोतोत्पन्न ब्राह्मण त्रिजटा नाम था, जो फावड़ा, कुदाल और लम्बा डण्डा लेकर वन में निर्वाह करता था।

६—तं ते निष्क सहस्रेण ददामि द्विज पुङ्गवः। वाल्मीकि अयोध्याकाण्ड सर्ग ३८वाँ।

वैदिक-काल से रामायण-काल तक साहित्य काफ़ी बढ़ चुका था। ब्राह्मण ग्रन्थ, उपनिषदों की रचना हो चुकी थी। ज्योतिष[१], विज्ञान और वैद्यक की ओर लोगों का काफ़ी ज्ञान हो गया था। साहित्य लेख-रूप में आ चुका था। भोज-पत्रों पर लिखने की प्रणाली आरम्भ हो गई थी।

साहित्य

प्रजा का विराट रूप (अराजकपना) घटता जा रहा था। राजा का महत्व बढ़ता जा रहा था। राजा का चुनाव वंशानुगत होता जा रहा था। फिर भी राजा पर नियंत्रण करने के लिये शक्तिशाली मंत्रि-मण्डल रहता था[२]। जिस में एक धर्माध्यक्ष अर्थात् पुरोहित रहता था। अयोग्य राजा को गद्दी से हटाने का मंत्रि-मण्डल को पूरा अधिकार रहता था। ऋषि लोगों से किसी किस्म का कर नहीं लिया जाता था, न भूमि पर कोई निश्चित कर था। किसी खास अवसर पर प्रजाजन राजा को भेंट दिया करते थे[३]। रामायण काल के उत्तरार्द्ध में भूमि की पैदावार का छठा हिस्सा राजा को दिया जाता था। न्याय का कार्य राजा तथा मंत्रि-मण्डल करता था। अभियोग (मुक़द्दमे) नाम मात्र को ही चलते थे, किन्तु किसी भी भाँति की कोर्ट फीस न थी। प्रजा के सभी लोग बलवान् और युद्ध प्रिय थे। अलग फौज रखने का रिवाज बहुत कम था। आवश्यकता पड़ने पर राष्ट्र की रक्षा के लिए कुल देश तैयार हो जाता था। फिर भी राजमहलों और नगर के मुख्य द्वारों की रक्षा के लिये प्रहरी रक्खे जाते थे। जितनी सेना रक्खी जाती थी उस में रथ, घोड़े, हाथी, पैदल, चतुरंग हुआ करते थे[४]। युवराज भी राजकाज में भाग लेता था। सन्धि विग्रह के संदेश के लिये राजदूत रक्खे जाते थे। अनेक प्रकार के अस्त्रों का निर्माण हो चुका था। बेहोश करने वाला विषाक्त अस्त्र भी उस समय तैयार हो गया था। किन्तु उसे प्रयोग में बहुत कम लाया जाता था।

राजनीति

पुरुष धोती बाँधते थे जिसे शाटी कहते थे[५]। और अंग को एक दुपटे से ढक लेते थे। कुछ लोग जांघिया भी पहनते थे। स्त्रियाँ साड़ी पहनती थीं। आज का गुजराती स्त्रियों का फैशन उस समय के स्त्री पहनावे से मिलता जुलता है। ऊपरी वस्त्र के लिये उत्तरायन कहते थे। पैरों में काठ के खड़ाऊँ पहने जाते थे। कानों में कुण्डल पहनने की स्त्री-पुरुष दोनों में प्रथा थी। हाथ में कंकण और गले में हार कमर में कौंधनी पैरों में ;

वेष भूषा

१—अथ चन्द्रोम्युपगमत्पुष्यात्पूर्वं पुनर्वसुम्। वाल्मीकि रामायण चतुर्थ सर्ग। २—अष्टौवभूवुर्वीरस्य तस्यामात्यायश स्वि नः। वाल्मी० बालकांड सर्ग ७। ३—बलिषड् भाग मुद्धृत्य नृपस्यारचितुः प्रजाः। वाल्मीकि अयोध्याकांड सर्ग ५७। ४—यं यान्त मनुया तिस्म चतुरङ्ग बलम् महत्। वा० रा० अयो० कां० सर्ग ३१ वाँ। ५—स शाटीं परितः कक्ष्यां संभ्रान्तः परिवेष्ट्यताम। वा० रा० अयोध्या कां० सर्ग २८।

नूपुर स्त्रियाँ पहनती थीं१। चूड़ियों का आविष्कार न हुआ था। जंगलों में रहने वाले ऋषि-मुनि केवल एक ही वस्त्र से काम चला लेते थे।

विशेष चर्चा

रामायण-काल में देवासुर संग्राम का जिकर नहीं है और यदि कहीं असुर शब्द आया है तो वह ईरान के लोगों के लिए नहीं, किन्तु राक्षस आदि यज्ञ विरोधी जातियों के लिए आया है। इस काल में आर्य विन्ध्याचल को पार कर चुके थे और वह लगातार दक्षिण की ओर बढ़ रहे थे। विन्ध्याचल के दक्षिण पश्चिम वानरों की आबादी थी। पंपा सरोवर इन का मुख्य स्थान था। गोदावरी, ताप्ती, तुङ्गभद्रा के किनारे पर भी वानरों की बस्तियाँ थीं। वानरों की बस्तियों के सन्निकट ही राक्षसों के जनपद थे। दंडकारण्य के निकट तथा पंचवटी के समीप राक्षसों के कई छोटे छोटे जनपद थे। तिब्बत और मानसरोवर के निकट देव लोगों की बस्तियाँ थीं२। देवों के निचले भाग में यक्ष और गंधर्व रहते थे। भारत के पश्चिमी किनारे की ओर आज के महाराष्ट्र देश में नागों की बस्तियाँ थीं। किन्तु दक्षिण भारत में राक्षसों का प्राबल्य था। राक्षस भी मनुष्य ही थे किन्तु वह आर्यों की यज्ञ-प्रथा के विरोधी थे३। और आर्य संस्कृति के प्रभाव को भी नहीं बढ़ने देना चाहते थे। अभक्ष्य भक्षण करने में बिल्कुल आज़ाद थे। रात्रि के समय शत्रु पक्ष पर धावा करने में विशेष चतुर थे। सभ्यता में भी बढ़े-चढ़े थे। बुद्धिमानी में आर्यों से किसी कदर भी कम न थे। वानर लोगों को कुछ लोग आज के वर्बरों के आदिम पुरुष मानते हैं किन्तु वानरों में से आज भी एक कुल ऐसा है, जो राजपूतों में शामिल है४। वानर हमारे विचार से भारत के आदिम निवासी हो सकते हैं। अथवा उस आर्य समुदाय के थे जो ईरान से बिलोचिस्तान और फिर बम्बई अहाते से विन्ध्य के दक्षिण में पहुँच गये थे। यह लोग यज्ञ-प्रथा से न तो प्रेम करते थे न यज्ञों के विरोधी थे। बड़े लड़ाकू थे। फल-फूल और मेवा खाना अधिक पसन्द करते थे। युद्धों में पत्थर और लक्कड़ों से काम लेते थे। विवाह के मामलों में आजाद थे किन्तु अपनी ही जाति के साथ विवाह करना अधिक पसन्द करते थे। कुछ लोग अन्य जाति और देश की भी स्त्रियों के साथ विवाह कर लेते थे। यह अपने दल-पति की संरक्षा में लड़ने को हर समय तैयार रहते थे। खेती व व्यापार का

१—जातरूप मयैर्मुख्यै रङ्गदैः कुण्डलैःशुभैः सहेम सूत्रैर्मणिभिः केयूरैर्वलयैरपि ॥ हारं च हेम सूत्रं च भार्यायै सौम्यहारय। रशनाचाथ सा सीता दातुमिच्छिते सखै ॥ वाल्मीकि अयोध्या कां० ३ सर्ग २८ वाँ। २—कैलासे, मन्दिरे, मेरौ तथा चैत्रायेवने। देवोद्यानेषु सर्वेषु विहृत्य सहिता त्वया। वाल्मीकियुद्ध कांड ४१ सर्ग। ३—आर्यों का मूल स्थान अध्याय ११। ४—आज्ञा पयन्तदा राजा सुग्रीवः प्लवगेश्वरः। और्ध्व देहिक मार्यस्य क्रियता-मनु कूलतः। वाल्मीकि किष्किंधा कां० सर्ग १९।

अर्थ—वानरेश्वर राजा सुग्रीव ने आज्ञा दी भाई वाली का प्रेत-कार्य आर्य-रीत्यानुसार किया जाय।

इन में बहुत कम रिवाज था। शत्रु को बाँधने के लिए हर समय लूम बाँधे रहते थे। आर्य-सभ्यता से इन्हें प्रेम था और आगे चल कर उसी में दीक्षित हो गये। नागों का रामायण-काल में कोई महत्व-पूर्ण जिकर नहीं है१। जहाँ-तहाँ निषादों के भी छोटे छोटे राज्य थे। मान्ववंशी आर्य रामायण-काल में आज के बिहार में पहुँच गये थे और मिथिला में उन का एक घराना राज करता था। राजा जनक इसी घराने के दशरथ समकालीन राजा थे। विशालपुरी में राजा सुमति राज करता था। दक्षिण कौसल में राजा भानुमान का राज था। चन्द्रवंशियों का समुदाय अंग देश तक पहुँच गया था और राजा रोमपाद२ अंग देश में राज करते थे।

वास्तव में रामायण-काल में आर्य-सभ्यता पूर्ण यौवन पर थी। पिता के आगे न पुत्र मरते थे और न विधवायें होती थीं। और ऐसा होता भी था तो उस में राजा का कसूर समझा जाता था। प्रजा के स्वास्थ्य और जान-माल का राजा उत्तरदायी समझा जाता था। इतिहासकार रामायण के पश्चात्—आर्य संस्कृति का समय विभञ्जन करते हुए—महाभारत-काल की चर्चा करते हैं। यह काल-विभाजन ऐसा है जिस का प्रयोग देशी विदेशी दोनों प्रकार के इतिहासवेत्ता करते हैं। हम भी उसी मार्ग का अनुसरण करते हैं।

महाभारत-कालीन आर्य स्थिति—

धर्म — महाभारत-काल से हमारा तात्पर्य उस समय से है जिस समय युद्ध हुआ था। इसलिए हम उसी काल के समय का वर्णन करेंगे। उस समय ईश्वर के सम्बन्ध में सब का एक ही ख्याल था। वह यह कि ईश्वर एक है। किन्तु कपिल जैसे विद्वान् सांख्य ज्ञान द्वारा एक बीच के मार्ग से ले जाकर आत्म-शान्ति दिलाने का उद्योग कर रहे थे। यज्ञों का इस समय भी पूरा महत्व था किन्तु यज्ञों में हिंसा बढ़ती जा रही थी। आरम्भ में यज्ञों का जो आदर्श था अब वह नहीं रहा था। उपनिषदों तथा गीता के पाठ से मालूम होता है कि आत्मवाद पर अधिक जोर दिया जा रहा था। अब यज्ञ राष्ट्र की अपेक्षा व्यक्ति के लाभ के लिए अधिकांश में किये जाते थे। यम नियमों का खूब पालन किया जाता था। यद्यपि समस्त लोग वैदिक धर्मावलम्बी थे किन्तु उसे सार्वभौम-धर्म बनाने की उत्कण्ठा "कृण्वन्तो विश्वमार्यम्" अब शिथिल होती जा रही थी।

१—भूत लोग रात को छापा मारते थे। अकेले दुकेले मनुष्यों को लूट लेते थे। मौका पाकर स्त्रियों अथवा बच्चों को उठा ले जाते थे अथवा किसी नशीली वस्तु से बेहोश कर देते और फिर उचित रिश्वत ले कर छोड़ देते या ठीक कर देते थे। २—भागवत नवम स्कन्ध में 'रोमपाद' को चन्द्रवंशी माना है।

आश्रम-धर्मों का पालन होता था, किन्तु उस में भी शिथिलता आ रही थी। चौथेपन में सन्यास धारण करने की प्रथा बहुत ही कम शेष थी। हाँ, विवाह ब्रह्मचर्यावस्था को पार करने पर ही होते थे। स्वयम्वर विवाहों के साथ-साथ गन्धर्व विवाहों की भी प्राबल्यता थी। बहु पत्नी-प्रथा के साथ बहुपति-प्रथा भी प्रचलित थी[१]। तिब्बत, भूटान आदि देशों में यह प्रथा अब भी प्रचलित है। विनायकराव चिन्तामणि वैद्य लिखते हैं कि, "*वन पर्व अध्याय २६८ की घटना से सिद्ध होता है कि क्षत्रियों का पुरातन काल से यह धर्म रहा होगा कि विवाहित स्त्री तक उसके पति को जीत कर हरण की जा सकती है। द्रौपदी के हरण करने वाले जयद्रथ से धौम्य ऋषि ने यही कहा था कि पहिले इस के पति को जीत।*"

समाज

इस काल में यह नियम बँध चुका था कि प्रत्येक वर्ण को अपने ही वर्ण की स्त्री से विवाह करना चाहिये। खास अवस्थाओं में नीचे के वर्ण की स्त्री से विवाह किया जा सकता था। अन्तर्राष्ट्रीय विवाह बराबर होते थे।

नियोग की प्रथा तो भारतीय आर्यों में वैदिक-काल से ही चली आती थी। बायबिल के पढ़ने से तो पता चलता है कि भारत के बाहर ज्यू लोगों में भी यह प्रथा प्रचलित थी। पति की आज्ञा से अथवा पति के मरने पर स्त्री अपने देवर आदि से केवल सन्तान लेने के लिये समाज की जानकारी में नियोग कर सकती थी। पति के भाई तथा उसी नाते के कुटुम्बी पुरुष से सन्तति उत्पन्न करने का नियम होने से हीन-वर्ण होने का अन्देशा न था। समाज का बल मनुष्य-संख्या पर अवलम्बित था, इस कारण प्राचीन समाजों में नियोग आवश्यकीय माना जाता था। पीछे काफी मनुष्य-संख्या होने और एक पतिव्रत के प्रचार के लिए नियोग-प्रथा बन्द कर दी गई।

भारतीय-युद्ध के समय पर्दे की प्रथा न थी। सुभद्रा, द्रौपदी, सत्यभामा के चरित्रों से यह बात सिद्ध है; किन्तु महाभारत के उत्तर-काल में पर्दा-प्रथा भारत में घुसने की चेष्टा कर रही थी। भारत-काल में स्त्रियों की आज़ादी वैदिक-काल तो क्या रामायण-काल के भी बराबर न थी। वह पति की संपति समझी जाती थीं, उन्हें व्यक्ति-स्वातन्त्र्य भी न था। जुये के दावों पर भी स्त्रियों को रख देते थे। वह युद्धों में जाती थीं, किन्तु लड़ाई में सहयोग नहीं देती थीं। पाक-शास्त्र में इस समय स्त्रियों का पाण्डित्य बढ़ रहा था।

१—एक स्त्री के अनेक पति करने की प्रथा उन चन्द्रवंशी आर्यों में थी, जो हिमालय से नये-नये आये थे। द्रौपदी के उदाहरण से यह बात माननी पड़ती है। इस में विशेष रूप से ध्यान देने योग्य बात यह है कि अनेक पति विभिन्न कुटुम्बियों के नहीं, एक ही कुटुम्ब के सगे भाई होते थे। महाभारत मीमांसा सी० वी० वैद्य रचित।

विवाह के विषय में इस समय एक और भी बन्धन था, वह यह कि ज्येष्ठ भाई से पहिले छोटे भाई का विवाह करना पातक समझा जाता था१।

वर्ण-व्यवस्था प्रौढ़ अवस्था को पहुँच चुकी थी। ज्ञान-सम्बन्धी बातें भी ब्राह्मणों के लिये कुछेक सुरक्षित रक्खी जाने लगी थीं। ब्राह्मण शास्त्र के कार्य के अलावा शस्त्र का भी काम करते थे। किन्तु क्षत्रिय ब्राह्मणों के शास्त्र-विषयक कामों के करने का अधिकारी नहीं समझा जाता था। वर्ण को अपरिवर्त्तनशील (न बदलने वाला) करार दिया जा रहा था। फिर भी ब्राह्मणेतर (ब्राह्मणों के सिवाय) वर्ण के लोग इस बात को मानने के लिए तैयार न थे। मतङ्ग ऋषि ने स्पष्ट कहा था:—

'इदं वर्ष सहस्रं वै ब्रह्मचारी समाहितः।
अतिष्ठ मेकपादेन ब्राह्मण्यं नाप्नुया कथम्॥
अहिंसा दम मास्थाय कथं नार्हामि विप्रताम्'

(अनु० पर्व अ० २६)

अर्थात् *"हज़ारों वर्ष से सावधानी के साथ मैं ब्रह्मचर्य धारण के साथ एक पग से स्थित होकर अहिन्सा और इन्द्रिय-दमन का पालन कर रहा हूँ। फिर क्या कारण है कि मैं ब्रह्मचर्य के प्रभाव से ब्राह्मणत्व न प्राप्त कर सकूँगा।"* युधिष्ठिर के विचारों से भी यही बात मालूम होती है कि अन्य वर्ण के लोग इस बात को मानने से सहमत नहीं थे कि:—

ब्राह्मण्यं दुष्प्राप्यं निसर्वाद्ब्राह्मणः शुभे।
क्षत्रियोवैश्यशूद्रो वा निसर्गादिति मे मतिः॥

(अ० पर्व १४३)

अर्थात् (शिवजी कहते हैं) *"ब्राह्मणत्व सहज में प्राप्त नहीं होता; मेरे मत से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र प्राकृतिक हैं।"* युधिष्ठिर जैसे लोगों का तो दावा यही था कि वर्ण परिवर्त्तनशील है, जैसा कि वह सर्प-संवाद में कहते हैं:—

"शूद्रे तु यद्भवेल्लक्ष्म द्विजे तच्च न विद्यते।
न वै शूद्रो भवेच्छूद्रो ब्राह्मणो न च ब्राह्मणः॥"

(शान्ति पर्व)

अर्थात्—*"शूद्र में ब्राह्मण के लक्षण दिखाई दें और ब्राह्मण में शूद्र के तो न वह शूद्र, शूद्र है और न वह ब्राह्मण, ब्राह्मण।"* किन्तु ब्राह्मण वर्ग पूरा

१—महाभारतशान्ति पर्व अध्याय ३४।

प्रयत्न कर रहा था कि अन्य वर्णों में से अब ब्राह्मण बनना बन्द हो जाय। परशुराम के कर्ण को क्षत्रिय जान लेने पर शाप देने की कथा गढ़ी जाने का तात्पर्य यही है कि ब्राह्मण वर्ग अपने से इतर वर्ग को सम श्रेणी में आने से रोक रहा था।

सत्यवादिता की भाँति स्पष्टवादिता भी इस काल के मनुष्यों का एक खास गुण था। वे मनोगत भावों को प्रकट करने में कुछ भी आगा-पीछा न करते थे। मन में कुछ और मुँह में कुछ की आदत उन में न थी। क्रोध के समय में दाँत पीसना, होंठ चबाना, हथेली मलना, आनन्द के समय सिंहनाद करना, किलकार मार कर हँसना, उछलना-कूदना और वस्त्र उड़ाना उनकी आदतों में शामिल था[१]।

अपने से बड़ों का आदर करना, प्रातःकाल उठ कर एक दूसरे को अभिवादन करना, माता-पिता के चरण छूना, बड़ों की आज्ञा का कष्ट सह कर पालन करना, भारत-कालीन आर्यों का मुख्य गुण था।

पहनावा

रामायण-काल से महाभारत-काल तक पहनावे में कोई अन्तर हुआ था तो यह कि पगड़ी का प्रचलन और हो गया था। पगड़ी को उष्णीष[२] कहते थे। ओढ़ने के वस्त्र को उत्तरीय और पहनने के वस्त्र को अन्तरीय नाम से पुकारते थे। स्त्रियाँ केश-रचना में कला प्राप्त कर चुकी थीं। वह माँग काढ़ती थीं और केशों को सँवार कर चादर के नीचे पीठ की ओर डाल लेती थीं। लाख की चूड़ियों का आविष्कार हो चुका था। आभूषण पहनने का स्त्री-पुरुष सभी को शौक बढ़ता जाता था। वस्त्र रेशमी, ऊनी सभी प्रकार के देश-काल के अनुसार पहने जाते थे।

अर्थ, उद्योग-धन्धे

भारतीय युद्ध के समय लोगों का मुख्य धन्धा खेती ही था। बाग़-बग़ीचे भी खूब लगाये जाते थे। खेती के बाद गौ-पालन का धन्धा था। राजा लोगों के हजारों ही गाय-बैल रक्खे जाते थे। रँगाई का आविष्कार होता जाता था। खानों में से सोना भी निकाला जाता था, सोने के अनेक नामों से लोग परिचित थे[३]। इमारतें तथा सड़कें बनाने में लोग बहुत दक्ष हो गये थे। मय के बनाये मायागृह व लाक्षभवन इसके उदाहरण हैं। गौओं के लिये गोचर-भूमि अधिक से अधिक मात्रा में छूटी हुई थी। जंगलों और चारागाहों के ऊपर राजाओं का कोई अधिकार न था। व्यापार रामायण-काल से अधिक उन्नति पर था। पण और निष्क सिक्के चलते थे। जंगल काट कर नई-नई बस्तियाँ बसाई जा रही थीं।

१—कर्ण पर्व अध्याय २३। २—उष्णीषाणि नियच्छतः पुण्डरीक निभैः करैः। अन्तरीयोत्तरीयाणि भूषणानि च सर्वशः॥ (महा० उत्तर पूर्व अध्याय १९ श्लोक २०)।
३—सभापर्व अध्याय ५२ जातरूप सोना।

राजनीति

जिस समय भारतीय युद्ध हुआ था उस समय भारत की राजनैतिक स्थिति संघर्षात्मक थी। कुछ लोग साम्राज्यवाद को अच्छा समझते थे और कुछ प्रजातन्त्र शासन को। एक समुदाय ऐसा भी था जो बिल्कुल अराजकवादी था। वह किसी भी भाँति की राज-सत्ता को मानने के लिये तैयार न था। जरासंध, कंस, शिशुपाल, कालयवन-वासदेव (काशी) दन्तवक्र, दुर्योधनादि ऐसे लोगों में से थे जो साम्राज्यवाद तथा एकतंत्र के समर्थक थे। श्री कृष्ण, सुभद्रबाहु, भोज और कुंकौतिय प्रजासत्तात्मक शासन-प्रथा के पोषक थे। नाग तक्षक आदि लोग नितान्त अराजकवादी थे। पूर्व में जरासंध ने अनेक छोटे छोटे शासकों को बन्दी गृह में डाल कर उनके राज्य को नष्ट कर दिया था। उत्तर भारत में दुर्योधन पाँव फैला रहा था, द्वावे में कंस ने यादवों के छोटे छोटे राज्यों को हड़प लिया था। गोय राष्ट्र और नव राष्ट्र उसने अपने राज्य में मिला लिये थे।

पौराणिक कथायें महाभारत कालीन इस संघर्ष को धार्मिक रूप देकर उसकी वास्तविकता पर आवरण डाल देती हैं किन्तु फिर भी असल वस्तु स्पष्ट दिखाई देती है। श्रीकृष्ण ने सब से पहिले गोय लोगों की सहायता से कंस-राज्य को नष्ट किया और मथुरा में भौज्य शासक व्यवस्था स्थापित की। आगे चल कर यह लोग द्वारिका पहुँच गये थे। इनके शासन-संघ की विशेष चर्चा हम आगे करेंगे। कंस-राज्य के नष्ट करने के पश्चात्[१] पाँडवों को सहायता देकर दुर्योधन के दल को परास्त किया। इसी बीच में जरासंध को मार कर पूर्व के साम्राज्य के टुकड़े कर दिये।

भारत-कालीन साहित्य को देखने से पता चलता है कि भारतवर्ष अनेक छोटे-छोटे राज्यों में वटा हुआ था। जिनमें भिन्न-भिन्न प्रकार की शासन-व्यवस्था थी। किसी किसी राज्य में तो दो चार गाँव ही हुआ करते थे। पाँडव भी दुर्योधन से केवल पाँच ग्राम माँग रहे थे। जिस राज्य पर जो लोग शासन करते थे उसी देश के नाम से उनका वंश पुकारा जाता था किन्तु देश का नाम भी उन्हीं लोगों के किसी गुण, उपाधि आदि पर रक्खा जाता था। महाभारत ग्रन्थ में तत्कालीन दो सौ से अधिक राज्यों व वंशों का जिक्र है। ये सब प्रायः एक ही धर्म के मानने वाले और एक ही भाषा भाषी थे। इनमें परस्पर युद्ध भी हुआ करते थे किन्तु

१—भागवत की कथाओं से पता चलता है कि श्रीकृष्ण ने सब से पहिले कंस के द्वारा उगाहे जाने वाले टैक्सों को बन्द किया। गोप लोग जिनके यहाँ गौपालन का ही पेशा होता था कंस को टैक्स रूप में मक्खन पहुँचाया करते थे। श्रीकृष्ण ने ऐसे मक्खन को लूटना आरम्भ कर दिया। उसकी महलों में दास-वृत्ति के लिये जाने वाली दासियों को बन्द कर दिया।

राजित का देश उनसे छीना नहीं जाता था। पराजित राज्य जेता (विजयी) को भेट आदि दिया करते थे[१]।

इन राज्यों में कोसल, विदेह, शूरसैन, कुरु, पाँचाल, मत्स्य, मद्र, केकय, गांधार, वृष्णि, भोज, मालव, क्षुद्रक, सिन्धु, सौवीर, काम्बोज, त्रिगर्त, आनर्त्त ऐसे राज्य हैं जो ब्राह्मणकाल (ब्राह्मण ग्रन्थ) से ही बराबर चले आते थे। इन देशों के नाम लोगों पर से पड़े थे।

श्रीरमेशचन्द्रदत्त ने ब्राह्मणकाल के राजाओं का पदवी विभाजन इस प्रकार किया है—पूर्व के शासक को सम्राट् नाम से पुकारा जाता था और दक्षिण के शासक भोज कहे जाते थे। पच्छिम देश के राजाओं की पदवी विराट थी और मध्य देश के राजा केवल राजा ही नाम से पुकारे जाते थे। पूर्व में साम्राज्य-भावना इसलिये पैदा हो गई थी कि वहाँ आर्य अनार्य दोनों ही जातियों का प्रावल्य था। अपनी सभ्यता का विस्तार शायद साम्राज्य शाही में ही हो सकता है। बौद्ध ग्रन्थों से पता चलता है कि शक और लिच्छवी लोगों की शासन-सभा का प्रत्येक मेम्बर राजा कहलाता था।

महाभारत में गण राज्यों का भी जिक्र है। गण वैदिक काल में भी होते थे। 'गणानां गणत्या गणपतिँ हवामहे' मंत्र में गण राज्यों के अधीश्वर का ही वर्णन है। महाभारत-काल में गणपति विशेष सन्मान की पदवी समझी जाती थी। उस समय संकेत, संसप्तक, उत्सव, गोपाल, नारायण, शिव आदि नाम गणों के महाभारत ग्रन्थ में मिलते हैं। गण-राज्य युद्ध में बिना भेद के पराजित नहीं हो सकते थे[२]। गण राज्यों की प्रजा धनवान शिक्षित और शूरवीर हुआ करती थी[३]। किसी किसी गण राज्य में तो परदेशी लोगों को प्रवेश भी कठिन था। महाभारत कालीन राजवंश और जनपदों की सूची इस प्रकार है:—

पूर्व की ओर के देश व राजवंश

हस्तिनापुर में कुरु लोग राज करते थे। यह स्थान गंगा के पच्छिमी किनारे पर आबाद था। इनके पूर्व ओर पाँचालों का राज था। इस राज की सीमा गंगा के उत्तर और यमुना के दक्षिण तक फैली हुई थी। इस राज्य का एक भाग द्रोण ने जीत कर कुरु राज्य में मिला दिया था, जिसकी राजधानी अहिच्छत्रपुर (बरेली) थी। शेष भाग पर द्रुपद राज करता था। साकन्दी और काम्पिल्य इस राज के मुख्य नगर थे। कोसल (अवध) के दो भाग हो चुके थे—उत्तर कोसल और दक्षिण कोसल। इन पर रघु और निमि वंशी लोगों का राज था। गंगा किनारे काशी में काश्य राज कर रहे थे। इनके (काश्यों के) दक्षिण में मगध लोगों का राज्य था। मगध प्रदेश की राजधानी

१—महाभारत मीमांसा पे० २६४ से ३४४। २—भेद मूलोविनाशो हि गणाना-मुपलक्ष्ये। मंच संवरणं दुखं बहु नामिति मे मतितः॥ शांति पर्व। ३—द्रव्यं वन्तश्च शूराश्च शस्त्रज्ञाः शास्त्र पारगः (शांति पर्व)।

राज-गृह तथा गिरिव्रज थी। इस राज्य की नींव डालने वाला वसु का पुत्र वृहद्रथ था१। हमारे खयाल से चन्द्रवंशियों का यह समूह ईरान से यहाँ आकर आबाद हुआ था क्योंकि ईरान में क्षत्रिय की संज्ञा मगध थी। मगध क्षत्रियों के नाम पर ही यह देश मगध कहलाया। इस से सटे हुए पाँच प्रदेश और थे—अंग, वंग, कलिंग, सुहच और पुन्ड्र एवं ओड्र। महाभारत में इन्हें बलि की स्त्रियों से ऋषि दीर्घतमा की संतान बताया है। इस से मालूम होता है कि यह मिश्रित नस्ल के आर्य थे। अंग को आजकल चम्पारन, वंग को मुर्शिदाबाद, कलिंग को कटक, पौन्ड्र को पांडुचेरी और ओड्रक को उड़ीसा कहते हैं। कलकत्ता के निकट ताम्रलिप्तिक थे। कोई-कोई ताम्रलिप्तिक लंका के निकट मानते हैं। चित्रांगदा जिसे कि अर्जुन ने ब्याहा था मणिमन मनिपुर देश की थी। इस में नाग वंशीय क्षत्रिय राज करते थे। इनके अतिरिक्त पुमाल, गोपाल कक्ष, मल्ल, सुपार्श्व, मलंग, अनध, अभय, वत्स, शर्मक, वर्मक, शकवर्वर, दंडधार, चौदित्य आदि गण राज्य थे२।

दक्षिण ओर के देश व राजवंश

अवन्ति आजकल का मालवा है। इसमें उस समय विन्दु अनुविन्द दो राजा राज करते थे। यहाँ संयुक्त शासन प्रणाली थी। नर्मदा नदी के किनारे आज के वरार में विदर्भ लोगों का राज था। नैषध लोग निषध देश में राज करते थे। आजकल यह गवालियर प्रांत में शामिल है। चर्मरावती (चंवल) के किनारे (वर्तमान धौलपुर, गवालियर का भाग) कुन्तिभोज राज करते थे। यमुना के किनारे मथुरा और उस के निकटवर्ती देश पर सौरसैन शासक थे। सौरसैन के इर्द गिर्द दशार्ण और यक्रलोम थे। कुछ लोग दशार्ण मन्दसौर के पास बतलाते हैं। आज जहाँ महाराष्ट्र प्रदेश है भारत काल में वहाँ पर पांडु, गोप, मल राष्ट्र थे। कुछ गोप मथुरा के आस-पास गोकुल में भी आबाद थे। आज-कल के कोकण में अपरान्त लोगों की शूर्पारक राजधानी थी। चोल (कोरोमंडल) पाँड्य (टिनेवली) द्रविड़ (तंजोर) माहिषक (महसूर) केरल (ट्रावनकोर) आदि का भी महाभारत में वर्णन है। इनके अलावा कुन्तल, सेक, अपर सेक, मैंद, द्विविद, तालाकट, दंडक, करहाट, आन्ध्र, एक पाद, कर्ण प्रावण, पुरुपाद देश और राजवंश भी दक्षिण में भारतीय युद्ध-काल में अवस्थित थे।

पश्चिम दिशा के देश और राज्यवंश

गान्धार जिस की राजधानी पीछे पुरुपपुर (पेशावर) कहलाई, इस में गान्धारों का राजा राज करता था। सिन्धु देश में जयद्रथ अपने सिन्धु राजवंश के साथ शासन कर रहा था। आज-कल के काठियावाड़ में सौवीर शासक थे। कच्छ-देश में अनूप लोगों का राजवंश था, गान्धार के उत्तर में काश्मीर में राजा गोनर्द३ राज करता था। भारतीय युद्ध के पश्चात् श्रीकृष्ण भगवान् ने इसे मार कर इसकी रानी को शासक बनाया था। इनके अतिरिक्त

१—आदि पर्व। २—सभा पर्व। ३—राजतरङ्गिणी।

मत्तमयूर, रोहितिक, शैरीषक, महतप, दर्शार्ह, शिवित्रिगर्त, अम्बष्ट, पंचकर्पट, और वाटधान भी उस समय आज के मध्य भारत में आवाद थे। मद्र देश में शल्य राज करता था।

तंगण और परतंगण हिमालय की पच्छिमी तलहटी में आवाद थे।

उत्तर ओर के देश व राजवंश

भारत के उत्तर में अति दूर पर उत्तरकुरु देश था, इसी देश के पास में किम्पुरुष लोगों का राज्य था। कम्बोज और खस काश्मीर से आगे तिब्बत की सीमा पर राज्य करते थे। आज के अफ़गानिस्तान में दरद लोगों का राज था। त्रिगर्त, दार्व, कोकनद भारत की पश्चिमोत्तर सीमा पर आवाद थे। कुविन्द आनन्द तालकूट लोग उत्तर गुजरात के शासक थे। अन्तर्गिर, वहिर्गिर देश शायद विलोचिस्तान के आस-पास रहे होंगे। शुंडिक, कर्क, त्रिपुर यह सब नैपाल के इर्द-गिर्द थे। नील लोग नीलगिर में राज कर रहे थे[१]।

यह देश व राज्य तो ऐसे हैं जिन का वर्त्तमान स्थान इतिहासज्ञों ने लगा लिया है। इनके अलावा सैकड़ों छोटे-छोटे जनपदों का महाभारत में ज़िक्र है। जिनकी गणना हो सकी है वह निम्न प्रकार थे:—

कुभ, पाञ्चाल, शाल्व, माद्रेय, जांगल, सूरसैन, पुलिंद, वोध, माल मत्स्य, कुशल्य, सौशल्य, कुन्ति, कान्त, कौसल, चेदि, मत्स्य, करुष, भोज, सिन्धु, पुलन्दक, उत्तम, दशार्ण, मेकल, उत्कल, पांचाल, कोशल, नैकपृष्ठ, धुरन्धर, गोध, सन्द्र, कलिंग, काशी, अपर काशी, जठर, कुकुर, दशार्ण, कुन्ति, अयाति, अपर-कुन्ति, गोमन्त, मंडक, संड, विदर्भ, समवाहिक, अश्मक, पाण्डुराष्ट्र, गोपराष्ट, करीति, अधिराज्य, कुशाध्य, केवत, मल्लराष्ट्र, लाखास्य, यवाह, चक्र, चक्राति, शक, विदेह, मगध, स्वत्त, मलज, विजय, अङ्ग, वंग, कलिंग, मकृलोम, मल्ल, सुदेष्ण, प्रहलाद, माहिक, शशिक, वाल्हीक, वाटधान, आभीर, कालतोयक, अपरान्त, परान्त, कालतोयक, मोह्य, कच्छ, सामुद्र, निष्कुट, वहु, अन्ध्र, अन्तरगिर, वहिर्गिर, चर्मसंडल, अटवीशिखर, भेसभूत, उपावृत, अनुपावृत, स्वराष्ट्र, केकय, कुन्द, अपरान्त, मान वर्त्तक, समतर, प्रावृषेम, भार्गव, पुन्द्र, सर्ग, किरात, सुद्रष्ट, यामुन, शक, निषाद, निषद, आनर्त्त, नैऋतु, दुरुल, प्रति मत्स्य, कुन्दला, तीरगृह, ईजक, कन्यक, शुण, तिलभार, मसीर, मधुवत, सुकन्दक, कश्मीर, सौवीर, गांधार, दर्शक, अभिसार, उलूत, शैवल, वाह्लीक, रार्वाचव, नव, दर्व, वातज, दश, पाश्वरोम, कुशविन्द, कच्छ, गोपाल कच्छ, सुदाम, सुमल्लिक, नारायन, वर्वर, अमरथ, उरग, वहुवाय, सुमल्लिक, वध्र, करीषक, उपत्यक, वनायु, सिद्ध, वैदेह, ताम्रलिप्तक, औन्द्र, मलेच्छ, सैसिरन्धु, पार्वतीय, द्रविड़, केरल, प्राच्य, मूषिक, वनवासी, कर्नाटिक, माहिषक, विकल्प, मूषक,

---

१—भूगोल का विशेषांक जौलाई सन् १९३२।

भिल्लीक, सोह्द, नमकानन, कोकुटक, चौल, कोंकण, मालवना, समेग, करक, ओष्ट, कुकर, अगार, मारिप, ध्वजिनी, उत्सव, संकेत, त्रिगर्त, व्यूक, कोकवक, समवेगवश, चिन्ध्य, चुलिक, पुलिन्द, वल्कल, मालव, वकाव, अपर वकाव, कालाद, कुंडल, करट, मूषक, स्तनवाल, स्तीय, घट, सृंजय, अठिदाय, शिवाट, तनय, सुनप, ऋषिभ, विदर्भ, काक, अपर मलेच्छ, चीन, क्रूर, यवन, कम्बोज, सक्रुद्गृह, कलक, हूण, पारसीक, दश मालिक, आभीर, काश्मीर, शशु, खाशीर, अन्तचार, पल्हव, गिर गह्वर, आत्रेय, भरद्वाज, स्तनयोषिक, प्रोषक, तोमर, हन्यमान, कर भंजक । इनसे ऊपर भी कुछ जनपद थे जो एक एक गाँव के ही राज्य थे।

इन राज्यों में से अधिकांश में लड़ाई-भिड़ाई के लिये वैतनिक सैनिक रक्खे जाते थे किन्तु युद्ध के समय प्रजाजनों में से स्वयम् सेवक सैनिक भी काफी संख्या में मिल जाते थे। राजधानी और राजा की रक्षा के लिये किले बनाने की आवश्यकता भी महाभारत कालीन आर्यों को हो चुकी थी। महाभारत ग्रन्थ में छः प्रकार के किलों (दुर्गों) का वर्णन है (१) निर्जन दुर्ग रेतीले मैदानों से घिरा हुआ (२) गिरि दुर्ग पहाड़ी किला (३) भूदुर्ग जमीन पर (४) मिट्टी का किला (५) नर दुर्ग छावनियों से घिरा हुआ (६) अरण्य दुर्ग जंगली झाड़ियों से घिरा हुआ। किलों में पानी और अन्न का पूरा प्रबन्ध रहता था[१]।

यद्यपि एकतंत्र शासन प्रणाली यौवन पर थी किन्तु मंत्रियों का प्रभाव राजा पर पूरा रहता था प्रत्येक राजा को आठ मंत्री रखने होते थे[२]। कहीं कहीं राजा लोग अठारह मंत्री भी रखते थे।

भूमि-कर के अलावा व्यापारिक महसूल भी भारतीय काल में लिया जाता था। व्यापारिक महसूल वाणिज्य पर पचासवाँ भाग लिया जाता था। जमीन की पैदावार पर पुरातन नियम के अनुसार पैदावार का छठवाँ भाग लिया जाता था[३]। इसे उगाहने का काम ग्रामाधिपति (नम्बरदार) करता था। ग्राम ग्राम में ऐसे अनाज के कोठे भरे रहते थे। पैदावार का छठा हिस्सा राजा को दिया जाता था किन्तु जमीन पर सत्ता प्रजाजनों की ही रहती थी। कृषक जमीन के पूर्णतया मालिक होते थे। वह उसे बेच सकते थे; गिरवी रख सकते थे। जंगलों, नदियों, पहाड़ों और तीर्थों पर किसी का स्वामित्व नहीं था[४]।

१—शांति पर्व अध्याय ८६। २—शांति पर्व अध्याय ८५। ३—षाड्‌दीक्षं (?) धर्मं पाति प्रजान्यः पुत्र मन्दन। स षड् भाग मपि प्राज्ञस्ता स्मामे पाभि गुप्तये। (शांति पर्व अध्याय ६१)। ४—अन्याग्र भूमि मर्दीं दुर्गाण्यन्ता मपि शिषपदः। अनुशासन पर्व ६०।२५।

सभा पर्व के पढ़ने से पता चलता है कि प्रत्येक गाँव में एक पंचायत होती थी। प्रशास्ता (सरपंच), समाहर्ता (वसूल कर्ता), सन्निधाता (नियामक), लेखक, और साची उनकी उपाधियाँ होती थीं१ ।

इस काल में हाथी, घोड़े, और रथों का रखना लोगों को अधिक पसन्द था। लड़ाई में यह खूब काम आते थे। विमान भी थे।

महाभारत-काल में दानव, प्रेत, भूत आदि जातियाँ भी थीं। दानव लोग बस्तियों के निकट के जंगलों में रहते थे। ये अपना आतंक जमाने के लिए नर-हत्या कर डालते थे। जो गाँव इनसे भयभीत हो जाते थे वह इनके लिए टैक्स बाँध देते थे। यह मायावी भी होते थे। लोग इनका मुक़ाबिला करने से इसलिए भी डरते थे। रात के समय नगर में घुसकर बच्चे और स्त्रियों को उठा ले जाते थे। पर इनकी संख्या बहुत कम थी।

विशेष

इस काल के राजा लोग गौ पालना, घोड़े की सेवा करना, आदि काम स्वयं भी करते थे।

महाभारत में तक्षक लोगों का जिक्र है। यह समुदाय अराजकवादी थी। देहली के निकट खाण्डव वन में पंजाब में "तक्षशिला" मथुरा के पास कालीदह में आदि अनेक स्थानों पर इनकी बस्तियाँ थीं। यह बिल्कुल स्वतन्त्रता प्रिय लोग थे। अर्जुन ने इनके खाण्डव वन को जला डाला था। परीक्षत को इसी जाति के एक नौजवान ने राज-सभा में घुसकर धोखे से मारा था। जन्मेजय और तक्षकों का तो एक भयंकर युद्ध हुआ। जन्मेजय ने इस आराजकवादी समूह को नष्ट करने के लिए भारी नृशंसता से काम लिया था। इन्हीं की लगभग सौ किस्मों से कुछेक ही शेष रह गईं। भागवत का सर्प सत्र इस तक्षक-जन्मेजय युद्ध का इतिहास है। उसे धार्मिक रंग देकर वर्णन किया गया है किन्तु वास्तव में वह अराजकवादी समूह से राज्य-वादी समूह का युद्ध था।

इसी काल में श्रीकृष्ण भगवान ने एक फेडरेशन (संघ) कायम किया। वह संघ ज्ञाति कहलाता था और उसके मेम्बर कहलाते थे ज्ञात, ज्ञातृ, अथवा ज्ञातिक। महाभारत में इस संघ का वर्णन शान्ति पर्व के ८१ वें अध्याय में है। उस संघ में आरम्भ में दो राजनैतिक दल थे—एक श्रीकृष्ण के जाति वाले वृष्णि और दूसरे उग्रसेन वभ्रु के साथी अन्धक। पुराण और महाभारत से यह भी मालूम होता है कि महाभारत युद्ध के पश्चात् ऐसी क्रान्ति हुई जिसके कारण, पाण्डवों को हस्तिनापुर और यादवों को द्वारिका छोड़ना पड़ा। ये सब लोग भारत से भागकर ईरान, अफगानिस्तान, अरब और तुर्कस्तान आदि देशों में फैल गये।

१—अटवी, पर्वतारचैव नद्यस्तीर्थानि पानिच । सर्वाण्य स्वामि कान्या हुर्नास्ति तत्र परिग्रहः (अनुशासन अध्याय ६६ श्लोक ३४)।

चन्द्रवंशी क्षत्रियों की जो कि यादव नाम से अधिक प्रसिद्ध थे ५६ करोड़ संख्या थी—वे ईरान से लेकर सिन्ध, पंजाब, सौराष्ट्र, मध्यभारत और राजस्थान में फैले हुये थे। पुराण और महाभारत में दुर्वासा ऋषि के श्राप से यादवों का विध्वंश बताया गया है किन्तु बात ऐसी न थी। उनमें एक राजनैतिक संघर्ष हो गया जिसके कारण कुछ लोगों को अपना प्यारा देश छोड़ना पड़ा। पूर्व उत्तर में यह लोग काश्मीर, तिब्बत, नैपाल, बिहार, तक फैल गये। यही नहीं मंगोल देश में भी जा पहुँचे। यह वही लोग थे जो पीछे से शक, पल्लह, कुषाण, यूची, हूण, गूजर आदि नामों से भारत में आते समय पुकारे गये हैं।

कहा जाता है कि पांडव साइवेरिया में पहुँच गये थे और वहाँ उन्होंने वज्रपुर आवाद किया था। यूनान वाले हरक्यूलीज की सन्तान बनते हैं और इस भाँति अपने को कृष्ण वलदेव की सन्तान बताते हैं। यूनान में रामायण के मुकाविले में होमर का काव्य है। चीन-वासी भी अपने को भारतीय आर्यों के वंशज मानते हैं। इस से आर्यों का महाभारत के बाद विदेशों में जाना अवश्य पाया जाता है।

महाभारत के अन्तिम काल में भारत की स्थिति डॉवाडोल हो रही थी। चरित्र सम्बन्धी मामलों में भारतीय उत्तरोत्तर गिरते जाते थे। वाममार्ग ने घृणित वासनाओं का प्रचार कर रक्खा था। मांस मदिरा और स्त्री-रमण लोगों के परमानन्द का विषय हो गया था।

इसी समय शाक्त सम्प्रदाय का भी उदय हुआ। यह लोग देवी-पूजा के प्रचारक थे। किस उद्देश्य से यह धर्म फैलाया गया था यह तो समझ में नहीं आता; किन्तु यह सही है कि यह भी किन्हीं किन्हीं बातों में वाम-मार्ग का ही दूसरा रूप था। वलिदानों को इस धर्म से भी खूब उत्तेजन मिला। वर्षारम्भ में तथा कुवाँर के महीने में गाँवों में खूब रक्त बहाया जाता था। भैंसे, वकरे, मुर्गे देवी के नाम पर मारना पुण्य का काम समझा जाता था। यहाँ तक कि नर-वलि भी दी जाती थी। प्रत्येक नगर और गाँव में देवी, चामुड, योगिनियों की मूर्तियाँ ढेरों रख दी गई थीं।

चार्वाकधर्म शायद शाक्त और वाम-मार्ग दोनों से पहिले उत्पन्न हुआ था। यह यज्ञ में घोड़े की एक दुर्घटना के कारण फैला ऐसा बताया जाता है। नास्तिक लोगों का धर्म इसे बताया गया है।

सारांश यह है कि महाभारत में क्षत्रियों के सर्वनाश के बाद भारत की राष्ट्रीयता ध्वंश हो गई। आर्यजाति के मत मतान्तरों ने टुकड़े टुकड़े कर दिये। ऋषियों की सन्तान दुराचारियों और झगड़ालुओं की वंशज जान पड़ने लगी। नागरिकता के अधिकार नष्ट हो गये। समाज बिल्कुल अन्धविश्वासी और मूढ़ हो गया। वह आँख मींच कर पुजारी, पंडे, जोशी, भरारे, शाकुनि लोगों का

ग़ुलाम हो गया। मानसिक स्वतन्त्रता को एक दम खो दिया। यद्यपि राजा थे किन्तु देश में पूर्णतः अराजकता थी। ढोंगी लोगों के हाथ में नेतृत्व चला गया था, जो सारे राष्ट्र-वासियों को नचा रहे थे।

भारत की महाभारत के बाद यह शोचनीय दशा थी कि इसी समय एक विभूति भारत में उत्पन्न हुई। और उसने सड़ान्ध को साफ करके समाज-सरोवर को फिर से उज्ज्वल जल से भरने की चेष्टा आरम्भ की। अब आगे उसी विभूति का वर्णन किया जायगा।

बौद्ध कालीन स्थिति—

भारत के इतिहास में बौद्ध-काल क्रान्ति का समय कहा जा सकता है। यह वह समय था जब कि तत्कालीन हिन्दू समाज अवनति के गहरे गडहे में गिर चुका था, यद्यपि राजनैतिक दृष्टि से भारत स्वतंत्र था तथापि मानसिक दासता की पराकाष्टा हो चुकी थी। यज्ञों में बलिदान धर्म समझा जाता था। आचरण भ्रष्टता बढ़ी हुई थी। वाह्याडम्बर बढ़ा हुआ था। आत्मा की शान्ति के लिये लोग हठ और तपस्या करना धर्म समझते थे। आग के सामने तपने का नाम तपस्या रख छोड़ा था महीनों तक भूखों रहना भी तप समझा जाता था। जैन और बौद्ध ग्रन्थों से पता चलता है कि क्षत्रिय-समाज ब्राह्मण-धर्म की गुलामी का जुआ पटक कर उनसे धार्मिक संघर्ष कर रहा था। अछूत जातियों के साथ बड़ा अत्याचार किया जाता था। राजनैतिक दृष्टि से भारत तीन भागों में बटा हुआ था। हिमालय और विन्ध्याचल के बीच तथा सरस्वती के पूर्व और प्रयाग के पच्छिम का देश मध्य देश (मज्झिम देश) कहलाता था[१]। इस देश के उत्तर का देश उत्तरा-पथ और दक्षिण का दक्षिणा-पथ कहलाता था। उस समय भारत में सोलह महा जनपद (राज्य) थे। (१) *मगध राज्य*—आज के विहार में था इसकी राजधानी राजगृह (राजगिरि) थी। बाद में पाटलीपुत्र (पटना) हो गई थी। यह राज्य पूर्व में चम्पा नदी, पच्छिम में सोन नदी, उत्तर में गंगा नदी और दक्षिण में विन्ध्याचल तक फैला हुआ था। (२) *अङ्ग राज्य*—मगध के पड़ोस में स्थिति था। दोनों राज्यों की सीमा चम्पा नदी अलग करती थी। इस राज्य की राजधानी चम्पा नगर (वर्तमान भागलपुर) थी। पहिले यह राज्य स्वतंत्र था, पीछे से मगध के आधीन हो गया। (३) *कोशल राज्य*—बहराइच और गोंडा आज जिस स्थान पर हैं कोशल राज्य की राजधानी इन्हीं की सीमा पर सहेथ महेथ गाँवों के स्थान पर श्रावस्ती थी। बुद्ध के कुछ पहिले इस राज्य की राजधानी साकेत हो गई थी। (४) *काश्य राज्य*—बौद्ध जातकों ने इस राज्य का विस्तार दो हज़ार वर्ग मील बतलाया है—रामायण-काल

१—मनुस्मृति अध्याय २ श्लोक २१।

से चला आया यह स्वतंत्र राष्ट्र बौद्ध काल में कोसल राज्य में मिला लिया गया था। इसकी राजधानी काशी (बनारस) थी। (५) *वृजि राज्य*—वर्तमान मुजफ्फरपुर जिले के बसाढ़ नामक स्थान पर इसकी वैसाली नामक नगरी राजधानी थी। वृजी राज्य एक फेडरेशन (संघात्मक राज्य) था जिसमें आठ स्वतंत्र कुल मिले हुए थे। लिच्छिव, विदेह, ज्ञात्, आदि वंशी लोग इन्हीं आठ कुलों में से थे। (६) *मल्ल राज्य*—चीनी यात्री हेनस्वांग ने इस राज्य को पहाड़ी राज्य कहा है और शाक्य राज्य के पूर्व और वृजी राज्य के उत्तर में इसका पता बताया है। कुछ लोग इस राज्य को वृजी के पूर्व और शाक्यों के दक्षिण में मानते हैं। (७) *चेदि राज्य*—वर्तमान बुन्देलखण्ड में अवस्थिति था। महाभारत का शिशुपाल यहीं का शासक था। (८) *वत्स राज्य*—इस राज्य की राजधानी प्रयाग से ३० मील दक्षिण में यमुना नदी के किनारे कौशाम्बी (वर्तमान कोसम) नगरी थी। (९) *कुरु राज्य*—इसकी राजधानी इन्द्रप्रस्थ (वर्त्तमान दिल्ली) थी। कुलराज्य का विस्तार दो हजार वर्ग मील था। उत्तर-कुरु और दक्षिण-कुरु इस के दो भाग थे। (१०) *पाञ्चाल राज्य*—इस राज्य के भी दो हिस्से थे, उत्तर-पाञ्चाल की राजधानी कांपिल्य नगर थी जो कि गंगा के किनारे वर्त्तमान बदायूँ और फर्रुखाबाद के बीच थी। दक्षिण-पाञ्चाल की राजधानी कन्नौज थी। (११) *मत्स्य राज्य*—भरतपुर, अलवर और जयपुर के मध्य का देश मत्स्य राज्य में शामिल था। महाभारत-काल में यह विराट राज्य में शामिल था, जिस की राजधानी विराट नगरी थी। (१२) *शूरसेन राज्य*—इस की राजधानी मधुरा या मथुरा थी। यह अति प्राचीन नगर रामायण-काल में आबाद हुआ था। (१३) *अश्मक राज्य*—गोदावरी के किनारे इनकी राजधानी योतन या योतमली थी। (१४) *अवन्ति राज्य*—इसके दो विभाग थे। उत्तरी अवन्ति की राजधानी उज्जैन थी और दक्षिणी अवन्ति जो कि दक्षिणापथ कहलाता था, की राजधानी माहिस्सती (मन्दसौर) थी। (१५) *गांधार राज्य*—पश्चिमी पंजाब और पूर्वी अफ़ग़ानिस्तान इस राज्य में शामिल थे। महाभारत-काल में गान्धार (कन्धार) और बौद्ध-काल में तक्षशिला इस की राजधानी थी। (१६) *कम्बोज राज्य*—इसके दो स्थान बताये जाते हैं। उत्तरी हिमालय और तिब्बत। बुद्ध के जन्म समय यह लोग सिन्ध के उत्तर पश्चिम में बसे हुये थे।

यह वृत्तान्त ईसवी पूर्व छटी सातवीं सदी का है। उस समय भारत में कोई एक जबरदस्त साम्राज्य न था। ये ऊपर कहे हुये राष्ट्र कभी-कभी आपस में लड़ा-भिड़ा भी करते थे। यह नाम जातियों के नामों पर पड़े हुये थे, इन में भी वज्जी और मल्ल नाम कुलों के नाम पर पड़े थे। उत्तरी भारत में उस समय

भिन्न प्रजातन्त्र राज्य भी थे। शाक्य, भग्ग, पुलि, कालाम, कोली, मल्ल, मौर्य, विदेह और लिच्छिवि।

गौतम बुद्ध शाक्यों के प्रजातन्त्र के सभापति शुद्धोधन के यहाँ पैदा हुए थे१। उनका जीवन-चरित्र संक्षेप से इस प्रकार है:—ईसा से ५६७ वर्ष पूर्व भगवान् बुद्ध का जन्म शुद्धोधन की रानी मायादेवी के गर्भ से कपिलवस्तु नगर में हुआ था। इनकी माता इन्हें केवल ७ दिन का छोड़ कर स्वर्ग सिधार गई थीं। विमाता प्रजावती ने इनका पालन-पोषण किया था। इनका बचपन का नाम सिद्धार्थ था। सोलह वर्ष की अवस्था में कुमारी यशोधरा के साथ उनका विवाह करा दिया गया। अट्ठाईस वर्ष की आयु में रानी के गर्भ से आपके राहुल नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ। एक दिन जब कि वे सैर के लिये निकले थे, एक वृद्ध को कराहते देख कर आपके हृदय में वैराग्य उत्पन्न हो गया कि आख़िर एक दिन मेरे लिए भी ऐसा आने वाला है; क्योंकि वह सब के लिए आता है। एक दिन रात्रि को घर से वह सदैव के लिए चल दिए और समस्त वैभव पर लात मार दी। उन्होंने घर छोड़ने के बाद सत्य-ज्ञान की खोज में अनेक स्थानों में भ्रमण किया तथा अनेक साधु-सन्तों से छान-बीन की। निरंजना नदी के किनारे घोर तप भी किया। एक चावल के आधार पर वे भूखे रह कर भी तप करने लगे। पर अन्त में उन्हें यह व्यर्थ जँचा। अन्त में गया के निकट एक पीपल वृक्ष (बोधि वृक्ष) के नीचे आसन लगा कर मनन करने लगे और उन्हें प्रकाश मिल गया। 'सम्यक संबुद्ध' पद को प्राप्त करने के पश्चात् उन्होंने सब से पहिले सारनाथ में अपने पूर्व पाँच साथियों को शिष्य बनाया। साठ शिष्य हो जाने पर उन्होंने 'संघ' बनाया और शिष्यों को विभिन्न दिशाओं में धर्म-प्रचार के लिए भेजा। यज्ञों में जो पशु-बलिदान होता था, बुद्ध ने उसके विरुद्ध जोरों से आन्दोलन किया। वे कहते थे—हमें उस ईश्वर की कोई आवश्यकता नहीं है जो ख़ून का प्यासा है, यदि वेदों में बलिदान की आज्ञा है तो मैं वेदों की शिक्षा को अमान्य ठहराता हूँ। सब से जबरदस्त और पहिला शिष्य उनका मगध का राजा बिम्बसार था जिस ने राजाज्ञा से मांस-भक्षण का निषेध किया था। जब आप कपिलवस्तु अपने पिता के बुलाने पर पहुँचे, तो आपकी विमाता, स्त्री, लघु भ्राता (नंद) और पुत्र ने आप से बौद्ध-धर्म की दीक्षा ले ली। प्रजावती तो ब्रह्मचर्य धारण करके उसी समय से भिक्षुणी बन गईं। उन्होंने सारे भारत में घूम-घूम कर अपने सिद्धान्तों का प्रचार किया।

पावा ग्राम में चुन्द नाम के लुहार के यहाँ का भोजन करने के पश्चात् अभक्ष्य पदार्थ ने उनके पेट में पीड़ा पैदा कर दी। बस उसी बीमारी में उन्होंने अपने प्रधान शिष्य आनन्द को भावी प्रोग्राम बताकर स्वर्ग प्रस्थान किया। कहा जाता है कि उनका निर्वाण ईसा से ४८७ वर्ष पूर्व माना है। अग्नि संस्कार के बाद

१—बौद्ध कालीन भारत द्वितीय अध्याय।

उनके अस्थि-समूह के आठ भाग करके मल्ल, मगध, लिच्छिवि, शाक्य, बुली, कोली, मौर्य्य, वेथद्वीप के ब्राह्मण आदि आठ जातियों में बाँट दिये। उन लोगों ने उन अस्थियों पर स्तूप बनवा दिये।

बौद्ध-धर्म के सिद्धान्त—

बौद्ध-धर्म का सार 'आर्य सत्यचतुष्ट्य' है। क्रम से चारों आर्य सत्य ये हैं— (१) जन्म दुःख है, बुढ़ापा दुःख है, रोग दुःख है, मृत्यु दुःख है, जिन वस्तुओं से हम घृणा करते हैं उनका उपस्थित होना दुःख है, जिन वस्तुओं को हम चाहते हैं उनका न मिलना दुःख है, सारांश यह है कि पाँचों तत्वों में लिप्त रहना दुःख है। यह 'प्रथम आर्य सत्य' है। (२) लालसा पुनर्जन्म का कारण है, पुनर्जन्म में फिर लालसायें और कामनायें उत्पन्न होती हैं, लालसा तीन हैं—सुख की लालसा जीवन की लालसा, और शक्ति की लालसा। यह 'द्वितीय आर्य सत्य' है। (३) लालसाओं के पूर्ण निरोध से अर्थात् कामनाओं के दूर करने से उसके बिना काम चलाने से दुःख दूर हो सकता है। यह 'तृतीय आर्य सत्य' है। (४) यह पवित्र मार्ग आठ प्रकार का है—(१) सत्य विश्वास (२) सत्य कामना (३) सत्य वाक्य (४) सत्य व्यवहार (५) सत्य उपाय (६) सत्य उद्योग (७) सत्य विचार (८) सत्य ध्यान। यह चतुर्थ आर्य सत्य है। बुद्ध भगवान् ने अपनी धर्म-साधना के लिए मध्यम पथ का आविष्कार किया था। न तो भोग विलास में लिप्त रहना और न हठ योग जैसी दुस्तर शरीर को नष्ट करने वाली तपस्या करना, इनके बीच के मार्ग का नाम 'मध्यम पथ' था[१]। बुद्ध भगवान् तृष्णा के नाश को निर्वाण या मोक्ष मानते थे। वे पुनर्जन्म का कारण आत्मा का अनित्य होना नहीं किन्तु कर्म शेष मानते थे।

बौद्ध-काल की अवस्था—

धार्मिक

बुद्ध जन्म के पूर्व जो धर्म भारत में प्रचलित था उससे लोग ऊब उठे थे, वे अशांत थे, किसी ऐसे धर्म को चाहते थे जो उनकी आत्मा को शान्ति दे सके। ब्राह्मणों ने यज्ञों की दक्षिणा के भार से समाज को तंग कर रक्खा था। पशु-वध की यज्ञ-प्रणाली से लोग ऊब रहे थे। पुत्रेष्टि के लिए यज्ञ कराते समय घोड़े के साथ कुकृत्य कराने की घटना से गोरखपुर के समीप के एक राजा की रानी की मृत्यु ने चार्वाक धर्म पहिले से ही पैदा कर दिया था। हिन्दू धर्म के संन्यासी स्वयम् इस धर्म के विरुद्ध प्रचार करते थे। ऐसे ही कारण थे कि, बौद्ध धर्म बड़े वेग के साथ भारत में फैल गया। ब्राह्मण धर्म की खतरनाक दीवार बराबर मिसमार की जा रही थी और बुद्ध

१—महावग्ग जातक १, ६।

धर्म का विशाल प्रासाद उसके स्थान पर खड़ा किया जा रहा था। इसी धर्म से मिलता जुलता जैन-धर्म भी यौवन धारण कर रहा था। इन दोनों धर्मों में बलिदानों से खुश होने वाले तथा यज्ञ के द्वारा ढेर का ढेर घी, मिष्टान खाने वाले एवं ब्राह्मणों को खिलाये जाने से खुश होने वाले ईश्वर के लिये न कोई स्थान था और न उन धर्म-पुस्तकों के लिये, जिन से ब्राह्मण, हिंसा-मय यज्ञों का समर्थन करते थे। ब्राह्मणों से लोगों की जब तक काफी घृणा रहती थी जब तक कि वह बौद्ध धर्मावलम्बी न बन जाते थे। जैन और बौद्ध दोनों ही धर्म ब्राह्मण-धर्म के स्थान पर अपनी नवीन शिक्षाओं के प्रभाव से जनता को आकर्षित कर रहे थे। धर्म का प्रचार करने के लिये जैनी लोग पूर्वभव (पुराने जन्म की जीवनी) का सहारा बहुत लेते थे। उनके ग्रन्थों के पढ़ने से पता चलता है कि इस अवैज्ञानिक ढँग से उन्होंने अपने धर्म-प्रचार में काफी सफलता प्राप्त की थी। बौद्ध-धर्म का प्रचार उसके सुसंगठित संघों द्वारा हुआ था, हजारों भिक्षु भिक्षुणी धर्म का प्रचार करते थे। भिक्षु होने के नियम भी बड़े कड़े थे। भिक्षु बनाने से पहिले पूरी परीक्षा ली जाती थी। एक स्थान पर भावी शिष्य से कहा गया है—लोग तुम्हें प्रचार करते समय जान से मार देंगे। शिष्य कहता है—तब तो ठीक है शीघ्र निर्वाण हो जायगा! परोपकार और प्रीति बौद्ध-धर्म की ऊँची शिक्षा थी—वे कहते थे *"हम लोगों को प्रीति पूर्वक रहना चाहिये, और उन लोगों से घृणा नहीं करनी चाहिये जो हम से घृणा करते हैं।"*

"क्रोध को प्रीति से जीतना चाहिये, बुराई को भलाई से जीतना चाहिये, लालच को उदारता से जीतना चाहिये, और झूठ को सत्य से जीतना चाहिये[१] *।"* बुद्ध की इन शिक्षाओं का यह प्रभाव हुआ कि कुछ ही समय में बुद्ध-धर्म सारे भारत का धर्म हो गया।

सामाजिक

बुद्ध से जन्म के पहिले समाज चार वर्णों में विभक्त था किन्तु कुछ लोग 'हीन जातियाँ' भी कहलाते थे। अछूतों के साथ बड़ा अत्याचार होता था किन्तु बुद्ध भगवान् वर्ण व्यवस्था की जंजीर को ढीला करने में काफी प्रयत्न कर रहे थे। उन्होंने अपने शिष्यों से कहा था—भिक्षुओ! जिस प्रकार गंगा यमुना आदि बड़ी बड़ी नदियाँ समुद्र में मिलने पर अपना नाम और रूप खो देती हैं। उसी प्रकार क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य और शूद्र जब घर छोड़कर भिक्षु सम्प्रदाय में आते हैं अपना नाम और वर्ण खो देते हैं और श्रमण कहलाने लगते हैं[२]। बुद्ध भगवान् ने वर्ण-भेद को उठा दिया था पर वह पूर्ण सफल नहीं हुए थे, क्योंकि जातकों में कई स्थानों पर वर्णों का जिकर आता है। विवाह सम्बन्ध समान वर्ण और समान पेशे वालों ही में परस्पर होते

१—धम्मपद—४. ११७. २२३। २—विनय पिटक (चुलूवग्ग) ९-१-४।

थे। फिर एक बड़ा समूह दूसरे वर्ण की स्त्री से विवाह कर लेता था१ न विवाह के समय माता-पिता लड़के-लड़कियों से सम्मति नहीं लेते थे ऐसा ही भास होता है। जातकों तथा अन्य बौद्ध-ग्रन्थों में सब से ऊँचे क्षत्रिय माने गये हैं। ब्राह्मणों को अपमान जनक शब्दों में याद किया गया है कहीं उन्हें 'तुच्छ ब्राह्मण और कहीं नीच ब्राह्मण' कहा गया है। जैन-ग्रन्थों में ब्राह्मणों को 'अक्षर-म्लेच्छ' लिखा गया है२। क्षत्रिय उस समय विद्या बुद्धि में काफी बढ़े चढ़े थे वह ब्राह्मणों का मुक़ाबिला कर सकते थे। जातक क्षत्रियों के ही लिखे हुये हैं। उस समय क्षत्रियों के अलग अलग कुल थे जो अलग अलग स्थानों में राज करते थे। उस समय कुछ ब्राह्मण ऐसे थे जो नीच ब्राह्मण कहे जाते थे, यज्ञ कराने वाले, राजा को शकुन बताने वाले, जन्त्र मन्त्र करने वाले, ब्राह्मण नीची श्रेणी के ब्राह्मण माने जाते थे। उस समय ब्राह्मण खेती व्यापार भी करते थे३। उस समय के वैश्य भी ब्राह्मण क्षत्रियों की भाँति विद्याध्ययन के लिए गुरुकुलों में जाते थे। राजाओं के दरबार में जो वैश्य रहता था वह सेट्ठि (श्रेष्ठिन्) कहलाता था। शूद्र-जाति का उद्धार बौद्ध-काल में भी नहीं हुआ था, इनकी हीन दशा ज्यों की त्यों बनी हुई थी। चाण्डाल गाँव के बाहर रहते थे, वे पक्षी मारकर अपना निर्वाह करते थे। वास्तव में देखा जाय तो बौद्ध और जैनधर्म क्षत्रियों के धर्म थे, जो कि ब्राह्मण-धर्म की गुलामी के प्रतिरोध में पैदा हुए थे।

आर्थिक

जातकों से मालूम होता है कि प्रारम्भिक बौद्ध-काल में जमीदारी, जागीरदारी अथवा ठिकानेदारी की प्रथा न थी। किसान ही अपनी भूमि के मालिक होते थे। राजा साल भर में केवल एक बार किसानों से उपज का दशांश वसूल करता था। भूमि पर इससे अधिक राजा का कोई अधिकार न था। उपज के मान का निश्चय ग्राम की पंचायत का मुखिया (ग्राम-भोजक) करता था। यह कर-व्यवस्था एक राजतन्त्रों की है। गणराज्यों में कोई कर लिया भी जाता था ऐसे प्रमाण नहीं मिलते हैं। केवल शाक्यों के राज्य का एक प्रमाण अशोक के एक स्तम्भ लेख से मिला है।

बौद्ध काल में ग्रामों की अवस्था व व्यवस्था बहुत अच्छी थी। कुछ ग्राम जनपद कहलाते थे जिनमें स्थानीय प्रबन्ध की व्यवस्था होती थी। ग्रामों के चारों ओर खेत, जंगल और चारागाह होते थे। उन चारागाहों और जंगलों पर सब का समानाधिकार होता था।

आरम्भिक बौद्ध काल में शिल्प व्यापार बहुत उन्नत अवस्था में थे। यहाँ के व्यापारी चीन, फारिस, लंका, बैबीलोनियाँ तक व्यापार करने जाते थे। व्यापार के लिये जो समूह निकलता था उसका सरदार सत्थवाह अथवा सार्थवाह कहलाता

१—भद्दसाल जातक व कट्ठिहार जातक। २—जैन आदि पुराण। ३—बौद्ध-कालीन भारत, अध्याय ११।

था। रेशमी और महीन सूती कपड़े, कम्मल, लोहे के कवच, छुरी, चाकू, सोने-चाँदी के तारों के जड़ाऊ कपड़े, सुगंधित वस्तु, औषधि, हाथी दाँत के चूड़े, जवाहिरात आदि यहाँ से विदेशों में भेजे जाते थे। सिक्कों का प्रचार भली भाँति हो गया था। ताँबे का सिक्का कहायण (कार्षाण) कहलाता था; सोने के सिक्के निष्क और सुवर्ण थे। कंस, माप और काकणिका नाम भी सिक्कों में आता है। 'सिप्यकानि' (कौड़ियों) का भी प्रचलन था।

जातकों से मालूम होता है कि विदेशों से भारतवासी जहाजों द्वारा व्यापार करते थे। 'बावेस जातक' में लिखा है कि *"भारतवर्ष और बावेस (बेबीलोनिया) के बीच व्यापार होता था। हिन्दू सौदागर भारत से बावेस को मोर भी बेचने को ले जाते थे।"* जातकों से यह भी मालूम होता है कि *"ईसा के छः सौ वर्ष पूर्व गुजरात के सौदागर जहाजों के द्वारा व्यापार के लिये ईरान की खाड़ी तक जाते थे।"* सुप्पारक जातक में एक इतने बड़े जहाज का वर्णन है कि उसमें सात सौ सौदागर अपने नौकरों समेत बैठते थे। भारतीय जहाज कच्छ की खाड़ी की ओर से अरब, फिनीशिया और मिश्र भी जाया करते थे। राइज डेविड्स का कथन है कि—*"ईसा से पाँच सौ वर्ष पहिले यूनान में चावल, चन्दन और मोर हिन्दुस्तानी नामों से मशहूर थे[१]।"* व्यापार करने के लिये लोग श्रेणी भी बना लेते थे। सहयोग का कार्य भारतवर्ष में बौद्ध-काल में उसी भाँति होता था जैसा कि आज-कल कोआपरेटिव सोसाइटियों द्वारा होता है। सारांश यह है कि भारत धन धान्य से पूर्ण था। अतिथियों का सत्कार दूध दही से किया जाता था। चोरी डकैती कम होती थीं, देश में सभी लोग आनन्द का जीवन बिताते थे, ग़रीबी या दरिद्रता का नाम निशान न था। घी, दूध की नदियाँ बहती थीं। उस समय *"भारत और स्वर्ग में कोई अन्तर न था।"*

राजनैतिक

भगवान् बुद्ध के समय में तथा आरम्भिक बौद्ध-काल में भारत में दो तरह की शासन व्यवस्था थी। (१) एक राजतंत्र। (२) गणतंत्र[२]। फिर भी धीरे धीरे एकतंत्र राज्य-प्रणाली अथवा साम्राज्य का जोर शनैः शनैः बढ़ रहा था। साम्राज्य या एकतंत्र राज्य की बागडोर एक व्यक्ति के हाथ में रहती थी और गणराज्य या संघ-राज्य किसी समूह द्वारा संचालित होता था। वास्तव में गणराज्य पंचायती या पार्लीमैन्टरी राज्य थे। एकतंत्री राज्य के संचालक की उपाधि राजा थी। वह नर-रूप में देवता समझा जाता था। उसके दर्शन ईश्वर के दर्शन

१—बौद्ध-कालीन भारत, अध्याय १२। २—"केचिद्देशा गणाधीनः केचिद्राजधीना इति" बौद्ध-ग्रन्थ अवदान शतक–८८।

समझे जाते थे। किन्तु फिर भी राजा पूर्ण स्वतन्त्र नहीं था, उसके अधिकार सीमित थे। वह समिति या मन्त्री-मंडल के प्रति उत्तरदायी था। प्राचीन राजनीति के अनुसार राजा प्रजा का सेवक समझा जाता था। उसे भूमि-कर में उपज का छटा भाग और व्यापारिक वस्तुओं पर दसवाँ भाग दिया जाता था, जो उसका वेतन (भृति) करार दिया जाता था[१]। बौद्ध-ग्रन्थों में लिखा है कि:—

"षड्भाग भृतो राजा रक्षेत प्रजाम्"

अर्थात् *"वेतन के तौर पर धान्य का छटा भाग पाकर राजा अपनी प्रजा की रक्षा करे[२]।"* चोरी होने पर चोरों को यदि न पकड़ा जा सकता था तो राजा को अपने खजाने से जिसके चोरी होती थी, क्षति पूर्ति करनी पड़ती थी[३]। रामायण-काल के राजाओं पर जिस भाँति ऋषि तथा विद्वान् लोगों का दबाव रहता था, उसी भाँति बौद्ध-काल के राजाओं पर ग्राम-परिषद्, नगर-परिषद् और धर्म-संघों का दबाव रहता था। ये संस्थायें पूर्ण स्वतन्त्र थीं, राजा इनके कार्यों में हस्तक्षेप नहीं कर सकता था; किन्तु यों समझना चाहिये कि राजा की शक्ति इन संस्थाओं के प्रभाव से मर्यादित रहती थी। युद्ध, सन्धि, विग्रह, राजा के निर्णय से होते थे; किन्तु मन्त्रि-मण्डल या प्रतिष्ठित नागरिकों से सलाह लेना राजा को आवश्यक था। राजा लोग राज-कोष से दान-पुण्य कर सकते थे। लोकोपकारी कार्यों में द्रव्य व्यय कर सकते थे; किन्तु राज्य के किसी भी हिस्से को या कुल राज्य के विक्रय करने का उन्हें कोई अधिकार न था। न किसी को जागीर या इनाम में दे सकते थे[४]। वास्तव में राजा का अधिकार प्रजा की रक्षा करना, अराजकता को दबाना और अपराधियों को दंड देना था। दूसरी तरह की शासन-प्रणाली जो गण राज्य के नाम से मशहूर थी प्रजा सत्तात्मक थी। वास्तव में गणराज्य, संघ-राज्य (फैडरल गवर्नमेंण्ट) थे। संघ-राज्य स्थिति के अनुसार कई प्रकार के थे। कुछ तो कुल-राज्य थे, जैसे मल्ल और वज्जी, कुछ जाति राज्य थे, जैसे शाक्य और विदेह; कुछ राजा कई जातियों से बनते थे, जैसे लिच्छिवी। इन राज्यों की शासन-सभा के सदस्यों को गण, राजा, या पार्षद् कहते थे। सभापति, गणिना, संघिन: और गणपति या गणेश कहलाते थे।

गण राज्यों की शासन-व्यवस्था कैसी थी, इसका वर्णन दुष्प्राप्य हो रहा है, फिर जो मिलता है उस से ये बातें प्रकट होती हैं—प्रत्येक संघ में एक परिषद् होती थी। जिस समय परिषद् की बैठक होती थी तो अवस्था और योग्यता के अनुसार सभ्यों के लिए आसन दिए जाते थे। प्रत्येक परिषद् में आसन रखने के

१—महा० शान्ति पर्व अ० ७१ श्लो० १०। २—बोधायन सूत्र १, १०, १।
३—कौटिल्य शास्त्र और महा० भा० शान्ति पर्व अध्याय ७५ श्लोक १०। ४—बौद्ध-कालीन भारत पे० ११८–११६।

ए आसन-प्रज्ञायक नामक कर्मचारी रहता था। सभ्यों के जमा होने पर प्रस्ताव रक्खे जाते थे। प्रस्ताव की सूचना को 'ज्ञप्ति' कहते थे। प्रस्ताव को उपस्थित करने र सभ्यों से स्वीकृति का प्रश्न किया जाता था। इसे कर्मवाचा कहा जाता था। राय जानने के लिए शलाकाएँ होती थीं। सभ्यों को शलाका देने वाले व्यक्ति को शलाका-ग्राहक कहते थे। शलाका-ग्राहक निर्भीक निष्पक्ष और सत्य भाषी व्यक्ति ही नियत किया जाता था। वह सभ्यों को शलाका देते समय बतलाता था कि अमुक रंग की शलाका लेने से उनकी राय का अमुक अर्थ लिया जायगा। यह शलाका आजकल के वोटिंग टिकट का काम देती थी। फैसला बहुमत पर निर्भर था। प्रस्तावक को अपने प्रस्ताव पर भाषण देना होता था। जो सभ्य किसी कारण वश परिषद के अधिवेशन में न पहुँच सकते थे वे अपनी राय भेज देते थे। उस राय का नाम 'छन्द' कहा जाता था।

परिषद् का कोरम पूरा करने वाले कर्मचारी को जिसे कि अँग्रेजी में ह्विप कहते हैं, गण-पूरक कहा जाता था।

इन संघ-राज्यों को नष्ट करने के लिए एकतन्त्रवादी भेद से काम लिया करते थे। मगध के राजा अजातशत्रु के मन्त्री के आगे जो कि वज्जी लोगों के संघ को विनष्ट करने की सलाह लेने के लिए भगवान् बुद्ध के पास आया था, महात्मा बुद्ध ने अपने शिष्य आनन्द को संबोधित करते हुए कहा था। जब तक तो वज्जि लोग नष्ट हो सकते नहीं—

(१) जब तक वज्जि लोग पूरी पूरी और जल्दी जल्दी सभायें करते हैं। (२) जब तक वे लोग एक साथ मिलकर रहते हैं, एक मत होकर कार्य करते हैं। (३) जब तक वे ऐसा नियम नहीं बनाते जो पहिले से चला आता है, जब तक वे किसी निश्चित नियम का उलंघन नहीं करते हैं। और जब तक वे वज्जियों की प्राचीन काल की स्थापित पुरानी संस्थाओं के अनुकूल कार्य करते हैं। (४) जब तक वे वृद्धों की प्रतिष्ठा, आदर, भक्ति और सहायता करते हैं और जब तक कि वे उनकी बातों को सुनना अपना कर्त्तव्य समझते हैं। (५) जब तक वे अपने समाज की स्त्रियों और बालिकाओं को बल प्रयोग करके अथवा भगा लाकर अपने पास नहीं रखते हैं। (६) जब तक वे वज्जीय चैत्यों की प्रतिष्ठा, आदर, भक्ति और सहायता करते हैं (अर्थात् अपने धर्म में दृढ़ निष्ठा रखते हैं)। (७) जब तक वे अपने अर्हन्तों का उचित रक्षण और पालन करते हैं (अर्थात् मर्यादा का पालन और आचरण करते हैं)। कहने का सारांश यह है कि संघराज्यों में मर्यादा पालन और संगठन पर विशेष ख़याल रक्खा जाता था।

प्रोफेसर रहीस डेविडस् ने 'बुधिष्ट इंडिया' में शाक्य संघ के सम्बन्ध में लिखा है— "*इस वर्ग का शासन और न्याय-व्यवस्था ऐसी सार्वजनिक सभाओं में हुआ करती थी*

जिसमें छोटे बड़े सब प्रकार के लोग उपस्थित हुआ करते थे।" इस सभा का अधिवेशन कपिलवस्तु में वहाँ की संथागार (हौस आफ़ कम्यूनल लॉ) या सार्वजनिक भवन में हुआ करता था। राजा पसेनादि के प्रस्ताव पर ऐसी ही सभा में विचार हुआ था१। पदाधिकारी के रूप एक ही प्रधान चुना जाता था। वही प्रधान सब अधिवेशनों का सभापति होता था। वह राजा की उपाधि धारण करता था।

लिच्छिवियों की राज्य व्यवस्था को पढ़ने से जान पड़ता है कि संघ राज्यों के चार पदाधिकारी होते थे—राजा, उपराजा (प्रधान-उपप्रधान) सेनापति और भांडागारिक। संघराज्यों की शासन सभाओं में हज़ारों तक सभ्य होते थे। लिच्छिवियों की शासन-सभा में ७७०७ सभ्य (मेम्बर) थे जो सभी राजा कहलाते थे। संघ के अधिपति का वंशानुगत राजा की भाँति अभिषेक हुआ करता था। मेम्बर लोग जिस समय संथागार (सभा) में आते थे, उस समय घड़ियाल बजाया जाता था। शासन-सभा में राजनैतिक, आर्थिक, सैनिक सभी विषयों पर चर्चा होती थी।

सभापति ही सर्व प्रधान न्यायकर्त्ता होता था। न्याय-विभाग में किसी-किसी संघ वाले वैतनिक न्याय मंत्री भी रखते थे। जब तक राजा, उपराजा तथा सेनापति अपनी-अपनी अलग सम्मति नहीं दे देते थे किसी नागरिक को अपराधी नहीं ठहराया जाता था। फैसलों की मिसल सुरक्षित रक्खी जाती थी। संघ राज्यों में अष्टकुलक नामक कौंसिल भी हुआ करती थी, जिस में आठ न्याय-कर्त्ता मिल कर बैठते थे।

कभी-कभी कई संघराज्य मिल कर लीग कायम कर लेते थे। विदेहों ने और लिच्छिवियों ने मिल कर संयुक्त कौंसिल स्थापित की थी, उसके कारण वे संवज्जी कहलाने लगे थे। सभी संघों के सभापति राजा की उपाधि धारण नहीं करते थे।

संघ राज्यों में नागरिकों का यह कर्त्तव्य अनिवार्य था कि वे सैनिक शिक्षा प्राप्त करें। संघ राज्यों की ओर से शिक्षा का पूरा प्रबन्ध रहता था। चाणक्य ने दो तरह के संघ राज्य बताये—एक आयुधजीवी, दूसरे वार्त्ताशस्त्रोपजीवी। राजा की उपाधि धारण करने वाले संघराज्यों से उन संघराज्यों की प्रजा अधिक सैनिक और बलिष्ठ होती थी, जिन में सभापति को राजा कहना बुरा माना जाता था।

साहित्यक

आरम्भिक बौद्ध-काल से मध्य बौद्ध-काल तक भारत के सर्व साधारण नागरिकों की भाषा पंजाबी, उज्जैनी और मागधी भाषायें थीं। विद्वान लोग संस्कृत भी बोलते थे। लिखने की लिपि उस समय, 'खरोष्टी' जो अरबी की तरह उल्टी लिखी जाती है और ब्राह्मी जो नागरी की भाँति लिखी जाती है, थीं। बौद्ध-काल में काफी स्तम्भ-लेख और धर्म

१—"बुद्धिष्ट इण्डिया", पे० ११।

ग्रन्थ लिखे गये, जिस से मालूम होता है कि लेखन-कला उन्नति पर थी। विनयपिटक-जातक, सूत्र, पुराण, स्मृति, इसी युग के ग्रन्थ हैं । इस समय का प्रसिद्ध साहित्य पाली साहित्य कहलाता है । जाटकी लिपि का प्रचार भी इसी काल में हुआ था जो सारे पंजाब और सिन्ध में लिखी जाती थी । कहने का सारांश यह है कि बौद्ध-काल में भारत की साहित्यक उन्नति भरपूर थी ।

विशेष बातें

बौद्ध-काल का इतिहास ईसा से लगभग सवा पाँच सौ वर्ष पूर्व से आरम्भ होकर ईसवी सन् ६५० में समाप्त हो जाता है । इसी अर्से को बौद्ध-काल के नाम से इतिहास लेखकों ने पुकारा है । इस १२०० वर्ष के अरसे में क्रान्ति, शान्ति और आनन्द अत्याचार जो कुछ भी हुए वे बौद्ध-काल की घटना हैं । इन्हीं बारह सौ वर्षों में बौद्ध-धर्म का प्रकाश हुआ, ब्राह्मण-धर्म धराशायी हुआ, जैन-धर्म का विकाश हुआ, हिंसा, द्वेष दूर दूर हुए, प्रेम, परोपकार फले फूले और इन्हीं बारह सौ वर्षों में बौद्ध धर्म भारत से वहिस्कृत हो गया । उसके मानने वाले निर्दयता पूर्वक पीस डाले गये । ब्राह्मण-धर्म के षडयंत्र सफ़ल हुए, जैन धर्म सिसकियाँ भरने लगा । यही बारह सौ वर्ष थे जिनमें ब्राह्मण वर्ण को कतई उड़ा दिया गया, उन्हें अक्षर म्लेच्छ के नाम से पुकारा गया, क्षत्रियों को सर्व श्रेष्ठ कहा गया, पतितों के उद्धार की घोषणा की गई । फिर इन्हीं बारह सौ वर्ष में यह काया पलटी कि ब्राह्मण ही ईश्वर है, कलि-युग में कोई क्षत्रिय है ही नहीं, कह कर पुराने क्षत्रियों को पतित और शूद्र ठहराया; जैन-मन्दिरों को गणिका के ग्रह से भी पतित साबित किया गया । पतित तो पतित ही है के वाक्य रूपी विषैले गैस को फैलाया गया । इन बारह सौ वर्षों का इतिहास आश्चर्यमय, कौतूहल वर्द्धक, मनोरञ्जक, उत्साह वर्द्धक, करुणाजनक, प्रकाशमय और भ्रान्ति पूर्ण है । उसी का संक्षिप्त विवरण यहाँ पाठकों की जानकारी के लिये दिया जाता है । कुछ लोग बौद्ध-धर्म को भारत के लिये अभिमान की वस्तु बताते हैं तो कुछ उसे भारत के पतन का कारण । हम खुद उन विचारकों के मत के हैं जिनकी राय में बौद्ध-धर्म से भारत का मस्तक ऊँचा हुआ था । क्योंकि बौद्ध-धर्म सर्व मानव समूह का ही धर्म नहीं किन्तु वह समस्त प्राणी-वर्ग का धर्म था । बौद्ध-काल में भारत की सभ्यता इतनी बढ़ी जितनी आरम्भिक वेद-काल में भी न बढ़ी थी । उसने संसार को भारत का शिष्य बना दिया । राष्ट्रीयता का प्रचार बौद्ध-धर्म के द्वारा जितना हुआ उसे ब्राह्मण-धर्म न पहिले कभी कर सका था न भविष्य में करने के कोई लक्षण हैं । भारत ने बौद्ध-काल में जो सम्मान प्राप्त किया था मौजूदा ब्राह्मण-काल में उसे खो दिया । बौद्ध-धर्म की ही विशेषता थी कि वह सारे एशिया का धर्म हो गया । चीन, जापान, लंका, श्याम, कंबोडिया, और ब्रह्मा आज भी उसके प्रकाश से आलोकित हैं । बौद्ध-धर्म ने अशोक, चन्द्रगुप्त, कनिष्क और हर्ष जैसे सम्राटों को पैदा किया था । उसने शक, हून और तातारियों को अपने विशाल अङ्क में स्थान दिया था । यह उसी का प्रताप है कि आज वे राम

और कृष्ण को अपना पूर्वज मानने में गौरव समझते हैं। बौद्ध-काल ने शिल्पकला और व्यापार को इतना बढ़ाया था कि रूम अरब तक उसके जहाज समुद्र में चलते थे।

हमने पिछले पृष्ठों में बौद्ध-काल के आरम्भिक समय का संक्षिप्त वर्णन दे दिया है। अब मध्यम और अन्तिम काल का वर्णन करते हैं:—

बौद्ध मध्यकाल—

भगवान् बुद्ध के समय अर्थात् प्रारम्भिक बौद्ध-काल में भारत में जो महाराजा थे, उन में बिम्बसार अजात शत्रु, अधिक प्रसिद्ध हुये। उनका वंश शिशुनाग वंश कहलाता था। यह दोनों ही पिता पुत्र बौद्ध हो गये थे। यह हम पीछे लिख ही चुके हैं। मध्यकाल में नन्द वंश, मौर्य वंश, गुप्त वंश, के राजा बड़े प्रसिद्ध हुये थे। पंजाब में अम्बी और पौरस के नाम उल्लेखनीय हैं। नंद वंश के नाश के बाद मौर्य वंश चमका था। इस वंश के सब से प्रसिद्ध दो राजा थे—चन्द्रगुप्त और अशोक। सिकन्दर महान् का आक्रमण चन्द्रगुप्त के ही समय में हुआ था। सिकन्दर के समय में उत्तरी भारत में मालव, क्षुद्रक, शिव, यौधेय, कठ, एवं जाट लोगों के प्रजातंत्र थे। अशोक के समय में बौद्ध-धर्म ने भारी उन्नति की। बौद्ध-धर्म की उन्नति के करने वालों में अशोक सर्व श्रेष्ठ था। उसने अपने राजबल से तो बौद्ध-धर्म का प्रचार किया ही था किन्तु उसने बौद्ध-धर्म के प्रचार के लिये अपने पुत्र-पुत्री और निज को भी भिक्षु बना डाला। उसने एक बौद्ध महासभा भी कराई थी। उसके राज्य में, अफगानिस्तान का पूर्वी हिस्सा, बिलोचिस्तान, सिन्ध, काश्मीर, नैपाल आदि शामिल थे। उत्तर में शाहबाजगढ़ी तक उसके स्तंभ-लेख मिलते हैं। उसकी मृत्यु के बाद बौद्ध-धर्म की उतनी तीव्र गति न रही और दक्षिण में ब्राह्मण-धर्म सजीव होने लगा।

मौर्यवंश के अन्तिम राजा बृहद्रथ को उसके सेनापति पुष्यमित्र ने मार कर राज्य अपहरण कर लिया। इतिहास स्पष्ट नहीं कहता किन्तु हमें पूरा विश्वास होता है कि यह नवीन ब्राह्मण-धर्म का षडयंत्र था क्योंकि ब्राह्मण समझ गये थे कि राजशक्ति के बिना बौद्ध-धर्म का प्रभाव घटाना असम्भव है। यह घटना ई० पू० १८४ की बताई जाती है। इसी समय भारत पर मिनेन्द्र ने (ई० पू० १५५) में आक्रमण किया। पीछे से वह बौद्ध धर्म में दीक्षित हो गया। उसके साथी जो भारत में बसे मैना कहलाते हैं। पुष्यमित्र ने नवीन ब्राह्मण-धर्म को उत्तेजन देने के लिये अश्वमेध यज्ञ किया। बौद्ध-ग्रन्थों में लिखा है कि पुष्यमित्र ने बौद्धों पर बड़े बड़े अत्याचार किये—उनके संघाराम (आश्रम) जलवा दिये उन्हें कत्ल किया गया, शान्ति के स्थान पर तलवार के जोर से उसने ब्राह्मण-धर्म का प्रचार किया। पुष्यमित्र का वंश शुङ्गवंश कहलाता था। इस वंश के अन्तिम राजा देवभूति को जो

कि बड़ा दुराचारी था, उसके ब्राह्मण मंत्री वासुदेव ने ई० पू० ७२ में मार डाला और आप राजा बन बैठा। इनका वंश कण्व वंश कहलाता है। इस समय दक्षिण में नवीन ब्राह्मण-धर्म की खूब ही उन्नति हुई। लोग बौद्ध-धर्म को छोड़ कर ब्राह्मण-धर्म की शरण में आने लगे। इस वंश का भी खात्मा ई० पू० २७ में अंधवंश ने कर दिया। इस मध्य काल में रोमन, यूनानी, शक, हूण आदि अनेक जातियों के भारत पर आक्रमण हुए। किन्तु वे सब जातियाँ जैन या बौद्ध-धर्म में दीक्षित हो गईं।

बौद्ध अंतिम काल—

बौद्ध-काल के अंतिम समय में कनिष्क और हर्ष जैसे सम्राटों ने इस धर्म की उन्नति की। दोनों ही राजाओं ने इस धर्म की महासभायें कराईं। स्तूप बनवाये भिक्षु संघ खोले। किन्तु शशांक जैसे राजा ने बौद्ध भिक्षुओं को भून कर मार डाला। उनके साथ अमानुषिक अत्याचार किये। अर्जुन नाम के ब्राह्मण राजा ने भी इस धर्म के अनुयाइयों के नाश में कोई कसर न छोड़ी। इस काल में कुमारिल और शङ्कराचार्य जैसे विद्वानों ने बौद्ध-धर्म की जड़ खोखली कर दी। पुराने क्षत्रियों के मुकाविले में ब्राह्मणों ने नये क्षत्रिय बनाये जो राजपूत नाम से पुकारे गये। जो क्षत्रिय बौद्ध-धर्म को छोड़ कर सातवीं सदी तक ब्राह्मण-धर्म में नहीं आये, वे पतित और शूद्र ठहरा दिये गये। जिस राजशक्ति के सहारे बौद्ध-धर्म शांति के साथ फला-फूला था, उसी राजशक्ति को ब्राह्मणों ने अपने प्रभाव में करके बौद्ध-धर्म को अत्याचार के साथ भारत से खो दिया। यों तो आरंभ से ही बौद्ध-धर्म के मिटाने के लिये ब्राह्मण-धर्म आन्दोलन कर रहा था किन्तु अंतिमकाल में तो साहित्य भी इतना बढ़ाया कि जितना पिछले समय में तयार हुआ था। यह अब सिद्ध हो रहा है कि ब्राह्मण-धर्म ने पुराणों की रचना बौद्ध और जैन-धर्म के विरुद्ध ही की थी। जिसके निम्न उदाहरण हैं—'तब उन्होंने (मलेछों ने) अहित धर्म व बौद्ध जैन धर्म को अपना मार्ग बनाया१'। 'बुद्ध-भिक्षु के सामने श्राद्ध का भोजन न खावे२। 'आर्य संस्कृति का उत्कर्षापकर्ष' के लेखक ने लिखा है कि, "*बौद्धों का खंडन वैषेशिक, नैयायिक और मीमांसकों ने भी किया था*।" इसके अलावा चौथी सदी से नवमी सदी तक उनका खंडन निम्न प्रकार चलता रहा—(१) वैदिक—गौतम सूत्रकार वात्सायन (आर्यचाणक्य) ने चतुर्थ शताब्दी में बौद्धों का खंडन किया। (२) पांचवीं शताब्दी में दिङ्गनाग बौद्ध ने 'प्रमाण समुच्चय' लिख कर वात्सायन भाष्य का खंडन किया। (३) वैदिक उद्योतकराचार्य ने 'प्रमाण समुच्चय' बौद्ध ग्रन्थ का छटी शताब्दी में न्याय वार्तिक ग्रन्थ लिख कर खंडन किया। (४) इसके उत्तर में सातवीं शताब्दी में 'धर्म कीर्ति वार्तिक' बौद्ध ग्रन्थ लिखा गया (५)

१—विष्णु पुराण अंश ३ अध्याय १८। २—विष्णु पुराण अंश ३ अध्याय १६।

सातवीं सदी में कुमारिल भट्ट ने 'श्लोक वार्तिक' ग्रन्थ लिन्राजा भरत के मुँह से
किया (६) आठवीं सदी में शंकराचार्य और सुरेश्वराचार्य
में भाष्य और वार्तिक ग्रंथ लिखे। (७) नवीं शताब्दी में
वाद का जो खंडन किया उसका प्रति खंडन 'भामती चरिष्णवः।
उदनाचार्य ने किया[1]।

करदा नृपैः ॥

उल्लेखनीय घट वेदोय जीविनः।
मोह कारिणः ॥

बौद्ध-काल में एक चिरस्मरणीय विद्या बल स्ततेके।
प्रसिद्ध प्रचारक महावीर भगवान का पाप सूत्रोपजीविनः ॥
मानते हैं किन्तु जैन-धर्म को बल इनके
चरित्र इस प्रकार बताया जाता है—उनका जन्म ईस्वी पूर्व छटी सदी में हुआ था। आपके पिता ज्ञातृवंश के सरदार (राजा) थे। वैशाली के पास ही कुण्ड ग्राम में उनका राज था। वैशाली के राजा चेटक की पुत्री त्रिशाला को भगवान की माँ बनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। बालकपन का नाम वर्धमान था। बड़ा होने पर आपको सब शास्त्रों और कलाओं की शिक्षा दी गई। समय आने पर यशोदा नाम की राजकुमारी के साथ आपका विवाह हुआ। थोड़े दिन बाद एक कन्या आपके यहाँ जन्मी, युवा होने पर कन्या का विवाह जमालि से कर दिया गया। तीस वर्ष की अवस्था में महावीर ने घरबार छोड़ कर भिक्षु जीवन में प्रवेश किया। भिक्षु-वेश धारण करने के बाद उन्होंने बड़ी कठिन तपस्या की। तेरह महीने बाद दिगम्बरत्व धारण कर लिया। १२ वर्ष की तपस्या के बाद आप अर्हंत कहाने लग गये। तभी से उन्होंने अपने धर्म का प्रचार आरम्भ कर दिया। 'निर्ग्रन्थ' नाम का एक संप्रदाय खड़ा किया। निर्ग्रन्थ ही आज कल जैन कहलाते हैं। उन्होंने सारे भारत में जैन-धर्म का प्रचार किया। ई० पू० ५२७ में आपका निर्वाण हो गया। कोई निर्वाण काल ई० पू० ४६७ मानते हैं।

जैन-धर्म के सिद्धान्त—

बौद्धों की तरह जैन भी जीव हिंसा नहीं करते। उनके भी भिक्षुओं के समुदाय थे। जैन—अग्नि, जल, वायु और वृक्षों में भी जीव मानते हैं। वे, वैदिक सिद्धान्तों को नहीं मानते। कर्म और निर्वाण के सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं। मोक्ष जनों को ही ईश्वर मानते हैं। उनके सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ आगम कहलाते हैं जिनके सात भाग हैं; ग्यारह अङ्ग हैं। महावीर स्वामी की मृत्यु के दो सौ वर्ष बाद जैन समाज के दो टुकड़े हो गये। (१) श्वेताम्बर। (२) दिगम्बर। दोनों के अनेक ग्रन्थ आजकल अलग अलग हैं।

१—आर्य संस्कृति का उत्कर्षापकर्ष पे०—१४६।१४७

जो वेदों के द्वारा अपनी आजीविका करते हैं, और अधर्म रूप अक्षरों को सुना सुना कर लोगों को ठगा करते हैं, वे अक्षर म्लेच्छ कहलाते हैं। क्योंकि वे अपने अज्ञान के बल से अक्षरों से उत्पन्न हुये अभिमान को धारण करते हैं।

हिन्सा में प्रेम मानना, जबर्दस्ती दूसरों का धन अपहरण करना और भ्रष्ट होना यही म्लेच्छों का आचरण है सो ये ही सब आचरण इनमें मौजूद हैं।

ये अधम द्विज (ब्राह्मण) अपनी जाति के अभिमान से हिन्सा करने और मांस खाने आदि को पुष्ट करने वाले वेद-शास्त्र के अर्थ को बहुत कुछ मानते हैं। अतः इनको सामान्य प्रजा के ही समान मानना चाहिये।

ये लोग मानने के योग्य नहीं हैं, किन्तु वही द्विज (ब्राह्मण) मानने योग्य हैं जो अर्हन्त देव के सेवक हैं।

यदि ये म्लेच्छ यह कहने लगें कि लोगों को संसार से पार करने वाले हम ही हैं, हम ही देव ब्राह्मण हैं और सब लोग हम ही को मानते हैं इस वास्ते राजा को फसल का हम कुछ भी हिस्सा नहीं देंगे तो उनसे पूछना चाहिये कि अन्य वर्णों से तुम में क्या विशेषता है और क्यों है ?

जाति मात्र से तो बड़प्पन हो नहीं सकता, रहे गुण सो उनका तुम में बड़प्पन है नहीं। क्योंकि, तुम नाम के ही ब्राह्मण हो, गुणों में तो वे ही बड़े हैं, जो व्रतों को धारण करने वाले जैन ब्राह्मण हैं। तुम लोग व्रत रहित, नमस्कार करने के अयोग्य, निर्लज्ज, पशुओं की हिंसा करने वाले, म्लेच्छों के आचरणों में तत्पर हो, इसलिये तुम किसी तरह भी धार्मिक द्विज नहीं हो।

राजाओं को उचित है कि इन अक्षर म्लेच्छों से साधारण प्रजा के ही समान अनाज का भाग लेकर इनको सब के समान माने। ज्यादा कहने की जरूरत नहीं है। राजाओं को उत्तम जैन ब्राह्मणों के सिवाय और किसी की पूजा नहीं मनानी चाहिये[1]।

यह विष तो वह है जो क्षत्रिय-मस्तिष्क-जनित-जैन धर्म की ओर से ब्राह्मणों के विरुद्ध उगला जा रहा था। ब्राह्मणों ने इसका क्या उत्तर दिया वह भी देखिये:—

'शनकैस्तु क्रियालोपादिमाः क्षत्रिय जातियः'
वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणा दर्शनेन च।
पौण्ड्रकाश्चोंड्र द्रविडाः काम्बोजा यवनाः शकाः;
पारदाः पल्लवाश्चीना किराता दरदाः खशाः ॥

(मनु० १०, ४३-४४)[2]

१—ध्यान रहे यह जैन ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रों में से बनाये गए थे।

२—कुछ इतिहासकारों का कथन है कि मनुस्मृति ईसा के बाद बनी। किन्तु हमारा अनुमान है कि उसमें प्रक्षेपनीय विषय ईसाकेबाद बढ़े होंगे।

अर्थ—पौंड्र, ओंड्र, द्रविड़, काम्बोज, यवन, शक, पारद, पल्लव, चीन, किरात, दरद, खश जो कि क्षत्रिय ही थे बिना ब्राह्मणों के दर्शनों के क्रियालोप होकर वृखलत्व (हीनता) को प्राप्त हो गये।

यह तो मीठा-सा उत्तर है जरा आगे और भी बढ़िये—'जिस भाँति जैन ब्राह्मणों के दर्शन की मनाही करते थे उसी भाँति ब्राह्मणों ने भी अड़ंगा लगाया—

जैनों के (नंगों के) श्राद्ध का भोजन न करे। इनके पास न बैठे, इनके साथ हँसे भी नहीं, इनका सतसंग न करे, व्रत के दिन नंगे (जैन साधु) का न दर्शन करे, न उससे बात चीत करे। क्योंकि शतुधन नामक एक राजा थे, उनकी स्त्री का शैव्या नाम था। बड़ी धर्मात्मा, पतिव्रता, शौच, दया, गुण सम्पन्न थी। तिन राजा ने अपनी स्त्री के साथ देव-देव जनार्दन विष्णु भगवान् की आराधना की। उसमें होम, जप, दान, पूजादि कर के दिन बिताये थे। एक दिन स्त्री, पुरुष, दोनों गङ्गाजी में स्नान कर बाहर निकले। उस दिन कार्तिकी पूर्णिमा का व्रत था। निकलते ही एक पाखण्डी जैन साधु—देख पड़ा। वह कभी राजा का मित्र था। इस कारण राजा उससे बात चीत करने लगे। पर रानी नहीं बोली………कुछ दिन बाद राजा-रानी मर गये। रानी काशी में राजकुमारी होकर जन्मी और राजा उस पाखण्डी से बात करने के कारण कूकर हुए[१]।

ब्राह्मणों ने पुराणों में जैनियों के तीर्थंकरों को दैत्य असुर के नाम से अथवा माया मोह के नाम से याद किया है। इसके प्रत्युत्तर में जैन पुराणों ने कृष्ण की निन्दा की है [२]। पुराणों में गया में श्राद्ध करने का बड़ा महात्म्य बताया गया है। किन्तु आज का हिन्दू-समाज इसका कारण नहीं समझ सकता। गया, बौद्ध-धर्म का केन्द्र था। मक्के में शिवालय बनाने का जो भाव हो सकता है वही गया में श्राद्ध करने का था। ऐसी बात पुराणों की इस आज्ञा में थी कि हाथी के पैर के नीचे कुचल जाना श्रेष्ठ है, किन्तु जैन मन्दिर में घुस कर उससे बच जाना श्रेष्ठ नहीं। ब्राह्मण, जैनों के विरुद्ध कहते थे कि—

'बृहस्पति साहाय्यार्थं विष्णुना माया मोह समुत्पादयम्।
दिगम्बरेण माया मोहेन दैत्यान् प्रति जैन धर्मोपदेशा दानवानां॥
माया मोह मोहितानां गुरुणा दिगम्बर जैन धर्म दीक्षा दानम्।

(पद्म पुराण सृष्टि खंड १३)

भावार्थ—बृहस्पति की सहायता के लिये विष्णु ने माया मोह को पैदा किया। माया मोह ने दिगम्बरों को जो कि दैत्य हैं जैनों के उपदेश के लिये नियुक्त कर दिया। जैन उन्हीं माया मोह रूपी दैत्यों के शिष्य हैं।

१—विष्णु पुराण अंश ३ अध्याय १८। २—जैन हरिवंश पुराण।

जैन-धर्म व बौद्ध-धर्म के नष्ट करने के लिये ब्राह्मणों ने किन साधनों से काम लिया वह भी मनोरंजक विषय है:—

'गंगायाम् मृतक स्यौचैः अस्थीन भो नरोत्तमाः ।
गति कर्तास्मि सर्वस्य क्षेपणी यानि निश्चयात् ॥
मत्तीर्थे मृतक स्यैव पिंडादिक वरां क्रियाम् ।
करिष्यन्ति न च तेषां भविष्यत्य सुखं कदा ॥
स्नानं मर्त्याश्च मत्तीर्थे तर्पणं पूजनं जपं ।
करिष्यन्ति भजिष्यन्ति मल्लोकं तेन संशय [१] ॥

अर्थ—मृतक पुरुषों की हड्डियाँ गंगा में बहाना, मैं उनकी मुक्ति करूँगा। तीर्थ में पिंडदान करने वालों को कोई दुख न होगा। तीर्थ में स्नान, तर्पण, जप, भजन से वैकुंठ होगा।

यह वाक्य जैन-पुराण में, जैनियों का क्षय कैसे होगा, के उत्तर में—बल्देवजी से कहलाये हैं कि जैन-धर्म के नाश के लिये ब्राह्मण ये साधन काम में लायेंगे। इन सबसे एक बड़ा साधन जैनों को नष्ट करने के लिये ब्राह्मणों ने जो निकाला था, यह था।

'मिथ्यात्व पोष का भूप विप्राणां पूजकास्तदा' ।

जैन, ब्राह्मण, और राजा लोगों ने क्या किया।

'जिना गमस्य शास्त्राणि चाब्धौ संक्षेपितानिवै ।
दुष्ट लौकेः ह्यतोनैव दृश्यंते जैन वाक्य जाः [२] ॥'

जैन शास्त्रों को ये लोग समुद्र में फैंकते थे।

यद्यपि उक्त श्लोक जैन सूर्य्य पुराण में भविष्य के लिए कहे गये हैं किन्तु यह वर्ती हुई घटनायें थीं। आगे और भी कहा है—"विप्राहि जैन धर्मस्य करिष्यंति विनाशनम् (जै० सू० प्र०)। जैन-धर्म से हटाकर ब्राह्मण जनता को किस मार्ग पर ले जा रहे थे, वह भी जैन-ग्रन्थ बतलाते हैं।

'शिव विष्णुश्चपरा ब्रह्म सेवा भक्ति परायणाः ।
सर्वोत्कृष्ट मतं स्वस्य त्यक्त्वा चान्यमते रताः ॥

(शिव, विष्णु, ब्रह्मा और कुगुरुओं की सेवा करेंगे अपने जैन-मत को छोड़कर)।

१—जैन सूर्य पुराण श्लोक २७० से २७२। २—जैन सूर्य पुराण।

इन उद्धरणों के देने से हमारा मतलब यही है कि बौद्ध-जैन-काल संघर्ष का समय था। एक धर्म दूसरे को निकृष्ट बताकर अपनी श्रेष्ठता जाहिर कर रहा था। एक धर्म का अनुयायी नरेश दूसरे धर्म के अनुयाइयों का दुश्मन बना हुआ था। जब जैन बौद्ध धर्म यौवन पर थे तब ब्राह्मण और उनके अनुयायी पतित सिद्धि कर दिये गये और उन्हें घृणा की दृष्टि से देखा गया। नागरिकता के हकों से वंचित रक्खा गया। जब ब्राह्मण-धर्म बलवान हुआ, बौद्ध-धर्म तथा जैन-धर्म के अनुयायी पतित, शूद्र, म्लेच्छ-करार दे दिये गये। उनके मुकाबिले में दूसरी जातियों को खड़ा कर दिया।

ब्राह्मण-धर्म ने जो शंकरवाद के नाम से भी पुकारा जा सकता है सबसे अधिक प्रतिहिंसा का व्यवहार बौद्ध-धर्म के साथ किया। बौद्ध-धर्म के नष्ट करने के लिये नये क्षत्रियों की रचना की गई। पहिले तो यह घोषणा की गई कि कलियुग में क्षत्रिय वर्ण नहीं है। यह स्मृति-वाक्य उस बात का बदला था कि जैन बौद्धों ने ब्राह्मण-वर्ण का बहिष्कार कर दिया था। किन्तु बिना राजशक्ति के बौद्ध-धर्म से विजय पाना असम्भव जानकर ब्राह्मणों ने जो क्षत्रिय उनमें आ सके उन्हें अपनाया। कुछेक क्षत्रिय नये सिरे से पैदा किये। आबू यज्ञ में चौहान, परिहार, सोलंकी पँवार आदि की रचना उसी समय की है। ये लोग जंगली समुदाय में से आये थे। बौद्ध-धर्म को नष्ट करने में कुमारिल भट्ट आदि की विद्वता से अधिक कार्य पुष्यमित्र, शशाङ्क, अर्जुन आदि की तलवार ने किया था[१]।

हमें इस विवाद में पड़ने की आवश्यकता नहीं कि बौद्ध-धर्म से भारत को हानि हुई या लाभ। हमें तो यह दिखाना था कि बौद्ध-काल के बाद असली क्षत्रियों का क्या बना-बिगड़ा तथा भारत की राष्ट्रीयता का क्या रूप हो गया। मौजूदा सामाजिक नियम आचार-विचार हिन्दू समाज के कल्याण के लिए बनायें हुए हैं अथवा बौद्ध जैन धर्म के नष्ट करने के लिए।

भारतीय इतिहास में बौद्ध-काल महत्त्व का समय है।

बौद्ध-काल का अन्तिम समय पौराणिक-काल भी कहा जा सकता है। वैसे तो पुराणों की रचना बौद्ध-काल के मध्यमांश में ही आरम्भ हो गई थी; किन्तु ईसा की पूर्व तीसरी चौथी सदी तक वे बराबर बढ़ते रहे हैं। पौराणिक-काल में रामायण और महाभारत में भी हेर-फेर हुए हैं। महाभारत ग्रन्थ के सम्बन्ध में चिन्तामणि वैद्य की सम्मति है कि उसकी रचना तीन बार में हुई है। कौरव और पाण्डवों की लड़ाई का हाल व्यास ने जय नामक ग्रन्थ में वर्णित किया है। व्यासजी के शिष्य वैशम्पायन ने सर्पसत्र के समय जो कि जन्मेजय का समकालीन था, इस ग्रन्थ को 'भारत' नाम से प्रसिद्धि दी। सर्पसत्र के समय उस कथा को

१—पंजाब की तवारीख (उर्दू) भाई परमानन्दजी लिखित।

सूत लोमहर्षण ने सुना और नैमिषारण्य में उसके पुत्र सौति ने उसे ऋषियों को सुनाया। तब से उसका नाम महाभारत हुआ।

इस में सन्देह नहीं कि जो प्रश्नोत्तर वैशम्पायन और जन्मेजय के बीच हुए होंगे, वे व्यासजी के मूल ग्रन्थ से अधिक अवश्य होंगे। इसी प्रकार सौति और शौनक ऋषियों के बीच जो प्रश्नोत्तर हुए होंगे वे वैशम्पायन के ग्रन्थ से अधिक अवश्य होंगे। सारांश व्यास के ग्रन्थ को वैशम्पायन और वैशम्पायन के ग्रन्थ को बढ़ा कर सौति ने एक लाख श्लोकों का कर दिया। इसके प्रमाण में सौति का यह स्पष्ट वचन है:—

"एकम शत सहस्रं च मयोक्तम वैनिबोधित"

(आ० अ० १, १०६)१

आगे वैद्यजी 'भारत क्यों बढ़ाया गया' हेडिंग देकर लिखते हैं—१ शक से तीन शताब्दी पहिले भारत को महाभारत का रूप प्राप्त हुआ है। २ उस समय हिन्दोस्तान में दो नये धर्म उत्पन्न हुए थे और उनका प्रचार भी खूब हो रहा था। शक के लगभग ६०० वर्ष पहिले तीर्थङ्कर महावीर ने पहिले बिहार प्रान्त में जैन धर्म का उपदेश किया और लगभग उसी समय के अनन्तर गौतमबुद्ध ने अपने धर्म का प्रचार किया········इन दोनों धर्मों ने वेदों की प्रमाणिकता को खुल्लम-खुल्ला अस्वीकार कर दिया था।········ब्राह्मणों के विषय में जो श्रद्धा पहिले थी वह भी घटने लग गई थी।········इन धर्मों में यह प्रतिपादन किया जाने लगा कि इन्द्रादि देवता जैन अथवा बुद्ध के आगे हाथ जोड़ कर खड़े रहते हैं। यहाँ तक कि उनके पैरों के तले पड़े रहते हैं २।

इस प्रकार अशोक के समय अथवा इस समय के लगभग बौद्ध और जैन धर्मों ने सनातन धर्म पर जो हमला किया था, उसका प्रतिकार करने के लिए सनातन-धर्मावलम्बियों के पास कुछ भी साधन का उपाय न था और उनके धर्म में भिन्न मतों की खींचा-तानी हो रही थी। ऐसी अवस्था में सौति के "भारत" को महाभारत का वृहत रूप दिया। सनातन-धर्म के अन्तस्थ विरोधियों को दूर किया। सब मतों को एकत्रित कर उन में मेल कराने का यत्न किया। सब कथाओं को एक स्थान में संग्रह करके उन कथाओं को उचित स्थान देकर भारत ग्रन्थ की शोभा बढ़ाई और सनातन धर्म के उदात्त स्वरूप को लोगों के मन पर प्रतिबिम्बित करके सनातन धर्मावलंबियों में एक नूतन-शक्ति उत्पन्न कर देने का महत्व पूर्ण कार्य्य किया ३।

भारत को महाभारत बनाने में सौति का प्रथम उद्देश्य यह था कि धर्म की एकता सिद्ध की जाय।

१—महाभारत मीमांसा पेज ५, ६। २—महाभारत मीमांसा पे० १४, १५। ३—महाभारत मीमांसा पे० १६।

भारत (ग्रन्थ) में श्रीकृष्ण अर्थात विष्णु की भक्ति अधिक है किन्तु सौति ने धर्मों की एकता के लिये शंकर, देवी, नारायन आदि सभी देवताओं की कुछ पर्व जोड़कर स्तुति जोड़ दी है[१]।

महाभारत ग्रन्थ हिन्दुस्तान की उस परिस्थित का पूरा पूरा प्रतिबिम्ब है जो कि सन् ईस्वी से ३००० से ३०० वर्ष तक थी। ब्राह्मण काल से यूनानियों की चढ़ाई तक की पूरी जानकारी यदि किसी एक ग्रन्थ में हो तो वह महाभारत ही है[२]।

उपरोक्त कथन का सारांश यही है कि महाभारत में बढ़ोतरी बौद्ध-जैन-धर्मों के मुकाविले के लिये ही की गई थी। और वह ईसा से तीन सौ वर्ष पूर्व तक हुई।

कुछ लोगों का कहना है कि मनुस्मृति भी अंतिम बौद्ध-काल में ही बनी थी। यदि कुल नहीं तो उसमें वृद्धि अवश्य हुई।

आज का ब्राह्मण-धर्म लोक कल्याण की अपेक्षा बौद्ध-जैन-धर्म के मुकाविले पर खड़ा किया गया धर्म है। मूर्ति पूजा, श्राद्ध, तीर्थाटन, सती-प्रथा, विधवा-विवाह-निषेध, ऊंच नीच का भेद, व्रत और उपवास सब बौद्ध जैन धर्मों के मुकाविले पर प्रचलित किये गये हैं। चूंकि बौद्ध-धर्म के अनुयायी, भगवान बौद्ध के चरणों की अथवा पादुकाओं की पूजा करने लग गये थे और उनकी अस्थियों की समाधियां अथवा छतरियां खड़ी कर दी थीं। नये ब्राह्मण-धर्म ने लोगों को उधर से हटा कर राम-कृष्ण की मूर्तियों का उपासक बनाया और मन्दिरों में मूर्तियां रखकर उनकी पूजा कराई जाने लगी। दिवेकर शास्त्री लिखते हैं—"*मूल वैदिक काल में देवालय, मूर्ति, पादुका, प्रतिमा इत्यादि कुछ भी न था, यह सब इसी समय (बौद्ध-काल में ही) उत्पन्न हुये थे। इसी काल में महायान पंथ (बौद्ध-धर्म की एक शाखा) के देवालय, विहार, मूर्ति इत्यादि से टक्कर लेने के लिये त्रैवर्णिकों ने राम कृष्ण इत्यादि ऐतिहासिक व्यक्तियों को देवत्व देकर तथा शिव, विष्णु, इन्द्र, सूर्य्य, वायु, मरुत, लक्ष्मी इत्यादि आर्ष देवों की मूर्तियां बना उनके भव्य तथा रमणीय देवालय निर्माण किये।*

इसी काल में लोगों को धर्म समझाने के लिये मानव-धर्म शास्त्र याज्ञवल्क्य स्मृति इत्यादि प्रसिद्ध धर्म (कानून के) ग्रन्थ निर्वाण किये गये। इसी अवधि में बौद्ध तथा जैन पंडितों को दीप्ति करने के लिये ब्रह्म-सूत्र, न्याय सूत्र, तर्क सूत्र, मीमांसा सूत्र, भक्ति सूत्र इत्यादि सूत्र ग्रन्थों का उदय हुआ। इसी काल में शबरा-चार्य ने पूर्व मीमांसा पर एक बड़ा भारी भाष्य रचा। भट्ट कुमारिल का वार्तिक भी निकल पड़ा और पार्थसार्थी मिश्र का 'दीपिका' उदय हुआ[३]। पौराणिक धर्म ने

१—म० मी० पे० १०।१८। २—म० मी० पे० १६६। ३—आर्य संस्कृति का उत्कर्षापकर्ष पे० १४१।१६०।

राम-कृष्ण को देवत्व क्यों दिया इसका मुख्य कारण हमारी मति में यह है कि वैदिक काल के इन्द्रादिक की महता तो बौद्ध जैनों ने नष्ट कर दी थी। इसीलिये ब्राह्मणों को राम-कृष्ण को महत्व देना पड़ा। महत्व देने में भी उन्होंने बौद्ध जैनों का अनुकरण किया है। राम-कृष्ण के जन्म पर इन्द्रादि देवताओं के द्वारा फूल बरसवाना, उनका दर्शन के लिये आना विल्कुल जैनों की नकल है१।

अनेक उपायों से बौद्ध-धर्म को नष्ट करने के पश्चात ब्राह्मणों ने जो रचनात्मक कार्य किया वह यह था कि गण राज्य के विरुद्ध एकतंत्रवाद को महत्व दिया! और विनष्ट हुई वर्ण व्यवस्था का पुनरुद्धार किया। पहिले तो क्षत्रिय-वर्ण का नाम ही मिटाना चाहा किन्तु मुकाविले के लिये क्षत्रिय वर्ण भी रक्खा किन्तु उसका नये सिरे से निर्माण किया२, उनके लिये नये नियम बनाये जिनमें से कुछ निम्न-लिखित हैं—(१) राजा वंशानुगत ही होगा (२) उसकी स्त्री उसके मरने पर सती होगी (३) वह हर्ष के समय ब्राह्मणों को दान देगा (४) कोई भी शुभ काम विना ब्राह्मणों की इच्छा के न करेगा (५) अनेक स्त्रियां रख सकेगा किन्तु ब्राह्मणों को दंड न दे सकेगा (६) कोई भी शुभ कृत्य ब्राह्मण से करायेगा (७) ज्योतिष पर विश्वास करेगा (८) अपने धर्म से वाहर के लोगों से खान-पान शादी व्यवहार न रख सकेगा (९) जाति की अपेक्षा धर्म का भक्त होगा आदि २। इस तरह ब्राह्मणों ने उन क्षत्रियों को शूद्र और पतित करार दे दिया जो ब्राह्मण-धर्म में शीघ्रता से दीक्षित न हो गये। फल यह हुआ कि केवल धार्मिक अन्ध विश्वास से क्षत्रिय जाति छिन्न-भिन्न हो गई। जाट-जाति भी ऐसी ही क्षत्रिय जातियां में से है जो शीघ्रता से नवीन ब्राह्मण-धर्म में दीक्षित न हुई थी। प्रसंग में इस बात का पूरा विवरण हम आगे देंगे।

नवीन ब्राह्मण-धर्म भारत को पतन के गहरे गडहे की ओर मनुष्यता के विरुद्ध ले जा रहा है, बीच में कवीर नानक और दयानंद महाराज ने क्रान्ति की है फिर भी भारत में आज ब्राह्मण-धर्म का बोल वाला है, जो कि बौद्ध-काल के वाद भारतीय इतिहास में अपना स्थान और काल रखता है।

चूंकि बौद्ध-काल में वैदिक-युगीन वर्ण-व्यवस्था शिथिल हो गई थीं, हालांकि वह थी। क्षत्रियों की तो प्रधानता ही थी, वे अनेक राज वंशों में वँटे हुये थे, जिन में से अधिकांश प्रजातंत्री थे। उन्होंने ब्राह्मण-ग्रन्थों की भांति जो बौद्ध-ग्रन्थ लिखे थे उनका नाम जातक रक्खा था। ब्राह्मण-धर्म ने बौद्धों पर विजय पाने के पश्चात् वर्ण व्यवस्था का पुनरुद्धार करके नये सिरे से समाज-रचना की। यह सही है कि शंकराचार्य इस ब्राह्मण-धर्म का जिसे कि नवीन हिन्दू-धर्म भी कह सकते हैं, अन्तिम प्रसिद्ध नेता अथवा उद्धारक था। उसके

१—देखो हरिवंश पुराण जैन। २—अग्नि कुली क्षत्रिय नये ब्राह्मण-धर्म ने बौद्धों के मुकाविले में तयार किये।

पीछे के उत्तराधिकारियों को एक ही काम रह गया था, वह यह कि विजित मैदान पर कब्जा करें और भविष्य में कोई धार्मिक आन्दोलन न हो। इसलिए नियम और विधान बनावें। यद्यपि नवीन हिन्दू-धर्म अपने को वैदिक-धर्म बताने की चेष्टा करता था किन्तु वास्तव में वैदिक-धर्म से कई बातों में बहुत दूर है। उसने सती होने की जैसी अवैदिक प्रथा को जन्म दिया वहाँ पर्दा, कन्या-वध और ऊँच-नीच की भीत भी तैयार कर दी। उसने कुछ नये लोगों को क्षत्रिय बनने को उत्साहित किया और पुराने क्षत्रियों के लिए यह घोषणा की कि क़लियुग में क्षत्रिय वर्ण है ही नहीं। इस नवीन हिन्दू-धर्म ने उद्योग-धन्धों का केन्द्रीभूत भी कर दिया। ब्राह्मण और राजवंशियों के लिये हल चलाने का निषेध कर दिया। बलिदान अर्थात् देवी और चामुँड के नाम पर बकरे भैंसे काटने की रिवाज नवीन क्षत्रियों में इसी नवीन हिन्दू-धर्म के समय में प्रविष्ट हुई। एकेश्वरवाद की जगह बहु देव-पूजा ग्रहण की। विदेश-यात्रा निषेधात्मक कर दी गई, यह इसलिए कि लोग अन्य देशों के संसर्ग में पड़ कर कुछ नृशंस रिवाजों के विरुद्ध जो कि नवीन हिन्दू-धर्म ने ग्रहण की थीं विद्रोह न कर दें। शूद्र वर्ण के लिए पढ़ना लिखना बन्द किया गया। स्त्रियों की गणना शूद्रों के साथ की गई। उनके बराबरी के अधिकार छीन कर उन्हें सदैव अधीनता में रहने वाली बताया गया। विवाह सम्बन्धी नियम अत्यन्त ही कठोर बना दिये गए जो कि अन्याय-पूर्ण और वैदिक-धर्म से कोसों दूर थे। पुरुष कई बार विधुर होने पर विवाह कर सकेगा और स्त्री पर दूसरी बार तेल हर्गिज न चढ़ेगा, उन्हें अपना पति चुनने का भी कोई अधिकार नहीं रहेगा। बाल्य-अवस्था के विवाहों की प्रणाली भी आरम्भ की गई। खान-पान के नियम बहुत ही विचित्र रक्खे गए। माँस-मदिरा भले ही चले किन्तु चौके में अन्य आदमी नहीं जा सके। कोई भी उच्च जाति दूसरी जाति के घर का कच्चा भोजन न करे। दान-पुण्य को लेने का सब से बड़ा अधिकारी भूखा-नङ्गा नहीं किन्तु ब्राह्मण रहा। शकुन मुहूर्त्त का भी जाल तैयार हुआ। बिना पंडितजी से पूछे यात्रा करना बुरा समझा जाने लगा।

क्षत्रिय समाज जिसे कि भगवान् बुद्ध और महावीर ने स्वतन्त्र बुद्धि का बना दिया था इस नये धर्म में आने से चौंका किन्तु वह फेल ही चुके थे। ब्राह्मण-विज्ञान ने क्षत्रिय-विज्ञान को पटक दे दी थी। इसलिए उन में से कुछ तो शीघ्र ही और कुछ शनै शनै इस नये हिन्दू-धर्म में शामिल हो गये। जिन्होंने ढील-ढाल की वे नवीन हिन्दू-धर्म के प्रवर्तक ब्राह्मणों द्वारा पतित और शूद्र करार दे दिये गये और उनके विरुद्ध पुराणों स्मृतियों और दन्त कथाओं में काफी जहर उगला गया। शक, कुशान, पल्लव, यदु, गोप, नन्द, मौर्य आदि जो कि प्राचीन क्षत्रियों के उत्तराधिकारी थे उन्हें अनार्य म्लेच्छ और व्रात्य आदि नामों से सम्बोधित किया। उनके माँ, बापों को शूद्र-शूद्राणी बताया गया अथवा उनकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में भ्रम फैलाया गया। अपने पक्ष में आने वाले तथा नये सिरे

बनाये हुए क्षत्रियों को राम और कृष्ण की सन्तान बताया गया। साथ ही उनकी क्षत्रिय वंशावलियाँ भी तैयार की गईं। पुराणों की वंशावलियाँ जो कि एक दूसरे से नहीं मिलती हैं इस बात के प्रमाण हैं।

बौद्ध-धर्म ने लोगों को यदि भीरु बनाया था तो नवीन हिन्दू-धर्म ने जाति-विद्वेषी। बौद्ध-धर्म अनुचित हिंसाओं के प्रतिशोध के लिए जन्मा था किन्तु अहिंसा के प्रवाह में वह यहाँ तक बहा कि लोग मारने से डरने की बजाय मरने से भी डरने लगे थे। इसलिए यह आवश्यक था कि या तो उसमें क्षात्र तेज का बीज बोया जाता या उसे नष्ट कर दिया जाता। वह भारत से नष्ट होगया, किन्तु उसके स्थान पर जो नवीन हिन्दू-धर्म स्थापित हुआ वह सर्व साधारण का धर्म तो है ही नहीं साथ ही वह अराष्ट्रीय भी है। वह राष्ट्र निर्माण में सहायक नहीं, किन्तु बाधक है। उसने अनेक क्षत्रिय जातियों को पतित बना दिया। वैश्यों को विशाल व्यवसाय क्षेत्र में विचरण करने से रोक कर (विदेश यात्रा निषेध से) एक कठघरे में बन्द दिया। निम्न दर्जे के लोगों को सदैव के लिए पशु बना दिया या उन्हें इस बात पर विवश होने के मार्ग पर पटक दिया कि वे इस जाति और धर्म से अलग हो जावें। स्त्रियाँ जिन्हें सहयोगिनी या सहधर्मिणी कहा गया है ऐसी बनाईं कि वह अपने प्राचीन स्थान को बहुत समय तक प्राप्त न कर सकेंगी। ब्राह्मण वर्ग स्वयम् जिसने कि बड़े षडयन्त्र और परिश्रम के बाद इस नवीन हिन्दू-धर्म को स्थापित किया था, जगद् गुरु के बजाय, कूप मंडूक और मूढ़ ही नहीं, कहार और बावर्ची पद को पहुँच गये।

बौद्ध-धर्म के पतन काल में भारत में अनेक जातियों का प्रवेश भी हुआ था। किन्तु बौद्ध-धर्म ने उन्हें पौराणिकों की भाँति दुत्कारा नहीं किन्तु उन्हें अपना लिया। हालांकि वे जातियाँ भी अनार्य नहीं थीं। उनके पूर्वजों की निवास भूमि भारत ही थी। उनका धर्म भी अब तक वैदिक-धर्म था। ये जातियाँ तुरुष्क, कुशान, आदि कहलाती थीं। उनमें कनिष्क जैसे महामना सम्राट् हुए थे। जिन्होंने भारत के सन्देश को चीन जापान तक पहुँचाने में भरसक चेष्टा की थी। संसार के सामने भारतवासी जिस समय अपने सम्राटों का नाम पेश करते हैं तो कनिष्क पर उन्हें पूर्ण अभिमान होता है। इन महावीरों ने जहाँ संसार के सामने वीरता में भारत का नाम ऊँचा किया वहाँ सभ्यता-प्रचार में भी उसे उच्च स्थान दिलाया है।

बौद्ध-काल में भारत की सभ्यता का प्रचार तो हुआ ही था, किन्तु देश भी धन धान्य से पूर्ण हो गया था। चीनी यात्री ह्वानस्वांग, फाहियान ने बौद्ध-कालीन भारत की आर्थिक अवस्था की भूरि भूरि प्रशंसा की है। शिल्पकला की जितनी उन्नति बौद्ध-काल के बारह सौ वर्ष में हुई थी वर्तमान हिन्दू-धर्म के इन तेरह सौ वर्षों में उसकी आधी भी नहीं हुई है।

जाति विभेद को बौद्ध-धर्म ने जितना ही ढीला किया था वर्तमान धर्म ने उसे उतना ही मजबूत कर दिया है। इसी जाति विभेद से इस धर्म के आरम्भिक-काल से ही मुसलमानों ने भारत के ऊपर आक्रमण करके लाभ उठाया है। धर्म की संकुचितता ने पिछले तेरह सौ वर्ष में दस करोड़ हिन्दुओं को विधर्मी बना दिया है। बौद्ध-धर्म ने जहाँ संसार में ६० करोड़ भारत के श्रद्धालु बनाये थे नवीन हिन्दू-धर्म ने गाँठ के दस करोड़ मक्का मदीना अथवा यरूसलम के भक्त बना दिये हैं। नवीन हिन्दू-धर्म ने अपने ही भाइयों में से किसी को म्लेच्छ, किसी को व्रात्य किसी को अनार्य और किसी को पतित कह कर गिराने में कोई कसर नहीं छोड़ी है। किन्तु फिर भी जिस जाति के अन्दर भगवान् कृष्ण जैसे महान् पुरुषों ने जन्म लिया है उसकी रक्षा के लिये विभूतियाँ आती ही रहती हैं। ऋषि दयानन्द ने फिर से उसका उद्धार कर दिया, यह बात अब सभी लोग मानते हैं।

यहाँ तक हमने वैदिक-काल से लेकर वर्तमान समय तक के भारत के इतिहास पर प्रकाश डाला है। अब आगे जाटों के सम्बन्ध में लिखा जाता है जो कि इसी भारत माँ के अथवा आर्य जननी के सुपुत्र हैं। और जिन्होंने कि पूर्व कथित धार्मिक संघर्षों में घिस-पिस कर भी अपने अस्तित्व को बनाये रक्खा है।

विचारों की काफी आलोचना है। पहिले हम उन्हीं के उद्धरण अपने कथन की पुष्टि में पेश करते हैं—

Lastly we have to speak about the Jats. Their ethonological characteristics also, as we have already seen, are clearly Aryans. They are fair, tall, high nosed and long headed. Does their history contradicts their being Aryans? It may be stated atonce that the Jats have very little history of their own till we come to quite recent times when the present Jat kingdoms both Hindus and Sikhs in the U. P. and the Punjab were founded. But the Jats have the oldest mention of the three. They are mentioned in the Mahabharat as Jartas in the Karna Parva. The next mention we have of them is in the sentence अजय जर्टो हूणान् in the grammar of Chandra of the fifth century. And this shows that the Jats were the enemies of Huns and not their friends. The Jats opposed and defeated Huns: they must, therefore, have been the inhabitants of the Punjab and not invaders or intruders along with the Huns. Does the above sentence indicate that the Yashodharma of Mandsor inscription who decisively defeated the Huns was a Jat? He may have been so, as Jats have been known to have migrated into the country of the Malavas or Central India as into Sindh. But this is not material to our inquiry. The sentence amply shows that the Jats were not invaders along with the Huns but were their opponents........Though treated as Sudras by modern opinion owing to their being agriculterists and the practice of widow marriage they are the purest Aryan in India and belong to the first race of Aryan invaders according to our view, the Solar race of Aryans. ....It is therefore, strange that inspite of the fact that every person who had dad intimate acquaintence with the people of the Punjab has marked the ethnic identity of the Jats, Gujars, and Rajputs plainly Aryans and not Scythians, theories have usually been propounded by scholars about their being Scythians, Getoe, Yue-chi, Khizar and what not and about their having come into India within historical times, nay, on this side even of the Christian era. There is not a scrap of historical evidence even to suggest much less to prove such immigration (there is neither foreign mention of their coming into India nor have they any tradition of their own of some time coming into India nor is there any historical Indian record, stone, inscription or other of their so coming)

and we can only ascribe such theories to that unaccountable bias of the winds of many European and native scholars, to assign a foreign and scythine origin to every fine and energetic caste in India.

अर्थात् वो लिखते हैं कि—अन्त में हम जाटों के सम्बन्ध में कुछ लिखना चाहते हैं कि उनके मानव तत्व अनुसन्धान के लक्षण जैसा कि हम देख ही चुके हैं साफ तौर से आर्य हैं। वे सुन्दर लम्बे और बड़ी नाक वाले हैं। क्या उनके इतिहास उन्हें अनार्य बताते हैं ? यह एक दम कहा जा सकता है कि जाटों का अपना कोई भी इतिहास उस समय से पहिले का नहीं है (है तो सही किन्तु लेख बद्ध नहीं, 'ले०') जबकि वर्तमान हिन्दू, सिख जाटों के राज्य यू० पी० और पंजाब में कायम हुए। जाट, गूजर और मराठा इन तीनों में (किन्तु राजपूतों से भी 'ले०') जाटों का वर्णन सबसे पुराना है। महाभारत के कर्ण पर्व में इनका वर्णन जटिंत्का नाम से मिलता है। उनका दूसरा वर्णन हमको "अजय जर्टो हूणान" वाक्य में मिलता है, जो कि पाँचवीं सदी के चन्द्र के व्याकरण में है और यह प्रकट करता है कि जाट हूणों के सम्बन्धी नहीं किन्तु शत्रु थे। जाटों ने हूणों का सामना किया और उनको परास्त किया। अतः वे पंजाब के निवासी ही होंगे और धावा करने वाले और घुस पड़ने वाले नहीं। क्या उपर्युक्त वाक्य यह साबित करता है कि मन्दसौर के शिला-लेखवाला यशोधर्मन जिसने कि लगातार हूणों को परास्त किया था जाट था ? वह जाट होगा क्योंकि यह मालूम हो चुका है कि जाट मालवा-मध्यभारत में सिन्ध की भाँति पहुँच चुके थे। परन्तु यह विषय हमारे प्रसंग से बाहर है। यह वाक्य यह तो प्रकट करता है कि जाट हूणों के साथ धावा करने वाले नहीं किन्तु उनके विरोधी थे।

आधुनिक सम्मति के अनुसार कृषक होने के कारण और पुनर्विवाह को मानने के कारण चाहे वे शूद्र माने जाते हैं (किन्तु यह बात वैदिक-काल में प्रशंसनीय और श्रेष्ठ जातियों में करने की थीं 'ले०') लेकिन भारत में वे सबसे शुद्ध आर्य हैं। और हमारी दृष्टि के अनुसार वे भारत में आने वाले आर्यों में सबसे पहिले वंश के हैं। (पे० ८७-८८)

अतः यह अचम्भे की बात है कि इस सचाई के होते हुये भी कि हरेक मनुष्य जो कि पंजाब के रहने वालों से पूरी जानकारी रखता है और जाट, गूजर एवं राजपूतों की मानव-तत्व अनुसन्धान की तुलना को देख लिया है कि वे स्पष्टतया सिथियन नहीं किन्तु आर्य हैं तो भी अन्वेषकों ने आम तौर पर उनको सिथियन गेटाई, यूची, और खिजर न मालूम क्या क्या होने के सिद्धान्त बना लिये हैं। यह भी निर्णय कर लिया है कि वे ऐतिहासिक काल में भारत में आये हैं। नहीं, नहीं किन्तु सन ईस्वी का भी पता दिया है। इस प्रकार के आ बसने के प्रमाण के लिए किञ्चित भी ऐतिहासिक उल्लेख नहीं है। (उनका भारत में आने का न तो कोई विदेशी वर्णन ही है और न उनकी अपनी ही कोई दन्त कथा ही है कि भारत में आने का उनका समय बताया जा सके। न ऐतिहासिक व शिलालेख के प्रमाण हैं) हम ऐसे सिद्धान्तों को देशी व यूरोपियन अन्वेषकों के दिमाग का केवल भ्रम ही कह सकते हैं, जो कि भारत की हरएक अच्छी और उत्साही जाति को विदेशी और सिथियन साबित करते हैं। (पे० ८७-८८)

जाट न हूणों की संतान हैं और न शक सिथियनों की किन्तु वे विशुद्ध आर्य हैं। ऊपर के उद्धरण से यह पूर्णतया सिद्ध हो जाता है, किन्तु इससे भी अधिक गहरा उतरा जाय तो पता चलता है कि बेचारे हूणों और शकों के आक्रमणों का जब तक नाम निशान तक न था जाट उस समय भी भारत में आबाद थे। पाणिनी जो कि ईसा से लगभग ६०० वर्ष पहिले हुआ है उस के व्याकरण (धातु पाठ) में जट शब्द आता है जिस के कि माने संघ के होते हैं। पंजाब में जाट की अपेक्षा जट अथवा जट्ट शब्द का प्रयोग अब तक होता है। अरबी यात्री अलबरुनी तो यहाँ तक लिखता है कि 'श्री कृष्ण जाट थे'। ऐसे प्रबल प्रमाणों के होते हुए भी जाटों को हूण लिखने वाले लेखकों ने अपने अन्वेषण कार्य की जल्दबाजी को ही प्रकट किया है।

जातियों की पहचान के लिये अंग्रेज अन्वेषकों ने कई साधन निकाले हैं जिनमें से दो मुख्य हैं—(१) शारीरिक बनावट। (२) भाषा विज्ञान। शरीर शास्त्र के साधन से अन्वेषकों ने मनुष्य जाति को पाँच भागों में विभक्त कर दिया है—(१) आर्य। (२) मंगोलियन। (३) मलय। (४) हबशी। (५) अमेरिकन। रंग के हिसाब से यही जातियाँ गोरी, पीली, बादामी, काली और लाल कहलाती हैं। आर्य लोग रंग के गोरे या उजले ऊँचे ललाट वाले सुआसारी नाक चौड़ी छाती और काली आँखें तथा लम्बी बाहें और टाँगें रखने वाले होते हैं।

मंगोलियन अथवा तातारियों की चिपटी नाक पीला रंग चपटा माथा होता है। शक, सिथियन और हूण मंगोलियन टाइप के ही बताये जाते हैं। हमारे विचार से उनकी सूरत आर्य और मंगोलियन दोनों टाइपों की है। अपने जाट इन टाइपों (ढाँचों) में से किस टाइप के हैं इस प्रश्न का इन सिद्धान्तों के मानने वाले प्रत्येक विद्वान् ने यही उत्तर दिया है कि जाट सोलह आना आर्य टाइप के हैं। पिछले पृष्ठ में ऐतिहासिक उदाहरणों से यह सिद्ध किया जा चुका है कि जाट आर्य हैं। अब मानवतत्व अनुसंधानशास्त्र के अनुसार जाटों के आर्य होने के कुछ उदाहरण लीजिये। मि० ई. बी. हेवल लिखते हैं:—

Ethonographic investigations show that the Indo-Aryan type described in the Hindu epic—a tall, fair complexioned, long headed race, with narrow prominent noses, broad shoulders, long arms, thin-waists like a lion and thin legs like a deer is how (as it was in the earliest times) most confined to Kashmere, the Punjab and Rajputana and represented by the Khattris, Jats and Rajputs. (Page 32).

The History of Aryan rule in India by E. B. Havell.

अर्थात्—मानव-तत्व विज्ञान की खोज बतलाती है कि भारतीय आर्य जाति जिसको कि हिन्दू-युद्ध-ग्रन्थों में लम्बे कद, सुन्दर चेहरा, पतली लम्बी नाक, चौड़े कन्धे, लम्बी भुजायें, शेर की सी कमर और हिरन की सी पतली टाँगों वाली जाति बतलाया है, (जैसी कि यह प्राचीन समय में थी) आधुनिक समय में पंजाब, राजपूताना और काश्मीर में खत्री, जाट और राजपूत ज़ातियों के नाम से पुकारी जाती हैं (पे० ३२)। आगे के पेज में यही महाशय लिखते हैं कि:—

The Indo-Aryan type, occupying the Punjab, Rajputana and Kashmere and having its characteristic members the Rajputs, Khatris and Jats. This type approaches most closely to that ascribed to the traditional Aryan colonists of India. The stature is mostly tall, complexion fair, eyes dark, hair on face plentiful, head long, nose narrow and prominent, but not especially long. (Page 33).

अर्थात्—भारतीय आर्य जाति जिसके कि वंशधर आज राजपूत खत्री और जाट हैं, पंजाब राजपूताना और काश्मीर में बसी हुई है। यह जाति उस प्राचीन आर्य जाति से बहुत अधिक मिलती जुलती है जो भारत में आकर बसी थी। इसकी शारीरिक बनावट, अधिकतर लम्बी, सुन्दर चेहरा,

काली आँखें, चेहरे पर पर्याप्त वाल, लम्बा सिर और ऊँची पतली नाक जो अधिक लम्बी नहीं होती है। (पे० ३३) और भी:—

We are concerned merely with one fact that there exists in the Punjab and Rajputana at the present day, a defenite physical type represented by the Jats and Rajputs which is marked by a relatively long head, a straight finely cut nose, a long symmetrically narrow face, a well-developed forehead, regular features, and a high facial angle. The stature is high and the general build of the figure is well proportioned, being relatively massive in the Jats and relatively slender in the Rajputs.

अर्थात्—यह बात नितान्त सत्य है कि पंजाब और राजपूताना में जो जाट और राजपूत जातियाँ वसती हैं, वे अपने लम्बे सिर, सीधी सुन्दर नाक, लम्बे और पतले चेहरे, अच्छे ऊँचे मस्तिष्क, क्रम बद्ध गठन और ऊँचे घुटने होने के कारण पहचानी जाती हैं। उनका कद लम्बा होता है। उनका साधारण शरीर गठन क्रम बद्ध सुन्दर होता है। हाँ जाटों का कुछ मोटे पन पर और राजपूतों का कुछ पतले पन पर होता है।

सन् १६०१ की जनगणना की रिपोर्ट सफा ५०० पर सर एच० रिजले साहब ने स्पष्ट स्वीकार किया है कि जाट शारीरिक बनावट के अनुसार आर्य हैं। मि० नैस्फील्ड साहब ने यहाँ तक जोर देकर लिखा है:—

As Nesfield has observed if appearance goes for anything the Jats could not but be Aryans.

"यदि सूरत शकल कुछ समझे जाने वाली चीज है तो जाट सिवा आर्यों के कुछ और हो नहीं सकते।"

भाषा विज्ञान के अनुसार जातियों के पहचानने की जो तरकीब है, उसके अनुसार भी जाट आर्य हैं। इसके प्रमाण में मिस्टर सर हेनरी एम. इलियट के० सी० वी० "डिस्ट्रीब्यूशन ऑफ दी रेसेज ऑफ दी नार्थ-वेस्टर्न प्राविंसेज ऑफ इण्डिया" में लिखते हैं कि:—

I have long ago convinced myself, from my journeys from Peshawar to Karachi that the Jat-folk is not more separated from the rest of the community than can be accounted for by various circumstances. The argument derived from language is strongly in favour of the pure Aryan origin of the Jats. If they were

ythian conquerors where their Scythian language gone to and w come it that they now speak and have for centuries spoken an yan language a dialect of Hindi? In Peshawar, the Derajat and ross the Sulaman range in Kach Gondana this language is known r the name of Hindki or Jat speech. The theory of the Aryan igin of Jats if it is to be overthrown at all must have stronger guments directed against it than any that have yet been adduced. hysical type and language are considerations which are not to be et aside by mere verbal resemblence especially when the words on vhich reliance is placed come to us mangled beyond recognition by Greeks or Chinese. *

"वहुत समय हुआ मैंने कराची से पेशावर तक यात्रा करके स्वयम् अनुभव कर लिया है कि जाट लोग कुछ खास परिस्थितियों के सिवा अन्य शेष जातियों से अधिक पृथक नहीं हैं। भाषा से जो कारण निकाला गया है वह जाटों के शुद्ध आर्य वंश में होने के जोरदार पक्ष में है। यदि वे सिथियन विजेता थे तो उनकी सिथियन भाषा कहाँ के लिए चली गई? और ऐसा कैसे हो सकता है कि वे अब आर्य भाषा को जो कि हिन्दी की एक शाखा है बोलते हैं, तथा शताब्दिओं से बोलते चले आये हैं! पेशावर में डेराजाट और सुलेमान पर्वत माला के पार कच्छ गोंडवा में यह भाषा हिन्दकी या जाट की भाषा के नाम से प्रसिद्ध है। जाटों के आर्य वंश में होने के सिद्धान्त को यदि कतई एक ओर फेंक दिया जावे तो इसके विरुद्ध वहुत ही जोरदार प्रमाण दिये जावेंगे जैसे कि अब तक कहीं नहीं दिये गये हैं। शारीरिक गठन और भाषा ऐसी चीज हैं जो कि केवल क्रियात्मक समानता के आधार पर एक तरफ नहीं रक्खे जा सकते। खासकर जबकि वे शब्द जिन पर कि समानता अवलम्बित है हमारे सामने आते हैं तो वे यूनानी या चीनियों से भिन्न पाये जाते हैं।"

---

* *Memoirs on the History, Folk-Lore and distribution of the races of the North-Western Provinces of India.*

Being an amplified Edition of the Original Supplimental Glossary of India Terms.

By Sir Hencry M. Elliot K. E. B.

ऊपर दी हुई पहचानें ऐसी हैं, जिन पर देशी विदेशी दोनों भाँति के इतिहासकार और मानव-तत्व-अनुसंधान-कर्ता विश्वास करते हैं। इन पहचानों के अलावा धार्मिक भावनाओं और रस्म रिवाजों की भी एक पहचान है जिस से प्रत्येक जाति का पता चल जाता है कि आया वह किस नस्ल और देश की है। इस पहचान (सिद्धान्त) के अनुसार भी जाट आर्य नस्ल से हैं। यह बात पूर्णतया सिद्ध हो जाती है। आर्य प्रारम्भिक काल में गंगा यमुना अथवा सिन्धु सरस्वती के किनारे फले फूले थे। उनकी वैदिक सभ्यता गंगा यमुना के द्वावे में ही यौवन को प्राप्त हुई थी। इस नाते से गंगा यमुना से उन्हें स्वाभाविक प्रेम तथा उनके प्रति श्रद्धा होनी चाहिये। जाटों में गंगा यमुना की भक्ति और श्रद्धा इतनी कूट कूट कर भरी हुई है कि वे गंगा यमुना के किनारे मरना अपना अहोभाग्य समझते हैं। आज उनमें से कुछ लोग गंगा यमुना से सैकड़ों और हजारों मील की दूरी पर बसे हुए हैं। किन्तु मरने वालों की अस्थियाँ गंगा यमुना में ही फैंकते हैं। वे शपथ भी गंगा यमुना और गऊ माता की खाते हैं। प्राचीन (वैदिक) आर्यों में पृथ्वी के लिये बड़ी भक्ति थी। वेदों में पृथ्वी की प्रशंसा और स्तुति में एक अलग पृथ्वी सूक्त है। जाट युवक कबड्डी खेलते समय 'धरती माता पूजूँ तोय। हाथ पाँव बल दीजे मोय' कह कर अपनी भक्ति प्रकट करते हैं। मरने से पूर्व कुशा (डाभ) पर लेटना प्राचीन ऋषि मुनियों की प्रथा की रूढ़ि उनके यहाँ अब तक चली आती है। प्रत्येक त्यौहार और उत्सव पर उनके घरों में अग्निहोत्र (जिसे अपभ्रंश रूप में वह अब वैश्वान्दर (वलि वैश्य) कहते हैं) होता है। बहुत संभव है कि वह मौजूदा कृत्रिम-हिन्दू-धर्म की कुछेक रिवाजों को नहीं मानते हैं। किन्तु वैदिक कालीन आर्यों की ऐसी कोई प्रथा नहीं जो अब तक जाटों में किसी न किसी रूप में न चली आती हो। वैदिक आर्यों के आठ प्रकार के विवाह उनमें अब तक होते हैं। भीष्म पितामह ने पांडु के विवाह के लिये मद्रनरेश के सामने प्रस्ताव रक्खा था। वर्तमान हिन्दू रिवाजों के अनुसार लड़के का बाप लड़की के बाप के सामने ऐसा प्रस्ताव नहीं रखता है। किन्तु अजमेर मेरवाड़े के जाटों में यह प्रथा अब तक प्रचलित है। जाट बालक बजाने के लिये बांसुरी—अलगोजा पसन्द करता है जो कि उसके बहुत पुराने पुरुषा श्रीकृष्ण का खास बाजा है। जाट बालक को जब तक कि वह युवा नहीं होता कछनी पसन्द होती है। जाट गृहस्थ अतिथि सत्कार को अपना पैतृक रिवाज बतलाता है। जहाँ के जाटों का मस्तिष्क वर्तमान हिन्दू रिवाजों का गुलाम नहीं बना वहाँ की जाट स्त्रियाँ पर्दे को वहशीपन समझती हैं। वह अपने ससुर और जेठ से बात करती हैं। कोई जाट स्त्री काहिल नहीं होती; वह अपने हाथों से अपने पति और पारवारिक जनों को भोजन खिलाती हैं। जाट दास-प्रथा को बुरा मानते हैं। उनके यहाँ कुछेक लोकोक्तियाँ ऐसी चली आती हैं जो कि उन्हें वैदिक आर्यों के उत्तराधिकारी होने में तनिक भी सन्देह नहीं रहने देतीं। बाप का बदला लेने वाले पुत्र को 'प्रकटयो सुत जन्मेदा (जन्मेजय)' की लोकोक्ति से और उद्दण्ड पुत्र को 'बभ्रावाहन (बभ्रुहन)' नाम से पुकारते हैं।

उन्हें रसिक रागों की अपेक्षा तत्व ज्ञान और भक्ति तथा वीर रस के राग अधिक पसन्द होते हैं। अपनी ओर से वह किसी से झगड़ा-बखेड़ा करने के आदी नहीं हैं। 'मित्रस्या चक्षुसा समीक्षा महे' का सिद्धान्त जो कि प्राचीन आर्यों का था उनका स्वभाव बन गया है। अतः धार्मिक भावनायें और रस्म रिवाज उन्हें वैदिक आर्यों का सच्चा उत्तराधिकारी सिद्ध करती हैं। यह निर्विवाद सही बात है कि, *"जाट विशुद्ध आर्य हैं[१]।"*

फिर भ्रम क्यों ? इतिहासकारों में कुछ एक लोगों को यह भ्रम क्यों हुआ कि जाट शक हूणों में से कुछ हैं ? हमारी समझ में इस भ्रम के निम्न कारण हैं—(१) जाटों का अन्य हिन्दुओं की अपेक्षा सामाजिक रीति-रिवाजों से बहुत कुछ स्वातंत्र्य। (२) उनके अन्दर छूआछूत और भेद-भाव के सिद्धान्तों की शिथिलता। (३) समकक्ष क्षत्रिय जातियों के रस्म-रिवाज में विदेशी जातियों के रस्म-रिवाज का सामंजस्य। (४) उनके नाम से मिलती-जुलती जातियों का विदेश में अस्तित्व। (५) कुछ इतिहासों में जाटों पर ब्राह्मणों तथा उनके पिट्ठुओं द्वारा किये गये अत्याचार के उदाहरण मिलना। (६) व्यास, चारण आदि की वंशावलियों में जाटों का दोगला लिखा हुआ होना। (७) उनके प्रमाणिक इतिहास की कमी। (८) एकतंत्र शासन की अपेक्षा गणतंत्र शासन की प्रणाली पर चलने के कारण साम्राज्य भावना का न होना। संभव है इन कारणों के सिवा भी एक दो कोई और कारण हों। किन्तु वे भी इन्हीं से मिलते जुलते होंगे। किसी विदेशी विद्वान् को इतने कारण सहज ही में भ्रम में डाल सकते हैं और वह जो नतीजा निकालेगा उलटा ही होगा। क्योंकि उस की निगाह में वास्तविक परिस्थितियाँ तो सहज में आ नहीं सकतीं। (१) विदेशी विद्वान इतिहासकारों ने जब देखा कि हिन्दू-धर्म पुनर्विवाह का निषेध करता है और जाटों में यह रिवाज प्रचलित है, तब सहज में ही उनके मस्तिष्क में यह भाव पैदा हुआ—हो न हो यह उन लोगों में से हैं जो तातार या हूण आदि कहलाते हैं। यदि ऐसे विद्वानों को वैदिक रस्म रिवाजों और जाटों की रस्म रिवाजों की समानता का ख्याल आ जाता तो उन्हें गलत रास्ते पर न जाना पड़ता। (२) हिन्दू-धर्म के अनुसार 'आठ पुर्विया नौ चूल्हे' की भोजन व्यवस्था और दूसरी ओर जाटों का नाई, गड़रिया, लोधे, अहीर, गूजर, माली, राजपूत आदि सब के घर और हाथ का बना भोजन खा लेना एक दूसरे के विपरीत देखा, तब उन्होंने यह अनुमान लगा लिया कि 'जाट बहुत पीछे के भारत में आये हुये हैं जो कि शनैः शनैः हिन्दू-धर्म में लिप्त हो रहे हैं'। यह उन विद्वानों का विना परिश्रम का खयाल था। निश्चय ही उन्हें आर्य-सभ्यता का ज्ञान होता तो समझ लेते कि जाट प्राचीन आर्य-धर्म के पालक हैं। उन पर कृत्रिम हिन्दू-धर्म का प्रभाव बहुत कम पड़ा है। (३) बकरे, भैंसे आदि के

१—जाट सूर्य-पूजक नहीं फिर सिथियन कैसे हुए ?

बलिदान दुर्गा और सूर्य की पूजा के रिवाजों के आधार पर विदेशी इतिहास लेखकों ने राजपूतों और उन के साथियों को ऐसे ही रस्म-रिवाज वाली विदेशी जातियों का वंशज अनुमान कर लिया। और चूँकि अनेक जाटों के वही गोत्र हैं जो राजपूतों के हैं; वैसे भी राजपूत और जाटों में कुछेक रिवाजों को छोड़ कर समानता है, बस इसी आधार पर उन्होंने राजपूतों के साथ ही जाटों को भी वही लिख दिया जो राजपूतों को लिखा। गूजर और जाट दो समुदाय ऐसे हैं जिनके रस्म रिवाज में १९-२० का अन्तर है, गूजरों में दो एक गोत्र ऐसे हैं जो विदेशी जातियों के नाम पर हैं जैसे हून। गूजरों को विदेशी मानने के लिए इतनी सी सामिग्री मिल जाना उनके लिये काफ़ी था और जब गूजर विदेशी हैं तो उनके साथी जो कि उन से थोड़े ही श्रेष्ठ हैं क्यों न विदेशी होंगे।

यदि इसी बात को विदेशी इतिहासकार इस तरह समझ लेते कि हून गूजरों की खानि में जज्ब (मिल) हो गये तो सहज ही उनका भ्रम मिट सकता था। राजपूतों के अग्नि कुल वाली कथा ने भी राजपूत, जाट, गूजरों को विदेशी और अनार्य होने के लिये काफ़ी भ्रम फैलाया है। विदेशी इतिहासकार समझते हैं कि भारत से बाहर के लोगों को शुद्ध करके आर्य (क्षत्रिय) राजपूत बनाया गया था। वास्तव में बात यह है कि बौद्ध क्षत्रियों के मुकाबिले के उन्हीं में से अथवा भारत के ही कुछ निम्न दल के लोगों को हिन्दू-धर्म में (बौद्ध धर्म से) दीक्षित किया था। (४) समानवाची देशी विदेशी नामों ने भी ऐसे इतिहासकारों को खूब धोखे में डाला है। यूरोप के गाथ, गेटि, जेटी चीन के यूची, यूती ऐसे नाम हैं जो जाट शब्द से मिलते हैं। इस शब्द समानता के मिलते ही फौरन ही उन्होंने जाटों को मंगोलियन और सिथियनों के उत्तराधिकारी अथवा विदेशों से भारत में *आया हुआ लिख दिया। यदि वे संस्कृत साहित्य अथवा पाली साहित्य और* पारसी, अरबी तथा चीनी इतिहासों को परिश्रम के साथ पढ़ने और कुछ खोज करने की चेष्टा करते तो उन्हें मालूम हो जाता कि यदि यूरोप और चीन में कहीं भी जाटों के भाई-बन्धु (गेटे, गाथ, यूची आदि) पाये जाते हैं तो भारत से गये हुए ही हैं न कि उन स्थानों से आकर भारत में बसे हैं। कर्नल टाड ने स्कन्धनाभ में जाटों की बस्तियों का वर्णन किया है किन्तु जिस समय स्कन्धनाभ में उनके प्रवेश का वर्णन आता है उससे कई शताब्दी पहिले भारत में उनका अस्तित्व पाया जाता है। जाट भारत से बाहर गये थे, ईसा से कई सौ वर्ष पहले गये और कई सौ वर्ष पीछे तक जाते रहे, इसका विस्तृत वर्णन आगे के पृष्ठों में करेंगे। यहाँ इतना ही लिखना काफी है जैसा कि *श्री चिन्तामणि विनायक वैद्य मानते हैं कि*—न किसी विदेशी इतिहास में ऐसा वर्णन है कि जाट अमुक देश से भारत में गये और न जाटों की दन्तकथाओं में। पं० इन्द्र विद्या वाचस्पति "मुग़ल साम्राज्य का क्षय और उसके कारण" नामक इतिहास पुस्तक में यही बात लिखते हैं कि—

जब से जाटों का वर्णन मिलता है वह भारतीय ही हैं और यदि भारत के वाहर कहीं भी उनके निशान मिलते हैं तो वह भी भारत से ही गये हुये हैं।
(५) सिन्ध में ब्राह्मण नरेश चच ने जाटों के साथ जो व्यवहार किया था तथा उन्हें सामाजिक स्थिति से गिरने के लिये जो नियम बनाये थे उससे भी एकाध लेखक को जाटों के आर्यों के सिवाय अन्य कुछ होने का भ्रम हुआ है; किन्तु यह तो बात अधिक न थी। साम्प्रदायिक अन्तर भाई-भाई को शत्रु बना देते हैं। जाट नवीन हिन्दू-धर्म के बन्धन से मुक्त रहना चाहते थे वह कुछ सीमा तक बौद्ध-धर्म के कायल थे। यही कारण था कि चच और उसके उत्तराधिकारियों ने उनके साथ कठोरता की। विजेता जाति पराजित जाति पर अत्याचार सदैव करती आई है। यदि धार्मिक मत-भेद हो तो यह अत्याचार और भी बढ़े हुए होते हैं। लेकिन यह याद रखने की बात है कि धर्म या मजहब रक्त (नेशन) को नहीं बदल सकते हैं। (६) राजपूताने में वंशावली रखने वाली कौम को व्यास या जागा कहते हैं; चारण भी यही काम करते हैं। उनकी वहियों में अनेक जाट गोतों के लिये लिखा हुआ है कि अमुक राजपूत ने जाटिनी से शादी कर ली अतः वह जाट हो गया। ऐसे व्यास या भाट यू० पी०, पंजाब सभी जगह हैं। उनसे किसी भी जाट गोत्र की उत्पत्ति का हाल पूछिये, ऐसी ही वाहियात और निर्मूल कथा का हवाला देते हैं। ऐसे ही लोगों के कथन के आधार पर पटियाला, फरीदकोट और भरतपुर जैसी स्टेटों के इतिहास में उनके राजवंशों के हवाले तक लिखे जा चुके हैं। यह भी एक आधार था जिससे विदेशी और उनका आँख मूँद कर अनुसरण करने वाले देशी इतिहासकार इस नतीजे पर पहुँच गये कि जाट क्षत्रिय कौम के अलावा वाहर की कोई लड़ाकू कौम हैं जिन्होंने समय पाकर भारत पर आक्रमण करके स्थान प्राप्त कर लिया है। हालांकि वे ऐसे व्यासों-भाटों की वंशावलियों और वहियों को विश्वास योग्य और प्रमाणिक मानने में हिचकते रहे; किन्तु जाटों के विपक्ष में तो कलम चला ही गये। हम कहते हैं और चैलेंज पूर्वक कहते हैं कि भाटों और व्यासों की वहियों में जाटों को राजपूतों में से होने की जो कथा लिखी हुई हैं वह सफ़ेद झूठ हैं। व्यासों ने ऐसा क्यों लिखा, इसका पूरा विवरण आगे के पृष्ठों में दिया जायगा। यहाँ केवल जस्टिस केम्पवेल का मत दिया जाता है—

It may be possible that the Rajputs are Jats who have advanced farther into Hindustan, have there intermingled with Hindu races, have become more high and strict Hindus and achieved earlier power and glory. But that the Jats are Rajputs who have recided from a higher Hindu position, is a theory for which there is not the least support and which is contradicted by every feature in the present position of the now rapidly progressing Jats.

अर्थात्–यह संभव हो सकता है कि राजपूत जाट हैं जो कि भारत में आगे बढ़ गये हैं। और वहाँ हिन्दू जातियों से परस्पर मिल गये हैं तथा ऊँचे और कट्टर हिन्दू हो गये हैं। उन्होंने अपने प्राचीन बल वैभव को प्राप्त कर लिया है। लेकिन यह कि जाट राजपूत हैं और ऊँचे दर्जे से घट गये हैं यह एक ऐसा सिद्धान्त है जिसके लिए बिल्कुल सबूत (पत्त) नहीं है और जो आज वर्तमान उन्नतशील जाटों के बाहिरी वर्तमान आचरण से स्पष्ट तौर से प्रकट होती है।

(७) प्रमाणिक इतिहास की कमी ने जाटों को उनके स्थान से गिराने में बहुत सहायता दी है। मथुरा मेमायर्स के लेखक मि० ग्राउस ने जाटों को अपना इतिहास न लिखने पर काफी फटकार बताई है। वास्तव में उनकी कोई इतिहास-पुस्तक न पाकर दूसरे लोगों से जैसा उन्होंने सुना या जैसा उन्हें बताया गया वे लिखने को विवश हुए। फिर भी उन्होंने जाटों के लिये इतिहास लिखने का रास्ता साफ कर दिया है। यह सिद्ध करना कुछ भी कठिन नहीं है कि जाट 'इंडो आर्यन' हैं जिन्हें कि किसी किसी इतिहासकार व गजेटियर के संपादक ने 'इंडोसिथियन' लिख दिया है चूंकि ये जाटों के भारतीय इतिहास से अनभिज्ञ थे। (८) यद्यपि जाटों में कुछ एक व्यक्ति या समूह ऐसे थे, जिन्होंने एकतंत्र या साम्राज्य शाही को पसन्द किया और ऐसे शासन भी स्थापित किये किन्तु पूरा समुदाय गणतंत्र (प्रजातंत्रशाही) का मानने वाला था। यही क्यों वे एकतंत्र शासन के पक्ष में विचार रखने वालों के विपक्षी भी बन जाते थे। इनमें से कोई कोई समुदाय तो बिल्कुल अराजकवादी थे। न वह वंशानुगत राजा चाहते थे और नहीं सरदार प्रथा के काहिल होना चाहते थे। अराजकवाद के विरुद्ध भारत में सदैव से संघर्ष रहा है। शतपथ ब्राह्मण और महाभारत में अराजकवाद के विरुद्ध खूब चर्चा की गई है। कारण यह था कि अराजक लोगों में न किसी धर्म का प्रचार हो सकता था और न किसी जाति का दूसरी जाति पर प्रभुत्व स्थापित। इसीलिये ब्राह्मण-वर्ग सदैव अराजकवाद के विरुद्ध रहा है। उसने यादव और तक्षक आदि जातियों को इसीलिये अनार्य और शूद्र करार दे दिया। प्रजातंत्र और एकतंत्र भी भिन्न हैं। नया हिन्दू-धर्म तो प्रजातंत्र के नितान्त विरुद्ध था क्योंकि एकतंत्र में उन्हें धर्म प्रचार के लिये सुविधा रहती थी। एक राजा के धर्म बदलते ही सारी प्रजा धर्म बदल लेती थी किन्तु गणतंत्र में अनेक सरदारों को शीघ्र धर्म परिवर्तन करा देना कठिन था। नवीन हिन्दू-धर्म ने प्रजातंत्र को इसलिये भी बुरा समझा कि बौद्ध-धर्म के संघों का संगठन गणतंत्र प्रणाली के अनुसार ही हुआ था। ब्राह्मण, धर्म के मामले में एक पुजारी या आचार्य को सर्वाधिकारी होने के पक्षपाती थे। बौद्ध-संघों में सब बातें वोट द्वारा तय होती थीं। ब्राह्मणों ने अथवा नवीन हिन्दू-धर्म ने आखिर गणतंत्री जाति

समूहों को राजतंत्री समूहों से पतित करार दे ही दिया। इस घरू संघर्ष का आधार भी जल्दबाज इतिहासकारों के लिये जाटों को इंडो-सीथियन बनाने के लिये काफी हुआ। पर ऐसे लेखक प्रति सैकड़ा १० हैं। ६० लेखकों ने मुक्त कंठ से जाटों को प्राचीन आर्यों के विशुद्ध वंशज बताया है। सिद्धान्त है कि सचाई छिपाने से छिपती नहीं है। लाल गूदड़ों में भी पहचाने जा सकते हैं और जादू सर पर चढ़कर बोलता है। जाटों ने इस बात के विरुद्ध न तो आवाज उठाई कि कोई उनके विरुद्ध क्या प्रचार करता है न प्रतिवाद किया। फिर भी निष्पक्ष और मनन-शील विद्वान अन्वेषकों और इतिहासकारों को यह स्पष्ट तौर से मानना पड़ा कि जाट आर्य हैं और प्राचीन आर्यों के वह वास्तविक उत्तराधिकारी हैं।

जाट क्षत्रिय हैं

जाट वैदिक वर्ण व्यवस्था के क्षत्रिय वर्ण में से हैं। वे उन राजवंशों की संतान हैं जिन्हें श्रेष्ठ क्षत्रिय कहा गया था। नये हिन्दू-धर्म ने जो कि बौद्ध-धर्म के बाद भारत में फैला है, पुराने क्षत्रियों को यह कह कर भुलाने की चेष्टा की कि "कलियुग में क्षत्रिय वर्ण ही नहीं है" कारण इसका यही था कि पुराने क्षत्रियों ने ब्राह्मणों की दासता के विरुद्ध कई बार आन्दोलन किया था। वे कहते थे कि हम ब्राह्मणों से निम्न श्रेणी के कैसे हैं? विश्वामित्र जैसे नर्म विचार के कुछ क्षत्रिय ब्राह्मण बनने की चेष्टा में पूर्ण उद्योग करते थे। बुद्ध और महावीर ने तो ब्राह्मण वैशिप को कतई उठा दिया था। जिन-नेताओं ने तो परम्परागत ब्राह्मणों के मुकाबिले में शूद्रों में से ब्राह्मण बनाये थे जैसा कि हम पहिले अध्याय में सप्रमाण लिख चुके हैं। बौद्ध और जिन धर्मों के परास्त होने पर ब्राह्मणों ने भी बौद्ध-जैन क्षत्रियों को जो कि उनके धर्म में सम्मिलित होने से किनारा कशी कर रहे थे, भरपूर गिराने की चेष्टा की। यही क्यों पुराने क्षत्रियों के मुकाबिले में उन्होंने ब्राह्मण भर और यहाँ तक कि जंगली जातियों में से भी क्षत्रिय बना डाले। "धर्म इतिहास रहस्य" के लेखक ने नवीन हिन्दू-धर्म की वर्ण व्यवस्था पर बड़ी मजेदार बातें लिखी हैं, वह इस प्रकार हैं—

जब यह जातियाँ हिन्दू मत में आगई तो धर्म-शास्त्र की आज्ञानुसार उनकी इस स्वच्छन्दता को रोकना आवश्यक था। यदि ब्राह्मण और जैनी लोग आचार विचार को न मानते तो वर्ण-व्यवस्था स्थिर करने में कुछ बाधा न पड़ती। अब तो बौद्धादि मतों के मनुष्यों को मिलाना भी आवश्यक था, क्यों कि टूटी भुजा गले से ही बाँधनी पड़ती है। तीर्थ जाने पर तो मुड़ाना ही पड़ता है।......जब स्वामीजी (शंकराचार्य) ने देखा कि भिन्न भिन्न आचार विचार और वंशों की जातियाँ हिन्दू मत में आगई हैं तो वे एक चक्कर में पड़ गये कि वर्ण व्यवस्था किस प्रकार स्थिर की जावे? पर कार्य तो चलाना ही था, इसलिये टूटे फूटे वर्ण बना दिये।......प्रथम वर्ण

ब्राह्मण बनना था। इनमें से कुछ लोग तो पहले से ही ब्राह्मण कहे जाते थे। चाहे वे किसी सम्प्रदाय के थे। इन पुराने ब्राह्मणों में प्रायः शैव, वैष्णव, वामी, कापालिक, जैन और बौद्ध मत से आये थे। अब जितने अब्राह्मण आचार्य थे उन में से बहुतों ने जब पाँचवीं शताब्दी में ही बौद्ध मत का सूर्य ढलता देखा और ब्राह्मणों के मत को चढ़ते हुये देखा तो अपने को ब्राह्मण चिल्लाना आरम्भ कर दिया था। अब जो अपने को ब्राह्मण नहीं कहते थे उन को भी ब्राह्मण माना, क्योंकि प्रथम तो यह लोग विद्वान, दूसरे उनकी सत्यपरायणता, तीसरे उनके बिगड़ने का भय था, चौथे उन को ब्राह्मण न माना जाता तो क्या माना जाता ? पाँचवे यदि ब्राह्मणों की ओर से इन आचार्यों को ब्राह्मण न माना जाता तो अन्य वर्ण भी विधर्मियों को अपने अपने वर्ण में स्वीकार न करते। पुराणों के देखने से पता चलता है कि इस विषय पर झगड़ा भी चला है। हम देखते हैं कि पुराणों में विषय कुछ चल रहा है और बीच में धींगा धींगी से वर्ण व्यवस्था का झगड़ा ठूँस दिया है। जहाँ देखिये वहाँ ब्राह्मणत्व की तबाही।

अब वर्ण तो बन गया किन्तु परस्पर खानपान और विवाहादि के सम्बन्ध कैसे स्थिर किये जावें ? भला दक्षिण देश के नम्बुद्रि और शुद्धाचरण रखने वाले ब्राह्मण एक कापालिक और वामी को अपनी पुत्री कैसे दे सकते थे ? उधर इन रंगरूटों का विश्वास भी कुछ नहीं था। इसलिये इसके सिवा कुछ उपाय नहीं था कि ब्राह्मणों की भिन्न भिन्न जातियाँ बना दी जावें, और कह दिया जावे कि परस्पर सम्बन्ध करो। उस समय के लिये यह उपाय सर्वथा उचित था। जो ब्राह्मण आचार विचार को मानते चले आते थे वे तो इस से प्रसन्न थे ही पर जो लोग दूसरे मतों से आये थे वह भी इस से प्रसन्न हो गये, क्योंकि इनमें से बहुत से तो देवीजी के उपासक थे। बहुत से इस नवीन मत में आने और पुराने मत के छूटने के मोह में बड़े खिन्न थे। वे लोग नहीं चाहते थे कि इस बन्धन पूर्ण मत में जाकर अपनी पिछली बातों की तिलांजली दे डालें।

वे लोग जो कोई बड़े आचार्य तो नहीं थे, पर उनमें ब्राह्मणों का भी कुछ रक्त था, उन्हें उनके कर्मों के सम्बन्ध से ज्योतिषी, पाड़िया, भरारा भाटादि के नाम दे दिये। चौथी शताब्दी से शासक जातियों को क्षत्री नाम से पुकार

जाना बन्द हो गया था। जो लोग राज करते थे, वे अपने अपने वंशों के नाम से प्रसिद्ध थे। इसका कारण यह था कि बौद्ध मत ने अपने प्रबल प्रभाव से वैदिक वर्ण व्यवस्था और वंश गौरव को बिल्कुल उलट पलट कर दिया था। क्या आश्चर्य है कि वर्तमान खत्री जाति प्राचीनों की वंशज हो? हमें जहाँ तक पता चला है, खत्रियों की बहुत सी बातें क्षत्रियों से लग्गा खाती हैं। इसी प्रकार जाट नामक जाति में कुछ बातें अभी तक प्राचीन चन्द्रवंशी क्षत्रियों अर्थात कौरव पाण्डवों से टक्कर खाती हैं। पर इन जातियों की गिरावट ऐसी विवश कर देती है कि जिससे हम इनके विषय में कुछ भी निश्चय नहीं कर सकते।

यद्यपि सामयिक शासक जातियों को क्षत्रिय कहने में कुछ भी हानि नहीं थी, क्योंकि उनमें क्षात्र धर्म के सब पूरे पूरे गुण थे, और बाम-काल में ऐसा हो भी चुका था। महात्मा बुद्ध स्वयम् शक जाति के होने से शाक्यवंशी क्षत्रिय कहलाते थे। पर उस काल में जन्मवाद ने ऐसा गहरा रूप धारण नहीं किया था। विदेशीय जातियों के लोगों को क्षत्रिय नाम देने में एक झगड़ा होने का भय था कि कहीं वे जातियां जो अपने को राम-कृष्ण आदि के वंश से बतलाती हैं बिगड़ न बैठें। ६०० ईस्वी से जब हिन्दू मत ने कुछ उभरना आरम्भ किया था यह जातियाँ अपने को राजपुत्र कहने लगी थीं, इसका कारण यह था कि ये लोग ब्राह्मणों का तो इसलिये मान करते थे कि वे हमको नीच वंश[१] से न कहने लगें, उधर बौद्धों को इसलिए प्रसन्न रखते थे कि उनके मत में जन्म का कुछ मूल्य न था। राजपुत्र नाम ऐसा था कि जिसको किसी मत का मनुष्य भी बुरा नहीं कह सकता था। इसलिए इनका नाम राजपुत्र ही रहने दिया। यह एक नियम है कि जिन जातियों को अपने शत्रुओं का भय रहता है वे परस्पर मिल ही जाती हैं। (२) क्षत्रियों को दूसरे राजाओं की कन्या लेने का अधिकार सदा से रहा है। चित्तौड़ के विशुद्ध क्षत्रियों के पूर्वज ने नौशेरवां बादशाह की पोती से अपना विवाह किया था।

१—हम "धर्म इतिहास रहस्य" के लेखक के मत के पूर्ण समर्थक नहीं। हमारी सम्मति में सारे राजपुत्र न विदेशी हैं न नीच वंशों से। उनमें से अनेक वंश ऐसे हैं जिनमें प्राचीन (वैदिक) क्षत्रियों का रक्त है। कुछ थोड़े से क्षत्रियेतर भले ही हों। (लेखक)

तीसरा वर्ण वैश्य होना चाहिये था, पर आर्य-ग्रन्थों में जो गुण, कर्म, स्वभाव बतलाये थे, वे पूर्ण रूप से किसी में भी न थे। बौद्ध-काल में जो जातियां जो कर्म करती चली आती थीं, वही उनका नाम भी था, इसलिये उन लोगों के वही पुराने नाम वणिक्, व्यापारी, बनजारे, किसान, माली आदि रहने दिये और उनकी भी भिन्न-भिन्न जातियाँ बना डालीं। धीरे धीरे धनवानों ने भूमि देवों की कृपा से वैश्य की पदवी प्राप्त कर ली। इन वैश्यों में भी कुछ ज्ञातियां तो ऐसी हैं कि वे थोड़े ही काल से राज्य च्युत होकर वैश्य बन गई हैं। चौथे वर्ण शूद्र की भी यही दशा हुई १।

जब कि नवीन हिन्दू-धर्म नये सिरे से समाज-रचना कर रहा था, उस समय जाट क्षत्रियों ने उससे कोई सहयोग नहीं किया, वे अपनी कुछेक परम्परागत रिवाजों को नहीं छोड़ना चाहते थे। उदाहरणार्थ विधवा-विवाह और सामाजिक समानता उन्हें, स्त्रियों को पर्दे में रखने तथा बलात् सती कर देने की रिवाज भी न रुची, वह अपनी सामाजिक व्यवस्था की रचना में इतना हेर फेर एक दम बर्दास्त नहीं कर सकते थे। यद्यपि उन पर बौद्ध-धर्म का प्रभाव था पर एकेश्वरवाद के वे समर्थक थे। हिन्दू-धर्म की बहुदेव पूजा भी उन्हें न रुची। वे अपने पूर्वजों की भाँति देवर-विवाह-प्रथा के अधिकार को नहीं छोड़ना चाहते थे। खान-पान के मामले में भी वह चौके की गुलामी में फँसने को बुरा समझते थे। वह तो एक हाथ में रोटी और एक हाथ में शत्रु का लहू लुहान शिर थामने वाले पुरुषार्थों के भक्त थे। आखेट को वे बुरा नहीं मानते थे किन्तु चामुड़देवी पर बकरा, भैंसा काटना उन्हें नितान्त स्वीकार न था। यद्यपि उनमें एकतंत्रवादी विचार के भी कुछ लोग थे किन्तु अधिकांश में वह गण-राज्य के पक्षपाती थे, जो कि नवीन हिन्दू-धर्म के विधान से बाहर की वस्तु थीं। यही कारण थे कि नवीन हिन्दू-धर्म ने उन्हें सामाजिक दर्जे से गिराने की चेष्टा की। हालांकि सारा जाट समुदाय अटल न रह सका उनमें से अनेक वंश और कुल नये हिन्दू-धर्म में दीक्षित हो गये और राजपुत्र कहलाने लगे। जैसा कि जस्टिस कैम्पबैल के कथन और 'इम्पीरियल गजेटियर' जिल्द दूसरी पे० ३०८।३०९ के लेख से प्रकट होता है। जाटों ने अपने प्राचीन रस्मो-रिवाज को नवीन हिन्दू-धर्म के आघात प्रत्याघात सहते हुए आज तक सुरक्षित रक्खा है। किन्तु ज्यों ज्यों समय बीतता गया, उन पर नवीन हिन्दू-धर्म की छाया पड़ती गई। व्रज के निकटवर्ती जाट जो कि नवीन हिन्दू-धर्म के गढ़ मथुरा वृन्दावन से बहुत दूर नहीं रहते हैं अब से ५।६ सदी पूर्व के अपने पुरुषों की आन को छोड़ बैठे हैं और पूरे हिन्दू हो गये हैं, आर्य

१—"धर्म इतिहास रहस्य" पे० १४९ से १५०।

ां रहे। उनमें से अनेक राजपूतों की तरह कन्यावध करने लगे हैं१। अपनी
धवा लड़कियों का पुनर्विवाह नहीं करते। भौजाई के साथ नाता करना भी
ड़ दिया है। पर्दे की उनके घरों में उत्तरोत्तर वृद्धि हो रही है। गूजरों
ौर अहीरों के साथ जो पुरातन खान-पान का व्यवहार चला आता था
समें शिथिलता आ गई है। बहुदेव पूजा भी वृद्धि पर है। अपने को वे अन्य जाटों
ी अपेक्षा जिनमें कि प्राचीन रस्में अभिमान के साथ मानी जाती हैं—श्रेष्ठ
ामझते हैं। कहीं कम और कहीं अधिक नये हिन्दू-धर्म का रंग आरम्भिक काल से
ाव बहुत कुछ उन पर चढ़ गया है। लेकिन ब्राह्मणों ने जो धारणा उनके प्रति
ारम्भ में बनाई थी, उसमें वे बहुत कम झुके हैं२। बौद्ध-काल के पश्चात् उदय
ोने वाले ब्राह्मण-धर्म अथवा नवीन हिन्दू-धर्म में शीघ्र से प्रविष्ट न होने वाले
ाटों को ही सामाजिक-मान की हानि नहीं उठानी पड़ी है किन्तु अहीर, गूजर,
राठा, काठी, खत्री आदि अनेक क्षत्रिय समुदायों को उसका कोप-भाजन
ोना पड़ा है।

महात्मा कार्ल मार्क्स लिखते हैं—"*धर्म अफीम जैसा नशीला पदार्थ है*"
यह सिद्धान्त कहाँ तक झूठ व सही है इस पर तो हमें विवेचना नहीं करनी किन्तु
यह प्रत्यक्ष है कि धर्म या मजहब मनुष्य समुदाय की टुकड़े-बन्दी करने के सिवा
उनमें शत्रुता भी पैदा कर देता है। वह भाई को भाई से अलग करके एक दूसरे का
प्राणान्त करने पर भी उतारू कर सकता है। ब्राह्मणों, व्यासों आदि की मनो-
वृत्तियाँ जाट, गूजर अथवा मराठों के साथ केवल धार्मिक मत-भेद से कुछ भी
रही हों, किन्तु अधिकांश राजपूत जो उन्हीं में से निकले हुए थे अथवा उन्हीं की
भाँति क्षत्रिय-वृक्ष की शाख थे जाटों तथा उन्हीं के जैसे विचारों की जातियों के
साथ निकृष्ट बर्ताव करने पर उतर आए। वर्तमान में राजपूताना कहे जाने वाली
भूमि पर जहाँ कि गूजर, अहीर, जाट, बहुत पहिले से आबाद थे, जब नवीन
धर्म से मंडित यह समुदाय आया तो जाटों ने इनका कोई अधिक विरोध न किया
क्योंकि जाट इन्हें गैर न मानते थे। परन्तु इन्होंने उनके साथ वही व्यवहार किया
जो सभ्य समाज के माथे पर कलंक-कालिमा लगा सकता है। इनके सहारे से
पलने वाले ब्राह्मणों, भाटों और चारणों ने जाट, गूजर और अहीरों को क्षत्रिय
न कहने और मानने का मौखिक और लेख-बद्ध काफी प्रचार किया। जिसका
परिणाम यह हुआ कि इन योद्धा जातियों की यह अवस्था हो गई कि वह स्वयम्
अपने स्वरूप को भूल गईं। साथ ही आम जनता की भी सदियों से सुनते रहने के
कारण यह धारणा हो गई कि जाट क्षत्रिय नहीं हैं।

१—अब से १० वर्ष पहिले सिनसिनवार, नोहवार आदि में ऐसा होता था।
२—अभी ६।७ साल पहिले के दरभंगा के ब्राह्मण नरेश का भाषण उनकी मनोवृत्ति का प्रतिबिम्ब है।

ऐसे ही कारणों और धारणाओं के आधार पर कुछ इतिहासकारों ने जाटों को वैश्य लिखने की भूल की है। श्री० सी० वी० वैद्य ने जहाँ अपने "हिन्दू मिडीवल इण्डिया" में जाटों को विशुद्ध आर्य वंश के लिखा है वहाँ उन्हें वैश्य वर्ण के अन्तर्गत शामिल किया है। एक तो उनके उत्तम खेतिहर होने और दूसरे जाट नरेश यशोधर्मा के वाप विष्णुवर्द्धन के साथ वर्द्धन शब्द होने से उन्हें यह भ्रम हुआ है कि जाट वैश्य हैं। यदि वर्ण पेशे के अनुसार बदलने वाली चीज है तो हमें कोई ऐतराज नहीं कि खेती करने के कारण जाट वैश्य हैं और जिस समय वे फौज में भर्त्ती होकर या अपने नेता के साथ मिल कर युद्ध करते हैं, क्षत्रिय हैं। परन्तु जैसा कि वैद्यजी ने लिखा है कि "*शायद वे वेदों के विशू हों*" हम कहेंगे उनका यह अनुमान निराधार एवं निर्मूल है। उनके नगरों की रचना, पंचायतों के नियम, शरीर की मजबूती, आपत्ति का सामना करने की शक्ति, उत्सव और त्यौहारों के मनाने का ढंग, बदला लेने की प्रवृत्ति, वेश-भूषा कोई भी वैश्यों से नहीं मिलतीं। वह अपने नगरों को दुर्ग के रूप में बसाते हैं, या तो उसके चारों ओर बाढ़ लगा देते हैं, या उसका मुख्य द्वार एक ही रखते हैं। उनके प्रत्येक गाँव में एक गढ़ी होती है, प्रायः वे अपने गामों के नाम के साथ गढ़, दुर्ग और ढाणा लगाना पसंद करते हैं। उनकी पंचायतों में जो दण्ड दिया जाता है वह मान-अपमान अथवा सैनिक दण्ड होता है, वह दण्ड में आर्थिक सजा बहुत कम देते हैं। उनमें सब से बढ़ा दण्ड अपमानित करने का है। कभी-कभी तो वे अपना फैसला मैदान में निकल कर युद्ध द्वारा करते हैं। शरीर की मजबूती, फुर्त्ती और सुडौलपन में भारत की सभी क्षत्रिय जातियों में वे श्रेष्ठ हैं। वैश्य जाति के शारीरिक गठन में उन्हें उत्तराधिकारी मानना महान भूल है। वह मिट सकते हैं किन्तु अपने शत्रु से झुकते नहीं। उन्होंने कभी-कभी मुट्ठी भर होते हुए भी बड़े-बड़े अनेकों शत्रुओं के दिमाग़ ठंडे किये हैं। गोलियों की बौछार, तीरों की सन्न् में कहीं भी जाटों को विचलित होते नहीं देखा गया। वे अपने उत्सव के दिनों में दंगल जोड़ कर, कुश्तियाँ लड़ कर, तलवार घुमा कर और दौड़-दौड़ कर खुशियाँ मनाते हैं। सलूने और दिवाली की अपेक्षा अक्षय तीज, विजय दशमी और देवोत्थान को वे अपना त्यौहार मानते हैं। दशहरे और होली के दिन उनके बच्चे खड्ग बाँध कर उछलते-कूदते हैं। आर्मस एक्ट के जमाने में भी लाठी ने उनका साथ नहीं छोड़ा है। वह माँ, बहिन और स्त्री की इज्जत के लिए और अपने से बड़ों की मान-रक्षा के लिए मर मिटने को सदैव तैयार रहते हैं। उनकी बस्तियों में गौ-वध उनके जिन्दे रहते हुए न कभी हुआ है और न अब वे बर्दास्त कर सकते हैं। क्रोध उन्हें कम आता है किन्तु बदला लेने की प्रवृत्ति उनमें उत्कृष्ट रूप में है। सिर पर भारी कसी हुई पगड़ी, शरीर में चुस्त अँगरखी, घुटने तक की दुहरी लाँग की सख्त बँधी हुई और ऊपर से लंगोट से कसी हुई धोती, बिल्कुल सैनिक जैसी उनकी पोशाक है। घोड़े, रथ, भारी नाल और मुग्दर उनके द्वार की शोभायें हैं। फिर कैसे मान लिया जाय कि जाट वैश्य हैं? जाटों ने न कभी अपने लिए

वैश्य होने व बनने की मनोवृत्ति प्रकट की है; वह सदैव अपने लिये क्षत्रिय ही कहते आये हैं, क्योंकि वे क्षत्रिय ही हैं । आज जातियों में अपने-अपने उत्थान के लिये हड़बड़ है, वे अपने लिये ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा वैश्य वर्ण में सम्मिलित होने की चेष्टा कर रही हैं । नाइयों का एक दल कहता है कि वे न्याई ब्राह्मण हैं, तो दूसरा कहता है चूँकि वे ठाकुर कहलाते हैं इसलिए क्षत्रिय हैं। इसी भाँति तेलियों की एक पार्टी अपने लिये साहु वैश्य और दूसरी पार्टी क्षत्रिय होने की बात कहती है । जाटों के अन्दर न कोई इस बात की तड़बड़ाहट है कि मत-विभिन्नता के वे असुक वर्ण में से हैं । उन्होंने समय पर अपने कर्त्तव्यों से बता दिया है कि वे क्या हैं । उन्हें मुगलों ने परखा, पठानों ने उनकी चासनी ली; अँग्रेजों ने पैतरे देखे । उन्होंने भी देहली, काबुल, भरतपुर, पुष्कर, पानीपत और जर्मनी तथा फ्राँस की भूमि पर अपने गर्म-गर्म लोहू की स्याही और कटार कलम से लिख कर सिद्ध किया है कि, "जाट क्षत्रिय हैं" । सी० वी० वैद्य के क्षत्रियों के मान-मर्दन करने हारे और उनकी स्त्री-बच्चों को कैद बनाने वाले महमूद गजनवी गाजर मूली की भाँति क्षत्रियों के इस भारत-भू पर मौजूद रहते हुए हिन्दुओं के कत्ल करने वाले तैमूर के दाँत इन्हीं जाटों ने तोड़े थे, जिन्हें वे वैश्य लिखते हैं। क़ाबुल के पठानों की निगाह में कोई भारतीय क्षत्रिय कौम खटकी थी तो यही जाट थे। हाँ जाटों ने विधर्मियों से रक्त-सम्बन्ध स्थापित करके उन्हें सुधारने का कोई क्षत्रियोचित कार्य नहीं किया !

जाटों के अन्दर जो कुल और गोत हैं उनमें से अनेकों ऐसे हैं जो उनका सम्बन्ध अति प्राचीन राजवंशों से जोड़ देते हैं, जैसे—पांडु, कैरु, गाँधार, जांदू आदि (इन गोतों के जाट क्रमशः पंजाब, यू० पी० और राजपूताने में पाये जाते हैं) कुछ गोत बिल्कुल राजपूतों से मिलते हुए भी उनमें पाये जाते हैं जैसे—परिहार, सोलंकी, तोमर, कछवाये, सेंगर, भट्टी आदि । मध्यकालीन क्षत्रियों के गोत्र भी मोरी, राठी, दीक्षित, दाहिमा, दहिया आदि जाटों में पाये जाते हैं। उनमें जवीनियां, सोंखिया, बन्सल, गर्ग, पालीवाल, धारीवाल, मीतल, ओसवाल, अग्रवाल, महेश्वरी किसी किस्म के वैश्यों के गोत्र नहीं मिलते हैं। फिर कैसे माना जाय कि वे वैश्य वर्ण में से हैं ? यह बिल्कुल बेबुनियाद बात होगी कि जाटों को क्षत्रिय के अलावा वैश्य या अन्य किसी वर्ण से माना जावे । यदि सी० वी० महोदय अथवा उनके विचार वाले महोदय जाटों के बीच में अधिक समय तक रहे होते तो उन्हें पूर्ण-तया मालूम हो जाता कि जाट क्षत्रिय हैं ।

नवीन हिन्दू-धर्म के आरम्भ से अब तक वे अपने पुरुषों से प्राप्त हुई रिवाजों को बिना किसी परिवर्तन के मानते चले आ रहे हैं । उनमें विधवा- विवाह की एक ऐसी रिवाज थी जो ब्राह्मणों और उनके पद-शिष्य अन्य लोगों की निगाह में खट-कती थी । इस रिवाज के कारण कहीं प्रत्यक्ष और कहीं अप्रत्यक्ष तौर से इन लोगों ने जाटों को शूद्र कहने तक की धृष्टता की। हालांकि "कमलाकर" ग्रन्थ में जिसमें

शूद्र जातियों का वर्णन है जाटों का नाम नहीं है। पर तोभी उन्हें जलील करने में इन लोगों ने कसर न छोड़ी। जाटों ने केवल इसी विश्वास से कि ब्राह्मणों के हाथ इस समय हिन्दू-समाज की बागडोर है, इसका अपमान करने से राष्ट्रीय कलह फैलेगा, उनके इस प्रचार को उपेक्षा की दृष्टि से ही देखा। वरना क्या कारण था कि जो बर्बर पठानों के सिर तोड़ सकते थे, ऐसे जाति गत अशांति फैलाने वाले लोगों के दिमाग़ की गर्मी न निकाल देते? श्री० सी० वी० वैद्य ने जाटों के विरुद्ध ऐसे भाव फैलाने वालों की कड़े शब्दों में भर्त्सना की है। वे लुहानों और जाटों के सम्बन्ध में लिखते हुए कहते हैं—These two races have still kept up their martial instinct but the historian can not but observe that the gathering of strength by Hindu orthodoxy led to the demoralizing of certain races which had an unfavourable influence on the future course of events.

अर्थात्—इन दोनों जातियों ने अपनी लड़ाकू प्रवृति को अब तक कायम रक्खा है परन्तु इतिहासज्ञ देख सकते हैं कि कट्टर हिन्दुत्व ने प्रभुता संचय करने में कुछ जातियों की सैनिक-शक्ति को नष्ट कर दिया, जिसका कि आगे की घटनाओं पर बुरा असर हुआ। (हिस्ट्री आफ़ मिडीवल हिन्दू इण्डिया पृ० १६१)

बौद्ध और जिन-काल में ब्राह्मणों को मकार और अक्षर म्लेच्छ तक कहा और लिखा गया था, फिर कोई अचंभे की बात नहीं है कि उन्होंने भी जाट, गूजर और अहीरों से जो शीघ्र ही उनके धर्म में (यथा समय) दीक्षित नहीं हुए शूद्र कह दिया। इस बात का वर्णन आगे के पृष्ठों में मिलेगा कि जो जाट बुद्ध और जैन दोनों धर्मों के अनुयायी थे और बौद्धों के ग्रन्थ जातक इन्हीं क्षत्रियों के लिखे हुए हैं। हमने पहिले अध्याय में यह भी बता दिया है कि कृषि करना और पशु पालना वैदिक काल में सभी वर्ण के आर्यों का कार्य था। वेद, रामायण, महाभारत के हवालों से यह बात हमने सिद्ध कर दी है। इसीलिये यहाँ उसे दुहराने की आवश्यकता नहीं। खेती करने, पशु पालने से ही कोई जाति शूद्र होती है तो दिलीप, कृष्ण, युधिष्ठिर और दुर्योधन सब के सब शूद्र थे और जाटों को भी अभिमान होना चाहिये कि वे काहिल, प्रमादी, दूसरे की कमाई खाने वाले और राष्ट्र के विघातक लोगों से ३६ (उल्टे) हैं।

अज्ञानांधकार सदैव नहीं रहता, प्रकाश होता है, झूठ को एक दिन परास्त होना पड़ता है। वह समय आ गया कि जाटों ने जिन बातों को आर्ष-विधान समझ कर अब तक पालन किया था, और जिनके कारण विरोधियों ने उन्हें धर्महीन वैश्य और शूद्र न मालूम क्या क्या कहा, अब वही विधान विरोधी लोग अपने समूह में प्रचलित करने को तड़बड़ा रहे हैं। वे विधवा विवाह को वैदिक मर्यादा, खेती और पशु पालन को शुभ कर्म, पर्दा बहिष्कार को मानवता,

अन्तर्जातीय विवाह को राष्ट्रीयता के पवित्र नामों से पुकारते हैं। उनमें से अधिक समझदार तो यहाँ तक कहते हैं कि 'भारत का भविष्य जाटों के ऊपर निर्भर है' "जाट भारतीय राष्ट्र की रीढ़ हैं।" 'भारत माँ की दृष्टि जाट जैसी कौमों की ओर लगी हुई है, इन बातों को एक तरफ भी रख दें तो भी यह चैलेंज के साथ कहा जा सकता है कि जाट वैदिक कालीन-क्षत्रियों के वास्तविक उत्तराधिकारी हैं।

यद्यपि जाट बौद्ध-धर्म को तत्काल छोड़कर वर्तमान हिन्दू में शामिल नहीं हुये फिर भी ब्राह्मणों ने उनके साथ इतनी तो कृपा की ही कि संस्कृत साहित्य के ग्रन्थों में उनके विरुद्ध जहर नहीं उगला, जब कि वे किसी छोटे से कारण पर अपने अनुयायी राजपूतों को ही "कर्ण कन्या" में जन्मा हुआ लिख गये। मालूम ऐसा होता है कि राजपूतों को भी उन्होंने कई सदी बाद कड़ी परीक्षा के बाद क्षत्रिय माना। वरना क्या कारण था कि कछवाहा राजपूतों को जो कि सारे राजपूतों में श्रेष्ठ समझे जाते हैं कच्छप घाति और कच्छपारि (अस्पृश्य) जाति लिखते।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि मौजूदा हिन्दू-धर्म जिसका कि आधार पुराण हैं भारत की राष्ट्रीयता को बड़ा विघातक सिद्ध हुआ है। इस्लाम और ईसाईयत ने भारत में हिन्दू-मुस्लिम-ईसाई प्रश्न खड़े करके राष्ट्र निर्माण में अवश्य बाधा डाली है किन्तु जब हम इस पौराणिक धर्म की जाति-विषयक व्यवस्थाओं पर दृष्टि डालते हैं, तो इसे राष्ट्र का हितैषी नहीं पाते। इसने बड़ी-बड़ी योद्धा जातियों को म्लेच्छ, यवन, शूद्र, व्रात्य करार देके आर्य जाति को बल-हीन कर दिया।

यथा—"**शनकैस्तु क्रियालोपादिमाः क्षत्रिय जातयः।**
वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणा दर्शनेन च ॥४३॥
पौंड्राकाश्चौड द्रिवडाः कम्बोजा यवनाः शकाः।
पारदा पल्हवाश्चीनाः किराता दरदा खशः ॥४४॥
मुखबाहू सपज्जानां या लोके जातयो वहिः।
मलेच्छ वाचार्य भाषा सर्वे ते दस्यवः स्मृताः" ॥४५॥ मनु।१०

अर्थात्—"पौन्ड्र, ओड, द्रविड़, काम्बोज, शक, यवन, पारद, पल्हव, चीना, दरद, खश यह क्षत्रिय जातियाँ हैं किन्तु ब्राह्मणों के दर्शन न करने और क्रिया लोप होने से वृखल हो गईं और म्लेच्छ कहलाने लगीं। (दूसरे) इस लोक (देश) से बाहर रहने के कारण यह—ब्राह्मण-क्षत्रिय होते हुए भी—चाहे ये आर्य-भाषा बोलती थीं चाहे म्लेच्छ भाषा, सब दस्यु कहलाईं।

विष्णु पुराण भी कहता है:—

"क्षत्रियाश्चते धर्म परित्यगाद् ब्राह्मणैश्च परित्यक्ता मलेच्छ तां ययुः"

अर्थात्—यह सब क्षत्रिय धर्म और ब्राह्मणों को त्याग देने से म्लेच्छ बन गये हैं। (वि० पु० ४-३)

इन उद्धरणों से हमारे कथन की पुष्टि हो जाती है कि जिस जाति ने भी ब्राह्मणों के प्रभुत्व को स्वीकार न किया "विप्र जनार्दनः" के सिद्धान्त की उपेक्षा की उनके दर्शन ही को पापमोचन का सिद्धान्त न समझा अथवा उनके बनाये नये नियम-विधानों को सिर माथे पर नहीं रक्खा वे ही म्लेच्छ, दस्यु और शूद्र होगये। सन्तोष यहीं पर नहीं हुआ, किन्तु इन वीर जातियों की उत्पत्ति का वर्णन भी बड़े ही घृणा जनक और अपमानकारी शब्दों में किया।

यथा—"झल्लो, मलश्च, राजन्याद् व्रात्यान्निच्छिवि रेव च।
नटश्च, करणश्चैव, खसो द्रविड एव च ॥२॥"

मनु०

अर्थात्—"व्रात्य क्षत्रिय से (समान जाति की स्त्री से) उत्पन्न झल, मल्ल, नट, करण, खश, निच्छवि, द्रविड़ कहलाते हैं।" ये सब राज वंश बौद्ध-काल में प्रजातंत्री शासक थे। *भगवान् महावीर स्वयम् लिच्छवियों में पैदा हुए थे।* इनमें से झाला तो अब तक शासक हैं जो राजपूतों में गिने जाते हैं। वास्तव में बात यही है कि यह सब व्यवस्थायें धार्मिक- विद्वेष में दी गई थीं, जो कई सदियाँ बीतने पर 'वेद वाक्य' मानी जाने लगीं। ज्यों ज्यों यह व्यवस्थायें प्रचारित और प्राचीन होती गईं राष्ट्रीय जीवन को धक्का लगता गया। प्रसंग से बाहर होते भी यह बात हम बता देना चाहते हैं कि जिन धर्म-ग्रन्थों में यह आज्ञा हैं, वे सब के सब ग्रन्थ या तो ईस्वी पूर्व ४०० से ईस्वी सन् ८०० के बीच के बने हैं, जो कि बौद्ध-काल कहा जाता है या उन ग्रन्थों में से कुछ पहिले के भी हों तो इस समय में ऐसी बातें उनमें घुसेड़ी गई हैं।

उत्पत्ति

जाट नाम कब से पड़ा और वे इस नाम को किस कारण से प्राप्त हुए? इस प्रश्न के उत्तर अनेक विद्वानों ने अपनी अपनी मति के अनुसार दिये हैं। किन्तु उनका ज्ञान इस प्रश्न के सुलझाने में पूर्णता को नहीं पहुँचा है। यह नहीं कहा जा सकता कि उनकी खोज शून्य सिद्ध हुई। किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि वे सोलहों आना सफल भी नहीं हुए हैं। जाट शब्द की छान-बीन करने वाले सज्जनों में से कुछेक के निष्कर्ष यहाँ देकर पश्चात् अपनी स्थापना एवं धारणा को प्रकट करेंगे।

सम्वत् १६२६ विक्रमी में पं० अंगद शास्त्री ने "जाठरोत्पत्ति" नाम की एक संस्कृत पुस्तक राजा साहब श्री गिरिप्रसादसिंहजी बेसमा (अलीगढ़) के प्रोत्साहन से तैयार की थी। "उसमें पुराणों की परसुराम और सहस्त्रार्जुन वाली कथा का उल्लेख कर के कहा गया है कि जब २१ बार के युद्ध से पृथ्वी क्षत्रिय विहीन हो *गई तो राज कन्याओं ने ब्राह्मणों से वीर्य दान लिया। क्षत्राणियों के पेट से पैदा* होने के कारण वह सन्तानें (संस्कृत में पेट को जठर कहते हैं) जाठर कहलाईं।" "और दक्षिण भारत को छोड़ कर उत्तर में हिमालय के अंचल में जठर देवकूट

पहाड़ में रहने लगीं।" यह बात इतनी अवैज्ञानिक, निराधार और वाहियात है कि इस प्रकाश के समय में इसे कोई सत्य नहीं मान सकता। न यह सत्य है कि पृथ्वी क्षत्रिय विहीन हुई थी। हाँ, उस समय सहस्राबाहु जैसे स्वतंत्र विचार के क्षत्रियों और ब्राह्मणों में संघर्ष अवश्य हुआ था। और उस समय जब कि ब्राह्मण-क्षत्रिय परस्पर विवाह कर लेते थे, तो उन राज कुमारियों के जठर से उत्पन्न होने वाले जाठर ब्राह्मण क्यों नहीं कहलाये? कोई भी क्षत्रिय-कन्या अपने कुल का नाश करने वाले को घृणा की दृष्टि से ही नहीं देखेगी, किन्तु उसके विरुद्ध युद्ध की तैयारी कर देगी। फिर सैकड़ों-हजारों राजकुमारियाँ अपने कुल-घातकों से सन्तान लेने की इच्छुक होतीं! और भी क्या वे ब्राह्मण मूर्ख थे जो अपने शत्रुओं की स्त्रियों में सन्तान पैदा करके उन्हें आजाद छोड़ देते? उस समय ब्राह्मण अपने धार्मिक कार्यों को करते थे, या 'साँड' छूटे हुए थे। पुराणों में ऐसी कथायें हैं तो वह केवल क्षत्रियों पर रौब डाँटने के लिये हैं कि वह क्षत्रियों का यहाँ तक सर्व नाश कर सकते हैं कि उनकी स्त्रियों को इन्हीं ब्राह्मणों से संतान लेनी पड़ेगी। उत्तर में जठर देवकूट कोई पर्वत है और उसका यह नाम इसलिये है कि वह महान हिमालय के मध्य (पेट) में है। पर्वत में रहने से कोई समुदाय पार्वत्य या पहाड़ी कहला सकता है, इसी भाँति जठर के इर्द-गिर्द रहने वाले मनुष्य जाठर कहला सकते हैं। किन्तु यह नितान्त असत्य है कि ब्राह्मणों के औरस जाठरों के जाने से उसका नाम जठर हो गया; क्योंकि भागवत के वर्णन के अनुसार जठर देवकोट का नाम उस समय भी प्रसिद्ध था, जब कि प्रथम मनु स्वायम्भू के पौत्रों में पृथ्वी का बटवारा हुआ था। उस समय बेचारे परशुराम के बाप-दादों का निशान था। व्याकरण के नियम के अनुसार मूल शब्द से जो नया शब्द बनता है वह उससे माप, तौल में भारी और बड़ा होता है। जैसे-पुत्र से पौत्र, मधु से माधुर्य आदि। इसी भाँति जाठरों के बसने से किसी स्थान का नाम बनता तो वह जाठर शब्द से लम्बा और भारी होता है, जैसे-जाठरा, जाठरिया, जाठरान, जाठरम आदि। जठर नाम जाठर के कारण (अथवा से) नहीं बना किन्तु जठर से जाठर बन सकता है। अतः यह कथन असत्य है कि जाठर लोगों के बसने से उस पहाड़ का नाम जठर हुआ। सारांश यह है कि जाठर लोगों की इस नाम की प्रसिद्ध जठर पर्वत के नाम से हो सकती है। जाठर वहाँ दूसरी जगह से आकर नहीं बसे। परशुराम का युद्ध भी उत्तर के क्षत्रियों से नहीं हुआ था, इसलिए यह पौराणिक अनुमान गलत है कि जठर पर्वत के निवासी साँड-ब्राह्मणों की सन्तान थे। जठर पर्वत के निवासी भारत की किन जातियों में सम्मिलित हो गये, इसका कोई भी इतिहास हमारे सामने नहीं है। फिर यही कैसे माना जा सकता है कि जाठर ही जाट हैं जब कि जाटों में, पाण्डु, कौरव, गान्धार मदेरना (मद्र) जाँदू, मोर्य, जतरान (जत्रि) सिन्धू आदि प्राचीन राजवंश भी पाये जाते हैं। अङ्गद शास्त्री भी यदि जाटों के इन प्राचीन राज वंशी गोतों का ख़याल कर लेते तो उन्हें "जाठरोतपत्ति" लिखने का कष्ट न करना पड़ता, न व्यर्थ की थोथी दिमाग़-पची करनी पड़ती। अङ्गद शास्त्री,

परशुराम की निःक्षत्रीकरण की पौराणिक कहानी के आधार पर उन सॉँड-ब्राह्मणों की सन्तान यदि "ब्रह्मक्षत्रियों" को बताते तो बहुत संभव था भारतीय इतिवृत से अपरिचित कोई यूरोपियन इतिहास लेखक उनके कथन का समर्थन कर देता। परन्तु उन्होंने बिना चूने सिलीमेण्ट के ईंटों से ही नदी का पुल बाँधने की चेष्टा की है। "पहाड़ खोद चूहा निकाला"। इस पुस्तक के वर्णन को प्रो० कालिकारंजन कानूनगो ने भी व्यर्थ ही बताया है।

महाभारत में साकला के "जटित्का" का वर्णन है। पूना के प्रसिद्ध इतिहासकार श्री चिन्तामणि विनायक वैद्य इन्हीं "जटित्काओं" को जाट मानते हैं। किन्तु "देशी राज्यों का इतिहास" के लेखक श्री सुखसंपतिराय भंडारी, "तवारीख राजस्थान" (उर्दू) के लेखक देवतास्वरूप भाई परमानंद इस राय से सहमत नहीं। "हिस्ट्री आफ़ जाट" के लेखक श्री कालिकारंजन कानूनगो और जदुनाथ सरकार भी वैद्यजी के मत के पोषक नहीं। महाभारत के कर्ण पर्व में "जटित्का" और सांकला नगरी का वर्णन युद्ध के समय कर्ण के मुख से कराया गया है। कर्ण, शल्य को उलाहना देता है कि—तेरे देश की स्त्रियाँ खड़ी होकर पेशाब करती हैं, वे ऊंट की तरह चिल्ला चिल्ला कर गीत गाती हैं। लहसुन के साथ गौ मांस भी तेरे देश के सांकलानगरी का एक जटित्का खाता है। वह बहुत सी स्त्रियों से रमण करता है। मैंने यह वर्णन एक ब्राह्मण के मुख से सुना है जो कि तेरे देश में गया था और उसका कोई सत्कार नहीं हुआ था, उसने कौरवों की सभा में यह वर्णन किया था। अरे शल्य ! ऐसे देश का स्वामी होकर भी तू मुझसे बढ़ बढ़ कर बातें करता है? श्री वैद्य जी ने जटित्का के सम्बन्ध के इस वर्णन को अति रंजित बताया है और इसी जटित्का को तथा उसके समूह को जाट माना है। हम कहते हैं वह वर्णन एक पुरुष का है जाति का नहीं। बहुत संभव है वह पुरुष "जरत्कारु" हो जो कि उस समय का एक ऋषि था और बहुत सी स्त्रियों का सहगमन उसकी आदत थी। वास्तव में तो कर्ण पर्व का यह वर्णन व्यास का लिखा हुआ नहीं इसे सौति ने जो कि महाभारत का तीसरा कर्त्ता कहा जाता है बढ़ाया है। सौति जैन-बौद्ध-काल में हुआ है[१]। यह हो सकता है कि महावीर के कुल "ज्ञातृ" के विरुद्ध अथवा जैन नरेश महाराज जरत्कुमार के विरुद्ध यह आक्षेप कर्ण द्वारा सौति ने कहलाया हो। आरंभ से महाभारत ग्रन्थ में बड़ा हेर फेर और वृद्धि हुई है। सी. वी. वैद्य के महाभारत मीमांसा के ही उदाहरण हम अपने कथन की पुष्टि में पेश करते हैं। महाभारत के ही कथनानुसार महाभारत के रचियता तीन हैं—(१) कृष्ण द्वैपायन व्यास (२) वैशम्पायन (३) सौति। भारतीय युद्ध के बाद व्यास ने 'जय' नाम के ग्रन्थ की रचना की। यह इतिहास व्यासजी के शिष्य वैशम्पायन ने जन्मेजय को सर्पसत्र के समय और वहाँ उस कथा को सुनकर सूत लोमहर्षण के पुत्र सौति उग्रश्रवा ने नैमिषारण्य में सत्र करने वाले ऋषियों को सुनाया।''''''इसमें सन्देह

१—महाभारत मीमांसा सी. वी. वैद्य लिखित देखो।

नहीं कि जो प्रश्नोत्तर वैशम्पायन और जन्मेजय के बीच हुए होंगे वे व्यासजी के मूल ग्रन्थ से कुछ अधिक अवश्य होंगे। इसी प्रकार सौति तथा शौनक ऋषियों के बीच जो प्रश्नोत्तर हुए होंगे वे वैशम्पायन के ग्रन्थ से कुछ अधिक अवश्य होंगे। सारांश व्यास के ग्रन्थ को वैशम्पायन और वैशम्पायन के ग्रन्थ को बढ़ाकर सौति ने एक लाख श्लोकों का कर दिया। इसके प्रमाण में सौति का यह स्पष्ट वचन है—

"एकं शत सहस्रं च मयोक्तम् वै निबोधित"

(आदि पर्व अध्याय १ श्लोक १०६)

बहुतेरे विद्वानों का कथन है कि 'महाभारत' के रचयिता तीन से भी अधिक थे। पर यह तर्क निराधार है क्योंकि उसके तीन नाम ही इस बात के सबूत हैं कि वह तीन से अधिक का बनाया हुआ नहीं। (जय, भारत, महाभारत)

इस ग्रन्थ का आरम्भ तीन स्थानों से होता है—मनु, आस्तिक और उपरिचर। राजा उपरिचर के आख्यान से (आदि पर्व अध्याय ६३) व्यास के ग्रन्थ का आरम्भ है। आस्तिक के आख्यान (आ० अ० १३) से वैशम्पायन के ग्रन्थ का आरम्भ है क्योंकि वैशम्पायन का ग्रन्थ सर्प सत्र के समय पढ़ा गया था। इसलिए उसमें आस्तिक की कथा का कहा जाना आवश्यक था। यह समझना स्वाभाविक है कि सौति के वृहत् महाभारत ग्रन्थ का आरम्भ मनु शब्द से अर्थात् प्रारम्भिक शब्द "वैवस्वत" से होता है।

मेकडोनल्ड वेबर आदि पाश्चात्य विद्वानों का कथन है कि उन श्लोकों की (व्यास जी के जय ग्रन्थ के) संख्या आठ हजार आठ सौ थी। "अष्टो श्लोक सहस्राणि, अष्टो श्लोक शताणिच। अहं वेद्मि शुको वेत्ति संजयो वेत्ति वानवा॥" परन्तु ये मत हमें ग्राह्य नहीं है क्योंकि समर्थन केवल तर्क के आधार पर किया गया है। वैशम्पायन के 'भारत' के श्लोकों की संख्या २४००० होगी। महाभारत में ही स्पष्ट कहा गया है कि—'भारत संहिता' २४००० श्लोकों की है और ७६००० श्लोकों में गत कालीन लोगों की कथाओं का वर्णन है। सौति के ग्रन्थ के विषय में यह बतलाने की आवश्यकता नहीं कि उसका विस्तार कितना है। सब लोग जानते हैं कि वैशम्पायन के 'भारत' में उपाख्यान आदि जोड़ कर उसे एक लाख श्लोकों का महाभारत बना डाला।

सौति ने अपने ग्रन्थ के १८ पर्व बनाये। यह पर्व-विभाग नया है और उसी का किया हुआ है। वैशम्पायन ने अपने 'भारत' में जो पर्व बनाए थे वे भिन्न हैं, छोटे हैं। उनकी संख्या सौ है। यह बात 'महाभारत' में दी हुई सौति की दी हुई अनुक्रमणिका से ही प्रगट है।

व्यास 'भारती' युद्ध के समकालीन थे। महाभारत के अनेक वर्णन उनके प्रत्यक्ष देखे हुए जान पड़ते हैं और उनमें कई बातें ऐसी हैं जिनकी कल्पना कोई कवि पीछे से नहीं कर सकता। वैशम्पायन व्यासजी के एक शिष्य थे। ये अर्जुन के पौत्र 'जन्मेजय' के समकालीन थे।

शक से तीन शताब्दी पहिले 'भारत' को 'महाभारत' का रूप हुआ। अशोक के समय अथवा उस समय के लगभग बौद्ध और जैन धर्मों ने सनातन धर्म पर जो हमला किया था उसका प्रतीकार करने के लिए सनातन धर्मावलम्बियों के पास कुछ भी साधन या उपाय न था, और उनके धर्म में भिन्न भिन्न मतों की खींचातानी हो रही थी। ऐसी अवस्था में सौति ने 'भारत' को 'महाभारत' का वृहत् स्वरूप दिया। सनातन धर्म के अन्तस्थ सब मतों की कथा कहानियों को एक स्थान में संग्रह करके तथा उनको उचित स्थान देकर 'भारत' ग्रन्थ की शोभा बढ़ाई। बस, भारत ग्रन्थ को 'महाभारत' बनाने का यही कारण है।

व्यास रचित भारत-ग्रंथ में श्रीकृष्ण की भक्ति अधिक है किन्तु सौति ने धर्मों की एकता के लिए शंकर, देवी, नारायण, आदि सभी देवताओं की कुछ पर्व जोड़ कर स्तुति जोड़ दी है।

बौद्ध और जैन लोग हिन्दुस्तान के प्रसिद्ध पुरुषों की कथाओं को अपने अपने धर्म के स्वरूप में मिला देने का जो यत्न कर रहे थे उसमें रुकावट डालने का काम सौति ने अपने महाभारत की कथाओं द्वारा अच्छी तरह से किया। कुछ चमत्कारिक कथाएँ भी सौति ने बढ़ाई हैं। यथा—"अंशावतारों की कथा, श्रीकृष्ण के रथ से उतरते ही रथ का जल जाना, योद्धाओं की भविष्य वाणी करना आदि।"
(महाभारत मीमांसा पे० ५ से २४ तक का सार)

इतना लम्बा हवाला देने से हमारा अभिप्राय यह है कि महाभारत ग्रन्थ में समय-समय पर काफी घटा-बढ़ी हुई हैं। जिस कारण से घटा-बढ़ी हुई वो भी ऊपर के हवाले से प्रगट हो जाता है। इससे हम इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि कर्ण पर्व में जरित्का और उसकी शाक्ला नगरी तथा वहाँ की स्त्रियों की निन्दा जो कर्ण के मुँह से कहलाई गई है वह सौति का उन लोगों के प्रति धार्मिक विद्वेष को प्रगट करता है। या तो वे लोग बौद्ध या जैन-धर्म के अनुयायी रहे होंगे अथवा गणतन्त्रवादी होंगे। हम यह दावे के साथ कहते हैं कि शल्य और कर्ण के समय में न शाक्ला नगरी थी न जरित्का जाति अथवा पुरुष। क्योंकि इतिहास हमें बतलाता है कि शाकल जिसे कि अब स्यालकोट कहते हैं बौद्ध-काल में मद्र देश की राजधानी थी और पहिली शताब्दी के आरम्भ से महाराज शाठिल और उसमें वाहन से लगा कर सातवीं सदी तक शालेन्द्र आदि जाट राजाओं का अधिपत्य रहा। महाभारत ग्रन्थ में बढ़ोतरी ई० पूर्व सन ३०० तक होती रही है जैसा कि महाभारत मीमांसा पृ० १६६ की इन लाइनों से साबित होता है—"महाभारत ग्रन्थ हिन्दोस्तान की उस परिस्थिति का पूरा-पूरा प्रतिबिम्ब है जो कि सन् ईसवी से पूर्व ३००० से ३०० वर्ष तक थी। ब्राह्मण-काल से यूनानियों की चढ़ाई की पूरी जानकारी यदि किसी एक ग्रन्थ में हो तो वह महाभारत ही है। इससे यह मालूम होता है कि महाभारत की रचना के अन्तिम काल में पञ्जाब के बौद्ध लोगों को अन्य लोगों की निगाह से गिराने के लिए यह झूठी कथा गढ़ी गई, वरना ठीक युद्ध के समय कर्ण

और शल्य में जो कि एक दूसरे के साथी थे और एक दूसरे का उस समय भला भी इसी में था कि वो प्रेम के साथ दोनों मिल कर शत्रु का मुकाविला करते पर उस समय उनमें जो जली-कटी बातें हुई हैं वह बिल्कुल अप्रासंगिक हैं।

जैन-ग्रन्थों में हमें एक ओर जरित्का नाम से मिलते-जुलते नाम वाले महाराज जरत्कुमार का वर्णन मिलता है जो कि जैन-धर्म का अनुयायी था। यह भी हो सकता है कि उसके ही विरुद्ध महाभारत में ऐसे आक्षेप किये गए हों! जैन हरिवंश पुराण में महाराज जरत्कुमार का वर्णन इस प्रकार है—वसुदेव की अनेक रानियों में से एक जरा नाम की रानी भी थी। उसके दो पुत्र थे—जरत्कुमार और वाह्लीक। यादवों का नाश होने के पश्चात् उनके वंश में जरत्कुमार ही बचा था। पाण्डवों ने उसी को गद्दी पर बिठाया (किन्तु हिन्दू-पुराण और ग्रन्थ मानते हैं कि यादवों में 'उग्र' बचा था और उसे ही पाण्डवों ने मथुरा और द्वारिका का राजा बनाया था)। जिस समय उग्र शासन के धारक राजा जरत्कुमार ने पृथ्वी का शासन किया उस समय उसके प्रताप से समस्त राजा वस हो गए, प्रजा उससे बड़ा प्रेम प्रगट करने लगी और परम हर्ष को प्राप्त हुई। राजा जरत्कुमार की पटरानी कलिङ्गराज की पुत्री थी और उससे अति सुखदायी राज-कुल की ध्वजा-स्वरूप 'वसुध्वज' नाम का पुत्र हुआ। हरिवंश का शिरोभूषण महा व्यवसायी जिस समय कुमार वसुध्वज युवा हुआ उस समय राजा जरत्कुमार ने राज्य तो वसुध्वज को दिया और आप वन को चल दिया। कुछ काल के पश्चात् राजा वसुध्वज के चन्द्रमा के समान प्रजा को प्रिय पराक्रम में राजा वसु की तुलना करने वाला—'सुनवसु' (सुवसु) नाम का पुत्र हुआ। सुवसु के कलिङ्ग देश की रक्षा करने वाला 'भीमवर्मा' हुआ। उसके वंश में और भी बहुत से राजा हुए। पश्चात् उसी वंश का भूषण-स्वरूप (कपिष्ट) नामक राजा हुआ। उसका पुत्र 'अजातशत्रु', अजातशत्रु का पुत्र—शत्रुसेन, उसका जितारि और जितारि का पुत्र राजा जितशत्रु हुआ। इसी जितशत्रु राजा को भगवान् महावीर के पिता सिद्धार्थ की छोटी वहिन का विवाह हुआ। ये समस्त पृथ्वी में प्रसिद्ध हुआ। भगवान् महावीर को उपदेश करते देख राजा जितशत्रु को भी संसार से उदासीनता हो गई। वो भी समस्त पृथ्वी का त्याग कर दिगम्बर दीक्षित हो गए।

ऊपर के वर्णन से यह मालूम होता है कि जरत्कुमार और उस के साथी अथवा सन्तान के कोई लोग कलिङ्ग देश में विवाह सम्बन्ध होने के उपरान्त उत्तर भारत को छोड़ कर के उधर ही चले गए थे। जरत्कुमार का समय भी महाभारत-कालीन ही है और उसे किसी कारण से यादवों ने अलग कर भी दिया था। अलग करने का कारण जैन हरिवंश पुराण में यह बतलाया गया है कि 'द्वीपायन जब क्रोधवश द्वारिका को भस्म कर देगा तो उसके बाद कृष्ण जर-त्कुमार के बाण से मारा जायगा। यद्यपि जरत्कुमार कृष्ण का भाई था फिर भी इस अनिष्ट से बचने के लिए वह द्वारिका को छोड़ गया। क्योंकि उसे बताया

गया था कि यह अनिष्ट बारह वर्ष के भीतर ही होने वाला है।' (जैन हरिवंश पुराण सर्ग ६१) सम्भव है कि जरत्कुमार जाकर के पंजाब में रहा हो और इसी के चरित्र का बहुत पीछे के समय में सौति ने हवाला देकर के पंजाब के तत्कालीन लोगों को बदनाम करना चाहा हो। यदि वास्तव में सौति ने इसी जरत्कुमार का जिकर किया है जैसा कि कर्ण पर्व के श्लोकों से भी किसी एक पुरुष के चरित्र का ही भान होता है तो हम कहेंगे कि सी० वी० वैद्य जैसे विचार के लोगों ने यह धारणा कर के कि जरित्का ही जाट हैं महान् भूल की है। हमें ऐसा भी मालूम होता है कि जरत्कुमार से कई पीढ़ी आगे चल कर के (एक दर्जन से भी अधिक) जितारि और जितशत्रु नाम के राजा हुए हैं। जाटों के जट्ट, जिट नामों के साथ ही जित नाम भी आता है। क्या यह संभव नहीं कि जरत्कुमार के वंशजों ने जितारि और जितशत्रु नाम जाटों से शत्रुता रखने के कारण रखे ? और यह शत्रुता शायद उस समय जाकर मिटी जब कि ज्ञातृवंशी (कुछ लोगों ने ज्ञातृ को ही आगे चल कर जात अथवा जाट माना है—ले०) भगवान् महावीर ने अपनी छोटी बहिन का विवाह सम्बन्ध इन लोगों (जितशत्रु) के साथ कर दिया, जो कि पीछे जाकर के जरत्कुमार के वंशज भगवान् महावीर के अनुयायी हो गये।

जरित्का के ऊपर दिये हुए हमारे उल्लेखों से यह बात भली प्रकार सिद्ध हो जाती है—(१) महाभारत का वर्णन जरित्का के सम्बन्ध में भारतीय युद्ध से या तो पीछे का जोड़ा हुआ है या यह इसी जरत्कुमार (जैन इतिहास उल्लिखित) के सम्बन्ध में है। (२) महाभारत में ऐसे वर्णन काफी हैं जो बौद्ध और जैन-धर्म से घृणा उत्पन्न कराने के लिए लिखे गये हैं। (३) महाभारत के उपाख्यान और कथायें यथा समय और यथा आवश्यकता अनेक बार में लिखी गई हैं। (४) सी० वी० वैद्य जैसे महानुभावों ने एक व्यक्ति को जिसका कि महाभारत में वर्णन है जाति मान कर धोखा खाया है। (५) जरित्का शब्द का जितना जरत्कुमार से सम्बन्ध है उतना 'जाट' शब्द से नहीं। (६) भागवत् आदि ग्रन्थों में कृष्ण के मारने वाले को व्याध नाम दिया है। जैनियों के कथनानुसार भी जरत्कुमार जरा नाम की भीलनी का लड़का था। महाभारत में उल्लिखित जरित्का का आचरण तथा खान पान भील और व्याधों जैसा हो सकता है। ये दलीलें और निष्कर्ष सिद्ध करते हैं कि जाट और जरित्का का कोई सम्बन्ध नहीं। खेद तो इस बात का है जो सी० वी० वैद्य जाटों को वैदिक विश (वैश्य) मानते हैं वही उन्हें लहसुन और गोश्त खाने वाले अवैदिक आचरण वाले लोगों में मानने को तैयार हो जाते हैं! क्या वैद्यजी के वैदिक विश (वैश्य) मांस और लहसुन खाने वाले तथा असभ्य आचरणी थे ? या वैद्यजी भी विधर्मी इतिहासकारों की भाँति यह मानते हैं कि वैदिक-कालीन सभी आर्य (ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य, शूद्र) गो-मांस भक्षी थे। बौद्ध और जैन-धर्म तो पशुहिंसा तथा मांस-भक्षण के पूर्ण विरोधी थे जिनसे कि जाटों का कुछ काल तक सम्बन्ध रहा है। जाटों में आज भी जब कि

भारतवर्ष की प्रायः सभी क्षत्रिय जातियों में मांस भक्षण बुरा नहीं समझा जाता थोड़े से फौजी जाटों को छोड़ कर के सभी जाट मांस-भक्षण को पाप समझते हैं। वैद्यजी जैसे विचार के लोगों की भ्रम पूर्ण धारणा के दूर कर देने के लिए हमारी दलीलें और निष्कर्ष काफी होंगे।

कुछ लोग 'जाट' शब्द की उत्पत्ति का इतिहास इस तरह से मानते हैं कि— *"महाभारत युद्ध के पश्चात राजसूय यज्ञ के समय पर भारत के सभी राजाओं ने महाराज युधिष्ठिर को ज्येष्ठ की पदवी दी थी। उन्हीं के वंश के लोग आगे चल कर के 'ज्येष्ठ' से 'जाट' कहलाने लगे।"* कुछ किम्बदन्तियाँ ऐसी भी हैं कि—ज्येष्ठ की पदवी महाभारत से पहले भगवान् कृष्ण को मिली थी। यह वही दिन था जिस दिन कि शिशुपाल का उन्होंने बध किया था। जहा जाता है इसी दिन से भगवान् कृष्ण ने भविष्य में शस्त्र ग्रहण न करने की प्रतिज्ञा की थी और इसी प्रतिज्ञा के कारण उन्होंने महाभारत में शस्त्र धारण नहीं किया था। बहुत समय बीतने पर कृष्ण के साथी और वंशज यादव लोग दो दलों में विभक्त हो गए। एक वे जो अपने लिए 'यादव' ही कहते रहे और दूसरे वे जो ज्येष्ठ के अपभ्रंश से जाट कहलाने लगे।

यह सत्य है कि जाटों में युधिष्ठिर वंशी और कृष्ण वंशी दोनों ही तरह के लोग शामिल हैं। पंडित लेखरामजी आर्य मुसाफिर ने 'रिसालाजिहाद' में जाट शब्द के यदु अपभ्रंश जादू, जाद, जात और जाट बतलाया है। कर्नल टाड ने भी इस बात को माना है कि जाट यादव हैं। मिस्टर विल्सन साहब ने भी टाड की राय को दाद दी है। मि० नेशफील्ड सा० जो भारतीय जातीय-शास्त्र के एक अद्वितीय ज्ञाता माने जाते हैं लिखते हैं कि:—*"जाट जदु के वर्त्तमान हिन्दी उच्चारण के सिवा कोई दूसरा शब्द नहीं है, यह वही जाति है जिसमें कृष्ण पैदा हुए थे।"* (The word Jat is nothing more than the modern Hindi pronounciation of Yadu or Jadu the tribe in which Krishna was born.) यदु और ज्येष्ठ से जाट शब्द बन गया। भाषा शास्त्र के अनुसार इसमें कोई एतराज नहीं हो सकता और यह कल्पना तथा धारणा बहुत अंश तक सही भी है। युधिष्ठिर और कृष्ण दोनों ही चन्द्रवंशी राजा हैं किन्तु जाटों में कुल अथवा गोत्र सूर्य वंश के भी पाये जाते हैं। या तो वे किन्हीं खास कारणों से जाटों में शामिल हुए या जाट शब्द की रचना का ऊपर वाली युक्ति से मिलता-जुलता कोई दूसरा इतिहास है। यह प्रमाणिक बात है कि कोई भी जातियाँ या राजवंश या तो राजनैतिक कारणों से एक दूसरे में मिलते हैं या धार्मिक कारणों से। एक तीसरा कारण आकस्मिक क्रान्तियों का भी है। सूर्यवंशी और चन्द्रवंशी दोनों प्रकार के राज्यवंशों का जाट शब्द सन्निहित हो जाने का जो इतिहास है वही जाट शब्द की व्युत्पत्ति का भी है। इस सम्बन्ध में हमारी जो स्थापना है उसे हम आगे प्रगट करेंगे।

एक मनोरंजक कथा जाटों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में और भी कही जाती है। वह इस तरह से है कि:—"महादेवजी के श्वसुर राजा दक्ष ने यज्ञ रचा और अन्य प्रायः सब देवताओं को तो यज्ञ में सम्मिलित होने का निमन्त्रण दिया, पर न तो महादेवजी को ही बुलाया और न अपनी पुत्री सती को ही निमन्त्रित किया। पिता का यज्ञ समझ कर सती बिना बुलाये हुए ही पहुँच गई किन्तु जब वहाँ उसने देखा कि यज्ञ में न तो उनके पति का भाग ही निकाला गया है और न उसका ही सत्कार किया गया इसलिये उसने वहीं प्राणान्त कर दिया। महादेवजी को जब यह समाचार मिला तो उन्होंने दक्ष और उसके सलाहकारों को दण्ड देने के लिये अपनी जटा में से 'वीरभद्र' नामक गण उत्पन्न किया। वीरभद्र ने अपने अन्य साथी गणों के साथ आकर राजा दक्ष का सर काट लिया और उसके साथियों को भी पूरा दण्ड दिया। यह कथा किम्वदन्ती के रूप में ही नहीं रही है किन्तु संस्कृत श्लोकों में इसकी पूरी रचना की गई है जो 'देवसंहिता' के नाम से है१। उस पुस्तक में लिखा है कि विष्णु ने आ करके शिवजी को प्रसन्न करके

१—देवसंहिता के कुछेक श्लोक निम्न प्रकार हैं:—

पार्वत्युवाचः—

भगवन् सर्व भूतेश सर्व धर्म विदांवरः।
कृपया कथ्यतां नाथ जटानां जन्म कर्मजम् ॥१२॥

अर्थ—हे भगवन्! हे भूतेश! हे सर्व धर्म विशारदों में श्रेष्ठ! हे स्वामिन्! आप कृपा करके मेरे ताईं जट जाति का जन्म एवं कर्म कथन कीजिये ॥१२॥

का च माता पिता ह्येषां का जाति वद किंकुलं।
कस्मिन् काले शुभे जाता प्रश्नानेतान वद प्रभो ॥१३॥

अर्थ—हे शंकरजी! इनकी माता कौन है, पिता कौन है, जाति कौन है, किस काल में इनका जन्म हुआ है? ॥१३॥

श्रीमहादेव उवाचः—

श्रणु देवि जगद्वन्दे सत्यं सत्यं वदामिते।
जटानां जन्मकर्माणि यन्न पूर्वं प्रकाशितं ॥१४॥

अर्थ—महादेवजी पार्वतीजी का अभिप्राय जान कर बोले कि हे जगन्मात भगवती! जट जाति का जन्म एवं कर्म मैं तुम्हारे ताईं सत्य-सत्य कथन करता हूँ कि जो आज पर्यन्त किसी ने न श्रवण किया है और न कथन किया है ॥१४॥

महा बला महा वीर्या महासत्य पराक्रमा।
सर्वाग्रे क्षत्रिया जटादेव कल्पा दृढ़ व्रताः ॥१५॥

अर्थ—शिवजी बोले कि जट महा बली हैं, महा वीर्यवान् और बड़े पराक्रमी हैं। क्षत्रिय प्रभृति क्षितिपालों के पूर्व काल में यह जाति ही पृथ्वी पर राजे-महाराजे रहीं। जट जाति देव-जाति से श्रेष्ठ है; और दृढ़ प्रतिज्ञा वाले हैं ॥१५॥

उनके वरदान से दक्ष को जीवित किया और दक्ष और शिवजी में समझौता कराने के बाद शिवजी से प्रार्थना की कि महाराज आप अपने मतानुयायी 'जाटों' का यज्ञोपवीत संस्कार क्यों नहीं करवा लेते ? ताकि हमारे भक्त वैष्णव और आपके भक्तों में कोई झगड़ा न रहे। लेकिन शिवजी ने विष्णु की इस प्रार्थना पर यह उत्तर दिया कि मेरे अनुयायी भी प्रधान हैं।"

जटाओं से उत्पन्न हुए वीरभद्र आदि गणों को जाट मान लेने की कथा देखने में अवैज्ञानिक और अविवेक पूर्ण जान पड़ती है। किन्तु ये नितान्त की निराधार भी नहीं है। यह ठीक है कि जाट जटाओं से उत्पन्न नहीं हुए और न ऐसा होना संभव है किन्तु इसके अन्दर जो ऐतिहासिक तत्व छिपा हुआ है वह यह है कि पंजाब में शिवि नाम की एक जाति थी। उसकी शासन प्रणाली गणतन्त्री थी। पुराणों में गणेश की जो कथा है वह ऐसे ढंग से वर्णन की गई है कि गणेश की वास्तविकता पर परदा पड़ जाता है। तुलसीकृत रामायण में तो गणेश के सम्बन्ध में गुसाईं बाबा एक बड़ी मजेदार बात लिख गये हैं। उन्होंने शिवजी के विवाह में जो कि उनका पुत्र कहा जाता है गणेश की पूजा कराई है। और इस बात का ख़याल होने पर कि बाप से पहिले बेटा कहाँ से आ गया गुसाईं बाबा लिखते हैं कि देवों के सम्बन्ध में ऐसी शंकायें करना उचित नहीं। हमारी हिन्दुओं के पुराणों की कथाओं के कथनानुसार यह धारणा हो गई है कि शिवजी का लड़का एक गणेश था जिसके हाथी जैसे नाक, कान और सिर थे। वर्णन भी एक जगह ऐसा ही आता है कि गणेश का वास्तविक सिर काट कर उस पर हाथी का सिर स्थापित कर दिया। हिन्दू चित्रकार गणेश की जो मूर्ति बनाते हैं वह बड़ी बेढब और हास्यास्पद होती है। यह सब बातें गणेश की वास्तविकता पर आवरण पड़ जाने के कारण लोक में मानी जाने लगी हैं। गणेश, शिवि, गणों का जो वैज्ञानिक और राजनैतिक इतिहास होना चाहिये वो यह है—जैसा कि ऊपर लिख चुके हैं शिवि

सृष्टेरादौ महामाये वीर भद्रस्य शक्तितः।
कन्यानां दक्षस्य गर्भे जाता जट्टा महेश्वरी ॥१६॥

अर्थ—शंकरजी बोले हे भगवति ! सृष्टि के आदि में वीरभद्रजी की योगमाया के प्रभाव से उत्पन्न जो पुरुष उन्हीं द्वारा और ब्रह्मपुत्र दक्ष महाराज की कन्या गणी से जट्ट जाति की उत्पत्ति होती भई, सो आगे स्पष्ट होवेगा ॥१६॥

गर्व खर्वोत्र विप्राणां देवानां च महेश्वरी।
विचित्रं विस्मयं सत्वं पौराण कै साङ्गीपितं ॥१७॥

अर्थ—शंकरजी बोले हे देवि ! जट्ट जाति की उत्पत्ति का जो इतिहास है सो अत्यन्त आश्चर्यमय है। इस इतिहास में |विप्र जाति एवं देव जाति का गर्व खर्व होता है। इस कारण इतिहास वर्णनकर्ता कविगणों ने जट्ट|, जाति के इतिहास को प्रकाश नहीं किया है। हम उस इतिहास को तुम्हारे पास यथार्थ रूप से वर्णन करते हैं ॥१७॥

पंजाब में एक प्रजातन्त्री राज्यवंश अथवा जाति थी। उसकी सभा के मेम्बरों के लिये गण, और सभापति या सरदार के लिये गणपति एवं गणेश कहते थे।

वेदों में गण शब्द का प्रयोग सैनिक समूह के लिये किया गया है जैसा कि ऋग्वेद के इस मंत्रभाग सूत्र से सिद्ध होता है—'व्रातं व्रातं गणम् गणम्'। (ऋ० ३-२६-६) गण का संक्षिप्त अर्थ समूह होता है। इस तरह गणतन्त्र का अर्थ समूह द्वारा संचालित राज्य हुआ। सारांश यह है कि गणराज्य उस शासन प्रणाली को कहते थे जो बहुत से लोगों के समूह (पार्लीमेंट) के द्वारा होती थी। बौद्ध ग्रन्थ महा वग्ग में "गण पूरकोवा भविस्सामीति" शब्द आता है जिससे मालूम होता है कि गणों की राजसभा में संख्या पूर्ति एवं कोरम देखने वाला भी एक अधिकारी होता था। राजसभा में आने वाले सदस्य 'गण' इसलिये कहलाते थे कि वो किसी कुल, परिवार अथवा समूह की ओर से गणना किये हुए (निर्वाचित किये हुए) होते थे। कहीं|संघ और गण का एक ही अर्थ लिया गया है परन्तु संघ शब्द से राज्य का और गण शब्द से शासन प्रणाली का बोध होता है। अनेक संस्कृत ग्रन्थों में गण और संघ शब्दों का प्रयोग हुआ है। पाणिनी ने अपने व्याकरण में "संघोद्धौ गण प्रशंसयोः" नारद स्मृति में "आदि शब्दो गण संघादि समूह विपक्षया" शब्द आते हैं। इसके सिवा 'काशिका' 'अमर कोश' 'महाभारत' 'कौटिल्य का अर्थ शास्त्र' और स्वयं वेदों तक में गण और संघ शब्द आये हैं। इससे सिद्ध होता है कि गणतन्त्र-प्रणाली भारत में अति प्राचीन समय से प्रचलित थी। बौद्ध-ग्रन्थ गणतन्त्र के वर्णनों और नियमों से भरे पड़े हैं। बौद्धों के सब से पुराने ग्रन्थ 'पाली पिटक' तथा मज्झमनिकादे, महावग्ग, अवदान शतक में संघ और गणों का काफी वर्णन पाया जाता है। बुद्ध के जमाने में भारतवर्ष में लगभग ११६ प्रजातन्त्र थे। गणों के सम्बन्ध में अधिक परिचय करा देने के लिए शान्ति पर्व १०७ वें अध्याय के उद्धरण हम यहाँ देते हैं। युधिष्ठिर भीष्म से पूछते हैं कि गणों के सम्बन्ध में आप मुझे यह बताने की कृपा कीजिये कि किस प्रकार वर्द्धित होते हैं और किस प्रकार शत्रु की भेद नीति से बचते हैं? शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने की और अपने मित्र प्राप्त करने की उनकी क्या तरकीबें हैं? वे अपने गुप्त मन्त्रों को बहुसंख्यक होते हुए भी किस तरह से छिपाते हैं? भीष्म ने युधिष्ठिर के प्रश्नों का उत्तर इस प्रकार दिया कि—लोभ और अमर्ष (द्वेष) दो मुख्य कारण ऐसे हैं जिनसे गणों में परस्पर वैर उत्पन्न होता है। इन ही से राजाओं के कुलों में भी वैर उत्पन्न होता है। पहिले गणों या कुलों में लोभ उत्पन्न होता है पश्चात् द्वेष और तब इन दोनों के कारण क्षय-हानि होती है जिससे एक दूसरे का विनाश हो जाता है। साम, दाम और विभेद के द्वारा तथा क्षय, व्यय, और भय के दूसरे उपायों का अवलम्बन करके वे गुप्त-चर, गुप्त-मन्त्रणा और सैनिक बल की सहायता से एक दूसरे को दबाते हैं। जो अनेक गण अपना एक संघ बना लेते हैं उनमें इनहीं उपायों से विभेद उत्पन्न किया जाता है। विभेद हो जाने के कारण वे उदासीन हो जाते हैं। और अन्त में भय के वशवर्ती होकर

शत्रु के वश में हो जाते हैं। इस प्रकार विभेद उत्पन्न होने के कारण वे अवश्य विनष्ट होते हैं। अलग अलग हो जाने के कारण शत्रु उन पर सहज में विजय प्राप्त कर लेते हैं। अतः गणों को सदा अपनी संघ शक्ति को बनाए रखना चाहिये। संघात् बल के पौरुष से अर्थ की प्राप्ति होती है। और बाहरी लोग भी संघात-वृत्ति वालों से मैत्री करते हैं। गणों की इन सम्भावित हानियों को बताने के उपरान्त भीष्म ने युधिष्ठिर से इनकी विशेषताओं का इस प्रकार वर्णन किया है—

॥ श्लोक ॥

ज्ञान वृद्धाः प्रशंसन्ति शूस्रन्तः परस्परम् ।
विनिवृत्ताभिसन्धानाः सुख मेधन्ति सर्वशः ॥१६॥
धर्मिष्ठनि व्यवहाराश्च स्थापयन्तश्च शास्त्रतः ।
यथावत् प्रति पश्यन्तो, विवर्द्धन्ते गणोत्तमाः ॥१७॥
पुत्रान् भ्रातृन् विगृह्लन्तो विनयन्तश्च तान् सदा ।
विनीतांश्च प्रगृह्लन्तो विवर्द्धन्ते गणोत्तमाः ॥१८॥
चार मन्त्रविधानेषु कोष सन्निच मेषु च ।
नित्य युक्ता महा बाहो वर्द्धन्ते सर्व तोगुणाः ॥१६॥
प्राज्ञान शूरान महोत्साहान कर्मसु स्थिर पौरुषान् ।
मानयन्तः सदा युक्तान् विवर्द्धन्ते गणान्नृपः ॥२०॥
द्रव्यवन्तश्च शूराश्च शस्त्रज्ञाः शास्त्र पारगाः ।
कृच्छ्रा स्वापत्सु संभूढ़ान् गणाः संतारन्तिते ॥२१॥
क्रोधो भेदो भयंदण्डः कर्षणं निग्रहो वधः ।
नयत्यरिवशं सद्यो गणान् भरत सत्तम ॥२२॥
तस्मान्मान यितव्यास्ते गण मुख्याः प्रधानतः ।
लोक यात्रा समायत्ता भूयसी तेषु पार्थिव ॥२३॥
मंत्र गुप्तिः प्रधानेषु चारश्चारित्र कर्षण ।
नगणाः कृत्सनशो मंत्रं श्रोतु मर्हन्तिभारत ॥२४॥
गण मुख्यैस्तु संभूय कार्यं गण हितं मिथः ।
पृथग्गणस्य भिन्नस्य विततस्य ततोऽन्यथा ॥२५॥
अर्थाः युत्यवसीदन्ति तताऽनर्था भवंति च ।
तेषामन्योन्य भिन्नानां स्वशक्ति मनु तिष्ठताम् ॥२६॥

निग्रहः पण्डितैः कार्यः क्षिप्रमेव प्रधानतः ।
कुलेषु कलहा जाताः कुल वृद्धै रुपेक्षिताः ॥२७॥
गोत्रस्य नाशंकुर्वन्ति गणभेदस्य कारकम् ।
आभ्यंतरं भयं रक्ष्य मसारं बाह्यतो भयम् ॥२८॥
आभ्यंतरं भयंराजन् सद्योमूलानि कृन्तन्ति ।
अकस्मात् क्रोध मोहाभ्यां लोभाद्वाऽपि स्वभाव जात् ॥२९॥
अन्योन्य नाभिभाषन्ते तत् पराभव लक्षणम् ।
जात्या च सदृशाः सर्वे कुलेन सादृशास्तथा ॥३०॥
न चो द्योगेन बुद्धया वा रूपद्रव्येण वा पुनः ।
भेदाचैव पुरात्रा च भिद्यन्ते रिपुभिर्गणाः ॥३१॥
तस्मात् संघात मेवाहुर्गणानां शरणं महत् ॥३२॥

अर्थात्—अच्छे गणों में सब परस्पर एक दूसरे की सुश्रूषा करते हैं जिससे ज्ञान वृद्ध उनकी प्रशंसा करते हैं। वे एक दूसरे के साथ बहुत ही अच्छी रीति से व्यवहार करते रहने के कारण सब प्रकार का सुख प्राप्त करते हैं। जो उत्तम गण होते हैं वे शास्त्र-सम्मति धर्म पूर्ण व्यवहार स्थापित करने से प्रसन्न होते हैं। आपस में एक दूसरे के साथ अच्छा व्यवहार करते हैं। अच्छे गण इसलिए विवर्द्धित होते हैं कि वे अपने पुत्रों और भ्राताओं को ठीक मर्यादा से रखते हैं और सदा उन्हें विनयी बनने की शिक्षा देते हैं। और उन्हीं को ग्रहण करते हैं जो विनीत होते हैं। वे सदा अपने गुप्तचरों, सलाह और खजाने का सब काम ठीक तरह से करते रहने के कारण सदैव सर्व प्रकार से विवर्द्धित होते रहते हैं। अपने विद्वानों, शूरों, महान् उत्साहियों और कर्तव्यनिष्ठ रहने वाले पुरुषों का सदा उचित मान करते रहने के कारण विवर्द्धित होते रहते हैं। धनवान्, शूर, शास्त्रज्ञ, योद्धागण संकटों और कष्टों में पड़े हुए असहायों अर्थात् अपने सहयोगियों की सहायता करते हैं। क्रोध, भेद, भय, पारस्परिक विश्वास के अभाव, दण्ड, सैनिक आक्रमण, अत्याचार, निग्रह, पारस्परिक दमन और वध के कारण गण तुरन्त ही शत्रु के वश में हो जाते हैं। अतः गण के प्रधान के द्वारा अच्छे अच्छे गणों का मान होना चाहिए। लोक यात्रा या समाज के संचालन का अधिकार प्रायः उन्हीं के हाथ में होना चाहिए। गुप्त मंत्र या राजकीय मन्तव्यों को प्रगट न होने देने का कार्य गणों के प्रधानों के हाथ में रहना चाहिए। सारे गण लोग इन मन्त्रों को जानलें यह ठीक नहीं है। मुख्य गण एकत्रित होकर गणों के हित का कार्य करें। गणों में पृथकता और भिन्नता वृद्ध गति को उनकी दशा को ले जाती है। जब वे एक दूसरे से भिन्न या अलग हो जाते हैं और केवल अपनी व्यक्तिगत शक्ति पर ही निर्भर रहते हैं तब उनके यहाँ अर्थ के बजाय अनर्थ

हो जाता है। निग्रह अर्थात् दण्ड विधान का कार्य विद्वान के द्वारा होना चाहिए। यदि गणों के कुल में कलह उत्पन्न हो और कुलपति अर्थात् कुल की ओर से चुना हुआ गण उस ओर से उदासीन रहे तो वे गोत्र का नाश करते हैं और गण का भी भेद करते हैं। उन्हें भीतरी भयों से अपनी रक्षा करनी चाहिये। वाहरी भय तो कुछ नहीं बिगाड़ सकता। क्योंकि भीतरी भय तुरन्त ही जड़ को काट देता है। गणों में सब कुलों की समानता जाति की दृष्टि से एकसी है। उन लोगों में उद्योग वृद्धि या रूप के लालच से भेद नहीं उत्पन्न किया जा सकता। उनमें आपसी मन-मुटाव पैदा करने से ही भेद उत्पन्न हो सकता है। इसलिये गणों की रक्षा इसी में है कि वो संघ की शरण में रहें ।

ये वर्णन तो हुआ गणतन्त्र के सम्बन्ध में; इससे सहज ही जाना जा सकता है कि कुलों की ओर से निर्वाचित मेम्बरों को गण और उनकी सभा को संघ उनके अधिपति को गणों का अधिपति अर्थात् गणेश और गणपति कहते थे। उनके शासनतंत्र में सभी कुल समान समझे जाते थे। शिवि लोगों के यहाँ भी गणतन्त्र शासन प्रणाली थी। महाभारत में इसका नाम शैवल करके आया है। बौद्ध-ग्रन्थों ने इन्हें शिवि और पातञ्जलि ने 'शैव्य' लिखा है। सिकन्दर के साथी यूनानी लेखकों ने इसे शिबोई (Siboi) नाम से उल्लेख किया है। पीछे से पञ्जाब प्रान्तों को छोड़ ये लोग मालवा में जा बसे थे। सिकन्दर के समय में शिवि लोग मालवों के साथी थे। चित्तौड़ के निकट 'नगरी' नामक स्थान में इनके सिक्के पाये गए हैं। उन सिक्कों पर "मज्झिमकाय शिवि जन पदस" अङ्कित है। मध्यमिका (मज्झिमिका) इनकी राजधानी थी। हिन्दू पॉलिटी के लेखक श्री काशीप्रसाद जायसवाल लिखते हैं कि—ई० पू० पहली शताब्दी के बाद इनके अस्तित्व का कोई प्रमाण या लेख अभी तक नहीं मिला है। जाटों में एक बड़ा भाग शिवि गोत्री जाटों का है। "ट्राइब्स एण्ड कास्ट्स ऑफ दी नार्थ वेष्टर्न प्रॉविन्सेज एण्ड अवध" में मिस्टर डब्ल्यू कुर्क साहब लिखते हैं—(The Jats of the South-eastern divide themselves into two sections—Shivgotri or of the family of Shiva and Kashyapagotri.)

अर्थात्:—*"दक्षिणी पूर्वी प्रान्तों के जाट अपने को दो भागों में विभक्त करते हैं—शिवगोत्री या शिव के वंशज और कश्यप गोत्री।"*

इससे यह नतीजा तो नहीं निकालना चाहिये कि शिवि लोग ही जाट हैं। हाँ, यह अवश्य है कि शिवि लोग भी महान् जाट जाति का एक अङ्ग हैं। ऐसे प्रमाण मिलते हैं कि अनेक गण मिल करके एक संघ या लीग स्थापित कर लेते थे। क्षुद्रक और मालवों ने मिल करके एक संघ स्थापित किया था १। इसी तरह से शिवि लोग भी एक बड़े संघ 'जट' (पाणिनी ने जट का अर्थ संघ किया है) में मिल गये। और

१—हिन्दू राज्य-तन्त्र पेज १०८।

आज जब कि प्रजातन्त्र का जमाना नष्ट होगया तब से एक गोत्र के रूप में जाटों में विद्यमान हैं। बौद्ध-धर्म के अन्तिम काल तक भारतवर्ष में गणतन्त्र शासन प्रणाली मौजूद थी। ज्यों-ज्यों नवीन हिन्दू-धर्म और राजपुत्रों का उत्कर्ष होता गया, त्यों त्यों भारतवर्ष में एकतन्त्र शासन का जोर बढ़ता गया और प्रजातन्त्र घटते गए। यह भी हो सकता है कि यह शिव वंश के जाट शैव मतानुयायी भी रहे हों। और चूंकि आरम्भ में शैव और वैष्णव सम्प्रदायों में काफी विरोध रहा था उसी विरोध को तोड़ मरोड़ करके दक्ष के यज्ञ वाली कथा का सम्बन्ध जोड़ा गया हो। नवीन हिन्दू-धर्म की व्यवस्था के अनुसार गण-तन्त्रवादी अथवा जैन-बौद्ध-धर्मावलम्बी अनार्य म्लेच्छ और धर्म हीन संज्ञा से पुकारे ही जाते थे। यदि शिव जाति के सम्बन्ध में भी उनके धर्म-ग्रन्थों में इन्हीं शब्दों में याद किया हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। गणतन्त्रवादी कुछ समुदायों में से जब कुछ समूह हिन्दू-धर्म में सम्मिलित हुए हों तो बहुत सम्भव है कि उनके पूजनीय, और श्रद्धेय गणेश की पूजा को उनकी प्रसन्नता के लिए सम्मिलित कर लिया हो। हमारा कथन इस बात से भी पुष्ट होता है कि गणपति-पूजा का रिवाज महाराष्ट्र प्रान्त में अधिक है। और यह सर्व विदित बात है कि मराठे आरम्भ में गणतन्त्रवादी ही थे। पं० सातवलेकर ने मराठों को नागवंशी माना है। नाग एकतन्त्री न होकर प्रजातन्त्रवादी ही थे। हमारा प्रसंग सिर्फ जटा और जाट तक है। गणेश का इतना विस्तृत विवरण हमें इसलिए करना पड़ा है कि लोग शिवजी की जटा से जाटों की उत्पत्ति की अवज्ञानिक बात का विश्वास छोड़ करके वास्तविक इतिहास समझ लें।

पुराणों के अन्दर एक कथा और भी आती है कि—"शिवि नाम के एक राजा थे। उनकी दयालुता की चर्चा जब स्वर्ग में पहुँची तो देवराज इन्द्र और यम उसकी परीक्षा करने के लिये श्येन (बाज) और कपोत का रूप धारण करके उसके पास आये। श्येन ने कबूतर का पीछा किया। कपोत भागता हुआ शिवि की गोद में आकर छिपा। श्येन ने आकर शिवि से कपोत की याचना की और कहा कि यह मेरी भोज्य वस्तु है। मैं कई दिन से भूखा हूँ। आज मुझे यह कई दिन में दैवयोग से मिला है। यदि आप मुझे इसे न देंगे तो मेरे प्राण चले जायँगे। राजा ने कहा यह तो मेरी शरण में आ चुका है इसे तो दूंगा नहीं। लेकिन तू कोई ऐसी युक्ति बता जिससे तेरे भी प्राण बच जाय। श्येन ने कहा यदि आप कबूतर के बराबर अपना मांस तोल कर दें तो मैं मान जाऊँगा। राजा ने तुला मंगवाई और एक पलड़े में कबूतर को रखकर दूसरे में अपना मांस काट कर रखा। पर सारे शरीर का मांस काट काट कर चढ़ा देने पर भी वह पलड़ा न उठा। अन्त को राजा स्वयं पल्ले में बैठने लगा। राजा की इस धार्मिक पराकाष्ठा को देखकर इन्द्र प्रगट हो गया और राजा के शरीर को पूर्ववत् बना दिया।" यही कथा बौद्ध-धर्म ग्रन्थ शिविजातक में इस तरह से लिखी है कि—बोधिसत्व ने एक समय शिवि देश में एक राजा का जन्म लिया (राजा से अभिप्राय यहाँ गण पति का है। ले०)। राजा बड़ा उदार और

दानशील था। उसने अपने राज्य में अनेक दानशाला, धर्मसत्र स्थापित किये थे। कोई याचक राजा के पास से विमुख नहीं फिरता था, दीन दुखियों के लिये वो दिल खोलकर दान देता था। उसकी ऐसी उदारता को देखकर देवराज इन्द्र का आसन हिल गया। वह राजा के दान की परीक्षा करने के लिये अन्धे ब्राह्मण का रूप धर के उसकी राजधानी में गया। राजा अपनी सभा में बैठा था। अन्धे ब्राह्मण ने कहा—

शक्रस्यशक्र प्रतिमानुशिष्ट्यात्वां याचितुं चक्षुरिहा गतोऽस्मि।
संभावनां तस्य ममैव चाशां चक्षुः प्रदानात्सफली कुरुष्व॥

अर्थात्—इन्द्र की आज्ञा से मैं आपसे आँख मांगने आया हूँ। मुझे आशा है और उसे संभावना है कि आप उन्हें सफल कीजियेगा। राजा अपनी आँख निकाल कर देने को तैयार हो गया। मंत्रियों के लाख मना करने पर भी वैद्य से अपनी एक आँख निकलवा कर उसे देदी। ब्राह्मण ने वो आँख अपनी आँख के स्थान में लगा ली। राजा उसे एक आँख से देखते हुए देखकर बड़ा प्रसन्न हुआ और दूसरी आँख भी उसे देदी। कुछ दिन के बाद अन्धे राजा के पास इन्द्र आकर के कहने लगा—राजा जो चाहो मुझ से मांग लो। राजा ने कहा—

"प्रभूतं मे धनंशक्र शक्तिमच्च महत् बलम्।
अंध भावात्त्विदानीं मे मृत्यु रेवाभि रोचते॥"

अर्थात्—"मेरे पास बल, धन, सब है किन्तु अंधा होने के कारण मैं याचकों का मुंह नहीं देख सकता अतः मृत्यु मांगता हूँ।" इन्द्र ने कहा—"धन्य है! इस दशा को पाकर भी आप याचकों को देखना चाहते हैं।" राजा ने इन्द्र की बातों पर क्रोध-प्रकट करते हुए कहा—

"तदेव चेतर्हि च याचकानां वचांसि याञ्चा नियताक्षराणि।
आशीर्मयानीव मम प्रियाणि यथा तथो देतु ममैक चक्षुः॥"

अर्थात्—"यदि मुझे याचकों का आशीर्वाद प्रिय हो तो मेरी एक आँख ज्यों की ज्यों अभी हो जाय।" यह कहते ही राजा की आँख पूर्ववत् हो गई। पुनः राजा ने कहा—

"यश्चापिनां चक्षुरयाचतैकं तस्मै मुदाद्धेनयने प्रदाय।
प्रीत्युत्सवैकाग्रमतिर्यथासं द्वितीयमप्यक्षि तथा ममास्तु॥"

अर्थात्—"यदि एक आँख के माँगने पर मैंने अपनी दोनों आँख हर्ष पूर्वक देदी हों तो मेरी दूसरी आँख भी ज्यों की त्यों हो जायँ।" राजा का कहना था कि दूसरी आँख जैसी थी वैसी ही हो गई। फिर सारी पृथ्वी काँप उठी, आकाश में

देवता दुंदुभी बजाने लगे। देवराज इन्द्र राजा को यह आशीर्वाद देकर साधु साधु कह सुरलोक सिधारे—

"ननो न विदिति राजस्तव शुद्धाशयाशयः।
एवं नुप्रतिदत्ते ते मयमे नयने नृप ॥
समन्ताद्योजन शतं शैलेरपि तिरस्कृतम्।
दुष्टुम व्याहता शक्ति भविष्य त्यनयोश्चते॥"

अर्थात्—"हे राजन्! आपका आशय मुझसे छिपा नहीं है इसीलिये मैं आपको यह दो आँखें देता हूँ। आप सौ योजन तक पर्वत की ओट होते हुए भी देखेंगे और आपकी देखने की शक्ति अव्याहत होगी[१]। महाराज शिवि का यह स्थान पेशावर से सात दिन की यात्रा के पश्चात् सिंध नदी के उस पार था[२]। यहाँ राजा अशोक ने इनकी स्मृति के लिये एक विहार और एक स्तूप बनवाया था। जातक ग्रन्थों से यह भी मालूम होता है कि राजा शिवि भगवान् बुद्ध से पूर्व पैदा हुए थे। इस तरह से शिवि जाति का अस्तित्व बौद्ध-काल से पहिले का पाया जाता है। लगभग यही समय जट-संघ के स्थापित होने का और भिन्न-भिन्न राजवंशों का जट संघ में शामिल होकर जाट कहलाने का है। शिवि जाति में जो कि इस समय महान् जाट जाति का एक अंग है, कई प्रसिद्ध राजा उत्पन्न हुए जिनका वर्णन हम यथास्थान करेंगे। चूंकि शिवि जाति जट-संघ में शामिल हो गई थी; अनेक पीढ़ियों के बाद तक भी उन लोगों के लिये जो कि शिवि जाति में से आये थे यह बात तो याद रही कि उनके पुरखे शिवि कहलाते थे। पर इस बात को वो कतई भूल गये कि शिव किसी एक पुरुष का नाम न होकर जाति का नाम था। इसीलिये अपने लिये शिवजी अर्थात् पौराणिक महादेव का वंशज अपने को मान बैठे। लेकिन यह प्रश्न कि वह शिवजी के वंशज होकर जाट नाम को कैसे प्राप्त हुए, मोटी अकल से यही मान लिया कि वो अवश्य ही शिवजी की जटाओं से पैदा हुए हैं। क्योंकि उनके सामने एक पौराणिक कथा भी थी कि शिवजी ने जटा में से कुछ आदमियों को पैदा किया जो कि वीरभद्र तथा गणादिक कहलाते थे। हालांकि यह कथा भी बहुत संभव है गणतंत्र के विरुद्ध गणों को राजनैतिक संस्थाओं के बजाय धार्मिक पुरुष बनाने के लिये तथा वास्तविकता पर आवरण डालने के लिये रची गई हों। जाटों के सम्बन्ध में शिवजी के जटा में से पैदा होने की दन्तकथा का यही आधार और कारण है।

कोई-कोई इतिहासकार और विद्वान् यह भी मानते हैं कि जाट हैहय क्षत्रियों की उन शाखाओं में से हैं जो सुजात और जात नाम से प्रसिद्ध थीं।

१—"सुंगयुन का यात्रा विवरण" काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित पेज ४६, ४७। २—"सुंगयुन का यात्रा विवरण" काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित पेज ३६।

देशी इतिहासकारों में भाई परमानन्दजी इसी मत के समर्थक हैं। जाटों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में भाई परमानन्द के जो विचार हैं उन्हें हम ज्यों का त्यों उद्धृत करते हैं। वे लिखते हैं कि—"ऐसा मालूम पड़ता है यादु नस्ल की एक शाख जाट कहलाने लगी। जाट और यादु लफ्ज एक दूसरे से बहुत मिलते जुलते हैं। यादुओं के हैहय कबीले की एक शाख का नाम जात या सुजात था। यह भी कहा जाता है कि कश्यप ऋषि ने अग्नि कुल राजपूतों की तरह जाटों को भी क्षत्रिय बनाया। नस्ल के लिहाज से जाट बिल्कुल राजपूतों से मिलते हैं। राजपूत लोग उन्हें इसलिये अपने से छोटा समझते हैं कि उनमें करेवा का रिवाज पाया जाता है। लेकिन गौर करने पर यह भी नतीजा निकल सकता है कि जाट हिन्दू-समाज की उस हालत से ज्यादा मिलते हैं जो कि पुराणों के पहिले पाई जाती थी। देवर लफ्ज के मानी दूसरे पति के हैं। दूसरी कई बातों से भी यह मालूम होता है कि जाटों पर बनिस्बत दूसरे हिन्दुओं के पुराणों की तालीम का बहुत कम असर हुआ है। मसलन जाट अभी तक "कुल" की हालत में पाये जाते हैं। उनमें जाति पांति की तकसीम नहीं पाई जाती जो बाकी हिन्दू-समाज में इतने जोर से पाई जाती है। भाषा, करक्टर और विचारों से भी यही जाहिर होता है कि जाट लोग वैदिक जमाने की सुसाइटी के आम हिन्दुओं की निस्बत बेहतर क़ायम मुक़ाम हैं।"

जाति या सुजाति शब्द से जाट शब्द का बनना संभव समझ कर शायद भाईजी ने सुजात लोगों को ही जाट मान लिया है और इसमें भी सचाई है कि जात शब्द से आगे चल कर परिस्थितियों के कारण जाट शब्द बन गया। किन्तु ये कथन गलत है कि परशुराम वाले सुजात या जात लोग ही अब के जाट हैं। परशुराम और हैहय लोगों का युद्ध रामायण काल से भी पहिले का है। यदि सुजात लोग ही जाट कहलाने लग गये होते तो महाभारत के समय अवश्य इनकी हस्ती होती। हैहय क्षत्रिय एकतन्त्र विचार के थे। परशुराम के बाद अवश्य ही वे लोग कहीं अपना राज्य स्थापित करते। लेकिन लाखों वर्षों के अन्तर (कुछ विदेशी इतिहासकारों ने रामायण-काल से लेकर महाभारत के बीच का समय दस हजार वर्ष तक माना है) में सुजात लोगों को पैतृक गौरव प्राप्त करने की चेष्टा (साम्राज्य स्थापन) करते हम कहीं नहीं पाते। इस परशुराम वाली कहानी का हम पीछे के पृष्ठों में काफी खंडन कर चुके हैं। यहाँ इतना ही लिख देना उचित समझते हैं कि उनके गोत्र जो कि पाँडवों, शैव्यों, गान्धारों, मालवों आदि राजवंश से निकले हुए हैं वे सुजात के वंशज कैसे कहला सकते हैं? यहाँ तक कि उनमें नागवंशी तथा सूर्य वंशी (पूणिया, सिकरवार) गोत्र भी पाये जाते हैं। इस सिद्धान्त का

खण्डन करने के लिए यही एक बात पर्याप्त है। उनके गोत्र व कुल कुछ भी न तो हैहय क्षत्रियों से मिलते हैं और न हैहयों की आदि भूमि दक्षिण में उनका (जाट) कोई नाम निशान ही पाया जाता है। जाटों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में एक और सिद्धान्त है जिसके आविष्कर्त्ता एक जाट सज्जन श्रीरामलालजी हाला हैं—उनका कहना है "चन्द्रवंश में श्रीकृष्ण से कई पीढ़ी पहले महाराज 'यात' हुए थे। यात शब्द से ही याट फिर जाट बन गया।" ये फिलासफी भी सुजात शब्द से जाट बनने की जैसी ही है। यदि बात ऐसी ही हो तो यात की संतान के लोग जाटों का नाम महाभारत में खूब आता। हमारे कहने का मतलब यह है कि जाट शब्द के बनने के कारण और तिथियाँ भारतीय युद्ध से पुराने समय की नहीं हैं। और किसी एक व्यक्ति की संतान के लोग ही जाट कहलाये तो पाणिनी का 'जट झट संघात' सूत्र गलत हो जाता है। वास्तव में जट शब्द संघ के लिये प्रयुक्त हुआ था जैसा कि हमारे आगे के कथन से अधिक स्पष्ट हो जायगा।

यूरुप के कई देशों में जाट शब्द से मिलते जुलते गाथ, गेदि, जूटी, स्यूची आदि शब्दों को देख कर विदेशी इतिहासकारों को बड़ी उलझन में पड़ना पड़ा है। हीरोडोटस, स्ट्रबो, कनिंघम आदि, जैसे लोगों ने इन शब्दों के आधार पर यह साबित करने की चेष्टा की है कि जाट अवश्य ही इन्हीं जातियों के उत्तराधिकारी हैं जो विदेशों से भारत में आकर आबाद हुईं। कुछ लोग ऑक्सस के किनारे से, कुछ सिदिया से, कुछ बैक्ट्रिया से और कुछ स्कैण्डनेविया से आया हुआ बताते हैं। मेजर विंगले "सेविन्थ डक ऑफ कन्नाउटस ऑन राजपूट्स" में लिखते हैं कि- *"ईसा के पूर्व पहिली और दूसरी शताब्दी में जाट लोग आक्सस के किनारे से चल कर दक्षिणी अफगानिस्तान हो कर के भारत में आये।"* इस कथन का खण्डन मि० नेशफील्ड, सर हर्बर्ट रिजले, डाक्टर ट्रम्प और बीम्स तथा अनेक अरब-इतिहासकारों ने किया है। देशी इतिहासकारों में श्री चिन्तामणि वैद्य ने तो बड़े मजबूत प्रमाणों के साथ उक्त विचारों का खण्डन किया है। उनके लेख के कुछ अंश हमने पीछे के पृष्ठों में दे दिये हैं। कनिंघम और उनके सहयोगियों को यह भ्रम क्यों हुआ, हमारी समझ में उसके निम्न कारण हैं—(१) नामों की समानता। (२) ईस्वी सन् पूर्व २००-३०० वर्ष से अधिक पहिले का उन्हें जाटों का कोई इतिहास नहीं मिला—वैसे इन कारणों पर हम पहले प्रकाश डाल चुके हैं फिर भी संक्षेप से यहाँ इतना और बता देना उचित समझते हैं—(१) नामों की समानता से यदि वो भ्रम में पड़े हैं तो उन्हें यह मान लेना चाहिए था कि रोटि, जेति, गांत, स्यूचि, आदि समूह जिनके कि यूरुप व चीन में निशान पाये गए हैं उन जाटों के वंशज हैं जो कि परिस्थितियों के कारण भारत से बाहर गए थे, और वहाँ जाकर उन्होंने उपनिवेश स्थापित किये। इस बात के विदेशी साहित्य में भी काफी प्रमाण भरे पड़े हैं कि भारतीय क्षत्री यहाँ से बाहर गए और वहाँ जाकर उन्होंने अपना प्रभुत्व स्थापित किया। इस बात के कुछ हवाले आगे दिये जाते हैं।

मि० कुकटेलर-नेशन्स आफ् एएटक्वायरी के पेज ११, १२, पर लिखते हैं—"*वास्तव में यह अनुमान किया है कि मिश्रियों ने अपनी सभ्यता की व्यवस्था हिन्दुओं से ली होगी।*"

मि० पोकाक "इण्डिया इन ग्रीस" नामक पुस्तक में लिखते हैं—"*यूनानी समाज की सारी दशा किसी को भी एशियायी ही जचेगी और उसमें भी अधिक अंश भारतीय मालूम पड़ेगा। मैं उन घरानों की वातों का उल्लेख करूँगा जो भारत से तो लुप्त होगए पर भारतीय उपनिवेश संस्थापन के चिन्हों के साथ वही अपने धर्म तथा भाषा सहित यूनान में फिर प्रगट हुए थे। (पे० १२) ब्राह्मणों और बौद्धों के धर्म एशिया के एक बड़े भारी भाग पर आज दिन भी सिक्का जमाये हुए हैं। इस लम्बे युद्ध में दो बड़े नेता थे। इन दोनों में ब्राह्मण-धर्म की विजय हुई। बौद्ध-धर्म के नेता खदेड़ दिये गये जिन्हें अपने उत्पीड़न करने वालों से बचने के वास्ते उनकी पहुँच के बाहर आश्रय लेना पड़ा था। वे लोग बैक्ट्रिया, फारस, एशियामाइनर, यूनान, फिनीसिया, और ग्रेट ब्रिटेन को चले गए, और अपने साथ पहिले के अपनी ऋषियों की श्रद्धा और विचित्र दर्जे की व्यापारिक शक्ति के साथ ज्योतिष और तन्त्र-विद्या की अनोखी योग्यता भी लेते गए*[१]।" (पे० २६)

स्कैण्डनेविया की धर्म पुस्तक 'एड्डा' में लिखा हुआ है कि—"*यहाँ के आदि निवासी जटेस व जिटस पाहिले आर्य कहे जाते थे तथा वे असीगढ़ के निवासी थे।*" [*जो कि मालवा के नीमाण ज़िले में है। लेखक*] मिस्टर पिंकाटन का विचार है कि—*ईसा से ५०० वर्ष पूर्व डेरियस के समय में यहाँ* (स्कैंडनेविया) *ओडन नाम का एक आदमी आया था जिसका उत्तराधिकारी गौतम था।* इनके अतिरिक्त स्कैंडनेविया की धारणाएँ भी धार्मिक हिन्दू कथाओं से मिलती जुलती हैं। इनके दिवस विभाग आदि सभी हिन्दुओं के ढंग पर हैं। अतः स्कैंडनेविया निवासी काउण्ट जन्स्टर्न जर्न का कथन अक्षरशः सत्य प्रतीत होता है कि—"*हम लोग भारत से आये हैं।*"

स्कैण्डनेविया संस्कृत शब्द स्कंधनाभी का अपभ्रन्श है। स्कंधनाभी का अर्थ है—मुख्य सैनिक। इससे भी यही ध्वनि निकलती है कि इस देश को भारतवर्ष की सैनिक-जाति—क्षत्रियों ने बसाया।

१—आर्यों का मूल्य स्थान १४ वाँ अध्याय।

मि० रेम्यूसेट का दावा है कि—*कुल मध्य एशिया ही यादवों की बस्ती है।* प्रोफेसर पी. कॉक कहते हैं—*फ़ारिस, कोल कॉच और आरमीनिया के प्राचीन नकशे भारत वासियों के उपनिवेश होने के स्पष्ट और आश्चर्य जनक सबूतों से भरे पड़े हैं।* काउन्ट जोर्नस्टर्ना कहते हैं—*रूम की इट्रस्कन जाति भी हिन्दुओं में से है।* कर्नल पॉड कहते हैं—*जैसलमेर के इतिहास से पता चलता है कि हिन्दू-जाति के वाल्हीक खानदान ने महाभारत के पश्चात् खुरासान में राज्य किया।* मि० पी० कॉक का मत है कि—*महाभारत का युद्ध समाप्त होते ही कुछ लोग यहाँ से निकाल दिये गये तथा कुछ लोग प्राण-रक्षा के कारण जान लेकर भागे थे। उन में से कतिपय आदि सभ्यता के पटु थे और कुछ व्यवसायी योद्धा थे।.........अधिकतर लोग यूरुप में और अमरीका में जाकर बसे। महाभारत के लोग भिन्न-भिन्न मार्ग से गए। कुछ तो पूर्व की ओर से, श्याम, चीन, भारतीय द्वीप समूह में, कुछ लोग पश्चिमोत्तर से तुर्किस्तान, साइबेरिया, स्कैण्डनेविया, जर्मनी, इङ्गलिस्तान, फारस, ग्रीक, रोम आदि की ओर जा बसे और कुछ लोग पश्चिम से पूर्वी अफ्रीका और वहाँ से मिश्र को गए[१]।*

प्रोफेसर हीरन कहते हैं—*विदेशों में बस्तियां बसाने के सिवाय भारत जैसा अत्यन्त आबाद और किन्हीं किन्हीं भागों में अत्यधिक आबाद देश अपनी जन संख्या के निवास का और क्या प्रबन्ध कर सकता था।"*

कर्नल अलकोट ने लिखा है—"*हमें यह समझने का अधिकार है कि ८००० वर्ष पूर्व भारत से (कुछ लोग) अपना देश छोड़कर अपने कला-कौशल तथा उच्च सभ्यता के साथ उस स्थान में पहुँचे थे जो कि आज हमें ईजिप्ट (मिश्र) के नाम से ज्ञात है।"*

कई अंग्रेज विद्वानों ने एक मिश्रवासी और एक बंगालवासी की खोपड़ियों की घनिष्ठता साबित की है। मि० विल्सन साहब के विचार में बर्मा तथा तिब्बत वासियों की सभ्यता भी भारत से गई हुई हैं। सर विलियम जोन्स का कहना है कि—चीनवासी अपनी उत्पत्ति हिन्दुओं से स्वीकार करते हैं। कहा जाता है कि बौद्ध-काल में एक समय तीन हजार से अधिक भारतीय सन्यासी १०००० से

१—देखो मासिक पत्र 'स्वार्थ' के सम्वत् १९७९ माघ, फाल्गुन के अंक ४, ५, में (प्राचीन भारत के उपनिवेश) नामक लेख। ले० बा० शिवदास गुप्त।

अधिक भारतीय गृहस्थ अपने जातीय धर्म और कला कौशल का चीन देश में प्रभाव डालने के निमित्त केवल एक प्रदेश लोयङ्ग में वास करते थे।

वैरिन हम्बोल्ट का दावा है कि—अमेरिका में हिन्दुओं के रहने के चिह्न अब तक विद्यमान हैं। मेक्सिको के निवासी एक ऐसे मनुष्य की पूजा करते थे जिसका सिर हाथी का और धड़ मनुष्य का था[1]।

इनके अतिरिक्त भी और कितनी ही सम्मतियाँ हैं। हमारी समझ से पाठक इस विषय में कि विदेशी विद्वान भी इस बात से सहमत हैं कि भारतीय क्षत्री बाहर गए और वहाँ प्रभुत्व स्थापित किया एवं आबाद हुए भली प्रकार जान गये होंगे। संस्कृत साहित्य में भी ऐसे प्रमाण हैं जिनसे साबित होता है कि भारतीय आर्यों ने अन्य देशों में जाकर उपनिवेश कायम किये। महाभारत के वर्णन के अनुसार पाँडवों का हिमालय को पार करना सर्व विदित बात है। 'हरिवंश' में एक कथा आती है कि कौरवों के एक राजकुमार को भारत से इस कारण निकाल दिया था कि उसने गोमेध के समय गोमाँस खा लिया था। उसी की सन्तान के लोग अरब में कुरेश कहलाये। 'यादव कुल दिग्विजय' यादवों द्वारा संसार के भिन्न-भिन्न देशों को जीत कर अपने वश में करने की कथाओं से भरा पड़ा है। कालिदास का बनाया हुआ रघुवंश इस बात की साक्षी देता है कि सूर्यवंश के योद्धाओं ने विदेशों में जाकर विजय प्राप्त की। पुराणों में यह कथा बार-बार दुहराई है कि शुक्राचार्य असुरों के देश अर्थात् ईरान में रहते थे। कृष्ण का पुत्र साम्ब श्यामनगर में राज्य करता था जिसे ग्रीक वालों ने मीनगढ़ कहा है। बौद्ध और जैन-ग्रन्थों से भी यहाँ से भारतीयों का बाहर जाना पुष्ट होता है। भविष्य पुराण के हवालों से यह मालूम होता है कि महाराजा शालिवाहन तथा उनके साथी हिमालय पार करके हूण देश में शायद काकेशश पर्वत की ओर गये थे जहाँ कि उनकी मुलाक़ात हजरत ईसा से हुई थी जैसा कि इन श्लोकों से प्रगट होता है—

"एकदातु शकाधीशो हिमतुंग समाययो।
हूण देशस्य मध्ये वै गिरिस्थं पुरुषं शुभम्॥
ददर्श बलवान् राजा गोराङ्गं श्वेत वस्त्रकम्॥२२॥
को भवानी तितंप्राहस होवाच मदान्वितः।
ईश पुत्रं च मा विद्धि कुमारी गर्भ संभवम्॥२३॥"

(भविष्य पुराण प्र० सय० ३ खं० ३)

अर्थ—एक बार शक देश के राजा शालिवाहन हिमालय की चोटी पार गये। तब उस बलवान राजा ने हूण देश के मध्य में पर्वत पर बैठे हुए गोरे रंग वाले तथा

१—संस्कृत साहित्य का इतिहास पे० ४० से० ५१ तक का सार। ले० महेशचन्द्र बी० ए०।

सफेद वस्त्र पहने हुए पवित्र पुरुप को देखा। राजा ने उससे पूछा आप कौन हैं? वह खुश होकर बोला "मैं कुमारी के गर्भ से पैदा हुआ खुदा का बेटा (यीशु) हूँ।"

भारतीय इतिहासकारों ने भी इस बात को प्रमाणित किया है कि आर्य क्षत्रिय लोगों ने विदेशों में जाकर बस्तियाँ आबाद कीं और साथ ही अपने धर्म का भी प्रचार किया। आचार्य रामदेव ने 'भारत का इतिहास' द्वितीय खंड में ईरान, यूनान और रोम तथा मिश्र में भारतीय लोगों के जाने तथा बसने का वर्णन किया है। दिगम्बरत्व और दिगम्बर मुनि इतिहास-लेखक कामताप्रशाद जैन एम० आर० एस० ने अनेक प्रमाणों से यह साबित किया है कि जैन आचार्यों ने विदेशों में जाकर के जैन-धर्म का प्रचार किया और वहाँ अब तक जैन-धर्म के चिह्न पाये जाते हैं। इस जैन-इतिहास में वर्णन है कि ईसवी सन् पूर्व पहिली शताब्दी में भरोंच से एक श्रोणाचार्य रोम में प्रचारार्थ गए थे।

उसमें यूनान और बैक्ट्रिया में श्रवणों के विहार होने का उल्लेख किया है। उपरोक्त उद्धरणों से हमारे कथन की पुष्टि हो जाती है कि जाट बाहर से आये हुए लोगों के स्टाक के नहीं हैं। बल्कि विदेशी इतिहासकारों ने जिन गेटा, मेटा जातियों का नाम बतलाया है और उसके कारण ही जाटों को उनमें से बतलाया है—यह जातियां ही भारतीय जाटों के विदेश में गये हुए स्टाक में से हैं। भारत से जाटों का स्थानांतरित होने का भी ऐतिहासिक विवरण मिलता है। वृज से द्वारिका और द्वारिका से जदु का डूंग और जदु का डूंग से गजनी, कंधार और फिर ईरान में जहां कि जाकर के उन्होंने जाटालि प्रदेश बसाया था क्रमागत वर्णन मिलते हैं। खलीफा अबूबकर के समय में उन्हें रोमन लोगों के विरुद्ध लड़ने के लिये और हजरतअली के समय में बसरे के खजाने की रक्षा करने के लिये तथा इससे भी पहिले हजरत मुहम्मद की अङ्ग रक्षा के लिये अरब और रोम की सीमा तक जाट जत्थों के जाने की अरबी साहित्य साक्षी देता है। भारत में से जाटों के अनेक दलों का स्थानांतरित होना ईसा सन् से कम से कम ९०० वर्ष पहिले आरंभ हो गया था। दूसरे एक यह भी बात है कि गेटा, गात आदि जातियों का इतिहास प्रायः इससे बाद में आरंभ होता है। ईसा से ८०० वर्ष पहिले महाबल जाट राजा, जो कि ईसवी सन् से ५०६ वर्ष पहिले दिल्ली में राज्य करनेवाले जीवन जाट के आदि पुरुषों में से था, दिल्ली में राज्य कर रहा था[१]। तीसरे संस्कृत साहित्य के प्रसिद्ध वैयाकरण पाणिनी के धातु पाठ में जट शब्द आता है जो कि ईसा से लगभग ९०० वर्ष पहिले हुआ था। जट शब्द भारत में पाणिनी से कई शताब्दी पूर्व प्रचलित होगा तभी पाणिनी ने इसको अंकित किया होगा। इन सब बातों के देखते हुए यही संभव है कि जटलैंड, स्कैण्डनेविया तथा चीन आदि देशों में जो जाट शब्द के समवाची संज्ञक समूह पाये जाते हैं वे भारतीय जाटों के स्टाक से बाहर गये हुए हैं।

१—वाक़यात पेज हजार रिसाला उर्दू।

जाट शब्द की उत्पत्ति और उसके प्रचलन का कारण हमारी स्थापना के अनुसार जो विलकुल वैज्ञानिक और सत्य है यह है कि—जाट शब्द संस्कृत के ज्ञात शब्द से बना है। जिसका जात और फिर आगे चलकर जाट हो गया है। त, के स्थान पर ट, का उच्चारण उत्तर भारत की प्रचलित प्राकृतिक भाषा के कारण हो गया।

अब प्रश्न दो हो सकते हैं कि जाट नाम की कब और किस कारण से सृष्टि हुई और जब कि जट शब्द ९०० ई० पूर्व से प्रचलित था। इन प्रश्नों का उत्तर देने से पहिले महाभारत का एक सन्दर्भ पेश करना आवश्यक समझते हैं—

॥ श्लोक ॥

नासुहृत् परमं मन्त्रं नारदार्हति वेदि तुम्।
अपण्डितो वाऽपि सुहृत्पण्डितो वाप्यनात्मवान् ॥ ३ ॥
सते सौहृद मास्थाय किं चिद् वक्ष्यामिनारद।
कृत्स्नां बुद्धिं च तेप्रेक्ष्य संपृच्छे त्रिदिवङ्गम ॥ ४ ॥
दास्य यैश्वर्य वादेन ज्ञातीनां वै करोम्यहम्।
अर्ध भोक्ताऽस्मि भोगानां वाग् दुरुक्तानि चक्षमे ॥ ५ ॥
अरणी मग्निकामोवा मथ्नाति हृदयंमम।
वाचा दुरुक्तं देवर्षे तन्मां दहतिनित्यद ॥ ६ ॥
बलं संकर्षणं नित्यं सौ कुमार्य्यं पुनर्गदे।
रूपेणमत्तः प्रद्युम्नः सोऽसहायोऽस्मि नारद ॥ ७ ॥
अन्येहि सुमहाभागा बलवन्तोदुरा सदाः।
नित्योत्थोनेन सम्पन्ना नारदांधक वृष्णयः ॥ ८ ॥
यस्य न स्युर्न स स्याद्यस्य स्युः कृत्स्न मेव तत्।
द्वयोरेनं प्रचरतोर्वृणोम्येक तरं न च ॥ ९ ॥
स्यातां यस्याहुता क्रूरो किं नु दुःखतरं ततः।
यस्य चापि न तौ स्यातां किं न दुःख तरं ततः ॥१०॥
सोऽहं कितव मातेव द्वयोरपि महामुने।
नैकस्य जयमाशं से द्वितीयस्य पराजयम् ॥११॥
ममैव क्लिश्य मानस्य नारदो भयदर्शनात्।
वक्तुमर्हसि यच्छ्रेयो ज्ञातीनामात् मनस्तथा ॥१२॥

नारदउवाच—

आपयोद्विविधाकृष्णः वाह्याश्चाभ्यन्तराश्चह ।
प्रादुर्भवन्ति वार्ष्णेय स्वकृता यदि वाऽन्यतः ॥१३॥
सेयमाभ्यन्तरा तुभ्य मापत् कृच्छ्रा स्वकर्मजा ।
अक्रूरभोज प्रभवासर्वेह्येते तदन्वया ॥१४॥
अर्थ हेतोर्हि कामाद्वा वीर वीभत्स याऽपि वा ।
आत्मनाप्राप्तमैश्वर्य मन्यत्र प्रतिपादितम् ॥१५॥
कृतमूल मदानीतंत् ज्ञातिशब्दं सहाय वत् ।
न शक्यं पुरा दातुं वान्तमन्न मिवस्वयम् ॥१६॥
बभ्रू ग सेन तो राज्यं नाप्तुं शक्यं कथं च न ।
ज्ञातिभेद भयाकृष्ण त्वयाचाऽपि विशेषतः ॥१७॥
तच्चसिद्धयेत्प्रयत्नेन कृत्वाकर्म सुदुष्करम् ।
महात्त्रं व्ययोवास्या द्विनाशो वा पुनर्भवेत् ॥१८॥
अनायसेन शस्त्रेण मृदुना हृदयच्छिदा ।
जिह्वा मुद्धर सर्वेशां परिमृज्यानु मृज्य च ॥१९॥

वासुदेवउवाच—

अनायसं मुने शस्त्रं मृदु विद्यामह महंकथम् ।
येनैषा मुद्धरे जिह्वां परिमृज्या नुमृज्य च ॥२०॥

नारदउवाच—

शक्यान्नदाने सततं तितिक्षाऽऽर्जव मार्दवम् ।
यथार्थ प्रतिपूजा च शस्त्रमेतद नाय सम् ॥२१॥
ज्ञातीनां वक्तु कामानां कटुकानि लघूनि च ।
गिरात्वं हृदयं वाचं शमयस्य मनांसि च ॥२२॥
नामहापुरुष कश्चिन्नामानासहाय वान् ।
महती धुरमादाय समुद्यम्योरसा वहेत् ॥२३॥
सर्व एव गुरुं भार मनड्वान् वहतेसमे ।
दुर्गे प्रतीतः सुगवोभारं वहनि दुर्वहम् ॥२४॥
भेदाद्व विनाशः संघानां संघ मुख्योसि केशव ।
यथा त्वां प्राप्य नोत्सीदे देयं संघा तथा कुरु ॥२५॥

नान्यत्र बुद्धि क्षान्तिभ्यां नान्यत्रैन्द्रिय निग्रहात् ।
नान्यत्र धन सन्त्यागात् गुणः प्राज्ञेऽवतिष्ठते ॥२६॥
धन्यं यशस्य मायुष्यं स्वपक्षोद्भावनं तथा ।
ज्ञातीनामविनाशः स्याद्यथाकृष्ण तथा कुरु ॥२७॥
आयत्यां च तदात्वेच न तेऽस्त्य विदितं प्रभो ।
षाड्गुण्यस्य विधाने न यात्रा या न विधौ तथा ॥२८॥
यादवाः कुकुराभोजाः सर्वे चान्धक वृष्णयः ।
त्वया यत्ता महावाहो लोकालोकेश्वराश्रये ॥२९॥

अर्थात्—वासुदेवजी बोले—हे ! नारद राज्य सम्बन्धी महत्व पूर्ण वातें न तो उसी से कही जा सकती हैं जो अपना मित्र नहीं है, न उसी मित्र से कही जा सकती हैं जो पण्डित नहीं है और न उसी पण्डित से कही जा सकती हैं जो आत्मवान् या आत्म संयमी नहीं है ॥३॥

हे ! नारद तुम में मैं वह सच्ची मित्रता पाता हूँ जिस पर मैं निर्भर रह सकता हूँ, इसलिए मैं तुम से कुछ वातें कहना चाहता हूँ । हे सुप्रसन्न ! तुम्हारी बुद्धि बहुत प्रवल है, इसलिए मैं तुमसे एक वात पूछना चाहता हूँ ॥४॥

यद्यपि लोग उसे ऐश्वर्य या प्रमुत्व कहते हैं तथापि मैं जो कुछ करता हूँ वह वास्तव में अपनी जाति के लोगों का दासत्व है । यद्यपि मैं अच्छे वैभव या शासनाधिकार का भोग करता हूँ तथापि मुझे उनके केवल कठोर वचन ही सहने पड़ते हैं ॥५॥

हे देवर्षि ! उन लोगों के कठोर वचनों में मेरा हृदय उसी अरणी की भाँति जलता रहता है जिसे अग्नि उत्पन्न करने की इच्छा रखने वाला व्यक्ति मथन करता है । वे वचन सदा मेरे हृदय को जलाते रहते हैं ॥६॥

(यद्यपि) संकर्षण अपने वल के लिए और गद अपने राजसी गुणों के लिए सदा से बहुत प्रसिद्ध है और प्रद्युम्न मुझ से भी वढ़कर रूपवान है । तथापि हे नारद ! मैं असहाय हूँ कोई मेरी सहायता करने वाला या अनुकरण करने वाला नहीं है ॥७॥

दूसरे अन्धक और वृष्णि लोग वास्तव में महाभाग, वलवान् और पराक्रमी हैं । हे नारद ! वे लोग सदा राजनैतिक (उत्थान) वल से सम्पन्न रहते हैं ॥८॥

वे जिसके पक्ष में हो जाते हैं उसकी सब वातें सध जाती हैं और यदि वे किसी के पक्ष में न हों तो फिर उसका अस्तित्व ही नहीं रह सकता । यदि आहुक और अक्रूर किसी व्यक्ति के पक्ष में हों तो उसके लिए इससे वढ़कर और कोई आपत्ति ही नहीं हो सकती । और यदि वे किसी व्यक्ति के पक्ष में न हों तो उसके

लिए भी इससे बढ़कर और कोई आपत्ति नहीं हो सकती। मैं दोनों दलों में से किसी दल का निर्वाचन नहीं कर सकता ॥९-१०॥

हे महामुने ! इन दोनों के बीच में मैं उन दो जुवारियों की माता की भाँति रहता हूँ जो आपस में एक दूसरे के साथ जूआ खेलते हैं। और वह माता न तो इस बात की आकांक्षा कर सकती है कि अमुक जीते और न इस बात की आकांक्षा कर सकती है कि अमुक हारे। अब हे नारद ! तुम मेरी अवस्था और साथ ही मेरे सम्बन्धियों की अवस्था पर विचार करो और कृपाकर मुझे कोई ऐसा उपाय बतलाओ जो दोनों के लिए श्रेय (कल्याण कारक) हो। मैं बहुत ही दुखी हो रहा हूँ ॥११-१२॥

नारद ने कहा—हे कृष्ण ! (प्रजातन्त्र गण में) दो प्रकार की आपत्तियाँ होती हैं। एक तो बाह्य या बाहरी और दूसरी आभ्यंतर या भीतरी, अर्थात् एक तो वे जिनका प्रादुर्भाव अपने अन्दर से होता है और दूसरी वे जिनका प्रादुर्भाव अन्य स्थान से होता है ॥१३॥

यहाँ जो आपत्ति है वह आभ्यंतर है। वह (सदस्यों के) स्वयं अपने मर्मों से उत्पन्न हुई है। अक्रूर भोज अनुयायी और उनके सब सम्बन्धी या ज्ञाति के लोग धन प्राप्ति की आशा से सहसा प्रवृत्ति बदलने के कारण अथवा वीरता की ईर्षा से युक्त होगए हैं। और इसीलिए उन्होंने जो राजनैतिक अधिकार ऐश्वर्य प्रतिपादित किया था वह किसी दूसरे के हाथ में चला गया है ॥१४-१५॥

जिस अधिकार ने जड़ पकड़ ली है और जो ज्ञाति शब्द की सहायता से और भी दृढ़ हो गया है उसे लोग वमन किये हुए भोजन की भाँति से वापिस नहीं ले सकते। ज्ञात या सम्बन्धी में मत भेद या विरोध होने के भय से बभ्रु उग्रसेन राज्य या शासनाधिकार वापिस नहीं ले सकते। हे कृष्ण ! विशेषतः तुम उनकी कुछ सहायता नहीं कर सकते ॥१६-१७॥

यदि कोई दुष्कर नियम विरुद्ध कार्य करके यह बात कर भी ली जाय, उग्रसेन को अधिकार च्युत कर दिया जाय, उसे प्रधानपद से हटा दिया जाय, तो महाक्षय व्यय अथवा विनाश तक हो जाने की आशंका है ॥१८॥

अगर तुम ऐसे शस्त्र का व्यवहार करो जो लोहे का न हो बल्कि मृदु हो और फिर भी जो सब के हृदय छेद सकता हो उस शस्त्र को बार बार रगड़ कर तेज करते हुए सम्बन्धियों की जीभ काट दो, उनका बोलना बन्द कर दो ॥१९॥

वासुदेव ने कहा—हे मुनि ! तुम मुझे यह बतलाओ वह कौनसा ऐसा शस्त्र है जो लोहे का नहीं है, जो बहुत ही मृदु है, और फिर भी जो सब के हृदय छेद सकता है और जिसे बार बार रगड़ कर तेज करते हुए मैं उन लोगों की जीभ काट सकता हूँ ॥२०॥

नारद ने कहा—जो शस्त्र लोहे का बना हुआ नहीं है वह यह है कि, जहाँ तक तुम्हारी शक्ति हो सके उन लोगों को कुछ खिलाया पिलाया करो। उनकी बातें सहन किया करो। अपने अंतःकरण को सरल और कोमल रखो। और लोगों की योग्यता के अनुसार उनका आदर सत्कार किया करो ॥२१॥

जो सम्बन्धी या ज्ञात के लोग कटु और लघु बातें कहते हैं उनकी बातों पर ध्यान मत दो। और अपने उत्तर से उनका हृदय और मन शान्त करो ॥२२॥

जो महापुरुष नहीं है, आत्म-बलवान नहीं है और जिसके सहायक या अनुयायी नहीं हैं वह उच्च राजनैतिक उत्तरदायित्व का भार सफलता पूर्वक वहन नहीं कर सकता ॥२३॥

समतल भूमि पर तो हर एक बैल भारी बोझ लाद कर चल सकता है। पर कठिन बोझ लाद कर कठिन मार्ग पर चलना केवल बहुत बढ़िया और अनुभवी बैल का ही काम है ॥२४॥

केवल भेद नीति के अवलम्बन से संघों का नाश हो सकता है। हे केशव! तुम संघों के मुख्य नेता हो या संघ ने तुम्हें इस समय प्रधान के रूप में प्राप्त किया है। अतः तुम ऐसा काम करो जिसमें यह संघ नष्ट न हो। बुद्धिमत्ता, सहन शीलता इन्द्रिय निग्रह और उदारता आदि ही वे गुण हैं जो किसी बुद्धिमान् मनुष्य में किसी संघ का सफलता पूर्ण नेतृत्व ग्रहण करने के लिये आवश्यक होते हैं ॥२५–२६॥

हे कृष्ण! अपने पक्ष की उन्नति करने से सदा धन, वंश और आयु की वृद्धि होती है। तुम ऐसा काम करो जिससे तुम्हारे सम्बन्धियों या ज्ञातियों का विनाश न हो। हे प्रभु! भविष्य सम्बन्धी नीति, वर्तमान सम्बन्धी नीति, शत्रुता की नीति, आक्रमण करने की कला और दूसरे राज्यों के साथ व्यवहार करने की नीति में से एक भी बात ऐसी नहीं है जो तुम न जानते हो ॥२७–२८॥

हे महाबाहो! समस्त अंधक वृष्णि यादव, कुरु और भोज, उनके सब लोग और लोकेश्वर अपनी उन्नति तथा सम्पन्नता के लिये तुम्हीं पर निर्भर करते हैं[1] ॥२९॥

महाभारत के उपरोक्त सन्दर्भ (कथा) का सारांश यह है कि:—यदुवंश के दो कुलों अंधक और वृष्णियों ने एक राजनैतिक संघ (लीग) स्थापित किया था। उस संघ में दो राजनैतिक दल थे जिन में एक की तरफ श्रीकृष्ण और दूसरे की तरफ उग्रसेन थे। कृष्ण दल के जो लोग थे वह बलवान् बुद्धिमान होते हुए भी आलसी और प्रमादी थे। इसीलिये दूसरे दल के मुकाबिले में श्रीकृष्ण को वाद विवाद के समय अधिक दिक्कतें उठानी पड़ती थीं। उनकी पार्लिमेंट या काउन्सिल में खूब वाद विवाद हुआ करते थे। क्योंकि प्रत्येक राजनैतिक कामों में प्रभुत्व स्थापित करना चाहता था। इन्हीं अपनी कठिनाइयों का वर्णन श्रीकृष्ण ने

१—उपरोक्त श्लोकों का अर्थ 'हिन्दू राज्य तंत्र' से लिया गया है।

नारद से किया है और नारद ने उन्हें जोर के साथ यही सलाह दी है कि जैसे भी बन सके संघ (फेडरेशन) को नष्ट न होने दें। अर्थात् संघ को नारद अत्युत्तम समझते थे। संघ संचालन के लिये जिन गुणों की आवश्यकता होती है वह भी उन्होंने श्रीकृष्ण को बताये। हम पहिले अध्याय में यह बता चुके हैं कि श्रीकृष्ण प्रजातंत्रवादी विचार के लोगों में से थे और उसी समय में दुर्योधन, जरासंघ, कंस, शिशुपाल आदि साम्राज्यवादी शासक भी मौजूद थे। श्रीकृष्ण का और उनके विरोध का यही मुख्य कारण था। मथुरा के आस पास कंस ने गोपराष्ट्र, नवराष्ट्र आदि प्रजातंत्रों को नष्ट कर के साम्राज्य की नींव डाल दी थी। मगध में जरासंध ने एक बड़ा साम्राज्य खड़ा कर दिया था। कंस को परास्त करने के बाद श्रीकृष्ण ने यादवों के अनेक प्रजातन्त्री समूहों को शृङ्खलाबद्ध करने के लिए जरासंध की निगाह से सुदूर द्वारिका में जा के एक ऐसी शासन प्रणाली की नींव डाली जो प्रजातंत्री भी थी और जिसमें अनेकों जातियाँ शामिल भी हो सकती थीं। इस शासन प्रणाली को संयुक्त शासन तंत्र या भोज शासन प्रबन्ध कह सकते हैं। इसमें प्रत्येक दल की तरफ से एक प्रेसिडेंट होता था जैसा कि ऊपर के वर्णन से प्रगट है कि अंधकों की ओर से उग्रसेन और वृष्णियों की ओर से श्रीकृष्ण निर्वाचित सभापति या प्रधान थे। हमारे इतिहास से सम्बन्धित बातें जो उक्त सन्दर्भ से निकलती हैं वह ये हैं—(१) श्रीकृष्ण द्वारा स्थापित जिस संघ का ऊपर वर्णन किया गया है वह ज्ञाति कहलाता था। (२) कोई भी राजकुल या जाति संघ में शामिल हो सकती थी। (३) चूंकि यह संघ ज्ञाति प्रधान था व्यक्ति प्रधान नहीं, इसलिये इस संघ में शामिल होते ही उस जाति या वंश के पूर्व नाम की कोई विशेषता न रहती थी। वह 'ज्ञाति' संज्ञा में आ जाता था। हाँ, वैवाहिक सम्बन्धों के लिए वे अपने वंशों के नाम को स्मरण रखते थे जो कालांतर में गोत्रों के रूप में परिणत हो गये। (४) ज्ञाति के स्थापन से एक बात यह और हुई कि एक ही राज्यवंश के कुछ लोग साम्राज्यवादी विचार के होने के कारण और कुछ लोग प्रजातंत्रवादी मत रखने से दो श्रेणियों में विभाजित हो गए। एक साम्राज्यवादी अथवा राजन्य दूसरे प्रजातन्त्र वादी (ज्ञाति वादी) ज्ञाति के विधान तथा नियम और शासन प्रणाली में विश्वास रखने वाले और उसे देश और समाज के लिये कल्याणकारी समझने वाले जो आगे चलकर के 'ज्ञात' कहलाने लगे। अर्थात्—ज्ञातवादी ही, ज्ञात, जात अथवा जाट नाम से प्रसिद्ध हुए। इस में यह प्रश्न किया जा सकता है कि ज्ञाति से सम्बन्ध रखने वाले ज्ञात कैसे कहलाने लगे ? इसके लिए प्रत्यक्ष उदाहरण है कि कम्यूनिज्म के मानने वाले 'कम्यूनिष्ट' और शोशलिज्म के अनुयायी 'शोशलिष्ट' कॉंग्रेस वाले 'कॉंग्रेसी' समाज वाले 'समाजी' कहे जाते हैं। पहिले भी ऐसा ही होता था। विष्णु के उपासक 'वैष्णव' शिव के अनुयायी 'शैव' शक्तियों में विश्वास रखने वाले 'शाक्त' कहलाते थे।

ज्ञात का उच्चारण हिन्दी और सरल संस्कृत में जात होता है। फिर जिस समय में ज्ञात से जात या जाट आम बोल-चाल में प्रयोग होने लगा उससे

य उत्तर भारत की भाषा संस्कृत मिश्रित पैशाची (प्राकृत) थी। इसलिये यह कोई असम्भव बात नहीं कि तत्कालीन बोल-चाल के अनुसार ज्ञात अथवा जात से जट वा जाट हो गया१ और उसी को उत्तर भारत के प्रसिद्ध व्याकरण रचियता पाणिनी ने जो कि जाटों के पूर्व इतिहास से पूर्णतया परिचित जान पड़ता है अपने धातुपाठ में 'जट झट संघाते' सूत्र लिखा है।

श्रीकृष्ण के इस संघ का अनुकरण कर पूर्वोत्तर भारत में अनेक क्षत्रिय जाति अथवा राजवंशों ने ज्ञाति (संघ) की स्थापनायें कीं।

पाणिनि ने ५, ३, ११४ से ११७ तक वाहीक देश के संघों के सम्बन्ध में तद्धित के नियम दिये हैं। उन नियमों से यही सिद्ध होता है कि आर्य-जाति और राजवंशों के सम्मिलन से संघ स्थापित होते थे। श्रीकाशीप्रसाद जायसवाल हिन्दू राज्यतन्त्र में लिखते हैं कि—पाणिनी धार्मिक संघों से परिचित नहीं था। उसने अपने व्याकरण में जिन संघों का उल्लेख किया है वे सब राजनैतिक (प्रजातन्त्री) संघ थे।

ऐसे संघ अर्थात् इस तरह की ज्ञाति सब से अधिक 'वाहीक' देश (पंजाब सिन्ध, गन्धार) में बनी थी। काशीप्रसाद जायसवाल ने 'वाहीक' का अर्थ नदियों का प्रदेश माना है जिससे कि हमारे कथन की पुष्टि होती है। महाभारत में शान्तनु के भाई वाल्हीक के देश को 'वाहीक' कहा है। और वाल्हीक प्रतीप का पुत्र और शान्तनु का भाई बताया गया है। इससे ये मतलब निकलता है कि पंजाब में अधिकांश संघ चन्द्रवंशी क्षत्रियों के थे। बिहार में अथवा नैपाल की तराई में शाक्य और वृजियों तथा लिच्छवि आदि के संघ थे। यहाँ एक ऐसे राज्य-वंश का भी पता चलता है जो कि अपने लिये ज्ञातृ कहते थे जो कि हमारे ज्ञात शब्द का समान-वाची है जिसमें कि भगवान् महावीर पैदा हुए थे।

१—माधुरी वर्ष ४ खण्ड २ संख्या ३ में आनन्द बन्धु लिखते हैं—"हमें इस बात का पूर्ण ज्ञान है कि पंजाबी, हिन्दू-आर्य भाषाओं के मध्य-प्रान्त की भाषा है और यह निरी मिश्रित भाषा ही है। परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि लुन्डा, पंजाबी, पश्चिमी हिन्दी, और सिन्धी यह सारी भाषाएं प्राकृत से निकली हैं। उदाहरण के तौर देख लीजिए भक्त संस्कृत शब्द का अपभ्रंश प्राकृत में भट्ट है जो पश्चिमी हिन्दी में ज्ञात, सिन्धी में भट कहलाता है। इस प्रकार यह सारी भाषाएं प्राकृत से निकली हैं।"

"प्राकृत भाषा कब प्रचलित हुई इस बात का पूरा पता नहीं। परन्तु यह तय हो चुका है कि संस्कृत भाषा पूर्वकाल में समस्त भारत में कहीं नहीं बोली जाती थी। जिस प्रकार अंग्रेजी में बोल-चाल की भाषा और लिपिबद्ध अंग्रेजी में बहुत भेद है अर्थात् कई शब्द ऐसे हैं जो केवल बोल-चाल में ही व्यवहृत होते हैं लेकिन लिखने-पढ़ने में प्रयुक्त नहीं होते। इसी प्रकार जब संस्कृत भाषा का प्रचार था तो प्राकृत बोल-चाल की भाषा थी! प्राकृत भाषा संस्कृत का रूपान्तर है और शेष सारी भाषाएं प्राकृत से निकली हैं।" पे० ३६६

नोट—बस जैसे संस्कृत भक्त का प्राकृत भट्ट है उसी भाँति संस्कृत ज्ञात का प्राकृत जात अथवा जट्ट है। (ले०)

बिहार और बंगाल में इस समय ज्ञातृ वंश का कुछ भी पता नहीं चलता। जनवरी सन् ३२ की गंगा मासिक पत्रिका में त्रिपिटकाचार्य राहुल सांकृत्यायन ने बसाढ की खुदाई नामक लेख में यह साबित करने की चेष्टा की थी कि बेतिया का राजवंश जथरिया नाम होने के कारण ज्ञातृवंश है। किन्तु चूंकि बेतिया का राजवंश ब्राह्मण है ज्ञातृ लोग क्षत्री थे इसी आधार को लेकर पं० जगन्नाथ शर्मा एम० ए० ने सांकृत्यायन की धारणा का विरोध किया है। निश्चय ही बिहार के ज्ञातृ भी जाट ही थे जो समय पाकर अधिक संख्या में बसे हुए अपने भाइयों की तरफ पंजाब में आ गये। उधर से उनके पंजाब की तरफ आने का कारण पौराणिक धर्म से संघर्ष भी हो सकता है।

जैसा कि हम ऊपर लिख चुके हैं पंजाब के चन्द्रवंशी क्षत्रिय वाल्हीक कहलाते थे। वेदों में वाहीक व वाल्हीक शब्द आते हैं पुराणों में भी इनका जिक्र है। लेकिन पुराणों ने उनको अच्छे शब्दों में नहीं लिया है। इसका कारण यही हो सकता है कि पुराण पंथी प्रजातन्त्र शासन से सन्तुष्ट नहीं थे। धर्म ग्रन्थों के सम्बन्ध में उनके चाहे जैसे विचार रहे हों पर इसमें सन्देह नहीं कि वाहीक देश के प्राय: सारे राज्यवंश प्रजातंत्र शासन प्रणाली के मानने वाले (ज्ञातिवादी) अथवा जाट थे। और वाहीक देश से ही ये मालवा, राजपूताना, अफगानिस्तान, ईरान आदि दूर देशों तक पहुँचे। चीन की तरफ बढ़ने वाले समुदायों का नाम य्यूची, यूची योरुप की तरफ बढ़ने वालों का नाम जिट, जेटा, गात आदि हो गया। अरबी साहित्य में जाट शब्द के स्थान पर उनके लिए जत नाम शब्द का प्रयोग किया गया है। ईसा से ४८० वर्ष पूर्व जरक्सीज ने जाटों की सहायता से यूनान पर धावा किया था। उस धावे में गांधार (जाटों का एक गोत विशेष) अधिक संख्या में शामिल थे।

जाट शब्द के उत्पत्ति के इतिहास और कारणों के सम्बन्ध की हमारी स्थापना और धारणा के लिए इतना वर्णन तथा सबूत काफी हैं। इसके सिवाय दूसरा कोई मत हो ही नहीं सकता कि जाट ज्ञात के अतिरिक्त कुछ और हैं।

जाटों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में जो अन्य इतिहासकारों को जो कल्पनायें लगानी पड़ी हैं उनकी समीक्षा करते हुए जाटों की उत्पत्ति सम्बन्धी वास्तविक इतिहास तथा वह शब्द जिससे कि जाट शब्द की व्युत्पत्ति हुई है उसे प्रकाश में लाकर भविष्य के इतिहासकारों और अन्वेषकों की इस कठिनाई को सुलझा दिया है जो उन्हें जाट शब्द की खोज के लिए उठानी पड़ती ! हमें यह भी आशा है कि जिन लोगों ने हैरानी के कारण अर्थात् तथ्य तक न पहुँचने की वजह से कुछ अपूर्ण एवं निराधार धारणायें बताई थीं वे भी हमारी खोजपूर्ण और सही स्थापना से सहमत होंगे।

तृतीय अध्याय

भारत की अन्य क्षत्रिय जातियां और जाट।

इस समय भारत में जाटों के सिवा जो अन्य प्रसिद्ध क्षत्रिय जातियाँ हैं उनमें राजपूत, गूज़र, अहीर और मराठा उल्लेखनीय हैं। अब हमें इस अध्याय में ये विचार करना है कि इन सब का पारस्परिक क्या सम्बन्ध है। ये सभी अपने लिये क्षत्रिय कहते हैं और सभी अपने आदि पुरुष राम-कृष्ण को बतलाते हैं। इनके अनेकों गोत्र और प्रवर भी एक ही हैं। अनेक बातों में एक होते हुए फिर भी अनेक क्यों हैं? उनमें से समझदार लोग यह भी मानते हैं कि हम सब एक हैं। फिर भी उनमें विवाह सम्बन्ध तथा खान-पान की विभिन्नता क्यों है? इन्हीं प्रश्नों का उत्तर अनेक इतिहासकारों ने अपनी मति के अनुसार देने की चेष्टा की है। हम भी इस विषय पर यथा शक्ति सन्तोपजनक प्रकाश डालना चाहते हैं।

जाट, मराठा, गूज़र।

'पंजाब कास्टस्' में सर इवट्सन लिखते हैं—"*गूजर पंजाब की सबसे बड़ी आठ जातियों में से एक हैं। यह डील-डौल और शारीरिक बनावट में जाटों से मिलते जुलते हैं। सामाजिक रीति रिवाजों में जाटों के समान हैं किन्तु जाटों से कुछ उन्नीस हैं। दोनों जातियाँ बिना किसी परहेज के परस्पर खान-पान करती हैं।*" (पे० १८४)।

"The Gujars are among the eight largest castes in the Punjab, only the Jats, Rajputs, Pathans, Aryans and Brahmans among the higher and Chamars and Chuhras among the lower exceeding them. They are fine stalwart fellows of precisely the same type as the Jats. He is of the same social standing as the Jat perhaps slightly inferior and the two eat and drink in common without any scruple."

हिस्ट्री ऑफ हिन्दू मेडिविल इण्डिया भाग १ में चिन्तामणि विनायक वैद्य ने लिखा है—"*गूजर भी सूरत शक्ल में आर्य हैं चाहे उनके चेहरे काले हैं। मराठा भी सूरत शकल में आर्य हैं चाहे उनकी नाकें आर्यों की अपेक्षा कुछ*

श्रीमान् कुँवर हुक्मसिंह जी रईस

आंगई मथुरा।

स्व० ठा० माधवसिंह जी, शुद्धि सभा
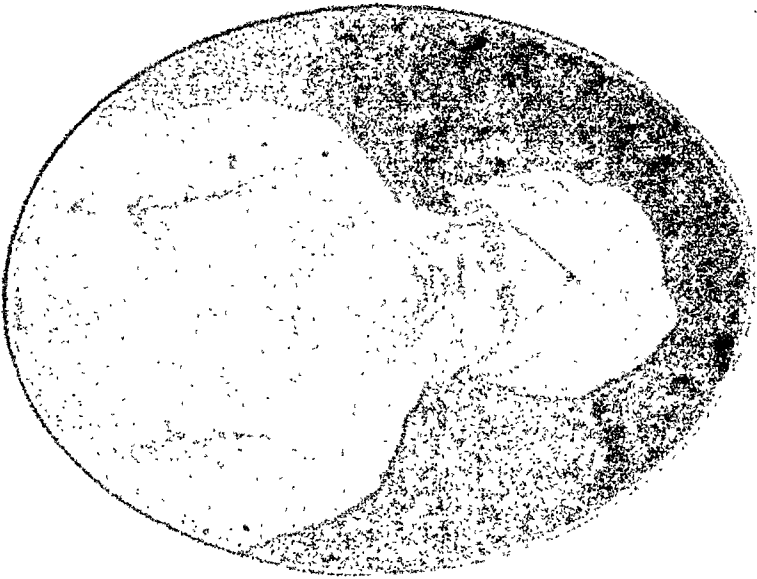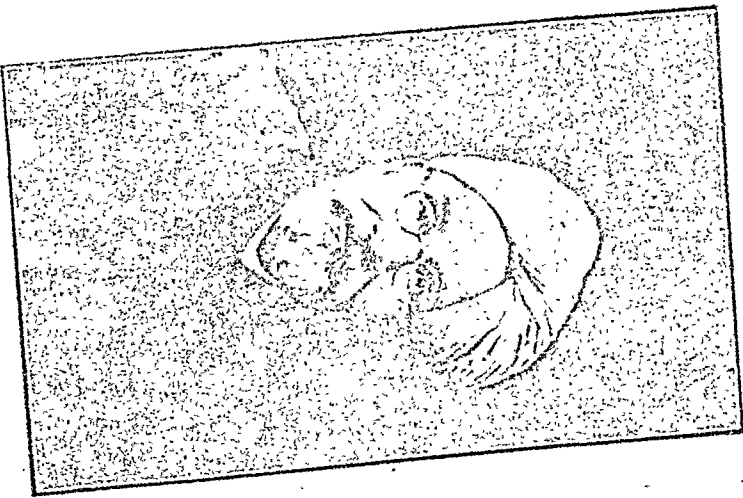
चा० नाथमल जी,
शुद्धि-सभा, आगरा।

क्रम हैं क्योंकि उनका द्रवीडियन जाति में मिश्रण होगया है । दुर्भाग्य से इन तीन जातियों को देशी विदेशी विद्वान् इतिहासकारों द्वारा हानि उठानी पड़ी है। पौराणिक समय के भारतीय शास्त्रियों ने, जो कि पशु पालन, और पुनर्विवाह की रसम के विरुद्ध थे जिसका कि चलन तीनों जातियों में है, उनकी शूद्रों में गणना की है ? और यूरोपियन अन्वेषकों ने उन्हें सीथियन जाति से बतलाया है क्योंकि उन पर इस अजीब धारणा का प्रभाव पड़ा है कि पिछले समय में इन जातियों ने जो कार्य किए थे वे ऐसे थे कि उनको भारत में पहिले के बसने वाले लोग नहीं कर सकते थे और उनको कुशान या हूण लोगों की तरह नये आने वाले लोग ही जो कि सिथियन कहलाते थे कर सकते थे। लेकिन यह निर्विवाद सिद्ध है कि जाट पूर्ण रूप से और गूजर मराठा थोड़े अंश में निश्चय आर्य वंश हैं। भारतीय शास्त्रियों का उन्हें शूद्र गिनना और यूरोपियन अन्वेषकों का उन्हें सीथियन गिनना ऐतिहासिक दृष्टि से तथा मानव तत्व अनुसन्धान की दृष्टि से गलत है। यह स्वीकार करना पड़ेगा; चाहे ये नाम इस समय में प्रसिद्ध हुए और प्रयोग में आये। अतः ये दलील नहीं हो सकती कि वे इस समय में या इससे पहिले भारत में आने वाली नई जातियाँ थीं। कई कारणों से नये नाम पैदा हो जाते हैं।" (पे० ७३-७४)

इनके सिवाय जाट, गूजर और मराठाओं में और भी अनेक समानतायें हैं। इनके कई गोत्र भी आपस में मिलते हैं। पंवार, सोलंकी, तंवर या तवार आदि गोत्र जाट, गूजर, मराठा तीनों जातियों में मिलते हैं। सुर्वे और राणा मराठों के भी गोत हैं और यह गोत जाटों के भी हैं। जिस तरह से मराठों का एक बड़ा समूह अपनी उत्पत्ति कश्यप से मानता है उसी तरह जाटों में भी एक ऐसा दल है, जो कि अपने को कश्यप का वंशज कहता है। मराठों में गणपति की पूजा का जिस भाँति प्रचार है जाट शिवजी को उससे अधिक श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं। सामाजिक रहन-सहन और खान-पान में मराठे उतने ही स्वतन्त्र हैं जितने कि जाट। शारीरिक गठन और लम्बाई-चौड़ाई में मराठे जाटों से कुछ हलके अवश्य हैं किन्तु रण-कुशलता में मराठों और जाटों में कोई अन्तर नहीं। जाट और मराठे दोनों की मानसिक प्रवृत्तियाँ, स्वभाव, साहसिकता बिल्कुल समान हैं। उनके युद्ध के तरीकों में इतिहास अधिक भेद नहीं बतलाता। शत्रु के सामने न झुकने तथा लोभ और प्राण-रक्षा के लिये आन को न खोने की उनकी आदत ने काफी प्रसिद्धि दी है। दोनों ही जातियों का अराजकवाद और गणतन्त्रवाद से सम्बन्ध रहा है और यह भी सही है कि अराजकवादियों और प्रजातन्त्रवादियों के अधिकांश समूह इन ही दोनों जातियों से सन्निहित हैं। नाग लोगों की कई शाखायें

जाट और मराठों में शामिल हैं। अन्तर इतना है कि मराठे दक्षिण-पश्चिम में रहते हैं और जाट उत्तर-पश्चिम में। यदि यह सौभाग्य प्राप्त हुआ होता कि इन दोनों जातियों की बस्तियाँ एक ही जगह होतीं तो इसमें कोई सन्देह नहीं कि जाट और मराठों के एक जाति बन जाने का सूत्रपात अब तक हो जाता। मुस्लिम-काल के राजनैतिक संघर्ष में जाट और मराठे देश के हित के लिए जितने अधिक शीघ्र एक दूसरे के मित्र हो गये थे, उससे यह सिद्ध होता है कि राष्ट्र तथा समय की पुकार का उन्हें शीघ्र ही अनुभव हो जाता है और अनुभवशील जातियाँ शीघ्र ही संगठित हो जाती हैं। और जब कि वह एक ही वंश और स्टाक के हों तो कोई कठिनाई नहीं रहती।

जाट और गूजरों में सिर्फ पारस्परिक शादियों का रिवाज़ नहीं है, बाकी खान-पान, रहन-सहन, हुक्का-पानी सब में एक हैं। जाट यदि कृषि-विद्या में निपुण हैं तो वे पशु-पालन में। भाषा, भेष, धार्मिक और सामाजिक विश्वास कोई भी ऐसी चीज़ नहीं जिनसे जाट और गूजर दो जातियां मानी जावें। उनके जातीय उपाधियाँ (ख़िताब) चौधरी, पटेल, मुकद्दम, फौजदार और ठाकुर आदि एक ही होते हैं।

जाट, अहीर

अहीर जो कि भारत की प्राचीन क्षत्रिय जाति है और अराजकता के लिये काफी प्रसिद्ध रही है जाटों का इससे रक्त सम्बन्धी तथा सामाजिक सम्बन्ध मराठों और गूजरों जैसा निकटतम है। श्रीकृष्ण के लिये जाट और गूजर दोनों ही पूर्व पुरुष मानते हैं। यद्यपि इस समय अहीरों में परस्पर भी कुछ ऐसी दुर्भावानायें उत्पन्न हो गई हैं कि वह स्वयं एक शाख वाले दूसरी शाख वालों को अपने से हीन समझते हैं। लेकिन जाटों का सर्व अहीरों से चाहे वे अपने लिये यादव, गोप, नंद, चाहे आभीर कहें एकसा व्यवहार है। जैसे खान-पान में जाट और गूजरों में कोई भेद नहीं वैसे ही अहीर और जाटों में भी कोई भेद नहीं। इतिहासों में इनके रहने का भी स्थान निकट-निकट बतलाया गया है। भारत से बाहर भी जहाँ कहीं जाटों का अस्तित्व पाया जाता है वहीं अहीरों की बस्तियां भी मिलती हैं। चीन में जहाँ जाटों को यूची नाम से याद किया गया है वहाँ अहीरों को शू नाम से पुकारा गया है। ईरान में जाटालि प्रदेश के निकट ही अहीरों की बस्तियां भी पाई जाती हैं। हमारा अपना तो यह ख़याल है कि भारत की मौजूदा आर्य क्षत्रिय जातियों में अहीर सब से पुराने क्षत्रिय हैं। जब तक जाट, राजपूत, गूजर और मराठा नामों की सृष्टि भी नहीं हुई थी अहीरों का अभ्युदय हो चुका था। पौराणिक लोगों ने अहीरों के गिराने के लिये काफी ज़हर उगला है। ऐसा मालूम होता है, हैहय, ताल, जंघ, अथवा कार्तवीर्या अर्जुन जैसे स्वतंत्र विचार के और ब्राह्मणों के दासत्व का विरोध करने वाले क्षत्रिय राजे इसी जाति में पैदा हुए थे जो कि अब अहीर कहलाती है। दूसरी बात यह भी है कि मध्यकाल में जिसे रामायण

और बौद्ध-काल के बीच का समय कहना चाहिये अहीर लोग या तो अराजकवादी थे या गणतंत्रवादी। बृज में इनकी एक शाखा गोपों का कृष्ण-काल में जो राष्ट्र था वो प्रजातंत्र प्रणाली द्वारा शासित गोपराष्ट्र के नाम से था। नंद जिसके कि यहाँ श्रीकृष्ण का पालन पोषण हुआ था या तो वे अहीर थे या जाट। अरबी यात्री अलबरुनी ने नन्द को जाट ही लिखा है। कुछ भी बात हो लेकिन इससे यह सिद्ध होता है कि जाट और अहीरों के पुरखे किसी एक ही भंडार के हैं। इम्पीरियल गजेटियर के कथनानुसार कुछ अहीर आगे चल करके राजपूत हो गये। शायद दक्षिण भारत में ऐसा हुआ हो। पूर्व की ओर के कुछ अहीर ऐसे पेशे करने लग गये हैं जिनके कारण वहाँ के उच्च हिन्दू उन्हें नीची निगाह से देखते हैं। पेशे के कारण जातियां गिराने के रिवाज ने भारत की अनेक योद्धा जातियों को पतित बना दिया। किन्तु प्राचीन गौरव अहीरों का क्षत्रियोचित था और वे क्षत्रिय ही हैं इसमें कोई सन्देह नहीं। अहर नाम की जाति भी अहीरों की ही शाखा है। जाटों का उनके साथ भी समानता का व्यवहार है। उत्तर भारत में अहीर और जाटों की सम्मिलित बस्तियां हैं और उनमें रसमरिवाज में कोई बड़ा अन्तर नहीं है। गूजरों के समान ही अहीर और जाटों की कुछ एक उपाधियां भी एक ही हैं।

जाट, राजपूत

राजपूत जिनके कि इस समय भारतवर्ष में जाटों से भी अधिक रजवाड़े हैं अपने को जाट-गूजरों की भाँति राम और कृष्ण के वंशज होने का दावा पेश करते हैं। उनके राजपूत शब्द की उत्पत्ति के ऊपर देशी विदेशी इतिहासकारों के विभिन्न मत हैं। कुछ लोग उन्हें शक और हूणों के उत्तराधिकारी बताते हैं और कुछ लोग जाट, गूजर, अहीर, भर और ब्राह्मणों में से राजशक्ति प्राप्त करने वाले समूह को ही राजपूत कहते हैं। ऐसे ही विचार वालों का एक हवाला इम्पीरियल गजेटियर से यहाँ उद्धृत करते हैं:—

Then between the seventh and tenth centuries A. D. the old racial divisions passed away and a new division came in founded upon status and function. But of the older divisions two remained atleast in theory the Brahmans and Kshattriyas. The Aryan Kshattriyas had long ceased to be a warrior, he was often a distinguished metaphysician; and according to a popular legend the whole race was exterminated for desputing with the Brahmans. But the theory still held good that to rule was the business of a Kshattriya and Kshattriya kings were common down to the seventh century A. D. although many of them were probably Sudra-Kshattriyas or like the Turky kings of Ohind; not Hindus at all. The place of those Kshattriyas was taken in the middle ages by the clans of Rajputs or sons of kings, whom the people called Thakurs

or Lords. The rise of Rajputs determined the whole political history of the time.. Every tribe which excercised soveriegn power or local rule for a considerable period joined itself to them. They recognized no little deeds except their swords, and were constantly seeking for new settlements. They are found every where, from Indus to Bihar, but their original homes were two, Rajputana and the South of Oudh. They made their first appearance in the eighth ninth centuries; most of the greatest clans took possession of their future seats between A. D. 800 and 850. From Rajputana they entered the Punjab and made their way to Kashmere in the tenth century. About the same time they spread North and East from southern Oudh and during the twelvth and thirteenth centuries they made themselves masters of the central Himaliyas. Their origin is a subject of much dispute. None of the Rajput clans are indigenous to the Doab. Now the kingdom of kanauj was the most potent of all kingdoms of Hindustan, and the Doab was the centre of all Aryan population and culture throughout the middle ages. The Rajputs can not therefore be pure Aryans and if we examine the actual origins of the most ancient clans we shall find that they are very mixed. In the Punjab we have reigning Brahman families which became Rajputs. In Oudh Brahmans, Bhars and Ahirs have all contributed to the Rajput clans, but the majority appear to have been Aryanised Sudras. Of the clans of Rajputana some—like the Chauhans, Solankis and Gahlots—have a foreign origin, others are allied to the Indo-Scythic Jats and Gujars; others again represent ancient ruling families with more or less probability But whatsoever might be their origin; all these clans acquired a certain homegenity by constant intermarriage and adoption of common customs......They all refused to perform the manual work of an agriculturist. It is this code of honour, these common customs, which made them homogeneous and unique. Page (30 to 308). Imperial Gazetteer of India. Vclume II Historical.

अर्थात्—सातवीं और दशवीं शताब्दी के वीच में प्राचीन वर्ण भेद जात रहा और स्थिति कार्य के अनुसार एक नवीन वर्ण प्रचलित हो गया। प्राची वर्णों में से केवल ब्राह्मण और क्षत्रिय ये दो वर्ण नाममात्र को रह गए। आ क्षत्रियों ने वहुत दिनों से लड़ाई का काम छोड़ दिया था। उनमें वड़े वड़े तात्विव होने लगे थे। कहते हैं उनकी सम्पूर्ण जाति ब्राह्मणों से वाद विवाद करने के कारण निकाल दी गई। चाहे जो हुआ हो परन्तु यह वात अव तक चली आती थी वि
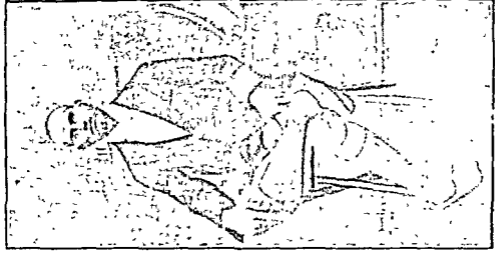
श्री० गिरधरसिंह जी
अहमदाबाद।

सूबेदार बीरबलसिंह जी
उतरादाबास, भादरा।

पं० सागरमल जी जाट स्कूल
देवरोड, जैपुर।
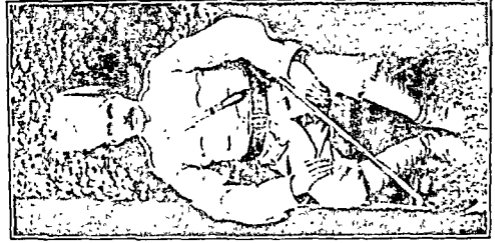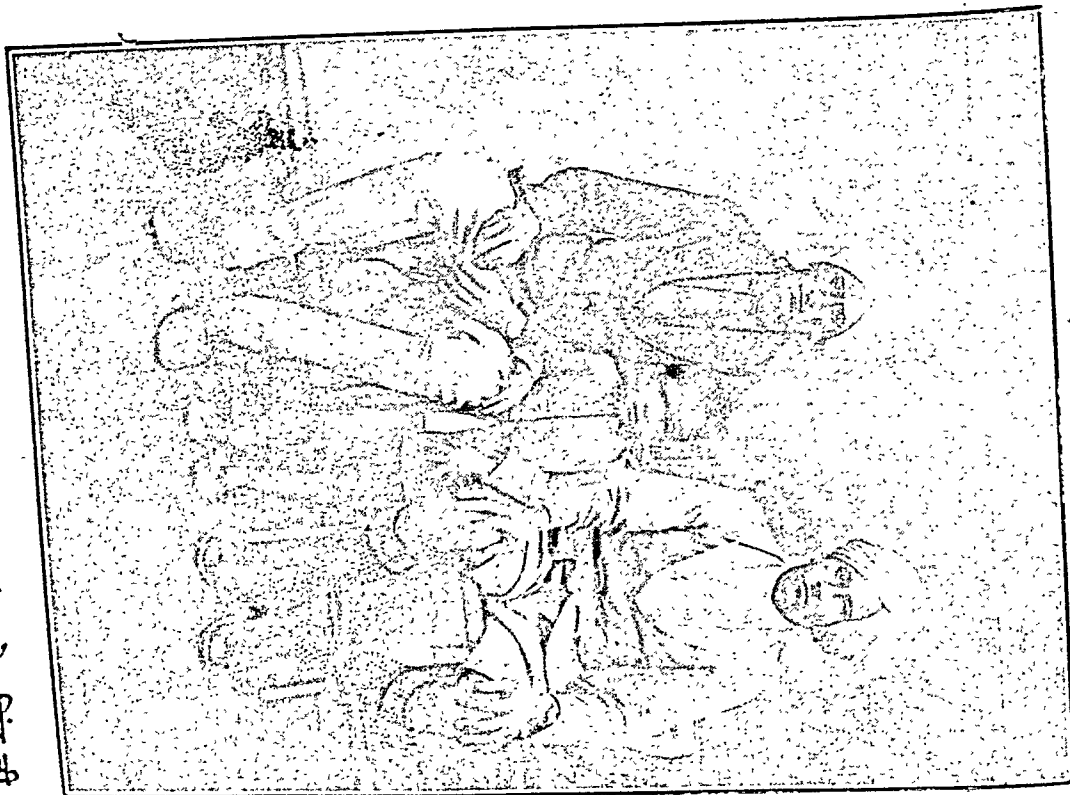
बाईं ओर से—सरदार हरलालसिंह जी, कुं० नरेन्द्रसिंह जी,
... जैपुर।

राज्य करना क्षत्रिय का काम है। सातवीं सदी तक क्षत्रिय राजा रहे। हाँ यह जरूर है कि उन में बहुत से शूद्र क्षत्रिय थे। बल्कि ओहिन्द के तुर्की बादशाहों के समान बहुत से हिन्दू भी नहीं थे। बीच के जमाने में इनका स्थान राजपूतों ने ले लिया जिन को लोग ठाकुर कहते हैं। राजपूतों ने अपनी बढ़ती के समय के सम्पूर्ण राजनैतिक इतिहास पर अधिकार कर लिया है। प्रत्येक जाति जिसने कुछ दिनों भी राज्य किया उनमें मिल गई। वे हक्क (स्वत्व) और दस्तावेज वगैरह को बिल्कुल न देखते थे किन्तु तलवार के जोर से जमीन को लेते थे और सदा नई जगहों की खोज में रहा करते थे। यद्यपि वे सिन्धु से लेकर बिहार तक पाये जाते हैं परन्तु उन के असली स्थान—राजपूताना, दक्षिणी अवध ये ही थे। उन्होंने आठवीं-नवीं शताब्दी में पहिले पहल अपने को प्रकट किया। अनेक बड़ी जातियों ने उनकी भावी जगहों को ८०० और ८५० के बीच में लिया। राजपूताने से वे पंजाब गए और फिर दसवीं शताब्दी में काश्मीर चले गए। इसी समय वे दक्षिण अवध से उत्तर-पूर्व में फैल गए और बारहवीं-तेरहवीं शताब्दियों में मध्य हिमालय को उन्होंने अपने अधिकार में कर लिया।

राजपूतों की उत्पत्ति

इस विषय में बड़ा मतभेद है। राजपूत जाति द्वावे (दुआवे) की नहीं है। उस समय कन्नौज का राज्य हिन्दुस्थान के सब राज्यों में बढ़ा चढ़ा था। और द्वावे का देश बीच के समय में आर्य-जाति और आर्य-सभ्यता का केन्द्र रहा था इस कारण राजपूत लोग कदापि शुद्ध आर्य नहीं हो सकते। जब हम अत्यन्त प्राचीन जातियों की असली उत्पत्ति पर विचार करते हैं तो मालूम होता है कि वे मिश्रित हैं। पंजाब में ऐसी राज्याधिकारी ब्राह्मण जातियाँ हैं जो राजपूत हो गईं। अवध में ब्राह्मण, भर और अहीरों में से राजपूत बन गये। परन्तु अधिकतर राजपूत शूद्रता से आर्यत्व को प्राप्त हुए। राजपूताने की जातियों में से चौहान, सोलंकी, गहलौत आदि कुछ की उत्पत्ति विदेशीय है। कुछ इन्डो सिथियन-जाट और गूजरों में से हैं। कुछ सभ्य प्राचीन राज्यवंशों में से हैं। अस्तु चाहे जो उनकी उत्पत्ति हो ये सब जातियाँ आपस में शादी व्यवहार करने तथा अन्य रीति-रिवाजों के कारण मिल कर कुछ-कुछ एक सी हो गई हैं। यद्यपि ये सब अपने को एक ही कुल और वंश से बतलाते थे परन्तु जातीय प्रेम और स्वामी की आज्ञा-पालन में बड़े प्रसिद्ध थे। ये ऊँची जातियों में अपनी लड़कियां दिया करते थे। और नीची जाति से लड़कियां लिया करते थे। शील रक्षा के विषय में उन के समान भाव थे! और जौहर एवं सती के भी समान रिवाज थे। खेती और मजूरी का कोई काम नहीं करता था। इन्हीं समान रिवाजों के कारण वे सब एक हो गए। पश्चात् उन के बन्दीगणों ने उनके विषय में अनेक कथायें बनाकर उनको भी राम और कृष्ण की संतान और उनके कुल की मनमानी प्रशंसा कर डाली।

इम्पीरियल गजेटियर की दी हुई सम्मति से हम पूर्णतया सहमत नहीं हैं। राजपूतों में अनेक विशुद्ध आर्य राजवंशी भी हैं और न वे सब विदेशी हैं। उनमें

से बहुत से ऐसे राजवंश हैं जिनका सीधा सम्बन्ध यादव क्षत्रियों से तथा सूर्यवंशियों से है जैसे—करोली के यादव और संयुक्त-प्रदेश के रघुवंशी। अग्निवंशी राजपूतों के सम्बन्ध में यह हो सकता है जैसा कि भाई परमानन्दजी ने 'तारीख़ पंजाब' में लिखा है कि—'वह भारत की पिछड़ी हुई और जंगली जातियों से क्षत्रिय श्रेणी में लाए गये।' चिन्तामणि वैद्य के 'हिन्दू भारत का उत्कर्ष' में लिखा हुआ ये कथन भी सही माना जा सकता है कि—'परिहार और बड़गूजर गूजरों से राजपूत बनाये गये।" राजपूतों के जाटू गोत्रों का निकास जाटों से हुआ है इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं।

मि० आर्जीलेथम के 'एथोनोलोजी आफ इण्डिया' पृष्ठ २५४ के एक नोट से जाट-राजपूत के सम्बन्ध पर इस तरह प्रकाश पड़ता है—"The Jat in blood is neither more nor less than a converted Rajput and vice versa; a Rajput may be a Jat of the ancient faith.

अर्थात्—रक्त में जाट परिवर्तन किये हुए राजपूत से न तो अधिक ही है और न कम ही है। किन्तु अदल-बदल है। एक राजपूत प्राचीन धर्म का पालन करने वाला एक जाट हो सकता है।

वास्तव में बात तो यही है किन्तु छटी-सातवीं सदी के पश्चात् जाटों की प्रजातन्त्रीशक्ति नष्ट होती गई और राजपूतों की साम्राज्यशक्ति बढ़ती गई। यद्यपि इस बात को वे स्वयं जानते हैं कि जाटों के और हमारे बीच में रक्त-सम्बन्धी कोई अन्तर नहीं है; किन्तु फिर भी वे अपने को जाटों से उच्च मान कर उनके साथ में राज्य-शक्ति के बल पर कटुतापूर्ण व्यवहार करने लगे। संयुक्त प्रदेश और पंजाब में जाट और राजपूतों के अन्दर राजपूताने जैसा भेद नहीं है। प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रीतियों से दोनों जातियों में वैवाहिक-सम्बन्ध भी होते रहे हैं। कर्नल टाड के कथनानुसार राजा शालेन्द्रजित ने किसी यादव राजपूत की लड़की से शादी की थी लेकिन उसकी सन्तान दोगला कहलाई। इससे ऐसा मालूम पड़ता है कि शालेन्द्र के जाति भाई जाटों ने राजपूतों के साथ विवाह-सम्बन्ध करने में अपनी हेटी समझी थी। पंजाब-केसरी महाराज रणजीतसिंह की अनेक रानियों में से दो राजपूत बालायें थीं। हमें इस बात पर अधिक प्रकाश डालने की कोई अधिक आवश्यकता नहीं जान पड़ती कि कितने जाट कुमार-कुमारियों के सम्बन्ध राजपूतों से हुए। जाटों में ऐसे अनेक गोत्र हैं जो राजपूत-गोत्रों से बिल्कुल मिलते हैं जैसे बड़गूजर, भट्टी, दाहिमा, दहिया, दीक्षित, गेहरवार, गहलोत, इन्दोलिया, कछवाहा, मोरी, पवार, परिहार, रैकवार, राठौर, राठी, रावत, सिकरवार, सोलंकी, तोमर आदि आदि। इन गोत्रों से दोनों जातियों का पीछे की कई पीढ़ियों में जाकर एकत्व सिद्ध होता है। एक ही नाम के राजवंश दो अथवा अधिक दलों में (जाट, राजपूत, गूजर) कब और क्योंकर विभक्त हो गये इस प्रश्न का सही उत्तर

से है कि कुछ राजनैतिक मत-भेद के कारण, (साम्राज्यवादी और ज्ञातिवादी अर्थात् प्रजातन्त्री होने) कुछ धार्मिक मत-भेदों के कारण (जैन, हिन्दू, बौद्ध आदि के संघर्षण) विभिन्न हो गए और बौद्ध-काल के बाद पौराणिक धर्म के उत्कर्ष का अवसर है।

इनके विभिन्न होने का समय एक तो महाभारत के बाद का है जो कि साम्राज्यवादियों और गणतंत्रियों की भिड़न्त का जमाना कहा जाता है। दूसरा बौद्ध-काल के पश्चात् का है जब कि पौराणिक-धर्म का उदय हुआ था। राजनैतिक और धार्मिक मत भेद ने एक एक राजवंश और कुल को विभिन्न दलों या जातियों में बांट दिया। इस प्रश्न का हल वंशावली रखने वाले भाटों व व्यासों ने एक विचित्र और बेढंगे तरीके से किया है। उनका कहना है कि जो जो राजपूत सरदार किसी जाटिनी से शादी करते गये, जाट हो गये। एक तो यह उत्तर अथवा धारणा यों ही गलत है कि उनके यहाँ एक भी जाट गोत ऐसा न मिलेगा जिसके लिये उन्होंने यह न लिखा हो कि वह अमुक राजपूत के जाटिनी से शादी कर लेने के कारण जाट हो गये। जब सभी जाट इस प्रकार राजपूत के जाटिनी से सम्बन्ध कर लेने के कारण हुए हैं तो आखिर वे जाटिनी कहाँ से आईं जिनसे कि वे सम्बन्ध कर लेते थे? दूसरे हमें हिन्दू-धर्म-ग्रन्थों में ऐसे प्रमाण तो मिलते हैं कि स्त्री चाहे किसी भी गोत व जाति की हो अपने गोत व कुल में आने पर अपने ही कुल की हो जाती है, और उसकी संतान बाप के वंश के नाम से पुकारी जाती है। किन्तु यह कहीं भी लिखा हुआ नहीं मिलता कि पुरुष कीहुई स्त्री के कुल का हो जावे और उसकी संतान स्त्री के कुल की कही जाय। 'मनु' तो कहता है कि—

'स्त्री' किसी भी कुल की हो और रत्न कहीं भी प्राप्त हो ग्रहण कर लेना चाहिये।

व्यासों या भाटों का कथन सही माना जावे तो सिद्ध होता है कि राजपूत वास्तव में हिन्दू नियमों को मानने वाले न थे, और शायद ऐसे ही कारणों से यूरोपियन इतिहासकारों ने उन्हें विदेशी मान लिया हो। किन्तु बात ऐसी नहीं है। यातो व्यास लोग राजनीति और धार्मिक मतभेद की बात को छिपाना चाहते थे जिससे उन्होंने ऐसी बातें गढ़ी हैं। या वह जाटों के साथ धार्मिक द्वेष रखने के कारण उन्हें दूसरों की निगाह में वर्णशंकर सिद्ध करने के लिए ऐसी बातें फैलाते थे। धार्मिक विद्वेष में इससे भी भूठी और घृणित बातें पहले से ही फैलाई जाती रही हैं। विष्णु पुराण में बुद्ध को राक्षसों (बौद्धमतावलंबियों) के बहकाने के लिए और उन्हें माया जाल में फँसाने के लिए प्रकट हुआ अवतार कहा है। जैन ग्रन्थकारों ने तो धार्मिक द्वेष में इतनी नीचता की (जैन हरिवंश पुराण में लिखा है) कि भगवान् श्रीकृष्ण को नाभि नामक नर्क में पहुँचा दिया! खेद तो हमें इस बात का है कि कुछ मुसलमान और अन्य इतिहास लेखक भी व्यासों के इस कथन पर विश्वास करने को तैयार हो गए। हम यह मानते हैं कि करोली के महाराज और भरतपुर के नरेश दोनों ही यादववंशी हैं। तथा जैसलमेर और पटियाला के नरेश भट्टी कुल की

शाखायें हैं। किन्तु यह मानना बिल्कुल बुद्धि विरुद्ध होगा कि पटियाला के महाराज दोगला हैं। धार्मिक मत-भेद तथा सामाजिक रस्म रिवाजों की भिन्नता ने उन्हें दो दलों में बाँट दिया, एक राजपूत कहलाते हैं दूसरे जाट। कुछ लोगों का कहना है कि पुनर्विवाह को मानने के कारण एक समुदाय के कुछ लोग जाट और पुनर्विवाह को बुरा समझने के कारण दूसरे राजपूत हो गए। यह सही है कि पौराणिक धर्म ने पुनर्विवाह निषेध किया है और इस समय पर्दे की प्रथा का भी चलन हो रहा था। जिन लोगों ने पुनर्विवाह की बन्दी के प्रस्ताव को मान लिया और पर्दे का प्रचलन कर दिया राजपूत कहलाने लग गये हैं और जो लोग पुनर्विवाह को अपने पुरषाओं की मर्यादा मान कर उसे न छोड़ सके, वे जाट हो गए। यह बातें पूर्णांश में नहीं तो कुछ अंश तक सही हो सकती हैं। किन्तु सारे जाट इसी भाँति जाट हुए और सारे राजपूत इसी भाँति राजपूत हुए हों ऐसी बात नहीं है। ऐसी घटनायें ८ वीं सदी के इधर की हो सकती हैं। उधर के भेदों का कारण तो बौद्ध-हिन्दू-धर्म के संघर्ष तथा उससे पहिले राजनैतिक मत भेद हैं। केवल क, ख, ग का ज्ञान रखने वाले व्यास या जागा जो कि अपने प्रभु–राजपूतों को जाटों से श्रेष्ठ बताना चाहते थे, इसके सिवा कह ही क्या सकते थे कि वे (जाट) राजपूतों से निकले हैं। किन्तु अपने होने वाले अपमान का राजपूतों ने भी कभी ख़याल नहीं किया कि उनमें विशेषता क्या रही जब जाटिनी से सम्बन्ध रखने के कारण जाट हो गये ? हम तो इतिहास में देखते हैं कि चित्तौड़ का सिसौदिया वंश मंडोर के परिहारों का खान्दान भी मिश्रण से हुआ था जैसा कि इन उद्धरणों से प्रकट होता है। राणा कुम्भा के बने एक लिङ्ग महात्म्य में लिखा है—

"आनन्दपुर विनिर्गत विप्र कुलांदनो महीदेव जयति श्री गुरुदत्तः प्रभवः श्रीगुदलवंशस्य"।

अर्थात्—आनंदपुर से आदि हुए ब्राह्मण वंश का गुरुदत्त गुदल वंश का संस्थापक हुआ। बाप्पा रावल के सम्बन्ध में विक्रम सं० १३३१ के चित्तौड़गढ़ के एक लेख में लिखा है—

जीयादानंद पूर्वं तदेह पुरमिलाखंड सौन्दर्य सोभिः।
क्षोणि पृष्ठस्थ मेव त्रदसपुर मध्य कुर्व्व दुच्चैः समृद्धयाः॥
यस्यादागत्यविप्रस्य तुरदधिमहिवेदि निक्षिप्त यूपो।
वप्पाख्यो वीतरागस्य रण युगमुपासीत् दारीत राशेः॥

अर्थात्—आनन्द बाप्पा नामक ब्राह्मण ने दारीत की सेवा की। (यह याद रहे इस बाप्पा की शादी सोलंकी वंश की राजकुमारी से हुई थी)

प्रायः अनेक राजपूत कुलों की उत्पत्ति का विवरण विचित्र ढंग से लिखा हुआ मिलता है। राठोरों के सम्बन्ध में राठोर महाकाव्य नामक ग्रन्थ में लिखा है।

जमादार गोपालसिंह जी प्रधान जाट सहायक कमेटी रसीदपुरा, सीकर।

कुं० दौलतसिंह रसीदपुरा, सीकर।
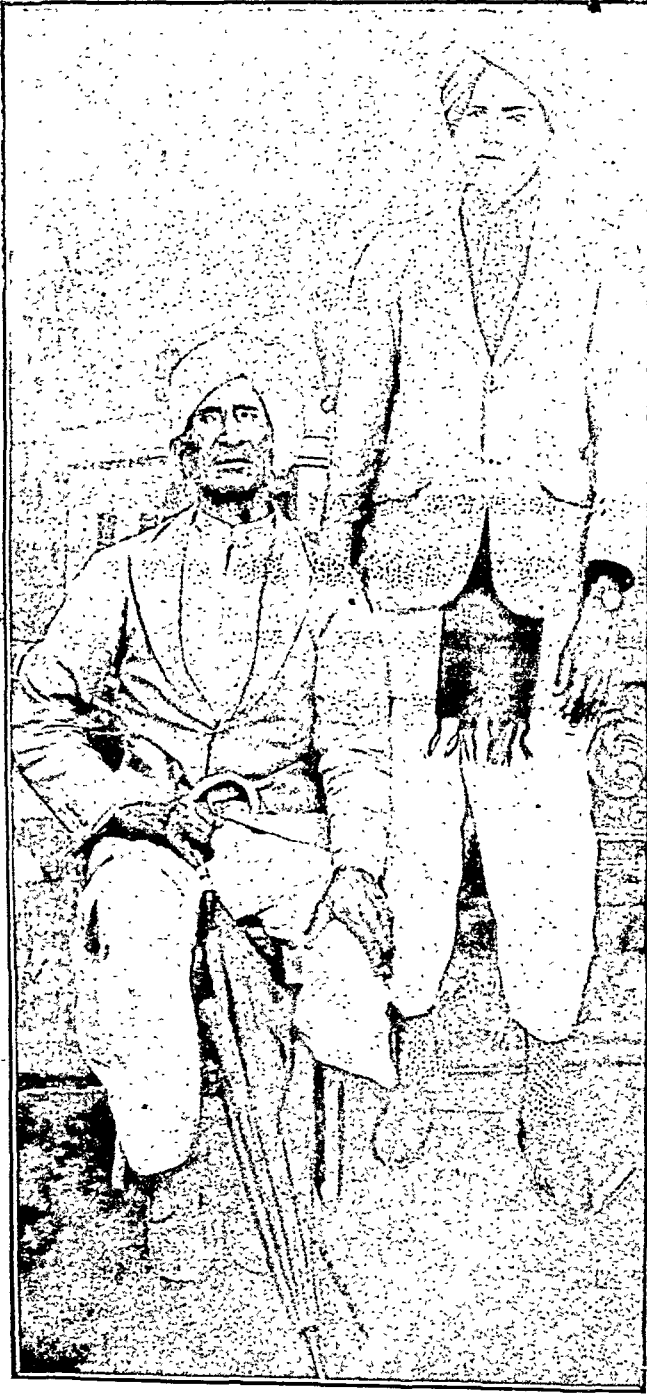
चौ० गोविन्दराम जी   कुं० शिवनाथसिंह जी

हनुमानपुरा, जैपुर (स्टेट)

॥ श्लोक ॥

पुरा कदाचित्त तये समेतान्देवान् नुज्ञाय गृहायसद्यः ।
कात्यायनीमद्धभृगाङ्क मौलिः कैलाश शैलेरमयाम्वभूव ॥१२॥
अन्योन्य भूपायण वन्धरम्यं तत्रान्तरे धूतम दीव्य तां तौ ॥१४॥
कात्यायनी पाणि सरोजकोश विलोलिताक्ष क्षपिताद येन्दो ।
गर्भान्वितैकादश वार्षिकोऽभूद भूतपूर्व प्रथमः कुमारः ॥२०॥
तस्मै वरं साम्व शिवोदयालुः श्रीकान्यकुब्जैश्वरतामरासीत् ॥२३
अत्रान्तरे कांचन लातनाख्या समेत्यदेवि गिरजाहराभ्याम् ।
विलीन भूमियति कान्यकुब्जराज्याधिपत्यायशिशुभय याचे ॥२४
नारायणे नामतृयः सुतार्थी यत्रेश्वरं ध्यायति सूर्यवंशः ।
सारुद्र दत्तेन सासुनिसहा सुनासिन्न वातृश्याञ्चन मे खलेन ॥२८
अलक्ष्यदेहा तम वोचदेपा राजन्नसावस्तु तवैक सूनुः ।
अनेनराष्ट्रं च कुलतवोढं राष्ट्रौढ़ नामातदिह प्रतीति ॥२६॥

अर्थात्—एक समय कैलाश पर्वत पर महादेव और पार्वतीजी चौसर खेल रहे थे। पार्वती जी के हाथ से पांसा उछल कर महादेव जी के मस्तक के चन्द्रमा पर जा लगा। उसी दिन चन्द्रमा में से एकादशवर्षीय वालक उत्पन्न हुआ और शिव-पार्वती की स्तुति करने लगा। उन्होंने प्रसन्न होकर उसे कान्यकुब्ज का राजा होने का वर दिया। उसी समय वहाँ पर लीला नाम की देवी आई। और उसने उस कुमार को कन्नोज की राजगद्दी पर बिठाने के लिये महादेव से मांग लिया। इसके बाद उसे ले जाकर पुत्र के लिये तपस्या करते हुए सूर्यवंशी नारायण नाम के राजा को दे दिया। सूर्यवंशी राजा नारायण के राज्य के वंश के भार को सम्हालने के कारण ही उसका नाम राष्ट्रौढ़ रखा। राठोरों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कैसी बढ़िया फिलासफी है। इसने तो महादेव की जटाओं से जाटों के पैदा होने वाली फिला-सफी को भी मात कर दिया।

चौहान, सोलंकी, पमार, परिहार, आदि राजवंशों की उत्पत्ति का वर्णन भी कुछ ऐसे ही ढंग का है। सोलंकियों को कहीं अग्निकुण्ड से उत्पन्न हुआ और कहीं ब्रह्माजी की चुल्लू से उत्पन्न हुआ लिखा है। परिहारों को जहाँ एक ओर—

क्रमशः

"विप्रः श्री हरिश्चन्द्राख्याः पत्नी भद्रा च क्षत्रिया।
ताभान्तु (येसुता) जाता (प्रतिहा) रांश्च तान् विदुः ॥५॥[१]

१—प्रतिहार वंश का ६४० का लेख।

अर्थात्—"मेरे मस्तिष्क में यह बात आती है कि राजपूत शब्द एक जातीयता का बोधक होने के बनिस्वत पेशे का बोधक है।" और ये सही भी जान पड़ता है कि कोई भी शासक समूह अथवा राजकुमार चाहे वह किसी जाति का हो अपने लिए राजपुत्र या राजपूत कह सकता है।

'क्षत्रिय वर्तमान' के लेखक अजीजसिंह प्रह्लादसिंह परिहार राजपूतों के सम्बन्ध में लिखते हैं—"राजपूत योद्धाओं के लगभग एक सहस्र राजवंश हैं। असली संस्कार संपन्न क्षत्रिय बहुत ही थोड़े हैं। चन्द, सूर्य, यदु और अग्नि कुल की वंशपरम्परा चली आती है। परन्तु आचरणों में कई भेद होगए हैं। प्राचीन काल में राजकुमार राजन्य; क्षत्र और क्षत्रिय शब्द इस जाति के लिए था जो बाद में यही शब्द क्षत्रिय, ठाकुर और राजपूत नामों में बदल गया है।" (पे० २७१)

ग्यारहवीं शताब्दी में राजपूत राजवंशों की एक सूची तैयार हुई थी, उस समय जितने राजवंशों का नाम राजपूत श्रेणी में लिखा गया था, तब से अब तक अनेक लोगों को राजपूत करार दे दिया है। कपूरथला, पडरोना और पटियाला इस कथन के प्रमाण हैं। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि राजपूत शासक-समूह को अपनी श्रेणी में क्रमशः शामिल करते रहे हैं और उन्हीं के शेष भाइयों को उसी हालत में छोड़ते रहे हैं। मि० इबट्सन ने यह ठीक ही कहा है कि वह खान्दान जिन्हें भाग्य ने राजनैतिक उन्नति में अग्रसर कर दिया वे अपनी उन्नतावस्था के प्राप्त होने से ही राजपूत कहलाने लगे। अनेक उन गोत्रों का जो कि राजपूतों में भी पाये जाते हैं और जाट, गूजर, अहीर, कुर्मी, कलाल में भी निशान मिलता है उनका यह कारण नहीं कि वह राजपूतों के जाट, गूजर, अहीर, कुर्मी, कलाल आदि जाति की स्त्रियों के साथ शादी करने के कारण हुए हैं। बल्कि उनमें से या तो राजनैतिक सत्ता अथवा ऊँचे बनने की धुन से अपनी जातियों की रिवाजों को छोड़ कर राजपूत बन बैठे और धीरे-धीरे पहिले के बने हुए राजपूतों में शामिल होते गए। राजपूतों में एक यह रिवाज है कि कुछ गोतों की लड़कियाँ ले तो लेते हैं किन्तु उनको देते नहीं। और अधिकाँश राजपूतों की यह अभिलाषा रहती है कि अपनी लड़कियाँ अपने से उच्च वंश (गोत्र) वालों में पहुँचें। ये बात भी के कथन को पुष्ट करती है कि अनेक जातियों से राजपूतों का संगठन हुआ।

ये संगठन इतने सख्त नियमों के साथ में हुआ कि समस्त राजपूत समुदायों अभी तक पारस्परिक समानता प्राप्त नहीं की। हाँ, इतना अवश्य हो गया है कि आरम्भ का उपाधिवाची राजपूत शब्द अब जातिवाची हो गया है।

मि० पी० जे० फागन साहब कहते हैं:—

The opinion of Indian best authorities seem to be gradually turning to the belief that the connection between the Jats and Rajputs is more intimate then was formerly supposed.
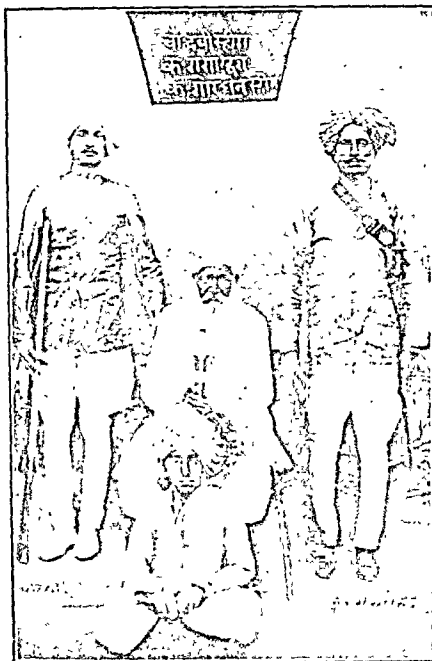
बाईं ओर से—कुं० गोवर्धनसिंह, चौ० देवीसिंह, कुं० गंगासिंह
ईनारपुरा, सीकर।
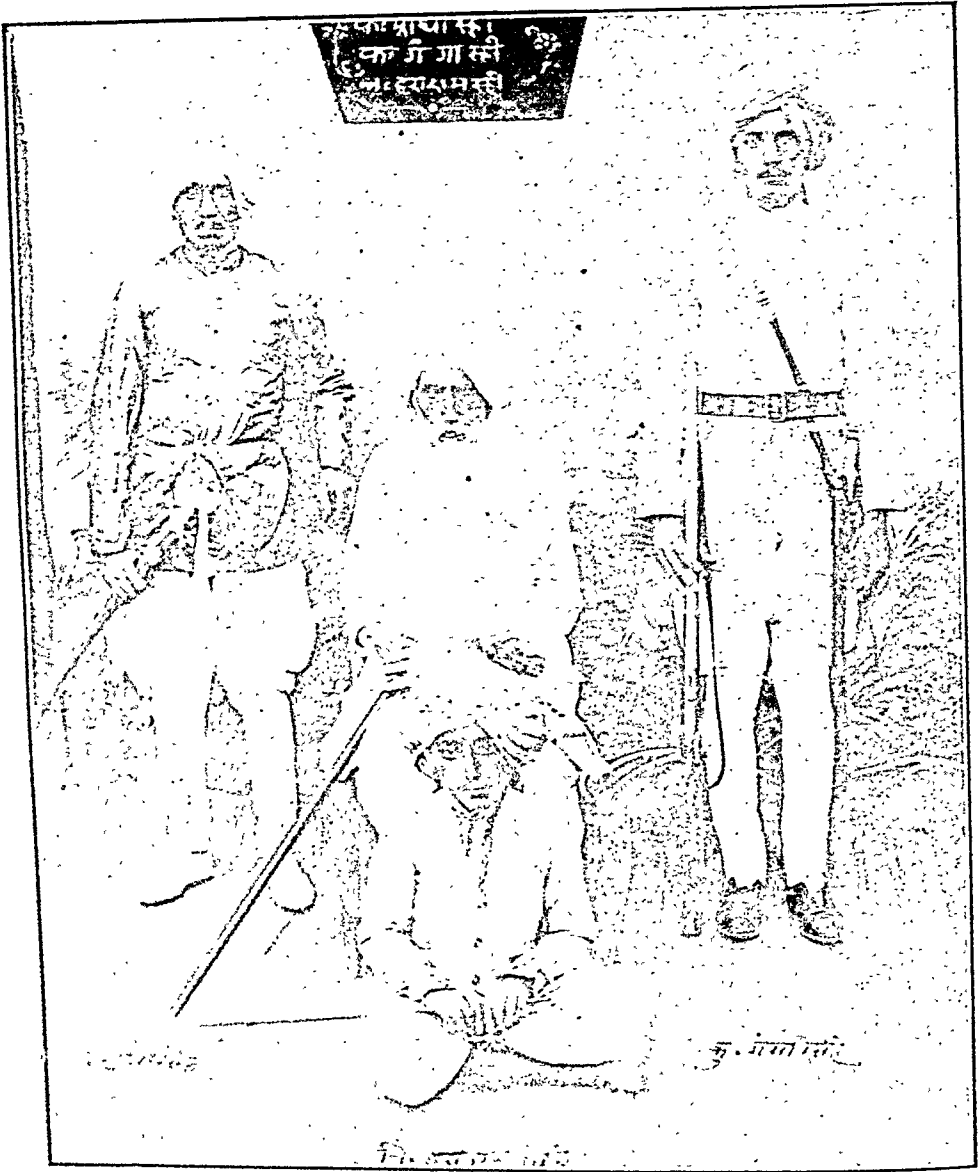
बाईं ओर से—कुं० पृथ्वीसिंह, चौ० रामबक्ससिंह, कुं० गंगासिंह, चि० हरीरामसिंह गोठड़ा, जैपुर।

"भारत के सब से बड़े अधिकारियों का मत शनैः-शनैः इस विश्वास की ओर बढ़ रहा है कि जाट और राजपूतों का सम्बन्ध जैसा कि पहिले अनुमान किया जाता था उससे अधिक घनिष्ठता का है।"

इसी सम्बन्ध में कुर्क साहब की राय है कि:—

It would probably require a life time of careful study and comparison before we could reach any satisfactory decision in the question whether Jats and Rajputs are identical, similar or distinct races.

"कदाचित इस बात की सावधानी से अनुसन्धान और तुलना करने में कि जाट और राजपूत एक ही हैं या पृथक्-पृथक् जातियाँ हैं इसका निर्णय करने में सारे जीवन का समय आवश्यक हो।"

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि जाट, राजपूत, गूजर आदि में रक्त सम्बन्धी कोई भी अन्तर नहीं और न भाटों की यह बात विश्वसनीय है कि जाट गूजर आचरण-भ्रष्ट राजपूतों की सन्तान हैं, जिन्होंने कुल-मर्यादा को छोड़ कर चलती-फिरती गूजरनियों एवं जाटनियों से सम्बन्ध कर लिये थे। क्योंकि कोई भी जाट, गूजर इस बात में अपमान समझता है कि अपनी लड़की की शादी अपनी जाति से बाहर करने को उससे कहें, हालांकि वे दूसरी जाति की स्त्रियों को अपने घर में डाल लेने में कोई बुराई नहीं समझते।

भारत की समस्त जातियों में और राजपूतों में भी अब विधवा-विवाह के प्रचलन, परदे के बहिष्कार, खान-पान की उदारता, अन्तर्जातीय विवाहों के आरंभ के लिये आन्दोलन हो रहा है। कुछ समय के बाद यह बातें क्रियात्मक रूप में भी आ जायंगी। तब किन आधारों पर राजपूतों का यह अभिमान टिक सकेगा कि हम अन्य क्षत्रिय समुदायों से ऊँचे हैं जिनमें कि उपरोक्त सुधार पहिले से प्रचलित हैं ? मुगल, पठान, और अंग्रेज़ों के समय में अपने बांके योद्धापन के कौशलों से जाटों ने यह साबित कर दिया है कि वह लड़ने-भिड़ने अथवा रणचातुरी में भारत की किसी भी सैनिक क़ौम से श्रेष्ठ हैं। पिछले १३०० वर्ष का इतिहास बतलाता है कि काबुल के पठानों अथवा दिल्ली के मुस्लिम शासकों ने भारतीय राजाओं पर चढ़ाइयां कीं तथा उन्हें कठिनाईयों में डाला। लेकिन हमें इतिहास यह भी बतलाता है कि भारत में एक ऐसी भी कौम है जिसने काबुल और दिल्ली पर आक्रमण करके वहाँ के शासकों को नाकों चने चबवा दिये। और वह बहादुर जाति जाट है।

यद्यपि जाट-जाति स्वभावतः प्रजातंत्रवादी है और उसने अपने इस स्वभाव को अधिकांश में निभाया है। फिर भी उसके इस समय भारत में राजपूतों को

छोड़कर अन्य सभी क्षत्रियों से अधिक रजवाड़े हैं। यदि कुछ सदियां पहिले जाटों के अन्दर पटियाला, नाभा अथवा भरतपुर वाले सरदारों की भाँति एकतंत्र शासन के भाव उदय हो जाते तो इस में तनिक भी सन्देह नहीं कि भारतवर्ष में सब से भूमि उसके अधिकार में होती। अभी सौ वर्ष भी नहीं हुए उसने इतने बड़े भूभाग को जिसे सिक्ख साम्राज्य के नाम से पुकारा जाता है अंग्रेजों के संघर्ष में खो दिया है, जिसके बराबर किसी भी एक जाति के राज्य मिलकर नहीं हो सकते ! चौदहवीं सदी के अंत तक जाट-जाति के अनेक प्रजातंत्र पाये जाते हैं। भटनेर, हिसार, बीकानेर, जोधपुर, टोंक राज्यों की भूमि पर के प्रजातंत्रों का वर्णन आगे के अध्यायों में लिखा गया है।

कोई भी क्षत्रियोचित गुण व विशेषतायें ऐसी नहीं जिनमें जाट राजपूतों अथवा भारत की अन्य किसी योद्धा जाति से कम रहे हों। पौराणिक धर्म के प्रभाव में न आकर यदि राजपूत जाटों के सहयोग को न खो देते तो यह संभव नहीं था कि अकबर या औरंगजेब का सितारा इतना चमक जाता।

सामाजिक रिवाजों में कुछ ही अन्तर होने के कारण एक ही स्टाक की दो जातियाँ एक स्थान पर रहती हुई भी इतनी अलग हो गई कि उन्हें एक मान लेने के लिये प्रमाण देने की आवश्यकता पड़ती है। और मि० पी० जे० फागन को यह लिख देना पड़ता है कि राजपूत और जाट एक हैं अथवा अनेक हैं इस बात को निश्चित करने के लिये सारी उमर खोज करने में बिता देनी पड़ेगी।

चतुर्थ अध्याय

स्वभाव, रंग-रूप, रहन-सहन, रस्म-रिवाज और वेश-भाषा।

जाटों में अधिकांश समूह चन्द्रवंशी क्षत्रियों का है। प्राचीन चन्द्रवंशी क्षत्रियों के सच्चे उत्तराधिकारी होने के कारण इतना लम्बा समय बीत जाने पर भी उनमें अपने प्राचीन पुरखाओं जैसा स्वभाव अभी तक बना हुआ है। चन्द्रवंशी क्षत्रियों को मल्ल-विद्या का बड़ा शौक था। भीम, जरासिन्ध, कृष्ण, बलराम और चारूण आदि के अनेकों उदाहरण महाभारत में उनके मल्लविद्या-प्रेमी होने के मिलते हैं। जाटों में मल्ल बनने का बड़ा शौक़ है। दिल्ली और आगरा के बीच में जाटों की कोई भी बस्ती ऐसी नहीं मिलेगी जिसमें जाट-बालकों के मल्ल-विद्या सीखने के अखाड़े न हों। मुग्दर घुमाने, नाल उठाने और लकड़ी चलाने को वे बड़े शौक से सीखते हैं।

स्वभाव, रंग-रूप

अपने पूर्वजों की तरह उनका स्वभाव विनोदी है। वे सदैव हँसमुख और प्रसन्न चित्त रहते हैं। वे परस्पर एक दूसरे से मिलते हैं तो उनके चेहरे पर मुस्कराहट होती है। मीठे मजाक का चलन भी उन्हें खूब है। जिस समय वो अधिक प्रसन्न होते हैं ठहाका मार कर हँसते हैं। हाथ पर हाथ मार कर (ताली बजाकर) प्रसन्नता प्रकट करने का भी आम रिवाज है। वो अपने सीधे और निष्कपट होने के लिये तो सर्व प्रसिद्ध हैं। क्रोध के समय वो दाँतों के नीचे होट को दबाकर अथवा हाथ मींजकर अपना भाव प्रगट करते हैं। जहाँ उन्हें अपना अपमान सहना पसन्द नहीं तहाँ वे दूसरों का अपमान करना भी बहुत बुरा समझते हैं। परिश्रम से कभी भी जी नहीं चुराते हैं। पुरुषों की भाँति उनकी स्त्रियाँ भी परिश्रम शील, विनोदी तथा हँस-मुख होती हैं।

जाटों के स्वभाव के सम्बन्ध में डाक्टर विर्रेटन साहब लिखते हैं—

Their intellectual facalities are not brilliant partaking more of shrewdness and cunning then ability.

अर्थात्—*उनमें योग्यता की बनिस्बत चालाकी और धूर्तता बहुत ही कम होती है। कहा जाता है कि वे स्वामिभक्त और साहसी होते हैं। अपनी रीति-रस्मों*

पर चलने वाले मेहनती होते हैं। फुर्तीले तथा गठीले बदन के होते हैं।"
यही साहब एक स्थान पर जाट स्त्रियों के सम्बन्ध में लिखते हैं—

The women are of very strong phisique exceeding man in this respect proportionately speeking. They are not remarkable for personal beauty, put some have fine figures......but are said to rule their husbands. The prevailing complexion is fair and colour of eyes dark and hair is dark, fine and straight.

अर्थात्—जाट स्त्रियां शरीर की बहुत मजबूत होती हैं और इस बात में मनुष्यों से चढ़ी-बढ़ी होती हैं। वे देखने में सुन्दर नहीं होती हैं परन्तु कुछ बहुत सुन्दर भी होती हैं। वे बहुत ही मेहनती होती हैं। और कहा जाता है कि वे अपने पतियों पर शासन करती हैं। वर्तमान में उनका चेहरा साधारणतया सुन्दर है। नेत्र काले रंग के हैं। बाल काले सुघर और मुलायम हैं।

लम्बाई में वे पूरी ऊँचाई के होते हैं। उनमें अनेकों का रंग तपाये हुए सोने की तरह गोरा और अधिकांश का रंग गेहुँआ और साँवला होता है। उनके कन्धे भरे हुए, भुजायें खूब लम्बी और सुदृढ़ होती हैं। परिश्रमशील होने के कारण उनका प्रत्येक अङ्ग दृढ़ और सुडौल होता है। उन्नत कन्धे और चौड़े सीने के कारण वह अच्छे सैनिक समझे जाते हैं।

रहन-सहन

चूँकि अति प्राचीन काल में जाट द्वाबे में तथा सिन्ध नदी के किनारे पर रहते थे इसलिए अब भी वह अपनी वस्तियाँ पानी के किनारे बसाना अधिक पसन्द करते हैं और जहाँ पानी का आश्रय नहीं होता है वहाँ अपनी बस्ती के निकट तालाब और बावड़ी बना लेते हैं। तालाब खुदाने, धर्मशाला बनाने की ओर उनकी अधिक रुचि होती है। वह अपनी वस्तियों के बीच में अथवा ऐसे स्थान पर जो कि वस्ती के सहारे हो और साथ ही वृक्षों की घनी छाया हो, नगर का सम्मिलित बैठक-भवन बना लेते हैं, जिसे कि ग्रामीण बोल-चाल में, अथाँई, थला, परस, चौपाल आदि कहते हैं। ऐसे बैठक-भवन प्रायः पृथ्वी से ऊँचे और सहन वाले होते हैं। कहीं तो उसके पास में बुर्ज भी बनवाते हैं। इन स्थलों पर एक नकारा जिसे कहीं यमक और कहीं बम्ब कहते हैं, रखते हैं। ये बम्ब या तो किसी उत्सव पर बजाये जाते हैं या किसी खास घटना के समय आस-पास के गाँव वालों को बुलाने के लिए। और बैठक-भवनों को इतनी आदर की दृष्टि से देखते हैं कि उस पर स्त्रियाँ नहीं चढ़तीं और न जूतों सहित जाते हैं। ग्राम में पंचायत का स्थान यही बैठक-भवन होते हैं। यद्यपि सर्वत्र
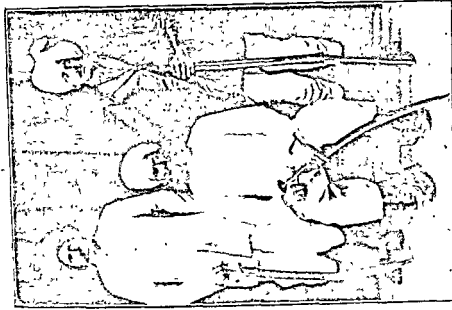
कुं० नारायणसिंह, ठा० नथलसिंह जी, कुं० गणेशसिंह भारणी, जयपुर (स्टेट)
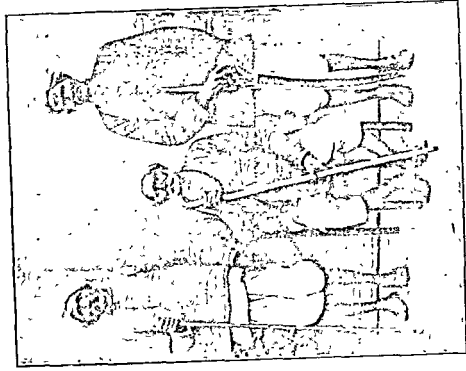
कुं० हरबक्ससिंह जी (तलवार लिये हुये)। शेष दो उनके पिता और भाई हैं। आप खंडेलावाटी-जाट-पंचायत के मंत्री हैं।

बाईं ओर से—चौ० कन्हैयासिंह जी, चौ० हरदीन जी वेहरा.
चौ० जसराज जी वेहरा, भुसावल।

कुं० मोतीसिंह जी, कुं० खेमसिंह जी कोटड़ी
पो० रींगस, जयपुर (स्टेट)

इस समय उनके हाथ राज-शक्ति नहीं है, फिर भी अपने समस्त सामाजिक निर्णय इन्हीं बैठक-भवनों पर पंचायतों द्वारा करते हैं।

सवारी के लिए रथ उन्हें अधिक प्रिय है देश और परिस्थिति के अनुसार कहीं ऊँट और कहीं घोड़े अवश्य रखते हैं। यद्यपि इस समय माँस खाने का उनमें बहुत कम रिवाज है फिर भी सुअर का शिकार करने का शौक़ इनमें अधिकता से पाया जाता है। जाट नौजवान भाग कर बरछे से सुअर-वध कर डालता है। यद्यपि विदेशी-शासन की कृपा से हथियारों का अभाव हो गया है।

ये अपनी बस्तियों के पास बाग़-बगीचे लगाना बहुत पसन्द करते हैं। उत्सव और त्यौहारों के समय इन वाटिकाओं में जाकर खेलते-कूदते और प्रसन्नता मनाते हैं। फूल और पत्तों से ख़ास कर केलों के पत्तों से उत्सव के समय पर अपने घरों, बैठक-भवनों को सजाने के बड़े शौक़ीन हैं।

रस्म-रिवाज़

प्राचीन आर्यों ने विवाह को आठ प्रकार का रूप दिया था। जाटों में किसी न किसी अंश में आठों तरह के विवाह अब तक प्रचलित हैं। महाभारत में यह जिक्र आता है कि चित्र विचित्र के मर जाने के बाद मत्स्योदरी ने भीष्म से अपने भाई की विधवा स्त्रियों से संतान उत्पन्न करने का प्रस्ताव किया था। जाटों में यह रिवाज प्रायः बहुत सी जगह अब तक चला आता है कि वे अपनी विधवा भौजाइयों से संतान पैदा करते हैं। और वे सन्तान उनके मृतक भाई तथा उनकी भी सम्पत्ति पाने की अधिकारिणी समझी जाती हैं। वे शत्रु को परास्त करके उसकी लड़की को शादी के निमित्त लाने की अपने पूर्वजों की रिवाज को अब तक काम में लाते रहते हैं।

"महाभारत काल में चन्द्र वंशियों में अपवाद रूप से ऐसा भी रिवाज था कि वे जीते हुए पति की स्त्री को उसके पति को परास्त करके ले आते थे१।" द्रौपदी को जिस समय धृष्टद्युम्न बलपूर्वक ले जाने की चेष्टा कर रहा था धौम्य ऋषि ने यही कहा था कि पहिले इसके पतियों को पराजित करो। यदा-कदा जाटों में अब भी यह घटनायें घट जाती हैं कि वे दूसरे जीते हुए की स्त्री को ले आते हैं। किन्तु अब के परिवर्तित नियम के अनुसार स्त्री की रजामन्दी आवश्यक होती है। कहा जाता है राजपूताने के राजपूत दरोगा (दास, गोला) लोगों की स्त्रियों पर अपना पूर्णाधिकार रखते हैं जाटों में ऐसी प्रथा कहीं भी नहीं है। जाटों के राजघराने भी इस मर्ज से बचे हुये हैं। यह प्रथा भारतीय है या विदेशी हमारे विषय से बाहर की बात है।

१—देखो महाभारत मीमांसा।

सभ्य जाट-समूह इस कुटेव के विपक्ष में है। किन्तु आरम्भ से ही जातियों के अन्दर गुण अवगुण चले आये हैं हमें यहाँ यह नहीं बताना कि अमुक रिवाज श्रेयष्कर और असुक त्याज्य है, हमारा अभिप्राय तो रिवाजों के सामंजस्य से है। फिर भी इतना कहना ठीक ही होगा कि राजपूतों के दरोगा रखने की प्रथा से यह प्रथा बुरी नहीं।

मनुस्मृति तथा अन्य भी आर्ष-ग्रन्थों में यह आदेश दिया गया है कि स्त्री किसी भी जाति की हो उससे शादी की जा सकती है। महाभारत में ऐसे अनेकों उल्लेख हैं। भीम ने हिडिम्बा नाम की राक्षसी और अर्जुन ने चित्राङ्गदा नाम की पहाड़ी से और श्रीकृष्ण ने जाम्बवती नाम की कुमारी से जो कि जंगली जाति रिक्षों से थी, शादी की थी। चाहे भारत की अन्य जातियों के अन्दर से यह रिवाज उठ गया हो किन्तु जाटों में अभी तक मौजूद है। विवाह काल के समय सर पर सरपेज तथा मुकुट बाँधते हैं। हाथ में तलवार और शरीर पर पीले तथा लाल वस्त्र होते हैं। पीले वस्त्र को जाटों के यहाँ वैसे भी महत्त्व दिया गया है।

जाटों में विशेष रूप से धूमधाम से जो त्यौहार मनाए जाते हैं वे ये हैं:—अक्षयतीज, गंगादशहरा, श्रावणी (सलूना-राखीपून्यो) जन्माष्टमी, हरियाली तीज, देव छट, विजय-दशमी, दीप-मालिका, देवोत्थान, संक्रान्ति, वसंत पंचमी, शरद्-पूर्णिमा, होली और रामनवमी।

अक्षय तीज को वह अपना खास त्यौहार मानते हैं। इसके सम्बन्ध में उनकी धारणा है कि इसी दिन द्रोपदी का दुःशासन द्वारा चीर खींचा गया था जिसे भगवान् कृष्ण ने अक्षय कर दिया। तभी से यह त्यौहार माना जाने लगा। इस दिन जाट-युवक डोंड़ियों से खेल कर युद्ध का उपक्रम करते हैं।

गंगा दशहरा के सम्बन्ध में भी उनका खयाल है कि उनके पूर्वज पाण्डव सब से पहिले इसी दिन गंगा नहाने गए थे।

सलूने को ब्राह्मणों का त्यौहार समझते हैं किन्तु मनाते खूब जोरों से हैं। कूदने के सिवाय कुश्तियाँ भी होती हैं। स्त्रियाँ झूला झूलती हैं। इससे पहिले हरियाली तीज नामक एक त्यौहार मनाया जाता है। भरतपुर का राज-परिवार बड़ी शान के साथ विशेष तौर से मनाता है और उस दिन दरबार खास दीग के भवनों में किया जाता है। और भी आम जाति धूम-धाम से इस त्यौहार को मनाते हैं।

जन्माष्टमी का त्यौहार महाराज श्रीकृष्ण के जन्मोत्सव पर मनाया जाता है और जाटों का खास दावा है कि कृष्ण हमारे पूर्वज थे। इस दिन उपवास रखते तथा दानपुण्य करते हैं।

देवछट को बलरामजी का जन्म दिवस मान कर के जन्माष्टमी की भाँति ही इस त्यौहार को मनाते हैं। दशहरे के दिन कहीं तलवार की और कहीं घोड़े की पूजा होती है। भरतपुर का दशहरा राजपूताने भर में प्रसिद्ध है। कहीं कहीं छोंकरा (जाटी, समीवृक्ष) की पूजा होती है। छोंकरा की पूजा करने का कारण उनकी तरफ से यह बताया जाता है कि बभ्रुवाहन का सिर जिससे कि पाण्डवों की सेना को हानि होने की संभावना थी भगवान् कृष्ण ने छोंकरा पर टांगा था। दूसरी बात यह भी कहते हैं कि जब पाण्डव अज्ञात वास में रहे थे उन्होंने अपने शस्त्र इसी वृक्ष पर रखे थे। दीपमालिका के दिन मुख्यतः घरों और नगर की सफाई तथा रात्रि को बहुत से दीपक जला कर मनाते हैं। रात्रि को लक्ष्मी-पूजन भी होता है।

देवोत्थान के दिन घरों और शालों में भिन्न-भिन्न प्रकार के बेल-बूटे फूल स्वस्ति-चिन्ह चित्रित करते हैं। संक्रान्ति के दिन विविध मिष्टान्न बनाकर खाया जाता और दानपुण्य किया जाता है। इस दिन गौओं को चारा और दाना भी सामर्थ्यानुसार खिलाया जाता है।

बसंत पंचमी को अपने उत्थान का दिन समझते हैं। और भरतपुर में बन्ध बारहठा में दरबार करके इस त्यौहार को मनाया जाता है। जाटों के क़ौमी झंडे का रंग भी बसंती है।

होली के दूसरे दिन गाँव-गाँव में दंगल करके कुश्तियाँ लड़ते हैं। होलिकाष्टक के दिनों में राग-रंग की धूम रहती है। यह उत्सव एक सप्ताह तक रहता है। रामनवमी के दिन जन्माष्टमी की भाँति व्रत आदि से रह कर के इस त्यौहार को मनाते हैं क्योंकि यह राम-जन्म का दिन है। इनके अलावा और भी कई छोटे-छोटे त्यौहार मनाए जाते हैं।

अशिक्षा के कारण सभी जातियों के षोड़स संस्कारों में से कुछ एक संस्कार प्रचलित हैं, जिनमें से दो एक का उल्लेख इस प्रकार है—नामकरण संस्कार पर घर की शुद्धि होती है, हवन किया जाता है, बिरादरी का भोज किया जाता है, पंडित शिशु का नाम रखता है। पहिले इनके नामों के आगे इन्द्र, जित, धर्मन, वर्धन, सेन, देव लगाने की प्रथा थी जैसे कि शालेन्द्र, रुद्रजित, यशोधर्मन, नरवर्धन, भीमसेन, जगदेव आदि। इस समय कुछ एक जिले के लोगों को छोड़ कर प्रायः सभी प्रान्तों के जाट अपने नाम के साथ सिंह, जीत, सेन, पाल, इन्द्र, मल्ल, देव का प्रयोग करते हैं। जैसे—पद्मसिंह, रणजीतसिंह, धर्मजीत, जंगजीत, वीरसेन, धीरसेन, राजपाल, अनन्दपाल, राजेन्द्र, महेन्द्र, ब्रजेन्द्र, सूरजमल्ल, रणमल्ल, रामदेव, कृष्णदेव आदि आदि। निरर्थक नाम रखना प्राचीन आर्यों की भाँति अपशकुन समझा जाता है। प्रायः निरर्थक नाम ये लोग अपनी सन्तानों का रखते हैं, जिनकी सन्तान बचती नहीं है। अर्थात् वे उन्हें मरे हुए समझ कर कूड़ा घसीटा आदि नाम दे देते हैं।

पहिले वर्ष के अखीर तक किसी त्यौहार के दिन घर पर या निकट के तीर्थ पर जाकर मुंडन (केश) कराते हैं। कर्ण-वेध संस्कार तीसरे से पाँचवें वर्ष तक हो जाता है। यज्ञोपवीत संस्कार की प्रथा बौद्ध-काल से उन में उसी तरह से नष्ट हो गई थी जैसे कि अन्य क्षत्रिय-वर्गों में। अब प्रायः सारे भारत में वैदिक रीत्यानुसार सात से ग्यारह वर्ष तक यज्ञोपवीत संस्कार कर लेने की प्रणाली है। अधिकांश में बाल-विवाहों का बहुत कम चलन है। वृद्ध-विवाह का तो इनमें नाम निशान भी नहीं। विवाह के बाद पहले अथवा तीसरे वर्ष गौना करने की प्रणाली भी उनमें पड़ गई है।

अतिथि सत्कार का इनमें बड़ा प्रचलन है। कहीं-कहीं तो अतिथि का सत्कार करने में शक्ति के बाहर खर्च करने की इनमें आदत है। वह अपनी ही कौम के लोगों से इससे अधिक कुछ नहीं पूछते कि वह जाट है। जाट कहने देने मात्र ही से वह उसे अपना हुक्का दे देते हैं। जाटों के अन्दर दस्से और दइये कुछ नहीं होते। जाति के बहिस्कृत करने का इनमें बहुत कम रिवाज है। मृतक भोज की विनाशकारी प्रथा भी इनके अन्दर पड़ गई है। मृतक भोज का नाम कहीं पर नुक्ता, खरच, काज, कहीं बारा आदि है। उक्त अवसर पर जीमने को लड्डू, मालपुआ, चावल, हलुआ आदि बनाते हैं। और राजपूतों के तो कई स्थानों पर कई-कई दिन तक खाने वालों का जमघट रहता है। अजमेर-मेरवाड़े में नुक्ता तीन नामोंसे पुकारा जाता है—गामसार, सगासार और समस्त। गामसार का मतलब है गाँव भर के लोगों को खिलाया जाय, सगासार में गाँव वालों के अलावा रिश्तेदारों को भी बुलाया जाता है, समस्त में सारे गोत्र के लोग बुलाये जाते हैं।

पिछले दो वर्षों से राजस्थान-जाट-क्षत्रिय-सभा के उद्योग से इस ओर बहुत कुछ सुधार हुआ है। शेखावाटी (जयपुर) में उन का सिर्फ नाम भर बाकी है। खंडेलावाटी (जयपुर) में उसकी पूँछ बाकी है। और अजमेर-मेरवाड़े में समस्त की अन्त्येष्टि हो गई। बीकानेर-जोधपुर आदि में भी इस ओर सुधार हो रहा है।

खान-पान

प्रायः सारी जाट-जाति निरामिष भोजी है। जाट लोग माँस भक्षण को बुरा समझते हैं किन्तु कुछ लोग जर्मन महायुद्ध के समय माँस खाना सीख आये हैं। उनके साथ पारवारिक जन उन दिनों न तो भोजन करते हैं न पानी पीते हैं, जिन दिनों कि वह मांस खाता है। किन्तु कहीं कहीं तो यहाँ तक होता है कि उन दिनों उसके पीने के लिए पानी के घड़े तक अलग रख दिए जाते हैं। जाट-स्त्रियाँ माँस पकाने के सम्बन्ध की कुछ भी क्रिया नहीं जानतीं। महाभारत कालीन जाटों के बुजुर्ग मांस भक्षी थे या नहीं इसका निर्णय ठीक तौर से नहीं होता है। किन्तु द्रोपदी की जहां पाक-शास्त्र की प्रशंसा की गई है यहां तक तनक भी नहीं लिखा कि वे मांस पकाना भी जानती थीं या नहीं। कुछ लोग कहते हैं कि मांस खाने से शक्ति बढ़ती है। किन्तु जाट

का खास दावा है कि [illegible]

चौ० खमाणसिंह जी चौ० हरूसिंह जी

पलथाना, सीकर।
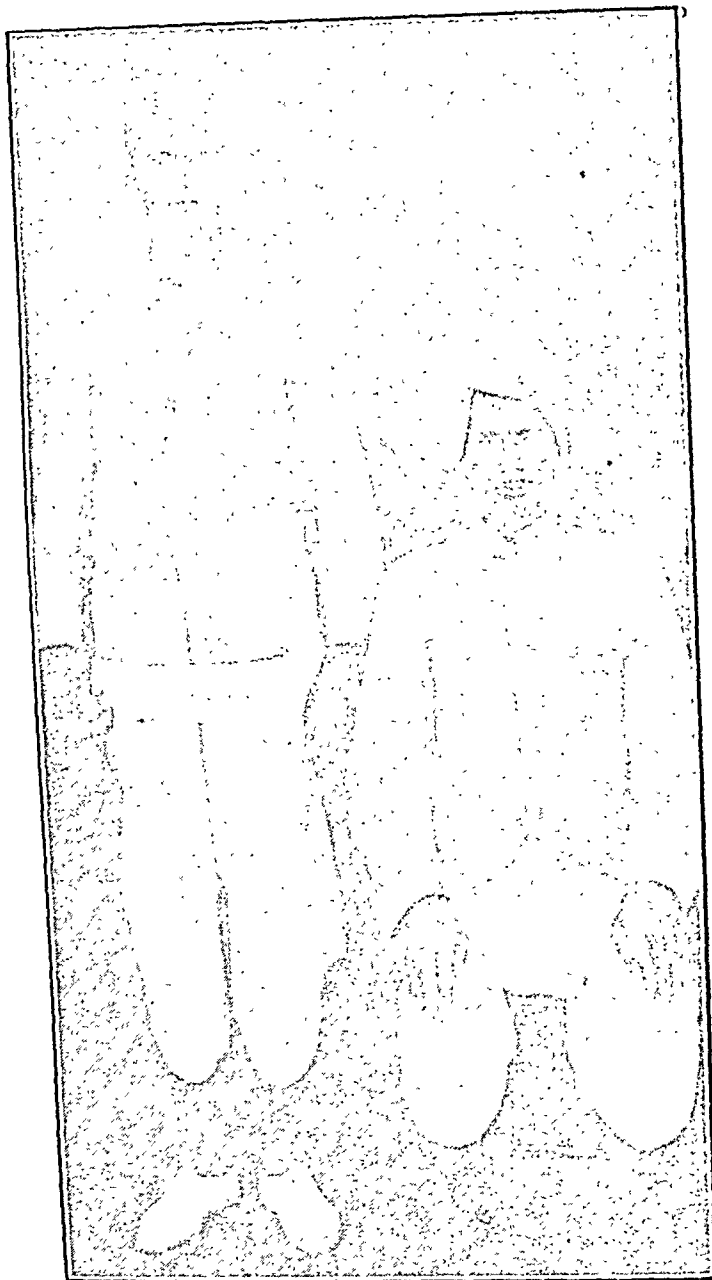
श्री कुं० हनुमानसिंह श्री कुं० वेगराजसिंह

देवरोड, जैपुर (स्टेट)

विना ही मांस खाये कमजोर नहीं होते। उनके लिए जिस भांति मांस भक्षण बुरा है उसी भाँति वे सुरा-पान (मदिरा-पान) को बुरा मानते हैं। किन्तु खेद है अब उनमें कहीं कहीं पर कुछ अन्य लोगों के प्रभाव से शराब-खोरी की आदतें पड़ती जाती हैं। फिर भी इतनी मात्रा में अभी नहीं कि शराब-खोरी का जाटों में प्रचार नहीं हुआ कि वह मिटने में समय लगावे। राजपूताने के सीधे जाटों में भी अपने राजपूत भाइयों की देखा देखी शराब पीने का रिवाज पड़ना आरम्भ हुआ था। किन्तु वह पनप नहीं सका। जाटों में से जो सिख हैं, वे मांस खाते हैं लेकिन उनकी इस आदत से सामाजिक सम्बन्धों में हिन्दू जाट और सिख में कोई अन्तर नहीं आने दिया है। सिख तमाकू नहीं पीते हैं किन्तु शराब उनकी ओर भी घुसने लगी है। देवी चामुड अथवा शक्ति के नाम पर बलिदान करने की प्रथा उनके अन्दर पनपने लगी थी। क्योंकि वह राजपूत अथवा अन्य जातियों में इस प्रथा को देखते थे और साथ ही वे सुनते थे कि जिस देवता के नाम पर बलि चढ़ाई जाती है वह प्रसन्न होता है। किन्तु सौभाग्य का विषय है कि यह प्रथा उन में घुस नहीं सकी। शराब का व्यसन भी मृत्यु के मुँह में है। इस तरह वह खान-पान के बड़े पवित्र हैं। दूध और जाट का तो मानो घनिष्ट सम्बन्ध है। वह बिना दूध के घर को भूतों का घर कहते हैं। इसीलिए गाय और भैंस पालने में उन्हें बड़ा आनन्द आता है। ब्रज की जाट मातायें बालकों को उत्साहित कर के दही दूध खिलाती हैं। वे दूध दही को मक्खन अथवा रतन के नाम से पुकारते हैं। त्यौहारों के दिनों पर तथा अतिथि के आने पर खीर, पुआ और चावल बनाते हैं। खीर पुआ उनका सर्व श्रेष्ठ भोजन है।

पीपल और वट के वृक्षों को काटने की उनमें मनाही है। क्योंकि वे इन्हें सर्वोपयोगी वृक्ष मानते हैं।

बड़ों का सम्मान

माता-पिता गुरु और जेष्ठ भाई की वह बड़ी इज्जत करते हैं। बड़ों के सामने पैर फैला कर अथवा अशिष्टता से बैठना बुरा समझते हैं। उनकी आज्ञा मानना उनकी खास आदत है। बहुधा स्थानों पर छोटा भाई बड़े भाई का नाम लेना अशिष्टता समझता है। उनकी तरुण स्त्रियाँ वृद्धाओं की सेवा करना सौभाग्य समझती हैं। प्रातः सायं अथवा किसी दूसरे नगर से आते समय वे वृद्धाओं के पैर छूती हैं। यथा संभव जाट पारवारिक संगठन को नहीं टूटने देते हैं। प्रयत्न यह करते हैं कि यदि एक बाप के चार बेटे हैं तो चारों ही सम्मिलित रहें। पारवारिक प्रथा के वे कट्टर अनुयायी हैं।

दाय-भाग

पिता के मरने पर उसकी संपत्ति के सभी पुत्र पाने के बराबर अधिकारी होते हैं। गोद लिये हुए का हक़ उनके यहाँ है किन्तु लड़की व उसकी संतान का नहीं है। हाँ वह बहिन बेटियों को सारी उम्र दान देते रहते हैं। उनके यहाँ करेवा हुई स्त्री के साथ जो लड़का उसके

पूर्व-पति की संतान होता है, उसका उस जायदाद में कोई हिस्सा नहीं होता है जब कि वह अपनी माँ के साथ आया है।

उनमें से जो राजा कहलाने का गौरव रखते हैं, उनके यहाँ राज का मालिक तो बड़ा पुत्र ही होता है किन्तु अन्य सब का खान पान बंध जाता है।

छूआ-छूत और ऊँच-नीच के भाव जाटों में अन्य हिन्दुओं की अपेक्षा बहुत ही थोड़े हैं। प्रसिद्ध बात है कि उनका चौका बारह कोस के भीतर होता है। कहीं कहीं वे नाई, गड़रिये. और लोधों के घर का (कच्चा) बना हुआ भोजन खा लेते हैं। गाँवों में बसने वाली अछूत जातियों के साथ अन्य हिन्दुओं से वह कहीं कई गुना अधिक अच्छा व्यवहार करते हैं। कहा जा सकता है कि वे सामाजिक रिवाजों में अधिक स्वतंत्र और अग्रसर हैं।

पहनावा

जाट लोग आदि से ही प्रजातन्त्री और परिश्रम शील रहे हैं। योद्धा जाति के होने के कारण उनका जो पहनावा है, वह ढीला-ढाला नहीं। किन्तु इस समय प्रान्त-प्रान्त के पहनाव में भिन्नता है। फिर भी उसमें बहुत कुछ समानता है। कुश्ती और मल्ल-विद्या से प्रेम रखने वाले जाट-युवक धोतियों के अलावा कछनी और लंगोट भी बाँधते हैं। पहलवान प्रायः ढीला-ढाला और घेरदार कुर्ता पहनते हैं। पगड़ी का प्रचलन अब केवल बुड्ढों के लिए रह गया है किन्तु अजमेर-मेरवाड़े के युवक और बालक भी पगड़ी बाँधते हैं। सिर का वस्तर उनका मोटा और मजबूत होता है। अंगरखी चुस्त होती है। धोती प्रायः सभी जगह के जाट दुहरी लाँग की बाँधते हैं। यद्यपि कई सदियाँ हुईं कि उनके प्रजातन्त्र नष्ट होगये और वे कहीं-कहीं तो नितान्त शासित होकर अपने पुराने रस्म रिवाज और पहनाव को छोड़कर अपने पड़ौसियों की नक़ल करने लग गये हैं। किन्तु उनके पहनावे और सिंह-ठवनि के चलने से स्पष्ट प्रकट होता है कि वे सैनिक जाति के हैं। सिख-धर्म ने पंजाब के सिख-जाटों के पहनावे को एक दम बदल दिया है। इसी भाँति राजपूताने के जाटों के पहनावे में शीघ्र ही हेर-फेर होने का सूत्रपात हो रहा है। अजमेर-मेरवाड़े के समीपवर्ती स्थानों में जाट लोग पैरों में स्त्रियों की भाँति कड़ा पहनते हैं। सम्भव है यह रिवाज उनके अन्दर उस समय से आई है जब कि वे गदा युद्ध करते थे। उस समय हाथ और पैर की गाँठों के बचाने के लिए कड़े हाथ-पैर में रहने चाहिये थे किन्तु अब जब कि वे निरे भार स्वरूप हैं उनका बहिष्कार हो रहा है। कहीं-कहीं के जाट डाढी रखाते हैं कहीं के नहीं।

राजस्थान की सभी जातियों की स्त्रियों का पहनावा बहुत ही बेढंगेपन का है। जाटनियों के कमर में बंधने वाला ऊनी रस्सा सम्भव है किसी समय अच्छा रहा हो किन्तु इस समय उसकी आवश्यकता नहीं। इतिहास बताता है कि भरतपुर की महारानी किशोरी युद्ध में जाती थी। युद्ध-प्रिय जातियों की स्त्रियों का पहनावा

जैसा होना चाहिये उसके लिहाज से मौजूदा पहनाव में स्त्रियों को हेर-फेर करना होगा। अब घाघरे के पहनने की प्रथा को हटाकर स्त्रियों को नेकर, साड़ी और चुस्त जाकिट पहनने की ओर झुकना पड़ेगा। बेढंगे जेवर भी या तो पहनने बन्द होंगे या उनमें समयोचित सुधार होगा। यों तो भारत की सभी जाति की स्त्रियों के पहनावे में हेर-फेर की आवश्यकता है किन्तु जाट वीरांगनायें पहनने में एक दम हेर फेर करदें। यही समय का तकाजा है। इस समय के घावरे बदलने की चीज मालूम हो रहे हैं।

जेवर

प्रत्येक प्रान्त में भिन्न-भिन्न तरह के होते हैं। स्त्री-पुरुष, प्रायः जेवरों के सभी भक्त होते हैं। यू० पी० पंजाब में पुरुषों के जेवरों में गंडे, ताड़े, जंजीर, अंगूठी, छाप, बीरबली, बालियाँ, आदि हैं। राजस्थान में में कहीं कहीं हाथ पैरों में कड़े और गले में हाँस पुरुष पहनते हैं। स्त्रियाँ, पीतल से लेकर सोने तक के अनेकों नाम के जेवर पहनती हैं, जो बिछुए, साँकर छल्ली, छड़े, लच्छे, साँकरी, कड़े, पायजेब, साँठ, बाँकड़ा, कमरधनी, हमेल, जंजीर, गुलूबंद, हाँसली, कंठी, पचमनियाँ, मोहनमाला, झुमका, लौंग, एरन, वाली, तुरपुती, झुबझुबी, नथ, बोरला, सेंठा, लौंग आदि अनेक नामों से पुकारे जाते हैं। स्त्रियों के हाथों में चूड़ी पहनने का ढंग भी बेढंगा ही है। लेकिन इसमें सन्देह नहीं कि जाट किसी भी प्रांत में रहते हों और चाहे वे नई सभ्यता की ओर अभी बढ़े हुये नहीं जान पड़ते हों, तो भी जब वे सुधार की ओर अग्रसर होंगे तब सब से अग्रसर और उचित स्थान पर दिखाई देंगे।

भाषा

इस समय सारे भारत की राष्ट्र-भाषा अँग्रेजी और बोल-चाल की आर्य-हिन्दुस्तानी है। किन्तु वे या तो ब्रज-भाषा बोलते हैं या खड़ी बोली। उनके उच्चारण में अधिकांश शब्द ठेठ हिन्दी के अथवा संस्कृत के अपभ्रंश होते हैं। उनमें अँग्रेजी, संस्कृत और उर्दू के अनेकों विद्वान हैं, किन्तु उनमें से यह बात बहुत कम जानते होंगे कि किसी समय जाटों ने जब कि वह सभ्यता के शिखर पर थे, अनेकों ग्रन्थ लिखे थे। यही नहीं किन्तु एक लिपि का भी प्रचार किया था। इस समय वह लिपि कहीं सिन्धी, कहीं खुदाबादी, कहीं शहाबादी, कहीं महाजनी और कहीं जाटकी कही जाती है। प्रायः उत्तरी भारत के सभी महाजन उसी लिपि का प्रयोग अपने कागजात में करते और उसे शराफी बोलते हैं। उसका असली नाम लुण्डा है। लुंडा भाषा के अक्षर गुरुमुखी से मिलते-जुलते हैं। हिन्दी (नागरी) अक्षरों से भी उनकी पूर्णतः समानता है। उस लिपि के चित्र इसी पुस्तक में अन्यत्र दिये हुए हैं। शब्द उच्चारण में कहीं-कहीं अक्षरों का भेद जाटों में अवश्य है। मथुरा जिले के कुछ जाट, ग्याय, ग्याते, गुतकूं आदि शब्दों का और जैपुर के जाट, अठे, बठे कठै शब्दों का प्रयोग करते हैं। यह उच्चारण का भेद देश की परिस्थिति के अनुसार सभी जातियों में पाया जाता है, चाहे वे ब्राह्मण हों, अथवा चाहे चमार कोली। मन्दसौर और अजमेर के निकट

के जाट भाई से के स्थान पर हे का प्रयोग करते हैं वे साथ को हाथ और साधु को हाऊ कहते हैं। उनकी इस बोल-चाल से एक और भी पता चलता है कि वे गजनी से आगे बढ़े हुए उन जाटों के साथी हैं जो पर्शिया के परि[illegible] में भारत से जाकर बसे थे, और अपना उपनिवेश स्थापित किया था। परिस्थितियों ने जब उन्हें विवश किया तो भारत को लौट आये। कहा जाता है कि पार्सी से के स्थान पर हे का ही प्रयोग करते हैं। अपने पड़ौसियों से इस प्रयोग को लेकर हमारे अजमेर-मेरवाड़ी जाट [illegible] मालवा और राजपूताना की पवित्र भूमि पर सिख उदय से कई सदी पहिले आ गये होंगे। उनकी भाषा में से के स्थान पर हे का प्रयोग भले ही होता हो किन्तु पार्सी शब्द उनके मुँह से एक भी नहीं सुना जाता।

शारीरिक बनावट और भाषा ही तो दो ऐसी चीजें हैं जिनके बल पर अँग्रेज विद्वानों ने जाटों को विशुद्ध-आर्यवंश से बताया है।

बोल-चाल में वे परस्पर एक दूसरे के लिये बहु वचन का कम प्रयोग करते हैं क्योंकि वे शोरसेनी भाषा-भाषी हैं, इसीसे उनकी यह आदत है। सौरसैनी भाषा इटावा से लेकर मन्दसौर तक और पलवल से लेकर रतलाम तक बोले जाने वाली भाषा है।

यद्यपि एक बार भारत में उर्दू भाषा का साम्राज्य रह चुका है फिर भी उसके कारण सौरसैनी भाषा पर कोई असर नहीं पड़ा है। और न जाटों की बोल-चाल में उर्दू के कारण कोई अन्तर आया है।

अँग्रेजी भाषा भी भारत में जवान और फिर बुड्ढी हुई जा रही है किन्तु जाटों की बोल-चाल पर उसका कोई असर नहीं पड़ा है वे चाहे पढ़े हों चाहे अपढ़ अपने घर में तथा भाइयों में इसी शोरसेनी (अपनी मातृ-भाषा) का प्रयोग करते हैं। उनकी स्त्रियाँ अपने पुरुषों से बोल-चाल की सभ्यता में हेटी हों सो बात नहीं। वे अपने बच्चों को अपनी ही भाषा में कहानी सुनाती हैं। जरा, मगर, लेकिन, अलबत्ता ने अब तक उनसे तनिक, पर और निछै, को नहीं छुड़ा पाया है।

जाटों के स्वभाव, रस्म-रिवाज और परिचय के सम्बन्ध 'मुगल साम्राज्य का क्षय और उसके कारण' नामक इतिहास ग्रन्थ में पं० इन्द्र विद्यावाचस्पति ने इस प्रकार लिखा है:—"जाट कहां से आए और पहिले पहल कहां बसे इस विवाद में पड़ना व्यर्थ है। हमारे कार्य के लिए इतना जान लेना पर्याप्त है कि जब से जाटों का कोई इतिहास मिलता है तब से वे भारत में ही रहते हैं। यदि कहीं भारत से बाहर उनका निशान पाया जाता है तो उसका भी मूल-स्थान भारत ही में मिलेगा। उनकी सब से प्रथम ऐतिहासिक चर्चा भारत पर अरबों के आक्रमण के साथ आरम्भ होती है। जाट लोग फारिस की सीमा तक फैले हुए थे। अरब के निवासी उस समय भारतीयों में से जाटों ही को जानते थे इसलिए वे सभी हिन्दू कहानियों
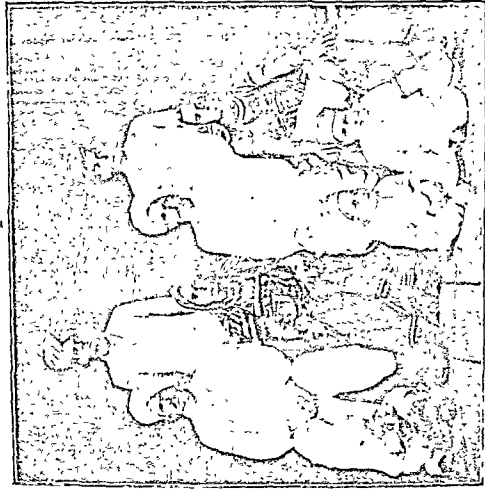
चौ० घासीराम जी और चौ० भागीरथसिंह जी (मय परिवार व सम्बन्धी)
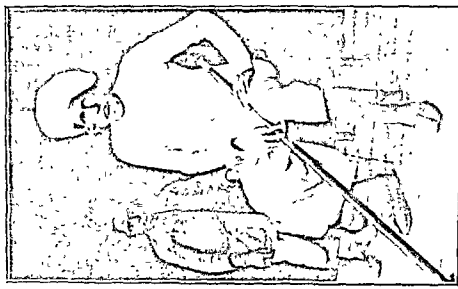
चौ० गोविन्दराम जी (मय पुत्र)
हांसपुर, जैपुर, (स्टेट)

कुं० रामसिंह जी, चौ० बख्शाराम जी
विजयरणिया की ढाणी, पोस्ट रींगस, जैपुर (स्टेट)

कुं० भगवानसिंह जी, जैरामपुरा। चौ० गंगाबख्श जी
कल्याणपुरा, पो० श्रीमाधोपुरा, जैपुर (स्टेट)

को जाट नाम से पुकारते थे। वह एक प्रकार से उससे पूर्व बढ़ते हुए भारतीय आधिपत्य की सफर मैना पल्टन के सिपाही थे। अपनी बहादुरी, साहसिकता और धार्मिक उदारता के कारण यह आगे बढ़ने के योग्य भी थे। जब भारत पर मुसलमान टूटे तब उन्हें सीमा प्रान्त के कदम कदम पर जाटों से टक्कर लेनी पड़ी। सीमा प्रान्त और उससे आगे बढ़े रहने का ही परिणाम था कि जाट जाति के आचार-व्यवहार में बहुत सी विश्रृंखलता पाई जाती थी और अब भी पाई जाती है। *वह ब्राह्मणों के दास न उस समय बन सके और न अब तक हैं। यही कारण था कि वे हिन्दुओं के मध्यकालीन कृत्रिम-सामाजिक जीवन में बहुत निचले दर्जे पर रक्खे जाते थे।* जब मुहम्मद कासिम ने सिन्ध को जीत लिया तब उसने हिन्दू वजीर से जाटों की दशा के सम्बन्ध में पूछा तो उसने बताया कि—"*उनमें बड़े और छोटे में कोई भेद नहीं है। उनकी प्रकृति जंगलियों की सी है। वह राजाओं के विरुद्ध विद्रोह करने में प्रवीण हैं और उनका काम सड़कों पर लूट मार करना है।*

इन उद्धरणों से दो बातें पाई जाती हैं कि—प्रथम तो यह कि उनमें ऊँच-नीच का कोई भेद न होने से वह लोग (ब्राह्मणों की निगाह में) शूद्र गिने जाते थे। और दूसरी यह कि वह प्रायः राज के विरुद्ध विद्रोही रहा करते थे। सदियाँ गुजर गई हैं, और कई सल्तनतें भारत की रंगस्थली पर अपना अपना अभिनय करके चली गई हैं परन्तु जाटों की कुछ *विशेषतायें* अब भी शेष हैं। आज भी वह सामाजिक दृष्टि से अन्य हिन्दुओं की अपेक्षा अधिक स्वच्छन्द हैं। *और आज भी एक अल्हड़पन से युक्त वीरता और भोलेपन से मिश्रित उद्दंडता उनके अन्दर विद्यमान हैं। उन्हें प्रेम के वश में लाना जितना सरल है आँखें दिखाकर दबाना उतना ही कठिन है। सामाजिक तथा धार्मिक दृष्टि से वे अन्य हिन्दुओं की अपेक्षा अधिक स्वाधीन हैं और सदा रहे हैं। लड़ना उनका पेशा है। मनमानी करने में और अपनी आनकी खातिर में अपना घर बिगाड़ देना या जान को खतरे में डाल देना जाट की विशेषता है।*" (पि० २६८–२७२)

पञ्चम अध्याय

जाट-शासन-प्रणाली

प्रजातन्त्र, एकतन्त्र, द्वैराजतन्त्र, भूस्वत्व, नागरिक मंडल, किले, सेना, युद्ध आदि के वर्णन।

प्राचीन काल में भारत में अनेक भाँति की शासन-प्रणाली प्रचिलित थीं—विराज, द्वैराज, भौज्य, साम्राज्य, स्वराज्य, गणराज्य आदि आदि। विराट या वैराज्य के अर्थ राजा रहित शासन-प्रणाली के होते हैं। दूसरा अर्थ महत्त्वशाली राजा वाली शासन-प्रणाली का होता है। काशीप्रसाद जायसवाल ने इसका पहिला अर्थ ग्रहण किया है। वे कहते हैं कि शतपथ ब्राह्मण में वैराज्य के साथ जनपद (प्रजातन्त्र) का प्रयोग हुआ है; किन्तु हमें दूसरा अर्थ ठीक जँचता है, क्योंकि महाभारत में विराट का अर्थ जनपद नहीं हो सकता। हाँ, वंशानुगत राजा की प्रणाली न होने के कारण इन देशों के लोगों ने अपने शासनतन्त्र को वैराज्य नाम दिया हो तो महाभारत के विराट भी प्रजातन्त्री हो सकते हैं। द्वैराज्य शासन व्यवस्था महाभारत-काल में अवन्ति राज्य में पाई जाती है। वहाँ के विन्दु, अनुविन्दु दो राजे युद्ध में उपस्थित हुए थे। संभव यही हो सकता है कि वहाँ अन्धक वृष्णियों की भाँति ज्ञाति राज्य था और वे दोनों दो कुलों की ओर से चुने हुए अधिपति थे। लिच्छवि और वृजि लोगों ने भी मिल कर संघ स्थापित किया था जो संवज्जी नाम से प्रसिद्ध हुए। भौज्य और द्वैराज्य शासन-प्रणाली में कोई अन्तर नहीं होता। भौज्य का सामान्य अर्थ होता है खाद्य इससे यह भाव निकलता है कि जिन प्रजातन्त्रों में भू-कर में केवल अन्न ही लेने की प्रणाली हो। वैसे राजनैतिक परिभाषा में संयुक्त शासनतन्त्र के लिये भौज्य नाम दिया गया मालूम होता है। वंशानुगत राजा की छत्र-छाया में प्रजातन्त्र के विरुद्ध जो शासन होता है वह साम्राज्य कहलाता है। विदेशी अथवा विजाति लोगों से रहित अपने हित के लिये जो प्रजातन्त्र होता है वह स्वराज्य कहलाता है। अपने जाति के राजा द्वारा शासित शासन को भी स्वराज्य कहा जा सकता है। गणराज्य उस शासनतन्त्र को कहते हैं जो पंचों द्वारा चालित हो। ऐतरेय ब्राह्मण में इन शासन-तन्त्रों के नाम इस भाँति गिनाये हैं:—

"साम्रज्यं, भौज्यं, स्वराज्यं, वैराज्यं, पारमेष्ठ्यं महाराज्यं आधिपत्य मयं समन्त पर्यायी स्यात् सार्व भौमः सार्वायुष अन्तादा परार्धात् पृथिव्यै समुद्र पर्यन्ताया राडसि।" (८-१५)

प्रजातन्त्र व संयुक्ततन्त्र की प्रथा पुरानी है या एकतन्त्र की, इसका निर्णय करना कठिन है, क्योंकि वेदों में भी दोनों भाँति की शासन-व्यवस्था का पता चलता है। कभी एकतन्त्र प्रबल हुआ तो कभी प्रजातन्त्र। किन्तु ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं कि कुछ समूह ऐसे भी थे, जो नितान्त अराजकवादी थे और जन्मेजय के समय तक ऐसे समूहों का पता चलता है।

अथर्वसंहिता, शतपथ और फिर महाभारत में अराजकवाद सम्बन्धी वर्णन मिलता है। भीष्म ने युधिष्ठिर को बताया है कि—'नैव राज्यम् न राज्यं च न च दंडो न दांडिकः। धर्मेणैव प्रजाः सर्वा रक्षन्ति स्व परस्परम्'॥ पूर्व काल में न राज्य था न राजा और न दण्ड और अपराधी। सर्व लोग धर्मपूर्वक एक दूसरे की रक्षा करते थे। एकतंत्र शासन का जिस भांति उदय हुआ आगे भीष्म ने यह बात बताई है। जैन ग्रन्थों में इन शासन प्रणालियों का वर्णन इस प्रकार आया है—'अरायाणि, वा गणरायाणि, जुवरायाणि वा दो रज्जाणि वा वे रज्जाणि'........ (आयारंग सुत्तं)१। उन पौराणिक कथाओं को यदि एक ओर रख दिया जाय जिनमें ययाति, पुरुरवा आदि को एकतंत्री शासक कहा गया है तो मानना पड़ेगा कि प्रायः समस्त चन्द्रवंशी समुदाय प्रजातंत्रवादी था। उनमें कुरु, मद्र, पंचाल शौरसैनी, अंधक, वृष्णि, माधव, गोप, नव, भोज, कौन्तेय, पौर, यदु, कुकर, दशार्ण दशाह, वाहीक आदि अनेकों कुल प्रजातंत्री दिखाई देते हैं। यह नहीं कहा जा सकता कि सारे सूर्यवंशी भी आरम्भ में एकतंत्रवादी थे। विदेह, शाक्य, काश्य, लिच्छिव आदि उनमें प्रजातंत्री समूह पाये जाते हैं। यहां प्रसंग वशात में यह भी बता देना है कि वास्तव में सूर्यवंश और चन्द्रवंश क्या हैं:—

सूर्य-चन्द्र-वंश क्या हैं?

सी० वी० वैद्य का यह मत ही सही है कि वर्ष गणना तथा संवत् का चलन जो लोग शौर पद्धति से मानते थे वह सूर्य वंशी और जो चान्द्र पद्धति से मानते थे वह चन्द्रवंशी कहलाये। हमारे विचार से तो इक्ष्वाकु, अनु, द्रुह्य, भरत, विदेह, जिनका नाम वैदिक साहित्य में भी आता है व्यक्ति न हो कर जातियां थीं। पौराणिक काल में उन्हें व्यक्ति विशेष यही क्यों राजा मान कर वर्णन किया है और पश्चात् के लोगों ने तो उन से अपनी वंशावलियां तक बना डालीं। यह विषय हमारे प्रसंग से बाहर का है किन्तु यहां इतना ही बताना है कि सूर्यवंशी और चन्द्रवंशी दोनों ही समुदायों में विभिन्न शासन प्रणालियां प्रचलित रही हैं। जाटों

१—अरायाणि = अराजक राज्य। गणरायाणि = गण राज्य। जुवरायाणि = युवराज द्वारा शासित देश, दो रज्जाणि = द्वैराज्य। वे रज्जाणि = वैराज्य। विरुद्ध रज्जाणि = अपने से विरुद्ध राज्य। श्री काशीप्रसादजी जायसवाल ने विरुद्ध रज्जाणि का अर्थ दलों द्वारा शासित किया है, किन्तु प्रसंग से यह अर्थ नहीं होता। साथ ही विरुद्ध रज्जाणि का उल्लेख अन्य ग्रन्थों में नहीं मिलता।

में अधिकांश समूह चन्द्रवंशियों का है और कुछ समुदाय सूर्यवंशियों का। जाट शब्द स्वयम् ज्ञाति (संघ) वाची है१। शासन में व्यक्ति के बजाय जाति का हाथ रहे इसीलिये भगवान् श्रीकृष्ण ने ज्ञातिवाद (फेडरेशन) की नींव डाली थी। अतः जाट प्रारम्भ से ही प्रजातंत्रवादी हैं। अथवा यों कहना चाहिए कि ज्ञातिवादी (प्रजातंत्री) समूह ही जाट हैं। या जितने प्रजातंत्री समूह थे वे शनैः शनैः अधिकांश में जाट कहलाने लग गए थे। नीचे हम ऐसे प्रजातंत्री समूहों का नाम देते हैं जिन का निशान इस समय जाटों में पाया जाता है:—

(१) गांधार—यह भारत के उत्तर पश्चिम में राज करते थे। इनकी राजधानी का इस समय कन्दहार नाम पड़ गया है२। (२) मद्र या मद्रेना (मदेरना) इनके दो दल थे—एक ईरान में आबाद था और एक पंजाब में जिसकी राजधानी मद्रपुर थी। ऐतरेय ब्राह्मण में हिमालय के उत्तर में उत्तर मद्रों का स्थान बताया है और आज कल यह युक्तप्रांत में पाये जाते हैं। पांडु और कैरु (कौरव) अथवा कुरु पंजाब और देहली प्रान्त में आबाद थे। दक्षिण की ओर जाने वाला पांडवों का समूह राज्यवादी और उत्तर की ओर रहने वाला समूह प्रजातंत्र वादी हो गया। भोनू या भोज दो श्रेणियों में विभक्त थे—एक भोज दूसरे कुन्ति भोज। यह मालवा में तथा यमुना के किनारे आबाद थे। तूर्न जो कि अब पतूर कहलाते हैं यू० पी० में आबाद हैं। कार पशव, ताड्य, महा ब्राह्मण २५।१०२३ में इनका वर्णन है। यमुना के किनारे भूगोल के 'विश्वांक' में इसका पता बताया है। यमुना से ६-७ मील के अन्तर पर कारव गाँव है, इसी के सन्निकट अथवा यही उनकी राजभूमि रही होगी और इस समय करवारा और खोखिया या खोखर कहलाते हैं। किन्तु खास कारव में आज कल हैगा जाट हैं। काश्य यह सूर्यवंशी समुदाय था जब मगधों द्वारा जीत लिया गया था और उनकी स्वतंत्रता नष्ट करदी गई थी इससे काशी को छोड़कर आगे बढ़ आया और अब काशीवत कहलाता है। कीकट—यह विपाश और शतुद्र (रावी, व्यास) के किनारे रहते थे। इस समय यह कटनी नदी के किनारे पाये जाते हैं और कीकटवा या कटेवा कहलाते हैं। मत्स्य शतपथ ब्रा० १३।५।४।६ में इनका नाम आता है। अब यह मछार कहलाते हैं। कुछ लोग कहते हैं इनका स्थान जयपुर के पास रहा होगा। तब तो यह कछवाहे कहे जा सकते हैं। साम्राज्यवादी विचार रखने वाले तथा पुनर्विवाह को बन्द कर देने वाले राजपूत हो गये और नरवर चले

१—याज्ञवल्क्य स्मृति में जाति, श्रेणी, गण, जनपद को समान वाची तथा संगठित संस्था के रूप में वर्णित किया है—'व्यवहारान् स्वयम् पश्येत् सभ्यैः परिवृतोऽन्यहम्। कुलानि जाति श्रणीश्च गणाज्जानपदा नपि ॥१॥१६०॥ २—गान्धार देश में ही छांदोग्य उपनिषद की रचना हुई थी। महाभारत के समय में इन में एकतन्त्र शासन जान पड़ता है। पीछे यह प्रजातन्त्री हो गये थे। वैदिक काल में भी ये प्रजातंत्री थे। ऋग्वेद में इन के देश की अच्छे ऊन वाली भेड़ों का जिक्र है।

० f- जी योचल्या कँवरए रा. जैप र।

पं० दत्तूराम जी उपदेशक जैपुर प्रां० जाट क्षत्रिय-सभा। कुं० पन्नेसिंह जी
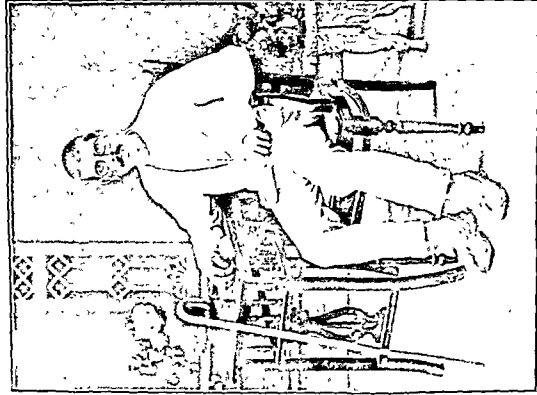
चौ० जालूराम जी हनुमानपुरा, जैपुर।
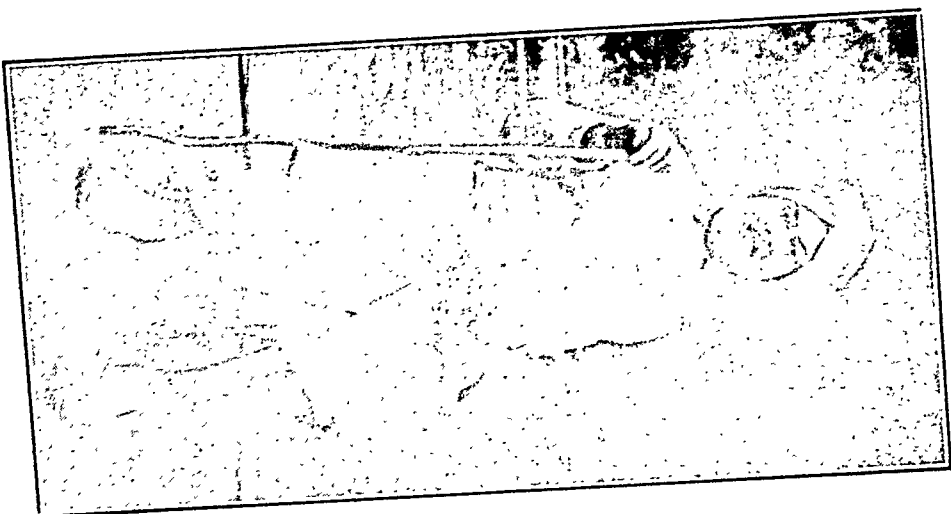
श्री० रामसिंह जी प्रधान आनरेरी मजिस्ट्रेट दौराला (मेरठ)

पं० होतीलाल जी जाट स्कूल हनुमानपुरा, जैपुर।

गये। बाकी जो रह गये और पुराने रिवाजों को न छोड़ा जाट हैं। सिन्धू-यह नाम ही बताता है कि पंजाब के पास के वर्तमान सिन्ध में मद्रों के पड़ौसी थे और अब पंजाब में हैं। पंजाब के जाटों में यह प्रसिद्ध गोत्र है। जठर--उत्तरी भारत में जरठकूट देव नाम पर्वत के अंचल में रहते थे। बेसवां (अलीगढ़) के अंगद शास्त्री ने इनको ही सम्पूर्ण जाटों का पुरपा माना है। किन्तु अंगद शास्त्री को इनकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में बड़ा भ्रम हुआ है। इन्हें दक्षिण की क्षत्राणियों का वंशज मानने की उसने भयंकर भूल की है। आज कल यह कुछ तो मालवा की ओर आ गये हैं और कुछ मुसलमान हो गये हैं। और जाटरा कहलाते हैं। नव-यह मथुरा और गुड़गाँव के बीच में आबाद थे। इनका यह प्रजातंत्र मांट के आस-पास था और नवराष्ट्र कहलाता था। पीछे यह अन्य यादवों की भाँति यहाँ से उत्तर की ओर चले गये और बहुत दिन तक वहाँ रहे। मि० ग्राऊस सा० ने खुतन के पास किसी नव झील का नाम लिया है। हूणों के आक्रमण के समय ये उस स्थान को छोड़कर अपने पुराने स्थान पर आ बसे और वहाँ एक झील खोदी तथा झील के भीतर दुर्ग बनाया। अब ये नोहवार (नववीर) कहलाते हैं।

महाभारत कालीन जनपदों में 'भूगोल' के 'भुवनांक' में 'कुन्द' लोगों का भी उल्लेख है, जो कि महाभारत के अनुसार ही है। यह उत्तरी भारत में कहीं थे। अपरान्तों के साथ नाम आने से मालूम होता है कि यह उत्तरी-पूर्वी भारत में गंगोत्रा के पास ही कहीं थे। इनका निशान अब यू० पी० में पाया जाता है, जो कुन्द और कुन्दू कहलाते हैं। 'जाट-उत्पत्ति' के लेखक बेनीप्रसादजी ने अपनी पुस्तक में जाटों के गोत्रों में इनका उल्लेख दिया है। दशार्ण लोग सूरसैन देश के समीप बसते थे ऐसा महाभारत मीमांसा के वर्णन से पता चलता है। सूरसैन देश की राजधानी मथुरा थी। किन्तु दशार्ण लोगों का पता दसपुर अथवा मन्दसौर के आस-पास चलता है। इस तरह से दशार्ण मालवे के निवासी थे और अब उनके वंशज जाटों में दशपुरिया नाम से प्रसिद्ध हैं, तथा यू० पी० में पाये जाते हैं। शिव लोग-व्यास के किनारे पर राज करते थे। इनका वर्णन वेदों में भी है। ऋग्वेद की एक ऋचा के कर्त्ता शिव लोगों को माना गया है। मि० ग्राऊस साहब ने 'मथुरा मेमायर्स' में शिव लोगों को नोहवारों का भाई सिद्ध किया है। वे 'हरिवंश' के हवाले से लिखते हैं कि उशीनर राजा के पाँच रानी थीं—१ नृगा, २ कृमि, ३ नवा, ४ दर्व और ५ दृषद्वती। उनके एक-एक पुत्र हुआ। उनके नाम नृग, कृमि, नव, सुव्रत और शिवि थे। इन में से नव ने नवराष्ट्र पर राज किया। कृमि ने कुमिल्लापुरी और शिवि ने जो कि ऋग्वेद की एक ऋचा का लेखक कहा जाता है, शिव व्यास पर राज किया और नृग ने योधेयाज पर राज किया। (महाभारत में उशीनरों को नीचा क्षत्रिय बताया है) पाणिनी ने उनका वर्णन ऐसा किया है कि वह पंजाब के पास रहते थे। ऐतरेय ब्राह्मण ने उन्हें (उशीनरों को) कुरु, पाँचालों में शामिल किया है। उशीनर की पाँचवी रानी दृषद्वती के नाम से लोप हुई नदी दृषद्वती का हमें ध्यान आता है, जो महाभारत में कुरुक्षेत्र की

दक्षिणी सीमा बताई गई है। इस सब से प्रकट होता है कि नवराष्ट्रम् जिस पर कि उशीनर का तीसरा बेटा नव राज करता था वह गुड़गाँव व मथुरा के सन्निकट रहा होगा और उसकी राजधानी ठीक यही रही होगी जो अब नोह कहलाती है। ('मथुरा मेमायर्स' पे० ३२० से ३२२)।

मि० ग्राऊस साहब के कथन को जो कि अँग्रेजी में है, हम यहाँ ज्यों का त्यों देते हैं:—

Under the same head comes the apparently Muhammadan name Noh; which, with the addition of the suffix *jhil*, is the designation of a decayed town on the left bank of the Jamuna to the north of the district. At no very great distance, but on the other side of the river, in Gurganw, is a second Noh; and a third is in the Jalesar Pargana, which now forms part of the Agra district. So far as I have any certain knowledge, the name is not found in any other part of India; though it occurs in Central Asia; for I learn from Colonel Godwin Austen that there is a Noh in Ladak or rather Rudok at the eastern end of the Pangang Lake, and on its very borders. The Yarkand expedition is also stated in the papers to have reached Leh via Khotan, Kiria, Polu, and Noh, by the easternmost passover the Kuen-lun mountains. Upon this point I may hope to acquire more definite information hereafter; the best maps published up to the present time throw no light on the matter, for though they give the towns of Kiria and Khotan, they do not show Noh, and its existence therefore requires confirmation. The three places in this neighbourhood all agree in being evidently of great antiquity, and also in the fact that each is close to a large sheet of water. The lake, or morass, at Noh jhil spreads in some years over an area measuring as much as six miles in length by one in breadth. It is no doubt to a great extent of artificial formation, having been excavated for the double purpose of supplying earth, with which to build the fort, and also of rendering it inaccessible when built. The inundated appearance of the country combines with the name to suggest a reminiscence of the Biblical Deluge and the Patriarch Noah. But the proper spelling of his name, as Mr. Blochmann informs me, is Nuh, with the vowel *u* and the Arabic *h*; Badaoni, who twice* mentions the town, spells it with the imperceptible *h*; but in the Ain-i-Akbari, which herein agrees with in-

*Once as the scene of a fight between Iqbal Khan and Shams Khan of Bayana (A. H. 802), and again as the place where Mubarak Shah crossed the Jamuna for Jartoli.

variable modern usage, the final letter is the Arabic *h*. Again, if a reference to the Deluge were intended, the word Noh would not have been used simply by itself; and standing as it does, it can scarcely be other than the name of the founder. But (again to quote Mr. Blochmann) "Muhammadans use the name Nuh extremely rarely. Adam, Musa, Yusuf, and Ayub are common; but on looking over my lists of saints, companions of Muhammad, and other worthies of Islam, I do not find a single person with the name Nuh; and hence I would look upon a connection of Noh with Noah as very problematical. I would rather connect it with the Persian *nuh*, 'nine' which when lengthened becomes *noh*, not *nuh;* as the Persian *dih*, 'a village,' becomes *deh*, not *dih.*" But if we abandon the Semitic name, it will be better, considering the purely Hindu character of the country, to try and fall back upon some Sanskrit root, and I am inclined to regard the name as a Muhammadan corruption of *nava*—not the adjective meaning 'new' but a proper name—and with the *h* added either purposely to mark the distinction, or inadvertently in the same way as *raja* is in Persian characters incorrectly written *rajah*. In the Harivansa (line 1677) mention is made of a king Ushinara, of the family of Kaksheyu, who had five wives, Nriga, Krimi, Nava, Darva, and Drishadvati. They bore him each one son, and the boys were named Nriga, Krimi, Nava, Suvrata and Sivi; of whom Nava reigned over Navarashtram; Krimi, over Kumila-puri; Sivi, who is said to be the author of one of the hymns of the Rig Veda (X. 179), over the Sivayas, and Nriga over the Yaudheyas. In the Mahabharat the Usinaras are said to be a lower race of Kshatriyas. They are mentioned by Panini in a connection which seems to imply that they were settled in or near the Punjab; and in the Aitareya Brahmana, Usinara is collocated with Kuru and Panchala. Again, Drishadvati, the fifth of Usinara's wives, recalls to mind the unknown river of the same name, which is mentioned by Manu as one of the boundaries of Brahmavarta, and in the Mahabharat as the southern boundary of Kurukshetra. From all this it may be inferred that the Navarashtra, over which Usinara's third son Nava reigned, cannot have been far distant from Mathura and Gurganw; and its capital may well have been the very place which still bears his name under the corrupt form of Noh or Nauh.

शिव लोगों का प्रजातंत्र काफ़ी प्रसिद्ध था, और वैदिक काल से लेकर किसी न किसी रूप में उनका अस्तित्व सिकन्दर के समय तक पूर्ण उत्थान पर पाया जाता है। चित्तौड़ के पास से उनके सिक्के मिले हैं जिन पर 'मझिमकाय शिव जनपदस' लिखा रहता है। जाटों में लगभग आधे लोग अपने को शिव गोत्री मानते हैं, शिव लोगों का पूरा विवरण आगे लिखा जायगा। क्रमि आज कल किरम कहलाते हैं और यू० पी० में पाये जाते हैं। दर्व लोगों का भी क्रमि लोगों की भाँति महाभारत में वर्णन है। आजकल वे दावर और दारावर कहलाते हैं। महाभारत-कालीन जनपदों में भद्रक लोगों का वर्णन और आता है। ये अवश्य ही जंगल देश के भादरा नगर के क्षेत्र में रहे होंगे और निश्चय ही भादरा इन की राजधानी रही होगी। भादरा से जोधपुर और अजमेर की ओर इनका बढ़ना पाया जाता है। ये लोग शान्ति प्रिय पाये जाते हैं और अब भादू और कहीं कहीं भादा कहलाते हैं।

ऊपर लिखे हुए समूह जो कि अब जट (संघ) में अथवा ज्ञाति में शामिल हो गये हैं उसके गोत्रों में गिने जाते हैं। जट (फेडरेशन) अवश्य ही इस फेडरेशन से कहीं अधिक अच्छा रहा होगा जिसको अंग्रेज़ सरकार भारत में बनाना चाहती है। क्योंकि उसमें अधिकांश समूह स्वयम् गणतंत्री थे। भावी फेडरेशन में शामिल होने पर देशी राज्यों की एकतंत्र प्रणाली इसी रूप में चल सकेगी, इसमें भारी सन्देह है। खैर यह विषय हमारे प्रसंग से बाहर का है। अब तक जाटों के गोत्रों में पाए जाने वाले जिन प्रजातंत्री समुदायों का वर्णन किया है वे सभी महाभारत कालीन तथा उससे भी प्राचीन हैं। अब कुछ बौद्ध-कालीन प्रजातंत्री समूहों पर विचार करना है कि उनमें से कितनों का अस्तित्व जाटों में पाया जाता है।

गंगरिदी—यह मेगस्थनीज़ के समय में जाति थी। किन्तु प्रसाई जाति के साथ नाम आने से किसी ने इसे महानदी के किनारे और किसी ने कलिंग देश में होने की बात कही है। किन्तु यह गढ़मुक्तेश्वर की ओर कहीं पास ही रहती थी, और अब गंगस कहलाती है। आगे हम बतावेंगे कि गढ़मुक्तेश्वर एक जाट नरेश के नाम पर प्रसिद्ध हुआ है। लेकिन कल्पना के विमान पर चढ़कर लोग इधर-उधर भटकते फिरे हैं यदि उन्हें गंगसों का पता होता तो वे ठीक नतीजे पर पहुँच जाते। टोलेमी ने उनकी राजधानी गंगा लिखा है, इसलिए यह मानना पड़ता है कि आज जो राम घाट के पास गंगा घाट नाम का शहर है वही उनकी राजधानी रहा होगा। 'जाट उत्पत्ति' के लेखक ने गंगस लोगों की आबादी बुलन्द शहर जिले में वर्तमान बताई है।

सेही—यह अजमेर मेरवाड़े में जाति थी और अब सेल कहलाती है। यूल साहब ने इस शब्द को संस्कृत का सेका बतलाया है। यह जिस स्थान पर रहती

चौ० जीवनराम जी गांव दीनगढ़ (बीकानेर)
मंत्री जाट ए० एम० मिडल स्कूल, संगरियामंडी।
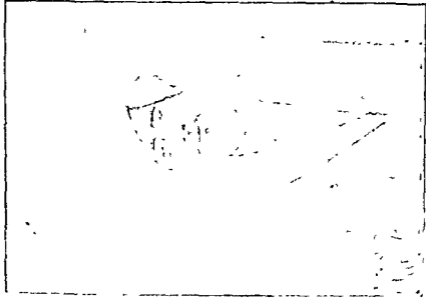
श्री० चौ० पोहकरराम जी ठेकेदार,
(बीकानेर)
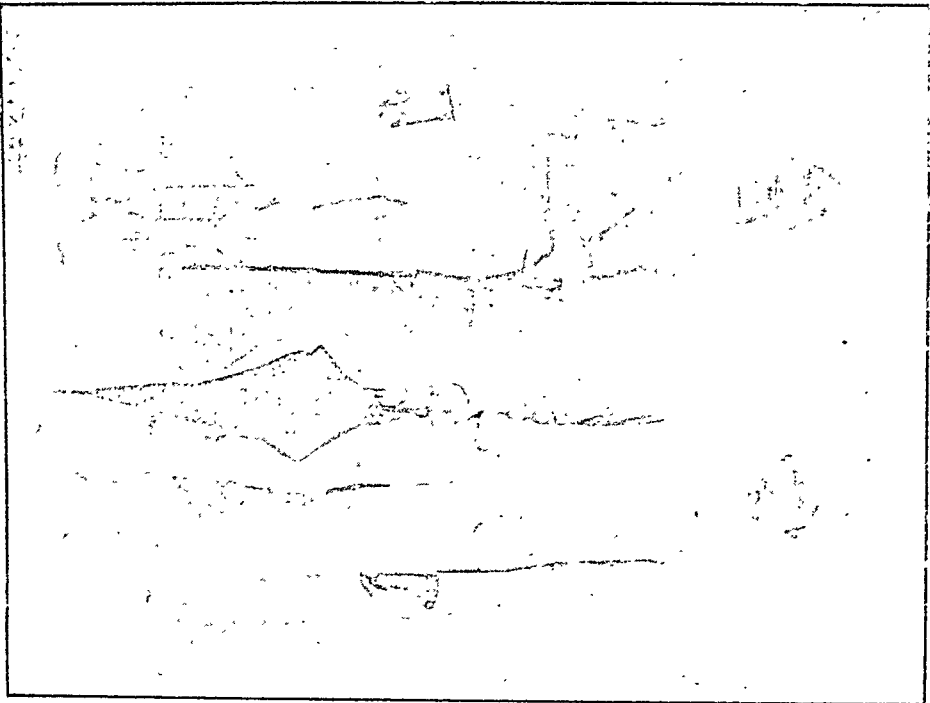
कुं० हरदेवसिंह जी, कुं० सूरजमल जी, पातसरी (सीकर)

चौ० बहादुरसिंह जी, चौ० हरिश्चन्द्र जी, गंगानगर।

थी, कहते हैं कि वहाँ चाँदी की खान थी और भाजपुर के निकट इनकी कहीं राजधानी थी। सिन्धु नदी और यमुना के बीच में पहाड़ों पर मंगेली या मंगवा गोत के जाट रहते थे। कहा जाता है वे पाँच सौ हाथी तक इकट्ठा कर सकते थे। कोरी, मरोही, मोभनी, रुङ्गी इन्हें प्लिनीनीज के रेगिस्तानों से नीचे उन पहाड़ों पर निवास करते बताया है, जो अछिन्न-श्रेणी में समुद्र के कूल के समतल चले गये हैं। इनके लिये कहा गया है कि ये बिल्कुल स्वतन्त्र हैं और इनके कोई राजा नहीं। पर्वत चोटियों पर इनके कई नगर थे। इन्हें क्रमशः कोरी, मौर्य, मोर, रंगी समझना चाहिये। आजकल यह युक्त-प्रदेश और राजपूताने में पाये जाते हैं। मौर्यों का तो साहसीराय के समय तक सिन्ध और राजपूताने में राज रहा था। मौर्य्यों में से कुछ लोग राजपूत श्रेणी में भी चले गए हैं। कोरी लोग आगरा जिले के जाटों में पाये जाते हैं। मोर और रंगी नितान्त थोड़ी संख्या में हैं। नरेई जो कि नेहरा के नाम से प्रसिद्ध हैं कैपटेलिया नाम से घिरी हुई जगह में उनका स्थान बताया गया है। वरेतती जाति के लिए मेगस्थनीज़ ने लिखा है कि इनका राजा हाथी नहीं रखता, केवल घोड़े और पैदल सैना रखता है। वरेतती यूनानी शब्द का हिन्दी 'विजय रथियाँ' होता है। खंडेलवाटी में एक पहाड़ के ऊपर इनके किले घुड़शाल आदि के चिह्न अब तक पाये जाते हैं। इनके अलावा सिरायन, असोई, अमिटी, उरी, वोलिंगी, सिलेन, डिमुरी, मेगरी, ओर्डिवी, मेसी, सिवेरी, ओर्गनगी, सुअटी, अवओर्टी, मोर्गी आदि प्रजातन्त्री समुदायों का सिन्ध में होने का प्लिनी ने मेगस्थनीज़ के अनुसार वर्णन किया है। जो क्रमशः जाट जाति में इस समय इन नामों से पुकारी जाती हैः—सारन, असिवाग, अन्तल, उरिया, बालाइन, संलकलेन, दाहया, मोखरी, बूडिया, मत्स्य, सगरी, अहेरवंशी, सुरियारा, अफरीदी, सुगरिया। ये सब जातियाँ सिन्ध और पंजाब की नदियों के किनारे अपने जनतन्त्रों के रूप में विद्यमान थीं। यूनानी लेखकों ने इनके नाम इतने बिगाड़ कर लिखे हैं कि आज उनके लिखे नामों की हिन्दी बनाने में विद्वानों को बड़ी कठिनाइयाँ आ रही हैं। उन्हें कठिनाई इसलिए भी उठानी पड़ती है कि इस बात का बिना ही विचार किये, कल्पना दौड़ाने लगते हैं कि आखिर इन देशों में विशेष रूप से आबादी किन-किन लोगों की थी। सिन्ध और पंजाब, जाट, लुहाना, खत्री लोगों की आबादी के लिये प्रसिद्ध हैं। फिर इन जातियों के सिवाय अन्य जातियों में उन जनपदों के नाम कहाँ से आते? *इसलिए उनके मतों में भारी अन्तर पाया जाता है*[१]।

प्रजा सत्तात्मक राज्यों के बारे में एरियन लिखता है—*"डायोनियसस से सन्ड्रकोट्स (चन्द्र गुप्त) तक भारतवासी १५३ राजाओं की गणना करते हैं। और ६०४२ वर्ष का काल मानते हैं। परन्तु इस बीच में तीन बार प्रजासत्तात्मक राज्य स्थापित हुआ······दूसरी बार तीन सौ वर्ष के लिये और तीसरी बार*

१—इन जनपदों के सम्बन्ध का विवरण 'मेगस्थनीज़ का भारत विवरण' में पढ़िये।

१२० वर्ष के लिये। वे यह भी कहते हैं कि डायोनियसस हैरोल्कीज (वल्देव अथवा कृष्ण) से १५ पीढ़ी पहिले हुआ था।" निश्चय ही इन राजनैतिक परिवर्तनों का समाज पर असर पड़ता है। पिछली छः सदियों से भारत में प्रजातंत्र का नाम भी नहीं रहा है। इससे सर्व-साधारण के यह भी खयाल वहुत कम आता है कि एक मनुष्य (राजा नामधारी) के सिवा क़ौमी हुकूमत भी कोई वस्तु है। हाँ, इस समय प्रजातंत्र के भाव फिर से उदय होने लगे हैं। ज्यों-ज्यों देश में प्रजातंत्र के प्रति श्रद्धा बढ़ेगी, त्यों ही त्यों लोगों को उन जातियों से सहानुभूति वढ़ेगी, जिनमें कभी प्रजातंत्र प्रणाली थी। इस तरह ऐसी जातियों का इतिहास भी पूर्ण रूप से संसार के सामने आ जायगा।

अव कुछेक उन कुलों का उल्लेख करते हैं, जो ई० सन् के पश्चात् वर्तमान नामों को प्राप्त हुई हैं, और जिनका अस्तित्व जाटों में पाया जाता है। दसवीं सदी के पश्चात राजपूतों ने राजवंशों की एक सूची तयार कराई थी, शायद उसी समय से भारत में ३६ राजवंशों की प्रसिद्धि हुई। तेरहवीं सदी के प्रसिद्ध कविचन्द्र ने भी पृथ्वीराजरासो में इन्हीं ३६ राजवंशों का वर्णन किया है। राजा रणजोरसिंह, राजतरंगिणी तथा कर्नलटाड़ की जव इन ३६ राजवंशों की सूची देखते हैं तो उनमें भिन्नता पाई ही जाती है, किन्तु प्राचीन राजवंशों में से उस सूची में दो चार ही नाम पाते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि प्रजातंत्रों के कमजोर व मृतप्रायः हो जाने और वौद्ध-धर्म-पराभव के पश्चात यह सूची तयार की गई और उनमें उस समय के तत्कालीन–राजकुलों के ही नाम अंकित किये। किन्तु इन ३६ राजवंशों के गिनाये हुए नामों के अधिकांश राजवंश जाटों में भी पाये जाते हैं। कर्नलटाड़ ने तो पूरी जाट जाति को इन ३६ में से एक राजवंश माना है। टाड़ का ऐसा मानना ठीक भी है, क्योंकि इस समय तक जाट शव्द इतना व्यापक हो गया था कि उसके अन्दर शामिल हुए राजवंश पूछने पर अपने को (वंश का नाम न वताकर) जाट बताने लग गये थे। (अजमेर-मेरवाड़े के जाट तो अव तक भी जाति पूछने पर अपने वंश का जोकि अव गोत्र कहे जाते हैं, नाम लेते हैं।) जिस भाँति भारत के सभ्य ईसाई, मुसलमान हिन्दू सभी अपने को भारतीय और व्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आर्य (हिन्दू) कहने-कहलाने को वास्तविकता समझते हैं, इसी भांति विभिन्न जाट कुलों को पिछले तीन हजार वर्ष के लम्वे समय ने कुलों की अपेक्षा जाति का रूप दे दिया था। राजपूत शव्द यद्यपि छटी शताव्दी से प्रयोग में आने लग गया है किन्तु उसे इतनी व्यापकता सोलहवीं सदी से प्राप्त हुई है। आज राजपूतों में जो कुल हैं, वही आगे—जैसा कि अव भी है, गोत्र का रूप धारण कर लेंगे। जाटों में इस समय मुख्यतः तीन प्रकार के गोत्र हैं (१) जनपदों (राज-कुलों) के नाम पर चले आये हुए, जैसे पाँडु, गान्धार, कैरव, भादू, नोहवार, यादू और शिव आदि। (२) जन-पद राजकुल के किसी महापुरुष के नाम पर जैसे कुहाड़, दूलड़, भाटी, सिद्धू आदि। (३) उपाधियों के नाम पर

जैसे मालक, चौधरी, पटेल, फौजदार, प्रधान आदि । इनमें पिछले दो प्रकार के लोगों के सम्बन्ध में अतिकाल के बाद यह निर्णय करना कठिन हो गया है कि वह किस राज-कुल के हैं। भाटों के यहाँ जो वंशावलियाँ उनकी हैं, वे भी पिछले समय में बनाई हुई होने के कारण तह तक ले जाने में साथ नहीं देतीं और साथ ही वे संदिग्ध और अवैज्ञानिक हैं। परिशिष्ट भाग में हम ने यह बताने की कोशिश की है कि कौन से गोत्र प्राचीन समय से अब तक उसी रूप में चले आते हैं और कौन-कौन से गोत्र किस महान पुरुष के नाम से विख्यात हुए और किस राज-कुल से सम्बन्ध रखते हैं और यह नया नाम कब से धारण किया है ?

परिहार

यह राजकुल जाटों के अन्दर आगरा-मथुरा के जिलों में पाया जाता है। परिहार नाम नहीं किन्तु इस कुल (गोत्र) की उपाधि है। परन्तु वे इसी नाम से मशहूर हैं। इनकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में पुराणों तथा अन्य ग्रन्थों में जो विचित्र बातें लिखी हैं, उनसे भी यही बात सिद्ध होती है कि परिहार उपाधि वाची शब्द है। कहा जाता है कि आबू के यज्ञ से सर्व प्रथम जो पुरुष पैदा हुआ, उसे प्रतिहार (द्वारपाल) का काम दिया। द्वारपाल होने के कारण ही वह परिहार कहलाया। दूसरे ढंग से यों भी कहा जाता है कि अश्वमेध यज्ञ के समय श्री लक्ष्मणजी द्वारपाल रहे थे अतः उनके वंशज प्रतिहार अथवा परिहार कहलाये। राजपूतों में जो इस समय परिहार हैं, सी० वी० वैद्य ने उन्हें गूजरों में से बताया है किन्तु गूजरों में जो परिहार हैं, वह कहाँ से आये, तथा यह नाम क्यों पड़ा, इसका निर्णय उन्होंने कुछ नहीं किया। डाकृर भांडारकर तथा स्मिथ उन्हें विदेशी मानते हैं। उनका कहना है कि आबू में इन जातियों को आर्य-धर्म में दीक्षित किया गया। यह कथन उस हालत में मान लिया जाता जब कि परिहारों में जाटों का अस्तित्व न होता। जाट-जाति के अन्दर उनका होना साबित करता है कि वे पहिले से ही आर्य हैं और भारतीय हैं। क्योंकि आबू के यज्ञ से तो उन्हीं परिहारों का तात्पर्य है जो राजपूत हैं। यह सर्व विदित बात है कि जाट शब्द राजपूत शब्द से पुराना है। आबू-यज्ञ वाली घटना सही है, किन्तु यह सही नहीं कि वे विदेशी हैं। यज्ञ द्वारा दीक्षित होकर गूजरों में से राजपूत बने हों तो भारतीय हैं और गूजरों में जाटों से गये हों तो भी भारतीय हैं। बौद्ध-काल में जितना समूह उन में से राजपूतों में (आबू महायज्ञ के महोत्सव के समय) चला गया, वह राजपूत-परिहार और जो पुराने नियमों के मानने वाले शेष रह गए, वे जाट-परिहार और गूजर-परिहार हैं।

महाभारत में परतंगण और तंगण लोगों का वर्णन आता है। ये गणतन्त्री समुदाय हिमालय की गोद में मानसरोवर के निकट शासन करते थे[१] जहाँ इनका जनपद (राज्य) है वह स्थान चीन और भारत का प्रवेशद्वार (फाटक) है। परतंगण का शाब्दिक अर्थ (परतम् + गण) परवर्ती तथा बहिः गण अर्थात् सीमावर्ती गण होता

१—'भूगोल' का 'भुवनाक' जौलाई सन् १९३२ देखो।

है। इस भाँति भारतीय राष्ट्र के ये प्रतिहार (द्वारपाल) सिद्ध होते हैं। इस शब्दार्थ वाली दलील को छोड़ भी दिया जावे तो भी परतंगण से प्रतिहार और परिहार बनना भाषा शास्त्र के अनुसार कठिन वात नहीं है—बिल्कुल-सम्भव बात है। सी० वी० वैद्य ने भी इनका अस्तित्व भारत के उत्तर में बताया है। हर हालत में ये भारत के प्रवेशद्वार पर पाये जाते हैं। इनके पड़ौसी तंगण आजकल तांगर के रूप में भरतपुर राज्य में अपना अस्तित्व रखते हैं। जाट-स्टाक में ये समुदाय हजारों वर्ष पूर्व से हैं। कहा जाता है कि जाटों में अनगिनती गोत हैं। सोलह सौ से कुछ ऊपर गोत्रों की (गिनती) तो जाट-हितकारी के सम्पादक महोदय श्रीकन्हीसिंहजी ने की थी। इस एक बात से ही जाट कौम बहुत पुरानी साबित होती है और साथ ही यह भी सिद्ध होता है कि पुराने प्रजातन्त्री अथवा अन्य तंत्री राजवंशों का निशान अगर कहीं जाटों के अलावा दूसरे स्थान पर पाया जाता है तो वह भी जाटों से ही वहाँ पहुँचा है। पंवार व प्रमार—वशिष्ट के यज्ञकुण्ड से पैदा होने की कथा इनके विषय में भी है। किन्तु इनका अस्तित्व जैसा कि वे अपने को विक्रमादित्य की सन्तान मानकर बताते हैं, यज्ञ से बहुत पहिले का है। आबू यज्ञ स्वामी शंकराचार्य के समय ७, ८वीं शताब्दी में हुआ था और गर्दभसेन के बेटे विक्रमादित्य ईसा से भी कम से कम ८० साल पहिले पैदा हुए थे क्योंकि उनका संवत् ही ईसा से ५७ वर्ष पहिले चल चुका है। हमारा जहाँ तक अनुसन्धान है उस समय मालवे में गणतन्त्र प्रणाली थी। विक्रम के पिता निश्चय ही गण के सरदार थे। और यह आरम्भ के परान्त ज्ञात होते हैं जो कि सूपारक में रहने वाले अपरान्तों के पड़ौसी थे। कुछ लोगों ने परान्तों को खैबर की घाटी के पास माना है। कालान्तर में परान्त से प्रमार और पँवार की रचना हुई। आगे चलकर के जाट, गूजरों अथवा परिस्थति-वश राजपूतों और मराठों के समुदायों में बँट गये। सोलंकी—यह आरम्भ के चालुक्य अथवा चौल हैं और दक्षिण भारत में रहते थे। पाँचवीं-चौथी सदी के मध्य में यह उत्तर भारत की ओर बढ़े। ब्रह्मा के चुल्लू और हवन कुण्ड से उत्पन्न होने का वर्णन इनका भी है, जो कि नये हिन्दू-धर्म में बौद्ध-धर्म को छोड़कर आने की बात को सिद्ध करता है। चौहान—यज्ञ कुण्ड से उत्पन्न होने वालों में यह सब से श्रेष्ठ बताये गये हैं। चार भुजा होने के कारण चाहुमान नाम रक्खा ऐसा वर्णन किया जाता है। गणतन्त्र के समय तोमरों से ऊपर के हिस्से में हमें चाहु वंश का पता बौद्ध साहित्य से मिलता है जो कि आत्रेय लोगों का एक अंश जान पड़ता है। चौहान अपने ऋषि का नाम आत्रेय बतलाते भी हैं इससे भी वे आत्रेय सिद्ध होते हैं। आत्रेय समूह के चाहु लोग ही चाहमान और चौहान हुये। तोमर-हन्यमान्य, आत्रेय और किरात लोगों के पड़ोस में इनका जनपद था। ईसा की छटी सदी में यह दिल्ली पर क़ाबिज़ हो चुके थे। सिकरवार-वंशावलियों वाले इन्हें लव की सन्तान बताते हैं, इससे यह सूर्यवंश के अनुयायी हैं। पंजाब में बसने के कारण अवश्य ही प्रजातंत्र और ज्ञातिवाद ने इन्हें गणवादी बना दिया होगा। वास्तव में किस जनपद के यह लोग हैं, इतना पता अभी नहीं लग पाया, कारण कि राजनैतिक तथा धार्मिक हेर-फेरों ने अनेक गोत्रों के

मास्टर तेजसिंह जी हनुमानपुरा
जैपुर राज्य ।

ठा० हुक्मसिंह जी उपदेशक
जाट महासभा ।
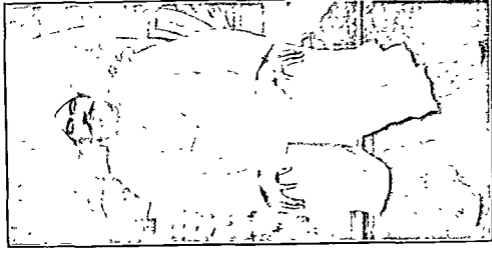
प्र० मामचन्द्रजी सोलंकी
जिमाना, ज़िला मेरठ ।

कु. नारायणसिंह

मूल स्टाक को खोज निकालना कठिन कर दिया है। चम्बल के किनारे इन लोगों का बहुत समय तक राज्य रहा। सीकरी बसाने से इनका यह नाम पड़ गया। वीर-गुर्जर या बड़गूजरों के यह बहुत दिन तक पड़ौसी रहे हैं। भाटी-यदुवंशी हैं; भाटी नाम पड़ने की जो कथा है वह बे बुनियाद है। मथुरा के यदुवंशी राजा जयसिंह के युद्ध में काम आने के बाद उनके दूसरे लड़के ने देवी के नाम पर आग की भट्टी में सिर चढ़ा दिया तभी से भट्टी कहलाने लगे, यह कथा इनके सम्बन्ध में कही जाती है। असल में भटंड भूमि में यादवों के बस जाने से बजाय यादव के भाटी नाम प्रसिद्ध हुआ है। भटनेर बसाने वाले भाटी लोग प्राचीन सामाजिक व राजनैतिक नियमों पर चलने के कारण जाट-भाटी कहलाते रहे और जैसलमेर के भाटी नवीन हिन्दू-धर्म की दीक्षा से दीक्षित होकर राजपूत-भाटी बन गये। भटनेर के जाट-भाटियों ने ही भटिंडा की नींव डाली। 'जोहिया'—*यह महाभारत कालीन यौधेय हैं।* हरिवंश की कथा के अनुसार चन्द्रवंशियों का यही वह गणतंत्री समुदाय है जिस पर नृग ने राज किया था। वास्तव में यह वैदिक उशीनरों का एक अंग हैं। जो अब जोहिया कहे जाते हैं। इनमें से कुछ राजपूतों में भी शामिल होगये हैं। पन्द्रहवींसदी के आरम्भ में भूमिया-चारे (गणतंत्री) के ढंग का बीकानेर की भूमि पर जाट-जोहियों का राज भी था। राठोर-जाटों में राठोरों का भी एक समूह है किन्तु यह राठोर वे हैं जिन्हें प्लिनी के इतिहास में 'ओरेटुरी' कहा गया है; यह पंजाब में आबाद थे। मि० क्रुक-साहब ने "ट्राइब्स एन्ड कास्टस आफ़ दी नार्थ वैस्टर्न प्राविंशेज एण्ड अवध" में जाटों के सम्बन्ध में लिखा भी है—

They were in the time of Justin known as Aratta, i. e., Arashtra or "people without a king," and are represented by the Adraistae of Arrian, who places them on the banks of the river Ravi.

अर्थात—*"जस्टीन के समय में वे अरट्टा अर्थात अराष्ट्र या बिना राजा की प्रजा कहलाते थे। 'अरियान' का एड्रास्टाई उनको रावी नदी के किनारों पर बसा हुआ बताता है"* किसी समय इस प्रजातंत्री समुदाय के पास १० हाथी और हजारों पदाति सैनिक थे१। राजपूतों में जो राठोर हैं अपनी उत्पत्ति दूसरे ही भिन्न-भिन्न ढंगों से मानते हैं। *उनका अभी यही प्रश्न हल नहीं हुआ कि वे चन्द्रवंशी* हैं अथवा सूर्यवंशी। राजपूत राठोरों के सम्बन्ध में डाक्टर बर्नेल की राय है "कि राठोर जो कि संस्कृत के रट्ट से बना है तेलगू रेड्डी का रूपान्तर है जो कि तैलंगाने के आदिम किसान हैं२।" यह भी असंभव नहीं है कि "अरट्ट" (जाट-राठोर) का एक बड़ा समूह बौद्ध-काल के पश्चात राजपूत्र समुदाय में चला गया हो। राजपूत

१—'मेगस्थनीज का भारत विवरण' काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित देखो। २—'भारत के प्राचीन राजवंश (राष्ट्रकूट)' पे० ३।

राठोर गाहडवालों से भी अपना सम्बन्ध बताते हैं। यू० पी० और राजपूताना के जाटों में गाहडवाल गोत्र के जाट भी आबाद हैं। किन्तु यह नहीं कह सकते कि रावी नदी के 'अरट्टों' का गाहडवालों से कोई सम्बन्ध है या नहीं।

कछवाहा—राजपूत-कछवाहे अपने को लव की संतान बताते हैं। इस तरह से वे सूर्यवंशी हैं। कुछ लोग कछवाहा शब्द को कुशवाहा अथवा कच्छपघाति का रूपान्तर मानते हैं, किन्तु हमारा जाट-कछवाहों के लिए मत है कि वे काश्यप हैं और महाभारत-काल में प्रजातंत्री थे। जाटों का एक दल अपने लिए शिव गोत्री और दूसरा काश्यप गोत्री या काश्यप ऋषि की संतान मानता है। इस विषय का एक अंग्रेज विद्वान का मत भी हमने पिछले किसी पृष्ठ में उद्धृत कर दिया है। वैदिक साहित्य में काश्यप का बड़ा ऊँचा स्थान है। काश्यप सूर्यवंश के आदि पुरुष हैं। काश्यप शब्द से कछवाह बनना बिल्कुल संभव बात है। कछवाहे जाटों की युक्त प्रदेश में अनेक शाखा प्रशाखायें हैं। मौर्य-बुद्ध के समय में चन्द्रगुप्त मौर्य का नाम आया है। किन्तु पुराण-वालों ने उसे मुरा नाम शूद्रा से उत्पन्न हुआ माना है। चन्द्रगुप्त बौद्ध-धर्मावलंबी था, इसीलिए पुराणकार ने उसे बदनाम किया हो तो अचम्भे की बात नहीं। वरना पिप्पलिवन में मौर्यों का एक प्रजातंत्र था! बौद्ध जातकों में पिप्पलिवन के क्षत्रियों का पर्याप्त परिचय मिलता है[१]। इस गोत के जाट युक्त-प्रान्त और राजपूताना में अनेक स्थानों पर पाये जाते हैं। अब से बहुत पहिले झुंझनूं के पास के प्रदेश पर उनका पंचायती राज था।

गौर—इस कुल के जाट अब से बहुत पहिले दसवीं शताब्दी के आस-पास सिरोही राज्य की भूमि पर जनतंत्र के रूप में राज करते थे। इस समय वहाँ कोई आबादी नहीं है किन्तु जैपुर स्टेट में यह गोत पाया जाता है। युक्त प्रदेश में भी गौर हैं। राजपूताने के इतिहास में गौरीशंकरजी ओझा ने इन्हें गौड़ राजपूत मान लेने की भूल की थी किन्तु नागरी प्रचारिणी पत्रिका द्वारा उन्होंने अपनी भूल को स्वीकार कर लिया है। इनके प्राचीन नगरों के खंडहर उधर अब तक मिलते हैं। पोनिया—इस कुल के जाट राजस्थान और सूबा-हिन्द दोनों ही प्रान्तों में पाए जाते हैं। यह बहुत पुराने जाट हैं। मि० कुक साहब ने लिखा है—पोनियाँ सर्पों की एक किस्म है तब अवश्य ही यह नागवंशी हैं और संभव है नागौर इनही के किसी सरदार ने बसाया हो। राजनैतिक समानता के कारण इनका दल जट (संघ) में शामिल हो गया होगा। बीकानेर की भूमि पर इनका अन्तिम पंचायती राज्य था। इसमें भी सन्देह नहीं किया जा सकता है कि यह तक्षक शाखा के लोग हों। कर्नल टाड ने आबा, तक्षक और जाट तीनों के

१—महा परिनिब्बान सुत (बौद्ध-ग्रन्थ) ६–२१ देखो। अथवा मौर्य साम्राज्य का इतिहास पे० १०८।

पूर्व-पुरुष महात्मा इन्दु को माना है। हमें ताखू जाटों का भी पता चलता है जो कि बिल्कुल तक्षक शब्द का अपभ्रंश है। ब्रज में ताखा एक गाँव है, यहाँ के लोग कहते हैं, महाभारत का तक्षक यहीं रहता था। एक बस्ती नाग लोगों की मथुरा के पास कालीदह में भी थी।

राजपूताने में हमें नागा, नागिल आदि कुल जाटों में मिलते हैं। यह निश्चय ही नागवंशी हैं जो अराजकता के भावों के मिटने पर अराट्र प्रथा के बजाय ज्ञातिवादी (जाट) हो गये थे। मोखरी—वही हैं जिन्हें प्लिनी ने मेगरी लिखा है। यह आरम्भ में सिन्ध में थे, फिर राजपूताने में आये, किन्तु सातवीं शताब्दी में हम इनका निशान कान्य-कुब्ज की ओर देखते हैं। वहाँ इन्हें राजा के रूप में पाते हैं। हर्ष और मोखरियों में वैवाहिक सम्बन्ध था। प्रजातन्त्री समय में ही ये राजपूताने की ओर बढ़ रहे थे। जादू—यादव का अपभ्रंश है। महाभारत काल में हम इन का स्वतन्त्र रूप से अस्तित्व नहीं पाते हैं, किन्तु पुराणों की कथा के अनुसार यदु लोगों को श्राप था कि वे राज्य भोक्ता न होंगे। यह तो बनावटी बात है किन्तु वास्तविक तथ्य यह है कि यादवों का एक जत्था यदु के समय से ही अराजकवादी था। अन्धक-वृष्णि संघ के बन जाने के बाद यह समूह नितान्त अराजकवाद से हटकर ज्ञातिवादी (जाट) हो गया।

इन थोड़े से कुलों का हवाला देने से हमारा अभिप्राय यह है कि नये राजवंशों में से जो राज्य-वंश जाटों में शामिल हैं, वास्तव में वे नये नहीं हैं केवल प्रकारान्तर से उनके नामों में हेर-फेर होगया है। और न यह बात है कि वे कुल, राजपूतों में से जाटों में आये हैं किन्तु वे पहिले से ही जाटों में मौजूद थे और राजनैतिक एवं सामाजिक हेर-फेर के समय में वे जाटों के अलावा अन्य क्षत्रिय समूहों—गूजर, राजपूत, मराठों में पहुँच गये। एक-एक गोत्र का निशान जो कई-कई जातियों में मिलता है उसके सम्बन्ध में भाटों (वंशावली वालों) ने एक ही कथा बना रक्खी है—वह यही कि अमुक राजपूत ने जाटिनी या गूजरी से शादी करली उससे यह गोत उनमें प्रचलित हुआ। धीरे-धीरे उनकी यह गढ़न्त सही मानी जाने लगी, यही नहीं कुछ असमझ जाट भी उन बातों पर विश्वास कर बैठे। प्लिनी के इस वर्णन से कि भारत में तीन बार प्रजातन्त्र स्थापित हुआ, यह बात समझ में आजाती है कि जब प्रजातंत्र लुप्त हो गये उस समय भाटों को यही कोशिश करनी पड़ी है कि वे अपने पक्ष (एकतंत्र) के अनुयायी लोगों को उच्च बनाने के लिए अन्य लोगों को अपने पोषकों की संतान बतावें। विजयी समूह विजित समूह की सभ्यता को मिटाने के लिए उसके इतिहास में हेर-फेर करता है और खास तौर से ऐसा कि स्वाभिमान की मात्रा उस समूह में से नष्ट हो जाये और वह स्वयम् अपने लिए जेता समूह से हीन अनुभव कर ले। इसी आवरण के हटाने के लिए ही हम ने ऐसे गोत्रों का हवाला दिया है जो जाट, गूजर, राजपूत, मराठा, आदि में ज्यों के त्यों हैं। अब आगे इस बात का विवेचन करना है कि इन प्रजातन्त्री समुदायों की शासन-व्यवस्था कैसी थी ?

गणराज्यों का संगठन

गणराज्य बहुत बड़े नहीं होते थे। कोई-कोई तो केवल अपने ही कुल वालों का होता था; किन्तु ऐसे बहुत थोड़े रूप में होते थे। ये प्रजातन्त्री समुदाय अपनी पार्लमिएट के लिए प्रतिनिधियों का निर्वाचन करते थे। निर्वाचन का तरीका आज से भिन्न था। कुल-पति ही राजसभा का मेम्बर होता था, इस तरह से कहीं-कहीं तो मेम्बरों की संख्या बहुत बढ़ जाती थी। लिच्छिवियों के गणतन्त्र में ७००७ मेम्बर बैठते थे। पार्लमिएट को संथागार या संघ कहते थे। गण का अर्थ समूह है; किन्तु गणराज्यों में गण मेम्बर का बोध भी कराता है। श्रीकाशीप्रसाद जायसवाल ने गण का अर्थ संघ या प्रजातन्त्र किया है, किन्तु प्रकरणवश गण का अर्थ मेम्बर भी हो जाता है। पुराणों में गणों को व्यक्ति माना गया है। कौंसिल और कौंसिलर जैसा अन्तर हमारे अर्थ और जायसवालजी के अर्थ में है। गण पूरक जो कि कोरम को बतलाता था उसके कार्य और नाम दोनों से गण के अर्थ मेम्बर के होते हैं। गणों के ऊपर जो गणपति होते थे वह भी चुने जाते थे। ऐसा मालूम होता है कि वे बदलते भी रहते थे। अन्धक, वृष्णि संघ के प्रधान कहीं श्रीकृष्ण और उग्रसेन आते हैं। कहीं वासुदेव और अक्रूर, और कहीं शिवि और वासुदेव के नाम आते हैं। फेडरेशन के सभापति अर्द्ध-भोक्ता राजन्य कहे जाते थे। श्रीकृष्ण को भी इस नाम से याद किया गया है।

शासन-विधान

गणराज्यों में जो नियम जारी किया जाता था, उसे पहिले गण-सभा से पास कराया जाता था। सभा-भवन को संथागार कहते थे। अँग्रेजी में संथागार को (हौस आफ़ कम्यूनल-लौ) कह सकते हैं। प्रस्ताव पर विचार खुले अधिवेशन में होता था। प्रस्तावक खड़ा होकर अपना वक्तव्य देता था और उपस्थित लोगों की राय लेकर उसे पास किया जाता था। प्रत्येक अधिवेशन का सभापति वही प्रधान हुआ करता था, जो कि राज्य का प्रधान होता था। वह फौजी और न्याय सम्बन्धी काम भी करता था। ऐसे राज्यों में कम से कम तीन अधिकारी तो होते ही थे—प्रधान, उपप्रधान और मन्त्री। उपाध्यक्ष ही सेनापति होता था। ये प्रधान अपने लिये राजा भी कहते थे। वास्तव में ये गणपति थे। कहीं-कहीं तो सारे सदस्य ही अपने साथ राजन्य शब्द का प्रयोग करते थे। राजन्य शब्द का प्रयोग गणवादी लोग राजपुरुष के लिए करते थे, नकि एकछत्र राजा के लिए। प्रजातन्त्र के अध्यक्ष का चुना जाने पर तिलक होता था। कुलपति अथवा सदस्य उनके तिलक करते थे। जिसे राज्याभिषेक ही कहना चाहिए। योग्य प्रधान को कई-कई बार भी चुन देते थे और यह भी होता था कि एक ही प्रधान जन्म भर तक अध्यक्ष बना रह सकता था, किन्तु उसका इस पद के लिए मौरूसी हक़ नहीं था। नियमों के अनुसार वे (गणपति) सदस्यों के सहयोग बिना अकेले कुछ भी नहीं कर सकते थे।

संस्थागार में जिस समय अधिवेशन होता था तो टामक या घड़ियाल बजाया जाता था। सभा में बोलने का सभी को अधिकार था। सेना, खेती,
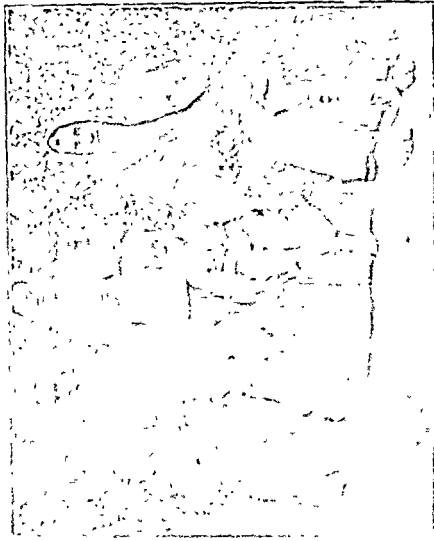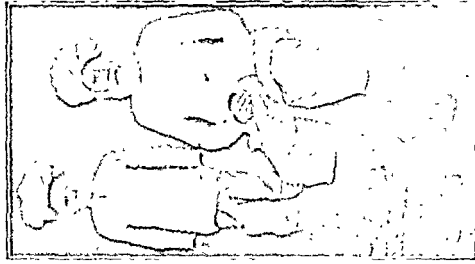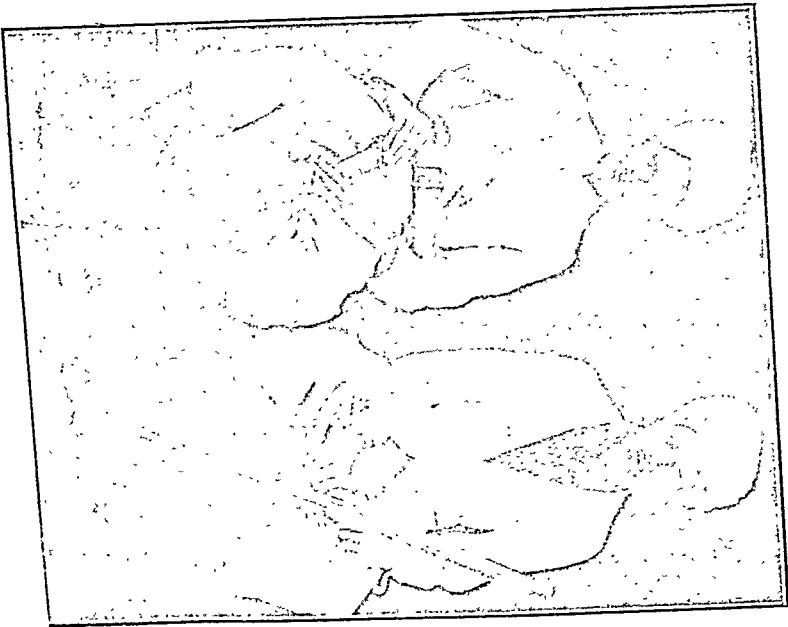
कुं० मांगूसिंह जी

व्यापार, आपसी झगड़े सभी पर इन संथागारों में विचार होता था। न्याय बड़ी सावधानी से किया जाता था। यह खयाल रखा जाता था कि निरपराधी को दंड न मिल जाय। गहरे अपराधों की छान-बीन के लिए कमेटी बना दी जाती थी जो कुलक कहलाती थी; क्योंकि उसमें नगर के कुछ कुलपतियों को शामिल किया जाता था। निर्णय लिखने की प्रथा भी थी, किसी विषय में राय जानने के लिए उपस्थिति सदस्यों के हाथ में शलाकायें दे दी जाती थीं। वे कई भिन्न रंगों की होती थी। राय लेने से पूर्व बता दिया जाता था कि अमुक रंग की शलाका का अमुक अभिप्राय होगा। कभी कभी पूरे नगर और राज्य की सलाह ली जाती थी। इस तरह की सलाह लेने का यह ढङ्ग था कि विज्ञप्ति द्वारा वह विषय गामों में भेज दिया जाता था। प्रत्येक गाँव के निवासी इकट्ठे होकर उस पर विचार करते थे। विचार के पश्चात् जो निर्णय करते उसे या तो केन्द्रीय पंचायत (परिषद्) में लिखकर भेज देते थे या अपना पंच (प्रतिनिधि) भेज देते थे। वृहद् अधिवेशन में केन्द्रीय परिषद् के सदस्य और गाँवों से आये हुए प्रतिनिधि उस विषय पर वाद विवाद के पश्चात् अपना निर्णय देते थे। स्वीडन में अभी तक लगभग ऐसा ही नियम जारी है। हमारे विचार से वहाँ यह नियम भारत से गये हुए जाटों का ले जाया हुआ ही है। (स्कैण्डनेविया जाटों का उपनिवेश है यह पीछे बताया जा चुका है।)

प्रत्येक उत्सव, संस्कार, आदि भी प्रजातंत्रों के समय कोई व्यक्ति स्वेच्छा से नहीं कर सकता था। उसे ग्राम के कुलपतियों से सलाह लेनी पड़ती थी। ऐसे मनोनीत (निर्वाचित) कुल पति आज तक व्रज में थामे—कहे जाते हैं, थामे का अर्थ स्थापित किये हुए होता है। विवाह-शादियों नुकते-कारज आदि के बजट इन्हीं लोगों की राय से बनाये जाते थे। (प्रायः अब भी ऐसा ही होता है) किन्तु अब इस नियम में शिथिलता आ रही है, कारण कि सत्ता अपने हाथ से निकलकर एकतन्त्र के हाथ में चली गई। वे सामर्थ्य (हैसियत) को देखकर खर्च का बजट बना देते थे। किसी किसी खर्च के लिए तो गाँव के सम्मिलित कोष (पंचायत) में से भी दिया जाता था। व्रज में खासकर भरतपुर स्टेट में अब भी यह रिवाज है कि जब लड़की की सगाई भेजी जाती है तो एक रुपया गाँव के मलवे (गाँव खर्च) में से दिया जाता है।

विरासत (उत्तराधिकार) के लिये प्रजातंत्रों में यह नियम था कि शोक समाप्ति के दिन (तेरहवीं के समय) गांव के पंच लोग वास्तविक उत्तराधिकारी के सर पर पंचायत की ओर से पगड़ी बंधा देते थे। मरने वाले का पुत्र, भतीजा, तथा छोटा भाई और इन सब के अभाव में परिवारिक लोगों में से उत्तराधिकारी बनाया जाता था। पगड़ी बंधाने के उपरांत वह अपने पितृ की सब भांति की चल-अचल संपत्ति का अधिकारी होता था। आज के एकतंत्र शासन में दाखिला-खारिज का जो नियम है, वह भी प्रजातंत्री शासन के नियम की नकल है। विवाह

के समय गांव का मुख्य नेता जिसे सरपंच अथवा गणपति कहना चाहिये आरंभ से कुल कार्यवाही की समाप्ति तक उपस्थित रहता था। उसे उच्च आसन दिया जाता था तथा बड़े सन्मान और श्रद्धा से बिठाया जाता था। समयान्तर से आज वह गणपति मिट्टी का हो गया और गण के अध्यक्ष की बजाय पौराणिकों ने उसे महादेव का लड़का बना दिया। आज का गणपति पंडित के पैसों का साधन है, उस समय का गणपति इस बात का साक्षी था कि विवाह उसकी देख-रेख में हुआ है। विना गणपति की उपस्थिति के विवाह जायज (उचित) माना जाना संभव न था, अर्थात् गणपति की उपस्थिति आवश्यक थी। तुलसीदास ने इसी नियम के अनुसार महादेव के विवाह में जब गणेश की उपस्थिति (पूजा) लिख दी तो खयाल हुआ कि (पौराणिक) गणेश जब महादेव का पुत्र है तो वह महादेव के विवाह में कहां से आ गया ? गण राज्यों के सम्बन्ध में जानकारी न होने के कारण बुढ़ऊ बाबा को यही लिखना पड़ा, कि देवताओं के सम्बन्ध में शंका करना अनुचित है।

गणराज्यों में गांवों की ओर से सम्मिलित अतिथि-शालायें (गैस्ट हौस) बनाये जाते थे जिनके बनवाने का खर्च ग्राम्य-कोष में से दिया जाता था। इन अतिथि शालाओं में साधु-संत, यात्री सभी ठहर सकते थे। उनके भोजन का प्रबन्ध ग्राम्य-पंचायत ही करती थी।

अनाथ–अपाहिज बच्चों और व्यक्तियों के प्रबन्ध का भार इन स्थानीय संस्थाओं (पंचायतों) के ऊपर ही था। ऐसे अनाथ जब युवा हो जाते थे तो ग्राम्य-कोष या ग्राम्य के चन्दे से उनके लिये मकान बनवा दिये जाते थे और विवाह खर्च भी इसी भांति किया जाता था। यह प्रथा कहीं-कहीं अब तक प्रचलित है।

ज्ञाति के नियमों को तोड़ देने वाले को ज्ञाति से अलग कर दिया जाता था, किन्तु अलग करने की भी अवधि होती थी, जो अपराध की गुरुता के ऊपर अवलंबित था। सब से भयंकर अपराध ज्ञाति के साथ विश्वासघात करना समझा जाता था। प्रतिज्ञा भंग करने वालों की मूंछ मुड़वा लेने का कठोर दंड था। सब से कठोर सजा जो कि आज कल की फांसी के लिये प्रयोग में लाई जाती थी। (गणराज्यों में फांसी का चलन न था) काला मुँह करके गदहे पर चढ़ाकर नगर में घुमा देने की थी। युद्ध के समय कैद किये हुए लोगों को वृक्षों से बांध दिया जाता था। गणराज्यों में अपराध बहुत ही कम होते थे। क्योंकि आर्थिक संकट का तो लोग नाम जानते ही न थे। और राज्य स्वयम् प्रजा के द्वारा शासित होता था, जिससे राज्य–पक्षीय लोगों द्वारा–रिश्वत, अपमान, अत्याचार आदि के कारण होने वाले अपराधों की कोई कल्पना भी उस समय न थी।

शिक्षा

प्रजातन्त्री राज्यों में शिक्षा का प्रबन्ध ग्राम-संस्थाओं के अधीन था जो पौर जनपद भी कहलाती थीं। शिक्षक लोगों को मासिक वृत्ति के बजाय भूमि दी जाती थी और खान-पान का प्रबन्ध ग्राम्य की ओर से होता था। केन्द्रीय-शासन की ओर से भी किसी बड़े स्थान में शिक्षा का प्रबन्ध होता था। कभी-कभी कई गणराज्य मिल कर विश्व-विद्यालय भी स्थापित कर देते थे। तक्षशिला का विश्व-विद्यालय इसी भाँति चलाया जाता था। आस-पास के गणराज्यों से उसके संचालन के लिए अन्न-धन दोनों प्राप्त होते थे। 'आश्रम हरिणी' में जो कि किसी हस्तलिखित पुराण के आधार पर बनाई गई है तक्षशिला का स्नातक निकट के बुद्ध-राज्य में सहायता लेने जाता है।

सेना

गण राज्यों में आरम्भ में कोई स्थायी सेना न रक्खी जाती थी; किन्तु सारा ही समाज स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए शत्रु के सामने आ जाता था। सिकन्दर के आक्रमण से पहिले ही वे वैतनिक सेना भी रखने लग गए थे, इसका कारण एकतंत्री समुदायों से संघर्पण का था। वे हाथी घोड़े और रथों की राजधानी में पूरी संख्या वाली सेना रखते थे, इसके साथ ही व्यक्ति-गत रूप से प्रजाजन भी हाथी, घोड़े और रथ यात्रा के लिए तैयार रखते थे। प्रत्येक नागरिक सैनिक बनना कर्त्तव्य समझता था।

कर

अनेक प्रजातंत्रों के जो सिक्के प्राप्त हुए हैं उनसे यह बात तो सिद्ध होती ही है कि खानों से सोना-चाँदी निकलवा कर वे आभूषण आदि बनवाने के सिवा सिक्के भी ढलवाते थे तथा उनके यहाँ टकसालें भी थीं; किन्तु साथ ही यह भी पता चलता है कि वे कुछ न कुछ रूप में केन्द्रीय-सरकार के लिए कर भी लेते थे। कर कितना लेते थे, इसके सम्बन्ध में मनु के साथ जो पट्टा हुआ है उससे बहुत कुछ सामिग्री मिलती है। मनु को प्रजाजनों ने अन्न का छटा भाग और व्यापार का पचासवाँ भाग देने का इकरार किया है। इससे ज्ञात होता है कि गणराज्य में वे इससे कुछ तो कम देते ही होंगे। गण राज्य में कर व्यक्तियों से नहीं लिया जाता था; किन्तु गाँव से लिया जाता था। गाँव की भूमि पर सारे गाँव का अधिकार होता था। उनमें परस्पर भूमि बटी हुई नहीं थी। संभवतया सारा गाँव सम्मिलित कृषि करता था। फसल के तैयार होने पर टैक्स की निश्चित रकम केन्द्रीय कोष में भेज दी जाती थी और बचा हुआ अन्न परिश्रम के अनुपात से कुलों व घरों में बाँट दिया जाता था। कुछ सर्व सम्मिलित धान्य ग्राम्य-कोष में रहता था, जिसका हिसाब पटेल या चौधरी के जिम्मे होता था। केन्द्रीय शासन-परिषद् राजनैतिक मामलों में ग्राम्य-परिषदों पर पूरा प्रभुत्व रखती थी; किन्तु सामाजिक मामलों में ग्राम्य-परिषदें केन्द्रीय परिषद के प्रभुत्व से बाहर थीं। टैक्स द्वारा प्राप्त धन-राशि सैनिकों और शस्त्रों के सिवा किसी अन्य काम में खर्च की जाती हो ऐसा विवरण हमें नहीं मिलता। संघों के सदस्यों को कोई वेतन नहीं दिया जाता था, वे सब खेती करके अपना कार्य चलाते थे।

दुर्ग

प्रजातंत्र राज्यों में राजधानी के अतिरिक्त अन्य मुख्य स्थानों पर भी गढ़ बनाए जाते थे। यह गढ़ कौटिल्य[1] के अनुसार कई प्रकार के होते थे। ऐसा दुर्ग जो चारों ओर से पानी से घिरा रहता था 'ओदक' कहलाता था। झील खोद कर उसके बीच में अथवा नदियों के मध्य में ऐसे किले बनाए जाते थे। नव लोगों (नोहवारों) का मथुरा के पास (नोह झील) नवराष्ट्र में ऐसा ही किला था। जिस दुर्ग के चारों ओर मीलों तक रेगिस्तान होता था उसे 'धान्वन' दुर्ग कहते थे। शत्रुओं को ऐसे दुर्गों तक पहुँचने में ही बड़ी कठिनाई होती थी। रेत के टीलों के बीच में होकर जिस समय शत्रु सैना गुजरती थी अनेक रास्तों और टीलों के मध्य से निकल कर स्थानीय दुर्ग के लोग जो कि तिल-तिल भूमि से परिचित होते थे शत्रु सैना का ध्वंश कर डालते थे। कभी कभी तो शत्रु की सैना पर वे चारों ओर से आक्रमण कर देते थे। कारण कि सम भूमि न होने से शत्रु लोग उन्हें तब तक नहीं देख पाते थे, जब तक कि उन पर आक्रमण न हो जाता था। ऐसे दुर्ग बड़े ही रक्षित समझे जाते थे। पर्वतों की चोटियों पर बनाया हुआ दुर्ग 'पार्वत्य' कहलाता था। वनों और दलदलों के बीच में घिरे हुए दुर्ग को 'वन दुर्ग' कहते थे। गाँवों के बीच में भी छोटे छोटे दुर्ग बनाने की प्रथा सिकन्दर के समय तक थी।

ग्रामों की दशा

ग्रामों का राजनैतिक सम्बन्ध सीधा केन्द्रीय परिषद् से होता था। बीच में प्रान्तिक डिवीजनल सरकारों की कोई भित्त न थी और ज़मीदारी की प्रथा तो नाम निशान को भी न थी। सारे गाँव का अपने क्षेत्र की भूमि पर समान अधिकार होता था। ग्रामों के चारों ओर खेत-खेतों की सीमा पर चारागाह और जंगल होते थे। उन पर समस्त ग्राम का समानाधिकार होता था। खेतों की सिंचाई के लिए ग्राम परिषद् की ओर से नालियां या कुएँ खुदवाये जाते थे। गाँव के नेता की देख रेख में नियमानुसार खेतों की सिंचाई होती थी। खेती योग्य सारे खेतों का घेरा एक होता था। फसल के समय केन्द्रीय शासन की रकम और ग्राम्य कोष का धान्य निकाल कर गाँव के सारे कुटम्ब परिश्रम के अनुपात से बाँट लेते थे। स्त्री, बच्चों का भी भाग होता था। सामर्थ्य योग्य सारे स्त्री बच्चे परिश्रम भी करते थे। कुटुम्ब यदि चाहते तो अपने हिस्से के खेत अलग भी करा सकते थे। परन्तु वह बिना ग्राम्य पंचायत की आज्ञा अपने हिस्से के खेतों को बेच नहीं सकते थे। गृहपति की मृत्यु के बाद उसका बड़ा लड़का गृहपति माना जाता था। ग्राम्य जीवन सीधा सादा था। सारी आवश्यक वस्तुयें वे पैदा कर लेते थे। खेती करने वालों के सिवा जो अन्य पेशे वाले बढ़ई, नाई, शिल्पकार आदि थे उनकी वृत्ति बांधी हुई थी। जो फसल के समय प्रति कुटुम्ब की ओर से अन्न के रूप में दी जाती थी। शादी आदि के उत्सवों

१—कौटिल्य अधि ६ अध्याय २।

पर कुछ उन्हें पुरस्कार भी दिया जाता था। गुड़, शकर, मिर्च और नमक प्राय: सभी गाँवों में तैयार होते थे।

यदि धान्य इतना उत्पन्न होता कि जिसको अगली फसल तक सारे गांव के खा लेने पर बचने की संभावना दिखाई देती थी तो उसे सम्मिलित रूप से जमीन में गड्ढा खोद कर जिसे खत्ती कहते थे, गाड़ दिया जाता था। प्रत्येक गांव में अकाल-वाल के लिये पंचायत की देख-रेख में हजारों मन धान्य एकत्रित रहता था। गांवों के बीच में बाजार भी होता था जहां, गोटे, रेशम, मूंगा, और तेल जैसी खेती में पैदा न होने वाली वस्तुओं की दुकान लगा करती थीं। गांव वालों को सिक्के की बहुत कम आवश्यकता पड़ती थी। कौड़ियां उस समय पैसे का काम देती थीं। यात्रा करने के लिये भी उन्हें सिक्के की आवश्यकता न पड़ती थी। सभी गांवों में अतिथि-गृह बने हुए थे जिनमें भोजन के अलावा ओढ़ने-बिछाने का सामान भी मिलता था। प्रथम तो प्रत्येक गृहस्थ का घर ही अतिथिशाला थे, फिर भी पंचायतों को नियमानुसार प्रबन्ध करना पड़ता था। ग्राम्यों का जीवन प्रजातंत्र के समय स्वर्ग था क्योंकि जनता की वैयक्तिक स्वतंत्रता बिलकुल सुरक्षित थी।

विदेश के लिये जब कोई जाना चाहता था तो ग्राम्य-पंचायत उसके इरादे को केन्द्रीय-परिषद् के पास अपने परामर्श के साथ भेजती थी और केन्द्राय परिषद में निर्णय हो जाने पर उसे विदेश में भेजने का प्रबन्ध केन्द्रीय कोष से होता था। साथ ही उसे प्रमाण-पत्र भी दिया जाता था, क्योंकि गणराज्यों में बाहरी आदमी पर सन्देह रहता था। एकतंत्री लोगों के गुप्तचरों के कारण ऐसे प्रमाण-पत्रों की आवश्यकता पड़ती थी। समुद्र के रास्ते से जाने वाले यात्री जहाजों से जा सकते थे, बड़े-बड़े प्रजातंत्रों की ओर से जो कि समुद्र और नदियों के किनारे स्थिति थे, जहाजी बेड़ा तैयार रहता था। व्यापारी लोग भी संघ बनाकर- जहाजों द्वारा विदेशों से व्यापार करते थे। बौद्ध-ग्रन्थों में जहाजों का वर्णन पर्याप्त रूप से मिलता है।

ग्रामों में जहाँ रथ, घोड़े, ऊंट, हाथी होते थे, वहाँ हथियारों का भी पूरा संग्रह रहता था। यूनानी लेखकों ने गण लोगों के बर्छे और तीर कमान की प्रशंसा की है। लाठियों में गड़ासे की भाँति फाल वाले हथियार जो कि फरसा कहे जाते हैं बर्छों की भाँति बड़े काम के समझे जाते थे।

नगर की रचना प्राय: ऐसी होती थी जिसमें या तो चार द्वार होते थे, या दो। किसी-किसी गाँव का प्रवेश द्वार एक ही होता था। इन द्वारों पर बड़े-बड़े फाटक चढ़े रहते थे। मकान पंक्ति बद्ध बनाये जाते थे। 'बुद्धिस्ट इंडिया' में प्रोफेसर डेविस ने इन गांवों की रचना पर काफी लिखा है। वास्तव में ग्राम्य भी छोटे-मोटे प्रजातंत्र ही तो थे। किसी भी कुटुम्ब का शोक, हर्ष, सारे गाँव का शोक, हर्ष होता था। समानता और सहृदयता प्रजातंत्र के समय में गाँवों की विशेषता थी।

श्री० काशीप्रसादजी जायसवाल 'हिन्दू-पालिटी' में गणों के सम्बन्ध में लिखते हैं—"*यूनानियों के कथन से यह बात सिद्ध होती है कि ये लोग केवल युद्ध-क्षेत्र में बहुत उच्च कोटि की वीरता और शौर्य्य दिखलाने वाले अच्छे योद्धा ही नहीं थे किन्तु अच्छे कृषक भी थे जो हाथ सफलता-पूर्वक तलवार चला सकते थे वे खेती के औजार भी उतनी ही उत्तमता से हाथ में ले सकते थे। अर्थ-शास्त्र और बौद्ध-लेखों से भी प्रकट होता है कि वे लोग कृषक भी थे तथा शिल्पी भी*"। इससे पहिले वे लिखते हैं—"भारत के प्रजातंत्र या गण राज्यों के कानून या धर्म और उसके अनुसार शासन करने की व्यवस्था की प्रायः सभी यूनानी लेखकों ने एक स्वर से प्रशंसा की है। और उनकी इस प्रशंसा का समर्थन महाभारत से होता है। इन राज्यों में कम से कम कुछ तो अवश्य ऐसे थे जो पहिले के फैसला किये हुए मुकद्दमों की नजीरें पुस्तकों में लिख रखा करते थे। यहाँ तक कि उनका कट्टर-शत्रु कौटिल्य भी कहता है कि संघ का जो मुख्य या प्रधान होता है अपने संघ में उसकी प्रवृति न्याय की ओर होती है। उनमें न्याय का यथेष्ट ध्यान रखा जाता था। बिना न्याय के कोई गण या प्रजातंत्र अधिक समय तक चल ही नहीं सकता। उन लोगों का दूसरा गुण उनकी दांति होती थी। कौटिल्य ने इस बात का भी उल्लेख किया है कि संघ का मुख्य या प्रधान दांत हुआ करता था जैसा कि हम पहिले बतला चुके हैं। महाभारत में भी यह कहा गया है कि कुछ ऐसे बड़े और उत्तरदायी नेता हुआ करते थे जो छोटे और बड़े सभी प्रकार के सदस्यों को ठीक ढंग से रखते थे—उन्हें उच्छृंखल या उद्दण्ड नहीं होने देते थे। ऐसे नेता लोग अपने आपको तथा अपने कृत्यों को सर्व-प्रिय बनाया करते थे। महाभारत में इस बात का उल्लेख है कि श्रीकृष्ण ने अपने मित्र नारद से कहा था कि अपने संघ के कार्यकारी मण्डल का काम चलाने में मुझे कैसी-कैसी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। इस पर नारद ने श्रीकृष्ण की इस बात की निन्दा की थी कि जब सर्व साधारण के सामने वाद-विवाद का अवसर आता है तब तुम अपनी जबान को वश में नहीं रख सकते हो। नारद ने वृष्णियों के नेता श्रीकृष्ण को परामर्श दिया था कि यदि वाद विवाद में तुम पर लोग किसी तरह का आक्षेप या आक्रमण करें तो तुम उसे धैर्य-पूर्वक सहन कर लिया करो। और संघ में एकता बनाये रखने के लिए तुम अपने व्यक्तित्व पर होने वाले आक्षेपों का ध्यान न दिया करो।

विशेषतायें

इसी प्रकार वे लोग सदा युद्ध करने के लिए भी तैयार रहा करते थे। गण के नागरिक लोग सदा वीरता प्रदर्शित करने के आकांक्षी रहा करते थे और इसी में वे अपनी बहुत बड़ी प्रतिष्ठा समझते थे।

जैसा कि महाभारत में कहा गया है गणों में सब लोग समान समझे जाते थे। यह बात प्राकृतिक रूप से आवश्यक भी थी। जिस संख्या में सर्व साधारण

का जितना ही हाथ होगा उसमें समानता के सिद्धान्त पर उतना ही जोर भी दिया जायगा।

गणों में ये नैतिक गुण हुआ करते थे, इनके अतिरिक्त उनमें राज्य-संचालन के भी गुण होते थे। महाभारत में इस बात का प्रमाण मिलता है कि विशेषतः आर्थिक बातों में उनका राज्य-संचालन और भी सफलतापूर्ण हुआ करता था। उनके राज-कोष सदा भरे हुए रहा करते थे।

गणों के राजनैतिक बल का एक बहुत बड़ा कारण यह था कि गण के सभी लोग सैनिक और योद्धा हुआ करते थे। उनका सारा समाज या समस्त नागरिक, सैनिक होते थे। उनमें नागरिकों की ही सेना हुआ करती थी और इसीलिये वह राजाओं के किराये पर भरती की हुई सेनाओं से कहीं अधिक श्रेष्ठ होती थी। और जब कुछ गण किसी पर आक्रमण करने के लिए अथवा किसी के आक्रमण से अपनी रक्षा के लिए अपनी एक लीग (ज्ञाति) बना लेते थे तो उस दशा में जैसा कि कौटिल्य ने कहा है वे अजेय हो जाते थे। हिन्दू-प्रजातन्त्रों या गणों में संघ (ज्ञाति) बनाने की विशेष प्रवृत्ति हुआ करती थी। इस सम्बन्ध में वैयाकरणों के षष्ठ तिगर्त्त, क्षुद्र मालव संघ, विदेहों और लिच्छिवियों का संघ, पाली त्रिपिटिक का वज्जियों का संघ और अन्धक वृष्णि के संघ उदाहरण स्वरूप हैं। महाभारत के कथनानुसार जो गण अपना संघ बना लेते थे, शत्रु के लिए उन पर विजय प्राप्त कर लेना प्रायः असम्भव सा हो जाता था। बुद्ध ने भी मगध के अमात्य से यही कहा था कि वज्जियों के संघ पर मगध के राजा विजय प्राप्त नहीं कर सकते।

हिन्दू-गणों के वैभव और सम्पन्नता की प्रशंसा भारतीय और विदेशी दोनों प्रकार के लेखों आदि में पाई जाती है। यूनानियों का ध्यान उनकी संपन्नता पर गया था और महाभारत से भी इसका समर्थन होता है। यदि कोई नागरिक किसी कारण से राजनैतिक क्षेत्र का नेता नहीं हो सकता था, तो वह वणिकों या व्यापारियों की पंचायत या सभा का नेता होने की आकांक्षा किया करता था। उनमें शांति की विद्या और युद्ध की विद्या, सुव्यवस्था और दांति और अध्यवसाय, शासन करने का अभ्यास और शासित होने का अभ्यास, विचार और कार्य, घर और राज्य की सभी बातें बराबर-बराबर और साथ-साथ चलती थीं। इस प्रकार का जीवन निर्वाह करने का परिणाम यही होता था कि सब लोग व्यक्तिशः नागरिक दृष्टि से उच्च कोटि के कर्मशील और दक्ष हुआ करते होंगे। जिनमें इतने गुण और इतनी विशेषतायें हों, यदि उनके सम्बन्ध में महाभारत में यह कहा गया हो कि लोग उनसे मित्रता करने और उन्हें पक्ष में मिलाने के लिए उत्सुक रहा करते थे, तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है और न इसी बात में किसी प्रकार का आश्चर्य है कि वे अपने शत्रुओं की संख्या घटाने में ही आनन्द का अनुभव किया करते थे और अपनी ऐहिक सम्पन्नता का ध्यान रखते थे। इसका स्पष्टीकरण इस बात से होता है कि उनकी शिक्षा और प्रतिभा एकांगी नहीं हुआ करती

थी। वे केवल राजनैतिक पशु ही नहीं थे कौटिल्य ने उन्हें साथ ही साथ योद्धा भी बताया है और सिल्प-कला में कुशल भी। वे स्वयं अपने यहाँ के कानूनों के कारण ही शिल्प-कुशल और सैनिक होने के लिए वाध्य होते थे। वे व्यापार और कृषि पर सदा ध्यान रखते थे। जिससे वे स्वयं भी सम्पन्न रहते थे और उनका राज-कोष भी भरा हुआ रहता था।" उससे आगे वे लिखते हैं—

"शासन प्रणाली की सफलता की सव से अच्छी कसौटी यह है कि उसके द्वारा राज्य चिरस्थायी हो। भारत की प्रजातंत्र या गण शासन प्रणाली राज्यों को चिरस्थायी बनाने में वहुत अधिक सफल हुई थी जैसा कि हम पहिले वतला चुके हैं। हमारे यहाँ इस शासन प्रणाली का आरम्भ वैदिक युग के ठीक वाद ही हुआ था। यदि हम ऐतरेय ब्राह्मण के काल को अपना आरम्भिक काल मानें, तो हम कह सकते हैं कि सात्वत भोजों का अस्तित्व प्रायः एक हजार वर्ष तक था। यदि उत्तर मद्र और पाणिनी के मद्र एक ही हों, तो उनका अस्तित्व लगभग १३०० वर्षों तक था। और वे यदि एक न हों तो उस दशा में उनका अस्तित्व प्रायः ८०० वर्षों तक सिद्ध होता है। क्षुद्रकों और मालवों ने ई० पू० ३२६ में सिकन्दर से कहा था कि हम लोग वहुत दिनों से स्वतंत्र रहते आए हैं। मालव लोग राजपूताने में ई० पू० ३०० तक अवस्थित थे। इस प्रकार उन्होंने मानों लगभग १००० वर्ष स्वतंत्रता पूर्वक विताये थे। यही वात यौधेयों के सम्वन्ध में भी है। लिच्छिवियों के सम्बन्ध के लेख भी प्रायः एक हजार वर्ष तक के मिलते हैं। इस से सिद्ध होता है कि जिन सिद्धान्तों के अनुसार हिन्दू प्रजातंत्रों और गणों का संचालन होता था वे सिद्धान्त स्थायित्व की कसौटी पर पूरे उतरे थे[1]।"

इतने योग्य और सर्व गुण सम्पन्न तथा शक्तिशाली होते हुए भी गण-राज्य नष्ट कैसे हो गये इसके सम्बन्ध में जायसवालजी कहते हैं:—

"इतना होने पर भी हिन्दू-गण या प्रजातंत्र साधारणतया बहुत बड़े नहीं होते थे। यद्यपि उनमें से अनेक गण प्राचीन यूरोप के प्रजातंत्रों की अपेक्षा वड़े ही थे। तथापि मालवों, योधेयों तथा इसी प्रकार के थोड़े से और गणों को छोड़ कर आजकल के अमेरिका के संयुक्त-राज्य फ्रांस और चीन आदि के मुकाबिले में वहुत ही छोटे थे।

उनकी यही छोटाई इस राज्यतंत्र की बहुत वड़ी दुर्वलता थी। जो राष्ट्र और राज्य छोटे होते हैं, उनमें चाहे कितने ही अधिक गुण क्यों न हों, पर उनका अस्तित्व नहीं रहने पाता। बड़े-बड़े राज्यों ने लोभ के वशीभूत होकर छोटे-छोटे राज्यों को खा लिया। जो मालव और यौधेय बड़े-बड़े बलवान साम्राज्यों और विजेताओं के वाद भी वचे रहे थे, उनके राज्य वहुत बड़े-बड़े थे। लिच्छिवियों

१—हिन्दू राजतन्त्र अध्याय २०।

...या० रतनलालजी, ऐस० पी०
डब्ल्यू० आई०
जयपुर।

श्री० चौधरी जीवनरामजी,
भजनोपदेशक।
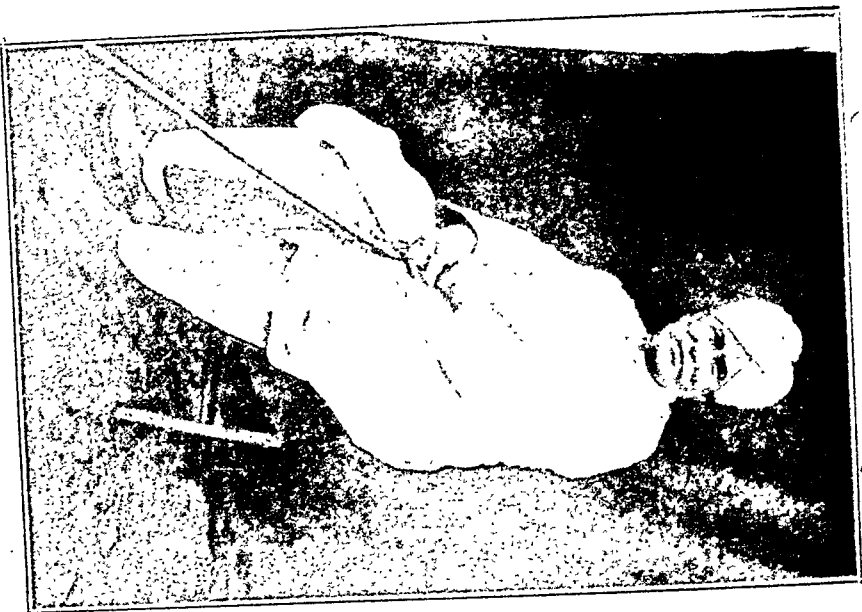
श्रीमान् राव साहब चौधरी हरीरामसिंहजी
कुरमाली (मुज़फ्फरनगर)
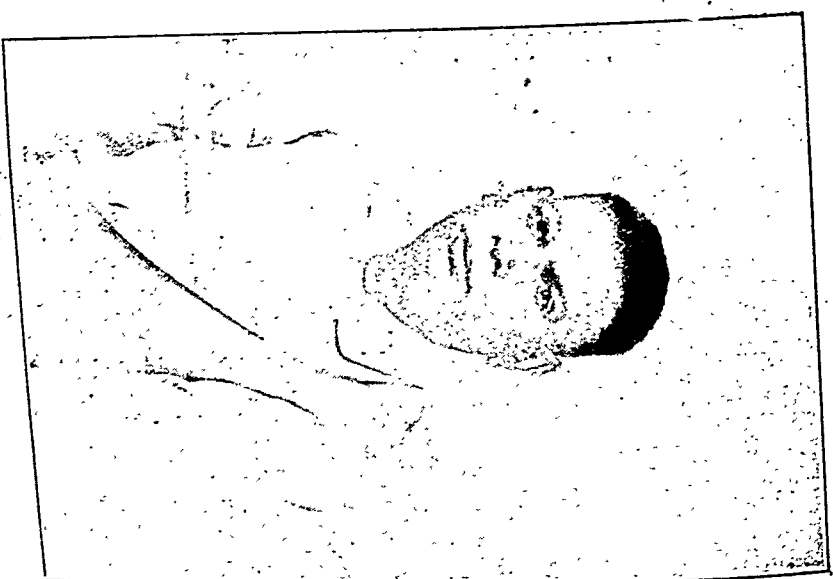
श्री होतीलाल जी वर्मा, हरनौल जि० मथुरा
वर्तमान में झरिया में लकड़ी का व्यवसाय करते हैं।

और मद्रों की भाँति यादवों और यौधियों ने भी अपने कानूनों और अधिकारों का वहाँ तक प्रचार किया होगा, जहाँ तक कि उनके राज्य का विस्तार था। उनके विस्तार के कारण ही उनकी वह दशा नहीं हो पाई, जो उनके आरंभिक समकालीन छोटे-छोटे राज्यों की हुई थी।"

गणराज्यों के सम्बन्ध का श्रीजायसवालजी का विवेचन तथा उपरोक्त वर्णन उनके (प्रजातंत्रों) के शासन सम्बन्धी बातों के जानने के लिए पर्याप्त है। यह सब वर्णन उन ग्रन्थों में संग्रह किया गया है, जो एकतंत्र की छाया में रहने वाले लोगों द्वारा लिखे गये थे। हिन्दू-ग्रन्थों में बहुत कम उनका जिक्र है। बौद्ध-ग्रन्थों में अवश्य कुछ अधिक है किन्तु बौद्ध-ग्रन्थों के अनुशीलन की मर्यादा अभी सीमित है। ये प्रायः सभी गण समयानुसार ज्ञातिवाद की ओर झुकते गये और उनका एक संघ (जट) बन गया। हज़ारों वर्षों के बाद गणों से संगठित हुए, जट के लिये, सिर्फ इतनी दन्त कथा शेष रह गई कि जाट गणों से हुए हैं और वे गण महादेव ने पैदा किये थे क्योंकि गणों के वास्तविक इतिहास से लोग अनभिज्ञ हो चुके थे। इसलिये गणराज्यों से बने हुए जट को पौराणिक कल्पना के गण-व्यक्तियों के उत्तराधिकारी मान बैठे। अस्तु हम जट (संघ) के थोड़े से उन गणों का ऐतिहासिक परिचय देते हैं जो कि अब केवल गोत्र या कुल के रूप में जाटों में पाये जाते हैं—

शिवि—यह गण बहुत पुराना है। वेदों में भी इनका वर्णन आता है। पुराणों ने इन्हें उशीनर के वंशज लिखा है। उशीनर वेद की ऋचा के द्रष्ट्वा भी बताये गये हैं। बौद्ध-ग्रन्थों में लिखा है कि तथा-गत ने एक बार इनमें भी जन्म लिया था। ईसा से ३२६ वर्ष पूर्व जब विश्व विजेता सिकन्दर का भारत पर आक्रमण हुआ था उस समय शिवि लोग मालवों के पड़ौस में पाये गये थे। यूनानी लेखकों ने उन्हें शिवोई लिखा है। शिवियों के सम्बन्ध में यूनानी लेखकों ने उन्हें युद्ध के समय भी जंगली लोगों के से कपड़े पहननेवाला लिखा है। टोप और कोट के सामने उनकी चुस्त अंगरखी और ऊँची धोती उनको अवश्य ही जंगलियों का सा पहनावा जान पड़ी होंगी। किन्तु ठेठ भारतीयता तो यही थी। सिकन्दर के कुछ ही काल बाद ये लोग शायद मालवों के साथ ही राजपूताने की ओर बढ़ गये थे। इस तरह पंजाब से मालवा और मालवा से राजपूताने की ओर इनका बढ़ना पाया जाता है।

चित्तौर से ११ मील उत्तर की ओर 'तम्बा-वति नगरी' नामक एक प्राचीन नगर का ध्वंशावशेष है। इस नगर के निकट शिवि लोगों के बहुत प्राचीन सिक्के पाये गये हैं। उस पर 'मभमि काय शिवजनपदस' लिखा रहता है। जिसका अर्थ है 'मध्यमिका के शिव जनपदों का (सिक्का)। तम्बावति नगरी ही मध्यमिका नगरी कहलाती थी। यह सिक्के इसी सन् से लगभग एक या दो शताब्दी पहिले

के हैं। जातकों में इस जनपद के कुछ सरदारों का वर्णन आता है, उसका संक्षिप्त रूप यह है:—

"शिवि देश में संजय नामक एक परम धार्मिक राजा था। उसके घर राजकुमार सुदान या विश्वन्तर का जन्म हुआ था। राजकुमार बड़ा दयालु और दानशील था। बड़े होने पर जब वह युवराज हुआ तो एक दिन उसने किसी ब्राह्मण को गजरथ दान कर दिया। यह गजरथ सोने का बना हुआ और सारे गजरथों में उत्तम था। उसकी यह दानशीलता शिवि जाति को भली न लगी और सब मिल कर राजा के पास गये। राजा ने उस समय कुमार को समझा दिया था। किन्तु बहुत दिन नहीं बीते थे कि कुमार की दानशीलता का यश दिग-दिगान्त में फैल गया। राजा संजय के यहाँ एक परम सुन्दर गंध-हस्ती था। अन्य राजाओं ने छल-पूर्वक उस गंध-हाथी को लेने का विचार किया। एक राजा ने कुछ ब्राह्मणों को छल-पूर्वक उस गंध-हस्ती की याचना करने के लिए भेजा। युवराज ने पर्व के दिन उपवस्थ व्रत का स्नान किया और वस्त्रालंकार से विभूषित हो उसी गंध-हस्ती पर सवार हो अपने सत्रागारों (महकमा सदावर्त) को देखने के लिए चला। उसी समय उस राजा के भेजे हुए ब्राह्मण उसे सत्र पर मिले और मिलते ही उन्होंने आशीर्वाद दे युवराज से गंध-हस्ती की याचना की। राजकुमार ने अपने मन में सोचा कि भला ये ब्राह्मण इस हाथी को लेकर क्या करेंगे, हो न हो किसी राजा ने छल कर इन्हें मुझ से इस हाथी को मांगने के लिए भेजा है। पर युवराज ने फिर सोचा कि ऐसा न हो कि मैं ब्राह्मणों से यदि यह पूछूँ कि आप इसे लेकर क्या करेंगे तो कहीं ये ब्राह्मण अपने मन में यह न समझें कि मैं लोभ वश देने से जी चुराने के कारण ऐसा कर रहा हूँ। फिर कुमार हाथी पर से चट उतर पड़ा और उसने हाथी को ब्राह्मणों को दे दिया।

ब्राह्मण तो हाथी को लेकर अपनी राह गए, किन्तु जब इस दान का समाचार शिवि लोगों को मिला तो वे सब बिगड़ कर चारों ओर से महाराज संजय के पास पहुँचे और कहने लगे कि महाराज क्या आप अब इसी पर लगे हैं कि सारी राज्यश्री नष्ट ही हो जाय। आप इस प्रकार राज्य को मिट्टी में न मिलाइए। राजकुमार ने गंध-हस्ती को दे डाला। यदि उसकी दानशीलता ऐसी है तो आगे चल कर न जाने वह क्या कर डालेगा। वह राज्य-सिंहासन के योग्य कदापि नहीं है। पहिले तो राजा उनकी बात सुन कर चुप रहा और अपने मन में यह सोचने लगा कि राजकुमार को क्या दण्ड दूं, पर जब शिवि लोगों ने बहुत आग्रह किया तो उसने कहा कि—कहिये अब तो जो होना था सो हो गया राजकुमार को दण्ड देने व मारने-पीटने से तथा बाँधने आदि से हाथी तो फिर नहीं आता। मैं आगे को विश्वन्तर को डांट-डपट दूंगा। शिवि लोग बिगड़ पड़े और बोले कि महाराज आप इस युवराज को अवश्य निकाल दें, क्योंकि इतना दयालु राजा हमें नहीं चाहिये। ऐसा धर्म-भीरु पुरुष वन में तप करने के योग्य है; राज का भार और प्रजा की

रक्षा का काम उठाने योग्य कदापि नहीं है। आप कृपा कर युवराज को बंकगिरि पर तप करने भेज दीजिए। निदान राजा ने उनकी बात मान क्षत्ता को बुलाया और सारी बातें कुमार के पास कहला भेजीं।

क्षत्ता कुमार के पास गया और आँखों में आँसू भर कर खड़ा हुआ। कुमार ने उसे देख पूछा, कुशल तो है? क्षत्ता ने रो कर कहा कि महाराज की बात न मान कर भी शिवि लोगों ने आपके निर्वासन की आज्ञा दी है। युवराज ने आश्चर्य से कहा—क्या बात है कि शिवि लोगों ने मेरे निर्वासन की आज्ञा दी? कारण तो बतलाओ? क्षत्ता ने कहा—और कोई कारण नहीं, केवल आपकी अति उदारता ही के कारण वे बिगड़े हैं। कुमार ने कहा—शिवि लोग चपल स्वभाव के हैं। वे यह नहीं जानते कि वाह्य-द्रव्य की तो बात ही क्या है, यदि कोई मुझ से मेरी आँख वा मेरा शरीर माँगे, तो मुझे उसके देने में भी कोई हिचक नहीं। अस्तु मैं उनकी आज्ञा मान तपोवन जाता हूँ। यह कह कर कुमार अन्तःपुर में गया और अपनी पत्नी माद्री से सारी बात कह सुनाई। माद्री ने कहा कि फिर मुझे आप क्या आज्ञा देते हैं? राजकुमार ने कहा—तुम यहाँ रह कर अपने सास और ससुर की सेवा करके और अपनी दोनों संतान-कुमारी और कुमार का पालन करो। माद्री ने कहा-मुझे तो यह भला नहीं जान पड़ता कि आप बंकगिरि पर तप को सिधारें और मैं आप से विलग हो यहाँ रह जाऊँ। मुझे तो आप से अलग रहना मरने से भी अधिक दुख का कारण होगा। फिर तो राजकुमार ने अपनी पत्नी और बच्चों को साथ ले जाने का निश्चय किया।

राजकुमार अपना सर्वस्व दान कर अपनी पत्नी माद्री और जाली कुमार और कृष्णाजिना कुमारी को साथ ले रथ पर चढ़ बंकगिरि को चला। राजकुल में चारों ओर हाहाकार मच गया। कुछ दूर चला था कि ब्राह्मणों ने आकर रथ के घोड़ों की याचना की। कुमार ने तुरन्त घोड़ों को उन्हें दे दिया। फिर यह दशा देख चार यक्ष कुमार रोहित मृग का रूप धर के आये और कुमार का रथ खींचने लगे। यह देख बोधिसत्व ने माद्री की ओर देख के कहा:—

"तपोधनाध्यासन सत्कृतानां, पश्य प्रभावातिशयं वनानाम्।
यत्रैवमभ्यागत वत्सलत्वं, संरूढ मूलं मृग पुंगवेषु॥"

अर्थात्—यह तपस्वियों के यहाँ रह कर तप करने का प्रभाव है कि अतिथि को देख ये मृग आकर हमारा रथ खींच रहे हैं। रथ कुछ और आगे चला था, कि ब्राह्मणों ने आकर रथ की याचना की और कुमार उन्हें रथ दे जाली को गोद में लिये आगे-आगे आप और पीछे-पीछे कृष्णाजिना को गोद में लिये माद्री के साथ पैदल बंकगिरि को चले। दोनों इस प्रकार पैदल जाकर बंकपर्वत के किनारे पहुँचे। वहाँ की शोभा अकथनीय थी। वहीं पर वह एक पर्णशाला में अपनी पत्नी और बच्चों के साथ रह कर तप करने लगा।

एक दिन माद्री वन में मूल-फल के लिये गई थीं कि इसी बीच में एक ब्राह्मण आया और कुमार को आशीर्वाद दे कहने लगा कि महाराज मेरे घर कोई काम-काज करने वाला नहीं है अतः आप अपने इन दोनों बालकों को मुझे दे दीजिये। कुमार ने कहा—हाँ आप इन्हें ले जाइये पर तनक ठहर जाइये; इनकी माता आ लेवे तब। वह मूलफल लेने गई है और अभी आती होगी। पर ब्राह्मण ने एक न माना। उसने कहा कि इनकी माता आजायगी तो दान में विघ्न पड़ जायगा। कुमार ने भी अपने कन्या-पुत्र को उचित शिक्षा दे उसको सौंप दिया। ब्राह्मण उनको घुड़क कर बोला—बस अब चलो। दोनों पिता को प्रणाम कर बोले—माता बाहर गई है आपने हमें इसे क्यों दे दिया? माता आजायँ तब आप हमें इनको दीजियेगा। फिर ब्राह्मण उन दोनों को लता से बाँध खींच ले चला। आँखों में आँसू भरे वे दोनों अपने पिता का मुँह देखते रहे। कृष्णाजिना चिल्लाती थी कि—ब्राह्मण मुझे लता से पीट रहा है। यह ब्राह्मण नहीं है कोई भक्ष है। हम दोनों को खाने के लिए ले जा रहा है। बेचारा जाली चिल्लाता था—मुझे तो इसके मारने का उतना दुख नहीं जितना यह दुख है कि मैंने अपनी माता को चलते बार नहीं देखा। इसी प्रकार दोनों बिलखते थे और निर्दयी ब्राह्मण दोनों को खींचे लिए जाता था। राजकुमार को उन दोनों की दशा देख करुणा आई पर करे तो क्या करे, मुँह से बात निकल जाने के कारण कुछ नहीं कर सकता था।

माद्री बेचारी को उसी दिन मार्ग में सिंह मिला। इस कारण वह आगे न गई और तुरन्त मूल-फल जो उसे मिले लेकर अपने आश्रम को लौटी। कहते हैं कि देवराज इन्द्र सिंह बन कर उसे आगे जाने से रोकने के लिए उसका मार्ग छेंककर बैठे थे। जब माद्री आई तो अपने आश्रम पर अपने बालकों को न देख उसने कुमार से पूछा कि—लड़के कहाँ हैं? कुमार चुप रहा। फिर माद्री ने समझा कि कुछ अकुशल की बात है। वह भीतर मूल-फल को रख दुख के मारे कातर हो गिर पड़ी। राजकुमार ने दौड़कर जल ले उसके मुँह पर छींटे दिये और जब उसे चेत हुआ तो सारा समाचार कह सुनाया। वह आँखें पोंछ दुखी हो बोली—आश्चर्य की बात है मैं क्या कहूँ।

कुमार की दान शीलता देखकर स्वर्ग कांप उठा और देवराज शक्र उसकी दानशीलता की परीक्षा लेने के लिए दूसरे दिन ब्राह्मण का रूप धरके आये और उन्होंने विश्वंतर से माद्री के लिए याचना की। राजकुमार ने बांयें हाथ से माद्री के दाहिने हाथ से कमण्डल लेकर उसका दान कर दिया। माद्री ने न तो क्रोध किया न रोई। वह उसके स्वभाव को जानकर चुप हो गई। देवराज यह देख विस्मय कर उनकी प्रशंसा करते हुए प्रकट हुआ और बोला—

'तुभ्यमेव प्रयच्छामि, माद्रीं भार्यामिमामहम्।
व्यतीत्य न हि शीतांशुं, चन्द्रिका स्थातुमर्हसि ॥१॥

तन्मा चिन्तां पुत्रयोर्विप्रयोगाद्राज्य भ्रंशान्मा च संताप मागाः।
सार्धं ताभ्यामभ्युपेतः पिताते कर्ता राज्यं त्वत्सनाथं सनाथम्॥

अर्थात्—माद्री को आप ही लीजिये चन्द्रमा को छोड़ चाँदनी अन्यत्र नहीं रह सकती। आप अपने लड़कों की चिन्ता न करें और न राज्य के छूटने का कुछ सोच कीजिये। वे आपके पिता के पास पहुँच जावेंगे और आप राज्य करने वाले होंगे।

शक्र यह कह वहीं अन्तर्ध्यान होगये। वह ब्राह्मण उन दोनों लड़कों को शिवि के राज्य में ले गया और राजा संजय के हाथ बेच आया। राजा संजय ने कुमार के अद्भुत यश को सुना और विश्वंतर को शिवि लोगों की सम्मति से बुलाया और उसे अपना उत्तराधिकारी किया। बौद्ध-ग्रन्थ अवदान कल्पलता में संजय का नाम विश्वामित्र लिखा है। इनमें एकाधिपत्य नहीं था अपितु 'गण' की प्रथा थी। इनमें सब काम जाति मात्र की सम्मति से होता था१।

शिवि लोगों में शिवि नाम के महापुरुष का भी वर्णन है किन्तु उनका परिचय हम पिछले पृष्ठों में कर चुके हैं अतः पुनरावृति की आवश्यकता नहीं समझते।

अराट्ट

यूनानियों के औरेटुरी अर्थात् अराट्रक—इनके सम्बन्ध में पिछले पृष्ठों में अँग्रेजी इतिहास के हवाले से हमने बता दिया है कि यह जाट थे। संभवतया जाटों में मिलने वाला राठौर गोत इन्हीं का रूपान्तर है। यह भी हो सकता है कि यही जाटों के राठी हों। अलवर राज्य में जाटों का एक जिला राठ कहलाता है। सिकन्दर के समय यह उत्तरी भारत में थे और बिल्कुल अराजकवादी थे। सिकन्दर के साथियों ने चिढ़कर इन्हें डाकू लिख मारा है। कारण कि चन्द्रगुप्त मौर्य्य की इन्होंने यूनानियों के भगाने में काफी मदद की थी। सिकन्दर का स्थापित भारतीय राज्य इन्होंने ही हटाया था। कुछ लोग शब्द सामंजस्य से इन्हें अरोड़े भी बताते हैं; किन्तु प्रकृति, स्वभाव और भाषा जैसी कि उनकी थी, अरोड़े उससे बहुत कुछ भिन्न हैं। इतने कटु स्वभाव का समुदाय एकतंत्र के बढ़ने पर निश्चय ही राजपूताने के रेगिस्तान की ओर बढ़ा होगा। और वह राठी या राठौर-जाट ही हो सकते हैं२।

क्षत्रिय

इन्हें यूनानियों ने क्षत्रोई (एक्सट्रोई) लिखा है। साथ ही यह भी लिखा है कि ये लोग बिल्कुल स्वाधीन थे। ये अपने नेता चुनकर शासन का काम उन्हीं को सौंपते थे। जहाज और नाव बनाने में भी यह लोग बड़े कुशल थे। सिकन्दर से विजित होने पर इन लोगों ने उसे बहुत से जहाज भेंट किये थे। संभयतया यह पांचाल देश की पांचों नदियों के संगम

१—चीनी यात्री 'सुंगयुन का यात्रा विवरण' परिशिष्ट पे० ५१ से ५५। (काशी नागरी प्रचारिणी सभा)। २—जाटों में अरोरा और महगल भी हैं।

स्थान पर रहते थे और पुनः जटु के डूंग की ओर मुल्तान के निकट वढ़ गये थे। सन् १०२४ ई० में महमूद गजनवी ने अपने अपमान का बदला लेने के लिए इन पर चढ़ाई की थी। नावों द्वारा झेलम में इन्होंने महमूद से भयंकर युद्ध किया था। यह अब ज़ाटों के अन्दर खत्री गोत से मशहूर हैं। श्रीजायसवालजी ने इन्हें पंजाब के खत्री (आज के वैश्य ?) माना है। यह भी हो सकता है कि कुछ समूह इनका व्यापारी वन गया हो और कुछ जट (संघ) में शामिल होगया हो। बौद्ध-काल के बाद यही एक ऐसा समूह था जो अपने लिए क्षत्रिय कहता था। वरना बौद्ध-काल में क्षत्रिय वंशों या समूहों के नाम से अपना परिचय कराते थे।

अगलस्सोई — इस जाति ने सिकन्दर का बड़ा भारी मुकाविला किया था। यह लोग बड़े देशभक्त और स्वाभिमानी थे। इन लोगों ने ४० हज़ार पैदल और तीस हज़ार सवार सेना के साथ सिकन्दर का मुकाविला किया था। यूनानी लोग जान पर खेले और यह लोग हार गये। दो हज़ार यूनानी मारे गये। सिकन्दर इनसे इतना चिढ़ा कि इनमें से हज़ारों को कत्ल करा डाला। हजारों को गुलाम बनाया। स्त्री और बच्चों के साथ भी दया न की। इन्होंने उससे दो स्थानों पर दो बार मुकाविला किया और अन्त तक लड़े। सिकन्दर ने जब इनके नगर को लूटने की इच्छा की तो नगर में आग लगा दी। उसमें इनके भी हज़ारों आदमी जल गये। अन्त समय में कुल तीन हज़ार शेष रहे थे। मातृ-भूमि की रक्षा के लिए इतना खून इन्हीं लोगों ने बहाया था। जातीय-अपमान से ये मृत्यु को श्रेष्ठ समझते थे। इस तरह सर्वनाश के बाद राजपूताने और यू० पी० की ओर सरक आये। आज वे अपने जट (संघ) में ओजलान कहलाते हैं। ओजलान को ही यूनानी लेखकों ने अगलस्सोई लिखा है। संभवतः यह झेलम और चिनाव नदियों के बीच में रहते थे।

सामोता — यूनानी इतिहास लेखकों ने इन्हें संवस्तई लिखा है। अपने साथी गादड़ों (जिन्हें यूनानियों ने गेड्रोजिआई लिखा है) के साथ सिन्ध, पंजाब के बीच आवाद थे और अब खंडेलावाटी और झूंझावाटी में जीवन यापन करते हैं। २२ सौ वर्ष के लम्बे समय ने उन्हें इतना भुला दिया है कि इसके सिवा उन्हें कुछ भी पता नहीं कि हम सिन्ध की ओर से आये। प्रजातन्त्र के सम्बन्ध में उन्हें कुछ ज्ञान नहीं; किन्तु सामाजिक रिवाज अभी उनके गणतन्त्री हैं।

यौधेय — यह प्रजातन्त्री समुदाय एकतंत्र के हमलों से बहुत समय तक टक्कर लेता रहा। पौराणिकों ने इन्हें युधिष्ठिर के वंशजों में माना है। आजकल जोहिया नाम से जाटों के अन्दर इनका निशान पाया जाता है। जाँगल देश में राठौरों के विरुद्ध भी इन्हें खूब लड़ना पड़ा था। पन्द्रहवीं सदी में इनके हाथ से बीकानेर का राज्य-भाग निकल गया। उस समय

में शेरसिंह इनमें बड़ा वीर सरदार था। कुछ लोग इनमें से व्यापार भी करने लग गये थे। इन्हें चन्द्रगुप्त मौर्य, समुद्रगुप्त मौर्य और कनिष्क जैसे साम्राज्य-वादियों से भी पाला पड़ा था; किन्तु फिर भी इन्होंने अपने अस्तित्व को स्थिर रक्खा। इस वीर समुदाय की सैनिक-शक्ति की धाक पहिली, दूसरी शताब्दियों तक तो सारे भारत में थी। रुद्रदामन ने इनके विषय में लिखाया था:—

'सर्व क्षत्रा विष्कृत वीर शब्द जातोत्सेकाभिधेयानां यौधेयानाम्।'

अर्थात्—सभी क्षत्रियों के सामने यौधेयों ने अपना नाम (युद्धवीर) चरितार्थ करने के कारण जिन्हें अभिमान हो गया था और जो परास्त नहीं किये जा सकते थे। यह थी उनकी वीरता जिसका उल्लेख उनके शत्रु ने भी किया है।

भरतपुर राज्य में उनका एक शिला लेख मिला था। इस बात का वर्णन डा० फ्लीट ने गुप्तों के वर्णन के साथ किया है। उस शिला लेख में योधेय-गण के निर्वाचित प्रधान का उल्लेख है। इनका प्रधान महाराज महासेनापति की उपाधि धारण करता था। कुछ अन्य गणों के अध्यक्ष भी राजा और राजन्य की उपाधि धारण करने लग गये थे। मालूम होता है एकतंत्रियों के मुकाबिलों में गण अपने अध्यक्षों को राजा, महाराजा या राजन्य की उपाधि देने लग गये थे। लिच्छिवियों ने तो अपने ७०७७ मेम्बरों को भी राजा की उपाधि दे डाली थी। योधेयों का यह शिला लेख गुप्त काल का बताया जाता है। जोधपुर में भी योधेयों का एक गण था और उसका सरदार था महीपाल। यह महीपाल अवश्य ही १२०० ई० के लग भग था। उसके वंश के लोग अजीतगढ़ चूड़ी की ओर बढ़ गये। इन योधेयों की कालान्तर में, अनेक शाखायें भी हो गईं। कुलकिया शाखा के लोग अब तक अजीतगढ़ चूड़ी के पास मौजूद हैं।

दिल्ली और कर्नाल के मध्य सोनपत में उनके सिक्के हाथ लगे हैं। पंजाब में सतलज और जमुना के समस्त प्रदेश में योधेयों के सिक्के पाये जाते हैं। योधेयों के सिक्के कुछ भिन्न-भिन्न प्रकार के भी हैं। शुंग काल के सिक्कों पर चलते हुए हाथी और एक साँड की मूर्त्ति अंकित मिलती है। उन सिक्कों पर 'यौधेया नाम' ऐसा लिखा रहता है। दूसरी तरह के सिक्कों पर उन्होंने युद्ध के देवता कार्तिकेय की मूर्त्ति अंकित की है। तीसरी तरह के सिक्कों पर 'यौधेय-गणस्य-जय' लिखा रहता है। इस सिक्के में एक योद्धा की हाथ में भाला लिये हुए त्रिभंगी गति से खड़ी हुई, मूर्ति बनाई गई है। कुछ सिक्कों पर द्वि और त्रि भी लिखा हुआ पाया गया है।

योधेय लोगों में निर्वाचित सभापति या प्रधान हुआ करता था। उपरोक्त बात उनके शिला लेखों से साबित होती है।

ऐसा मालूम होता है यह ईस्वी सन् की दूसरी शताब्दी में ही राजपूताने की ओर आ गये थे। पच्छिमी राजपूताने, मारवाड़ और जयसलमेर तथा बीकानेर की

भूमि पर अपना अधिकार जमा लिया था। रुद्रदामन से जो युद्ध हुआ था वह जोधपुर की भूमि पर हुआ था क्योंकि रुद्रदामन बराबर पैर फैला रहा था। हिसार और देहली की ओर भी यह लोग बढ़ गये थे। कुछ लोग पंजाब में ही अड़ रहे थे। बहावलपुर के जोहिया अपने को राजपूतों की ओर ले जाने की चेष्टा कर रहे हैं। किन्तु राजपूताने में इनका अधिकांश समूह अपने असली स्टाक में है और जाट कहलाते हैं।

गणों के राज्य विस्तार, कोप, नीति आदि के ज्ञान के लिए ये हमने थोड़े से गणों की शासन व्यवस्था का वर्णन किया है। जट (संघ) तो ऐसा है जिसके भीतर अनेकों गणों का समावेश है। मद्र, कुरु, मालव, नाभ, भुक्ति आदि अनेकों गणों के सम्बन्ध में बहुत कुछ बताया जा सकता है। किन्तु गणों का अन्त क्योंकर हुआ इस बात पर थोड़ा सा प्रकाश डाल कर के, जाट वैभव के दूसरे पहलू पर नजर डालेंगे। प्रजातंत्रों का अन्त कब और कैसे हुआ इसका उत्तर "हिन्दू राजतंत्र" से इस प्रकार मिलता है—"पाँचवीं शताब्दी के अंत में हिन्दू भारत से प्रजातंत्र अदृश्य हो गये। पुराने लिच्छिवि लोग राजनैतिक क्षेत्र छोड़ कर हट गए और उनकी एक शाख नैपाल में जा बसी। नये पुष्य-मित्र हवा हो गये और उसके बाद की शताब्दी में ही हिन्दू शासन-प्रणाली इतिहास के रंग मंच पर से अंतिम प्रस्थान कर गई। वैदिक काल के पूर्वजों के समय से जो कुछ अच्छी बातें चली आ रही थीं पहिली ऋचा की रचना से अब तक जो उन्नति की गई थी और जिन बातों के द्वारा राज-शासन में जीवन का संचार हुआ था वे सब बातें इस देश को अंतिम अभिवादन करके चली गईं। इसी प्रजातंत्र वाद ने पहिले पहल महाप्रस्थान का आरम्भ किया था—इसी ने पहिले पहल राजनीतिक निर्वाण का सुर अलापा था। उस अंतिम गीत का केवल एक ही चरण हमारी समझ में आया। उस चरण में सर्वनाश करने वाली उस तलवार की प्रशंसा थी जो प्रकृति वर्बरों के हाथ में पकड़ा दिया करती है। पर उस गीत के अन्यान्य चरण हमारे लिये अभी पहिले के ही रूप में हैं। उस महा प्रस्थान के वास्तविक कारण भी उसी अंतिम गीत से स्पष्ट हो जाने चाहिये थे, पर वे समझ ही में न आये।

ईसवी सन् ५५० के बाद से हिन्दू इतिहास विगलित हो कर उज्वल और प्रकाश मान जीवनियों के रूप में परिवर्तित हो जाता है। इधर-उधर बिखरे हुए फुटकर रत्न दिखाई पड़ते हैं, जिन्हें एक में गूथने वाला राष्ट्रीय या सामाजिक जीवन का धागा नहीं रह गया है। हमें बड़े-बड़े गुणवान भी मिलते हैं और बड़े-बड़े अपराधी भी। हमें हर्ष और शशांक मिलते हैं। यशोधर्मन, कल्कि और शंकराचार्य मिलते हैं। परन्तु ये लोग साधारण और सार्वजनिक बल से इतनी अधिक ऊँचाई पर हैं कि हम केवल इनकी प्रशंसा कर सकते हैं और इन्हें परम पूज्य मान कर इनका आदर सत्कार कर सकते हैं। समाज में स्वतन्त्रता का कहीं

नाम भी नहीं रह गया है। इस पतन के कारण आंतरिक ही होने चाहियें, जिनका अनुसंधान होना अभी तक बाकी ही है।"

प्रजातंत्रों के लुप्त होने और उनके लुप्त होने से समाज को जो हानि है ऊपर का उद्धरण उसका आरम्भिक वक्तव्य है। उन प्रजातंत्रों में जो जन स्वातंत्र्य था उसे प्राप्त करने में कितनी पीढ़ियाँ बीत जावेंगीं। हिन्दू-समाज कहाँ पहुँच गया है यदि अब पीछे की ओर देखे तो उसे घबराना पड़े। किन्तु धन्य जाट-जाति कि जिसने धार्मिक और राजनैतिक प्रहारों के घमासान के बाद भी सामाजिक स्वतंत्रता को सुरक्षित ही रखा। समय की गति ने उसके हाथ से सत्ता छीन ली, पर नैतिक नियमों को समानता के सिद्धान्त रूप में आज तक भी जीवित रक्खा।

एकतन्त्र वाद का प्रभाव

प्रजातन्त्र के नष्ट होने पर केन्द्रीय शासन धीरे-धीरे और अकस्मात ही जाटों के हाथ से निकल गया। फिर भी लम्बे अरसे तक उन्होंने ग्राम्य शासन को बहुत दिनों तक सँभाला। सैकड़ों वर्ष के संघर्षों के उपरान्त वे थक गए और शिथिल होगये। किन्तु फिर उनमें से कुछ वीर निकले और उन्होंने प्रतिकूल परिस्थित होते हुए भी जाट पने की शान को रख लिया। उन्होंने देखा कि एकतन्त्र-शासन जाति का अस्तित्व ही खो देगा। इसलिए जाति की रक्षा के लिए उन्होंने एकतन्त्र शासन स्थापित करने के लिए कमर कसी और जाति को विद्वेषी एकतंत्रियों के उत्पात से निर्भय बना दिया। इन वीरों में कुछ तो आरम्भिक संघर्ष में ही चेत गये और जाति का संगठन करके जाट-एकतंत्र या जाट-साम्राज्य की नींव डाल दीं। सिन्ध में सिन्धुराज, गान्धार में सुभागसेन, मालवे में यशोधर्मा, पंजाब में शालेन्द्र और दिल्ली में महाबल ऐसे पुरुष थे जिन्होंने जाट शब्द को बनाये रखने के लिए एकतंत्र को भी अपना लिया। मध्यकाल में जुझारसिंह, चूरामणि, खेमा, कपूरसिंह, आलासिंह और महासिंह भी ऐसे ही नरपुंगव हुए जिन्होंने भारत के इस छोर से उस छोर तक जाट शब्द को गुञ्जा दिया। जिस समय एकराज-प्रथा योवन की तरफ जारही थी उस समय उन्होंने मुहम्मद और अली के घर तक अपनी वीरता की धाक जमा ली थी। जाट-जाति के अनेक जत्थे यूरोप, चीन और जर्मनी में पहुँचकर अपने लिए जमीन प्राप्त कर रहे थे। हिन्दू धर्म जबकि विदेश यात्रा के सम्बन्ध में निषेधात्मक कानून बना रहा था जाट समूह रोम और स्केण्डनेविया में पहुँचकर भारत की शान ऊँची कर रहे थे। प्रजातन्त्रों के नष्ट होने से पूरी जाति तो राजनैतिक ज्ञान से गिरती जा रहीं थीं किन्तु कुछेक नरपुंगव अपनी तलवार-नीति-मग से बता रहे थे कि जाट प्रत्येक क्षेत्र में बाजी ले सकते हैं। चाहे वे प्रजातन्त्री रहें और चाहे एकतन्त्री। उनकी आबादी इतनी बढ़ गई थी कि मन्दसौर से लेकर उत्तर में बब्रपुर साइबेरिया तक जा पहुँची थी। पच्छिम में ईरान से आरम्भ करके पूर्व में नैपाल तक वे शहद की मक्खियों की भांति भरे हुए थे। वैसे

यूरोप और एशिया का कोई प्रदेश ऐसा न था, जिसमें जाट न पहुँच गये हों और उनकी वीरता की चर्चा उस देश में न हुई हो।

युद्ध के तरीके

विदेशी इतिहासों के वर्णन से यह मालूम होता है, कि जाट रण-कुशलता में संसार-श्रेष्ठ होते हैं। साइरस ने जो कि सिकन्दर के समान प्रसिद्ध हुआ है पर्शियन-साम्राज्य की नींव जाटों की ही सहायता से डाली थी। नारायण शास्त्री के मत से साइरस ने ईसा से ५६० वर्ष पहिले मीडिया के लोगों से युद्ध करने के लिये सिन्ध के राजा से सहायता माँगी थी, किन्तु सहायता देने से पूर्व सिन्ध के सरदार ने अपना एक प्रतिनिधि-मण्डल इस बात की जाँच के लिये भेजा था कि न्याय पक्ष किसका है। अन्त में साइरस को सहायता दी गई। जाट मीडों की भाँति ही घुड़सवार थे। वह सूती वर्दी पहनते थे। चार अस्त्र सदा साथ रखते थे—तीरकमान, बर्छे, तलवार और छुरकले। कमान सिर की बराबर ऊँची होती थी जिसका एक सिरा पैर से दबाते थे। सवार सैनिक तो दो बर्छे रखता था। जिस समय तलवार का काम आता था तो दोनों हाथों से चलाने लगते थे। हाथियों पर बैठ कर लड़ने की बुरी रिवाज भी उनमें थी। सरदार लोग रथों पर और हाथियों पर ही बैठ कर लड़ा करते थे। वह प्रथम दर्जे के घुड़ सवार थे। इसकी प्रशंसा तो टाड साहब ने भी की है। किलों में घिर कर लड़ने की अपेक्षा उन्हें शत्रु पर इधर-उधर से आक्रमण करने में बड़ा आनन्द आता था। लड़ाई से पूर्व ही स्त्री, बच्चों को सुरक्षित स्थान पर भेज देते थे।

पैदल सैनिक गदा और लकड़ी (लाठी) भी रखते थे। लड़ने में जब तक सिर धंड़ से अलग नहीं हो जाता था तब तक अपने स्थान से न हटते थे। पदाति सेना के लोग गले में हाँस, हाथों और पैरों में कड़े पहनना, रक्षा का काम समझते थे। सिर की पगड़ी को बलदार और लपेट देकर बाँधते थे, जिसमें तलवार का गुजर तो हो ही नहीं सकता था। ऊँटों से वह डांक पहुँचाने का काम लेते थे। लड़ाई का नक्कारा भी ऊँट पर ही रक्खा जाता था।

बसन्ती झण्डा उन्हें प्रिय था। जिसे राजा के हाथी पर ही फहराया जाता था। कभी-कभी सेनापतियों के पास भी ऐसे झण्डे रहते थे। मुख्य सेनापति या राजा किसी ऊँचे और सुरक्षित स्थान पर खड़ा होकर युद्ध का संचालन करता था। युद्ध के ढंगों के संकेत होते थे और संचालन कर्ता झंडे से सेना को संकेत करता था।

युद्ध के समय 'हर-हर' बोलकर हमला करते थे। कर्नल टाड कहते हैं कि "युद्ध के समय जिट लोग समझते थे कि महादेव की योगिनी शत्रुओं का खून खप्पर भर कर पीने को आती हैं।" उनकी धारणा थी कि युद्ध में बहादुरी के साथ मरे हुये लोग शिवलोक को प्राप्त होते हैं, और शिवजी के गले के हार में उनका भी सिर पिरो-

लिया जाता है, क्योंकि शिव मुंडमाल पहनते हैं। इसलिये युद्ध के मरने को पवित्र मानते थे।

उनके युद्धों का यह वर्णन आरम्भिक काल से ईसा की छटी शताब्दी तक का है। नये धर्म के भारत में फैलने से उनके युद्धों के तरीकों पर भी असर पड़ा, और सिख के रूप में अथवा हिन्दू-जाट के रूप में उन्होंने जो रण-कौशल दिखाया है, उसके लिये मि० कनिंघम का लिखा 'सिख युद्ध' और मि० चक्रवर्ती का लिखा 'भरतपुर-युद्ध' अथवा "सौ पठान, दस जटान", "आठ फिरंगी नौ गोरा लड़ें जाट के दो छोरा" उदाहरण काफी हैं।

विस्तार

'५६ कोटि जादों' की जनश्रुति अति प्रसिद्ध है। किन्तु इतिहास से अनभिज्ञता रखने के कारण लोग इस को झूठ मान लेते हैं और कुछ शब्द-शास्त्री इसका अर्थ ५६ करोड़ न करके ५६ श्रेणी करते हैं। दलील यह दी जाती है कि भारत में इस समय भी ५६ करोड़ तो आदमी नहीं है; जिसमें यादवों का ५६ करोड़ का दल बताया जाता है। फिर राघव (सूर्य्यवंशी) आदि भी तो थे। भारत में कहाँ समाते। ऐसे लोगों की दृष्टि में भारत की सामा आज के भारत से भी कम मालूम पड़ती है? किन्तु उन्हें यह मालूम नहीं कि भारत कृष्णकाल में आज से बहुत उत्तर में बढ़ा हुआ भारत था। पूरब में इक्षुरसोद (आक्सस) पच्छिम में कुभानदी (काबुल नदी) भारत की सीमा बनाती थीं। चीन की ओर मानसरोवर से भी आगे तक भारतीय बसे हुये थे। महाभारत के बाद तो उत्तर में वज्रपुर (साइबेरिया) और पच्छिम में बैबलोनियाँ तक फैल गये थे। वैसे भी सारे भारत में चारों ओर यादव ही यादव दिखलाई देते थे। कंस, जरासंध, शिशुपाल, दंतवसु आदि के अलावा भारत का ऐसा कोई कोना न था जो यादवों से खाली हो। सूर्य्यवंशी थे उनका शतांश। जितने वे बढ़े थे उतने ही विनष्ट भी हुए, ग़ैरों द्वारा नहीं; अपने ही हाथों। दुर्वासा या द्वैपायन के शाप से नहीं राजनैतिक विभिन्नता से। साम्राज्य-लिप्सा ने गण वादियों को उत्तर, पच्छिम, बढ़ने को विवश कर दिया। साम्राज्य-लिप्सा दक्षिण-पूर्व में उदय हुई वहीं योवन को प्राप्त हुई और उत्तरोत्तर पूर्व-उत्तर की ओर पैर फैलाती गई जिससे उत्तर-पच्छिम वाले और भी उत्तर-पच्छिम को बढ़ने पर विवश हुये। सम्भव था कि साम्राज्यवाद उन्हें और भी आगे को खदेड़ता, किन्तु इसी समय देश में धार्मिक क्रान्ति हो गई। यज्ञों द्वारा सार्व-भौम की प्रथा ढीली पड़ गई। राजा के स्थान पर साधु-संतों की ओर लोग झुक गये। राजा लोग भी साधु संत होने लगे और गण राज्यों में जान आने लगी। फिर भी अजातशत्रु जैसे महत्वाकांक्षी अपनी धुनि में लगे ही रहे।

ज्ञातिवादी अर्थात् जाट लोग इसी संघर्ष में उत्तर में जगजार्टिस नदी तक और पच्छिम में ईरान की खाड़ी तक फैल गये। यहीं से वे अपने जत्थों द्वारा इधर उधर भी गये। जदुकाडूंग से शनैः शनैः काश्मीर की ओर और फिर दर्दस्तान को

पार करके कुछ यादव पूर्वी चीन तक पहुँचे। चीन के प्राचीन इतिहास अपने को भारतियों के वंशज बताते हैं। हियंगू नदी और हुंगा पर्वत के पास के लोग जो भारत में लौट कर आ गये आज हगा जाट कहलाते हैं।

महाभारत में पाँडवों के महाप्रस्थान का वर्णन है किन्तु उन्हें धार्मिक रूप देकर हिमालय में गला दिया है। केवल युधिष्ठर-द्रोपदी को शेष रक्खा है। कहा गया है कि वे सजीव स्वर्ग पहुँच गये। बात यह है कि अनेकों यादव और पाँडव लोग उत्तर कुरु की ओर गये थे। कुछ पंजाब में रह गये; रहने वाले यादवों के नाम से वही स्थान जदूकाडूंग कहलाया और कुछ कश्मीर में रह गये कुछ आगे रहे, कुछ साइवेरिया तक पहुँचे और वहाँ यदुओं ने वज्रपुर बसाया। यही लोग चीनी भाषा में कुशान और यूची अथवा जिहूटी कहलाये। विदेशों में जाटों ने कहाँ-कहाँ अपनी बस्तियाँ कायम कीं अब थोड़ासा प्रकाश इस बारेमें अगले अध्याय में डाला जायगा।

षष्ठम अध्याय

जाट-साम्राज्य

अफगानिस्तान, ईरान, ओहिन्द, जर्मनी, स्केन्डेनिविया, रूम, इटली, चीन, जटलेंड, प्रभृति देशों में जाट-उपनिवेशों का वर्णन।

पहिले यह जान लेना आवश्यक है कि 'विदेशों में जाट-उपनिवेशों' की सामिग्री किन इतिहासों से मिलती है—

(१) हेरोडोटस—यह यूरोप का सब से पुराना इतिहास लेखक कहा जाता है। ४८० ईस्वी पूर्व यह मौजूद था। इसी के उद्धरणों से कर्नल कनिंघम, कर्नल टाड ने बाहरी जाटों के सम्बन्ध में प्रकाश डाला है। प्रथम दारा के पुत्र जरक्सीज के यूनान पर आक्रमणों का इस ने इतिहास लिखा है। जरक्सीज के साथ भारतीय जाटों का जत्था भी था। इसके बाद भी जाटों से हेरोडोटस का परिचय हुआ। अपने इतिहास में इसी जानकारी के कारण उसने जाटों के ऊपर काफी लिखा है। इसका ग्रन्थ भारत में कहीं नहीं मिलता। इलियट साहब ने कुछ संग्रह इसके आधार पर किया है, जो उनकी 'हिस्ट्री आफ इंडिया' में उल्लिखित है।

(२) स्ट्राबो—यह भी यूनानी लेखक था। रूम के हमलों के बाद से इसका परिचय जाटों से हुआ था और इसी कारण इसने उनके वर्णन को स्थान दिया है।

(३) डिगायन—इसने चीन का इतिहास लिखा है और उसमें जाटों के सम्बन्ध में प्रकाश डाला है। यह भी लिखा है कि जाटों ने बौद्ध-धर्म स्वीकार कर लिया था।

(४) कनिंघम—इन्होंने पर्शिया की हिस्ट्री लिखी है उसमें पारस-स्थित जाटों का वर्णन है। इन्होंने ही सिखों का इतिहास लिखा था।

(५) तिरमिजी अबबाबुल इम्साल—यह अरबी-ग्रन्थ है इसमें हजरत मुहम्मद और अली के समय के जाटों के सम्बन्ध और अस्तित्व का वर्णन है।

(६) तारीखे तबरी—यह भी अरबी-ग्रन्थ है, इसमें जाटों के रूम के विरुद्ध अरबों की सहायता करने का वर्णन है।

(७) एड्डा—यह स्केन्डेनेविया की धर्म पुस्तक है। मि० जन्स्टर्न ने इसे भारत से लाये हुए धर्म के आधार पर बनी धर्म पुस्तक बताया है। इसमें जाटों द्वारा प्रचारित रस्मों का वर्णन है।

इनके अलावा अनेकों पारसी, चीनी तथा यूरोपियन इतिहासों में जाटों के उपनिवेशों का तथा उनके आचार-विचार और युद्धों का वर्णन है। वह वर्णन इतना है कि उसके संग्रह के लिये कई हजार रुपये और कई साल के समय की आवश्यकता है। इसलिये हम ने सोचा है कि 'विदेशों में जाटशाही' नामक एक अलग इतिहास लिखें। इस इतिहास के मुद्रण के पश्चात अवश्य ही हम "विदेशों में जाट साम्राज्य" अथवा 'यूरोप के जाट' इतिहास का काम प्रारम्भ कर देंगे। इसीसे इस में कुछ संक्षिप्त सा इस विषय का वर्णन करते हैं:—

मि० कनिंघम की 'सिक्ख इतिहास' की 'पाद टिप्पणी' पढ़ने से स्पष्ट पता चलता है कि *"जाट लोग भारत में जट, जिट या जाट, चीन में इऊइाचि (यूती, यूची) तथा यूनान में गिट, जेटा और गाथ के नाम से थे।"* यह केवल भाषा-भेद है; किन्तु कनिंघम ने हेरोडोटस के लेखों का आधार लेकर यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि जाट सिथियन या शक लोग हैं। इस मत का उत्तर हम ने पिछले अध्यायों में दे दिया है; किन्तु शक भी आर्य थे। अन्तर इतना है कि इण्डो-आर्यन और एक इण्डो-सिथियन उनके दो नाम हो जाते हैं। यदि देशों में बसने के कारण ऐसे नाम पड़ते हों तो जाटों के दो हिस्से हो जाते हैं। एक इण्डो-आर्यन और एक इण्डो-सिथियन क्योंकि उनका विस्तार सिन्ध और गंगा-यमुना के द्वावे से लेकर ईरान की खाड़ी तथा जगजार्टिस नदी तक था। जाटों में दो बड़े दल हैं भी। शायद वे घरू बोल-चाल के देसवाल और पछांदे हैं। अर्थात् वह लोग जिनका घर भारत ही में था और वह लोग जो पच्छिम में बसे हुए थे। स्ट्रावो ने अपने वर्णनों में पछांदे और उसकी शाखाओं का जिनमें ये भी हैं, वर्णन किया है। हेरोडोटस और स्ट्रावो का पाला भी पछांदे अर्थात् पश्चिम देशों में बसे हुए लोगों से पड़ा था। उन्हीं के वर्णनों के आधार पर मि० कनिंघम को यह भ्रम हो गया है कि सारे देशों में फैले हुए जाट पर्शिया के अथवा पश्चिम के (पछांदे) जाट हैं और वह पर्शिया के होने के कारण सिथियन (शक) हैं। यदि मि० कनिंघम को देसवाली (भारत-स्थिति) जाटों के वर्णनों की कोई पुस्तक मिल जाती अथवा वह पछांदे और देसवाल दो बड़े भेदों से परिचित होते तो उन्हें यही मानना पड़ता कि जाट इण्डो-आर्यन हैं और इंडिया से बाहर कहीं उनका अस्तित्व मिलता है तो उसकी जड़ भारत ही है[१]।

अस्तु, अब हमें यह बताना है कि उनकी गति (पथ) किस ओर से थी। पहिला वर्णन उनका भारत के बाद ईरान में पाया जाता है। यदि वे ईरान के आदिम निवासी होते तो उनका नाम संस्कृत जाट न होकर पार्सी भाषा का कोई शब्द होता और उनके नाम से ईरान में जाटाली प्रान्त एक अलग प्रान्त न होता जो

१—'मुग़ल साम्राज्य का क्षय और उसके कारण' देखो।

कि जाटालय का अपभ्रंश है। ईरान की नदी जान भी व्याना के निकटवर्ती वान (जाट) लोगों के नाम पर इस नाम से न पुकारी जाती। अतः भाषा विज्ञान के अनुसार जाटों का पथ भारत की ओर से ईरान की ओर है, न कि ईरान की ओर से भारत की ओर। यदि ऐसा होता तो आज वह विंध्याचल के उस पार अथवा बंगाल में पाये जाते। 'यादव कुल दिग्विजय' और 'महाभारत' से तथा अनेक अंग्रेज इतिहास लेखकों के लेखों से यादवों अथवा जाटों का पथ (गति) दक्षिण पूर्व से उत्तर पच्छिम को है। यादवों की (चन्द्रवंशियों) की आरम्भिक आबादी प्रयाग में थी, वह जितने भी बढ़े उत्तर की ओर बढ़े हैं। उत्तर पच्छिम की ओर उनके बढ़ने के कारण भी हैं। दक्षिण पूर्व की ओर से साम्राज्यवादी लोगों तथा पौराणिक धर्म-द्वेषियों ने प्रजातंत्री और बौद्धों को एक नहीं, अनेक बार उत्तर पच्छिम की ओर बढ़ने को बाध्य किया है। यह गति उलटी भी हुई थी किन्तु ईस्वी सन् से पहिले उस के उदाहरण और कारण बहुत ही कम मिलते हैं। ईरान का प्राचीन इतिहास भी यह नहीं बताता कि भारत के जाट ईरान से गये हुए हैं। हाँ सिकन्दर के आक्रमण से कई सौ वर्ष बाद ईसाई तथा मुस्लिम संघर्षों से वे ईरान की ओर से भारत को अवश्य लौटे जो भाटी, पच्छादे और ढे नामों से प्रसिद्ध हैं। उनके साथ देसवाली और मांझ के जाटों ने बहुत समय तक समानता का व्यवहार नहीं किया था। इस से भी विदित हो जाता है कि आदि बस्ती उनकी भारत ही है। Editor of the Journal of the "Geographical Society" XIV, 207 note भूगोल समिति के समाचार-पत्र के सम्पादक गण ने जाटों को भारत में इतना पुराना माना है कि वे लिखते हैं—"*पुराने और आदिम संस्कृत शब्द 'जियेसता' से जाट शब्द बना है और इससे यह आदिम अधिवासी जान पड़ते हैं।*

इसके सिवा ईरानियों के साथ उनके सम्बन्ध का जिक्र जहाँ ईस्वी पूर्व छटी सदी में ही चल जाता है। अरब में तथा यरुसलम में स्पष्ट रूप से दूसरी सदी में चलता है और रूस तक को ४ थी-५ वीं सदी में पहुँच पाते हैं। भारतीय भावनाओं के अनुसार भारतीय लोग पूर्व से पच्छिम की यात्रा को समझते भी श्रेष्ठ हैं।

यूरोप के इटली और रूस प्रदेशों में पहुँचते समय उनके दो प्रधान विभाग हो जाते हैं एक पूर्वी और दूसरा पच्छिमी जो गाथों (गेटों, जेटों) के नाम से मशहूर हो जाते हैं। रूस अथवा इटली के लिए यह पूर्वी पच्छिमी दल कैसे जान पड़े इसका स्पष्टीकरण होना भी आवश्यक है।

यह हम पहिले बता चुके हैं कि उनका विस्तार उत्तर में जगजार्टिस और पच्छिम में ईरान की खाड़ी तक हो गया था। ईरान के डेरियस के अलावा अपने नेताओं के साथ उन्होंने यूनान को पहिले देख ही लिया था।

समय पाकर तथा संख्याधिक एवं अन्य परिस्थितियों से वह आगे की ओर बढ़े और रूम अथवा इटली में पूर्व की ओर से आक्रमण करने लगे। उधर मध्य एशिया में हूणों का प्रथम उपद्रव खड़ा हुआ तब जगजार्टिस के किनारे पर बसे हुए जाट लोगों का कुछ हिस्सा नये और हरे-भरे देशों की खोज के लिए यूराल पहाड़ को पार कर गया और जर्मनी में जा पहुँचा। उनसे भी अधिक उत्साही लोगों को वहाँ पहुँचा दिया जहाँ से आगे थल न था अर्थात् जमीन का खातमा होगया था; वह देश था स्कन्धनाभ अथवा स्केण्डनेविया। यूरोप में दूसरी सदी से सातवीं सदी तक आक्रमणों का प्राबल्य रहा है। दूसरे स्कंधनाभ उस समय कुछ उपजाऊ देश भी न था अतः वहाँ से भी उनके कुछ दल नीचे की ओर उतरकर उपजाऊ देशों की ओर बढ़े। इटली और रूम में इनका प्रवेश पच्छिम से होता था इसीलिए वह पच्छिमी गाथ कहलाये। उन देशों के लिए यही पूर्वी पच्छिमी गाथ दो भेद थे। गाथों के सिवा स्लाव, वंडाल आदि अल्प जातियों ने भी यूरोपियन देशों को विजित किया था। इन समस्त लोगों के समूह को यूनान वाले ट्यूटन कहते थे। यह वर्णन जाटों की गति (पथ) के सम्बन्ध में तथा उनके इण्डो आर्य्यन के बजाय इन्डोसिथियन समझ लेने वालों के भ्रम-निवारण के लिए है। अब कुछ संक्षेप से उनके अन्य देशों में उपनिवेश स्थापित करने के सम्बन्ध में लिखा जाता है।

अफगानिस्तान

यह देश तो अति प्राचीन काल से भारत में सम्मिलित था। महाभारत में भी यह भारत के अन्तर्गत ही समझा गया है। वह कभी भारतीयों और कभी ईरानियों के अधिकार में रहता रहा है। गान्धार उस समय तक जाटों के अधिकार में रहा है जब तक इस्लाम का आक्रमण भारत पर नहीं हुआ। उस आक्रमण के बाद ही धर्म-प्रिय जाटों ने भारत की ओर मुँह मोड़ दिया। चन्द्रगुप्त मौर्य्य के समय में यहां पर सौभागसेन यहाँ का राजा था। मि० क्रकसाहब ने लिखा है कि—"*कुछ जाटों ने हमें अपना आना गढ़ गजनी से बताया है।*" यह सही है कि यादव लोगों ने गजनी को आबाद किया था और फिर शालवाहन के समय में भारत में वापिस लौट आये थे। इनमें से कुछ पौराणिक-धर्म में दीक्षित होकर राजपूत हो गये। शेष ने भटनेर भटिंडा और पंजाब में जाट-राज्य स्थापित किये। अफगानिस्तान के पच्छिम में हिरात नदी है और वह प्रांत भी हिरात कहलाता है। उस प्रदेश में भी जाटों ने एक लंबे अरसे तक अपना प्रभुत्व कायम रक्खा था। सर हेनरी इलियट ने 'डिस्ट्रीब्यूशन आफ दी रेसेज, नार्थ वेस्टर्न प्राविंशेज आफ इण्डिया' में लिखा है:—*गुजरात (पंजाब) के जाट चिनाव के किनारे के देश को हिरात के नाम से पुकारते हैं; क्योंकि उनमें दन्तकथा है कि वे ईरान की हिरात नदी के किनारे रहते थे।*" इन प्रान्तों के सिवा आजकल सीस्तान नाम से पुकारे जाने वाले प्रदेश में शिवगोत्री

जाट राज्य करते थे और वह प्रदेश उस समय शिविस्थान कहलाता था१। भारत के साथ इन लोगों का राजनैतिक-सामाजिक सभी प्रकार का सम्बन्ध था और जब कभी भी विदेशी आक्रमण-कारियों से युद्ध करने की नौबत आती थी, यह अपने सजातीय भाई सिन्धू (सिन्ध के) जाटों को याद करते थे। किस वंश ने कब तक और किस रूप में अफ़गानिस्तान में राज्य किया इसका पूरा विवरण हमें तत्काल नहीं मिल रहा है, किन्तु यह आशा है कि इन जाट उपनिवेशों की हमें बहुत कुछ सामग्री प्राप्त होगी।

अफ़गानों के सम्बन्ध में कर्नल कनिंघम ने सिक्ख इतिहास में लिखा है:—
"जाट लोग एक ओर राजपूतों के साथ और दूसरी ओर अफगानों के साथ मिल गये हैं, किन्तु यह छोटी-छोटी जाट जाति की शाखा-समुदाय पूर्व अंचल के राजपूत और पश्चिम अंचल के अफगान और बलूचों के नाम से अभिहित हैं२।"
अर्थात्—कनिंघम साहब के मत से कुछ जाट तो अफगान और बलूच हो गये और कुछ जाट राजपूत हो गये। इससे भी जाटों के अफगानिस्तान में अवस्थित होने का पूरा-पूरा सबूत होता है और आरम्भ में कोई जाति विदेशों में विजेता के रूप में ही प्रविष्ट होकर भूमि अधिकृत कर सकती है। अफ़गानिस्तान में जाटों के पास जितना भी भूभाग था, वह उपजाऊ और हरा-भरा था।

बिलोचिस्तान

यह देश बिल्कुल सिन्ध से सटा हुआ है। यहाँ हिंगलाज की देवी का मन्दिर भी है। ब्रज के जाटों में हिंगलाज की देवी के गीत खूब गाये जाते हैं। संभव है शैव-मत की भांति इधर के कुछ जाटों पर शाक्त-मत का भी प्रभाव पड़ा हो और उन्होंने हिंगलाज में देवी-पूजा के लिए मठ बनवाया हो। मौर्य-काल में कुलूत इस देश की राजधानी थी और चित्रवर्मा राज करता था। जाटों के अन्दर बिलोच गोत्र भी पाया जाता है। बिलोच शब्द बहुत संभव है, विलोचन से बना हो; जैसा कि अफ़गान को अपग़ान (अप= बुरा + गान = गन्धर्वों का देश) शब्द से बना मानते हैं। वैसे यह नाम महाभारत में तो आता नहीं है। उस समय यह शल्य के राज्य में शामिल रहा होगा। मि० इबैटसन ने लिखा है कि—*"जाटों के लिए बिलोच राष्ट्र में घुसने को राजनैतिक एकता और संगठन की आवश्यकता थी, वही इन्होंने किया।"*

चीन

तंगण और पर तंगण दो प्रजातंत्रों का चीन की सीमा पर महाभारत ग्रन्थ में वर्णन पाया जाता है, यही हमारे तांगर और प्रतिहार जाट हैं। अब भी टॉग (तॉग) पर्वत माला तंगणों के नाम से मानसरोवर से आगे है। हिंगू पहाड़ और हुंगहू नदी के किनारे मौर्यकाल में गये हुए

१—'एशिया में चन्द्रवंश' नामक लेख देखो। राजपूत संख्या ८ वर्ष २०।
२—'सिक्ख इतिहास' पे० ११ (चक्रवर्ती का अनुवाद)।

भारतीय आर्यों के इस वंश ने वहाँ पर काफी समय तक राज किया और फिर स्वदेश आ गये जो आज कल हैंगा कहलाते हैं। यह लोग यादव-कुल के थे। तिब्बती ग्रन्थ में खोतान (लीपुल) के सम्बन्ध में वर्णन आता है कि इसे नागों ने भर दिया था शाक्य मुनि ने उसे सुखा दिया। फिर धर्मा शोक का पुत्र कुश्तन जिसे कि राजा ने ज्योतियों के कहने से फिकवा दिया था वैश्रवण के द्वारा रीगा के बौधिसत्व राजा के यहाँ पहुँच कर वड़ा होता है। फिर "पश" धर्मा शोक का मंत्री नये राज्य स्थापन की इच्छा से चीन में पहुँचता है और तोला नामक स्थान में ठहरता है। वहाँ कुश्तन से मुलाकात होती है। दोनों हुँगहु देश पर राज्य करते हैं[१]। इन वातों से यह तो सिद्ध होता ही है कि भारतीय लोग चीन में उपनिवेश वसाने गये। कदाचित कुछ लोग यह कहें कि जाटों ने भी चीन में उपनिवेश स्थापित किया इसका क्या प्रमाण है ? इसके लिये इतना ही कहना काफी होगा कि चीन के इतिहास में यूची जाति चीन की शासक जाति वतलाई गई है। हिंगू लोगों की धाक और राज्य चर्चा अव तक चीन में व्याप्त है। इसके सिवा बौद्ध-धर्म से दीक्षित यूची-पार्थेय, सोगड़ीय विद्वानों द्वारा धर्म-प्रचार की चर्चा का वर्णन आता है। मि० डिगाइन जिन्होंने कि चीन का इतिहास लिखा है जाटों का अन्य वर्णन करते हुए उन्हें बौद्ध-धर्मावलंवी वताते हैं[२]। मि० ग्राऊस साहव 'मथुरा मेमायर्स' में नववीर (नोहवारों) को खोतन के पास नोह झील के पास से वापिस आए हुए लोग वताते हैं। वे कहते हैं कि—"*नोहवार भारतीय नवराष्ट्र के रहने वाले लोग थे और वे खोतान से ऊपर तक पहुँच गये। हूणों के आक्रमण से पहिले भारत में वापिस आ गये और अब नोह झील (मथुरा जिला) में रहते हैं।*"

मि० कनिंघम साहव सिख-इतिहास में लिखते हैं—"*जाट लोगों की प्रसिद्ध शाखाओं में चीन, भुराइच, चुल्ये शाखायें भी हैं।*"

अर्थात्—कर्नल कनिंघम साहव का कहना है कि जाटों के अन्दर एक चीन गोत्र है जिससे उनका चीन जाना सिद्ध होता है। और विदेश में या तो उपनिवेश स्थापन के लिये जातियाँ जाती हैं अथवा धर्म-प्रचार के लिये जाती हैं। जाटों ने दोनों ही कार्य चीन में जाकर किये।

नैपाल

यह नाम नयपाल से वना है। आरम्भ में यह देश भूट लोगों से भरा हुआ रहा होगा। मध्य काल में यहाँ ठकुरी वंश का राज हुआ था। डा० भगवानलालजी इन्द्र ने यहाँ शिला-लेखों के आधार पर कुछ खोज की थी, जिससे ठाकुरी वंश की दो तीन पीढ़ियों का पता चल जाता है। यह ठकुरी सम्भवतया अलीगढ़ जिले के ठकुरेले हो सकते हैं

१—'मौर्य साम्राज्य का इतिहास' पे० ९२१। २—'टाड राजस्थान' पहिली जिल्द देखो।

जो कि वैसाली के ज्ञात (जाटों से) निकले हुए कहे जा सकते हैं। लिच्छिवियों का प्रजातंत्र नष्ट हो जाने के बाद ही इस वंश की नैपाल में एकतंत्र शासन प्रणाली पनपी है। नैपाल राज्य के इतिहास से मालूम होता है, कि अंशु वर्मा इस कुल का प्रथम पुरुष था जो कि लिच्छिवि राज का महा सामन्त था। सन् ३५५ ई० में उसका उदय हुआ था। अंशु वर्मा ने आगे चल कर राजा की उपाधि धारण करली थी। सन् ४८१ ई० के आस-पास इसके वंश के लोग स्वतंत्र शासक हो गए थे और ग्यारहवीं-बारहवीं सदी में तो उन्होंने नैपाल के एक बड़े हिस्से पर अधिकार कर लिया था। भातगाँव उनकी राजधानी थी। १३२२ ई० में अयोध्या के राजा हरीसिंह ने तुगलकशाह (मुसलमान) के भय से भाग कर नैपाल में शरण ली और भातगाँव चालाकी से ठकुरी लोगों से उसने ले लिया। यहीं से ठकुरी राज नष्ट हो गया।

ईरान

ईरान को तो जाटों की दूसरी माँ कहना चाहिये। भारत के पश्चात् उनका गौरव-सूर्य ईरान में ही चमका है। ईरान के पच्छिमी किनारे पर वान नदी है। उसी के किनारे वाना (जाटों) का एक किला था। 'जून सन् १६३२ के भूगोल के विशेषांक में एक दन्त कथा वाना लोगों के सम्बन्ध में छपी थी। उसका सारांश इस प्रकार है। वान लोगों के किले पर शत्रुओं ने घेरा डाल लिया। बहुत दिन के घेरे के बाद जब कि दुर्ग में रसद निपट चुकी तो बड़ी चिन्ता हुई। सब लोग मिल कर एक वृद्धा के पास गए, उसने युक्ति बताई कि शत्रु को यह दिखा दो कि तुम्हारे पास काफी रसद है वह घेरा उठा लेगा। जितना तुम्हारे पास आटा है उसमें से बहुत सारा किले के बाहर फिकवा दो। ऐसा ही किया गया। जब शत्रु ने समझा कि इनके दुर्ग में इतना आटा है कि पुराने को फेंक रहे हैं, तो उसने घेरा उठा लिया। यह वाना आरम्भ में ब्याना के पास रहते थे। उन्हीं के नाम से यहाँ की नदी का नाम वान गंगा है। अन्य चन्द्र-वंशी (सासानी) लोगों के साथ ईरान के आखिरी सिरे तक पहुँच गए थे और वे वापिस भारत आ गए।

स्ट्राबो के कथनानुसार—*काशपियन के सहारे ढाये या ढे जाट रहते थे।* यह भी भारत से बौद्ध-काल के आरम्भ में उधर पहुँच गए मालूम देते हैं। ढे शब्द किस शब्द से बना है इसकी मीमांसा में अंग्रेज लेखकों को खूब मगज पची करनी पड़ी है। किन्तु वह एक मत पर नहीं पहुँच पाये हैं। ढे, और धे में कोई अन्तर नहीं है जो कि यौधेय का अपभ्रंश है। यौधेय से 'यौधे' और फिर सिर्फ 'धे' रह गया। इस्लामी टक्कर के समय ये अपनी मातृ-भूमि की ओर मुड़ आए, किन्तु जितने दूर थे उतने ही देर से भारत में आये। देसवाली जाटों ने जिन पर कि पौराणिक धर्म की छाया पड़ रही थी इन लोगों से समानता का वर्त्ताव नहीं किया। भाटी जाटों के साथ भी जो कि गजनी से लौटे थे मांझ के जाटों ने उस समय तक समानता का व्यवहार नहीं किया जब तक कि उनके नाभा, पटियाला

जैसे सुविस्तृत राज्य कायम न हो गये। इलियट साहब ने "भारत की उत्तर-पश्चिम की जातियों के विभाजन" नामक अँग्रेजी पुस्तक में लिखा है:—

"Whereas in India at the present day the Dhe is the sub-Division of the Jats, in the time of Strabo the xanthii are a sub Division of the Dhe so that if we are to identify xanthii with Jats and Dhee with Dhe, an interchange of names, or innersion of some sort must have taken place.

It would seem that at that indefined date, and in those undetermined region attended to by the above-named writer, the various tribes and races enjoyed a multiplicity of names which must have been tant soil pen bewildering to themselves and their neighbour; for we are taught that the Jats were once called Abars which is connected with Abiria in India, generally supposed to be the Abhiri or Ahirs. They also had the name of Sus, and many others. All this may be true, but the application to it to the Jats rests on the single link afforded by the similarity of xanthii to Jats. On the other hand we have the whole of Sindh peopled with Jats.

अर्थात्—जहां पर भारत में ढे जाटों की एक उपजाति है स्ट्रावो के समय में जैन्थिआई दहाये लोगों की उपजाति है। यदि हम जैन्थिआई लोगों को जाट मानें और दहाये लोगों को ढे, तो नामों में कुछ घटाव, बढाव करना पड़ेगा। यह समझने की बात है कि उस समय में और उन स्थानों में जिनका कि उपरोक्त लेखक ने वर्णन किया है बहुत सी जातियाँ अपने नामों की खुशी से घटाती-बढ़ाती रहती थीं। जिससे वह स्वयम् ही और पड़ौसियों को अचम्भे में डाला करती थीं। हमको बतलाया गया है कि जाट एक समय में अवार कहलाते थे जिसका कि भारत में अबीरिया से सम्बन्ध है। आम तौर पर खयाल किया जाता है कि वह देश अभीर या अहीरों का देश था। उनके सस और दूसरे नाम भी थे। यह सब सत्य हो सकता है किन्तु इस बात का जाटों के ऊपर प्रयोग केवल जेन्थिआई और जाटों की समानता के लिए किया गया है। दूसरी ओर हमको सारी सिन्ध में जाट ही बसे हुए मिलते हैं। डाक्टर ट्रिम्प सा० कहते हैं कि—"सिन्ध की आदि निवासी जाति जाट हैं।"·········इसमें संशय नहीं कि ये जाट जो कि इस देश में आदि निवासी जाति दिखलाई देते हैं विशुद्ध आर्य-वंश में से हैं।"

डा० तारासिंहजी, सर्व प्रथम भारतीय पुलिस सुपरिन्टेन्डेन्ट ।

स्वर्गीय पं० जैराम जी, जाटरत्न, भैंसवाना ।

यदि यूरोपियन इतिहास लेखक इस बात को मानकर खोज करें कि जाटों का मूल स्थान भारत में है तो उन्हें इस समस्या के सुलझाने में कोई भी कठिनाई न हो। जैसा कि हमने बता दिया है कि ढे अथवा स्ट्राबो-दहाये यौधेय जाटों के समूह के लोग थे। यौधेय से ढे और दहाये, धे, यह शब्द सरलता से बन जाते हैं।

बैक्ट्रिया और हरकानिया तथा खुरासानिया के मध्य मारगंस नदी के किनारों पर एक बहुत उपजाऊ प्रदेश है। यहाँ के निवासी जिट्टी लोगों का वर्णन करते हुए प्टोलेमी और प्लिनी कहते हैं—जाटों की यही आदि भूमि है। यदि ये दोनों यूनानी लेखक भारत की ओर आये होते तो उन्हें डा० ट्रिम्प की राय माननी पड़ती। साथ ही सहज में वह समझ लेते कि बैक्ट्रिया और हरकानियों के मध्य के जाट लोग भारतीय जाटों के वंशज हैं जो कि यहाँ अपना प्रजातंत्र चलाने के लिये तथा उपनिवेश स्थापन के लिये आये हैं। यह प्रदेश इनके नाम से जाटालि मशहूर हुआ[१]। इस तरह सिन्ध से लेकर के बिलोचिस्तान, कंधार, गजनी, हिरात जाटालि, तक ढे लोगों तथा बान लोगों का देश बिलकुल जाटों से आबाद पाया जाता है। यदि कंधार से एक रेखा खेंची जाय तो वह बान लोगों की आबादी तक एक ऐसा रास्ता बना देगी जो कि किधर ही को बिना मुड़े हुए 'जाट साम्राज्य' के बीच में से गुजारेगा, और वहाँ उस से भी कहीं अधिक जाट पाये जाते हैं जितने कि नारनोल से भादरा (बीकानेर) के रास्ते में भरे पड़े हैं। लेकिन वे विस्तार में इनसे कई गुना अधिक होते। ईरान में जाटों की इतनी घनी आबादी को देख कर ही यूनानी लेखकों ने उन्हें (जाटों को) सिथियन होने का भ्रम किया है। इनकी भांति ही दूसरे लेखकों ने जब देखा कि जब भरतपुर से आरम्भ होकर जग-जार्टिस नदी तक खींचे जाने वाली रेखा के पश्चिमी भाग में जाट मधुमक्खियों की तरह से भरे पड़े हैं तो उन्होंने अनुमान कर लिया कि अवश्य ही वे यूचियों या तातारियों की सन्तान हैं। असल में इन लेखकों ने शाखाओं को वृक्ष मान लेने जैसी भूल की है।

जाटाली प्रदेश में "अयाति वंशी" जाटों का उल्लेख जनरल कनिंघम ने किया है। अयाति राजा नहुष के पुत्र थे, इन्हीं के भाई ययाति को शुक्राचार्य की कन्या ब्याही गई थी। इससे स्पष्ट होता है कि भारतीय चन्द्रवंशी आर्यों की ईरान में बस्तियाँ थीं, और इनमें अधिकांश ज्ञातिवादी (गणतंत्री) जाट ही थे।

जाटों के विरोधी जाटाली के पड़ोसी हरकानियांवासी अवश्य ही रहे होंगे, वरना क्या कारण है कि जाट स्त्रियाँ अपनी प्रतिद्वन्द्वी स्त्री को हुरकिनी (हिरकनी) के नाम से पुकारती हैं। यह तो बिलकुल सही बात है कि हुरकिनी हिन्दी का शब्द नहीं। ईसाइयन के संपर्क से जब कुछ जाटालि स्थित जाट भारत की ओर लौट आये तो हिरकानियों की बीभत्सता का वर्णन भी साथ लेते आये।

१—राजदूत भाग २७ संख्या ८।

इतिहास लेखकों ने अनुमानिक तौर से बताया है कि स्केण्डेनेविया में ईसा से ५०० वर्ष पूर्व जाट लोगों ने प्रवेश किया था। इनके नेता का नाम ओडिन लिखा हुआ है। कर्नल टाड ने उसे बुध माना है, साथ ही बुध की व्याख्या करते हुये उसे चौथा बुध महावीर (जैनों के २४ वें तीर्थंकर) बतलाया है। भगवान महावीर ज्ञातृ (जाट) थे, यह तो हम पिछले किसी अध्याय में बता चुके हैं। लेकिन यह कठिन जान पड़ता है कि स्कंधनाभ (स्केण्डेनेविया) में जाने वाले जाटों के नेता महावीर ही थे। स्केण्डेनेविया को स्कंध नाभ शब्द से बना हुआ मान कर उसे सैनिकों का देश बताया गया है। कर्नल टाड भी ऐसा ही अर्थ करते हैं किन्तु चौधरी धनराज डिप्टीकलक्टर ने जनवरी सन् १६२६ ई० के 'महारथी' में लेख लिख कर बताया है कि बाणासुर का पुत्र स्कंध कृष्ण से हार कर स्कंधनाभ चला गया था, किन्तु धनराज जी की यह कल्पना निर्मूल है। कृष्ण ईसा से ३००० वर्ष पहिले हुये हैं और स्कंधनाभ में भारतीय लोग ईसा से ४०० वर्ष पहिले पहुँचे हैं। वहाँ के धर्म ग्रन्थ 'एड्डा' के आधार पर भी धनराज जी की कल्पना कोरी कल्पना ही रह जाती है। जब कि स्केण्डेनेविया के प्रसिद्ध इतिहासकार मि० जन्स्टर्न—स्वयम् अपने को ओडिन की संतान से मानते हैं। स्कंध और ओडिन का कोई शब्द सामंजस्य भी नहीं है। हाँ ओडिन और उद्धव शब्द का सामंजस्य है। बहुत संभव है, यह लोग उद्धव वंशी जाट हों। कर्नल टाड, सुरापान की आदत का मिलान करके स्कंधनाभीय लोगों को जित (जाटों) कुल से उत्पन्न हुआ बताते हैं। पर्शिया में बहुत दिन रहने के कारण उन्हें अंगूरों के रस (सुरा) की आदत पड़ गई हो ऐसा हो सकता है किन्तु भारत के जाटों में शराब का रिवाज बहुत ही कम है। इस समानता के सिवा कर्नल टाड ने जाटों और स्कंधनाभ वालों के सम्बन्ध में और भी बातें लिखी हैं। यथा—'स्कन्धनाभ वालों के प्राचीन ग्रन्थों में लिखा है कि वह पहिले शव के देह को जलाते नहीं थे, पृथ्वी में गाड़ देते थे अथवा पर्वत की कन्दरा में डाल देते थे। वोधेन की शिक्षा से विशेष अवस्था को प्राप्त हो, वह लोग उस समय से मृतक देह को जला दिया करते थे। कहते हैं कि मृत के साथ में उसकी विधवा स्त्री भी जल जाती थी। हेरोडोटस कहता है कि—यह सब प्रथाऐं शाकद्वीप से वहाँ पर गईं।

स्केण्डेनेविया

वोधेन के साथ स्कंधनाभ में जाने वाले लोगों में एक बलदार नाम भी था। उसकी स्त्री नन्ना उस के साथ सती हुई थी। अनेक स्त्रियों में से सती पहिली ही स्त्री होती थी, यह उनका नियम था।

हेरोडोटस कहता है कि—"शाक द्वीप के निवासी जब मरते थे तो उनके प्यारे घोड़े उनके साथ जलाये जाते थे और स्कन्धनाभ के जित (जाट) मरते थे, तब उनके घोड़े गाड़ दिये जाते थे।

स्कन्धनाभ वाले और जक्षर तीस के किनारे रहने वाले जित लोग सजातीय मृतक पुरुष की भस्म पर ऊँची वेदिका बनाया करते थे।

शाक द्वीप के जिट लोगों में शस्त्र-पूजा की विधि भारत के राजपूतों के समान है। जिस समय जिट (जाट) लोगों की बलाग्नि से सारा यूरोप संताप पा रहा था, उस काल में यह प्रथा विशेष उन्नति पर पहुँच गई थी। कहते हैं, कि प्रचंड जिट वीरों ने आटेला और अथेन्स नगर में महा धूम-धाम के साथ अपने अस्त्र-शस्त्रादिकों की पूजा की थी[१] ।"

इन उद्धरणों को देख कर कर्नल टाड ने हेरोडोटस के इस मत की पुष्टि करते हुए कि जाट शाकद्वीपी हैं, यह सिद्ध किया है कि जाट और राजपूत एक ही हैं। उनके सारे अवतरणों, आलोचनाओं का केवल यही सार है। यह तो हम पिछले पृष्ठों में काफ़ी बता चुके हैं कि शाकद्वीप (ईरान) के जाट भी इण्डो-आर्यन थे। स्कन्धनाभ में जो असि—जाट पहुँचे वे भी भारतीय सभ्यता के मानने वाले थे। चाहे वे कास्पियन सागर के तट से गये चाहे जगजार्टिस के किनारे से। उनके बलदार, गौतम, नन्नू, बुद्ध, प्रभृति ईरानी नाम न थे; किन्तु भारतीय नाम थे। न वे यज़दमद थे न हुरमुजत या जमशेद। शाकद्वीप के आदि निवासी जरदुष्ट्र के अहुर मज्द के अनुयायी न होकर वे वैदिक अथवा बौद्ध धर्मावलम्बी थे। इस बात को हेरोडोटस स्वयम् मानता है कि जाट एकेश्वरवादी थे[२]। ईरान के आदिम निवासी आज तक भी अपने मुर्दों को नहीं जलाते हैं। मुर्दे जलाने वाले शाकद्वीप के जिट वहाँ के आदिम निवासी न होकर प्रवासी तथा उपनिवेश-संस्थापक थे। ईरान के डेरियस अथवा दाराशाह ने तथा अन्य भी आदिम ईरान वासियों ने इन्हें निकालने की भी कोशिश की थी।

स्कन्धनाभ में बस जाने के समय उनका नाम असि भी पड़ गया। यह नाम उस समय पड़ा जब कि इन्होंने जटलैण्ड व यूटलैण्ड नामक नगर बसाये। 'एड्डा' में लिखा है—"स्कन्ध नाभ में प्रवेश करने वाले जेटी अथवा जट लोग असि नाम से विख्यात थे, उनकी पूर्व बस्ती असिगर्ड थी।" असिगर्ड व असीगढ़ नीमाड़ (भारत में) हैं।

तुरक व तुरुष्क देश

उत्तर भारत का वह देश जो हिन्दूकुश से लगा कर कास्पियन सागर और जग जार्टिस तोरिम नदी तक फैला हुआ है, तुर्किस्तान कहलाता है। इस सारे प्रदेश में किन्हीं दिनों जाट फैले हुए थे। पुराणों के अनुसार यह सारा देश तुरुष्क को मिला था। आज कल तुरक के माने लोग मुसलमान के समझते हैं, किन्तु वास्तव में तुरक तुरुष्क

१—'हिन्दी टाड राजस्थान' बम्बई का छपा अध्याय ४ देखो। २—टाड परिशिष्ट अध्याय ६।

की सन्तान आर्य थे और इस्लाम के आगमन पर तथा हिन्दू-धर्म की संकुचितता से वह मुसलमान हो गए। बौद्ध-धर्म की अहिंसा ने भी उन्हें मुसलमान होने में पूरी सहायता दी। सीतामढ़ी, उद्यान, विराट आदि प्रसिद्ध नगर इसी में थे, जो आज समय के फेर से शहबाजगढ़ी, यूसफजई और तख्तबाही कहलाते हैं। जनरल एवट ने सन् १८५४ ई० में तख्तबाही को देखा था, उसमें एक विशाल राज-मन्दिर के चिह्न अब तक पाये जाते हैं। कादम्बरी के चन्द्रापीड़ का विवाह यूसफजई (उद्यान) में हुआ था। इस प्रदेश के महान् योद्धा तोमरिस (तोमरसैन व तोकऋषि) ने साइरस से युद्ध किया था। साइरस ने पहिले तो जाटों की सहायता से मीडिया को परास्त कर के पारसी साम्राज्य की नींव डाली थी, पुनः उसने जाटों से भी युद्ध छेड़ दिया। वीर तोमरिस ने उनके छक्के खुरासान के पूर्वी उत्तर हिस्से पर छुड़ा कर वापिस लौटा दिया था। उद्यान के सम्बन्ध में जनरल कनिंघम लिखते हैं:—

I can hardly suppose that these advantages for securing an artificial supply of water in British Yusufzai were lost sight of by the practical Hindus who held the country for many generations before the conquest of Mahmud of Ghazni brought in the rapacious Musalmans. Cunninghan Vol 5, 3. The bread and fertile valley of Swot river is known to be the rich in ancient remains but it is regretted that it is in accessible to Europeans. Cunningham Vol 5, 1.

अर्थात्—*महमूद गजनवी के सर्वनाशी आक्रमणों के समय से इन निरुद्यमी यवनों के हाथ में 'उद्यान' एक सूखा व निर्धन व निर्जन ही नहीं, प्रत्युत खानाबदोशों का समूह बन गया है। बुद्ध-समय की सभ्यता के चिह्न यहाँ अब भी बहुतायत से हैं।*

जोहन नदी के किनारे पर रहने वाली यूची जाति पीछे से जेटा व पेटन कहाने लगी। एशिया के इस प्रान्त में इनका बहुत समय तक अधिकार रहा। पाण्डव वज्र को लेकर इसी देश में पहुँचे थे, ऐसा कर्नल टाड मानते हैं। हमारा अपना मत है, साथ ही अन्य लोगों का भी मत है कि कुशान लोग कृष्ण वंशी थे और कार्ष्णिक (कृष्णान) से कुशान शब्द बना है। चौधरी धनराजजी डिप्टी कलक्टर और चौधरी रामलालजी हाला भी ऐसा ही मानते हैं। 'जाट वंशोत्पत्ति' सम्बन्धी पुस्तक में हालाजी ने 'पृथ्वीराज्य विजय' संस्कृत के हवाले से कुशान वंशी महाराज कनिष्क को जाट बताया है। वास्तव में यह बिल्कुल सही बात है भी। यदि महाराज कनिष्क आर्य वंश संभूत न होते तो भारतीय सभ्यता का प्रचार करने की बजाय हूणों की भाँति उसका ध्वंश करते।

हेरोडोटस ने लिखा है कि—*मध्य एशिया की वड़ी जेटी जाति में अश्व-मेध का रिवाज था और संक्रांति के शुभ अवसर पर यह महोत्सव उनके यहाँ होता था* (पारसी लोगों में तो अश्वमेध नहीं होता फिर हेरोडोटस किस आधार पर उन्हें शाक ही पुकारता है। ले०) मध्य एशिया में एक अश्व जाति भी जाटों के पड़ोस में रहती थी, यह वाजस्त्र की संतान के लोग कहे जाते थे। लेकिन पिंकर्टन ने यूरोप में जाटों के साथ सुएवी, कट्टी, केम्ब्री और हेमेन्द्री आदि ६ जातियाँ वताई हैं। यह सब एल्प और वेजर नदी के किनारे तक फैल गई थीं। वहाँ उन्होंने युद्ध के देवता महादेवजी के नाम पर एक विशाल स्तंभ खड़ा किया था। अनेक इतिहास लेखकों ने अपनी अपनी मति से उसे मंगल अथवा बुद्ध का स्तंभ बताया है। यह छः जातियाँ भारत में क्रम से अहीर, काछी, कुर्मी, हेमेन्द्री कहलातीं हैं। वास्तव में जाटों का और अहीर काछियों आदि का प्रारम्भ से निकट रहना और निकटतम सम्बन्ध पायाजाता है। वे, ये एक ही स्टाककी जगजार्टिस के किनारे की रहने वाली जातियाँ थीं। जाटों ने यूनान में जर्कसीज को और अर्वेला में दारा को रथों की सेना की सहायता दी थी। इस सेना में १५ हाथी और २०० रथ थे। कर्नल टाड ने हेरोडोटस के आधार पर लिखा है कि इन लोगों से युद्ध करने के लिए सिकन्दर ने स्वयम् कमान की थी वे अपनी भुजाओं के बल से यूनानियों को प्रत्येक आचरण में विफल कर देते थे। उन्होंने सिकन्दर की पर्मिनियो की कमानवाली सेना को अस्तव्यस्त कर दिया था जिससे वह दूसरी सेना उनसे भिड़ने के लिए भेजनी पड़ी थी। प्रत्येक जाट ने वह पराक्रम दिखाया कि मानो वह जीत की पक्की अभिलाषा रखता है किन्तु अर्वेला के युद्ध में दारा को पराजय वदी थी। काठी लोग भी इस युद्ध में बड़ी वहादुरी से लड़े थे।

डिडगनीज ने पुराने प्रमाणों के आधार पर सिद्ध किया है कि जिस समय जट जाति पर सू लोगों ने चढ़ाई की तो उस समय उनके सौ से अधिक ऐसे नगर थे जिनमें उन्हें भारत की सौदागरी की वस्तुएँ और उन लोगों में जो सिक्के प्रचलित थे उन पर उन्हीं के राजाओं की मूर्तियां अंकित थीं। मध्य एशिया की यह दशा सन् ईस्वी से बहुत पहिले थी। जो इन देशों में होने वाली लड़ाइयों से वरवाद हुई। जिसका निदर्शन यूरोप में नहीं पाया जाता और जिसके कारण यह देश उजाड़ हो रहा है और इस काल में जैटिक जाति की तैमूर के साथ तथा उसके लोभी पूर्वजों की लड़ाई से निदर्शन होगी।

तुरुष्क देश में वसने वाले जाटों ने बड़ी समृद्धि प्राप्त की थी। उन्होंने बड़े बड़े नगर बनाये थे। राजनियमों का संग्रह किया था वे व्यापारिक धन्धों में भी उन्नति कर रहे थे। उनका राज्य उस समय सभ्यता और ऐश्वर्य में किसी से कम न था। नगरों में वाजार, नदियों में नावें, सेना में हाथी, रथ, घोड़े, उत्सवों में यज्ञ, धार्मिक विश्वासों में एकेश्वर-पूजा उनके वैभव सम्पन्न, योग्य-शासक, युद्ध-कुशल,

सुसभ्य और वैज्ञानिक होने के प्रमाण हैं। इनके देश में चंगेजखाँ की चढ़ाई के समय तक बड़े बड़े नगर विद्यमान थे। उस समय मध्य एशिया में तुरुष्क देश के जाटों की सभ्यता सर्व श्रेष्ठ थी। कर्नल टाड इन जाटों के सम्बन्ध में लिखते हैं कि– *"साइरिस के समय में ईसा से ६०० वर्ष पहिले इस बड़ी गोटिक जाति के राजकीय प्रभाव की यदि हम परीक्षा करें तो यह बात हमारी समझ में आ जायगी कि तैमूर की उन्नत दशा में इन जातियों का पराक्रम-ह्रास नहीं हुआ था। यद्यपि २० शताब्दी का समय व्यतीत हो चुका था।"*

एक बात और भी हमें बता देनी है। यूनानी लेखकों ने इन जाटों को चगताई करके लिखा है जोकि उन्होंने सकताई (शक लोग) से बनाया है। अबुलफजल गाजी ने मुगलों के वर्णन में मुगलों को भी आर्यवंश से बनाने की चेष्टा की है। काश्मीर से ऊपर के प्रदेश के लोग अपने नाम के पीछे खान की उपाधि इस्लाम के आने के पूर्व ही लगाने लग गये थे। फाहियान चीनी यात्री को ईदुलखाँ नाम का सरदार इस देश में मिला था जोकि बहुत दिन के बाद मुसलमान हुआ था। शायद सैन, चन्द और दत्त की भाँति खान भी कोई शब्द था और यथा संभव सैन से जैसे सिंह की प्रथा चली वैसे ही सैन से भारत के उत्तर में पैन, खैन और खान बोलने और लिखने की प्रणाली पड़ गई। ज्यों-ज्यों उद्यान से ऊपर के जाटों का भारत के जाटों से सम्बन्ध कम होता जाता था त्यों ही त्यों भाषा और व्यवहारों में भेद हो गया। हिन्दु-कुश की ऊंची चोटियों ने पहिले से ही उन्हें अलग तो कर ही रक्खा था किन्तु ई० पूर्व ६०० वर्ष (साइरस के समय) से उन्हें संघर्ष में भी फँस जाना पड़ा। चीन में नित नये राजवंश खड़े होते थे। यूरुप में रक्त की नदियाँ बहाई जाती थीं। तुरष्क देश के जाटों ने चीन के आदिम निवासी, यूनान के नये विश्व विजय के इच्छुक, पर्शिया में उदय होने वाले राजवंशों में सभी से टक्कर लेनी पड़ी। ऐसे ही कारण थे कि सू आक्रमण के समय जहां वह भारत से पूरे सम्बन्धित पाये जाते हैं चंगेजखां के उपद्रव के समय जो कि जाटों से भी आगे रहने वाले तातार देश का था उनका भारत से कोई सम्बन्ध नहीं दिखाई देता है। ईस्वी पूर्व ५०० से भी पहिले वे जेहून और जगजार्टिस को छोड़कर कास्पियन के दाँयें बाँयें किनारे से जर्मनी की ओर बढ़ रहे थे। शेष जो डट रहे थे, उन पर तातारियों की सभ्यता का धीरे-धीरे रंग चढ़ रहा था। किन्तु समय से पहिले ही कुशान वंश ने प्रबलता धारण की और बौद्ध-धर्म का बोल-बाला इनमें हो गया। किन्तु कुशान वंश भी मध्य एशिया में न ठहर सका। वह हिन्द की ओर बढ़ आया और अन्त में तो यह कश्मीर, गांधार और पेशावर तक आ पहुँचा। इस तरह से जाटों का जो उपनिवेश कास्पियन, जेहून, हिन्दू कुश और जगजार्टिश के प्रदेश पर था, वह नष्ट हो गया। कुशान नेता कीर्तिप्रकाश (कैडुफाइसिस) के वंशज गोधार तक्षशिला के सिवा अपने पूर्वजों की भूमि ब्रज (मथुरा) में आगये। जेहून के आस-पास रहने वाले इस्लाम की भेट रहे।

जर्मनी में जो जाट पहुँचे उनका रास्ता या तो कास्पियन के दक्षिणी तटों से हो सकता है अथवा यूराल पहाड़ को पार करके हो सकता है। यह तो निश्चय है कि जर्मनी में जाटों का वह समूह गया जो पर्शिया के उत्तर में आबाद था अथवा जो जहून नदी के किनारे बसता था। और यह दल उस समय से कुछ पहिले ही जर्मनी पहुँच गया होगा जबकि स्कंध नाभ में पहुँचा था। श्री० मैक्समूलर भी जर्मनी में आये रक्त स्वीकार करते हैं। कर्नल टाड कहते हैं—"*घोड़े की पूजा जर्मनी में सू, कटी, सुजोम्बी और जेटी (जाट) नाम की जातियों ने फैलाई है, जिस भांति कि स्कधनाभ में असि जाटों ने फैलाई।*" टसीटस ने लिखा है कि—"*जर्मन लोग घोड़े की आकृति बनी हुई देखकर ही सिक्के का व्यवहार करते थे अन्यथा नहीं। यूरोप के असी जेटी लोग और भारत के अट्टी तत्तक जटी बुध को अपना पूर्वज मानकर पूजते थे।* कर्नल टाड ने भारत के जाट और राजपूत तथा जर्मन लोगों की समानता के लिए निम्न दलीलें पेश की हैं—(*१*) *चढ़ाई करने वालों और इन सब हिन्दू-सैनिक लोगों का धर्म बौद्ध-धर्म था।* इसी से स्केण्डनेविया वालों और जर्मन जातियों और राजपूतों की आचार, विचार और देवता सम्बन्धी कथाओं की सदृशता और उनके वीररसात्मक काव्यों का मिलान करने से यह बात अधिकतर प्रमाणित होजाती है।

जातीय स्वभाव और पहनावा टसीटस के लेखानुसार प्रत्येक जर्मन का बिस्तरे पर से उठ कर स्नान करने का स्वभाव जर्मनी के शीतप्रधान देश का नहीं हो सकता, किन्तु यह पूर्वी देश का है और दूसरी रीति-नीति जातीय स्वभाव सीथियन, सुर्पवी, जरकटी, किम्ब्री जाति के मिथ्या विश्वासों का हुआ होगा जो उसी नाम की जेटी जातियों के सदृश ही हैं जिनका वर्णन, हेरोडोटस, जस्टिन और स्ट्राबो ने किया है और जो व्यवहार राजपूत शाखा में अब तक विद्यमान हैं।

अब हमें वह समानता मिलानी उचित है जो इतिहास से धर्म और आचार के विषय में पाई जाती है। सब से प्रथम धर्म-विषयक समानता की आलोचना करते हैं। देववंश अथवा देवोत्पति—जर्मनियों के आदि देवता टुइसटो, मरक्यूरी (बुध) और आर्था (पृथ्वी) थे।

सुयोनी सुएवी (शैवी) जो स्कंधनाभ की जेटी जातियों में सब से अधिक बलिष्ट जाति थी यह बहुत से सम्प्रदाय व जातियों में धर्मसम्बन्धी रीति विभक्त हो गई। जिन में सेमू (यूती व जिट) अपनी बस्तियों में आर्था को बलि देते थे और आर्था का रथ एक गाय खींचती थी।

प्रसिद्ध इतिहास लेखक टसीटस कहता है कि पहिले जरमनी के लोग लंबे और ढीले कपड़े पहना करते थे। सबेरे बिस्तरे पर से उठते ही हाथ मुंह को धालते

थे। दाढ़ी-मूंछों के बाल कभी नहीं मुड़ाते थे और सिर के बालों की एक वेणी बना कर गुच्छे के समान मस्तक के ऊपर गाँठ भी बाँध लेते थे।

इसके अतिरिक्त इनके नित्य नैमित्तिक और और कार्यों का जो वृत्तान्त पाया जाता है उससे विदित होता है कि कदाचित यह लोग शाक द्वीप के जिट, कठी, किम्बरी और शेवी एक ही वंश के हैं। यद्यपि टसीटस ने यह स्पष्ट नहीं लिखा कि जरमनी की आदि निवासी भूमि भारतवर्ष में थी परन्तु वह यह कहता है कि जिस जरमनी में रहने से शरीर के प्रत्येक अंग विकल हो जाते हैं उस जर्मनी में बसने को एशिया के एक गर्म देश को छोड़ना क्या बुद्धिमानी का काम है। इससे यही निश्चय पूर्वक कहा जा सकता है कि एशिया का कोई देश उनका आदि स्थान था। और टसीटस को उसका वृत्तान्त विदित था। आर्य्य वीर राजपूत गण अपनी गृह-लक्ष्मियों के साथ जैसा श्रेष्ठ व्यवहार करते हैं प्राचीन जर्मन वाले तथा स्कंधनाभ वाले और जाट लोग भी अपनी नारियों के साथ ठीक वैसा ही व्यवहार करते थे। जर्मनी और स्कंधनाभ, असी लोगों के वीरों का जट-कुल से उत्पन्न होने का प्रमाण उनकी सुरा-प्रियता का विचार करने से ही हो जाता है। (भारतीय जाट तो सुरा नहीं पीते थे। ले०)।

इतने प्रमाणों के बाद यह तो साबित हो ही जाता है कि जर्मनी में जाट पहुँचे और उन्होंने अपना उपनिवेश स्थापित किया। लेकिन कर्नल टाड ने यह साबित करने की चेष्टा की है कि जाट इण्डो-सिथियन हैं और राजपूत उनका रूपान्तर हैं। इसमें हेरोडोटस जैसे लेखकों ने जो कि भारत की अपेक्षा शाकद्वीप के जाटों से अधिक परिचित तथा सहमत हो कर यह भूल अवश्य की है कि जाट और राजपूतों की जन्म-भूमि भारत के बजाय ईरान अथवा आल्पस के किनारे को माना। इन बातों का हम पीछे काफी वर्णन कर चुके हैं कि जाट चाहे संसार में कहीं भी मिलता हो, उसकी जड़ भारतवर्ष में है।

जर्मनी में ये जाट समुदाय अपने अन्य समकक्ष क्षत्रिय दलों के साथ जैसा कि हम पहिले लिख चुके हैं कि ईसा से लगभग ५०० वर्ष पहिले पहुँचा था और यूरोप के अन्य देशों इटली, यूनान आदि पर जो उनके आक्रमणों का वर्णन यूरोपीय इतिहास में मिलता है उनमें पूर्वी-पश्चिमी दो नामों से प्रसिद्ध होने वाले जाट-दलों में अधिकांश स्कन्ध नाभ और जर्मनी वाले ही शामिल थे। इसमें भी सन्देह नहीं कि जाट जिस किसी भी देश में गये वहाँ पर उन्होंने उस देश की सभ्यता को नष्ट न किया; किन्तु जो अच्छी बातें थीं उनको उन्होंने ग्रहण कर लिया। वह अधिक झगड़ालू नहीं थे; किन्तु वे सीमा स्थापित करने और अपना स्वतन्त्र राज्य बनाने के इच्छुक अवश्य थे। कहीं भी इन्होंने आलस्य का प्रचार नहीं किया। युद्ध के समय में वह सैनिक और शान्ति के समय में सुयोग्य शासक साबित होते थे। उन्होंने जितना हो सका, अपनी सभ्यता का भी यूरोप में प्रचार किया। कहा जाता है कि यूरोप वालों को भैंसों से काम लेना जाटों ने ही सिखाया था। इसके
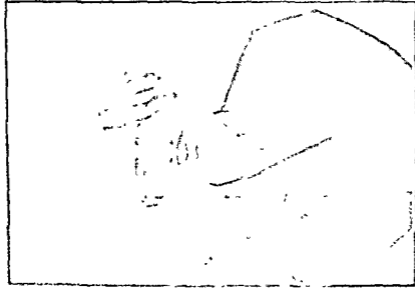
कुं० कन्हैयासिंह जी
पूना की ढाणी, जैपुर।

जीराम जी कप्तान
(सूबेदार नौरंगसिंह जी के पिता)

कुं० जालूराम जी सूबेदार
४/६ राजपूताना राइफिल्स कुलोद, शेखावाटी।
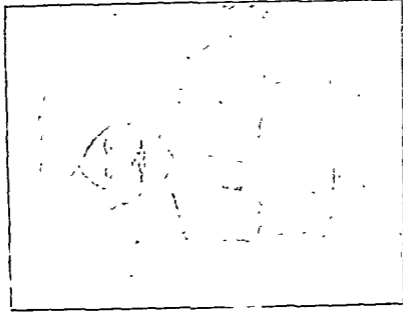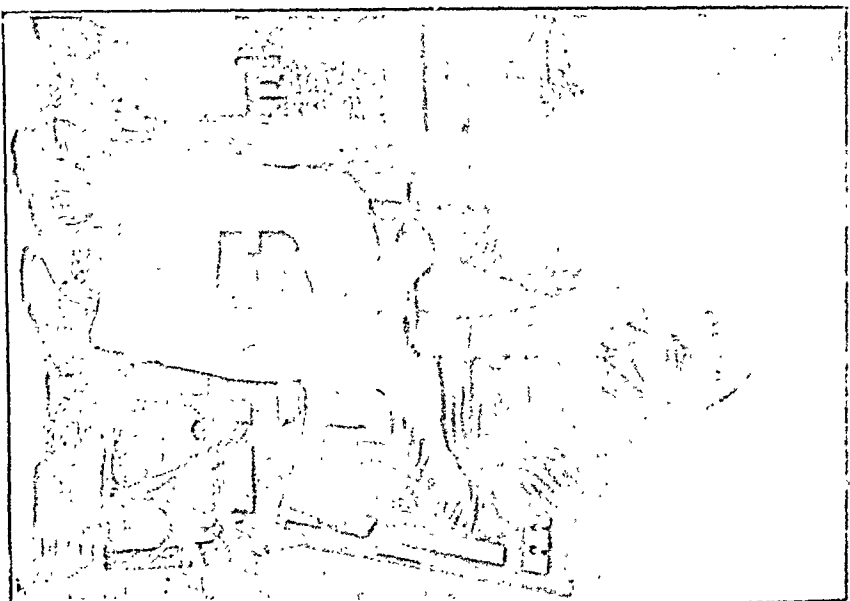
चौ० घासीराम जी खारियावास, जैपुर ।
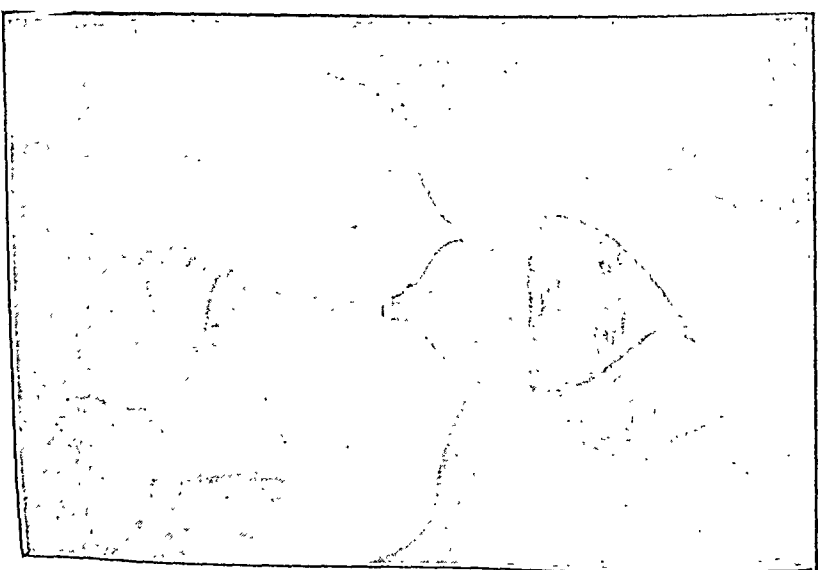
चौ० वुधराम जी पिलानियां–गांव अमरपुरा, नायव तहसीलदार (वीकान

अलावा तलवार की पूजा और सरदार के निर्वाचन की प्रथायें, मुर्दों को जलाने की रिवाज का भी प्रचार किया। शैलम के किनारे जो स्तूप उन्होंने खड़ा किया था, वह इनकी कीर्त्ति का तो द्योतक है ही, साथ ही यह भी बताता है कि वे अपनी सभ्यता के प्रचारक और प्रेमी थे। ऐसा कहीं यूरोप के युद्धों में वर्णन नहीं मिलता कि जाटों ने पराजित देश के स्त्री, बच्चों तथा पुरुषों को दास बनाया हो अथवा उन्हें कत्ल किया हो। ईसाई धर्म के प्रबल अंधड़ में वह अवश्य ही भारत से बहुत दूर रहने के कारण देश-काल की परिस्थिति के अनुसार अपने पुराने वैदिक व बौद्ध धर्म को ईसवी चौथी, पाँचवीं शताब्दी में छोड़ बैठे; किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि उन्होंने भारत के सिर को इस बात के लिए ऊँचा कर दिया कि उसके पुत्रों ने जर्मनी जैसे प्रबल राष्ट्र पर बसन्ती झण्डा फहराया था और आज भी जर्मन नागरिकों के रूप में अपने देश का माथा ऊँचा कर रहे हैं।

रूम

रूम की ओर जाट (गाथ) लोगों ने २५० ई० से बढ़ना शुरू किया था। यद्यपि जाट रूम से ईस्वी सन् से पूर्व कई शताब्दी से परिचित थे डेरियस के साथ ईसा से ५०० वर्ष पहिले रूम के पड़ोसी यूनान पर आक्रमण किया था। सिकन्दर का भी उन्होंने फारिस के मदानों में मुकाबिला किया था। रोम में कई बार में जाकर इन्होंने बस्तियाँ आबाद करलीं थी। रोम उस समय गृह कलह में भी फँसा हुआ था। वे उत्तम सैनिक तो थे ही, इसलिये आक्रमणों से पहिले रूम की सेना में स्थान भी पा चुके थे।

३७४ ई० में मध्य यूरोप के लोगों पर एशिया से आई हुई, वर्वर जाति के हूणों ने आक्रमण किया। नीस्टर नदी के पास भयँकर युद्ध के बाद जाटों को आगे बढ़ने को विवश होना पड़ा। रोम सम्राट वैलेंन्स की सहमति से उन्होंने बालकन प्राय द्वीप में डान्यूब नदी के किनारे अपना जानपद स्थापित किया और भारी संख्या में वहाँ बस गये। कुछ ही दिन के बाद रोम के सम्राट ने उन्हें निकालने के लिये छेड़ छाड़ आरंभ कर दी। भला परिश्रम-पूर्वक आबाद किये हुए देश को वह कैसे छोड़ सकते थे। कसमकस यहाँ तक बढ़ी कि पूर्व-मित्रता के भाव नष्ट हो गये और युद्ध छिड़ गया।

३७८ ई० में सम्राट् वेलिन्स ने रोमनों की एक बड़ी सेना के साथ गाथों (जाटों) पर आक्रमण कर दिया। बड़ा घमसान युद्ध हुआ। किन्तु एड्रियानोपल नगर के पास गाथों के एक घुड़ सवार दल ने रोमन लोगों को करारी परास्त दी। रोमन भाग खड़े हुए। सम्राट सख्त घायल हुआ और युद्ध भूमि में ही मारा गया। गाथों के नेता की भी इसी समय मृत्यु हो गई। साथ ही प्लेग भी फैल गया। इससे वह अपनी विजय पर हर्ष-उत्सव न मना सके।

सम्राट वेलिन्स के उत्तराधिकारी सम्राट थियोडोसियस ने भी शासन भार हाथ में आते ही जाटों पर चढ़ाई की किन्तु अन्त में उसे गाथों (जाटों) से सन्धि करनी

पड़ी। इस सन्धि के अनुसार थ्रेस और एशियाई माइनर में बहुत सी भूमि उसे उनको देनी पड़ी। जाटों ने भी बदले में रोम को चालीस हजार सेना की सहायता देना स्वीकार किया। यद्यपि यह सेना रोम के अधीन समझी जाती थी किन्तु उसके अफसर ज़ाट ही थे। इससे सम्राट दिल में शंकित भी रहता था, पर जाटों ने ईमानदारी पूर्वक सन्धि को निभाया। ३९५ ई० में सम्राट थियोडोसियस मर गया। उसने अपने दो पुत्रों को अपना राज्य बाँट दिया था। बड़ा पुत्र आर्केडियस पूर्वी भाग का मालिक था। राजधानी उसकी कॉंस्टेन्टाइन थी। दूसरा पुत्र होनोरियस पच्छिमी भाग का अधिकारी हुआ और मिलन में राजधानी रक्खी। इस समय गाथ लोगों से दोनों सम्राटों का सम्बन्ध हो गया था। गाथों का प्रसिद्ध नेता एलरिक इस समय अधिक प्रसिद्ध था। उसने पहिले तो रोम के पूर्वी भाग को जाटों के अधिकृत करने के अभिप्राय से चढ़ाई की किन्तु कान्स्टेण्टीनोपुल की सुदृढ़ दीवारों को उसकी सेना न भेद सकी। अतः उसने मिलन पर चढ़ाई की। होनोरियस सम्राट् के वंडाल सेनापति स्टिलाइको से मुकाविला हुआ। विशेष तयारी न होने के कारण एलरिक की हार हुई। किन्तु एलरिक हताश होने वाला व्यक्ति न था। सन् ४०८ ई० में दुवारा चढ़ाई करदी। वादशाह ने कुछ वायदे उसके साथ ऐसे किये जिससे उसे घेरा उठा लेना पड़ा। किन्तु वादशाह ने वायदे को पूरा न किया। इसलिये एलरिक ने तीसरी वार इटली को फिर घेर लिया। रोमन लोग हार गए, शहर पर जाटों का अधिकार हो गया। एलरिक ने इटली के दक्षिणी भाग को भी विजय करने की इच्छा से चढ़ाई की, किन्तु वहाँ वह वीमार होकर मर गया। यद्यपि गाथ नेता-विहीन होगए थे, फिर भी वे दृढ़ रहे, और अटाल्फस (अतुलसैन) को अपना राजा वनाया। रोम के पूर्वी भाग का सम्राट् थियोडोसियस गाथ (जाटों) से वहुत डरा हुआ था। उसने गाथों से निश्चिन्त होने के लिये यही उत्तम समझा कि अपनी लड़की की शादी अटाल्फस (अतुलसी) के साथ करदी। इस तरह से जाट और रोमन्स लोगों का रक्त सम्बन्ध स्थापित होगया।

यह रोमन लड़की वड़ी स्वजाति-भक्त थी, यद्यपि वह जाटों के घर में आ गई थी, किन्तु चाहती यही थी कि रोमन लोग जाटों से निर्भय हो जावें, इसलिये उसने गाथों को सलाह दी कि इटली से वाहर अपना साम्राज्य स्थापित करें। उसकी सलाह के अनुसार गाथों (जाटों) ने स्पेन और गाल के बीच में अपना साम्राज्य स्थापित किया जो ३०० वर्ष तक कायम रहा।

सन ४४६ ई० में हूणों ने एटिला की अध्यक्षता में रोम का ध्वंश करते हुए गाल पर आक्रमण किया जो कि रोमन और गाथों का सम्मिलित प्रदेश था। इस समय रोमन और गाथों ने एटिला का सम्मिलित शक्ति के साथ मुकाविला किया, हूण हार गए और एटिला को निराश होना पड़ा।

यूरोप में जाटों (गाथों) को ट्यूटानिक जाति में (दल) गिना गया है। हमारी समझ से प्रजातंत्री अथवा शक्ति संपन्न होने के कारण उन्हें यह नाम

दिया गया है। तांत्रिक शब्द से भी ट्यूटानिक बन सकता है, इन ट्यूटानिक लोगों में गाथ, फ्रैंक, डेन, ऐंगल तथा सैक्सन आदि हैं।

यह ट्यूटानिक जातियाँ स्कंधनाभ और राइन प्रदेश में बसी हुई बताई गई हैं। यहाँ से उठ कर काला सागर और डान्यूब में बसने वाले लोगों को गाथ (जाट) कहा गया है।

इन लोगों को प्रजातंत्री बताया गया है। स्थानीय झगड़ों का फैसला नगर के मुखिया लोग ही इनके यहाँ करते थे, ऐसा यूरोप वालों का कथन है। ग्रामों में पंचायतों और प्रान्त में जनसभा के द्वारा शासन करते थे। इनकी सभाओं में सरदार और नागरिक की राय का मूल्य बराबर था। इनके युवक लोग किसी सरदार के पास रह कर सैनिक-शिक्षा प्राप्त करते थे, इससे सरदारों और युवकों में घनिष्ठ सम्बन्ध रहता था। प्रायः एक-एक योद्धा के पास बीसियों युवक होते थे।

धर्म में ये प्रकृति के उपासक थे, ऐसा यूरोप वालों का अनुमान है। वे कहते हैं, ये वृक्षों और गुफाओं की भी पूजा करते थे। इनमें कोई अलग पुजारी-दल न था। प्रायः सभी लोग चौपाये पालते थे। खेती करना इन्हें बहुत पसन्द था और शिकार भी खेलते थे। ये लोग सटी हुई बस्तियाँ पसन्द नहीं करते थे। नगर दूर दूर और खुले मैदान में बनाते थे। इस कारण स्वस्थ और बलवान रहते थे। इनके लम्बे कद, उज्ज्वल रंग बलवान शरीर तथा सुर्ख चेहरे को देख कर रोम वालों पर बहुत प्रभाव पड़ा। लड़ने को तो यह अपना पेशा समझते थे। सत्य-प्रियता के लिये बहुत प्रसिद्ध थे१।

इटली के जाट पूर्वी गाथ कहलाते थे और स्पेन की ओर बसे हुए पश्चिमी गाथ के नाम से रोमन लोगों द्वारा पुकारे जाते थे। ४८६ ई० में पूर्वी गाथों के सरदार थियोडेरिक (देवदारुक) ने इटली पर आक्रमण किया। ४ वर्ष की निरन्तर लड़ाई के बाद इटली के तत्कालीन सम्राट् ओडोवकर ने इटली का आधा राज्य देकर गाथों से सन्धि कर ली। थोड़े ही दिन बाद थियोडोरिक (देवदारुक) ने ओडोवकर को मरवा कर सारी इटली पर गाथों का अधिकार जमा दिया। रोमन लोगों के साथ उसने सख्त व्यवहार न करके उन्हें इतना सुख दिया कि ये यह कहने लग गये कि खेद है कि 'जाट इससे पूर्व ही हमारे यहाँ क्यों न आये।' बड़े-बड़े पदों पर रोमनों को नियुक्त किया। नगर, सड़क, बाग-बगीचे, सड़क और नहरों की मरम्मत कराई। कृषि और उद्योग-धन्धों की वृद्धि के लिए उत्तेजन दिया। तेतीस वर्ष के अपने राज्य-काल में उसने इटली को कुबेरपुरी बना दिया। इसके अलावा पड़ोसी जर्मनों से विवाह सम्बन्ध करके साम्राज्य की नींव को और भी मजबूत किया। इतने अच्छे जाट

१—यहाँ वाले तो भारत के जाटों में हैं, ये पीपल और छोंकर को पूजते हैं। पुजारियों का दल तो भला उनके साथ विदेश जाना ही क्यों ? (ले०)

सरदार की ५२६ ई० में मृत्यु हो गई। उससे जाट (गाथ) और रोमन सभी को बड़ा दुख हुआ। इटली के पूर्वी गाथों का यह सब से बड़ा और लोक-प्रिय सरदार था। उसके बाद सन ५५३ तक उसके वंशजों के हाथ में इटली का राज्य रहा। इसी सन् में उनके हाथ से रोमन सम्राट् जस्टिनियन ने इटली का राज्य छीन लिया।

पश्चिम के जाट लोगों ने दक्षिणी गाल और स्पेन पर अधिकार कर लिया था, यह पीछे लिखा जा चुका है। आठवीं शताब्दी तक उन्होंने वहाँ बड़ी निर्भयता और सफलता के साथ शासन किया। बीच में फ्रेंक राजाओं से उन्हें युद्ध करने पड़े थे और हानि भी रही थी। किन्तु मेरेसिन लोगों ने आठवीं शताब्दी के मध्य में प्रबल आक्रमणों से उनके राज्य का अंत कर दिया। इस तरह रोम से जाटों का साम्राज्य जाता रहा। किन्तु उन्होंने आशा को न छोड़ा! इस समय के स्पेनिश में केल्ट, रोमन, गोथ तथा मूर कई जातियों का मेल है। जस्टिनियन ने गाथों से इटली के पूर्वी-पच्छिमी हिस्से को जीतने के बाद अन्य देशों पर भी चढ़ाइयां कीं, साथ ही बहुत सी इमारतें भी बनवा डालीं जिससे उसका ख़जाना खाली हो गया। प्रजा में आर्थिक कष्ट बढ़ जाने से लोग जाटों के राज्य की याद करने लगे। इस असन्तोष से लाभ उठाने का गाथों ने फिर एक बार प्रयत्न किया और टोटिला (तोतिला) नाम के एक वीर सरदार की अध्यक्षता में इटली पर आक्रमण किया। टोटला बड़ा न्यायी और वीर था, ५३८ ई० में उसने कई लड़ाइयों के बाद इटली पर फिर से जाटों का अधिकार कर दिया। १४ वर्ष तक गाथ लोगों का सितारा इटली में चमकता रहा। ५५२ ई० में उनके विरुद्ध रोमनों ने फिर से तलवार उठाई। टोटिला बड़ी बहादुरी के साथ लड़ा, उसके बहुत से घाव आये जिनके कारण थोड़े ही दिनों में वह इस संसार से चल बसा। गाथ लोग फिर भी कई बार रोमनों से लड़े किन्तु बार बार के युद्धों के कारण उन्हें इटली छोड़ना पड़ा, और आलपस को पार कर के पच्छिमी जाटों में जा मिले। इटली में उनका कुछ भी अस्तित्व न रह गया।

उस समय यूरोप में एक नया धर्म खड़ा हुआ था जिसका नाम महात्मा 'यीशु' के नाम पर ईसाई धर्म था। इस धर्म के प्रति–यीशु को फाँसी के पश्चात्–लोगों के हृदय में सहानुभूति पैदा होगई थी। इसके सिद्धान्त भी बौद्ध-धर्म से मिलते-जुलते थे। इसलिये गाथों पर भी जो कि अपनी मातृ-भूमि भारत से सदियों से दूर हो चुके थे, ईसाई-धर्म का प्रभाव पड़ गया और वे बारहवीं सदी तक सब के सब ईसाई हो गये। यदि भारतीय उपदेशक पौराणिक धर्म की आज्ञा के प्रतिकूल विदेश यात्रा करते रहते तो बहुत सम्भव था, कि भारत से गई हुई जाट, कट्टी, सुऐवी, स्लाव, जातियाँ ईसाई न हुई होतीं। यूरोप के इतिहास में लिखा हुआ है कि गाथ तथा वण्डाल पहिले आर्यन मत के अनुयायी थे।

नौ वीं सदी तक गाथ, वरगंडी आदि जातियाँ अपनी पुरानी भाषा को भी भूल गईं थीं। ग्यारह वीं सदी में रोम के कानूनों के आगे वह अपने कानूनों को भूल चुकीं थीं। अपराध की जाँच के लिये वे अग्नि-परीक्षा और जल-परीक्षा लिया करते थे। गर्म तवे अथवा जल में हाथ डलवा कर, अपराध जानने की उनमें वैसी ही प्रथा थी, जैसी कि भारत में थी।

स्पेन, गाल

यह पीछे लिखा जा चुका है कि थियोडोसियस की पुत्री के साथ अटाल्फस जाट नेता के शादी कर लेने पर उन्होंने स्पेन और गाल के प्रदेशों पर जाकर कब्जा कर लिया था। हूणों ने भी इस प्रान्त पर चढ़ाई की थी किन्तु वह असफल लौटे थे। सन् ७११ ई० में तरीक की अध्यक्षता में मुसलमानों ने स्पेन के गाथ लोगों पर चढ़ाई की, उस समय उनका नेता रोडरिक (रुद्र) था, वह युद्ध में हार गया और वर्वर अरबों का स्पेन और गाल पर अधिकार हो गया[१]।

जटलेंड—इस देश में स्कंधनाभ के जाट गये थे और इनके सरदार जिनके साथ यहाँ से अन्य देशों में पहुँचे थे हेंगिस्ट और होरसा नाम के दो महान-वीर थे। यह जटलेंड में असिवंश से मशहूर हुए थे।

स्काटलेंड—में होरसा और हेंगिस्ट के साथ अनेकों जाट समूहों ने सागर पार करके प्रवेश किया था। कहा ऐसे जाता है कि यूरोप के सभी देशों में ट्रांसकोसियाना से जाट फैले हैं।

समोस द्वीप—यह द्वीप एजियन सागर में है। एशियाई रूम के ठीक पच्छिमी किनारे पर बसा हुआ है। यहाँ जो जाट समूह गया था वह जौथी (XUTHI) कहलाता था। मि० क्रुक साहब ने 'ट्राइब्स एन्ड कास्टस आफ दी नार्थ वेस्टर्न प्राविन्शेज एन्ड अवध' नामक पुस्तक में लिखा है—

Their course from the Oxus to Indus may, perhaps, be dimly traced in the xuthi of, Dianosius of, Samos and the xuthi of Ptolemy who *occupied the Karmanian desert on the frontier of* Dranginia.

इसी बात को जनरल कनिंघम साहब ने अपनी तवारीख में इस भाँति लिखा है—

Xuthi of Dianosius of Samos were Jatii or Jats, who are coupled with the Arieno and in the Xuthi of Ptolemy, who occupied the Karmanian *desert on the frontier of* Drangiana. (Cunningham Vol. II P. 55.)

१—रोम, स्पेन और गाल के जाटों का प्रायः सारा वर्णन रामकिशोर मालवीय के यूरोप के इतिहास के आधार पर लिया है।

अर्थात्—सामोस के डाईनीसीअस के जूती जटी या जाट थे जो ऐरीनी से प्टोलेमी के जूथी में मिल गये, जिन्होंने ड्रेनजिआना के सीमांत के करमानिया के ऊसर पर अधिकार कर लिया।

टर्की और सीरिया—टर्की और सीरिया की सीमा पर खानकेन स्थान है, उसमें जिप्सी नाम की जाति अब तक पाई जाती है जोकि जाट का रूपांतर है।

Jats expelled to Khani Kin on the Turkish Frontier and to the Frontier of Syria. (H. P. Vol. II P. 79).

मिस्र के एक हिस्से ईजिप्ट का नाम जिप्सी नाम के जाटों के बसने के कारण पड़ा है। ऐसा कहा जाता है कि खानकेन स्थान से ही ईजिप्ट में यह लोग पहुँचे थे।

विश्व विजयी सिकन्दर के देश ग्रीस में भी जाटों ने अपना उपनिवेश स्थापित किया था, यद्यपि इस समय ग्रीस में उनका अस्तित्व नहीं पाया जाता; किन्तु उसके मोरिया (Morea) के निकट ज्यूटी (Zouti) द्वीप के निवासी जाटों के उत्तराधिकारी हैं।

ग्रीस

सीरिया अरब का पड़ोसी देश है। रूम भी अरब से अधिक दूर नहीं, जब इन देशों में जाट पहुँच चुके थे तो यह कैसे हो सकता था, कि वे अरब न पहुँचते। कुछ लोगों का तो अनुमान है कि अरब का कुरेश खान्दान ही भारतीय है। कौरवों की सन्तान के लोग कौरवेश कहलाते थे। कौरवेश शब्द से कुरेश बन जाना कठिन नहीं है। हमें यहाँ केवल जाटों के ही सम्बन्ध की चर्चा करनी है। अरबी लोग जाटों को जट व जत नाम से पुकारते थे। उन्हें जाटों के सम्बन्ध में प्लिनी और प्टोलमी आदि यूरोपियन लेखकों की भाँति जाटों के सम्बन्ध में यह भ्रम न हुआ था कि जाटों का आदि निकास शाकद्वीप है। वे जाटों के सम्बन्ध में जानते थे कि जाट भारतीय हैं। यही नहीं किन्तु जाटों से सम्बन्ध होने के कारण वे सारे हिन्दुओं को जाट नाम से पुकारते थे[१]।

अरब

हज़रत मुहम्मद के साथ भी जाट रहते थे, ऐसा एक हदीस के लेख में वर्णन है। अब्दुल्लाह बिनमसऊद सहाबी ने हजरत मुहम्मद के साथ जाटों को देखा था। 'तिरमिजी अबवाबुल इम्साल' अरबी ग्रन्थ के आधार पर मौलाना सैयदसुलेमान नदवी साहब ने भी 'अरब और भारत के सम्बन्ध' पर व्याख्यान

१—'भारत के देशी राज्य' और 'मुगल साम्राज्य का क्षय और उसके कारण' नामक ग्रन्थ देखो।

देते हुये इस बात का जिक्र किया है। हम मसऊद सहावी के उपदेशों पर जब ध्यान देते हैं तो पता चलता है कि मसऊद सहावी पर भी भारतीय धर्म का रंग था और वह भी बौद्ध-धर्म का, क्योंकि गोश्तखोरी की सहावी ने कड़ी भर्त्सना की है। यह प्रभाव उन पर बौद्ध जाटों का पड़ा हो तो क्या अचंभे की बात है। हजरत मुहम्मद साहब ने अपनी रक्षा के लिए इन लोगों से मदद ली होगी, क्योंकि आरम्भ में अरब लोग उनके खूब विरुद्ध थे। नदवी साहब ने लिखा है कि "ये बहादुर जाट लोग हवा का रुख देख कर कुछ शर्तों के साथ आकर मुसलमानों के लश्कर में मिल गये। मुसलमान सेनापति ने इनकी खूब प्रतिष्ठा की।" हजरत अली ने जो कि इस्लाम में एक महावीर समझे जाते हैं बसरे के खजाने की रक्षा के लिए जमल वाले युद्ध के समय इन्हीं रणबाँके जाटों को नियुक्त किया था१।

अमीर मुआविया का जब रूमियों के साथ युद्ध छिड़ा और रोमन लोग उन्हें दुर्धर्ष दिखाई दिये तो *अरब की रक्षा के लिये उन्होंने जाटों का सहारा लिया।* और उन्हें शाम देश के समुद्र तट के नगरों में बसाया ताकि वे रोमनों का सामना करते रहें। वलीद बिनअब्दुलमालिक ने भी उनके सहारे से अरब को दुश्मनों के आक्रमण से बचाये रखने के लिये कुछ जाट समूहों को अन्ताकिया में आबाद किया२।

अरब लोग अपने शत्रुओं-काफिरों-यहूदियों की औरतों को भी लूटते थे। लूट का माल और स्त्रियाँ सैनिकों में बाँटी जाती थीं। यहूदिन स्त्रियाँ खूबसूरती के लिये मशहूर हैं। अरब किसी को अपने मजहब में शामिल करने के बाद स्त्रियाँ देने को तैयार रहते थे। अरब स्त्रियाँ भी खूबसूरती में श्रेष्ठ होती हैं। लूट का भाग और समानता का व्यवहार तथा यहूदी और कुरेश स्त्रियों के सौन्दर्य्य के लोभ ने जाटों को इस्लाम की ओर आकर्षित कर लिया और ये अपने वैदिक व बौद्ध धर्म के बजाय इस्लाम में दीक्षित हो गये। भारत की संतान ने अरब में—उस अरब में जहाँ के योद्धा भारत की ओर बढ़े थे यह प्रमाणित कर दिया कि उसके पुत्र अरबों से कहीं अधिक योद्धा और वीर होते हैं। यही कारण था कि हजरत मुहम्मद अली, मुआविया आदि को उनकी सहायता लेनी पड़ी। इसके आगे नदवी साहब कहते हैं कि—एक बहुत ही प्रामाणिक साधन से उनके चिकित्सा सम्बन्धी कार्यों का भी पता चलता है। इमाम बुखारी (मृत्यु सन् २५६ ई०) ने अपनी किताबुल् अदबुल् मुफरद नामक पुस्तक में मुहम्मद साहब के समकालीन लोगों के समय की एक घटना लिखी है, जिसमें यह बताया है कि एक बार श्रीमती आयशा (मुहम्मद साहब की दूसरी पत्नी) जब बीमार हुई थीं, तब उनके भतीजों ने एक जाट-चिकित्सक को उनकी चिकित्सा करने के लिए बुलाया था।

अरब के प्रदेश में भारत से जाट जहाज और नौकाओं द्वारा भी जाते रहते थे। बौद्ध जातकों में जहाजों की बनावट प्रकार और चाल का वर्णन है।

१—तारीखे तबरी। २—बिलाजुरी। अमावरा का वर्णन।

अभिधान जातक में जाटों के सम्बन्ध में वर्णन है। सिंध के देवल बन्दरगाह पर अरब और ईरान की खाड़ी के जहाज़ उतरा करते थे। थाना और हिरात के समीप के जाट अपने धर्म की रक्षा के लिये ईरान की खाड़ी से जहाज़ों द्वारा ही अपने देश में आये थे। सिंध देश से कपास, मिर्च, ऊन, जाट लोग अरब के परवर्ती देशों में पहुँचाया करते थे।

सिकन्दर जब भारत से जाने लगा था मसकसैन (मुशिकन) ने उसको सिंधु नदी में चलने के लिये नावें दी थीं। समुद्र में चलने के बड़े जहाज़ों के जंघाला, वेगिनी, गत्वरा, दीर्घिका आदि नाम होते थे। सबसे बड़ा वेगिनी और सब से छोटा दीर्घिका होता था। वेगिनी जहाज़ का आकार १७६ हाथ लंबा २२ हाथ चौड़ा १७$\frac{३}{५}$ ऊँचा और दीर्घक का आकार लम्बाई ३२ क्यू० चौड़ाई ४ क्यू० ऊँचाई ३$\frac{१}{५}$ क्यू० होती थी। इनके अलावा जहाज़ों के अनेक नाम होते थे। मन्दरा जहाज़ में कमरों सब से अच्छा होता था। उसमें युद्ध संबंधी तथा शाही सामग्री भेजी जाया करती थी; मध्य मन्दिरा में राजा लोग यात्रा करते थे। इन जहाज़ों के सम्बन्ध में लिखा है "चिरप्रवास यात्रायां रणो काले घनात्यये" चिर-प्रवास और युद्ध के समय तथा वर्षा के समय ये जहाज़ काम में आते हैं। श्री० सी० डेनियल की 'इन्डस्ट्रियल कम्पटीशन आफ़ एशिया' नामक पुस्तक में लिखा है कि भारत का व्यापार रोम के साथ एक बार इतना बढ़ गया कि प्लिनी को बड़ा खेद हुआ कि प्राय: ७०००० पौंड रोम से भारत ले लेता है। असीरिया के डा० सेस का कथन है कि भारत और बैबलोन का व्यापारिक संबंध ईसा से हज़ारों वर्ष पहिले से था, प्लिनी ने जाटों के सम्बन्ध में बहुत कुछ लिखा है। एक समय रोम की बागडोर इनके हाथ में थी। असीरिया को भारत के असि जाटों ने ही आबाद किया था। सिंध में नदियों के किनारे खश खूब होता था। वहाँ के निवासी जाट राज्यों व अन्य राज्यों के लोगों से इतर निकलवा कर भी विदेशों में भेजते थे। नाविक अथवा जलयुद्ध में जाट खूब निपुण थे, इसका प्रमाण १०२६ ई० में चार हज़ार नावें लेकर महमूद गजनवी के साथ भिड़ने की कथा में हमें तारीख़ फ़रिस्ता में मिलता है।

रूम के लिए जाते समय जाट अवश्य ही अरब को छूते हुए जाते होंगे। किन्तु ऐसा मालूम होता है कि सिकन्दर के आक्रमण के बाद से जाटों का रोम जाना बन्द हो गया था, क्योंकि भारत में उस से कुछ ही काल बाद आंतरिक संघर्ष चल निकला था। बाहर के लोग सिंध को चीन का सूबा समझा करते थे। किन्तु यह उनकी भूल है। इसीलिए उन्होंने जाटों के विषय में शायद यह जानते हुए भी कि वे सिंध में भी रहते हैं उनके होने का वर्णन जैहून नदी और ईरान में किया है। अस्तु।

हमें बताना था कि जाटों ने जिनकी मूलभूमि सप्तसिंधु देश है, एशिया ही नहीं प्रत्युत सारे भूमंडल पर अपने उपनिवेश स्थापित किए। इसमें भी कोई

बैठे हुये—चौ० गुरुमुखराम जी दौलतपुरा, जैपुर।
खड़े हुये—हवलदार टीकूराम जी पाटोदा, जैपुर।

सूबेदार चन्द्रासिंह कुं० फतहसिंह

पलथाना, जैपुर।

सन्देह नहीं कि यदि ईसाइयत और इस्लामियत का जन्म न हुआ होता तो आज जमुना गंगा से लेकर जेहूना, जगजार्टिसा, आक्सस, मारगस, वान, हिरात, राइन, डान्यूब, कुंभा नदियों के किनारे जाट ही जाट नजर आते। बीकानेर और मारवाड़ में यदि आज उन्होंने रेत के टीलों के नीचे जल शून्य स्थापन में चहल पहल मचा रक्खी है, फिर क्या कारण था कि वे अरब के रेतीले मैदानों में कुरेश और यहूदियों से सम्बन्ध करते रहने पर भी जाट के रूप में नजर न आते। किन्तु पौराणिक धर्म की संकुचित और ईसाइयत तथा इस्लाम की सर्व ग्रासी नीति ने यह इतिहास में लिखने भर की बात रहने दी है। मजहबों के कारण रक्त सम्बन्ध बिल्कुल ढीला हो गया। ईरान के रजाशाह पहलवी हैं जो कि भारतीय मजहब हैं किन्तु धर्मों की विभिन्नता ने न तो भारतीयों के हृदय में यह अभिमान रहने दिया कि वे हमारे हैं न रजाशाह को पता है कि भारत के क्षत्रियों के साथ हमारा भी कोई सम्बन्ध है।

हम में से अनेक ऐसे हैं जो प्रमाणों के होते हुए भी इस बात से इनकार करने को तैयार हैं कि जर्मन, स्कन्ध अथवा अनेक तुरक जाट हैं। रक्त की घनिष्ठता को मजहबों ने अलग अलग कर दिया। धर्मान्धता में एलविक, टोटिला, आदि महावीरों के ईसाई होने तथा अरब के जाटों के मुसलमान होजाने के कारण हममें से अनेक घृणा प्रकट तो कर देंगे किन्तु उनकी वीरता की प्रशंसा करने में हिचकेंगे और केवल इस कारण से कि वह ईसाई या मुसलमान हो गये हैं यही क्यों उन्हें अपना भाई मानने से भी इनकार कर देंगे।

जाटों के लिए यह महान गौरव की बात है कि उन्होंने विदेशों में उपनिवेश स्थापित किये। और कर्नल टाड के शब्दों में यह रोने की बात है कि जिन जितवीरों के पराक्रम से एक दिन आधा ऐशिया हिल गया था आज उनके वंशधर पंजाब और राजपूताने में खेती करते हुए पाये जाते हैं।

जाटों ने जहां उपनिवेश स्थापित किये वहां की सभ्यता को नष्ट न करके उसे उत्तेजन दिया। रोम के लोग उनसे डरते थे किन्तु उन्हें पीछे जाटों का राज्य इतना अच्छा लगा कि वे बहुत समय तक रामराज्य की भांति उसे याद किया करते थे। एल्ब के किनारे का स्तूप और डेरियस की सहायता को हाथी और रथ भेजने के वर्णन उनके समृद्धिशाली और योग्य शासक होने के लक्षण हैं। उन्होंने कहीं भी कर भार से प्रजा को पीड़ित नहीं किया।

जो जाति एक समय उत्तरी भारत के भी आधे ही भाग में निर्वाह कर लेती थी, उसने एशिया यूरोप दोनों महाद्वीपों को ही नहीं अफ्रीका में भी अपने उपनिवेश कायम किये। यह बात जाटों के अदम्य उत्साह और साहस की द्योतक है।

जाट प्रजातंत्री थे। इस शासन-नीति को उन्होंने भारत में ही एक लम्बे अर्से तक निभाया हो, यही बात नहीं है किन्तु भारत से बाहर भी इसी नियम के अनुसार उन्होंने शासन किया। अपने निर्वाचित सरदार की आज्ञा में चलकर उन्होंने जहाँ अन्य देशों में भूमि अधिकृत की है वहां अपने सिद्धान्तों का भी प्रचार किया। यज्ञ करना, प्रातः स्नान करना, दृढ़ प्रतिज्ञ होना, खुले मैदानों में बस्तियों का बनाना, घोड़ों पर चढ़ने का शौक जहाँ जाटों ने अन्य देशों को सिखाया है वहाँ ही एक हाथ में तलवार और एक में खुरपा रखने की नीति को भी सिखाया है। उन्होंने विजित देश को तबाह किया, स्त्री बच्चों को गुलाम बनाया ऐसे वर्णन उनके किसी भी देश के इतिहास में नहीं मिलते हैं। यही कारण थे कि उन्होंने विदेशों में उपनिवेश कायम कर लिए, क्योंकि वे इसके सर्वथा योग्य भी तो थे।

सप्तम अध्याय

—:#:—

पंजाब और जाट

भारत वर्ष में जाटों की सब से अधिक आबादी का पता पंजाब और सिंध में लगता है क्योंकि यही इनका प्राचीन जन्म स्थान है। जाटों का जब से भी कोई इतिहास मिलता है तब से ही उनका अस्तित्व पंजाब में पाया जाता है। इन दोनों प्रान्तों में जाटों की अधिक आबादी होने का यही कारण है कि अति प्राचीनकाल से यहाँ के राज्यवंश गणतन्त्री थे। यदि हम भारतीय राजनैतिक इतिहास का सिंहावलोकन करते हैं तो हमें इन प्रान्तों में एकतन्त्री विचार के समुदायों का अभाव ही दिखाई देता है। रामायण काल में दशरथ, सहस्राबाहु, अर्जुन, रावण और महाभारत काल में दुर्योधन, कंस, जरासंध, शल्य आदि ऐसे राजाओं के नाम मिलते हैं जिन्हें एकतन्त्री राजा के नाम से पुकारा जाता है। किन्तु इनमें किसी का भी आधिपत्य पंजाब और सिन्ध की पूरी आबादी पर नहीं मिलता। द्रुपद और शल्य एवं बृहद्रथ के अधिकार में भी कोई भू-भाग था तो वह अधिक विस्तृत नहीं था। सिंध के सम्बन्ध में यहाँ तक बात गढ़ी गई कि सिंध के लोगों ने राज्य संचालन कार्य में अयोग्य होने के कारण दुर्योधन की बहन को शासन करने के लिये बुलाया था।

महाभारत में उत्तर भारत के जिन गण राज्यों का वर्णन आता है उनमें से अधिकांश पंजाब स्थित थे। पंजाब में यदि एकतन्त्र शासन का प्रचार हुआ भी तो बहुत देर से और बहुत थोड़े दिन के लिये हुआ। और वह एकतन्त्र ऐसे लोगों का था जिनमें से अधिकांश पंजाब की प्राचीन आर्य जाति से न थे। यह पिछली अध्यायों में लिखा जा चुका है कि जाट उन समुदायों का फैडरेशन (संघ) है जोकि गणवादी अथवा ज्ञात-वादी थे। अतः जिन-जिन गणों का पंजाब में अस्तित्व था उनमें से जो-जो जट (संघ) में शामिल हुए और जिनका वर्णन हमें मालूम हो सकता है उनके नाम तथा परिचय भी पीछे दिये जा चुके हैं। यहाँ वह थोड़ासा इतिहास देते हैं जोकि जाटों में एकतन्त्री भाव आने के पश्चात् घटित हुआ।

सिकन्दर के आक्रमण के समय पंजाब में पौरप, आम्भी, हस्ती नाम के केवल तीन राजा पाये जाते हैं। पौरप को यदि राजा मान लिया जाय (क्योंकि कुछ लोग पौरस जाति बतलाते हैं) तो चार राजाओं का नाम हमारे सामने आता है। अभी तक यह निश्चय नहीं हो सका कि इन राजाओं के वंशज पंजाब की जाट,

गूजर, खत्री और राजपूत आदि क्षत्रिय जातियों में से किसमें शामिल हो गये। फिर भी यह खयाल किया जा सकता है कि अभिपार वाले और तक्षशिला वाले लोग जाट थे। क्योंकि तक्षक गोत्र का जाटों में होना इस बात का प्रवल उदाहरण है। कर्नल टाड ने भी तक्षकों को जाटों से सम्बधित किया है। राजा हस्ति निश्चय पूर्वक जाट था जोकि सिंध नदी के किनारे पर एक छोटे से भू-भाग का शासक था। सिंध के एक जाट गोत्र की जो वंशावली हमें जाटों से प्राप्त हुई है उसमें राजा हस्ती का नाम आता है। वह सिंध जाटों का सरदार था।

पौरुष का शासन झेलम और चिनाव के वीच के प्रदेश पर था। हमें महमूद ग़जनवी के वर्णन में यह उल्लेख मिलता है कि जाट लोगों ने झेलम नदी में चार हज़ार नावों से ग़जनवी से युद्ध किया था। पौरुप और सिकन्दर की लड़ाई में भी नदी में युद्ध करने का वर्णन हमें मिलता है। आरम्भ में जिस ढंग से सिकन्दर और पौरुष के योद्धा लड़े थे वह विलकुल चन्द्र वंशी क्षत्रियों के तरीके को याद दिलाता है, जिन तरीकों का अनुसरण जाटों ने एक लम्बे समय तक किया है। आज भी झेलम और चिनाव के वीच सव से अधिक आवादी जाटों की ही है; चाहे उनका एक वड़ा भाग अपने को 'जाट मुसलमान' कहता हो। महमूद के युद्ध से पहिले तो यहाँ जाटों की वहुत ही घनी आवादी थी।

पौरुष की सेना में हाथियों के सिवाय हम रथों का एक वड़ा भाग देखते हैं। हेरोडोटस ने जेहुन नदी के किनारे के जाटों को रथों से युद्ध करने वाला वतलाया है जैसा कि हम पिछले पृष्ठों में लिख चुके हैं। दारा की संरक्षता में भी इसी सिकन्दर से रथों द्वारा युद्ध किया था।

सिख इतिहास में जब हम हजारा के जाट नरेश राजा शेरसिंह का हाल पढ़ते हैं तो अनायास पौरष याद आ जाता है जिसने कि अँग्रेज़ जनरल की दाहिनी ओर खड़े होकर के अँग्रेज अफसर के यह कहने पर कि यदि आपको छोड़ दिया जाय ? तो यह स्पष्ट कहा था कि "मैं अपनी मातृ-भूमि की रक्षा के लिये फिर वही करूँगा जो अव किया है ?" राजा शेरसिंह पोरष का दूसरा रूप दिखाई देता है।

ऋग्वेद में हमें पौरव नाम की जाति का वर्णन भी मिलता है और वह जाति आगे चल करके हमें गण के रूप में दिखलाई देती है।

जिस स्थान पर युद्ध हुआ था सिकन्दर ने अपनी विजय के उपलक्ष में 'निकय' नाम का एक नगर वसाया था। जो कि 'नकाई' नाम से मशहूर हुआ। सिक्खों की वारह मिसलों में से एक मिसल का नाम नकई मिसल है जो कि वहाँ के नकई जाटों के गाँव के नाम से मशहूर हुई। निकय गाँव के लोग अवश्य ही उस जाति के होंगे जिसमें स्वयं पौरष था। क्योंकि २०० गाँवों के जिस प्रदेश को सिकन्दर ने सन्धि होने के वाद पौरुष को सौंपा था, यह गाँव भी उन्हीं में शामिल है।

उपरोक्त कारण और दलीलें यह साबित करती हैं कि पौरुप अथवा पौरव निश्चय ही ज्ञात (जाट) थे।

शासन व्यवस्था, युद्ध के ढंग, स्वभाव, तत्कालिक वर्णन पौरुप को जाट के सिवा अन्य कुछ मान लेने में कठिनाई पेश करते हैं। क्योंकि पंजाब के न तो मौजूदा राजपूत पौरुप को अपना पुरखा स्वीकार करते हैं और न खत्री लोग राजपूतों की वंशावली रखने वाले भाटों ने भी उनको राजपूत नहीं लिखा है। और जाटों में ऐसे गोत्र पाए जाते हैं जिन्हें पौरव और पौरुप का रूपान्तर कह सकते हैं जैसे, पौरिया, पुवार, पौरुवा, पोरोथ, पोरुवार आदि आदि।

महाराज कनिष्क

इनके समय के विषय में निश्चित रूप से तय नहीं हो पाया है। डाकूर भंडारकर इनका समय २०३ ई० मानते हैं। लेकिन मि० विंसेंट स्मिथ का अनुमान है कि ईसवी सन् २२६ में भारत से कुशान वंश का राज्य समाप्त हो गया था। कुशान राजाओं के सिक्कों से मालूम होता है कि कुशान वंश के राजाओं का पाँचवीं सदी तक काबुल और उसके आस-पास राज्य रहा था। कुछ लोग सन् ६१ ई० में कनिष्क का होना मानते हैं। हमारे विचार से ईसा की प्रथम शताब्दी के अन्तिम भाग में कुशानों का राज्योदय होना जँचता है, क्योंकि भविष्य पुराण के अनुसार ईसवी सन् के आरम्भ में राजा शालिवाहन का अवस्थित होना पाया जाता है। यदि कनिष्क और शालिवाहन सम कालीन होते तो भट्ट ग्रन्थों में उसका वर्णन अवश्य आता। शालिवाहन के बाद पंजाब में एक प्रकार भट्टी लोगों का राज्य उठसा ही जाता है। इसलिये ही भट्टी ग्रन्थों में कनिष्क व कुशानों के सम्बन्ध में वर्णन नहीं मिलता।

कुशान लोग कौन थे, इसके सम्बन्ध में भी दो भिन्न मत हैं। 'राजतरंगिणी' का लेखक उन्हें तुरुष्क और आधुनिक विद्वान यूहूची व यूचियों की एक शाख मानते हैं। चीनी इतिहासकारों ने एक तीसरी राय इनके सम्बन्ध में यह दी है कि कुशान लोग 'हिगनु' लोग हैं। चाहे वे 'तुरुष्क' हों चाहे 'यूची' और 'हिगनु' पर हर हालत में वे जाट थे। 'पृथ्वीराज विजय' के आधार पर बदायूँ जिला निवासी ठा० रामलालजी हाला ने भी अब से कई वर्ष पूर्व यही बात लिखी है। तुरुष्क, यूची और हिगनु लोगों के लिये अनभिज्ञ इतिहासकारों ने विदेशी और आर्यों से इतर जन मानने की भी अक्षम्य भूल की है। पुराणों की संकुचित मनोवृत्ति के आधार पर ही कुछ देशीय और विदेशीय विद्वानों ने तुरुष्कों और यूचियों को विदेशी मानने की स्थापना की है। तुरुष्क चन्द्रकुल के संभूत राजा तुर्वसु की सन्तान हैं जिन्हें कि पुराणकारों ने केवल इस अपराध से कि वहाँ तक ब्राह्मण नहीं पहुँचते थे, उनको पतित क्षत्री बताने की धृष्टता की है। कनिंघम के शब्दों में भारत के जाट, यूरोप के जेटी और गाथ और चीन के यूची व ज्यूटी एक ही हैं। तुर्क या तुरुष्क जैसा कि लोग समझते हैं मुसलमान यवन अथवा अनार्य

नहीं हैं। तुर्वुस के प्रदेश का नाम तुरुष्क अथवा तुर्किस्तान है और किसी भी वंश अथवा जाति का आदमी जो कि तुर्किस्तान में रहता हो, तुर्क कहलायेगा। उसी तुर्किस्तान में जेहून, आक्सस, हिंगनू, जगजार्टिस नाम की उपजाऊ भूमि में भारतीय क्षत्रिय जाति रहती थी, वह जूटी, जोथी और यहूची कहलाती थी और हिंगु अथवा हिंगनू कुशान आदि उसकी शाखायें थीं। यह तो हम पिछले अध्यायों में बता ही चुके हैं कि प्रजातन्त्रीय राजवंशों के संगठित समुदाय का नाम जाट है जिनमें कृष्ण, अर्जुन, दुर्योधन, शूरसेन, भोज, शिव परिवारों के वंशज शामिल हैं। कुशान वे लोग हैं जो कि पाँडवों के साथ महा प्रस्थान में कृष्ण वंशियों में से गये थे। संस्कृत के कार्ष्णेय तथा कार्ष्णिक से कुशन शब्द बना, इसमें सन्देह करने की गुञ्जायश नहीं रह जाती। यह कुशन नहीं हैं बल्कि जाटों के अन्तर्गत पाये जाने वाले 'कुशवान' हैं।

"कहावत है कि जब भूल होती है और खास तौर कर पढ़े लिखों से भूल होती है तो दहाई पर दहाई भूली जाती है और गणित में तो भूल चाहे आरम्भ में हो चाहे मध्य में उसका अन्तिम नतीजा भी भूल ही होता है। जातियों के निर्णय में भी लगभग यही बात है। यदि किसी जाति को वैश्य करार दे दिया तो उसके पुरखे का नाम भी कुवेर ही बताना पड़ेगा चाहे वह शिशुपाल की संतान हो और चाहे बाल्मीक की और चाहे बेचारे कुवेर के बाप दादे भी कभी वैश्य न रहे हों। कुशानवंशी जाट क्षत्रियों के सम्बन्ध में भी बिलकुल यही बात हुई है। जहाँ उनके सम्बन्ध में यह भ्रान्ति हुई कि वह विदेशी हैं उसके साथ ही यह भी भ्रान्ति हो गई कि वे विजातीय और विधर्मी भी थे और बौद्धधर्म को ग्रहण कर के हिन्दू हो गए। और हो भी आनन फानन में गए, और ऐसे हुए कि खास हिन्दुस्तान के हिन्दुओं को भी मात कर दिया।"

कितनी हास्यास्पद बात है कि जो जाति कल तक अहिन्दू है और दो ही चार वर्ष में अपने खास जाति भाई तातारियों की अपेक्षा हिन्दुओं से बिलकुल घुल मिल जाती है। शुद्धि वालों ने तो और भी रंग दे दे कर के इस बात को दोहराया है। लेकिन हम कहते हैं कि कुशान और यूची न तो विदेशी हैं न अहिन्दू। वह वैदिक कालीन उन क्षत्रियों की औलाद हैं जो भारत से बाहर उपनिवेश कायम करने अथवा अन्य किसी कारण से गए थे। और तुर्किस्तान तो भारत से बाहर का देश भी नहीं है जब कि वैदिक काल में आक्सस (इक्षुरसोद व इक्षुमति नदी) और काबुल (कुंभा नदी) तक भारत की सीमा थी। ऋषि दयानन्द के शब्दों में त्रिविष्टय या तिब्बत, लोकमान्य तिलक के कथनानुसार मध्य एशिया जब आर्यों का उद्गम स्थान है तो इन देशों के लोग ईसा और मुहम्मद से भी पहिले अहिन्दू किस तरह हो गये ? विदेशी इतिहासकारों के पीछे आँख मूँद कर चलने वाले देशी इतिहासकारों ने भी ऐसी ही बहकी बहकी बातों में पृष्ठ के पृष्ठ रंग डाले हैं।

कनिष्क उन क्षत्रियों की औलाद में से थे जिनकी कि आज भारतवर्ष में अवतार मान कर पूजा की जाती है।

भारतवर्ष में जाट-राज्य के लिए 'जाटशाही' का प्रयोग किया जाता है और कुशानवंशी राजाओं के लिए भी शाही अथवा शहन्शाही का प्रयोग किया जाता था। देवसंहिता में जाटों के लिए देवसंभूत व देवों की सन्तान कहा गया है जैसा कि हमने पिछले किन्हीं पृष्ठों में देव संहिता के उन श्लोकों को उद्धृत कर के बता दिया है। कुशानवंशी राजाओं के लेखों में इन की उपाधि हमें देवपुत्र लिखी हुई मिलती है।

चीनी इतिहास लेखकों के आधार पर अंग्रेज लेखकों ने *कुषाण राज्य वंश* का इस तरह से वर्णन किया है—यूची नाम की जाति शुरू में चीन के उत्तर पश्चिम में रहती थी। ईस्वी पू० १६५ के लगभग हिगनु नाम की जाति से उसका युद्ध हुआ। इस युद्ध में यूची लोग हार गए और पश्चिम की ओर नई भूमि की खोज में चल दिए। पहिले जा करके बलख में अपनी बस्तियां आबाद कीं। यूची जाति के एक गिरोह का नाम कुषान था। ऐसा कहा जाता है कि इनके सरदार का नाम कुजूल केडफाइसिज (कुजूल कपिशस) था।

उसने अपने प्रभाव से यूचियों की पांचों शाखाओं को एक कर दिया तभी से कुल यूची जाति कुशान कहलाने लगी। केडफाइसिज ने पार्थिया, कन्धार, काबुल जीत कर अपने राज्य में मिला लिये। इस तरह से उसका राज्य फारस की सीमा से अफगानिस्तान तक फैल गया। इसके सिक्के काबुल की घाटी में मिलते हैं; जो कि यूनानी राजा हरमियस के सिक्कों की नकल पर बनाये गए थे। उनमें एक ओर यूनानी अक्षरों में हरमियस का नाम तथा दूसरी ओर खरोष्ठी अक्षरों में कुजूल कसस लिखा है। इससे यह सिद्ध होता है कि वह हरमियस के बाद ई० पूर्व २५ के बाद हुआ। वह ८० वर्ष तक जीवित रहा। अतः मोटे तौर पर उसका राज्य काल ५० ई० तक माना जाता है। उसके बाद उसका पुत्र भीम कैडफाइसिज उसका उत्तराधिकारी हुआ जिसे कुछ लेखकों ने कैडफाइसिज द्वितीय कहा है।

केडफाइसिज द्वितीय

(भीम कार्दिणक अथवा भीम कपिशप त्रिदत्त) इसे चीन के साथ में युद्ध करना पड़ा। इस युद्ध का कारण यह था कि इसने चीन की शाहजादी से विवाह करने का प्रस्ताव भेजा था। चीनियों ने इसके दूतों का अपमान किया। इसने एक-एक करके पंजाब के कई यूनानी और शक राजाओं को जीत लिया। इसका राज्य उत्तर भारत में बनारस तक पहुँच गया था। इसके पहिले के राजाओं के सिक्के चांदी तांबे या कांसे के हैं। इसने सोने के सिक्के प्रचलित किए। इसके सिक्के में त्रिशूल धारी शिवजी की मूर्ति है जिससे पता लगता है कि पंजाब के शिवगोत्री लोगों के प्रभाव से कैडफाइसिज शिव का उपासक हो गया था। पेशावर जिले के पंजतार

नामक स्थान से इसका सन् ६४ ईस्वी का सिक्का प्राप्त हुआ है। कहा जाता है इसके समय में रोम और भारत का व्यापारिक सम्बन्ध अत्यधिक था। यहाँ के रेशमी वस्त्र, जवाहरात, रंग, मसाले आदि की एवज में रोम से स्वर्ण आने लग गया था। मि० स्मिथ कहते हैं कि शक सम्वत् इसी ने चलाया था[१]।

भीम केडफाइसिज के पिता के सिक्कों पर "कुजूल कसस कुषणाय युगस ध्रमठिदस, कुशनस, युवस कोयुल कपसस सच ध्रमठिदस" और इसके सिक्कों पर "महरजस रजदिरजस सर्व लोग ईश्वर स महेश्वर सहिमकपिशप त्रिदत्त" लिखा है। मोटे तौर से इसका राज्य काल ४५ ई० से ७८ तक माना जाता है। काशीप्रसादजी जायसवाल के मतानुसार मथुरा के अजायबघर में रखी हुई किसी कुषाणवंशी राजा के सिंहासन पर पैर लटकाए हुए बैठने वाले की मूर्ति इसी केडफाइसिज की है। मथुरा के अजायबघर में कनिष्क की भी एक खड़ी हुई मूर्ति है जिस पर उसका नाम खुदा हुआ है।

कनिष्क

यह कुषाणों की दूसरी शाखा के वाझेष्क नामक राजा के पुत्र थे, ऐसा अनेक इतिहासकार मानते हैं। लेकिन यह पता नहीं चलता कि भीमकेडफाइसेज के हाथ से इसके हाथ में राज्य कैसे आया। डाक्टर फ्लीट औकेनेडी का मत है कि विक्रम सम्वत् कनिष्क ने ही चलाया और वह ईसवी ५७ में गद्दी पर बैठा था। बादया मालवा के लोगों ने इस सम्वत् को अपनाया और विक्रम के नाम से प्रसिद्ध किया। डाक्टर फ्लीट ने यह मत एक बौद्ध दन्तकथा के आधार पर बनाया है। उस दन्तकथा के अनुसार बुद्ध की मृत्यु के चारसौ वर्ष बाद कनिष्क राजा हुआ और उसने एक सम्वत् भी चलाया। चूंकि भगवान् बुद्ध को निर्वाण हुए ४०० वर्ष ईसवी सन् से पूर्व प्रथम शताब्दी में होते हैं और विक्रम सम्वत भी ईसवी सन् से पूर्व प्रथम शताब्दी में आरम्भ होता है। इसी बात को आधार मानकर डाक्टर फलीट ने विक्रम सम्वत् का प्रचारक महाराज कनिष्क को माना है। मि० कैनेडी का कहना है कि चीन यूरोप का व्यापारिक सम्बन्ध पहली शताब्दी में आरम्भ हुआ था। और चीन से जाने वाला माल कनिष्क के राज्य में होकर गुजरता था अर्थात् भारतीय व्यापारी चीनियों से माल खरीद करके यूरोप के व्यापारियों के हाथ बेचते थे। इसी व्यापार के लिये कनिष्क ने सोने के सिक्के ढलवाये थे। और यूनानी लोगों की सुविधा के लिये उसने अपने सिक्कों पर यूनानी अक्षर अंकित करा दिए थे। इसीलिये कहा जाता है कनिष्क ईस्वी पूर्व पहली शताब्दी में विद्यमान था। कनिंघम साहब उसे ईसवी पश्चात् सन् ६१ में विद्यमान बतलाते हैं। कुछ इतिहासकारों ने सिक्कों के आधार पर कनिष्क को रोम के सम्राट हैड्रियनमार्क्स और ओरेलस का समकालीन बताया है। हम पहले ही लिख चुके हैं कि कनिष्क का प्रामाणिक काल निर्णय अभी नहीं हो सका।

१—'अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया'। पृष्ठ २५४।

लेकिन वह ईसवी पूर्व से ईसवी पश्चात् तक भी पाया जा सकता है जब कि उसकी उम्र १५० या १७५ वर्ष रही हो। अब से दो हजार वर्ष पहले कोई आदमी डेढ़ सौ दो सौ वर्ष तक जिन्दा रह सकता था तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। गर्दभसेन के पुत्र राजा विक्रमादित्य की भी आयु ऐसी ही लम्बी बताई गई है। कुछ लोग शक सम्वत् जिसका आरम्भ सन् ७८ ई० से आरम्भ होता है इसी का चलाया हुआ मानते हैं।

कनिष्क आदि राजा लोग अपने नाम के साथ 'शाही' या 'साहुन शाही' उपाधि लगाते थे। शिला लेखों में "देव पुत्रस्य राजात् राजस्य शाहे:" इन राजाओं के नामों के साथ लिखा मिलता है। इलाहबाद के स्तंभ पर भी देव पुत्र साही साहुन शाही लिखा हुआ है। इस स्तंभ में समुद्र गुप्त के साथ शाही वंश के राजा की संधि का उल्लेख है। शायद वह राजा इस वंश का वासुदेव रहा होगा।

कनिष्क का राज्य विस्तार उत्तर पश्चिमी भारत में विन्ध्याचल तक था। काश्मीर और सिंध को उसने अपने प्रारम्भिक समय में ही जीत लिया था। काश्मीर में उसके बनाए हुए बहुत से बौद्ध मन्दिर और मठ हैं। उसकी राजधानी पुरुषपुर या पेशावर थी। उद्यान, गान्धार, तक्षशिला, सीतामढ़ी यह उनके राज्य के प्रसिद्ध शहर थे। कनिष्क ने चीनी तुर्किस्तान के काशगर, यारकन्द और खुतुन नामक प्रान्तों को जीत कर अपने राज्य में मिला लिया था। चीनी यात्री सुंगयुन ने पेशावर में बने हुए इसके बौद्ध स्तूप और मठों की बड़ी प्रशंसा की है। दन्तकथाओं से ऐसा भी मालूम होता है कि इसने पटना पर भी अधिकार कर लिया था। मि० स्मिथ कहते हैं कि महाराष्ट्र के शासक चहरात, नहपान और उज्जैन के शासक क्षत्रपचिष्टन भी कनिष्ठ के अधीनस्थ सामन्त थे। कनिष्क के जो सिक्के मिले हैं इनमें एक तरफ राजा का चित्र होता है जिस पर यूनानी अक्षरों में 'कनेर्कस' लिखा रहता है। दूसरी तरफ स्त्री या शिवजी अथवा अन्य देवताओं के चित्र रहते हैं। लेखों में कनिष्क की उपाधि 'महाराज राजातिराज देवपुत्र कनिष्क' मिलती है।

इसके समय में शिल्पकला की अच्छी उन्नति हुई थी। इसके समय के बने हुए स्तूप मठ मूर्त्तियाँ इसकी साक्षी हैं। इसकी सभा में अनेक विद्वानों का जमघट रहता था। आयुर्वेद का प्रसिद्ध ज्ञाता आचार्य्य चरक इनका राज्य-वैद्य था। नागार्जुन, अश्वघोष, वसुमित्र भी इसकी सभा में आते रहते थे।

ऐसा कहा जाता है कि कनिष्क ने बौद्ध धर्म की दीक्षा अपने जीवन के उत्तर भाग में ली थी। बौद्ध होते हुए भी वह बौद्ध, पौराणिक यूनानी और पारसी सभी धर्मों का आदर करता था। बौद्ध लोग कनिष्क को दूसरा अशोक कहकर पुकारते थे। बौद्ध धर्म के इतिहास में कनिष्क इसलिए भी प्रसिद्ध है कि उसके संरक्षण में बौद्ध धर्म की चौथी महासभा हुई थी। कनिष्क ने इस सभा के लिए काश्मीर की राजधानी में एक बड़ा विहार बनवाया था। इस सभा में ५०० विद्वान् एकत्रित

हुए थे। वसुमित्र सभापति और अश्वघोष उपसभापति चुने गए थे। इन विद्वानों ने समस्त बौद्ध ग्रन्थों का सार संस्कृत भाषा के एक लक्ष श्लोकों में 'सूत्र पिटक' 'विनय पिटक' और 'अभिधर्म पिटक' नामक तीन महा भाष्यों में रचा। वे सब ताम्रपत्र पर नक़ल करके एक ऐसे स्तूप में रखे गए जो कनिष्क ने इसी लिए बनवाया था। सम्भव है अब भी वे काश्मीर राज्य में पृथ्वी के अन्दर से किसी खुदाई के समय निकल आवें।

कनिष्क सिकन्दर की भाँति महत्वाकांक्षी था। जाट राजाओं में उस समय के लोगों में यह पहिला व्यक्ति था जिसने साम्राज्यवाद की ओर कदम बढ़ाया था। चीन की प्रगतियों ने इसके वंश के हृदय में एकतंत्र के भाव भर दिए थे। कनिष्क चाहता था कि ज्यादा से ज्यादा प्रदेश पर उसका राज्य हो। अन्य जातियों और देशों पर अधिकार जमाने की प्रवृति ने उसके अन्दर से ज्ञाति राज्य की भावनाओं को नष्ट कर दिया था। और यह स्वाभाविक बात है कि एक ज्ञाति (जाति) दूसरी ज्ञाति (जाति) पर राज्य करने की इच्छुक हो जाती है तो उसे अपने अस्तित्व को कायम रखने के लिए गणवादी की बजाय साम्राज्यवादी हो जाना आवश्यक होता है। कनिष्क ने अपना साम्राज्य बढ़ाने के लिए बहुतसी लड़ाइयाँ लड़ीं। उसके सरदार युद्ध में उसके साथ बाहर रहते-रहते ऊब गए थे। अनुमान किया जाता है कि इसी कारण उसके सेना पतियों ने षड्यन्त्र करके उसे मारडाला। कनिष्क योद्धा था, साहसी था, इसके सिवाय वह धर्मात्मा भी था।

वासिष्क

कनिष्क के मरने के बाद शासन-सूत्र वासिष्क के हाथ आया। यह पिता की अनुपस्थिति में भी राज्य-कार्य सम्हालता रहता था। मथुरा के पास ईसापुर में इसका एक लेख मिला था जो कि आज कल मथुरा के अजायबघर में है। यह पत्थर के एक यज्ञ स्तंभ पर है। उस पर विशुद्ध संस्कृत में लेख खुदा हुआ है। जिस पर इसे "महाराज राजाति राज देवपुत्रशाहि वासिष्क" लिखा हुआ है। कुछ लोगों का कहना है कि इसका राज्य-काल कनिष्क के राज्य-काल के अन्तर्गत था।

हुविष्क

वासिष्क के पश्चात् कनिष्क का राज्य उसके छोटे पुत्र हुविष्क को मिला। इसने काश्मीर में अपने नाम से हुष्कपुर नामक नगर बसाया जो कि आज कल उस्कपुर कहाता है। जब ह्वानचांग काश्मीर गया था तब इसी हुष्कपुर के विहार में ठहरा था। मथुरा में एक और भी विहार था। उसके सिक्के कनिष्क के सिक्कों से भी अधिक संख्या में और विविध प्रकार के पाये जाते हैं। उन सिक्कों में यूनानी, ईरानी और भारतीय, तीनों प्रकार के सिक्कों के चित्र हैं। इसने १२० से १४० सन् तक राज्य किया। कुछ लोग यह भी कहते हैं कि इसका शासन-काल १६२ ई० से १८२ ई० तक था। काबुल, काश्मीर और मथुरा के प्रदेश इसके राज्य में शामिल थे। इसके सोने चाँदी के सिक्के मिलते हैं। जिन पर 'हूएरकस' लिखा रहता है।

वासुदेव

हुविष्क की मृत्यु के बाद वासुदेव राजगद्दी पर बैठा। इसके जो लेख मिले हैं उनमें इसकी उपाधि "महाराज राजाधिराज देवपुत्र शाही वासुदेव मिलती है।" सिक्के इसके सोने, चाँदी और ताँबे के मिले हैं। जिन पर एक तरफ इसकी मूर्ति और दूसरी तरफ शिवजी की आकृति बनी रहती है और 'वैजोडेओ' इसका नाम लिखा रहता है। इसके समय से कुशानों का राज्य छिन्न-भिन्न होने लग गया था। लेकिन यह नहीं कहा जा सकता कि कुषाण साम्राज्य का अन्त किस तरह हुआ। इसका राज्य-काल १४० ई० से १८० ई० तक बताया जाता है। लेकिन कुछ लोग १८२ ईसवी से २२० ईसवी तक भी मानते हैं। इस बात का पता नहीं चलता कि वासुदेव की मृत्यु के बाद कोई सम्राट् या बड़ा राजा इनमें हुआ हो। मालूम ऐसा होता है कि कुषाण साम्राज्य का अधःपतन होते ही इनका साम्राज्य छोटे-छोटे भागों में बँट गया और कुछ काल तक कुषाण राजा काबुल और उसके आस-पास के ही शासक रह गये। क्योंकि वासुदेव के पीछे उसके उत्तराधिकारियों के भी सिक्के मिलते हैं। वे सिक्के धीरे-धीरे ईरानी ढंग के हो गये हैं।

श्रीयुत आर्डिवेनरजी वासुदेव के पश्चात् कनिष्क द्वितीय, वासुदेव द्वितीय और वासुदेव तृतीय का क्रमशः राजा होना अनुमान करते हैं। इस राज्यवंश के पश्चात् तृतीय शताब्दी में जो राज्यवंश हुए वह बहुत ही छोटे-छोटे थे। कुशानों के सिक्कों से यह तो पता चलता है कि ईसा की पाँचवीं शताब्दी तक इन का राज्य काबुल और उसके आस-पास के प्रदेश पर रहा जिसको अन्त में हूणों ने इनसे छीन लिया। फिर भी कुछ छोटे-छोटे स्थान बच रहे थे, उनको ईसा की सातवीं सदी में ईरान-विजयी अरबों ने समाप्त कर दिया।

शालेन्द्र

भारत एवं पंजाब से कुशानों का राज्य अस्त हो जाने के बाद भी अनेक स्थानों में जाटों के छोटे-छोटे राज्य उपस्थित थे। दो शताब्दी तक उनके किसी प्रबल राजा का अभी तक नाम नहीं मालूम हो सका है, लेकिन पाँचवीं शताब्दी में जाटों में एक ऐसा महा पुरुष पैदा होता है जो कि उनके नाम को फिर चमका देता है। उसका राज्य पंजाब से लेकर मालवा और राजपूताने तक फैला हुआ था, क्योंकि कर्नल टाड को उनके सम्बन्ध की लिपि कोटा राज्य में प्राप्त हुई थी। तब अवश्य ही उनके राज्य की सीमा कोटा तक रही होगी, अथवा कोटा उनकी सीमा के अन्तर्गत रहा होगा। टाड साहब को यह लिपि कोटा राज्य में कनवास नामक गाँव में सन् १८२० ई० में मिली थी। इस प्राप्त शिलालेख को हम यहाँ 'टाड राजस्थान' से ज्यों का त्यों उद्धृत करते हैं—
"जटा आपकी रक्षक हों। जो जटा जीवन समुद्र पार को नौका स्वरूप हैं, जो कुछ एक श्वेत वर्ण और कुछ एक लाल वर्ण युक्त हैं, उन जटाओं का विभव देखा जाता है। जिन जटाओं में क्रुद्ध भीषण शब्दकारी सर्प विराजमान है, वह जटा कैसी प्रकाशमान हैं, जिन जटाओं के मूल से प्रबल तरंगें निकल रही हैं, उन

जटाओं के साथ क्या किसी की तुलना की जा सकती है। उन जटाओं द्वारा आप रक्षित हों!"

जिनके वीरत्व-बाहुबल से शालपुर देश रक्षित होता था मैं अब उन राजा जिट का वर्णन करूँगा। प्रबल अग्नि शिखा जिस प्रकार अपने शत्रु को भस्मीभूत करके फेंक देती है राजा जिट का प्रताप भी उसी प्रकार प्रबल था।

महाबल शाली जिट शालेन्द्र (२) परम रूपवान् पुरुष थे, और वह केवल अपने बाहुबल से वीर पुरुषों के अग्रणी हुए थे। चन्द्र जिस प्रकार पृथ्वी को प्रकाशमान करते हैं वह भी उसी प्रकार अपने शासित देश, शालपुरी को देदीप्यमान करते थे। सम्पूर्ण संसार जिट राजा की जय घोषणा कर रहा है। वह मनुष्य लोक में चन्द्रमा स्वरूप दुर्द्धर्ष, साहसी, महामहा बलिष्ट लोगों में पंक के बीच कमल के समान बैठ कर स्वजातीय गौरव गरिमा प्रकाश करते थे। उनकी अमित बल-शाली दोनों भुजाओं के मनोहर-मणि-माणिक्य के आभूषणों का प्रकाश उनकी मूर्ति को उज्वल कर देता था। असंख्य सेना के अधिनायक थे और उनका धन-रत्न असीम था। वह उदार चित्त और समुद्र के समान गंभीर थे। जो राजवंश महाबली वंशों में विद्यमान हैं, जिस वंश के राजा लोग विश्वासघातकों के परम शत्रु थे, जिनके चरणों पर पृथ्वी ने अपना सम्पूर्ण धन धान्य अर्पण किया था और जिस वंश के नरपतियों ने शत्रुओं के सब देश अपने अधिकार में कर लिए थे, यह वही सूर्यवंश धर हैं। (३) होम यज्ञादि के द्वारा यह नरेश्वर पवित्र हुए थे। इनका राज्य परम रमणीय तथा तक्ष का दुर्ग भी अजेय है। इनके धनुष की टंकार से सब ही महा भयभीत होते थे। यह क्रुद्ध होने पर महा समराग्नि प्रज्व-लित कर देते थे, किन्तु मोती जिस प्रकार गले की शोभा बढ़ाता है अनुगत लोगों के प्रति इनका आचरण भी वैसा ही था। लाल तरंगों से समर क्षेत्र रंगने पर भी यह संग्राम से नहीं हटते थे। प्रचण्ड मार्तण्ड की प्रखर किरणों से पद्मिनी जिस प्रकार मस्तक नवाती है, उसी प्रकार इनके शत्रुदल इनके चरणों पर नवते थे और भीरु-कायर लोग युद्ध छोड़ कर भागते थे।

इन राजा शालेन्द्र से दोगला की उत्पत्ति हुई। आज इतने समय के पीछे भी उनका यश फैला हुआ है। उनसे शाम्बुक ने जन्म लिया, शाम्बुक के औरस से देगाली ने जन्म लिया। उन्होंने यदुवंश की दो कन्याओं से विवाह किया था। (४) उनमें से एक के गर्भ से प्रफुल्लित कमल के समान वीर नरेन्द्र नामक पुत्र ने जन्म लिया था। आमों के कुञ्ज अर्थात् जिन आमों के वृक्षों की मिली हुई मंजरी में सहस्रों मधुमक्षिका विराजमान हैं, जिन वृक्षों के नीचे थके हुए यात्री आन कर विश्राम करते हैं, उन आमों के वृक्षों की कुञ्ज में यह मन्दिर स्थापित हुआ। जब तक समुद्र की तरंगें बहेंगीं और जब तक चन्द्र सूर्य और पर्वत माला विराज मान रहेंगीं, तब तक मानो इस मन्दिर और मन्दिर-प्रतिष्टा का यश फैला रहेगा।

५६७ संवत् में तावेली नदी के तट पर मालवा में शेष सीमान्त में वीरचन्द्र के पुत्र शालिचन्द्र के द्वारा (५) मन्दिर प्रतिष्ठ हुआ।

जो पुरुष इन वचनों को स्मृति पट पर अंकित करेंगे उनके सब पाप दूर हो जावेंगे।

द्वार शिव के पुत्र खोदक शिवनारायण द्वारा खोदित और वुतेना ने यह कविता निर्माण की है १।

उपरोक्त शिलालेख के पढ़ने से निम्न बात सहज ही में समझ में आजाती हैं—

(१) यह शालपुरी के शासक थे, जो कि आज स्यालकोट कहलाता है। यह राज्य उन्होंने अपनी भुजाओं के बल से प्राप्त किया था। क्योंकि शिलालेख में साफ लिखा हुआ है कि "यह केवल अपने बाहुबल से वीर पुरुषों में अग्रणी हुए"। इस वाक्य से यह भी सिद्ध होता है कि वो किसी प्रजातन्त्रवादी समूह के सरदार से एक तन्त्री शासक बन गए और उनका प्रताप यहां तक बढ़ा कि "राजा लोगों के सिर उनके चरण के अंगूठे की पूजा करते थे।"

(२) उनके पास असंख्य सेना थी और साथ ही उनके कोष मणि माणिक्यों से भरे पड़े थे।

(३) पंजाब के जाटों में जहाँ कि चन्द्रवंशी जाट अधिक हैं, ये अपने कुल की इसलिए अधिक प्रशंसा किया करते थे, क्योंकि यह सूर्यवंशी थे।

(४) यह भी मालूम होता है कि ये बुद्ध धर्म को छोड़कर पौराणिक धर्म में दीक्षित होकर होम यज्ञ आदि करने लग गये थे।

(५) तक्षशिला का किला भी इनके ही अधिकार में था।

(६) इन महाराज ने किसी ऐसी जाति की स्त्री से शादी की थी जो इनकी जाति से इतर थी। क्योंकि इनके एक दोगला की उत्पत्ति होने का वर्णन भी शिलालेख में है।

(७) इनके प्रपोत्र ने यादववंश की दो कन्याओं के साथ विवाह किया था। इससे ऐसा मालूम होता है कि यह तक्षक दल के सूर्यवंशी जाट थे। अथवा पंजाब में यादवों का कोई ऐसा समूह रहा होगा जैसे कि अहीरों में यादव हैं। इस तरह से जाट और अहीरों के विवाह की प्रणाली का शिला-लेखक ने उल्लेख किया है।

(८) इस शिला लेख से निम्न वंशावली बनती है:—१—महाराज शालेन्द्र, २—दोगला, ३—साम्बुक, ४—देगाली, ५—वीर नरेन्द्र।

(९) सम्वत् ५६७ में तावेली नदी के किनारे पर जिन वीरचन्द्र के पुत्र शालिचन्द्र ने इन की स्मृति के लिए मंदिर बनवाया था तथा शिला

१—टाड परिशिष्ट पेज ११३४ खड्ग विलास प्रेस बांकीपुर का संस्करण।

लेख खुदवाया था वे अवश्य ही शालेन्द्र जित के निकट सम्बन्धी रहे होंगे, और बहुत संभव है कि वीरनरेन्द्र का पुत्र वीरचन्द्र और वीरचन्द्र का पुत्र शालिचन्द्र हुआ हो और संवत् ५९७ में शालिवाहनपुर को छोड़ कर मालवा में आगये हों। उनके शालिवाहनपुर को छोड़ने का कारण हूणों का आक्रमण हो सकता है। डाक्टर हार्नले और कीलहार्न ने लिखा है कि ईसवी सन् ५४७ में कहरूर में यशोधर्मा ने मिहिर-कुल हूण को हराया था। मिहिर कुल तूरमान हूण का पुत्र था। तूर्माण के साथी हूणों के द्वारा इनसे शालिवाहनपुर छीन लिया गया हो, यह बहुत संभव है। अगर ऊपर के ५९७ संवत् को ईसवी सन् बनाया जाय तो ५९७–५७=५४० होता है। तूर्माण के पंजाब पर हमलों का लगभग यही समय रहा होगा।

लेकिन सी० वी० वैद्य ने एलबरुनी के लेखों का प्रमाण देकर साबित किया है कि कहरूर का युद्ध ५४४ ईसवी से बहुत पहिले हुआ था। यदि यह कथन ठीक है तो वह युद्ध शालिचन्द्र के पिता वीरचन्द्र अथवा प्रपिता वीरनरेन्द्र के समय में हुआ होगा। यह तो बिलकुल ही ठीक बात है कि हूणों ने महाराजा शालिचन्द्र के वंशजों को शालिवाहनपुर अथवा श्यालकोट से निकाल दिया था, क्योंकि हम हूणों के इतिहास में श्यालकोट हूणों की राजधानी पाते हैं।

जिस समय पहिला हमला शालेन्द्र के राज्य पर हूणों का हुआ होगा उस समय अवश्य ही उनके वंशजों ने महाराज यशोधर्मा की, जो कि उनके सजातीय और मालवा के प्रसिद्ध राजा थे, मदद ली थी और पहिली बार में इस सम्मिलित जाट-शक्ति ने हूणों को हरा कर पंजाब से निकाल दिया था। जैसा कि चन्द्र के "अजय जर्टोहूणान्" अर्थात् जाटों ने हूणों को जीता, वाक्य से सिद्ध होता है।

इस शिलालेख से हम जिस ऐतिहासिक परिमाण पर पहुँचते है वह यह है—पाँचवीं शताब्दी के आरम्भ में पंजाब में जाट नरेश महाराजा शालेन्द्र राज्य करते थे। जिस प्रकार सिंह स्वयं अभिषिक्त होता है, उसी भाँति महाराज ने अपने बाहु-बल के प्रताप से बड़ा राज्य प्राप्त करके महतो प्रभुता प्राप्त की थी। उनके दरबार में दुर्द्धर्ष साहसी और महा बलिष्ट लोगों का जमघट रहता था। जिनमें वह अपने जाति गौरव की भी प्रशंसा किया करते थे। उनके अधीनस्थ कई छोटे-छोटे और भी राजा गण थे। वह समृद्धशाली राजा थे। कोष उनका परिपूर्ण था, और बहुत बड़ी सेना उनके पास थी। इतना बड़ा वैभव रखते हुए भी गंभीर और उदार चित्त थे। बौद्ध धर्म को छोड़कर नवीन हिन्दू धर्म को उन्होंने ग्रहण कर लिया था। होम, यज्ञ आदि के बड़े प्रेमी थे, और वे उन जाटों में से थे जो अपने को काश्यप वंशी (सूर्यवंशी) कहते हैं। उन्होंने ऐसे कुल की स्त्री से भी शादी की थी कि जिससे उत्पन्न होने वाली संतान को स्वजातीय लोगों ने दोगला नाम से पुकारा।

इनके वंशज देगाली ने यदुवंशी नाम के अहीर या राजपूतों की लड़कियों से विवाह सम्बन्ध किए और यदि वे यदुवंशी जाट ही थे तो यह कहा जा सकता है कि उन्होंने शालेन्द्र की दोगला सन्तान को धर्म शास्त्र के अनुसार विवाह सम्बन्ध करके जाति से दूर नहीं होने दिया। कुछ भी हो देगाली ने यदुवंश की कन्याओं के साथ शादी की थी। जिनमें से एक के गर्भ से वीरनरेन्द्र ने जन्म लिया था।

हूणों के आक्रमण के बाद पंजाब से महाराजा शालेन्द्रजित के वंशज का राज्य नष्ट हो गया और उन्होंने मालवों के पश्चिमी प्रान्त में तावेली नदी के किनारे आकर कोई छोटा सा राज्य स्थापित किया और संवत् ५६७ या सन् ५४० ई० में उन्हीं के वंशज वीरचन्द्र के पुत्र शालिचंद्र ने आमों के घने बाग में श्रेष्ठ स्थान पर मंदिर बनवा करके महाराना शालेन्द्रजित की स्मृति स्थापित की। अब उस स्थान पर कनवास नाम का छोटा सा ग्राम है। और यह कोटा राज्य में है।

शालिवाहन

जैसलमेर के भट्टी ग्रन्थों में इसे यदुवंशी राजा गज का पुत्र माना गया है और इसका आगमन भारत में दूसरी शताब्दी के पश्चात् बताया है। स्यालकोट जिसे महाभारत का शाकल मानते हैं भट्टी ग्रन्थों में इसी का बसाया हुआ बताया गया है। स्यालकोट इसका बसाया हुआ नहीं तो इतना अवश्य मान लेना पड़ेगा कि इसने उसका पुनरुद्धार किया होगा। पिछले पृष्ठों में हमने जिन महाराज शालेन्द्रजित का जिक्र किया है वे भी इसी स्यालकोट में रहते थे। लेकिन शालिवाहन और शालेन्द्रजित में दो शताब्दियों का अन्तर है। शालेन्द्रजित के समय से पहिले ही शालिवाहन की संतान के लोग स्यालकोट को छोड़ करके लाहौर और हिसार की ओर चले जाते हैं। जैसलमेर के भाटी लोग तथा नाभा, पटियाला, फरीदकोट आदि के जाट राजे इस शालिवाहन को ही अपना पूर्वज बतलाते हैं। कुछ लोग इन राजा शालिवाहन को शक साबित करते हैं कुछ लोग इसे पठन का अधीश्वर, अर्थात् सात किरण सात वाहनों में से[१]। यह भी कहा जाता है कि इन शक लोगों को कालि कार्य जैन भारत में लाए थे। जैन प्रभसूरि ने अपने कल्प-प्रदीप नामक ग्रन्थ में लिखा है कि पैठन के रहने वाले एक विदेशी ब्राह्मण की विधवा बहिन से शातवहन (शालिवाहन) उत्पन्न हुआ। उसने उज्जैन के राजा विक्रम को परास्त किया और पैठन का राजा बनकर ताप्ती तक का देश अपने अधिकार में किया।

जैसलमेर के भाटियों की बात सही है अथवा स्मिथ और जैन प्रभसूरि (जो १३०० ई० के करीब हुआ था) में से किसकी बात सही है इस बात पर तो हमें बहस नहीं बढ़ानी किन्तु इतना जरूर कह देना है कि भाट लोगों के वर्णन और वंशावली निष्पक्ष, युक्ति-संगत तथा पूर्ण प्रामाणिक नहीं हैं।

१—'सरस्वती' भाग ६ संख्या ३३।

भाटी जिसके गोत्र के लोग राजपूत और जाट दोनों में पाये जाते हैं। शालिवाहन के वंश का बताया जाता है। भाटी के जन्म की कथा भी बड़े विचित्र ढंग से वर्णन की जाती है। देवी के नाम पर मही में सर चढ़ा देने के कारण इसका नाम भट्टी हुआ ऐसी दन्तकथा है। जाटों में जो भाटी लोग हैं उनके सम्बन्ध में भी इन भाट ग्रन्थों में ऐसी ही ऊट पटांग बातें लिखी पड़ी हैं। पटियाला, नाभा, झींद, फरीदकोट आदि के भट्टी जाटों के सम्बन्ध में भाट ग्रन्थों में लिखा है कि रावखेवा नाम के एक राजपूत ने जाटनी से शादी करली इसलिए रावखेवा की संतान के लोग जाट कहलाने लगे। खेद तो इस बात का है कि पटियाला के बुद्धिमान् राजा ने भी भाट ग्रन्थों की इस बात को सही मान लिया कि वे दोगला हैं और इसीलिए फिर से उन्होंने उस दोगला होने वाली बात की पुनरावृत्ति की। हमने भाट लोगों से करीब ५०० जाट गोत्रों का वर्णन पूछा, सब में यह बात पाई गई कि अमुक राजपूत ने अमुक जाटनी से शादी करली इसलिए अमुक गोत्र बन गया। ये बातें बिलकुल निराधार और बेहूदी हैं। इन बातों पर पूरा प्रकाश हम आगे डालेंगे।

भाट-ग्रन्थों में लिखा है कि भट्टीराव के नाम से सारे यादव भट्टी कहलाने लग गए। लेकिन हम देखते हैं कि भट्टीराव कोई प्रसिद्ध ऐतिहासिक पुरुष नहीं। भाटों के कथनानुसार भी हमें उसका कोई ऐसा बड़ा काम दिखलाई नहीं देता जिसके कारण यादवों को भट्टी कहलाने में गौरव जान पड़ा हो। वास्तव में बात ये है कि ग़जनी से लौटने वाले यादवों का समूह है पंजाब की सरसब्ज जमीन से विताड़ित होकर जांगल प्रदेश की निकटवर्ती भटिंड (ग़ैर उपजाऊ, जलहीन) भूमि में बस गए, जिससे वह उस देश के नाम से भाटी कहलाने लगे। जहाँ तक भी हमें जान पड़ा है भाटी नाम का कोई व्यक्ति नहीं हुआ और हुआ भी हो तो वह इतना प्रसिद्ध नहीं हुआ कि जिसके नाम पर पूरी क़ौम का नाम बदल जाता। भाटों की वंशावली में जो नाम दिए गए हैं, उनमें से अधिकांश असभ्य लोगों के जैसे गढ़े हुए जान पड़ते हैं। जैसे लद्धरचन्द, सधरचन्द, गूमनचन्द, अतरचन्द, दोपपाल, गेंदपाल, बुदरमल, गोधलप्रकाश, साथपतप्रकाश, साहबप्रकाश, साहरोब, आयतबल, लोधरपाल, मथुरापाल, जोगेर, ख्यूपाल, आदि आदि इनमें अतरचंद और साहबचंद आधी हिन्दी और आधी उर्दू वाले नाम क्या आज से १८०० वर्ष पहले जब कि उर्दू का जन्म भी नहीं हुआ था प्रचलित थे ऐसा कोई भी बुद्धिमान् मानने को तैयार नहीं होता। ये सारे नाम हमने शालिवाहन के पहिले के उद्धृत किए हैं। उस समय भारतवर्ष व अफ़ग़ानिस्तान में बौद्ध धर्म फैला हुआ था। इन नामों में बौद्ध धर्म की सभ्यता का प्रकाश है और संस्कृत साहित्य का पुट। जैसा कि लद्धर चन्द और सद्धर चन्द से प्रगट होता है। श्रीकृष्ण से लेकर के भाटी तक एक सौ उनसठ पीढ़ियाँ भाटी ग्रन्थों में वर्णित हैं। यह कभी नहीं माना जा सकता कि यह बिलकुल सही है। भरतपुर के

महाराज कृष्णसिंह को भगवान कृष्ण से एक सौ दो की पीढ़ी पर उनकी वंशावली वाले बतलाते हैं; और पंजाब के मौजूदा राजा ओकगंवर दो सौ से ऊपर की पीढ़ी पर पहुँचता है। यह इतना बड़ा अन्तर ही सिद्ध कर देता है कि अनेक नाम कल्पित हैं।

हमारा यह मत निश्चय ही सही है कि गैर उपजाऊ प्रदेश में बसने के कारण गजनी से आया हुआ यादव दल भट्टी नाम को प्राप्त हुआ। गजनी में रहते हुए उधर के कई विजातीय राजाओं से रक्त सम्बन्ध कर लेने पर जब यादवों की कोई जाति नहीं बदलती तब भारत में किस कारण से रावखेवा को जाटनी के साथ शादी कर लेने के कारण जाट करार दे दिया जाता है। वास्तव में रावखेवा के साथी आरम्भ से ही जाट थे। किन्तु यों कहना चाहिए कि राजा शालिवाहन स्वयं जाट थे। उनके वंशजों में से जिन लोगों ने बौद्ध धर्म को छोड़ कर नवीन प्रचलित पौराणिक धर्म को स्वीकार कर लिया अर्थात् बाप दादे के समय से चली आई हुई रिवाज, विधवा विवाह, जातीय समानता की रिवाज को छोड़ दिया और बलिदान-प्रथा बहुदेव पूजा को स्वीकार कर लिया वही राजपूत श्रेणी में गिने जाने लगे और जो अपनी पुरानी रस्मों पर डटे रहे वह जाट भट्टी हुए। बस यही जाट भट्टी और राजपूत भट्टी का अलग अलग होने का कारण है।

खेद तो इस बात का है कि पटियाला तथा फरीदकोट के मुस्लिम इतिहास लेखकों ने तथा किसी किसी अंग्रेज लेखक ने भी जैसलमेर के भाटों के ग्रन्थों में लिखी हुई बेबुनियाद बातों को अपने इतिहासों में स्थान देने की भूल की है।

ऊपर का दिया हुआ निर्णय समझदार लेखकों और पाठकों के वास्ते सत्य की खोज करने के लिए बहुत कुछ काम दे सकेगा और जो इतिहास अन्ध विश्वास की भित्ति पर अब तक भाटियों का तैयार हुआ है वो भी अवैज्ञानिक और मानने योग्य सामग्री के आधार पर नहीं हैं, इसी उद्देश्यसे हमने विषयान्तर होकर भी इतना प्रकाश डाला है।

जयपाल आनन्दपाल

ग्यारहवीं सदी में लाहौर, भटिंडा पर महाराज जयपाल राज्य करते थे। इनके लिए कुछ लेखकों ने ब्राह्मण बतलाया है और कुछ ने कायस्थ। कुछेक लोग उन्हें राजपूत भी समझने लगे हैं। न वो ब्राह्मण और कायस्थ थे और न वो राजपूत, वह जाट थे। क़ाबुल की तरफ़ उनके हमलों की इच्छा होना तथा क़ाबुल पर जाकर चढ़ाई करना ये बातें ऐसी हैं जो उनके ब्राह्मण होने के सिद्धान्त को काट देती हैं। क्योंकि पौराणिक धर्म के अनुसार विदेश यात्रा और खास तौर से मुसलमानों के देश में जाना पाप है। कायस्थों की हुकूमत पंजाब में कभी हुई हो इसके तनिक भी प्रमाण नहीं मिलते। राजपूतों का प्रवाह दक्षिण से उत्तर की ओर है। एक चौहान खानदान को छोड़ करके पंजाब की तरफ़ दसवीं सदी से पहिले उनका कोई भी खानदान जिसका कि राज्य इतने बड़े प्रदेश पर हो सके, पंजाब में दिखाई नहीं देता। राजपूतों ने जो

३६ राजवंशों की वंशावली ग्यारहवीं सदी में तैयार करवाई थी उसमें उल्लिखित ३६ सों राजवंशों में से किसी का भी सम्बन्ध जयपाल से नहीं वताया गया है।

लाहौर के आस-पास के कुछ जाट समूह ऐसे हैं जो अपने को गांधार, क़ाबुल, गज़नी और हिरात से आया हुआ वतलाते हैं। सर हेनरी एम० इलियट के० सी० वी० ने भी अपनी "डिस्ट्रीब्यूसन ऑफ़ दी रेसेज ऑफ़ दी नार्थ वेष्टर्न प्रॉविन्सेज ऑफ़ इण्डिया" नामक पुस्तक में इसी वात का ज़िकर किया है। आरम्भिक मुसलिम आक्रमणों के समय क़ाबुल और गांधार से आये हुए इन जाटों की प्रवृत्ति फिर से उन प्रदेशों को अपने अधिकार में कर लेने की वहुत समय तक वनी रही। उसी प्रवृत्ति का यह फल था कि महाराज जैपाल ने क़ाबुल और गज़नी पर चढ़ाई की।

दिल्ली के शासक अनंगपाल और राजपाल थे जिनसे कि पृथ्वीराज चौहान के हाथ दिल्ली का राज्य आया था। जयपाल के पोते का नाम भी राजपाल था। कुछ इतिहास लेखक तो यहाँ तक गड़वड़ कर गए हैं कि इन्हीं लोगों को लाहौर, भटिंडा के आनन्दपाल और राजपाल मान कर क़ाबुल-विजेता लिख दिया है। यही कारण है कि भटिंडे के इन जाट नरेशों को कुछ लोग भ्रम से राजपूत समझने की भूल कर गए हैं, हालांकि उन्हें इस सम्बन्ध में पूरा सन्देह रहा है।

राजपाल के लिए भिन्न-भिन्न रायें होने के कारण सचाई की तह तक पहुँचने के वाद भी मि० स्मिथ को उन्हें जाट लिखने में शायद शब्द का प्रयोग करना पड़ा। जैसा कि उन्होंने लिखा है:—

In the later part of tenth century the Raja of Bathindah was Jaipal, probably a Jat or Jat.

अर्थात्—दसवीं शताब्दी के पिछले भागों में भटिंडा का राजा जयपाल था जो कि शायद एक जट या जाट था। लेकिन मि० स्मिथ इस राज्य के सम्बन्ध में हमारे उस कथन का समर्थन भी करते हैं कि—उन उच्च राजवंशों में से जिनका उल्लेख राजपूतों के भाटों ने उनकी वंशावलियों में किया है वे दसवीं सदी तक पंजाव में कभी इतने वलवान नहीं हुए जैसा कि हमने कहा है कि उन दिनों चौहानों का ही एक ऐसा खानदान था जो उत्तरी भारत में कुछ महत्त्व रखता था। चौहानों के साथी परिहार, पँवार, सोलंकी भी राजपूताना, गुजरात और मध्य मालवा में कुछ अस्तित्व रखते थे। किन्तु पंजाव की ओर इनकी न कोई विशेषता पाई जाती है और न इनके इतिहास में ऐसा वर्णन आता है कि इनके किसी वंशज ने पंजाव में जा करके कोई राज्य स्थापित किया हो। इसी वात को भटिण्डे के राजा के सम्वन्ध में मि० स्मिथ ने इस तरह से लिखा है—

"Raja Jaipal of Bathindah the ruler of the Parihars had never extended across the Satlej, and the history of the Punjab between the seventh and tenth centuries is extremely obscure. At some time not recorded a powerful kingdom had been formed

which extended from the mountains beyond the Indus, eastward as far as the Hakra or lost river, so that it comprised a large part of the Punjab as well as probably northern Sind. The capital was (Bhatanda) Bathendah, the Tabarhind of Muhammdan histories, now in the Patiala state, and for many centuries an importent fortress and the *military road connecting Multan with India proper* through Delhi. At that time Delhi, if in existance, was a place of little consideration. In the later part of tenth century the Raja of Bathindah was Jaipal, probably a Jat or Jat."

अर्थात्—परिहारों का राज्य सतलज से उस पार कभी नहीं बढ़ा। पंजाब का सातवीं और दसवीं सदियों के दरम्यान का इतिहास बिल्कुल अन्धकार मय है। किसी समय एक शक्तिशाली राज्य बन गया था (जो लिखा नहीं गया है) जो कि पहाड़ों से इण्डस नदी के उस पार हकारा या खोई हुई नदी के पूर्व की ओर तक फैला हुआ था जिसकी राजधानी बथिण्डा (भटिंडा) थी और जो मुसलमान इतिहासों का तवरहिन्द है और अब पटियाला रियासत में है। यह बहुत शताब्दियों तक एक नामी किला था जो फौजी सड़क पर मुल्तान और हिन्दुस्तान खास को देहली से जोड़ता था। उस समय यदि दिल्ली थी तो मामूली जगह थी। दशवीं शताब्दी के पिछले भाग में बथिण्डा (भटिण्डा) का राजा जयपाल था जो शायद एक जट या जाट था। कई शताब्दियों पीछे लिखे जाने वाले इतिहासों में भ्रम और गलतियाँ हो जाना स्वाभाविक है और उस समय इतिहास लिखने वाले की सूझ और दृष्टि अपने समय के उन्नत जातियों की ओर ही अधिक रहती है। जनरल कनिंघम ने ऐसी ही एक ग़लती का निर्देश अपने सिख इतिहास की पाद टिप्पणी में किया है। कर्नल *टाड ने उमर कोट के राज-परिवार को प्रमार या शक्ति वंश संभूत लिखा था। अर्थात्* राजपूत स्त्री के लिए जनरल कनिंघम ने कहा है कि—इस राज-परिवार को हुमायू की जीवनी लिखने वाले ने प्रमार के राजा और उनके अनुचरों का जाट के नाम से परिचय दिया है १।

हुमायूँ की जीवनी लिखने वाले को जो कर्नल टाड से कई शताब्दी पहिले हुआ है, अमर कोट के राजा की जाति के सम्बन्ध में जितना अधिक सही पता हो सकता है, उतना टाड साहब को कहाँ? लेकिन जिस समय कर्नल टाड इतिहास लिख रहे थे उस समय उनकी निगाह राजपूतों पर ही जाकर ठहर सकती थी। क्योंकि उस समय जाटों की अपेक्षा राजपूत अधिक उन्नत थे, और भारतीय जाट उन्हें किसान दृष्टिगोचर होते थे। यही बात जयपाल के सम्बन्ध में कही जा सकती है। जैसलमेर के इतिहास में हम एक बात और देखते हैं कि जैसल जो कि भारी राजपूत था जयपाल के विरुद्ध महमूद गजनवी के साथ मेल कर लेता है और

1—Memoirs of Humayoon. Page 45.

भटिंडा के आसपास के जाट जयपाल के लड़के अनंदपाल के साथ हजारों की तादाद में सिर्फ उसकी मान रक्षा के लिए इकट्ठे हो जाते हैं और स्त्रियाँ अपने जेवर उतार कर के युद्ध के खरचे के लिए दे डालती हैं। फिर कैसे माना जा सकता है कि वह जाट के सिवा कुछ और था। यही क्यों मुल्तान के आस पास और झेलम के तटवर्ती जाट भी जब यह सुनते हैं कि महमूद अनंदपाल का सर्व नाश कर के लौट रहा है तब वह उस के ऊपर बाज की तरह टूट पड़ते हैं। वे उसके प्राण ले लेना चाहते थे। यदि वह मैदान में अकड़ के साथ डट जाता तो यह निश्चय था कि वह यहाँ से जिन्दा बच कर के नहीं जाता।

अब हम जयपाल तथा उसके वंशजों के इतिहास पर थोड़ा सा प्रकाश डालते हैं। जिस समय सुबुक्तगीन गुलाम की सूरत से निकल कर के गज़नी का शासक हुआ था और वह उत्तरोत्तर अपने राज्य को बढ़ा रहा था उस समय महाराज जयपाल ने उसके देश पर चढ़ाई की। उनका राज्य सिन्ध के प्रदेश तक फैल चुका था और वह अपने बुजुर्गों के राज्य गज़नी और काबुल, कन्धार पर भी अधिकार जमाने के इच्छुक थे। इसलिए उन्होंने सुबुक्तगीन के ऊपर चढ़ाई कर दी। इस चढ़ाई में सुबुक्तगीन को बड़ी हानि उठानी पड़ी और उसने महाराज को कुछ दे लेकर के बिदा कर दिया। कुछ ही वर्षों के बाद उन्हें सुबुक्तगीन पर फिर चढ़ाई करनी पड़ी। इस बार सुबुक्तगीन सुलह के बहाने से लड़ाई को टालता रहा। इतने में शीतकाल आ गया और भारी बर्फ के पड़ने के कारण उनकी फौज को बड़ी हानि उठानी पड़ी। हजारों मनुष्य ठिठुर कर मर गये। ये दुर्भाग्य की बात थी कि उस समय अत्यधिक पाला पड़ा। अब स्वयं महाराज को सुबुक्तगीन और उसके लड़के महमूद से सुलह का प्रस्ताव करना पड़ा और हरजाने में कुछ देने का वायदा भी करना पड़ा।

भारत में आने के बाद ब्राह्मण मंत्रियों की राय से महाराज जयपाल ने अपनी प्रतिज्ञा को पूरा नहीं किया। जब महमूद गज़नी का मालिक हुआ तो उसने अपने पिता का बदला लेने के लिए तथा जयपाल की प्रतिज्ञा भंग का स्मरण करके दस हज़ार सवार लेकर ३६१ हिज़री में जयपाल के ऊपर चढ़ाई कर दी। चूंकि इधर कोई ऐसी भारी तैयारी न थी, इसलिए जयपाल की हार हो जाना स्वभाविक था। महमूद लूट मार करके भारत से लौट गया। दूसरी बार लूट के लालच से और जयपाल के राज्य को अपने राज्य में मिलाने के लिए फिर से भारत पर चढ़ाई की। इस बार महाराज जयपाल ने खूब डट कर सामना किया। महमूद भाग जाने ही वाला था कि एक राजकुमार महमूद से जाकर के मिल गया और यही नहीं किन्तु मुसलमान भी हो गया। उसके मुसलमान होने का वर्णन इस प्रकार है:—एक अत्यन्त सुन्दरी मुस्लिम बाला, जिसे पहिली बार देख कर वह उस पर मोहित हो चुका था, लोभ से वह मुसलमान हो गया और उसने जयपाल की हार के तमाम तरीके महमूद को बता दिए। "सम्भव है यह राजकुमार अभिषार का युवराज

सुखपाल रहा होगा। 'गजनवी जहाद' में मौलाना हसन निज़ामी लिखता है कि—कुछ समय बाद में यह फिर मुसलमान से हिन्दू हो गया। हिन्दू होने के बाद उसने महमूद के सूबेदारों को हिन्दुस्तान से मार भगाया। जयपाल की हार का कारण वह मुसलमान होने वाला राजकुमार ही था। चाहे वह सुखपाल रहा हो अथवा कोई और ? महमूद इस लड़ाई को जीत अवश्य गया किन्तु उसे तुरन्त ही हिन्दुस्तान से लौट जाना पड़ा। इस लड़ाई की हार से महाराज जयपाल को इतना बड़ा धक्का लगा कि उनका कुछ ही दिनों में प्राणान्त हो गया।

जयपाल के पश्चात् उनके बड़े पुत्र आनन्दपाल राज्याधिकारी हुए। ३९६ हिज़री में आनन्दपाल को भी महमूद से युद्ध करना पड़ा। भाटना नामक स्थान में विजयराव नाम का एक बड़ा वीर राजा राज्य करता था जो कि जयपाल के सम्बन्धियों में से था। उसने सरहद पर जो मुसलमान हाकिम रहते थे उनको मार भगाया था। महमूद इसी बात का बदला लेने के लिए उस पर चढ़के आया। उसकी बहादुरी और युद्ध के सम्बन्ध में 'गजनवी जहाद' में हसन निज़ामी को विवश होकर लिखना पड़ा है कि—"राजा अपनी फ़ौज और हाथियों की अधिकता के कारण बहुत अभिमान करता था। वह फौज लेकर मुक़ाबले के लिए निकला। दोनों फौजों में तीन दिन तक अग्निवर्षा होती रही। विजयराव की फ़ौज ऐसा वीरता और साहस से लड़ी कि इस्लामियों के छक्के छूट गए।" इस लड़ाई में सुल्तान महमूद को अपनी भुजाओं के बल का विश्वास छोड़ कर दरगाह में ख़ुदा और रसूल के आगे घुटने टेकने पड़े। बेचारे की डाढ़ी पर मिन्नत के समय टप-टप आँसू गिरते थे। गज़नी उसे बहुत दूर दिखलाई देता था।

विजयराव युद्ध करता हुआ वीर गति को प्राप्त हुआ। अनन्दपाल ने विजयराव के युद्ध में मारे जाने वाली घटना को सुना तो उसने यह निश्चय कर लिया कि अब की बार महमूद भारत पर चढ़ कर के आए तो उससे अवश्य बदला लूँगा। यही कारण था कि जब ३९६ हिज़री में महमूद मुल्तान के हाकिम अबुलफतह पर चढ़ कर आया तो अनन्दपाल ने अबुलफतह को मदद दी, किन्तु अबुलफतह महमूद के साथ मिल गया। फिर भी अनन्दपाल ने महमूद का सामना किया। महमूद भी चाहता था कि अब की बार अनन्दपाल के कुल राज्य पर अधिकार करलूँ, किन्तु हिरात में बग़ावत हो जाने के कारण उसे लौट जाना पड़ा।

३९९ हिज़री में महमूद ने अनन्दपाल के राज्य को नष्ट करने के लिए भारत पर फिर से चढ़ाई की। मुसलमानी लेखकों ने इस लड़ाई को बड़ा तूल दिया है और एक ही बार में महमूद को सिकन्दर से भी बढ़ कर विजेता ठहरा दिया है। मुसलमान लेखक लिखते हैं कि इस समय अनन्दपाल की सहायता के लिए उज्जैन, ग्वालियर, कालिंजर, कन्नौज, देहली और अजमेर के तमाम राजा अपनी-अपनी फ़ौजें लेकर आए थे। विश्व विजयी सिकन्दर की सेना को अकेले पौरुष से

लड़ने के वाद इतनी हिम्मत न रही थी कि वह कोई और दूसरी लड़ाई लड़ सके, और महमूद जिसे कि विजयराव के कारण ही दरगाह की शरण लेनी पड़ी थी इतने राजाओं पर एक साथ विजयी हो गया ? जरा बुद्धि रखने वाला लेखक इस बात को सही नहीं मान सकता है। अजमेर में उस समय चौहानों का राज्य था। यदि वह अकेले भी अनन्दपाल के साथ होते तो यह कभी नहीं हो सकता कि अनन्दपाल हार जाता। अनन्दपाल के साथ जो भी कुछ फ़ौज थी वह उसके नव सिखुए प्रजाजनों की थी। खेद है कि कुछ हिन्दुस्तानी लेखकों ने भी मुसलमान लेखकों की इस डींग को सही मान लिया है। यह लड़ाई ४० रोज़ तक होती रही। अन्तिम दिन जयपाल के वीर सैनिक मुसलमानी फ़ौज में घुस पड़े और ३।४ हज़ार मुसलमानों को आँख झपकते तलवारों और वर्छों की नोक पर रख लिया। महमूद के प्राण संकट में थे। उसे अल्लाह और रसूल एक साथ याद आ रहे थे। वह चाहता था कि आज लड़ाई मुल्तवी हो जाय कि अचानक अनन्दपाल का हाथी आतिशवाज़ी से डरकर भाग खड़ा हुआ। महमूद की यह ऐसी विजय थी जो उसे दैवयोग से मिल गई। ४०० हिज़री के क़रीब जब अनन्दपाल मर गया तो उसके वेटे राजपाल का पुत्र जयपाल भटिण्डा का मालिक हुआ। राजपाल अनन्दपाल के आगे ही मर चुका था। महमूद ने ४०४ हिज़री में जब कि जयपाल भटिंडा में मौजूद था उसकी राजधानी को लूट लिया। जब जयपाल को इसकी ख़बर लगी तो उसने महमूद को क़िला नूहकोट में जा घेरा। किन्तु महमूद ने उसकी फ़ौज पहुँचने के पहिले ही गज़नी को कूँच कर दिया था। इससे अगला आक्रमण महमूद का ग्वालियर का हमला हुआ, तो जयपाल ने ग्वालियर वालों की मदद की। इसे हम द्वितीय जयपाल कह सकते हैं। यह जब तक जिन्दा रहा मुसलमानों का सामना करता रहा।

राजा सरकटसिंह

पंजावी दन्तकथाओं के आधार पर "सैरे पंजाब" के लेखक ने इस राजा का थोड़ा सा वर्णन किया है। शेख़ूपुरा इलाक़े में एक मौज़ा "अम्बाका पत्ता" नाम से प्रसिद्ध है। किसी समय में यहाँ एक राजा राज्य करता था। वह चौसर का वड़ा प्रसिद्ध खिलाड़ी था। उसने अनेक राजाओं के साथ चौसर खेली और वह सब से जीता, कोई भी उसे न हरा सका। वह हारने वाले का सर काट लेता था, इसलिए उसका नाम सरकाटसिंह व सरकट मशहूर हुआ। स्यालकोट में जिस समय राजा रसालू हुआ तो उसने इसे चौसर के खेल में जीत लिया। सरकट ने हारने के कारण रसालू के साथ अपनी लड़की की शादी कर दी। सम्भव है इस दन्तकथा का अधिक सार न हो। किन्तु यह अवश्य मानना पड़ेगा कि इस स्थान पर कोई सरकट नाम का छोटा-मोटा राजा था।

शेख़ूपुरा में एक वाढ़ है। पंजाव में वाढ़ घने जंगल को कहते हैं। शेख़ूपुरा इलाक़े से यह वाढ़ आरम्भ हो कर मुल्तान तक चला गया है। एक ओर

गुजरानवाला तक इसका विस्तार है। यह बाढ़ दूलाभट्टी की बाढ़ के नाम से मशहूर है। दूसरा नाम इसका सन्दलबाड़ी है। तहसील हाफ़िज़ाबाद में पिंडी भट्टियान नामक ग्राम है। दूलाभट्टी यहीं का रहने वाला था और इस समस्त बाढ़ के ऊपर उसका अधिकार था। सोलहवीं सदी में उसके जीवित होने का प्रमाण मिलता है। अपनी सेना के खर्च के लिए वह आस-पास के इलाक़ों पर आक्रमण किया करता था। शेख़ूपुरा के तथा इस बाढ़ के आस-पास के भट्टी मुसलमान जाट इस बात को कहते हैं कि दूला राज्य सरकट के ख़ान्दान में से था। यद्यपि इसका कोई लिखित ऐतिहासिक प्रमाण नहीं मिलता है, फिर भी 'फरीदकोट के इतिहास' और 'सैरे पंजाब' में दूला और उसकी बाढ़ के सम्बन्ध में कुछ वर्णन अवश्य है। जयपुर राज्य में जाटों का एक चूलड़ गोत है, उनकी वंशावली रखने वाले भाटों ने उनके पूर्वज का नाम दूला एवं दूलड़ भट्टी लिख रक्खा है। इसमें सन्देह नहीं कि दूलड़ एक प्रभावशाली और अपनी बाढ़ का स्वतन्त्र शासक था।

जलयुद्ध

जैसा कि हम पहिले लिख चुके हैं जाटों ने महमूद गजनवी को भारत से लौटते वक्त लूट लिया था और उसे बहुत तंग किया था। क्योंकि वे उसके ऊपर भटिंडा-राज नष्ट करने के कारण तथा देव-मन्दिरों को लूटने के कारण चिढ़े हुए बैठे थे। महमूद उस समय तो जान बचाकर भाग गया था किन्तु १०२७ ई० में उसने बड़ी तैयारी के साथ जाटों को नेस्त नाबूद करने के इरादे से चढ़ाई की। जदु के डूँग में उनका राज्य था जो अभी तक प्रजातन्त्री सिद्धान्तों पर चल रहा था। तारीख़ फ़रिश्ता ने इस युद्ध का हाल इस तरह से लिखा है कि—"यह युद्ध झेलम नदी में हुआ था। सुलतान का भारी लश्कर मुलतान की ओर पहुँचा। वहाँ पहुँच कर उसने १४०० नावें तयार कराईं और हर एक नाव में लोहे की तीन नोकदार मजबूत और पैनी तीन शलाखें जड़वाईं—एक नाव की पेशानी पर और दो उसके दोनों बाजुओं पर। इन शलाखों के लगाने का मतलब यह था कि जो चीज़ इन शलाखों से टकराये उसके टुकड़े-टुकड़े हो जावें। प्रत्येक किश्ती में २० सैनिक तीर कमान व तलवार, बरछी लिये हुए बैठाए। जाटों ने सावधान होकर अपने बाल-बच्चों और स्त्रियों को टापुओं में भेज दिया और स्वयं मुक़ाबले पर तैयार हुए। चार हज़ार नाव एक दफ़े और फिर आठ हज़ार नाव नदी में छोड़ीं और हर एक नाव में एक जत्था सवार करा के मुक़ाबले को दौड़े। जब दोनों पक्षों का मुक़ाबला हुआ भारी युद्ध होने लगा। किन्तु महमूद की किश्ती के सामने जो किश्ती आती वही डूब जाती। यहाँ तक कि समस्त जाट डूब गये और शेष तलवार के घाट उतरे। सुलतान की सेना ने उनके बाल-बच्चों के सर पर जाकर सब को क़तल किया और क़ैद भी किया। महमूद गजनी को लौट गया[1]।

---

[1]—तारीख़ फ़रिश्ता उर्दू तर्जुमा। न[illegible]प, लखनऊ। पेज ४४-४५।

कर्नल टाड ने इस पर यह टिप्पणी दी है कि फरिश्ता का यह कहना असत्य है कि जाट इस लड़ाई में सब खतम हो गये। हमारे विचार से महमूद और उसके साथियों के जाटों ने ऐसे दाँत खट्टे किये कि फिर वे हिन्दुस्तान पर चढ़ाई करने की हिम्मत न कर सके। महमूद ही क्या उसके उत्तराधिकारी तक उस रास्ते से नहीं आये कि जिस रास्ते जाट पड़ते थे। किन्तु जाट महमूद से लगा कर तैमूर तक के होशों को बिगाड़ते रहे हैं। "वाकए राजपूताना" का लेखक लिखता है—यकीन है कि महमूद से सैकड़ों वर्ष पहिले जाट शासक थे। शहाबुद्दीन ने भारत को विजय किया था, उससे सिर्फ बारह वर्ष बाद सन् १२०३ ई० में उसके उत्तराधिकारी कुतुब को मजबूरन उत्तरी जंगल के जाटों से बजात खुद लड़ना पड़ा क्योंकि उन्होंने हाँसी को स्वतंत्र राज्य करना चाहा था। और फीरोजआज़म की लायकवारिस रजिया बेगम ने शत्रु के डर से जाटों की शरण ली थी। तो उन्होंने रजिया की सहायता के लिये गकरों की फ़ौज जमा करके रजिया की सहायता में उसके शत्रु पर चढ़ाई की थी। वो दुश्मनों पर विजय पा गई। जाट इस युद्ध में वीरता के साथ मारे गए। जब १३९७ ई० में तैमूर ने भारत पर आक्रमण किया था तो मुलतान-युद्ध के समय जाटों ने उसे भारी अड़चन और कष्ट पहुँचाये इसी बात से चिढ़ कर तैमूर ने भटनेर पर हमला किया था१।

देशी विदेशी सभी इतिहासकारों ने इस बात के लिए स्वीकार किया है कि ६०० ई० से पहिले का पर्याप्त इतिहास नहीं मिलता और ६०० ई० से १००० तक का जो इतिहास प्राप्त होता है वह भी अपूर्ण है। फिर जाटों के इतिहास के सम्बन्ध में कहना ही क्या, जिन्होंने स्वयं भी इस बात की चेष्टा ही नहीं की कि उनका संगृहीत इतिहास हो। हम यह दावे से कहते हैं कि जाट इतिहास की खोज बराबर चलती रहे, तो ईसा से ६ सदी पूर्व से १४ वीं सदी तक पंजाब में हर जगह प्रत्येक कोने में जाटों के शासन करने का पर्याप्त इतिहास मिल सकेगा। हमें पंजाब में सागवाण और घनघस, मलिक, गटवाला आदि जाटों के ऐसे वर्णन मिलते हैं, जिन्होंने पंजाब के छोटे छोटे प्रदेशों पर स्वतन्त्रता पूर्वक राज्य किया था। हमारे कथन की साक्षी इस छोटे से गीत से हो जाती है—"हरियाना के बीच में एक गाँव धणाणा। सूही बांधे पागड़ी क्षत्रीपणकाबाणा॥ नोसै नेजे भड़कते घुड़ियन का हिनियाना। तुरई टामक बाजता बुर्जन के दरम्याना॥ अपनी कमाई आप खात हैं नहिं देहिं किसी को दाणा। बापोड़ा मत जाणियो है ये गाँव धणाणा॥" अर्थात् इस गीत से मालूम होता है कि घनघस जाटों के ९०० सैनिक हर समय तैयार रहते थे और राजसी ढङ्ग से उनके सैनिक लड़ने के लिए गाजे बाजे के साथ जाते थे। उनके पड़ौस में राजपूतों का बापोड़ा नामक गांव था। बापोड़ा वालों ने शाह दिल्ली को ख़िराज देना स्वीकार कर लिया था और जब धणाणा के जाटों के सामने यही प्रस्ताव पेश हुआ तब उन्होंने कहा—"बापूड़ा मत जाणियो है यह गाँव धणाणा।" यदि इसी तरह का

१—वाक़ए राजपूताना। जिल्द २। लेखक मुन्शी ज्वालासहाय।

संग्रह किया जाय तो पंजाब प्रान्त के जाट राज्यों का जो कि मुस्लिम काल से पहिले ही से अवस्थित थे एक स्वतन्त्र इतिहास बनजाय। परिशिष्ट में ऐसे छोटे-छोटे राज्यों का कुछ संक्षिप्त वर्णन करेंगे। अब आगे के पृष्ठों में जाटों की उन कुर्बानियों और बहादुरियों तथा राज्यों का वर्णन किया जाता है जो कि सिख-धर्म के नवजीवन से हुए थे।

जाट-जाति और सिख-धर्म

एक दिन जिस जाट-जाति का आधे यूरोप और एशिया के प्रायः समस्त प्रदेश पर आतंक रहा था, एक समय उसी जाट-जाति के लिए ऐसा भी आया कि वह शासन की बजाय शासित और सभ्य की बजाय असभ्य तथा सम्पत्ति-शाली की जगह निर्धन समझी जाने लगी। इसका कारण यही था कि जिन तरीकों से उसने पिछले हजारों वर्षों से शासन किया था वह अब फेल हो चुके थे। प्रजातंत्र का स्थान एकतंत्र ने ग्रहण कर लिया था। अब यह आवश्यक था कि सुदिन लाने के लिए इनकी मनोवृत्तियाँ बदली जातीं, किन्तु यह इन्हें पसन्द न था। हालांकि कुछेक उन्नत मना जाट वीर एकतंत्र की ओर बढ़े और उन्होंने 'जाट राज्य' कायम भी किये। किन्तु जाति का अधिक भाग उनके इस कार्य की ओर से उदासीन रहा। महाराज शालिवाहन, हाला, शालेन्द्रजित, यशोवर्द्धन अनंदपाल, सुभगसेन, मरकसेन आदि महावीर ऐसे ही जाटों में से थे जिन्होंने अपनी महत्वाकाङ्क्षाओं की पूर्ति और जाति हित के लिए एकतंत्र शासन स्थापित किये। किन्तु सम्पूर्ण जाति की इस कार्य में सहानुभूति न होने से इन राज्यों ने दो-तीन शताब्दियाँ भी न पकड़ीं।

जाट-कौम क्षात्र तेज रखते हुए भी अपने दुख दूर करने तथा देश की सेवा करने में असमर्थ हो रही थी। और वह समय अति निकट आने वाला था कि 'जाट-जाति' सदैव के लिए अथवा एक लम्बे अरसे के लिए उस स्थान पर पहुँच जाती जहाँ से उसका उठना असम्भव हो जाता। परमात्मा की कृपा से ऐसे वक्त गुरूनानक प्रगट हुए जिससे कि इस जाति में फिर से नवजीवन संचार हो गया। गुरु नानक के प्रचारित धर्म का नाम सिख-धर्म प्रसिद्ध हुआ। जाट-जाति को इस धर्म से भक्ति, शक्ति, ओज, और राज भी सब कुछ प्राप्त हुए। यद्यपि अभी तक उन्होंने अपने पूर्व गौरव को प्राप्त नहीं कर पाया है किन्तु फिर भी उन्होंने वो स्थान प्राप्त कर लिया है जिस पर कोई भी योद्धा-जाति सन्तोष कर सकती है।

कालांतर में औरंगजेब के अत्याचारों का प्रतिकार करने के लिये भक्त सिखों को घोड़े की पीठ और तलवारों की मूठ सम्हालनी पड़ीं। वो संगठित हो गये। यह संगठन उनका प्रारम्भ में मिसलों के रूप में था। मिसल अरबी शब्द है जिसका भावार्थ दल होता है। प्रत्येक दल का एक सरदार होता था। उस सरदार की अध्यक्षता में दल के लोग इकट्ठे होकर उनकी आज्ञा का पालन करते थे। इस प्रकार के

बारह दल अथवा मिसलें थीं। इन मिसलों की संगठित बैठक का नाम इन लोगों ने 'गुरमता' रख छोड़ा था। गुरमता के अर्थ 'गुरु मन्त्रणा' होता है। गोपनीय अथवा महत्व पूर्ण विषयों पर विचार करने के लिये जो परिषद् होती थी उसी का नाम गुरमन्त्रणा अथवा गुरमता था। इस तरह से सिख जाटों ने वहीं से उत्थान किया जहाँ से कि उनका पतन हुआ था। किन्तु अब की बार की उनकी प्रजातंत्र प्रणाली नये ढंग नये रंग और नये विधान की थी। गुरमता में मिसलों के सरदार बैठते थे। और वे सरदार अपनी सरदारी अपनी भुजाओं के पराक्रम से प्राप्त करते थे। उन्हें पूर्ण स्वतंत्रता थी कि चाहे जितने देश पर वे अपना अधिकार जमाएं और चाहे जो कोई सरदार बन बैठे यदि शक्ति रखता हो? गुरमता में निश्चय हुए प्रस्तावों के मानने के लिये वे बाध्य थे। किन्तु वास्तव में वो स्वयं ही गुरमता थे। सिखों की इन बारह मिसलों में आठ मिसलें जाटों द्वारा संस्थापित हुई थीं। चूंकि हमारे इतिहास का सम्बन्ध जाटों से है इसलिये हम इन्हीं आठ मिसलों का वर्णन करेंगे।

भंगी मिसल—इस मिसल के मनुष्य 'भंग' का अधिक व्यवहार करते थे इसलिये ही उन्हें भंगड़ी अथवा भंगी नाम से लोग सम्बोधित करते थे।

अमृतसर से ८ मील के फासले पर पंजवार नाम का एक नगर है। चौधरी छज्जासिंह यहाँ के एक प्रतिष्ठित जाट सरदार थे। जिन दिनों शहीदे धर्म वीरबंदा का प्रचण्ड सूर्य चमक रहा था छज्जासिंह उनकी वीरता और धैर्य पर मोहित होकर उनका शिष्य बन गया। स्वयं सिख बन जाने के बाद उसने भीमसिंह, मालासिंह, जगतसिंह को भी सिख बनाया। इन दोनों ने मिलकर एक छोटासा दल बना लिया और फिर लूट मार आरम्भ करदी। क्योंकि वो देखते थे कि असभ्य तातारी लुटेरे सहज ही में शासक बन गये। काबुल के भुक्कड़ पठानों ने भी उनके देखते-देखते ही पंजाब में अनेक छोटे छोटे राज्य क़ायम कर लिये। थोड़े ही दिनों में उनकी शक्ति बहुत बढ़ गई, लूट मार से काफी माल इकट्ठा कर लिया। उनकी संख्या बढ़ चुकी थी। अपने साथियों के लिये लूट का या तो वे कोई हिस्सा देते थे या उनके लिये मासिक वेतन नियुक्त कर रखा था। कुछ दिनों के बाद इस मिसल की सेना में १२००० सवार होगये थे। छज्जासिंह के बाद भीमसिंह ने जोकि बड़ा योद्धा-शक्तिशाली और चतुर था इस मिसल को नियमानुसार संगठित किया। चूंकि भीमसिंह के कोई सन्तान न थी इसलिये उसने हरीसिंह को अपना दत्तक पुत्र बनाया जोकि उसका भतीजा होता था। हरीसिंह बड़ा बुद्धिमान, बलवान और दूरदर्शी था। उसने अच्छे अच्छे जवाँ मर्द नौकर रखे। बढ़िया किस्म के घोड़े खरीदे। और सौ सौ कोस तक धावा मार करके धन इकट्ठा किया। उसके वक्त में उसके पास इतने सैनिक इकट्ठे हो गये कि उसकी मिसल ज्यादा धनवान बन गई और उसके मेम्बरों की संख्या २०००० तक जा पहुँची। उनकी छावनी गुलवाली में थी। हरीसिंह के समय के इस मिसल के अधिकृत इलाक़े की सीमा भी बहुत बढ़ गई। एक ओर स्यालकोट, कपाल-

और भीसूपाल उनके कब्जे में आ गये दूसरी ओर मगध और मालवा पर
कब्जा था। चीनोट, झंग तक और दूसरी तरफ पिंडी और डेराजात तक
लूट मार करते रहे। जम्मू पर भी चढ़ाई की और १२००० सवार लेकर
भी जा घुसे किन्तु कश्मीर में उन्हें अधिक सफलता नहीं हुई। १७६२ ई
से २ मील तक कोट खोजा सैयद में बहुत सा मेगजीन और सामान
आया। अगले साल हरीसिंह ने कन्हैया और रामगढ़िया मिसलों के स
'कसूर' में लूट मार की। इसके बाद वह अमरसिंह के साथ लड़ता हुआ

हरीसिंह के ५ लड़के थे। मगर मिसल ने हरीसिंह की मृत्यु के पश्
उनमें से किसी को न दी और महासिंह मिसल का सरदार बना, और
लड़के सिर्फ घुड़ चढ़े ही बने रहे। किन्तु थोड़े ही दिन के बाद महासिं
इस बीच में मिसल के लोगों ने हरीसिंह के लड़कों में वो गुण देख लि
एक योग्य सरदार में होने चाहियें। इसलिए सरदारी हरीसिंह के बेटे भ
दी गई और सारी मिसल ने उनकी तावेदारी स्वीकार करली। च
झण्डासिंह का भाई था उसने बारह हजार सवार लेकर जम्मू के राजा
ऊपर चढ़ाई की और भयंकर युद्ध करता हुआ मारा गया। झ
आरम्भ से ही मुल्तान के ऊपर दाँत था। वो शीघ्र से शीघ्र मुल्तान को
में मिला लेने की इच्छा रखता था। इसलिये उसने मुल्तान पर चढ़ाई
सन् १७६६ और १७६७ ई० में उसे सफलता प्राप्त नहीं हुई। तीसरी बा
में लहनासिंह तथा दूसरे सरदारों को साथ लेकर मुल्तान विजय क
सरदार दीवानसिंह को वहाँ का किलेदार मुकर्रर किया। मुल्तान से व
समय उन्होंने झंग, मानखेड़ा, और काला बाग फतेह किये, इससे पहि
भी यह अधिकार जमा चुका था। झंडासिंह ने अमृतसर में ईंटों का
बनवाया क्योंकि वह चाहता था कि ज्यादा से ज्यादा प्रदेश पर उसक
हो। यद्यपि अमृतसर में आज उसके दुर्ग के केवल खंडहर ही पाए
भी वो झंडासिंह की महत्वाकांक्षा की सूचना देता है। थोड़े दिन के बाद
रामनगर पर हमला करके दमदमा नामक तोप को प्राप्त किया जो वि
के नाम से मशहूर है। इसी बीच में जम्मू के राजा रंजीतदेव और
बृजराजदेव में झगड़ा हो गया। कन्हैया मिसल के सरदार जयसिंह और
मिसल के सरदार चढ़हटसिंह बृजराजदेव की सहायता को गए।
रंजीतदेव का पक्ष लिया। कई रोज तक युद्ध होता रहा। इसी युद्ध में झण
गोली के निशाने से मारे गये। झण्डासिंह के बाद उसका भाई गण्डा
बना। उसने अमृतसर के बाजारों को बड़े बढ़िया ढङ्ग से सजाया औ
दीवारों को मजबूत किया। चूंकि झण्डासिंह जयसिंह के आदमियो
मारा गया था इसलिए गण्डासिंह उससे बदला लेने का स्वभावतः इच्छु
दूसरी वजह से भी उसे कन्हैया मिसल के साथ लड़ाई करने का अवसर
उसका एक सरदार जो पठानकोट का अफसर था मर गया। उसकी

लड़की कन्हैया मिसल वालों को देदी और पठानकोट भी दे दिया। गंडासिंह ने पठानकोट वापिस माँगा। इन्कार होने पर चढ़ाई करदी। दीना नगर में कई दिन तक युद्ध हुआ। गंडासिंह इसी लड़ाई के अवसर पर बीमार होकर मर गया। उसके साथी लड़ाई छोड़कर भाग गये और उन्होंने गंडासिंह के भतीजे देसासिंह को अपना सरदार चुना। इसके समय में तैमूरशाह ने पंजाब को वापिस लेने का पुनः संकल्प किया और अपने एक मित्र फैजुल्ला को सेना भरती करने के लिये भेजा। खैबर की घाटी में पहुँच कर फैजुल्ला ने बहुतेरे पठान जमा कर लिये किन्तु पेशावर पहुँच कर वह तैमूरशाह के विरुद्ध हो गया और उसे क़तल करने का षड्यन्त्र रचने लगा। किन्तु वह और उसका बेटा दोनों पकड़ कर क़तल कर दिये गए। तैमूरशाह ने मुलतान पर अपनी सेना भेजी किन्तु देसासिंह के साथी जाट सिखों ने उस फौज को पीछे की ओर भगा दिया। अपनी फौज की इस हार से चिढ़कर तैमूरशाह सन् १७७८ ई० में स्वयं मुलतान पर चढ़कर आया। इस युद्ध में बहुत से सिख मारे गये और विजय लक्ष्मी भी उनके विरुद्ध रही। तैमूरशाह ने शुजाखाँ को मुलतान का गवर्नर मुकर्रर किया। १७८२ ई० में देसासिंह रणजीतसिंह के पिता महासिंह के साथ मारा गया।

सरदार हरीसिंह का एक जनरल गुरुबक्ससिंह था। इसने लेहनासिंह सिंधानवाला को अपना दत्तक बनाया। गुरुबक्ससिंह के मारे जाने पर लेहनासिंह और गुरबक्ससिंह के दौहित्र में झगड़ा हुआ। किन्तु समझदार सिखों ने आधी बाँट पर दोनों की सन्धि करा दी। इन दोनों ने सरदार शोभासिंह और कन्हैया के साथ मिलकर १७६५ ई० में काबुलीमल के भाग जाने पर लाहौर पर अधिकार कर लिया था और अकाली के आने पर तीनों सरदार लाहौर खाली कर गए और उसके भारत से वापिस होते ही फिर लाहौर पर अधिकार जमा लिया और ३० वर्ष तक लाहौर पर शासन करते रहे। १७६३ ई० में काबुल के शाहजवाँ ने सेना लेकर पंजाब पर चढ़ाई की किन्तु उसके देश में विद्रोह खड़ा हो जाने से उसे तो वापिस लौटना पड़ा पर उसका सरदार अहमदखाँ सिखों से युद्ध करने के लिए रह गया। सिखों ने उसे ऐसी परास्त दी कि फिर वह भारत में न ठहर सका। १७६६ ई० में शाहजवाँ भारत की ओर फिर आया। चिनाव को पार करके अमीनाबाद के रास्ते रावी के किनारे शाहदरा पहुँच कर अपना एक जनरल लाहौर को रवाना किया। सिख सरदार लाहौर के किले की चावियाँ मियाँ चिरागशाह के हवाले करके बाहर चले गए। शाहजवाँ लाहौर में प्रविष्ट हुआ। उसने सिक्खों से राजीनामा कर लिया। लेकिन जब वह वापिस लौट गया तो लहनासिंह और शोभासिंह ने फिर लाहौर पर अधिकार कर लिया, किन्तु इसी वर्ष वो दोनों मर गए और उनके बेटे चेतासिंह व मोहरसिंह लाहौर के शासक बने। चूंकि यह कमजोर थे और उधर पंजाब-केसरी महाराज रणजीतसिंह का प्रताप बढ़ रहा था अतः १७६६ ई० में उनसे रणजीतसिंह ने लाहौर को छीन कर अपने कब्जे में कर लिया।

देसासिंह की मृत्यु के बाद उसका बेटा गुलाबसिंह सरदार हो गया था। वह पहिले कुछ दिनों तक कसूर के पठानों के विरुद्ध लड़ता रहा, किन्तु जब उसने सुना कि महाराजा रणजीतसिंह ने लाहौर ले लिया है तो उसको बड़ा दुख हुआ। उसने कुछ पठानों और सिक्खों की शक्ति संचय करके लाहौर पर धावा बोल दिया। भसीन के मैदान में दोनों ओर से लड़ाई हुई। गुलाबसिंह अधिक मदिरापान करने के कारण लड़ाई में ही मारा गया। इसके बाद उसका बेटा गुरुदत्तसिंह भंगी मिसल का सरदार बना। उसकी उम्र उस समय केवल दस वर्ष की थी, किन्तु फिर भी उसकी इच्छा थी कि रणजीतसिंह से बदला लिया जाय। इसी इरादे से वह सेना संग्रह करने लगा। किन्तु रणजीतसिंह को इसका पता लग गया और उससे पहिले ही रणजीतसिंह ने अमृतसर पर चढ़ाई करदी। गुरुदत्तसिंह और उसकी माँ भाग कर रामगढ़ पहुँच गए। कहते हैं कि पीछे रणजीतसिंह ने उनके निर्वाह के लिए कुछेक गाँव दे दिये थे। पर कुछ दिनों बाद वह भी जब्त कर लिये। यही नहीं किन्तु जहाँ जहाँ भी भंगी मिसल के अधिकार में इलाके थे उन सब पर अपना अधिकार कर लिया। करमसिंह को चनोट से, साहबसिंह को गुजरात से निकाल बाहर किया। यह याद रहे लाहौर लेने के बाद गूजरसिंह ने उत्तर की ओर का प्रदेश भी विजय करना आरम्भ कर दिया था। गुजरात को उसने मुबारिकखाँ गक्खड़ से विजय किया था। इसके अतिरिक्त उसने जम्बू तक कई प्रदेश विजय किए थे। इस तरह से खून बहा कर भंगी सरदारों ने जो विस्तृत प्रदेश अधिकृत किया था वह महाराज रणजीतसिंह के अधीन हो गया और भंगी मिसल का नाम केवल इतिहास में उल्लेख करने को रह गया। हाँ, शहर अमृतसर में मोहल्ला तथा किला भांगयान उनके अभ्युदय की अवश्य स्मृति दिलाते हैं।

मिसल रामगढ़िया

इनका अधिकार अहलवालियां और उलेवालियां मिसलों के बीच के प्रदेश पर था। ईछूगल गाँव जिला लाहौर में भगवाना नाम ज्ञानी के घर में जस्सासिंह पैदा हुआ। वह सिक्ख-धर्म ग्रहण करके साधुओं की सी जिन्दगी बिताने लगा। कुछ दिन के बाद वह नोधासिंह के साथियों में मिल गया। नोधासिंह गोया के एक जाट सरदार खुशहालसिंह का लड़का था। खुशहालसिंह ने वीर बंदा के साथ मिल कर के मातृ-भूमि की सेवा सीखी थी और थोड़े दिनों में उसके पास इतनी सेना संचय होगई कि उसने एक अलग मिसल स्थापित कर ली जो रामगढ़िया मिसल के नाम से मशहूर हुई। उसकी मृत्यु के बाद उसके उत्तराधिकारी नोदसिंह ने जस्सासिंह, मालासिंह और तारासिंह नाम के साहसी और वीर लोगों को अपना साथी बनाया। जस्सासिंह जो कुछ दिनों पहिले पूरा ज्ञानी था, इन लोगों के साथ मिलते ही वीर सिक्खों में गिना जाने लगा। नोदसिंह के ये तीनों साथी तरखान जाति के बताये जाते हैं। जब द्वाबा जालन्धर के सिक्खों और अदीनाबेगखाँ सूबेदार में झगड़ा आरम्भ हुआ तो सिक्खों ने जस्सासिंह को अपना वकील बना कर अदीनाबेग के पास भेजा।

अदीनाबेग ने इससे प्रसन्न हो कर अपने एक इलाके का इसे सूबेदार नियत कर दिया। कुछ दिन के बाद जब अदीनाबेग मर गया तो जस्सासिंह अपने इलाके का स्वतन्त्र अधिकारी बन बैठा। नौदसिंह की मृत्यु के पश्चात् रामगढ़िया मिसल के सिक्खों ने जस्सासिंह को अपना सरदार मान लिया। इस तरह से जाट सिक्खों के हाथ से निकल कर यह मिसल तरखान सिक्खों के हाथ में पहुँच गई। जस्सासिंह ने अमृतसर और गुरुदासपुर के जिलों पर भी अधिकार कर लिया था। पहिले तो वह कन्हैया मिसल के जाट सिक्खों के साथ मिल करके मुसलमानों के साथ लड़ाइयाँ लड़ता रहा लेकिन आगे चल करके उसने कन्हैया मिसल के सरदार जयसिंह से झगड़ा पैदा कर लिया। इस कारण से वटाला और कनानोर जयसिंह ने उससे छीन लिये। दोनों दलों में लड़ाई छिड़ गई। वटाला तो उसके हाथ आगया, किन्तु कनानोर में उसे ऐसी हार हुई कि वह सतलज पार भाग गया और हिसार में अपना स्थान बना कर देहली तक लूट-मार करता रहा। कुछ दिनों के बाद जब कन्हैया और सुकरचकिया मिसलों में अनबन हुई तो सुकरचकिया सरदारों ने जस्सासिंह को अपनी सहायता के लिये बुला भेजा। उसने आकर अपने तमाम अधिकृत प्रदेशों पर फिर से अधिकार जमा लिया; किन्तु १८०८ ई० में महाराजा रणजीतसिंह ने उसका समस्त प्रदेश अपने राज्य में मिला लिया और जस्सासिंह को पेन्शन दे दी। १८८६ ई० में जस्सासिंह का देहान्त हो गया।

कन्हैया मिसल

लाहौर से १५ मील की दूरी पर कान्हा गाँव में खुशालसिंह नामक एक जाट चौधरी निवास करते थे, जो कि बड़े सीधे और सरल स्वभाव के थे। उनके पुत्र का नाम जयसिंह था। जयसिंह बड़ा वीर और साहसी पुरुष था। उसने सिक्ख धर्म की दीक्षा कपूरसिंहजी फ़ैजलपुरिया से ली थी और अमरसिंह नाम के डाकू के साथ मिल कर छापा मारने लगा। इस काल में उसने इतनी उन्नति तथा प्रसिद्धि प्राप्त की कि आस-पास के हज़ारों आदमी उसके साथ शामिल हो गये। इस तरह से उसने एक नई मिसल स्थापित कर दी। चूँकि यह कान्हा गाँव का रहने वाला था, इसलिये इस मिसल का नाम कन्हैया मिसल हुआ।

कांगड़े के राजा संसारचन्द्र और नवाब शेफअली खाँ किलेदार में झगड़ा हो गया। संसारचन्द्र ने किले पर अधिकार प्राप्त करने के लिए जयसिंह को अपनी सहायता के लिए बुलाया। जयसिंह के कांगड़ा पहुँचने के वक्त तक शेफअली खाँ मर चुका था और उसका लड़का जीवन खाँ किले को अधिकार में किये हुए था। जयसिंह ने जीवनखाँ को डरा धमका कर किले पर अधिकार कर लिया और राजा संसारचन्द्र को भी धता बता दिया। जयसिंह युद्ध करने में अत्यन्त निपुण था। रामगढ़िया मिसल के सरदार जयसिंह को इसने सतलज पार खदेड़ दिया था। जम्बू की चढ़ाई में इसने रणजीतसिंह व उनके पिता महासिंह की सहायता की थी और जम्बू की लूट के माल में से बँटवारा कराने के लिए प्रस्ताव रखने के

कारण रणजीतसिंह से इसकी अनबन हो गई। चूँकि निर्भयता और वीरता इसके अन्दर कूट कूट कर भरी हुई थी इसलिए रणजीतसिंह के बाप महासिंह के साथ युद्ध छेड़ दिया। महासिंह ने राजा संसारचन्द्र और जस्सासिंह को सहायता के लिए बुलाया जो कि इसके पुराने शत्रु थे इस तरह से तीन शक्तियों ने गुट बना कर जयसिंह को नष्ट करना चाहा। किन्तु जयसिंह इस समाचार को सुन कर के घबराया नहीं, उसने तुरन्त ही अपने सरदार गुरबक्ससिंह को जस्सासिंह की रोक के लिए सतलज के इस पार भेज दिया। पटियाला के निकट युद्ध हुआ। गुरबक्स-सिंह मारा गया। एक दूसरी लड़ाई जस्सासिंह से उसी समय और हुई। इस वक्त जयसिंह का लड़का गुरबक्ससिंह जस्सासिंह के सामने आया किन्तु वह भी मारा गया। इस तरह से एक तरफ जयसिंह के धन जन की हानि जस्सासिंह के द्वारा हो रही थी और दूसरी तरफ भागे हुए संसारचन्द्र ने पहाड़ों से उतर कर जयसिंह के इलाक़े लूटना आरम्भ कर दिया। इस समय जयसिंह ने एक बुद्धिमानी और चालाकी का यह काम किया कि रणजीतसिंह को अपनी पोती की शादी करके उसके बाप महासिंह को अपना सम्बन्धी बना लिया। इस तरह से तीन शत्रुओं द्वारा जो उसका राज्य नष्ट होने वाला था, उसकी रक्षा कर ली। जयसिंह ने यद्यपि राज की रक्षा करली थी किन्तु पुत्र-शोक में थोड़े ही वर्षों बाद उसकी मृत्यु हो गई और उसके बेटे गुरबक्ससिंह की रानी सदाकौर राज्य की मालिक हुई।

रानी सदाकौर बड़ी निपुण और योग्य शासक थीं। वह अनेक लड़ाइयों में भी सम्मिलित हुई थीं। उन्होंने रणजीतसिंह के पिता महासिंह के मरजाने पर दोनों ही राज्यों का काम सँभाला था। रणजीतसिंह की वह बड़ी कड़ी देखरेख रखती थीं। कई बार युद्ध भूमि में उन्होंने महाराज की सहायता की थी। इनके पास बहुत सा धन और जवाहरात थे। इनकी शारीरिक मजबूती का पता इस घटना से चल जाता है कि जिस समय उनका पति युद्ध में मारा गया था और फौज तितर बितर हो गई थी वह नंगे पाँव भाग कर के बटाला में आ पहुँचीं। इनका राज्य अमृतसर से उत्तर की ओर पहाड़ी प्रदेश में था और उसमें कांगड़ा, कलानोर, नूरपुर, बकरिपान, हाजीपुर, पठानकोट, अटलगढ़ आदि प्रसिद्ध नगर थे।

तरुण होने पर महाराज रणजीतसिंह को अपनी सास सदाकौर की संरक्षता अखरने लगी थी। वो उससे छुटकारा पाने की चेष्टा करने लगे। कुछ ही दिनों के बाद उन्होंने रानी सदाकौर के इलाके को अपने राज्य में मिला लेने का यत्न आरम्भ कर दिया। जब कहने सुनने से भी रानी सदाकौर अपना राज्य रणजीतसिंह को देने के लिए तैयार न हुई तो उन्होंने बल-पूर्वक उनके राज्य को जब्त कर लिया और सरदार कन्हैयासिंह के निकट सम्बन्धियों को कुछ गाँव जागीर में दे दिए। १८०० ई० में रानी सदाकौर का देहान्त हो गया और इस तरह से यह मिसल समाप्त हुई।

नकिया मिसल

इस मिसल का संस्थापक जाट चौधरी हेमराज का पुत्र हीरासिंह था। यह मौजा भरवाल के रहने वाले थे। रावी नदी के किनारे लाहौर से पश्चिम की ओर नक्का नामक इलाके में रहने के कारण इनकी मिसल का नाम नकिया मिसल पड़ा। गोत्र इनका सिन्धु था। आरम्भ में इनकी आर्थिक अवस्था कुछ अच्छी न थी। हीरासिंह सिख होने के बाद लुटेरे दल में सम्मिलित हो गया और धीरे धीरे यहाँ तक शक्ति बढ़ाली कि उसकी एक अलग मिसल बन गई और हीरासिंह उस मिसल का सरदार बन गया। बहुत से सवार और प्यादे हो जाने के पश्चात् राज्य की बुनियाद भी डाल दी। सतलज नदी के किनारों तक अनेक स्थानों पर कब्जा कर लिया। पाक-पट्टन में उस समय शेखसुजान कुरेसी का अधिकार था। वहाँ गौवध खूब होता था। यह बात जब हीरासिंह तक पहुँची तो वह आग बबूला हो गया और उसने शेख़ पर चढ़ाई करदी। दैवात् हीरासिंह के सर में गोली लगी, और इस तरह उस धर्म युद्ध में शहीद हुआ। चूंकि उसका लड़का नाबालिग था इसलिए भतीजे नाहरसिंह ने सरदारी सम्हाली, किन्तु तपैदिक के रोग से एक ही साल में मर गया और मिसल की सरदारी उसके छोटे भाई वजीरसिंह के हाथ में आ गई। अब तक इस मिसल के पास नौ लाख का इलाक़ा आ चुका था, जिसमें शाकपुर, सांट गोमरी, गोगेरा प्रसिद्ध इलाक़े थे। १८७२ ई० में इस मिसल की सरदारी और राज्य की हुकूमत सरदार भगवानसिंह के हाथ में आई। भगवानसिंह ने भी सैयद पर चढ़ाई की और गौवध के उठा देने के लिए होने वाले पाक पट्टन के युद्ध में मारा गया। भगवानसिंह के मरने के बाद उसका भाई ज्ञानसिंह राज्य का मालिक हुआ। ज्ञानसिंह के दो पुत्र थे—ख़जानसिंह और काहनसिंह। १८०४ ई० में ज्ञानसिंह के मरजाने पर महाराज रणजीतसिंह ने इस राज्य को जब्त कर लिया और कान्हसिंह तथा ख़जानसिंह को १५०००) की जागीर देकर रियासत से प्रथक् कर दिया। महासिंह नाम का सरदार हीरासिंह के निकट सम्बन्धियों में से था। महाराजा रणजीतसिंह ने इसको भी जागीर दी। यद्यपि इस मिसल वालों ने रणजीतसिंह को अपनी लड़की देकर सम्बन्ध स्थापित कर लिया था, किन्तु महत्वाकांक्षी महाराज रणजीतसिंह बहादुर ने अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए इसका कुछ भी ख़याल न कर अपने राज्य में मिला लिया।

निशान वालिया मिसल

इस मिसल के संस्थापक दो बहादुर जाट—संगतसिंह और महोरसिंह थे जो सतलज के निकटवर्ती प्रदेशों में दस हज़ार सवार इकट्ठे करके जाट राज्य संस्थापन करने की चेष्टा करने लगे। अम्बाले को अपना केन्द्र स्थान बनाया। दूर-दूर तक छापे मार करके धन लाते थे। क्योंकि बग़ैर धन के न राज्य क़ायम हो सकते हैं न फ़ौज रखी जा सकती हैं। एक बार तो मेरठ शहर तक इन्होंने धावा बोला और वहाँ से बहुत सा धन लूट कर लाये। यह लोग अपनी फ़ौज के साथ निशान रखते थे

इसलिए इनकी फ़ौज का नाम निशान वालिया पड़ा। संगतसिंह के मर जाने पर कुल राज्य का भार मोहरसिंह के हाथ आ गया। कुछ समय के पश्चात् महाराज रणजीतसिंह ने दीवान मोहकमचन्द को इसलिए इनके देश में भेजा कि वह युद्ध के बाद निशान वालिया राज्य को अपने राज्य में मिला लें। निशान वालिया सिक्खों ने मोहकमचन्द का डटकर सामना किया। किन्तु वे हार गए और क़िला अम्बाला मोहकमचन्द के हाथ पड़ गया। खजाना और वस्तु भंडार लूट लेने के बाद महाराज रणजीतसिंह ने इस राज्य को अपने राज्य में मिला लिया। इस तरह निशान वालिया का भी अन्त हो गया।

करोड़सिंह मिसल

इस मिसल का संस्थापक पंजगढ़ नामक स्थान का रहने वाला युवक करोड़ीसिंह था। जगधरी के समीप चलौंदी को सदर मुक़ाम बनाकर इसने लूटमार आरम्भ कर दी। थोड़े ही दिनों में १२००० सेना इसके पास एकत्रित हो गई। अनेक लूट-मारों में इसके हाथ बहुत सा द्रव्य पड़ा था। जालन्धर को इसने अपने राज्य में शामिल कर लिया था और सीमांतप्रदेश पर भी आक्रमण करके उसे अपने राज्य में मिला लिया था। करोड़ीसिंह के मर जाने के बाद उसकी जगह बघेलसिंह सरदार हुआ। जब १७७८ ई० में सिक्खों ने सीमाप्रान्त पर अधिकार कर लिया और उसकी खबर देहली में पहुँची तो बादशाह आलम ने सिक्खों के दमन करने के लिए सेना भेजी। बघेलसिंह उस समय अन्य सिक्ख लोगों का साथ छोड़ कर अलग हो गया। शाहआलम की फ़ौज को तो फुलकिया सरदारों ने मार कर भगा दिया। बघेलसिंह के मारे जाने के बाद उसके एक मित्र का लड़का जोधासिंह इस मिसल का सरदार नियत हुआ। महाराज रणजीतसिंह ने जब कि अंग्रेज़ दूत उनके पीछे सन्धि के लिए लगे फिरते थे, इस मिसल को अपने राज्य में शामिल कर लिया। किन्तु चूंकि गवर्नमेंट अंग्रेज सतलज पार के रईसों को रक्षा का विश्वास दिला चुकी थी, इसलिए महाराज ने अंग्रेज सरकार के कहने पर इस इलाके को वापिस कर दिया। अंग्रेजों ने भी कुल इलाके को तो बघेलसिंह की औलाद के पास नहीं रहने दिया किन्तु कुछ भाग उनकी औलाद के पास अब तक जागीर में चला आता है। इस मिसल का दूसरा नाम पंजगढ़िया मिसल भी था।

फुलकियाँ मिसल

इस मिसल की अब तक पंजाब में पटियाला, नाभा जैसी प्रसिद्ध रियासतें मौजूद हैं। भट्टी जाट फूलसिंह द्वारा संस्थापित होने के कारण यह मिसल फुलकियाँ मिसल कहलाती है। फूलसिंह (फूल) की ताक़त इतनी बढ़ गई कि उसने जगराम के नवाब को क़ैद कर लिया था। महरान से ५ मील के फ़ासले पर अपने नाम से एक गाँव भी बसाया था। फूल बादशाही सूबेदारों से सदैव मुकाबला करता रहता था। उसके सात बेटे हुए। पटियाला, नाभा, झींद, मदोर, मलोद वगैरह खानदान उन्हीं के वंशजों के स्थापित किये हुए हैं। अन्तिम दिनों में सीमा प्रान्त के नाजिम ने फूलसिंह को

क़ैद कर लिया था। १६५६ ई० में सरसाम की बीमारी से फूल की मृत्यु हो गई। उसके स्थान पर उसका बेटा रामचन्द्र सरदार बना जिसने मुसलमानों के साथ बहुत सी लड़ाइयाँ कीं। १७१४ ई० में उसे अपने ही एक सरदार ने क़तल कर डाला। रामचन्द्र का तीसरा बेटा आलासिंह उसका उत्तराधिकारी बना और बरनाला को आलासिंह ने अपना केन्द्र स्थान बनाया। १६६५ ई० में आलासिंह का जन्म हुआ था और १७३१ ई० में उसने शाही सेना पर एक बड़ी विजय प्राप्त की थी। उसकी इज्जत बहुत बढ़ गई और उसके पास सिक्खों का जमघट लगा रहने लगा। राजपूत और मुसलमानों से उसकी बहुत ही लड़ाइयाँ हुईं। १७५७ ई० में उसने राजपूत और मुसलमानों को एक बड़ी पराजय दी। महमूद शाह ने उसको एक पत्र इस इरादे से दिया कि वह नवाब सरहिन्द की सहायता करे। १७६२ ई० में अहमदशाह अब्दाली ने बरनाला पर चढ़ाई की किन्तु उसकी रानी फत्तो ने चार लाख रुपया देकर अब्दाली से संधि कर ली। कुछ ही दिनों के बाद अब्दाली ने आलासिंह को 'राजा' की पदवी से विभूषित किया। पटियाला राज्य के संस्थापक राजा आलासिंह ही हैं। इसी फूल वंश में सरदार गुरदत्तसिंह हैं जिन्होंने कि नाभा राज्य की नींव डाली है। जींद के राज्य को कायम करने वाले राजा गजपतसिंह भी फूल खानदान के चमकते हुए सितारे थे। इन लोगों ने अपने बाहुबल से जहाँ हिन्दू-धर्म की रक्षा की वहाँ अपने लिए भी राज्य कायम कर लिए। लेकिन महाराज रणजीतसिंह फूल खानदान की सभी रियासतों को उसी भांति अपने राज्य में मिला लेना चाहते थे, जैसे कि अन्य मिसलों के राज्य मिला लेना चाहते थे। इन्होंने अँग्रेज़ सरकार से सन्धि करके तथा महाराज रणजीतसिंह को बड़ी-बड़ी भेंट देकर अपने अधिकृत प्रदेश की रक्षा करली। फुलकियाँ मिसल का विस्तृत वर्णन आगे के पृष्ठों में दिया जा रहा है। अतः यहाँ उस पर अधिक प्रकाश डालने की आवश्यकता हम नहीं समझते।

फैजलपुरिया मिसल या सिंहपुरिया मिसल

अमृतसर के पास दुआबा जालंधर में फैजुलपुर एक गाँव है। यहीं के जाट सरदार कपूरसिंह ने इस मिसल को कायम किया। कपूरसिंह को फर्रुखशियर के समय में नवाब का खिताब मिला था और वह खालसा का बड़ा लीडर बन गया। उसके धर्मोपदेश के जोश के कारण अगणित जाट सिख-धर्म में शामिल होगये। यहां तक कि पटियाले के राजा आलासिंह ने भी उसके हाथ से सिख धर्म की दीक्षा ली थी। ढाई हज़ार सवार हर समय उसके पास तैयार रहते थे। देहली तक लूट मार करने में इसको कोई रोकने वाला नहीं था। सतलज के दोनों किनारों पर इसका अधिकार होगया। सभी मिसलों के सरदार इसे श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे, और सब की निगाह में नवाब कपूरसिंह महात्मा था। इसके राज्य के मुख्य स्थानों में से जालन्धर, नूरपुर, बहरामपुर, पट्टी और भरतगढ़ के इलाके विशेष उल्लेखनीय हैं। इसकी मृत्यु के बाद इसका बेटा

खुशहालसिंह रियासत और मिसल का सरदार बना। खुशहालसिंह ने भी बहादुरी के साथ इस मिसल का नेतृत्व किया। १७६५ ई० में खुशहालसिंह की मृत्यु के पश्चात् मिसल का सरदार उसका पुत्र बुधसिंह हुआ जिससे महाराज रणजीतसिंह ने कुल प्रदेश जीतकर अपने अधिकार में कर लिया। किन्तु पीछे जब महाराज रणजीतसिंह की बृटिश गवर्नमेण्ट से मित्रता हुई और दोनों राज्यों की सीमा बन्दी हुई तो इसका इलाका बृटिश गवर्नमेण्ट की हद में आगया जिसमें से कुछेक देहात बुधसिंह की औलाद के पास अब तक हैं।

सिक्ख-धर्म के लिये जाटों के बलिदान

यों तो सिक्ख-धर्म से पंजाब के जाट उत्कर्ष को प्राप्त हुए, या यों कहना चाहिये कि उनकी एक दम से काया ही पलट गई; परन्तु सिक्ख-धर्म के लिये जाटों ने बलिदान भी अपूर्व किये। बाबा नानक गुरू से लेकर उन्होंने नवें गुरू तक उनकी पूरी सहायता की और गुरु गोविन्दसिंह के समय से तो अपने सर्वस्व से बढ़ कर सिक्ख-धर्म को मान लिया था। और यही कारण था कि वे सिक्ख-धर्म पर ज्यादा संख्या में कुरबान हुए और इसमें भी सन्देह नहीं कि दुर्द्धर्ष पठानों की नृशंसता के काल में सिक्ख-धर्म इन्हीं की वजह से उन्नति को प्राप्त हुआ।

गुरु गोविन्दसिंह ने देवी के बलिदान के बहाने जो सिक्खों की परीक्षा ली थी और जिसमें केवल पाँच ही व्यक्ति उत्तीर्ण हुए थे, उसमें भी धर्मसिंह नामक जाट ने बलिदान के लिये आगे बढ़ कर जाटों को उस परीक्षा में उत्तीर्ण कर दिया। यही क्यों 'सैरे पंजाब' के लेखक के शब्दों में वह जाट ही थे जो कि गुरु गोविन्दसिंह के लिये उस हालत में प्राण देने को बढ़े जब कि उनके पारिवारिक जन और स्त्री, पुत्र तक इस बात के लिये राजी नहीं हुए कि गुरु गोविन्दसिंह की एवज में देवी पर अपना सर चढ़ा दें। 'पंजाबे सैर' में यह घटना इस प्रकार लिखी है-"गुरु गोविन्दसिंह ने नैना देवी को जो कि माखूवाल में स्थित है, ब्राह्मण और पंडों से पूजा तथा हवन करवा कर प्रसन्न किया। देवी ने होम से प्रगट होकर गोविन्दसिंह के हाथ में तलवार दी। यह उस देवी के तेज को बरदाश्त न कर सके और बेहोश होकर गिर पड़े। देवी गायब हो गई। ब्राह्मणों ने गोविन्दसिंह को होश में लाने के लिए यह तजवीज पेश की कि किसी आदमी का सर होम में चढ़ाया जाय। उनके कुटुम्ब वालों में से जब कोई राजी नहीं हुआ तो ब्राह्मणों ने गुरु गोविन्दसिंह की पत्नी से उसके पुत्रों का सर चढ़ाने के लिए कहा, लेकिन उसने इन्कार कर दिया। यह देख कर जाट सिक्खों ने अपना सिर देकर गोविन्दसिंह को बचाने के लिए इच्छा प्रगट की उनके सर चढ़ाये गए। गुरु गोविन्दसिंह अच्छे हो गए। आकाशवाणी हुई कि औलाद जाट-सिक्खान को राज्य प्राप्त होगा, क्योंकि उन्होंने अपने सर चढ़ा दिये हैं।" इसी कथन का जनरल कनिंघम ने भी अपने सिक्ख-इतिहास में उल्लेख किया है।

सम्वत् १७५८ विक्रमी में जिस समय गुरु गोविन्दसिंह की राजा अजमेर-चन्द के साथ में लड़ाई हुई तो उस समय भी गुरु की रक्षा के लिए रामसिंह नामक जाट सिक्ख ने अपने प्राण दिये। घटना इस तरह से है कि—लड़ाई के समय में गुरु गोविन्दसिंहजी अपनी पगड़ी बाँध रहे थे। कीर्तिपुर के किले के किलेदार ने इनको तोप के गोले से उड़ा देना चाहा। गोला छोड़ दिया गया और गुरुजी का काम तमाम होने ही वाला था कि रामसिंह गुरुजी के आगे जाकर खड़ा होगया। तुरन्त उसका सिर गोले से उड़ गया और इस तरह से उसने अपने प्यारे सिक्ख-धर्म के नेता के लिए अपने को वलिवेदी पर चढ़ा दिया।

सिख-धर्म पर शहीद होने वाले सैकड़ों जाटों में से दो एक का संक्षिप्त वर्णन यहाँ और देते हैं। मांझदेश के पूलापुर नामक ग्राम में तारूसिंह नाम के एक जाट जमींदार थे। एक वृद्ध माता और १३,१४ वर्ष की एक कुआरी बहिन के सिवा और कोई उनके परिवार में नहीं था। वे इतने धर्म प्रिय थे कि खेत में जो कुछ पैदा होता उस सब को (तीन प्राणियों के खरच से बचे हुए को) पंचखालसा की सेवा के लिये दे देते थे। कभी कभी तो आप साग पात पर गुजर करते और जो सिख महमान उनके यहाँ आ जाते उनका पूरी तरह से आतिथ्य करते। तारूसिंहजी ने अपना विवाह केवल इसीलिये नहीं किया था कि वह अपना निज का खर्च बढ़ाना नहीं चाहते थे। सम्वत् १८०७ में किसी ने लाहौर के सूबेदार के पास जा करके तारू-सिंह की सिखों को सहायता देने वाली बात को चढ़ा-बढ़ा करके उसकी चुगली की। उस समय सूबेदार ने यह हुक्म कर रखा था कि जो कोई सिखों की चुगली करेगा उसे १०) रुपया पुरष्कार मिलेगा। तारूसिंह की ऐसी हरकत को सुनकर सूबेदार ने तारूसिंह के गिरफ्तार करने के लिये उसी समय कुछ सिपाही भेज दिये।

तारूसिंह गिरफ्तार करके जब लाहौर के दरबार लाए गए तो उन्होंने दर-बार में पहुँचते ही 'वाह गुरूजी का खालसा' और 'वाह गुरूजी की फतह' का नारा लगाया। सूबेदार इस नारे को सुनते ही महा क्रोधित हुआ। और तारूसिंह से कहने लगा कि तुम डाकू लोगों की सहायता करते हो इसलिये तुम्हें मृत्यु दण्ड दिया जायगा। तारूसिंह ने अपने सहज स्वभाव से कहा—डाकुओं की तो नहीं किन्तु अपने सिख भाइयों की अवश्य सेवा करता हूँ। सूबेदार ने कहा—सिक्ख लोग राज-द्रोही हैं। वह मुस्लिम सुलतान को नष्ट कर देना चाहते हैं और तुम उनकी सहायता करते हो इसलिये तुम्हें कड़ी से कड़ी सजा देनी चाहिए। इस पर भी तारूसिंहजी ने विना डरे और विना उत्तेजित हुए यही उत्तर दिया कि मैं सिक्ख हूँ और सिक्ख भाइयों की सर्व प्रकार के कष्ट सह करके भी सहायता करूंगा। कोई भी शक्ति मुझे कौमी सेवा से वंचित नहीं कर सकती।

आखिर गाजियों की सम्मति के अनुसार सूबेदार ने तारूसिंह को मुसलमान होने के लिये तथा मुसलमान न होने पर चर्ख पर चढ़ा देने की तारूसिह से कही और

तारूसिंह का यह उत्तर पाकर कि—"मृत्यु के भय से धर्म परिवर्तन करना सिंहों का काम नहीं" सूबेदार ने तारूसिंह को चर्ख पर चढ़ा देने का हुक्म दे दिया। जल्लादों ने उसी वक्त तारूसिंह को चर्ख पर चढ़ा दिया। चर्ख की घुमावट से उनका शरीर पिस गया, अस्थियाँ चूर हो गईं, खून के फव्वारे छूट निकले, सहृदय दर्शकों के हृदय हिल गए, वे मुँह फेर कर रोने लगे। लेकिन तारूसिंहजी ने मुँह से आह तक न निकाली। खुद सूबेदार का दिल भी पसीज गया। उसने तारूसिंहजी को चर्ख से उतरवा कर पूछा—यदि तुम दीन इस्लाम क़बूल करलो तो मैं तुम्हें बहुतसा पुरस्कार दूँगा और अभी तुम्हारे प्राण भी बच सकते हैं; तुम्हारी क्या राय है ? मुसकरा कर तारूसिंह ने कहा—"इस्लाम से बढ़ करके भी कोई अत्याचारी धर्म हो और वह भी मुझे डराना चाहे तब भी मैं अपने प्यारे सिक्ख धर्म को नहीं छोड़ सकता।" सूबेदार की आत्मा भाई तारूसिंह की शारीरिक अवस्था को देखकर काँप उठी और उसने तारूसिंहजी को हिन्दुओं के हवाले कर दिया। हिन्दू उन्हें एक धर्मशाला में ले गये जहाँ पर उनका लाख सुश्रुषा करने पर भी स्वर्गवास हो गया।

शाहबेगसिंह

ये लाहौर प्रान्त के एक साधारण जमींदार के घर में जन्मे थे। लेकिन पढ़ने-लिखने का इन्हें शौक़ था। फ़ारसी में अच्छी योग्यता कर लेने के कारण लाहौर के सूबे में बारह गाँवों की हाकिमी मिल गई थी। यद्यपि ये मुसलमानों के नौकर थे, किन्तु सिख-धर्म के कट्टर अनुयायी और जाति के पूर्ण पक्षपाती थे। जब यह कोतवाल हो गये तो उन सिखों की अस्थियों को जिनको मुसलमानों ने दीवार अथवा पृथ्वी में गढ़वा दिया था निकलवा कर जलवाया और उनके समाधि, देहरे बनवाये। इस कारण से मुल्ला लोग बहुत चिढ़ गये और उन्होंने लाहौर के नये सूबेदार से शाहबेगसिंह की चुगली खाई कि यह सिख-धर्म का पक्षपाती तथा दीन इस्लाम का शत्रु है। जिस दिन काजी लोगों ने सूबेदार से यह चुगली की दैवात् उसी दिन शाहबेगसिंह का पुत्र शहबाजसिंह अपने फ़ारसी शिक्षक से धर्म विषयक शास्त्रार्थ कर बैठा। मौलवी उसके शास्त्रार्थ से चिढ़ गया तो काजी ने इसकी शिकायत भी सूबेदार से कर दी। पिता-पुत्र दोनों को दरबार में बुलाया गया और उनके सामने यही प्रस्ताव रखा गया कि "मौत और इस्लाम में से जिसे चाहो पसन्द कर लो" शाहबेगसिंह ने इसके उत्तर में कहा—"यह हमारा सौभाग्य है कि हम लोग भी धर्म पर प्राण देने वालों की गणना में गिने जायँगे। हमारा सिख-धर्म पवित्र है उसको छोड़ करके हम ऐसे धर्म को स्वीकार नहीं कर सकते जो बर्बरता सिखाता हो।" सूबा लाहौर तथा काजी लोग भाई मनीसिंह और तारूसिंह जैसे धर्म-वीरों की घटनाओं से परिचित थे। किन्तु तो भी उन्हें यह विश्वास था कि हर वक्त मुसलमानों की सुहबत में रहने वाला शाहबेगसिंह समय पर अपनी क़ौम का साथ न देकर के मुसलमानों का साथी रहेगा अर्थात् उनके धर्म को ग्रहण कर लेगा। अब शाहबेगसिंह की ऐसी जाति-प्रेम और धार्मिक कट्टरता की बात सुन

कर काजी लोग तथा सूबा बड़े आश्चर्य चकित हुए। दोनों पिता-पुत्रों को चर्ख पर चढ़ा दिया गया। जब उनका आधा शरीर कुचल गया तो फिर उनसे पूछा गया; किन्तु उन्होंने इस्लाम के बजाय मृत्यु को ही पसन्द किया। जल्लाद चर्ख घुमाते थे और दोनों बाप-बेटे 'सत् श्री अकाल' और 'वाह गुरू की फ़तह' का नारा लगाते थे। काजियों ने शशहवाजसिंह के पास जाकर कहा—तू अभी नौजवान है दुनिया का कोई भी आनंद तूने नहीं देखा है। अगर मुसलमान हो जायगा तो शाही दरबार में अधिकार तो मिलेगा ही साथ ही मुसलमान सुन्दरी से तुम्हारा विवाह भी करवा देंगे। लेकिन शशहवाजसिंह ने काजियों को फटकार दिया। हजारों हिन्दू दोनों पिता-पुत्रों की दशा देख कर रोते थे और पिशाच हृदय मुसलमान सूखी हँसी हँसते थे। जब तक उनके प्राण न निकल गए 'वाह गुरुजी का खालसा' और 'वाह गुरुजी की फ़तह' बोलते रहे।

महताबसिंह, सुखासिंह

मस्सा नाम के एक मुसलमान जागीरदार ने अमृतसर के हरिमंदिर पर अपना डेरा आ जमाया। हरिमंदिर के दालान में खाट पर बैठ करके हुक्का पीने तथा रंडी-भडुओं के नाच गाने करा करके सिक्खों के दिल को दुखाने लगा। अन्त में एक बुलाकासिंह नामक सिक्ख अपने गुरुस्थान की इस दशा से दुखित होकर बीकानेर प्रान्त के जाट सिक्खों के पास पहुँचा और वहाँ जाकर सारी कथा कह सुनाई। वहाँ के जाट सिक्खों ने बुलाकसिंह को बहुत फटकारा कि तुम अपने पूज्य स्थान की ऐसी दशा देख कर भी अब तक जीवित हो? अन्त में बुढ़ासिंह नामक सिक्ख ने अपनी तलवार म्यान से निकाल कर जाट सिक्खों के सामने रख दी और कहा—है कोई ऐसा वीर जो इस तलवार से मस्सा म्लेच्छ का हमारे पास सर काट कर लावे? इस बात के सुनते ही दो युवक एक महताबसिंह मीराकोट निवासी, दूसरे सुखासिंह मांडी ग्राम निवासी उठ खड़े हुए और उसी तलवार को उठा कर अमृतसर की ओर घोड़ों पर सवार होकर के चल दिए। जेठ मास की ठीक दुपहरी में वे अमृतसर पहुँचे और घोड़ों को पेड़ से बाँध कर मंदिर में घुस गए। किसी ने टोका तो कहा कि हम माल-गुज़ारी का रुपया देने के लिए जा रहे हैं। कन्धों पर उन्होंने पैसों से भरी हुई थैलियाँ भी डाल रखी थीं।

मस्सा उस समय भी चारपाई पर बैठा हुक्का पी रहा था। सामने रंडियाँ नाच रही थीं, भांड स्वांग कर रहे थे। साथ में शराब का प्याला भी चल रहा था। कोई शराब पीकर मस्ती में झूम रहा था तो कोई रंडी के गाने पर 'वाह वाह' कह रहा था। मस्सा भी नशे में चूर था। दोनों जाट सिक्खों ने थैलियाँ कन्धे से उतार कर मस्सा के सामने रख दीं। वह उन थैलियों की तरफ़ ज्योंहीं देखने लगा कि एक सिक्ख ने तलवार खींच कर उस का सिर भुट्टा सा उड़ा दिया। दूसरा उन मुसल-मानों के ऊपर टूट पड़ा जो चंद मिनट पहिले 'वाह वाह' का कहकहा लगा रहे थे। थोड़ी ही देर में अपनी सफ़ाई के हाथ दिखा करके और मस्से का सर अपनी थैली

में डील कर तुरन्त बाहर निकल आये और बात की बात में घोड़ों पर सवार होकर हवा से बातें करने लगे। उन दोनों सिक्ख वीरों ने बीकानेर पहुँच कर मस्से का सिर सिक्ख-मण्डल के सामने रख दिया। किन्तु लम्बे सफ़र के कारण तथा मन्दिर की मार-काट से उनके घोड़े और वे जख्मी होने के कारण थोड़े ही दिनों में वीरगति को प्राप्त हो गये।

इनके सिवा जाटों की सिक्ख-धर्म पर शहीद होने की अनेकों घटनाएँ हैं और आज तक पंजाब में उन शहीद वीरों के गीत गाये जाते हैं। लाहौर में शहीदगंज के नाम से आज तक एक स्वतन्त्र मुहल्ला है जो कि धर्म पर बलिदान होने वाले वीरों की स्मृति कराता है। जिस भांति सिक्खों की १२ मिसलों में सब से अधिक के सरदार जाट थे उसी भांति धर्म पर शहीद होने वाले जाटों की संख्या भी अधिक है।

पंजाब-केसरी महाराजा रणजीतसिंह

सिक्खों का १२ मिसलों की स्थापना सम्बन्धी वृत्तान्त पीछे लिखा जा चुका है। इन्हीं १२ मिसलों में सुकरचकिया एक ज़बरदस्त मिसल थी। महाराजा रणजीत-सिंहजी इसी मिसल में पैदा हुए थे।

इस मिसल का नाम सुकरचकिया इसलिए पड़ा था कि इस मिसल के संस्थापक और सदस्य सुकरचकिया गाँव के निवासी थे। सुकरचकिया जाट मिसल थी, क्योंकि इसका नेता सरदार चरतसिंह जाट था। इस मिसल का इतना बल बढ़ा कि आगे चल कर इस मिसल का नेता महासिंह अन्य मिसलों के संचालकों में प्रधान माना गया। सुकरचकिया या सकरचन्द मौजा अमृतसर के निकट था। सरदार चरतसिंह ने थोड़े ही दिनों में वह शक्ति प्राप्त की कि युद्ध के लिये हर समय उनके पास ढाई हजार सैनिक तैयार रहते थे। ज्ञात ऐसा होता है कि यह कुल सिन्ध के जाटों का था, क्योंकि सिन्धान वालिया कहलाने वाले और सुकरचकिया इन दोनों वंशों के पूर्वजों का निकास एक ही स्थान से था। इनके पूर्वज भी (दोनों के) एक ही थे।

चरतसिंह के पूर्वजों का वृत्तान्त जो हमें प्राप्त हो सका है, इस प्रकार से है—सन १४७० ई० के लगभग पिण्डीभट्टियां नामक गाँव में कालू नाम के एक जाट सरदार रहते थे[१]। लड़ाकू मिजाज होने के कारण घर वालों से लड़ कर बाहर निकल पड़े। अमृतसर के पास साँसेरी नामक गाँव में डेरा जमाया। राजासाँसी नाम का गाँव भी इन्हीं का बसाया हुआ है। यहाँ पर कालूजी के एक लड़का हुआ जिसका नाम जादूवंशी था। किसी-किसी इतिहास-लेखक ने उसका नाम ईदूमान भी रक्खा है। साँसी गाँव में रहने के कारण ये लोग आगे चल कर साँसी जाट

१—यह स्थान लाहौर के दक्षिण पश्चिम में आबाद है।

नाम से पुकारे जाने लगे। दन्तकथा के आधार पर यह भी कहा जाता है कि—"कालूजी के बच्चे जीते न थे, इसलिए ज्योतिषियों ने उसे सलाह दी थी कि जन्म-दिन में सब से पहिले आने वाले आदमी को बच्चा पालने को दे दिया जाय और बड़ा होने पर वापिस ले लिया जाय, इस तरह करने से बच्चा दीर्घायु होगा। कालूजी ने ऐसा ही किया; परन्तु सब से पहिले आने वाला आदमी साँसी जाति का था। अतः साँसी द्वारा पालित होने के कारण उसके वंशधर साँसी कहलाये।" यह दन्तकथा अधिक तथ्य नहीं रखती; क्योंकि साँसी जाटों का समूह पहिले से ही मौजूद था जो कि चन्द्र के परियायवाची शब्द शशि से साँसी कहलाते थे। एक दूसरा सासानी नाम का वंश पर्शिया के उत्तर पूर्व बसा हुआ था जिसके लिये 'टाड साहब' ने चन्द्रवंशी साबित किया है। सासानी शब्द जिस प्रकार शशि से बना है उसी प्रकार साँसी शब्द भी शशि से बना है।

कालूजी १७४६ ई० में सांसी को छोड़ कर वजीराबाद के पास सुख्ड में चले आए। यहाँ पर १४८८ ई० में इनका स्वर्गवास हो गया। जादू वंशी ने सांसी जाटों का गिरोह बना करके लूट मार आरम्भ करदी क्योंकि उस समय पंजाब में भारी अराजकता फैली हुई थी। किसी एक शासक का सारे पंजाब पर आधिपत्य न था। जो भी व्यक्ति शक्ति संग्रह कर लेता था वह ही किसी हिस्से का शासक बन बैठता। जाट कौम स्वभावतः या तो अराजकवादी थी या प्रजा तन्त्रवादी। परन्तु परिस्थितियों ने उसे विवश कर दिया कि उसके अनेक नौजवानों के हृदय में एकतन्त्र शासन या साम्राज्य क़ायम करने की भावनायें जाग्रत हो उठीं। जादू भी ऐसे ही नौजवानों में से थे। राज्यवाद के विकास में एक स्थान डाके का भी है। प्रायः अनेकों बड़े-बड़े राजा आरम्भ में डांकू की शकल में थे। जादू अपने साथियों समेत डांका डाल करके धन संग्रह करता था और उस धन से साथियों की संख्या बढ़ाता था। सन् १५१५ ई० के एक धावे में यह अपने अनेक साथियों के साथ मारे गए। जादू के मारे जाने के बाद उनका पुत्र गालिब सांसी जाटों का सरदार बन बैठा। गालिब के लिये मन्नू भी कहा जाता है। उसने बहुत सा धन और गाय घोड़े संग्रह कर लिये। लगभग तीस साल के अरसे में बहुत सा धन लूट मार के जरिये से संग्रह किया। सन् १५४६ ई० में उसकी मृत्यु हो गई। उसकी मृत्यु के बाद उसका बेटा किद्दू सुख्ड गाँव को छोड़ कर के गुजरानवाला के पास सुकरचकिया गाँव में जाकर आबाद हो गया। यह बिलकुल शान्त स्वभाव का लड़का था, इसलिये लोग इसको रामथल या भगतजी भी कहते थे। बाप के संग्रहीत धन से बहुत-सी ज़मीन ख़रीदी और निष्कण्टक तथा निश्चिन्तता का जीवन व्यतीत करने लगा। अपने बाप की सी इसमें न उमंगें थीं न ऊँचे इरादे। सन् १५७८ ई० में यह मर गया।

इसके दो लड़के थे—राजदाव और प्रेमू। बड़ा लड़का शान्त स्वभाव का था, उसने गुमुंखी पढ़ करके व्यापार का काम आरम्भ कर दिया और उसका देहान्त १६२० ई० में हो गया। उसके तीन उत्तराधिकारी लड़कों में तेलू और नीलू तो

भारत का नेपोलियन

पंजाब केसरी महाराजा रणजीतसिंह ।

युवावस्था में ही मर गए लेकिन तीसरा बेटा तखतमल अपने बाप के धन्धे-व्यापार द्वारा बड़ा भारी साहूकार बन गया। उसके दो बेटे थे—एक बाबू दूसरा बारा। बाबू ऐसे लोगों के दल में मिल गया जो लूट-मार के जरिये से मालामाल होना चाहते थे और साथ ही राज्य भी क़ायम करना चाहते थे। बारा गुजरानवाला के एक भगत का चेला बन गया और ग्रन्थ साहब को पढ़ कर सिक्ख-धर्म का प्रचार करने लग गया। सिक्ख-धर्म का वह इतना बड़ा प्रेमी था कि चलते, फिरते, उठते, बैठते, खाते, पीते, उसका प्रचार करता रहता था। सन् १६७६ ई० में मरते समय उसने अपने बेटे बुद्धा को सब से पहिले यही आज्ञा दी कि सिक्ख हो जाय और सिक्ख-धर्म का प्रचार करता रहे। बुद्धा ने अपने बाप का हुक्म मान करके सन् १६६२ ई० में सिक्ख धर्म की दीक्षा ली। बुद्धा बड़ा बहादुर, साहसी और पराक्रमी था। सिक्खों के एक बड़े दल ने इसे अपना नेता मान लिया। वह इस दल के साथ लूटमार करने लगा। अपनी दिलेरी और बहादुरी के प्रताप से उसने अपना बड़ा नाम पैदा किया और रहने के लिये एक विशाल भवन बनवाया। जैसा वह वीर था वैसी ही उसके पास देसू नाम की एक अबलख घोड़ी थी जिस पर चढ़कर उसने पचासों बार झेलम, चिनाब और रावी नदियों को पार किया था। उसकी बहादुरी इसीसे जानी जाती है कि उसके शरीर में तलवार और बर्छों के चालीस घाव थे। जिधर से वह निकल जाता था लोगों में आतंक छा जाता था। सन् १७१६ ई० में उसकी मृत्यु हो गई।

बुद्धासिंह की मृत्यु के बाद उसकी पतिव्रता और सत्यवती स्त्री ने कलेजे में तलवार भोंक कर जान दे दी, क्योंकि ऐसे बहादुर पति के वियोग को बरदाश्त नहीं कर सकती थी। इस प्रकार वह अपने पति के साथ सती हो गई। बुद्धासिंह के दो बेटे नौधसिंह और चन्दासिंह नाम के थे। चन्दासिंह की औलाद के लोग सिंधिया वाले कहे जाते थे। दोनों लड़के अपने बाप के समान वीर थे। उन्होंने सुकरचकिया गाँव को नये सिरे से बसाया और बहुत से वीरों को एकत्रित कर आस-पास के गाँवों को अपने अधिकार में कर लिया। नौधसिंह आक्रमण करने में इतना बहादुर था कि रावलपिण्डी से सतलज तक उसका खौफ़ छा गया था। मजीठ के साँसी जाट गुलाबसिंह ने अपनी लड़की की शादी नौधसिंह के साथ कर दी और गुलाबसिंह और उसका भाई नौधसिंह का साथ देने लगे।

अहमदशाह अब्दाली ने भारत पर जब पहिला हमला किया था तो नौधसिंह ने नवाब कपूरसिंह के साथ मिल कर अब्दाली की सेना पर आक्रमण कर दिया और बहुत सा माल असबाब लूट लिया। इस लूट में उस के हाथ इतना माल लगा कि वह सुकरचक का सरदार कहलाने लगा। यह अहमदशाह अब्दाली वही था कि जिसने सन् १७६१ ई० में पानीपत के मैदान में भारत की भाग्य-श्री को समाप्त किया था। इस प्रकार से नौधसिंह महाराज सूरजमलजी भरतपुर का समकालीन ठहरता है। नवाब कपूरसिंह सिक्खों में बहुत ही पूज्य थे। सिक्ख लोग उनको

रिद्ध-सिद्ध सम्पन्न महा पुरुष समझते थे। इनके साथ में सिक्खों का एक बड़ा भारी दल रहता था। राजा आलासिंह ने जो कि पटियाले के संस्थापक थे, अपने पुत्र लालसिंह तथा दौहित्र अमरसिंहजी को इन्हीं नवाव कपूरसिंहजी के हाथ से अमृत पिलवा कर सिक्ख-धर्म की दीक्षा दिलवाई थी। इस प्रकार से राजा आलासिंहजी भी महाराज सूरजमल तथा जवाहरसिंह के समकालीन थे।

सन् १८४८ ई० में अफ़गानों से युद्ध करते हुए नौधसिंह के गोली लगी। उसी की पीड़ा से इनका देहान्त हो गया। जिस समय नौधसिंह का देहान्त हुआ था उस समय उनके लड़के चरतसिंह की अवस्था केवल ५ साल की थी। सन् १७५४ ई० के करीब उसने कुछ मज़हवी साँसी जाट और दूसरे लुटेरों का गिरोह इकट्ठा करके लूट-मार शुरू कर दी। उसने गुजरानवाला में एक मिट्टी का दुर्ग वना लिया और सिक्खों की एक मिसल वनाई। उसका इतना खौफ़ वढ़ा कि वकाली के सर्दार मुहम्मदयार ने केवल डर की वजह से अपना रियासत का इन्तज़ाम चरतसिंह के सुपुर्द कर दिया और खुद १५ सवारों के साथ उसके गिरोह में शामिल हो गया[१]। चरतसिंह के पास आरम्भ में सिर्फ १५० सवार थे जिनकी मदद से उसने गुजरानवाला के किले पर कब्जा कर लिया और वहाँ के अमीरसिंह नामक एक साँसी सर्दार की लड़की से शादी कर ली[२]। अमीरसिंह भी इतना वहादुर था कि उसने झेलम से लेकर दिल्ली तक लूट-मार की थी। उसके मुक़ाविले में खड़े होने की हिम्मत वहुत कम लोगों की पड़ती थी। इन दोनों सर्दारों ने मिल कर के अमीनावाद पर हमला किया और वहाँ के मुग़ल सर्दार का क़त्ल कर डाला। इनकी लूट-मार और वहादुरी से लाहौर के सूवेदार को सशंक होना पड़ा। सन् १७५७ में इनकी वढ़ती हुई ताक़त को देखकर उसने इन पर हमला किया; परन्तु चरतसिंह और अमीरसिंह की मार के सामने मुसलमान ठहर न सके, वे भाग खड़े हुए और उनका वहुत सा सामान चरतसिंह के हाथ लगा। इस लड़ाई में लाहौर के मुसलमान सर्दारों को काफ़ी नुक़सान सहना पड़ा और उनको यह अनुभव हो गया कि हम चरतसिंह का मुक़ाविला नहीं कर सकते। विना शक्ति, सहायता के इनसे विजय पाना असम्भव है[३]।

चरतसिंह जैसा वहादुर और पराक्रमी था वैसा ही नीतिज्ञ और अग्रसोची भी था। उसने अपनी नीति से जस्सासिंह और भंगी सरदारों से मेल-जोल पैदा कर लिया था। उसकी तीक्ष्ण वुद्धि का पता इस वात से चल जाता है कि अहमदशाह अव्दाली से जव कि वह पानीपत से लौटकर आ रहा था टक्कर लेने की तैयारी से

१—तारीख पंजाव। पेज ३८४। भाई परमानन्द लिखित। २—स्मरण रहे साँसी वंश था गोत्र नहीं। ३—लाहौर के इस मुसलमान सरदार का नाम कि जिसका चरतसिंह से युद्ध हुआ था ईदखाँ था।

पहिले ही उसने स्त्री-बच्चे और माल असबाब को जम्बू भेज दिया था[१]। पानीपत के युद्ध में महाराज सूरजमल ने सदाशिवराव भाऊ को भी यही सलाह दी थी कि माल असबाब और स्त्री-बच्चों को किसी सुरक्षित स्थान में भेज दे। किन्तु भाऊ ने सूरजमल की सलाह को न माना और आखिरकार उसके उत्तराधिकारियों ने इसका फल भोगा। विचारणीय बात तो यह है कि जिस बात को ब्रज का जाट सोचता है उसी को पंजाब का जाट भी सोच लेता है और भाऊ की भांति मूर्ख नहीं बनता। इसके सिवाय चरतसिंह ने एक बात यह और की कि अब्दाली के आने से पहिले ही आस-पास के पठानों को लूटपाट करके कमजोर बना दिया। अहमदशाह अब्दाली का दल बहुत था और पठान विजय के मद में चूर थे और वे हिन्दुस्तानी लोगों को गाजर-मूली समझते थे। उनका साहस बढ़ा हुआ था; फिर भी उनकी फौज पर छापा मार के उनको तंग कर ही दिया। अहमदशाह की फौज व्यास नदी को जब पार कर रही थी तब जाट सिखों ने ऐसा हमला किया कि उनके होश उड़ गये। दोनों ओर से खूब लड़ाई हुई। अन्त में पठान भाग निकले। पठानों के भागने से कैदी हिन्दू लोग भी छूट कर सिखों का जय जयकार मनाने लगे। अहमदशाह ने अपनी फौज के लोगों को बहुत तिरष्कृत किया कि वे जाटों के सामने से भाग खड़े हुए। अहमदशाह की यह भी इच्छा हुई कि कुछ दिन लाहौर में निवास करके सिखों का उचित प्रबन्ध किया जावे। परन्तु किसी कार्य विशेष से व्यग्र होकर उसको उसी काल में काबुल की ओर रवाना होना पड़ा।

वहाँ जाकर उसने एक नूरुद्दीन नामक सरदार को सात हजार फौज देकर सिखों के अत्याचार शान्त करने को भेज दिया[२]। इधर इन दिनों में अब्दाली के चले जाने के बाद चरतसिंह ने वजीराबाद और अहमदाबाद को लूटकर अपने कब्जे में कर लिया। अहमदाबाद में उसे खबर मिली कि नूरुद्दीन हिन्दुओं को तंग कर रहा है तो झट वह उसके मुकाबिले पर पहुँच गये[३]। दोनों ओर से अत्यन्त साहस से लड़ाई हुई। अनेक वीर महानिद्रा में शयन कर गये। नूरुद्दीन पराजित होकर भाग निकला और स्यालकोट के किले में जा घुसा। जब शिखों ने स्यालकोट को भी घेर लिया तो वहां से रात्रि में भाग कर जम्बू में जा पहुँचा[४]। चरतसिंह ने नूरुद्दीन को लूटने के बाद चकवाल और पिण्डदादनखाँ को फतह किया और वहाँ के मुसलमानों से बहुत सा जुर्माना वसूल किया था। इन जगहों के मुसलमान चरतसिंह के सामने माफी माँगने को खड़े हुए तो उसने उदारतापूर्वक उनकी जान बक्स दी। इसके बाद कोट साहबखां और राजाकाकोट नामक स्थानों को फतह करके गुजरानवाला वापिस आया[५]।

१—तारीख पंजाब। पे० ३८४। भाई परमानन्द लिखित। २—इतिहास गुरु खालसा। पेज ५६३, ६४। ३—तारीख पंजाब। पेज ३८५। भाई परमानन्द लिखित। ४—इतिहास गुरु खालसा। पेज ५६४। ५—तारीख पंजाब। पेज ३८५। भाई परमानन्द लिखित।

नूरुद्दीन के पराजित होने का समाचार लाहौर के सूबेदार ख्वाजा हमैयद खाँ ने सुना तो वह भी अपनी फौज लेकर के सिखों के साथ मुकाविला करने के लिए निकल पड़ा। गुजरानवाला के समीप पहुँच कर भयानक युद्ध हुआ और यहाँ पर भी विजयलक्ष्मी सिखों के ही हाथ रही और हमैयद खाँ भाग कर लाहौर चला गया। चरतसिंह की इन विजयों से उसका प्रभाव हिन्दू और मुसलमान तथा सिख सभी पर छा गया।

इन दिनों जम्वू में रणजीतदेव राज्य करता था जिसका विस्तृत वर्णन 'राजतरङ्गिणी' में मिलता है। वह अपने बड़े बेटे ब्रजराज से अप्रसन्न था। उसको राज्य से वंचित रख कर अपने छोटे लड़के दयालुसिंह को राज्यगद्दी देना चाहता था। ब्रजराज ने विद्रोह का झण्डा खड़ा किया और चरतसिंह से मदद मांगी। अपने बाप को राज से अलग कर देने के बदले में बहुत सा रुपया बतौर सालाना खिराज के देने का वायदा भी चरतसिंह से किया। चरतसिंह की रणजीतदेव से पहिले से ही शत्रुता थी; गोकि हिन्दू राजा से युद्ध करने का यह पहिला ही अवसर था। परिस्थितियाँ मनुष्य को लाचार कर देती हैं। चरतसिंह मुसलमानी राज्य को उखाड़ कर पंजाब में जाटशाही क़ायम करने का इच्छुक था। इसके लिये उसे स्थाई सम्पत्ति और अधिक सेना की आवश्यकता थी। रणजीतदेव से लड़ कर विजयी होने में उसकी यह समस्या हल होती थी। इसलिए उसने इस समय को अच्छा अवसर समझ कर के जम्वू पर चढ़ाई करदी। चाहिये तो यह था कि सभी सिख-जाट चरतसिंह की मदद करते। परन्तु भङ्गी नसल के जाट कुछ लोभ में आकर रणजीतदेव के साथ मिल गये। चरतसिंह की सहायता के लिए कन्हैया मिसल का सरदार जयसिंह भी साथ था। इन्होंने जम्वू राज की वसन्ती नामक नदी के किनारे अपनी सेना उतार दी। जब जम्वू नरेश को यह समाचार मिले तो उसने अपनी सहायता के लिए चम्बा, नूपुर, बूशहर और कांगड़ा के सरदारों से मदद मँगवाई क्योंकि वह जानता था कि चरतसिंह से सामना करना मेरी ताक़त से बाहर है। जब उसकी मदद को वह लोग आगए तब उसने चरतसिंह का सामना उसी नदी के किनारे किया जहाँ कि उसकी सेना पड़ी हुई थी। चरतसिंह लड़ाई लड़ने में खूब निपुण था। उसने कई ओर से रणजीतदेव की फौज पर आक्रमण किया। आक्रमण के समय छोटी-छोटी टोली सैनिकों की भेजता था। उसमें बहादुरी की एक खास बात यह भी थी कि वह इन फौजी टुकड़ियों के साथ खुद जाता था। चरतसिंह की जीत अवश्यम्भावी थी किन्तु उसकी तोड़ेदार बन्दूक के फट जाने से उसकी मृत्यु हो गई और अपने ऊँचे विचार लेकर के सदा के लिए दूसरी दुनियाँ को चला गया। मृत्यु के समय उसके बड़े लड़के महासिंह की अवस्था केवल १० साल की थी।

महत्वाकांक्षी पुरुष अपनी समाज के लिए आदर्श होते हैं। चरतसिंह भी ऐसे ही महापुरुषों में से था। जिसने अपनी जाति के सामने एक महान् आदर्श

राय बहादुर चौधरी छोटूरामजी भूतपूर्व मिनिस्टर पंजाब (रोहतक)

जाट की लिपि का एक नमूना
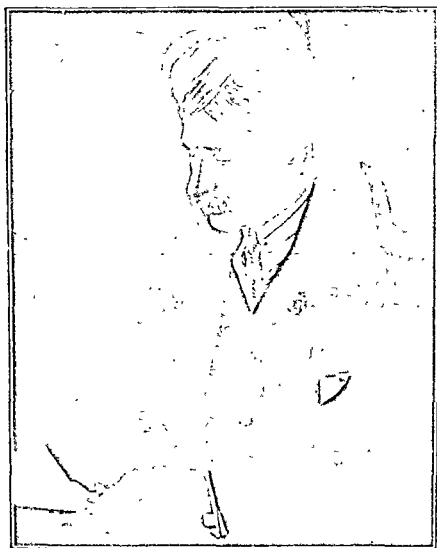
रक्खा उसी आदर्श पर चल कर के आगे उसकी सन्तान ने इतनी उन्नति की कि उसका पोता पंजाब-केसरी के नाम से पुकारा जाने लगा। चरतसिंह ने अपने बेटे के लिए तीन लाख सालाना आय का इलाक़ा छोड़ा था। यह सब कुछ उसने तलवार के बल से प्राप्त किया था। भङ्गी मिसल का सरदार झण्डासिंह जो कि रणजीतदेव के साथ मिल गया था चरतसिंह की धर्मपत्नी और सरदार जैसिंह-कन्हैया ने एक महतर के हाथ से उसे मरवा दिया। उसकी मृत्यु से झगड़ा मिट गया और सेनायें अपने-अपने देश को वापिस लौट गईं। यह घटना सन् १७७४ ई० की है।

चरतसिंह की मृत्यु के एक साल बाद महासिंह ने झींद के स्वामी राजा गजपतसिंह की भाग्यवती कन्या राजकुँवरि से विवाह किया। महासिंह बड़ी भारी बरात लेकर झींद में आए। फुलकिया मिसल के सारे सरदार इनकी अगवानी को आये थे। विवाह के भोज और आनन्द आदि के समय नाभा और झींद के बीच एक झगड़ा उत्पन्न हो गया। कारण यह था कि बरातियों ने चराई की भूमि से घास काट ली थी। नाभा के कार्य कर्ताओं ने इन पर आक्रमण कर दिया। झींद का राजा विवाह का अवसर देख कर चुप रहा। जब उसको अवकाश मिला तो उसने नाभा के राजा हमीरसिंह को पकड़ कर उस के बहुत से इलाक़े दबा लिए।

महासिंह की नाबालिग़ी में उसके राज्य का कुल काम उसकी माँ देशां ने सँभाला। उसके कुछ सरदार बाग़ी भी हुए परन्तु उनकी बग़ावत असफल रही। देशां ने कन्हैया सरदार के साथ मिल कर रसूल नगर पर हमला किया जहाँ कि छत्ता मुसलमान राज करते थे। उनके शासक का नाम पीर मुहम्मद था। इस युद्ध में महासिंह भी मौजूद था। यद्यपि उसकी उम्र केवल १२ साल की थी तो भी युद्ध के कला-कौशल में अपने बाप से भी बढ़ा-चढ़ा था। इस लड़ाई का कारण यह है कि भंगी सरदार झण्डासिंह ने अहमदशाह अब्दाली की सेना पर आक्रमण करके जमजमा नामक तोप को छीन लिया था और उसे पीरमुहम्मद के पास अमानत के रूप में रख दिया था। वह उस तोप को देने से इन्कारी हो गया क्योंकि तोप बढ़िया थी। जब महासिंह ने उसके इलाके पर आक्रमण करके लूट-मार की तो पीरमुहम्मद ने सन्धि करने की प्रार्थना की। परन्तु महासिंह सहमत नहीं हुआ और उसने पीरमुहम्मद को मार दिया और उसके बेटों को तोपों के मुँह के साथ बाँध कर उड़ा दिया। इस बात से उसकी कीर्ति बहुत बढ़ गई। महासिंह ने रसूल-नगर का नाम रामनगर और अलीपुर का नाम अकालगढ़ रख दिया। पीरमुहम्मद के कुल इलाक़े को अपने राज्य में मिला लिया।

इस घटना के दो वर्ष पश्चात् महासिंह[१] के यहाँ रानी राजकौर के गर्भ से रणजीतसिंह का जन्म हुआ। महासिंह ने पुत्रोत्सव में बड़ी भारी खुशी मनाई।

१—महासिंह का एक भाई भी था जिसका नाम मोहिजसिंह था। 'पंजाब-केसरी' पे० १३।

कई दिन तक भोज होते रहे। कहते हैं सारे सिखों को भोज दिया गया था और हजारों रुपये दान किये गये थे। कुछ वर्ष बाद बालक रणजीतसिंह के चेचक निकली। महासिंह ने बहुतेरे दान पुण्य किये। ज्वालामुखी और कांगड़ा को तोहफ़े भेजे। बालक रणजीत की जान तो बच गई किन्तु एक आँख जाती रही। मुँह पर चेचक के दाग भी हो गए क्योंकि चेचक रणजीतसिंह के बड़े जोर से निकली थी।

इन्हीं दिनों तैमूरशाह ने भारत पर आक्रमण किया। मुल्तान और बहावल-पुर पर भंगी सरदारों का राज्य था। तैमूरशाह की लड़ाई में वे विजय प्राप्त न कर सके और उन्होंने बहावलपुर तथा मुल्तान को छोड़ दिया। भंगी सरदारों को इतना कमजोर समझ कर महासिंह ने उनके ईशाखेल और मूसाखेल स्थानों पर कब्जा कर लिया और झंग पर चढ़ाई करदी। चूंकि भंगी सरदार आपसी झगड़ों में लगे हुए थे, इसलिये उन्होंने महासिंह का मुकाबिला नहीं किया। महासिंह का साहस और भी बढ़ गया और उसने स्यालकोट के निकटस्थ कोटली स्थान पर भी कब्जा कर लिया। यह स्थान बन्दूक़ बनाने में बड़ा प्रसिद्ध था। यहाँ की बनाई हुई बन्दूक़ें उस समय पंजाब में बढ़िया समझी जाती थीं। इस स्थान पर महासिंह ने आस-पास के कई छोटे-छोटे सरदारों को मंत्रणा करने के बहाने से बुला लिया और क़ैद कर लिया। कहा जाता है कि उन पर बड़े जुर्माने किये और जुर्माने की रकम वसूल हो जाने पर उन्हें छोड़ा।

इतने में उसे खबर लगी कि जम्बू का राजा ब्रजराज व्यभिचार में फंसकर प्रजा की गाढ़ी कमाई को स्वाहा कर रहा है और उसकी प्रजा भी उससे तंग आ रही है। राज-काज की ओर से वह इतना लापरवाह है कि भंगी सरदारों ने उसका बहुत इलाका छीन लिया है। इस खबर से महासिंह की इच्छा हुई कि जम्बू पर कब्जा करने का यह दैवी-मौका है। इधर ब्रजराज सोच रहा था कि महा-सिंह से सहायता लेकर अपने छिने हुए इलाकों को वापिस ले लेना कोई कठिन काम नहीं है। इसलिये उसने महासिंह से मदद माँगी। महासिंह ने पहिली मित्रता का ख्याल करके ब्रजराज को मदद दी भी किन्तु कन्हैया मिसल के सरदार हकी-कतसिंह से विजय प्राप्त नहीं हुई। इस तरह ब्रजराज को दुहरा घाटा उठाना पड़ा। उसने जुर्माने के स्वरूप कन्हैया सरदार को पचास हजार सालाना दे करके जान बचाई। जब ब्रजराज कायदे के अनुसार अदायगी न कर सका तो कन्हैया सरदार ने महासिंह को समझा-बुझाकर अपने साथ मिल जाने पर राजी किया। शर्त यह रक्खी गई की जम्बू राज्य को दोनों आधा-आधा बाँट लें। महासिंह राजी हो गया और बहुत सी फौज लेकर जम्बू पर चढ़ गया। किन्तु कन्हैया सरदार से पहिले पहुँच जाने के कारण उसने बिना उसके आये ही जम्बू पर धावा बोल दिया। ब्रज-राज में यह शक्ति न थी कि वह महासिंह का सामना कर सके इसलिये वह भाग गया। महासिंह ने जम्बू शहर की बड़ी भारी लूट करवाई और अपने देश को बहुत सा लूट का धन लेकर चल दिया। कन्हैया सरदार ने महासिंह के इस काम को

दगाबाजी समझा। वह बहुत नाराज हुआ। इसी नाराजगी और चिन्ता में थोड़े ही दिनों में उसका देहान्त हो गया।

सन् १७८४ ई० में दिवाली के मौक़े पर महासिंह अमृतसर में स्नान करने को गया। यहाँ उसे कन्हैया मिसल के सरदार हकीकतसिंह का लड़का जैसिंह मिला। वह महासिंह से इस बात से बहुत नाराज था कि उसने उसके बाप हकीकतसिंह के साथ धोका करके अकेले ही अकेले जम्बू को लूट लिया। इसी कारण से उसने महासिंह के बहुत से इलाके को अपने काबू में कर लिया था। महासिंह ने अमृतसर की इस मुलाकात में जैसिंह से मित्रता करने के लिये बहुत कुछ खुशामद की। परन्तु जैसिंह ने बिना जम्बू की लूट में से हिस्सा लिये मित्रता करना स्वीकार नहीं किया। महासिंह लूट में से हिस्सा नहीं देना चाहता था इस कारण दोनों ओर से तनातनी हो गई और जैसिंह ने यहाँ तक कह दिया कि भगतिया (नाचने वाले लड़के) यहाँ से चले जाओ। महासिंह इसे बरदाश्त न कर सका और कुछ सवार लेकर अमृतसर से बाहर निकल आया। कन्हैया सरदार ने जैसिंह से इस बात का बदला लेने के लिये और उसे नीचा दिखाने के लिये जस्सासिंह रामगढ़िया और राजा संसारसिंह कांगड़े वाले को गांठा। जस्सासिंह की कन्हैया सरदार से पहिले लड़ाई हो चुकी थी और वह भाग कर हांसी पहुँच गया था। उसने बड़ी प्रसन्नता के साथ महासिंह की सहायता करना स्वीकार किया। अन्य सरदार जो जसिंह से अप्रसन्न थे महासिंह के झन्डे के नीचे आ गये।

जैसिंह के निवास-स्थान बटाले में दोनों तरफ़ से बड़ी भारी लड़ाई हुई जिसमें कन्हैया सरदारों को बुरी तरह से हारना पड़ा। जैसिंह का पुत्र गुरुबख्शसिंह मारा गया। जैसिंह ने बाक़ी फ़ौज लेकर नौशहरा में महासिंह पर फिर हमला किया परन्तु इस बार भी हारना पड़ा और भाग कर नूरपुर पहुँचा। सन्धि का जब प्रस्ताव हुआ तो कांगड़े का दुर्ग संसारसिंह को और जस्सासिंह रामगढ़िये का कुल इलाक़ा जो कि जैसिंह ने छीन लिया था फेर देने की शर्त महासिंह की ओर से रक्खी गई। इस मौक़े पर गुरुबख्शसिंह की स्त्री सदाकौर ने बड़ी समझदारी से काम लिया कि अपनी बेटी महताबकौर की सगाई रणजीतसिंह के साथ करके दोनों मिसलों में मेल करा दिया। यह शादी आगे चल करके सन् १७८६ ई० में बड़ी धूमधाम से बटाले में हुई। सन् १७८८ ई० में भङ्गी सर्दार गूजरसिंह का स्वर्गवास हो गया। उसके दो बेटे फतहसिंह और साहबसिंह थे। इन दोनों में राज्य के लिये आपस में झगड़ा हो गया। महासिंह ने साहबसिंह से खिराज माँगा लेकिन साहबसिंह बहुत नाराज हो गया और उसने उनके इलाके गुजरात पर हमला कर दिया। साहबसिंह ने सहोदरा के क़िले में बैठ करके युद्ध किया। तीन महीने तक बराबर महासिंह सहोदरा का घेरा डाले पड़ा रहा परन्तु बीमार होने के कारण उसे अपने स्थान गुजरानवाला में आना पड़ा और वह वहाँ आकर के मर गया।

'तारीख़ पंजाब' के लेखक भाई परमानन्द ने लिखा है कि चरतसिंह और महासिंह दोनों बड़े वीर और विजयी हुये। उनके समय में सुकरचकिया मिसल का दबदबा बढ़ता ही गया और वह सब मिस्लों में बड़ी मानी जाने लगी। खेद है कि इन दोनों महावीरों की स्त्रियाँ अच्छे चलन की न थीं।

रणजीतसिंह से पूर्व पंजाब की अवस्था

लगभग पिछले ८०० वर्षों से पंजाब मुसलमानों के आक्रमणों, लूटमार और अत्याचारों से पीड़ित था। महमूद ग़ज़नवी, मुहम्मदग़ौरी, बाबर, हुमायूं, अकबर, जहाँगीर, औरंगजेब, नादिरशाह, अहमदशाह और तैमूर आदि के आक्रमणों से एक ओर यदि हिन्दुओं का राज्य नष्ट हो गया था तो दूसरी ओर उनका धर्म भी सुरक्षित न था। हिन्दू राजे या तो भाग कर पहाड़ों में छुप गये थे या मुसलमानों से मिलकर अपने ही भाइयों पर अत्याचार कर रहे थे। हिन्दुओं को जबरदस्ती मुसलमान बनाया जाता था। उनकी ललनाओं का अपहरण किया जाता था। जनेऊ और मन्दिर तोड़े जा रहे थे। मसजिद और मक़बरे बनाये जा रहे थे और न होने वाले अत्याचार हो रहे थे। जो लोग मुसलमान नहीं होते थे उन पर जज़िया लगा दिया जाता था। सैकड़ों वर्ष के अत्याचारों को सहते-सहते हिन्दुओं के अन्दर से जातीयता और राज्य-भावना नष्ट हो गई थीं। सामूहिक रूप से अत्याचारों का मुक़ाबिला करना उनके लिये स्वप्न हो गया था। ऐसी हालत में भी जब कि पंजाब की समस्त हिन्दू जातियों को मिल कर मुसलमानों का मुक़ाबिला करना चाहिये था ब्राह्मण हिन्दुओं के अन्दर छुआछूत और नीच-ऊँच के भावों का बीज बो रहे थे। ये ईश्वरीय कृपा थी कि पंजाब के अन्दर गुरु नानक पैदा हुए जिनके उपदेश से जाटों के अन्दर राष्ट्रीयता के भाव पैदा हो गये और उन्होंने ब्राह्मणों की गुलामी के जुए को फैंक करके जाटशाही स्थापित करने के लिये कमर कसी। चरतसिंह, महासिंह, जैसिंह आदि ऐसे ही विचार के लोग थे। सब ही इसी विचार में थे कि अधिक से अधिक भूमि पर जाटों का कब्जा व शासन हो। सिक्खों की बारह मिस्लों में से आठ मिसल जाटों के हाथ में थीं। आठों मिसल बड़ी बहादुरी और तेज़ी के साथ अपना राज्य विस्तार करने की कोशिश में लगी हुई थीं। इन्होंने नादिरशाह, अहमदशाह और तैमूर जैसे दुर्दान्त लुटेरे आक्रमणकारियों के दांत खट्टे किये थे। इनकी बहादुरी और जांनिसारी का पता इससे चल जाता है कि अहमदशाह जैसे विजयी वीर को जिसने कि पानीपत के मैदान में भारत की सबसे बड़ी शक्ति मरहठों को हराया था भंगी मिसल के सरदारों ने आक्रमण करके उसकी नामी तोपों को छीन लिया। बल्कि नादिरशाह ने लाहौर के सूबेदार से पूछा था कि काबुल से लेकर दिल्ली तक मेरा किसी ने सामना नहीं किया; परन्तु ये लोग कौन हैं जिन्होंने छापा मार करके मेरे धन-माल को लूट लिया और फौज को हानि पहुँचाई? तुम मुझे उन लोगों के चिह्न बता दो तो मैं पहिले उनका ध्वंस करूँ, पीछे

अपने देश को जाऊँ। इसके जवाब में जाट-सिक्खों के बारे में सूबेदार-लाहौर ने नादिरशाह को यह जवाब दिया था कि "जहाँपनाह! यह एक विचित्र, जबरदस्त कौम है, जिसका इस समय न तो कोई स्थायी घर है और न कोई मुक़ाम। यदि रात्रि को यहाँ हैं तो दिन को एक सौ कोस दूर पर इनका पता चलता है। जंगलों के फल-फूल और साग-पात आजकल इनकी ख़ुराक है। घोड़ों की पीठ ही इनकी चारपाई है। लड़ कर मरने-मारने के बहुत ही प्रेमी हैं। शीत, धूप और वर्षा उनके लिये सब समान हैं। सिर पर साफ़ा, गले में चोला, कमर में जांघिया इनकी पोशाक है। मुसलमानों के दिली दुश्मन हैं। उनका एक-एक मनुष्य पचास-पचास पर भारी होता है। मृत्यु का तो उनको ज़रा भी भय नहीं है। वे अपने शरीर के ज़ख्मों की मरहमपट्टी नहीं करते, उनके ज़ख्म गेंडे पशु की तरह आप से आप अच्छे हो जाते हैं। हमारे बहुत से मनुष्य इनके हाथों से मर चुके हैं; परन्तु यह लोग काबू में नहीं होते। मजहब इनका हिन्दू व मुसलमान दोनों से निराला है। परस्पर बहुत ही इत्तिफ़ाक रखते हैं। भूख या प्यास की भी कुछ भी परवाह नहीं करते। चाहे उपवासों पर उपवास बीत जाँय, परन्तु लड़ने से मरने तक भी नहीं हटते। इस कौम ने हमारा तो नाक में दम कर रक्खा है।" नादिरशाह इस बात को सुन कर आश्चर्य में पड़ गया और अपने इरादे को बदल दिया। यह सब कुछ होते हुए भी पंजाब के जाटों के अन्दर जो कि सिक्ख धर्म में दीक्षित हो गये थे, कुछ राजनैतिक कमी थी। वह यह कि जिस इलाक़े को फ़तह कर लेते थे उसका शासन-प्रबन्ध किसी योग्य आदमी के हाथ में न सौंप उसे वैसे ही पड़ा रहने देते थे, जिससे वह थोड़े ही समय बाद हाथ से निकल जाता था। दूसरी ये कि राज्य बढ़ा कर मालगुजारी द्वारा धन संग्रह करने की अपेक्षा लूट-मार द्वारा धन संग्रह करते थे। हालांकि उस समय की परिस्थिति के अनुसार कुछ हद तक उनका यह कृत्य उचित भी था, परन्तु सर्वान्श में नहीं। तीसरे ये लूट-मार के लालच से आपस में भी एक दूसरे से लड़ पड़ते थे और एक दूसरे के इलाक़े को लूट लेते थे।

लूट-पाट की अपेक्षा यदि ये लोग राज बढ़ाने को ही अधिक महत्व देते और आपस में लड़ने पर तैयार न होते तो काश्मीर के राज्य पर महासिंह और जयसिंह-ब्रजराज को भगाने के बाद कब्जा कर सकते थे। लेकिन एक ओर जहाँ उनके हृदय में राज्य बढ़ाने की इच्छा थी दूसरी ओर उनमें आपस में प्रतिस्पर्धा थी। यदि उन दोनों में से उस समय एक भी झुक जाता और समझ से काम लेता तो सम्भव है कि आगे चल कर महाराज रणजीतसिंह का कार्यक्षेत्र कुछ अधिक साफ़ हो जाता और उनका वह समय बच कर किसी अन्य कार्य में लग जाता, जो कि इन्हें काश्मीर विजय करने में लग गया था।

परन्तु इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि इन वीरों ने जाट-जाति को जगा करके फिर से रणक्षेत्र में खड़ा कर दिया और उसने सदियों से खोये हुए वैभव को पुनः प्राप्त किया। इससे उनके जात्याभिमान का पता भी चल जाता है कि उन्होंने शहरों के-

मुसलमानी शहरों के नाम पलट दिए और हिन्दू नामों से उनका संस्कार किया। युद्ध सम्बन्धी उनकी यह भी विशेषता थी कि युद्ध में उनके बहुत कम आदमी काम आते थे और बहुत कम क़ैद होते थे। ये उनकी स्त्रियों का भी गुण था कि पति के मरने पर उनके कामों को तुरन्त संभाल लेती थीं। उन्होंने जो भी कुछ प्राप्त किया अधिकांश में वह विदेशी-विधर्मियों से तलवार के जोर से प्राप्त किया था।

रणजीतसिंह का बाल्यकाल

महासिंहजी की सारी उम्र युद्ध में बीती। अपने बाहुबल से वे पंजाब में सब से बड़े इलाकेदार हो गये। परन्तु उनको राजा की उपाधि नहीं प्राप्त हुई थी। जिस समय महासिंह की मृत्यु हुई थी उस समय उनकी अवस्था सिर्फ २७ साल की थी[१]। और रणजीतसिंहजी की सिर्फ १२ साल की थी। इनका लालन-पालन माई मलावां ने किया था। इनकी माँ ने इनके लिए सलाहकार के तौर पर दीवान लखपतराय को रक्खा था। रानी सदाकौर जो कि रणजीतसिंह की सास थीं राजकाज में हर प्रकार की सहायता करती रहती थीं; यह बड़ी समझदार और दिलेर थीं। राज का कार्य सम्भालने में बड़ी चतुर थीं और जब जैसिंह सन् १७९३ ई० में मर गया तो कन्हैया मिसल पर इनका ही अधिकार था। सदाकौर ने सोचा कि रणजीतसिंह की फ़ौज से इस क़दर काम लेना चाहिये कि मेरी और इनकी जागीरों में दूसरों को हस्तक्षेप करने का अवसर न मिले। इसलिए कन्हैया और सुकरचकिया दोनों मिसलों के सारे अधिकार अपने हाथ में रक्खे और सब से पहिले रामगढ़ियों से प्रबन्ध ठीक किया। सन् १७९६ ई० में अपनी और रणजीतसिंह की फौज लेकर सरदार जस्सासिंह रामगढ़िया के इलाके पर जो व्यास नदी के किनारे पर था चढ़ाई की। परन्तु दैवयोग से व्यास नदी में इतने जोर से बाढ़ आई कि सदाकुंवरि के अनेक घोड़े, सिपाही बह गये; तथा रणजीतसिंह बड़ी कठिनता से गुजरानवाला के दुर्ग में पहुँचे। बचपन में रणजीतसिंहजी को कोई शिक्षा नहीं मिली थी क्योंकि सिखों में उस समय शिक्षा का पूरा अभाव था और किसी को पढ़ने-लिखने का शौक न था। इनको किसी भी भाषा का लिखना-पढ़ना न सिखाया था। थोड़े ही दिन बाद उनकी दूसरी शादी नकई सरदार रामसिंह की कन्या के साथ करदी गई। १७ साल की अवस्था में वे अपनी जागीर का काम करने लगे और दीवान लखपति सिंह को अलहदा कर दिया। माँ और सास की संरक्षता से भी अलग हो गये। लखपतसिंह को अलग करने का किस्सा इस प्रकार बतलाया जाता है कि दिलसिंह की सम्मति से लखपतसिंह को कैथल के भयानक युद्ध में भेज दिया जहाँ कि वहाँ के कट्टर जमींदारों ने उसे मार डाला। कहते हैं कि यह काम रणजीतसिंह के इशारे

१—महासिंह ने कबीला छट के बलवान यवन सरदार गुलाम मुहम्मद पर आक्रमण करके उसके माफ़िद पर अधिकार कर लिया था।

से किया गया था। लखपतसिंह बड़ा नमकहराम और परले दरजे का व्यभिचारी था। यद्यपि रणजीतसिंह के चरित्र को सुधारने की किसी को चिन्ता न थी परन्तु फिर भी वह दुर्व्यसनों से बचे रहे। उनका स्वास्थ्य बड़ा अच्छा था। बचपन में ही शादियाँ हो जाने पर भी २० साल तक वह गृहस्थ के झंझटों से बचते रहे। वह अपनी सास के दासत्व से निकल जाना चाहते थे परन्तु सास इस बात को पसन्द नहीं करती थी। वह अधिक से अधिक समय तक राज की बागडोर अपने हाथ में रखना चाहती थी।

इन दिनों काबुल में अहमदशाह का पोता खानजमां बादशाहत करता था। उसकी यह प्रबल इच्छा थी कि वह पंजाब के उन इलाकों पर अपना आधिपत्य रक्खे जिन्हें उसके दादों ने जीता था। इसी लालसा से प्रेरित होकर उसने सन् १७६५ १७६६, १७६७ में पंजाब पर तीन आक्रमण किये। आक्रमण के समय सिक्ख पहाड़ और जंगलों में चले जाते थे और उसके लौटने पर फिर अपने स्थानों पर कब्जा कर लेते थे। पहिले हमले में वह केवल झेलम तक पहुँचा था। सन् १७६७ में तो वह लाहौर तक पहुँच गया और उस पर कब्जा भी कर लिया तथा वहीं निवास भी करने लगा। इसको लाहौर में ठहरा हुआ देखकर सिक्खों ने उत्पात मचा दिया और लूट मार करने लगे। रणजीतसिंह जी भी सतलज पार के इलाके में खिराज उगाहने और कब्जा करने में जुट गये। ऊपरी भाव से कुछ सिक्ख और रणजीतसिंहजी भी शाहजमां से मैत्री के लिये लिखा-पढ़ी करने लगे। इसी बीच शाहजमां को खबर लगी कि उसके देश अफगानिस्तान पर ईरानी लोग हमला करना चाहते हैं तो वह वापिस लौटने लगा। उस समय झेलम में बाढ़ आई हुई थी इसलिये उसकी १२ तोपें नदी में डूब गईं। उसने रणजीतसिंह से कहला भेजा कि यदि तुम मेरी तोपें निकलवा कर पेशावर पहुँचा दोगे तो मैं लाहौर नगर और उसके आस पास के इलाके तुम्हें दे दूंगा; साथ ही राजा की उपाधि भी प्रदान करूंगा। रणजीतसिंह ने उनमें से ८ तोपें शाहजमां के पास भेज दीं। शाहजमां ने भी अपने वचन का पालन करने के लिये लाहौर के सूबे की सनद और राजा का खिताब रणजीतसिंहजी को दिया। किन्तु यह केवल नियम पालन मात्र था। लाहौर पर कब्जा तो उन्हें तलवार के जोर से करना पड़ा।

शाहजमां के काबुल की ओर लौट जाने पर जब कि रणजीतसिंहजी अपनी राजधानी को लौट रहे थे तो छत्ता के सरदार हसमतखाँ ने उन्हें छिप कर कतल करने का षडयंत्र रचा। एक दिन जब कि रणजीतसिंहजी शिकार से लौट कर वापिस डेरे पर आ रहे थे यकायक हशमतखाँ ने हमला कर दिया। उसकी तलवार से रणजीतसिंह की घोड़ी की लगाम के दो टुकड़े हो गये। वह दूसरा वार करना ही चाहता था कि झट से रणजीतसिंहजी ने उसका सिर उतार लिया। उसकी इस गुस्ताखी के बदले में उसके सारे इलाके को अपने राज्य में मिला लिया।

लाहौर पर प्रभुत्व

लाहौर नगर प्राचीन समय से प्रसिद्ध चला आता है और यह पंजाब की राजधानी समझा जाता था। जब से जाट-सिखों के अन्दर राज्य-भावना पैदा हुई थी तभी से वे लाहौर पर आधिपत्य जमाने की कोशिश कर रहे थे। अहमदशाह अब्दाली लाहौर को अपने नायक के सुपुर्द करके चला गया था। सन् १७६४ ई० में लहनासिंह और गूजरसिंह से भंगी सरदारों ने रात के समय नगर में घुस कर मुसलमान गवर्नर को जब कि वह नाच देख रहा था, क़ैद करके लाहौर पर कब्जा कर लिया था। सरदार सोभासिंह कन्हैया भी पीछे से इनकी सहायता को पहुँच गया था। इस तरह लाहौर के तीन हिस्से करके इन्होंने बाँट लिये। किन्तु इनकी सन्तानें निपट नालायक निकलीं। जब रणजीतसिंह को लाहौर की सूबेदारी शाहजमां से मिली तो उस समय लाहौर के शासक चेतसिंह, जौहरसिंह और साहबसिंह थे। इनमें साहबसिंह कुछ अच्छा था। शेष दोनों परले सिरे के लम्पट और व्यभिचारी थे। शराब पीकर औंधे मुँह पड़े रहते थे। चेतसिंह से नगर के कुछ मुसलमान चौधरी नाराज थे। इसकी वजह यह थी कि लाहौर के मुसलमानों में मियाँ आशिकमुहम्मद और मुहकमुदीन दो बड़े चौधरी थे। आशिकमुहम्मद की लड़की बदरुद्दीन के साथ व्याही गई थी। नगर के कुछ खत्री मियाँ बदरुद्दीन से नाराज थे। उन्होंने चेतसिंह के पास शिकायत की कि बदरुद्दीन शाहजमां के पास यहाँ की खबरें भेजता है और लाहौर को छिनवाने की कोशिश में है। इस बात पर विश्वास करके चेतसिंह ने मियाँ बदरुद्दीन को गिरफ़ार कर लिया। शहर के प्रतिष्ठित मुसलमान चेतसिंह के पास बदरुद्दीन की शिफ़ारिस के लिये भी गये किन्तु उसने किसी की एक न सुनी। डेढ़ महीने के बाद मुसलमानों ने रणजीतसिंह के पास खबर भेजी कि शहर में जुल्म हो रहा है; प्रजा तंग है अतः आप आइये और लाहौर के शासक बनिये। रणजीतसिंह ने अपने एजेण्ट काज़ी अब्दुलरहमान को भेज कर सब हाल मालूम किया और विश्वास हो जाने पर सेना लेकर बटाले में आये। अमृतसर से पाँच हजार सैनिक बुला कर लाहौर को रवाना हुए। लाहौर पहुँचने पर वजीरखाँ की बारहदरी में डेरा डाल दिए। सन् १७६६ में एक दिन आठ बजे प्रातःकाल लुहारी दर्वाजे से उनकी फौज ने शहर में प्रवेश किया। उस समय साहबसिंह लाहौर में उपस्थित था। चेतसिंह घेर लिया गया। उसके दो साथी भाग गए। नगर के फाटक मीरमुहकम, मुहम्मद आशिक और मीरसादी नामक मुसलमानों ने चेतसिंह से शत्रुता रखने के कारण खोल दिये। नगर पर अधिकार प्राप्त होते ही रणजीतसिंहजी ने घोषणा कराई कि नागरिकों को तनक भी न डरना चाहिये। उनका कुछ भी नुकसान न किया जायगा। व्यापारी लोग अपनी दूकान खोलें। इस घोषणा से नगर वासियों पर बड़ा अच्छा प्रभाव पड़ा और वे रणजीतसिंहजी की प्रशंसा करने लगे।

रणजीतसिंहजी की उत्तरोत्तर बढ़ती हुई जागीर, होती हुई विजय और चमकती हुई तक़दीर ने यों तो पहिले ही सिख, मुसलमान और हिन्दुओं के कान

खड़े कर दिये थे किन्तु लाहौर पर रणजीतसिंह का प्रभुत्व स्थापित होते ही उन लोगों क दिलों में चूहे कूदने लगे। हालांकि सिखों को तो प्रसन्न होना चाहिये था, किन्तु वे भी परस्पर की स्पर्धा से रणजीतसिंहजी से जलते थे। उनमें से अनेकों के इरादे थे कि हम लाहौर के शासक बन कर अपना नाम पैदा करें और साथ ही अपना राज भी बढ़ावें। अब वे सरदार रणजीतसिंह की बजाय महाराज रणजीतसिंह कहलाने लग गये थे।

तत्कालीन शासक—जिस समय महाराज रणजीतसिंह जी ने पंजाब, लाहौर पर कब्जा किया था और राजा की उपाधि धारण की थी उस समय पंजाब में निम्न शासक शासन करते थे—

(१) कसूर में पठान निजामुद्दीन (२) चक गुरु (अमृतसर) में भंगी सरदार गुलाबसिंह (३) मुलतान में मुजफ्फर खाँ सदूजई। यह अब्दाली खानदान से था (४) दायरा में अब्दुल समद (५) मनकेरिया, हूत, बन्नू में मुहम्मद-शाह निवाज (६) डेरागाजीखाँ, बहावलपुर में बहावलखाँ (७) झंग में अहमदखाँ (८) स्यालकोट, पेशावर में फतहखाँ बरकजई (९) काश्मीर में अजीम खाँ (१०) अटक में वजीर खेल जहांदाद खाँ (११) कांगड़ा में राजा संसारचन्द्र (१२) चम्पा में राजा चड़हलसिंह (१३) होशियारपुर से कपूरथला तक सर फतहसिंह अहलूवालिया (१४) बजीराबाद, धन, पाक पट्टन आदि स्थानों पर अन्य सिख सरदार शासक थे।

ईर्षा-द्वेष

महाराज रणजीतसिंह १७९९ में लाहौर के अधिकारी हुए थे। उस समय उनकी अवस्था केवल २० वर्ष की थी। यह पहिले ही लिखा जा चुका है कि उनको अफ़गान बादशाह से राजा की उपाधि भी मिल चुकी थी; इससे उनकी धाक सारे पंजाब पर छागई थी। कुछेक सिख सरदारों के दिल में भी सन्देह का सांप लोटने लगा। जस्सासिंह रामगढ़िया, गुलाबसिंह भंगी अमृतसर, साहबसिंह भंगी गुजरात, जोधसिंह बजीराबाद और निजामुद्दीन कसूर ने मिल कर षडयन्त्र किया और अमृतसर से सब ने एक साथ रवाना होकर सन् १८०० ई० में लाहौर पर हमला किया। महाराज रणजीतसिंह भी मैदान में आ गये। 'भसइन' के मुकाम पर दोनों ओर से फौजें डट गईं। दो महीने तक बराबर दोनों लश्कर एक दूसरे के सामने पड़े रहे। उन लोगों ने एक चाल चली। रणजीतसिंह के पास खबर भेजी कि—वे हम लोगों से भेंट कर जावें तो हम अपने देश को वापिस चले जावेंगे। इस भेंट में आपसी मनो मालिन्य और सन्देह सब मिट जायँगे। रणजीतसिंह जाट तो थे किन्तु भोले जाट नहीं! जाट भूल करने में या धोखे में आने में प्रसिद्ध होते हैं। किन्तु महाराज रणजीतसिंह उनके जाल में न फँसे। जब भेंट करने गये तो इतने सैनिक अपने साथ ले गये कि उन लोगों की हिम्मत तक न पड़ी कि रणजीतसिंह

पर हाथ उठावें। पहिले से सोचे हुए इरादे को दिल में ही पचाना पड़ा। इसके बाद छोटी-छोटी लड़ाइयाँ भी हुईं किन्तु साथ ही भोज, विवाह और आखेट भी होते रहे। भंगी सरदार युद्धक्षेत्र में भी भोगविलास में तल्लीन हो गये। एक दिन गुलाबसिंह ने तो इतनी शराब पीली कि उसीके कारण उसकी मृत्यु हो गई। गुलाबसिंह के मरने पर उनकी सब फौजें तितर-बितर हो गईं। महाराज रणजीत-सिंहजी विजय का नगाड़ा बजाते हुए लाहौर लौट आए। इस छेड़छाड़ के बाद ऐसा मालूम हुआ कि मानो इन विरोधियों ने रणजीतसिंह का लोहा मान लिया। लाहौर आकर महाराज ने नजराने वसूल किए जो कि उन्हें विजय पर लोगों ने दिए थे।

महाराज रणजीतसिंहजी को पता चल गया था कि उनके विरुद्ध संगठन करने में कसूर का निजामुद्दीन अगुआ था। वह लाहौर के इलाके पर आक्रमण करके लूट-खसोट भी कर चुका था, इसलिये महाराज रणजीतसिंहजी ने उसको शिक्षा देना ही उचित समझा। अतः उस पर चढ़ाई की गई। नवाब एक झटके को भी न झेल सका तुरंत पैरों में आ गिरा, और हार मानकर यह निश्चय स्वीकार किया कि उसका भाई कुतुबुदीन महाराज की सहायता करने के लिये—आवश्यकता पड़ने पर जाया करे और उसकी रियासत रणजीतसिंहजी की करद बनी रहे।

इसी साल रणजीतसिंह नारूवाली, येरूवाल और जस्सरवाल होते हुये जम्बू की ओर बढ़े और जम्बू से चार मील के फासिले पर जाकर डेरा डाल दिये। जम्बू के राजा ने उनके प्रताप को सुन रक्खा था इसलिये उसने बिना लड़ाई-झगड़ा किये २० हज़ार रुपया और एक हाथी इनकी नजर किया। उससे नज़राना लेकर स्यालकोट की तरफ़ बढ़े। स्यालकोट मुसलमानों के आधीन था। पर स्यालकोट एक ही चपेट में फ़तह कर लिया गया। यहाँ से चल कर दिलावरगढ़ को विजय किया। यहाँ पर सोढ़ी केसरसिंह शासक था। लाहौर पहुँचकर सन् १८०१ में महाराज रणजीतसिंह ने एक बड़ा जबरदस्त दरबार किया और 'महाराज' की उपाधि धारण की। यह दरबार बड़ी शान-शौकत के साथ सम्पन्न हुआ था। इसमें सब सरदार हाज़िर हुए, पुरोहित ने राजतिलक किया, कवियों ने प्रशंसा के गीत गाये, विद्वानों ने आशीर्वाद दिया, और सैनिकों ने सलामी दी। इस दरबार में यह भी घोषणा हुई कि महाराज को सरकार लिखा जाया करे। लाहौर में टकसाल स्थापित करने की आज्ञा जारी की गई। न्याय के लिये न्यायालय क़ायम किये। क़ाज़ी निज़ामुद्दीन और अज़ीजुद्दीन के भाई फ़क़रुद्दीन को न्याय-सचिव नियुक्त किया। इमामबख्स को शहर का कोतवाल बनाया। चूंकि पिछले वर्षों से लाहौर का क़िला कई स्थानों से जीर्ण-सीर्ण हो गया था इसलिये उसकी मरम्मत के लिये दीवान मोतीराम को १ लाख रुपये दिये गये। राज्य में महाराज के नाम का सिक्का जारी हुआ। टकसाल में पहिली बार में जितने रुपये हुये थे महाराज ने वे सब दान म दे दिये।

इन्हीं दिनों महाराज को खबर लगी कि साहबसिंह भंगी के कहने पर अकालगढ़ का सर्दार फ़ौज इकट्ठी कर रहा है। महाराज ने उसे मित्रता की चिट्ठी लिखकर लाहौर बुला लिया। उसकी काफ़ी इज्जत की, परन्तु पीछे उसके मकान के आसपास फ़ौजी सिपाहियों का पहरा लगवा दिया अर्थात् उसे गिरफ़्तार कर लिया और उसके क़िले अकालगढ़ पर चढ़ाई कर दी। किन्तु दिलसिंह की रानी तेज्जो ने इस वीरता का काम किया कि महाराज को वापिस लौटना पड़ा। साहबसिंह ने वज़ीराबाद के सर्दार जोधसिंह को भी अपने साथ में मिला लिया था। महाराज ने उसको भी मित्र बना लिया और साहबसिंह पर हमला किया परन्तु थोड़ी सी लड़ाई के बाद गुलाबसिंह की प्रार्थना से परस्पर समझौता हो गया। इस सुलह के मुताबिक़ महाराज ने दिलसिंह को छोड़ दिया परन्तु दिलसिंह अकालगढ़ पहुँचते ही मर गया। महाराज यह जानते थे कि बिना छोटे-छोटे राज्यों को मिटाये वह एक बड़ा साम्राज्य स्थापित नहीं कर सकते इसलिये उन्होंने अकालगढ़ पर कब्जा कर लिया और तेजो के लिये दो गाँव जागीर में दिये जिनको भी इसी साल अपने राज्य में मिला लिया।

सन् १८०२ ई० में महाराज ने तरनतारन की यात्रा की और वहाँ पर अहलूवालिया सरदार फतहसिंह से जो वहाँ स्नान करने के लिये आया था पगड़ी-पलट मित्रता की।

भंगी सर्दारों ने अपनी कुटिलता त्यागी न थी; किन्तु महाराज रणजीतसिंह भी अचेत न थे। उन्होंने अमृतसर में, जो भंगी सर्दारों का मुख्य स्थान था कहला भेजा कि सन् १७६४ ई० में लाहौर पर अधिकार करने के समय सिक्ख सरदारों ने जमजमा तोप को मेरे पितामह चरतसिंह का भाग निश्चय किया था उस पर मेरा अधिकार है। आप लोगों के लिये उचित है कि जमजमा तोप को मेरे पास शीघ्र भेज दें। भंगी सरदारों ने जब रणजीतसिंह की इस बात पर कोई ध्यान नहीं दिया तो उन्होंने अमृतसर पर चढ़ाई कर दी। इस चढ़ाई में फतहसिंह अहलूवालिया भी साथ था। इन दिनों तक गुलाबसिंह मर चुका था, इसलिये उसकी विधवा रानी सुकवां अपने अबोध बालक के नाम पर अमृतसर पर राज्य करती थी। रानी ने सब दरवाजे बन्द कर दिये और बुर्ज के ऊपर चढ़ गई। महाराज ने स्वयं लोहगढ़ दरवाजे से और फतहसिंह ने हाल दरवाजे से आक्रमण किया। बड़े विकट संग्राम के बाद महाराज की विजय हो गई और नगर पर उनका अधिपत्य हो गया। किसी तरह की लूट नहीं हुई और महाराज खुद हरि-मन्दिर में गये और बहुत सा दान किया। रानी और उसके सरदार रामगढ़िया सरदारों की शरण में चले गये। इस प्रकार महाराज रणजीतसिंह का भंगी सरदारों के कुल इलाक़े पर कब्जा हो गया। इस प्रभावशाली युद्ध से महाराज रणजीतसिंह का पंजाब की आर्थिक तथा धार्मिक दोनों प्रकार की राजधानियों पर अधिकार हो गया।

हिन्दू राजाओं में इस समय 'कूंच' का राजा संसारचन्द ही था जो कुछ साहस रखता था। उसे महाराज रणजीतसिंह के साथ टक्कर खानी पड़ी; परन्तु वह महाराज रणजीतसिंह से हार गया और उसका बहुत सा इलाक़ा और ४ तोपें हाथ से निकल गईं। वापिस होते हुए लादहां से चार सौ घोड़े महाराज ने प्राप्त किये थे।

अगले साल महाराज को खबर मिली कि एक खत्री चूहड़मल की विधवा फगवाड़े में स्वतन्त्र राज्य क़ायम करना चाहती है। महाराज ने फगवाड़ा पर कब्ज़ा कर लिया और विधवा को हरद्वार भेज दिया। इस समय संसारचन्द ने फिर होशियारपुर और बैजवाड़ा पर चढ़ाई की। जब महाराज उधर गये तो संसारचन्द काँगड़े की ओर भाग गया; परन्तु दूसरे साल फिर वह सामना करने आया। इधर उसके इलाक़े में गोरखा लोग आ पहुँचे, जिनका इरादा हिन्दुस्तान में अपना शासन स्थापित करने का था। इसलिए संसारचन्द को वापिस लौटना पड़ा। सन् १८०६ ई० में पटियाला और नाभा का आपस में झगड़ा हो रहा था। दोनों ने महाराज को अपना पंच नियुक्त करके निमन्त्रित किया। महाराज अपनी सेना लेकर के उधर गये और कुछ लड़ाई झगड़े के बाद उनकी आपस में सन्धि करवा दी; परन्तु इसके साथ ही जंडियाला, रायकोट, जगराम, तिलोंडी और लुधियाना को अपने सरदारों में बाँट लिया। लुधियाना इस समय रायकोट के एक मुसलमान-राजपूत इलियसखाँ की दो विधवाओं के आधिपत्य में था। महाराज ने उन दोनों को निकाल कर अपना आधिपत्य जमा लिया। इसी समय महाराज को खबर मिली कि गोरखा जनरल अमरसिंह ने गढ़वाल का प्रदेश विजय करके सरमौर, बसी वग़ैरह हो करके काँगड़ा आ घेरा है। महाराज रणजीतसिंह तुरन्त काँगड़े पहुँचे तो अमरसिंह का वकील जोरावरसिंह महाराज के पास आया। उसने दुगुना नज़राना पेश किया; परन्तु महाराज ने नज़राना लेना अस्वीकार कर दिया, क्योंकि वे गोरखों को ग़ैर समझते थे और वह पंजाब में गोरखों की हुकूमत होना पसन्द नहीं करते थे।

कसूर के हाकिम निजामुद्दीन को १८०१ में परास्त किया जा चुका था और उसके माफ़ी मांगने पर महाराज ने क्षमा भी कर दिया था किन्तु कुछ समय बाद उसके साले कुतुबुद्दीन ने उसे क़तल कर दिया और आप कसूर का स्वतंत्र शासक बन बैठा। इसलिये महाराज ने कसूर पर भी घेरा डाल दिया। कुतुबुद्दीन ने तंग आकर आधीनता स्वीकार करली और बहुतसा रुपया महाराज की भेंट किया।

१८०२ ई०में इन्होंने नकिया मिसलके सरदारोंकी कन्यासे शादी करली। कांगड़े के प्रबन्ध के लिये महाराज ने देसासिंह मजीठिया को वहाँ का कमान्डर तथा सारी पहाड़ी रियासतों का नाज़िम मुक़र्रिर किया। ज्वालामुखी में दान पुन्य करके मंडी, सुकेतकल्लू के राजाओं से नज़राने वसूल किये। रास्ते में सरदार बघेलसिंह की

विधवाओं से हरियाना प्रान्त का अधिकार प्राप्त कर लिया। इसी दौरे में फजीलपुरिया धूपसिंह को गिरफ्तार कर लिया और उसके इलाके को अपने कब्जे में कर लिया।

संसारचन्द्र ने भी इस समय अपने भाई फतहचन्द को महाराज के पास इसलिये भेजा कि हम आधीनता स्वीकार करने को तैयार हैं किन्तु महाराज ने न अमरसिंह की सुनी और न संसारचन्द्र की। २४ अगस्त सन् १८०२ ई० को किले में प्रवेश कर दिया। बड़ी भयंकर लड़ाई हुई हजारों गोरखे और सिक्ख काम आये। अमरसिंह भाग गया और अंग्रेजों से कोशिश करने लगा कि वे रणजीतसिंह पर चढ़ाई करने में उसकी मदद करें किन्तु अंग्रेजों का उस समय इतना साहस न था कि वे शेर को छेड़ सकें।

कहावत है कि 'नीच निचाई ना तजे कैसे हू सुख देत' इसी सिद्धान्त के अनुसार कुतुबुद्दीन फौज जमा करने लगा। वह चाहता था कि अपनी ताकत बढ़ा कर स्वतंत्र हो जाय। रणजीतसिंह की आधीनता को इस्लाम की शिक्षा के प्रभाव से कुफ्र समझने लगा। महाराज ने भी जब यह समाचार सुने तो कसूर पर हमला कर दिया और एक महीने तक उसे किले में बन्द रखा। आखिर वह हार गया। सिक्खों ने उसके किले में घुसकर उसे अपने अधिकार में कर लिया।

महाराज रणजीतसिंह की नीति स्पष्ट थी। वे अपनी सल्तनत को मजबूत बनाने के लिये यह चाहते थे कि पंजाब में कोई ऐसा सरदार, राजा, नवाब न रहे जो उनसे बराबरी का दावा कर सके। मिसलों के जितने सरदार थे वे या तो उनके झण्डे के नीचे आगये थे या उनका इलाक़ा महाराज के राज्य में मिला लिया गया अथवा सतलज पार हो गये थे। १८०८ ई० में पटियाला की रानी और महाराज का झगड़ा निबटाने महाराज रणजीतसिंह पटियाला गये थे। वहाँ से लौटने पर उन्होंने सरहिन्द के इलाक़ेदारों से खिराज वसूल किया। नारायणगढ़ के किले को जीत कर फतहचन्द अहलूवालिया के सुपुर्द कर दिया। राहूँ का सरदार नारायणगढ़ में लड़ता हुआ मारा गया इसलिये उसका इलाक़ा भी अपने आधीन कर लिया। सरदार भावलसिंह की सेना से भरतगढ़ को छीन लिया। दीवान मुहकमचन्द ने बादनी के इलाक़े को विजय करके सतलज के पार भी हाथ साफ़ किया। इसी साल महाराज की रानी महताबकुँवरि से शेरसिंह और तारासिंह दो लड़के जुड़वां पैदा हुए। कुछ इतिहास लेखक इन्हें रानी की सन्तान नहीं बताते, लेकिन इसमें कहाँ तक सचाई है, यह कहना जरा कठिन है।

अब सतलज पार की सिक्ख रियासतों को यह डर उत्पन्न हुआ कि रणजीतसिंह एक दिन उन्हें भी मिटा देगा, इसलिये उन्होंने १८०८ ई० में समाना राज्य पटियाला में एक मीटिंग की कि उन्हें रणजीतसिंह के साथ मिलना चाहिये, या अंग्रेजों के साथ। आखिर यही तय हुआ कि अंग्रेजों की शरण में चलना

चाहिये, क्योंकि पटियाला के राजा ने कहा था कि नष्ट तो हम दोनों के हाथ होंगे, किन्तु रणजीतसिंह हैजा है जो तुरन्त नष्ट कर देगा। जींद का राजा भागसिंह, कैथज का लालसिंह, पटियाले का दीवान चैन और नाभे का एजएट गुलामहुसैन डेपूटेशन बना कर देहली गये और एक तहरीरी प्रार्थनापत्र पेश किया; किन्तु अँग्रेजों की ओर से कोई जवाब नहीं मिला। महाराजा साहब को जब यह खबर लगी तो उन्होंने इन सब राजाओं को अमृतसर में बुलाया और धैर्य दिया कि तुम्हारे साथ कोई अन्याय न किया जायगा।

यों तो महाराज अँग्रेजों के युद्ध-कौशल की तारीफ़ सुना करते थे। एक बार उनकी आँखों के सामने ही एक घटना घटी जिससे उन्हें अँग्रेजी सेना की शिक्षा का पता चल गया। इसी से आगे उन्होंने भी अपनी सेना को अँग्रेजी ढंग पर ही शिक्षा दिलाने की कोशिश की थी।

अमृतसर में जब मि० मेटकाफ़ ठहरे हुए थे तो उनके साथ के मुसलमान सैनिकों ने मुहर्रम के आ जाने के कारण ताजिया निकाला। जब वह अकालियों के पास से गुजरा तो फूलासिंह अकाली ने उन पर हमला कर दिया। यद्यपि इन सिपाहियों की संख्या कम थी; किन्तु रण-कुशल होने के कारण सिक्ख सिपाहियों को पीछे हटा दिया। महाराज ने यह हाल गोविन्दगढ़ में सुना। वहाँ से आकर उन्होंने रूमाल के इशारे से अपने सिपाहियों को हटा दिया। अँग्रेजी सेना की रण-चातुरी से उन्हें विश्वास हो गया कि अँग्रेजी फ़ौज बहादुर है। उनकी फ़ौज अभी अँग्रेजों का मुक़ाबिला नहीं कर सकती और अभी अपनी हुकूमत भी कच्ची है। इस घटना का उनके दिल पर ऐसा असर पड़ा कि उन्होंने अँग्रेजों से उन्हीं के प्रस्ताव के अनुसार सन्धि कर ली। हालांकि उनकी आत्मा इस सन्धि के विरुद्ध थी। सन्धि की ये बातें थीं—

अंग्रेज़ महाराज से सन्धि करने के लिये उतावले इस बात से थे कि फ्रांस के नेपोलियन बोना पार्ट ने रूस से सन्धि करली थी और वह रूस की सहायता से भारत पर चढ़कर आना चाहता था। इंगलेंड और भारत के अंग्रेजों को इससे बहुत फ़िकर हुई। इसलिये भारत के अंग्रेज़ गवर्नर जनरल ने काबुल के अमीर के पास एलीफिन्स्टन, ईरान के शाह के पास मेलकम और पंजाब के महाराज रणजीतसिंह के पास मेटकाफ़ को दोस्ती पैदा करने के लिये भेजा। मेटकाफ़ जब लाहौर पहुँचा तो महाराज कसूर चले गये। मेटकाफ़ ने समझा महाराज अंग्रेजों से दोस्ती नहीं करना चाहते हैं। किन्तु बात यह थी कि दीवान मुहकमचन्द्र ने महाराज को सलाह दी थी कि हम दोस्ती की शर्तों में यह नियम रखना चाहते हैं कि जिसका जहाँ तक राज है वह वहीं तक सीमित रहे। दोस्ती हो तब तक आप बाहर रहकर सतलज के पार अपना इलाका बढ़ा लीजिये। किन्तु मेटकाफ़ लाहौर ठहरने की बजाय कसूर को रवाना हो गया। उसके साथ महाराज को भेट देने के लिये घोड़ों की जोड़ी, एक अंग्रेजी गाड़ी और तीन हाथी मय सुनहरी हौदे के गये थे। दोस्ती की

शर्तें सामने आने पर महाराज ने इस शर्त से इनकार कर दिया कि सतलज के पार महाराज अपना राज न बढ़ावेंगे। इसके साथ ही मि० मेटकाफ़ को अजीजुद्दीन के साथ रवाना करके आप सतलज पार हो गये। पहिली अक्टूबर को उनके सरदार कर्मचंद ने फरीदकोट पर कब्जा कर लिया। मालेरकोट पहुँच कर अलाउद्दीन से एक लाख नजराना लिया। मेटकाफ़ ने मुलाकात होने पर महाराज से कहा—यह बात मैत्री-नियमों के विरुद्ध है। महाराज ने आश्चर्य प्रकट करते हुए कहा कि अंग्रेज़ सरकार को इससे क्या? हमें अपने सिक्खों पर पूरा हक़ है; हम चाहें उनके साथ जैसा व्यवहार करें।

मेटकाफ़ फतेहाबाद ठहरा रहा और महाराज अम्बाला जा पहुँचे। गुरुबक्ससिंह की विधवा दयाकौर का मुल्क लेकर नाभा और कैथल के हवाले किया; माल और जेवर अपने कब्जे में किये। गंडासिंह को अम्बाला का हाकिम बनाया। साहनीवाल, चांदपुर, भंदा, धारी, बहरामपुर पर कब्जा करके दीवान मुहकमचंद को दे दिये। रहीमाबाद, कानातरी, कोट वग़ैरा दूसरे सरदारों को दे दिये। शहाबाद के सरदार कर्मसिंह और थानेसर के सरदार से खिराज वसूल किया। पटियाला के राजा साहबसिंह से पगड़ी बदल मित्रता करके २ दिसम्बर को लौट कर मेटकाफ़ से मुलाक़ात की।

मि० मेटकाफ़ ने महाराज से अंग्रेजी सरकार का आखिरी संदेशा कहा कि सतलज पार की रियासतें अंग्रेजों की शरण में समझनी चाहियें। महाराज उनसे सम्बन्ध छोड़ दें और ताजा लिया हुआ सारा इलाका वापिस कर दें। महाराज इस पर तयार न थे। वे अंग्रेजों से लड़ने की भी तयारी करने में जुट गये और दोस्ती करने के लिये देर लगाते रहे। इधर लार्ड मिन्टो ने भी डेविड अक्टरलोनी के साथ एक दस्ता पंजाब के लिये रवाना कर दिया। सरहिन्द के सारे सरदार अंग्रेजों की मदद को तैयार थे, वे इसे सौभाग्य समझते थे। वह दस्ता, बोरिया, पटियाला होता हुआ सन् १८०९ में लुधियाना पहुँच गया और वहाँ छावनी डाल दी। अम्बाला की रानी दयाकौर के हवाले कर दिया। इससे राजा साहबसिंह और जसवन्तसिंह खूब प्रसन्न हुए। यह खबरें महाराज को पहुँच रहीं थीं। वे भी कुछ करना चाहते थे कि इतने में उक्त ताजिया वाली घटना घट गई। आखिर महाराज ने अङ्गरेजों से दोस्ती करली।

२५ अप्रेल सन् १८०९ को सन्धि-पत्र पर महाराज ने हस्ताक्षर कर दिये जिसके अनुसार सतलज पार की सब रियासतों पर से उन्होंने अपना दावा हटा लिया। अङ्गरेजों का सतलज से उत्तर (शुमाल) की ओर कोई सम्बन्ध न रहा। यह सन्धि महाराज ने जन्म पर्यन्त निभाई। ६ मई सन् १८०९ को यह सन्धि पत्र मुकम्मिल होगया।

अङ्गरेजों की छावनी में महाराज का एजेण्ट बटाला का बख्शीनन्दसिंह मुक़र्रिर हुआ और अङ्गरेजों ने लाहौर में कायथ खुशवक्तराय को खबर-रसा नियत किया।

सन् १८१४ ई० में खड़कसिंह की शादी कन्हैया सरदार जेहलसिंह की पुत्री बुद्धिमती चन्दकौर के साथ हुई। जिसमें नाभा, भींद आदि के सब रईस शामिल हुए। अङ्गरेज़ अफसर अक्टरलोनी को भी बुलाया किन्तु दीवान महकमचन्द इसके खिलाफ था कि अङ्गरेज़ अफसर को अपने यहाँ बुलाकर उसे यहाँ की बातों से जानकार हो जाने दिया जाय।

मि० एलफिन्स्टन ने काबुल में वहाँ के तत्कालीन शासक शाहशुजा से सन्धि करली। लेकिन कुछ ही दिन बाद सन् १८१० के आरम्भ में उसके भाई शाह-महमूद ने कैद से निकल फतहखाँ बरकजई की सहायता से शुजा को काबुल की गद्दी से हटाकर भगा दिया। इस तरह अँग्रेज-अफगान संधि का खातमा होगया। और जब शाह महमूद कशमीर के सूबेदार के विरुद्ध भारत में आया तो महाराज ने रावलपिण्डी में उससे दोस्ती करली।

सन् १८११ ई० में शाहशुजा लुधियाने के अँग्रेजों से नाउम्मेद होकर महाराज के पास आगया। हालांकि वह पहिले भी एक बार महाराज के पास आया था लेकिन वह अपने भाई से लड़ने को पेशावर चला गया था। अब की बार भी महाराज ने उसको इज्जत से अपने यहाँ रक्खा। मुबारिक तेवली में उसके रखने का प्रबन्ध किया। खाने पीने और खर्चने का कुल प्रबन्ध महाराज की ओर से था। अवसर पाकर महाराज ने शाहशुजा से कोहनूर हीरे के लिए सवाल कर दिया। शाहशुजा और उसकी स्त्री ने बहाने बनाकर महाराज को टालना चाहा। लेकिन जब उन्होंने उसका खान-पान बन्द कर दिया और उसके ऊपर पहरे लगा दिये तो कोहनूर उसने महाराज के हवाले कर दिया। हीरा मिलने पर महाराज ने उसे क़ाबुल दिलाने में सहायता देने के लिये भी आश्वासन दिया और उसे एक जागीर भी दे दी। लेकिन शाहशुजा अपना और अपने बाल-बच्चों का भेष बदल कर एक दिन रात को लाहौर से छिप कर निकल गया। कहते हैं उसके पास और भी क़ीमती जवाहिरात थे। उसे डर था कि महाराज इन्हें भी न लेलें। इधर-उधर भटक कर सन् १८१६ ई० में उसने अपने आपको अंग्रेजों के हवाले कर दिया।

नोट—जब अंग्रेजों को यह मालूम हुआ कि रूस महाराज से दोस्ती करना चाहता है तो उन्होंने भी शीघ्रता से महाराज से दोस्ती करनी चाही। भारतवर्ष का इतिहास (ले० एक इ० प्रेमी) पे० १७४ से १८३।

गुजरात और वजीराबाद पर कब्ज़ा

सन् १८०९ ई० में वजीराबाद का सरदार मर गया तो महाराज फौज लेकर वहाँ भी पहुँचे। क्योंकि वे जानते थे कि इस बीच कोई दूसरा सरदार कब्ज़ा कर लेगा और इस तरह व्यर्थ उससे लड़ाई लड़नी होगी। लेकिन जोधसिंह के बेटे गंगासिंह ने एक लाख रुपया महाराज को भेट में देकर आधीनता स्वीकार कर ली। साहबसिंह और उसके बेटे के बीच वैमनस्य था। इस वैमनस्य से लाभ उठाने के लिये महाराज ने

अगले साल गुजरात पर चढ़ाई की। साहबसिंह ने भाग कर जलालपुर के किले में शरण ली। महाराज ने वहाँ भी उसका पीछा किया। जलालपुर पर अधिकार कर लिया। साहबसिंह वहाँ से भी भाग कर मंगलामाई में पहुँचा। इधर महाराज के जनरल अजीजुद्दीन ने गुजरात पर कब्जा कर लिया। महाराज ने खुश होकर उसके रिश्तेदार नूरुद्दीन को गुजरात का हाकिम नियुक्त कर दिया। इसी भाँति नज़राना लेने के लिये फिर वजीराबाद पर धावा किया और उसे भी कब्ज़े में कर लिया।

सन् १८११ ई० में महाराज ने दीनानगर पहुँचकर उन पहाड़ी राजाओं से कर वसूल किये जो गुरु गोविन्दसिंह के समय में भी मुसलमानों के सहायक और सिखों के शत्रु रहे थे। नूरपुर के राजा से चालीस हजार नजराने में महाराज को मिले। और उनके दीवान मुहकमचन्द और मौता डोगरा ने सुकेत, मण्डी, और कल्लू से खिराज प्राप्त किया। महाराज खूब समझते थे कि ये पहाड़ी राजा प्रजा की जान को बवाल हैं क्योंकि ये न तो अपनी प्रजा के जान-माल की रक्षा मुसलमानों से कर सकते हैं न अपने धर्म के लिए खुद मरते-मिटते हैं। इसलिए उनकी इच्छा थी कि उनके समस्त राज्यों पर कब्ज़ा कर लिया जाय। नूरपुर के राजा वीरसिंह को महाराज ने स्यालकोट बुलाया। किन्तु वह न आया तो इस आज्ञा भंग के अपराध में उस पर इतना जुर्माना किया कि वह उसे पूरा न कर सका। इस पर उसकी सारी जायदाद ज़ब्त कर ली। वह भाग कर अँग्रेजोंकी शरण में पहुँचा। पर वे वेचारे उस समय इतने सशक्त न थे कि महाराज रणजीतसिंह के कार्यों में हस्तक्षेप कर सकते। उसके ससुर जवालसिंह की बहुत सी जागीर भी ज़ब्त कर ली गई क्योंकि उसका जामाता अङ्गरेजों को उभाड़ने के लिए उनके पास चला गया था।

इसके वाद महाराज ने माधोपुर आकर दशहरा मनाया। दशहरा की शान, शान ही थी। उसकी तारीफ करना हमारी शक्ति से बाहर है। इसी अवसर पर महाराज ने आज्ञा दी कि माधोपुर से लगाकर दरबार साहब तक एक नहर निकाली जावे। अवकाश मिलने पर फिर पहाड़ी राजाओं के देश में गये क्योंकि उनसे आशा न थी कि ठीक समय पर खिराज भेज देंगे। सुकेत, मंडी और कल्लू के राजा से नज़राने वसूल करके वापिस लौटे।

नकिया-फजील-पुरिया मिसल

सन् १८१० ई० में उनको खबर लगी थी कि काहनसिंह, नकिया मिसल का सरदार मुल्तान और माझे के इलाके में ज़ुल्म कर रहा है तो उसके दमन के लिए दीवान मुहकमचन्द को भेज दिया था। उसने काहनचन्द को जीतकर उसे भेरुवाल की जागीर का मालिक बना दिया और सारा इलाका महाराज के राज में मिला लिया। फजीलपुरिया मिसल के सरदार बुधसिंह को भी मुहकमचन्द ने परास्त करके भगा दिया और सतलज पार का उसका कुल इलाका—जालन्धर, हैतपुर, फुलोर भी कब्जे में कर लिया। महाराज मुहकमचन्द की इस बहादुरी से बहुत खुश हुए और उसे

दीवान बनाने के सिवा एक हाथी, सुनहरी हौदा और जड़ी हुई तलवार पुरस्कार में दी।

महाराज रणजीतसिंह कब्जा करने की नीति में बहुत निपुण थे। जहाँ जिस तरह उन्हें उचित जान पड़ता वहाँ उसी तरह अपना कब्ज़ा जमा लेते। बहुत दिनों से उनकी इच्छा थी कि अपनी सास के इलाके पर भी अपना कब्ज़ा कर लें। वटाला पहुँचकर महाराज ने अपनी सास के सामने यह प्रस्ताव रक्खा कि वह शेरसिंह को कोई जागीर दे दे। वह राज़ी नहीं होती थी। आखिर ज़बरदस्ती से अपने दीवान द्वारा शेरसिंह, तारासिंह को जागीर दिला दी और सास को क़ैद कर लिया। क्योंकि वह अङ्गरेजों से महाराज के खिलाफ मिल जाना चाहती थी।

जब से महाराज ने अमृतसर पर कब्ज़ा कर लिया था तब से उनकी ताक़त बहुत बढ़ गई थी। परन्तु फिर भी उनकी इच्छा थी कि खजाने में ज्यादा से ज्यादा रुपया और ज्यादा से ज्यादा फौज हो। इसलिए उन्होंने स्याल के पास कहला भेजा कि या तो खिराज भेजो वरना तुम्हारा इलाका ज़ब्त कर लिया जायगा। उसका उत्तर बिना ही पाये उस पर चढ़ाई कर दी। अहमदखाँ स्याल ने झंग के मुकाम पर महाराज की फौज का मुकाबिला किया। दिन भर लड़ाई होती रही। तीन दिन के बाद उसके साथी उसे छोड़ कर भाग गए। फिर बेचारे ने भाग कर मुलतान जाकर शरण ली। उसकी सारी सम्पत्ति महाराज के हाथ आ गई। हिन्दू चौधरियों की प्रार्थना के कारण शहर में कोई लूटमार नहीं की गई। बाद में अहमदखाँ ने ६० हजार रुपए सालाना अदा करने का इकरार किया इसलिए उसकी हुकूमत वापिस कर दी गई। महाराज ने ऊँच, शाहीवाल और गढ़ के मुसलमान नवाबों से बहुत सा रुपया वसूल किया। मुलतान को महाराज पहिले ही फतह कर चुके थे क्योंकि मुलतान पंजाब में लाहौर के बाद दूसरे नम्बर का इलाका था। उस समय मुलतान के नवाब मुजफ्फरजंग ने आधीनता स्वीकार कर के महाराज को बहुत सा नजराना दिया था। शाहीवाल के हाकिम फतहखाँ ने कुछ समय बाद ख़िराज देना बन्द कर दिया तो सन् १८१० ई० में महाराज ने शाहीवाल पहुँच कर उसे गिरफ्तार कर के जञ्जीरों से बँधवा कर लाहौर भेज दिया और मुलतान की तरफ मुँह फेरा। क्योंकि मुजफ्फरखाँ ने ऐसे आसार पैदा कर दिए थे जिस से महाराज उससे नाराज हो गए। किन्तु लड़ाई में महाराज के सामने नहीं ठहर सकता था। मुलतान पर कब्ज़ा करते ही आस पास के सब सर्दार घबरा गये। लैमा और मक्खर के सरदार मुहम्मदखाँ ने महाराज को १ लाख २० हजार रुपया नजराने में दिया। भागलपुर का सरदार सदीक़मुहम्मद महाराज को १ लाख रुपया नज़राना देना चाहता था पर महाराज ने मंजूर नहीं किया। आखिर ५०० सवार लड़ाई में इमदाद के लिए रवाना किये। कई दिनों तक किले पर गोलाबारी होती रही परन्तु पठानों ने बड़ी बहादुरी से सामना किया। जमजमा तोप भी मुलतान के किले पर लगाई गई परन्तु उससे

भी कोई विशेष फायदा नहीं हुआ। क्योंकि उसका चलाना बहुत कठिन था। दो महीने की लड़ाई में भी महाराज किले को फतह न कर सके। उधर दीवान मुहकमचन्द, जिसे सुजावाद को जीतने के लिए भेजा था वह भी असफल रहा। इन दोनों जगहों की असफलता से महाराज के ऊपर बड़ा प्रभाव पड़ा। उन्होंने अनुभव कर लिया कि लड़ाई के लिए सुशिक्षित सेनाकी आवश्यकता है। युद्ध-कौशल में बिना शिक्षा पाए कोई भी सेना सफलता प्राप्त नहीं कर सकती। इसलिए इन्होंने अँग्रेज़ी तरीके पर अपनी सेना को क़वायद सिखानी शुरू करदी। मुजफ्फर अहमद ने इन दिनों अँग्रेज़ों से मदद माँगी पर वह उस ओर से निराशरहा। अगले साल सरदार दिलसिंह के साथ मिहादुआना और ऊँच के नवावों से खिराज वसूल करते हुए महाराज मुलतान पहुँचे। मुजफ्फरखाँ के एजेण्ट दिल्ली से जेवर वेच कर नक़द रुपया ले आये थे। उन्होंने ५० हजार रुपया महाराज की नजर किया। इन्हीं दिनों दिलसिंह ने कोटकमालिया को फतह कर लिया था। सन् १८१५ ई० में महाराज पाकपट्टन होते हुए भागलपुर को रवाना हुए। भागलपुर के नवाव ने ८० हजार नजराना और ४० हजार सालाना खिराज देना स्वीकार किया। वहाँ से महाराज हड़प्पा पहुँचे और मिश्र दीवानचन्द्र के तोपखाने की मदद से अहमदावाद को सर किया।

यद्यपि मुलतान से महाराज को खिराज और नजराना वरावर मिलते रहते थे। फिर भी महाराज की यह उत्कट इच्छा थी कि मुलतान को अपने राज में मिला लें। इसलिये सन् १८१७ ई० में दीवान मोतीराम, भवानीदास, हरीसिंह नलुआ, और मिश्र दीवानचन्द को मुलतान विजय करने को विदा किया। मुजफ्फरखाँ भी समझ चुका था कि रणजीतसिंह का दाँत उसके राज्य पर है। इसलिये उसने बड़ी बहादुरी से डट कर के सामना किया। इन सब की कोशिश वेकार सावित हुई और लाहौर लौट आए। महाराज इस पराजय को सुन कर बहुत नाराज हुए और लौटे हुए सरदारों को अनेक प्रकार से फटकारा और भवानीदास को क़ैद कर लिया। अगले साल के शुरू में २५ हजार सिख मिश्र दीवानचन्द्र के साथ मुलतान विजय करने को फिर भेजे। रसद का सामान रावी और चिनाव नदी के रास्ते से भेजने का प्रवन्ध किया गया। महाराज को यह भी खयाल हुआ कि कहीं सब मुसलमान मिल कर के दीवानचन्द का मुकाविला न करें इसलिये उन्हें सांत्वना देने के लिये अहमदखाँ स्याल को रिहा कर दिया और उसे अमृतसर के इलाके में जागीर देदी। मुजफ्फरखाँ ने भी बहुत से मुसलमानों को जिहाद (धर्म-युद्ध) के नाम पर इकट्ठा किया। उसने मुसलमानों से अपील की थी कि वो दीन के नाम पर मेरी मदद करें। सिखों ने अब की बार उस किले पर बड़े जोरों के साथ हमला किया। दीवानमोतीराम ने घेरा डाल दिया। जमजमा तोप से भी काम लिया गया। बराबर तोपों के गोलों की मार से किले में छेद हो गए। मुजफ्फरखाँ ने भी जान तोड़ कर युद्ध किया लेकिन उसके साथियों का

दिल बैठ गया। मुसलमानी फौज के बराबर घटने के कारण कुछ सटक गए और कुछ ने हथियार डाल दिये। उसके दो हज़ार आदमियों में से सिर्फ दो सौ जिन्दा रह गए। अचानक साधूसिंह नाम के सैनिक ने अपने साथियों समेत शुक्र के दिन यवनों पर धावा बोल दिया और हाथों-हाथ लड़ाई में सब को क़त्ल कर डाला। मुजफ्फ़रखाँ ने बड़ी बहादुरी के साथ अपने बेटों को सब्ज़ कपड़े पहिना कर ख़िज़री दरवाज़े पर सिखों का मुकाबिला किया। बढ़ते-बढ़ते बहावलहक के मक़बरे तक आ पहुँचा। यहाँ पर सिखों ने उनके ऊपर गोलियाँ चलाईं जिससे वह अपने पाँचों बेटों सहित मारा गया। नवाब का सारा सामान—शाल, दुशाले, जवाहिरात, हीरे, मोती, लूट लिये गए। किले के अन्दर के चार, पाँच सौ मकान गिरा दिये गए। बहुत सी मुसलमानी औरतें डरके मारे हौज़ में डूब कर मर गईं[१]।

मुलतान को विजय कर लेने के बाद मुजाबाद को लूटा गया। जब लाहौर में मुलतान विजय की ख़बर महाराज को लगी तो बड़ी खुशियाँ मनाई जाने लगीं। आठ दिन तक लाहौर और अमृतसर दोनों शहरों में रोशनी की गई। महाराज गलियों में घूम-घूम कर रुपये बखेरते थे। मुलतान की लूट में से जो महाराज के हाथ लगा वह क़रीब पाँच लाख के था। सुखदयाल को महाराज ने मुलतान का सूबेदार नियत किया। मुलतान की विजय ऐसी थी जिससे महाराज का दिल तो बढ़ा ही पर साथ ही मुसलमानों और सिखों सभी पर आतङ्क छा गया। अँग्रेज़ भी महाराज की इस गति-विधि का अनुशीलन कर रहे थे। परन्तु वह कुछ कर नहीं सकते थे। क्योंकि अभी उनके पास इतनी शक्ति नहीं थी कि रणजीतसिंह जैसे साहसी और बहादुर का मुकाबिला कर सकें। साथ ही वह मरहठों के झंझटों में फँसे हुए थे।

वज़ीर फतहखाँ को उसकी ईरान विजय पर काबुल के अमीर ने दावत दी थी। उसी दावत में अमीर शाहमहमूद के बेटे ने फतहखाँ को मार डाला जिससे फतहखाँ का कबीला बिगड़ा और काबुल में पारस्परिक संघर्ष आरम्भ हो गया। महाराज ने पेशावर को अपने राज्य में मिला लेने का यह अवसर बड़ा अच्छा समझा। १५ दिन तक बराबर सेना की क़वायद—परेट देखने के बाद फूलसिंह, अकाली और दूसरे सरदारों के साथ पेशावर को फौज रवाना कर दीं। उन्होंने मार्ग में खटक-पठानों को परास्त करते हुए खैराबाद, नौशहरा और फिर पेशावर पर कब्ज़ा कर लिया। पेशावर का सूबेदार यारमुहम्मद भाग गया। महाराज तीन दिन तक पेशावर रहे। पचीस हज़ार नज़राना और १४ तोपें लेकर जहाँदादखाँ को पेशावर का सूबेदार नियुक्त कर दिया और आप लाहौर को वापिस लौटे। महाराज अटक के पास थे कि दोस्तमुहम्मदखाँ ने अपने एजेण्ट दामोदरमल और हाफिजउल्ला को महाराज के पास भेजा। उन्होंने एक

१—तारीख़ पंजाब। पे० ४०२।

॥ रुपया महाराज के सामने इसलिए पेश किए कि उसे पेशावर दे दिया जाय। राज ने यह बात मान ली। लेकिन इसी बीच बरकजई मुसलमानों ने ादादखाँ को पेशावर से निकाल दिया। महाराज इस समाचार को सुन कर क्रोधित हुए। तुरन्त सरदार दिलसिंह को बारह हजार सैनिकों के साथ ावर भेजा। लेकिन इतने ही में काबुल के एजेण्ट पचास हजार रुपये और छ घोड़े लेकर महाराज की सेवा में हाजिर हो गए। इसलिए महाराज ने अपनी ौज वापिस बुला ली। कटक का स्नान कर के महाराज लाहौर लौट आए। सके बाद सन् १८१८ में शाहशुजा ने भी पेशावर पर कब्जा करने की कोशिश ी, पर वह असफल रहा। दिलसिंह की फ़ौज ने उसे सिन्ध की ओर भगा दिया।

मुल्तान की विजय के बाद महाराज ने **डेरेजात** और **हजारे** के इलाक़े को अपने राज्य में मिलाने के लिये राजकुमार शेरसिंह और तारासिंह को फ़ौज देकर भेजा। यहाँ के इलाक़ेदार मुहम्मदखान के साथ हजारों मुसलमान इकट्ठे हो गये; परन्तु मुहम्मदखान लड़ाई में मारा गया, इसलिये उसके बेटे ने ७५ हजार रुपया अदा करके सन्धि कर ली। सन् १८१६ ई० में महाराज मुल्तान की तरफ़ से सिन्ध के अमीरों से खिराज लेने के लिये जा रहे थे कि उन्हें रास्ते में खबर मिली कि उनकी दो रानियों से दो लड़के पैदा हुए हैं। ऐसा कहा जाता है कि यह बच्चे कहीं दूसरी जगह से लेकर रानियों ने अपने बतला दिये थे। काश्मीर और मुल्तान की विजय के उपलक्ष में एक का नाम कश्मीरासिंह और दूसरे का नाम मुल्तानासिंह रक्खा। एक को स्यालकोट में और दूसरे को मुल्तान में जागीर दी गई। मुल्तान को महाराज ने श्यामसिंह पेशावरिया को साढ़े छः लाख सालाना के ठेके में दे रक्खा था। जब उन्हें यह पता चला कि उसने प्रजा के ऊपर बहुत अत्याचार किये हैं तो श्यामसिंह को क़ैद करके भाई बदनहजारी को वहाँ का सूबेदार नियुक्त किया और अकालगढ़ के खत्री सावनमल को माल-अफ़सर बनाया। इसी साल जमादार खुशहालसिंह ने डेरेग़ाज़ीखां को विजय कर लिया जो कि पहिले क़ाबुल का एक हिस्सा था। इन्हीं दिनों खबर मिली कि हजारा, पिलखी, धतूड़ा और तिखला के मुसलमानों ने भाई मक्खनसिंह को क़त्ल करके विद्रोह कर दिया है। महाराज ने दीवान रामदयाल और श्यामसिंह अटारी वाले को राजकुमार शेरसिंह के साथ रवाना किया। उनके साथ अहलूवालिया फतेसिंह और रानी सदाकौर भी थे। रानी सदाकौर ने इन कबीलों को तबाह करने का हुक्म दिया। हजारों मुसलमान क़त्ल कर दिये गए। इन ज्यादतियों को देख कर तिखला, यूसुफजई वगैरह के सब मुसलमान इकट्ठे हो गये। दीवान रामदयाल ने उनका सामना किया। सारे दिन लड़ाई होती रही जिसमें दोनों तरफ के बहुत से वीर लड़ाई में मारे गए। दीवान रामदयाल बड़ी बहादुरी से लड़ा। पठान उससे चिढ़ गए और शाम के वक्त लौटती बार उस पर टूट पड़े। सिखों की फ़ौज पीछे हट चुकी थी। रामदयाल ने बड़ी बहादुरी से लड़ते-लड़ते अपनी जान दी।

महाराज को इस नौजवान की मृत्यु का समाचार मिला तो वे बड़े दुखी हुए क्योंकि उन्हें इस पर बड़ी उम्मीदें थीं।

दीवान मोतीराम ने जब अपने बेटे की मौत का समाचार सुना तो उसे इतना रंज हुआ कि वह काश्मीर की सूबेदारी को छोड़ कर के बनारस में चला गया। रणजीतसिंह का कोप साधारण न था। हजारा के मुसलमानों ने धीरे-धीरे ख़िराज देना स्वीकार कर लिया।

सन् १८२० ई० में महाराज झेलम पार करके रावलपिण्डी गए और वहाँ के सरदार नन्दसिंह को निकाल कर रावलपिण्डी अपने अधिकार में की और दफ़्तरी नानकचन्द को वहाँ का अफ़सर नियुक्त किया। फरवरी, सन् १८२१ ई० में महाराज के लड़के खड़गसिंह के यहाँ नौनिहालसिंह का जन्म हुआ। जिससे राज्य भर में बड़ी खुशियाँ मनाई गईं। इसी साल कस्तवाड़ और फतहकोट को विजय कर के अपने राज्य में मिलाया। सरदार हरीसिंह नलुआ, मिश्र दीवानचन्द और दीवान कमाराव को भक्खर विजय करने को भेजा। भक्खर जीत लेने के बाद सर्दार दिलसिंह और जमादार खुशालसिंह डेरेइस्माइलखां[1] की ओर गये। वहाँ के अफ़सर नानकराय ने सामना किया परन्तु वह पकड़ा गया। इसके बाद खानगिरान, लैया, पेजगढ़ पर कब्ज़ा करके महाराज की फ़ौज ने मुनकेरा पर वार किया। मुनकेरा के नवाब हाफ़िज रहमतखां ने सामना किया। परन्तु उसे पानी का बहुत कष्ट था। उसके यहाँ बहुत दूर से ऊँटों पर पानी लाया जाता था। फिर भी वह २४ दिन तक लड़ता रहा। महाराज रणजीतसिंह खुद भी इस युद्ध में मौजूद थे। नवाब ने हार मान ली और सन्धि की प्रार्थना की। इस लड़ाई में महाराज के हाथ चौबीस तोप और १० लाख का इलाक़ा हाथ पड़ा। डेराइस्माइलखां हाफ़िज़ रहमतखां के ही हाथ रहा।

मुहम्मद अजीम की गुप्त कार्यवाहियाँ महाराज से छिपी हुई नहीं थीं, इसलिए उन्होंने उसके भारतीय इलाक़े को अपने राज्य में क़तई मिला लेने का निश्चय किया। सन् १८२३ में रोहिताश में उन्होंने अपनी सारी फ़ौज इकट्ठी की। वहाँ से रावलपिंडी को कूच कर दिया। महाराज ने फ़कीर अज़ीज़ुद्दीन को पेशावर में भेजा कि वह मुहम्मदयारखां से नज़राना तो वसूल कर ही ले। मुहम्मदयारखां ने नज़राना दे दिया, साथ ही बहुत से घोड़े भी महाराज के लिए दिए। मुहम्मद-अजीमखां को अपने भाई की यह हरकत बहुत बुरी लगी। वह काबुल से बहुत सी फ़ौज लेकर पेशावर आया। महाराज उससे निपट लेना चाहते थे, इसलिए

१—सन् १८३४ में कुँ० नौनिहालसिंह ने शाह नवाबखां को निकाल कर डेरा-इस्माइलखां पर अपना कब्ज़ा कर लिया था और सन् १८३५ ई० में यूसुफजई और अफ़रीदियों को विजय किया और लूटा। दूसरी तरफ हरीसिंह ने जमसूदी और अफरीदियों को परास्त किया। तारीख़ पंजाब। पेज ४०५।

ोरसिंह को हरीसिंह नलुआ और दीवान कृपाराम के साथ पेशावर की ओर भेजा। उन्होंने पहिले ही जाकर जहाँगीराबाद पर हाथ साफ किया। पठान जोश में आकर जहाद के नाम पर इकट्ठे हो गए। अफ़रीदी, खटक, वनेरे आदि सभी किस्म के पठान नौशेरा में आ डटे। महाराज ने दूसरी फौज खड़कसिंह और मिश्र दीवानचन्द को देकर शेरसिंह की मदद को भेजा और फिर स्वयं भी उधर ही को चल पड़े। उधर मुहम्मदअजीमखाँ भी नौशेरा आ गया। दोस्तमुहम्मद, सरदार जवरखाँ, भी मुकाविले के लिये आ डटे। महाराज ने १५ हजार सवारों के साथ १२ मार्च को दरियाये अटक को पार किया। नदी चढ़ी हुई थी। कभी भी किसी की हिम्मत नहीं हुई थी कि घोड़े पर चढ़ कर अटक को पार करें, किन्तु "सवैभूमि गोपाल की या में अटक कहा" कह कर महाराज ने घोड़ा नदी में दे दिया। कहते हैं हजार के लगभग सैनिक वह गए। तोपें हाथियों पर रख कर पार की गईं। उधर पठानों की ओर से बीस हजार आदमी इकट्ठे हो गये थे।

नौशेरे का युद्ध इसलिये ख्याति रखता है कि इसमें पंजाबी जाट तथा हिन्दुओं ने पठानों की सम्मिलित शक्ति को पराजय दी। युद्ध आरम्भ हुआ। पठानों ने सिख जनरल सतगुरु सहाय और महासिंह को गोली का निशाना बना दिया। सिख पठानों की मार से पहाड़ी से नीचे की ओर उतरने लगे। इतने में फूलासिंह अकाली ने अपने साथियों को ललकारा और वह भेड़िये की भाँति पठानों पर टूट पड़ा। किन्तु गाज़ियों के दल में घिर जाने से फूलासिंह मारा गया। फूलासिंह के मारे जाने के बाद महाराज ने खुद हमला किया। मिश्र दीवानचन्द ने भी अपना तोपखाना लगा दिया। शाम तक बराबर रक्तपात होता रहा। गाज़ियों की संख्या आधी रह गई। इतने पर भी गाज़ी अपनी जगह से तिल भर भी न हटे। इसके बाद महाराज ने गोरखों की पलटन को आगे चढ़ाया और पीछे अपने सैनिक खड़े कर दिये ताकि वे मैदान से भागें न। पठानों पर चारों ओर से मार पड़ने लगी। आख़िर वे मैदान छोड़ भागे। मुहम्मद अजीमखां अपने वालबच्चों को बचाने के लिये पहिले चंपत हो चुका था और पहाड़ियों के रास्ते छिपता हुआ भाग गया। महाराज ने आगे बढ़ कर हस्तनगर पर कब्जा किया और तारीख १७ मार्च को पेशावर पर अधिकार कर लिया। सिक्ख बिखर गये और खैबर तक सारे इलाके में उन्होंने लूट मचा दी। किन्तु चूंकि वहाँ की मुसलमान जनता सिक्ख विजेताओं से सख्त नाराज़ थी इसलिये महाराज ने पेशावर अपने हाथ न रखकर यारमुहम्मद और दोस्तमुहम्मद को बुलाया। वे दो जोड़ी घोड़े नजराना लेकर महाराज के सामने हाज़िर हुए। उन्हीं में महाराज ने नया जीता हुआ इलाक़ा बाँट दिया। २६ अप्रैल को लाहौर वापिस आकर विजय की खुशियाँ मनाईं। लाहौर, अमृतसर में भारी रोशनी हुई। इन्हीं खुशी के दिनों में तैमूर शाह का लड़का इब्राहीम लाहौर आया। महाराज ने उसे बड़े प्रेम से ठहराया और उसका सत्कार किया।

अपनी पिछली आदत के अनुसार सन् १८२३ ई० में पिखली और धमतूर के क़बीलों ने विद्रोह खड़ा कर दिया। जब महाराज को खबर मिली तो उन्होंने हरीसिंह नलुआ को उनके दमन करने को भेजा। हरीसिंह ने उनके गाँव के गाँव बरबाद कर दिये और उनको इतना तंग किया कि आज तक उनकी औलाद के लोग हरीसिंह को नहीं भूल पाये हैं। इसके एक साल बाद सन् १८२४ ई० में हज़ारा के ज़मींदारों ने भी बग़ावत खड़ी कर दी और महाराज के क़िलेदार अब्बासखां खटक को क़ैद कर लिया। हरीसिंह नलुआ ने गंदगढ़ के मैदान में इनको परास्त करके भगा दिया। अब्बासखां को क़ैद से छुड़ा कर उसकी जगह पर बहाल कर दिया। इन्हीं दिनों बहावलपुर और मुनकेरा के नवाब मर गये। महाराज ने उनके बेटों को पच्चीस-पच्चीस हज़ार नज़राना लेकर उत्तराधिकारी बना दिया।

काश्मीर विजय के हालात

कश्मीर जिस तरह से महाराज के हाथ में आया और जितनी बार उनको लड़ाइयाँ लड़नी पड़ीं वह सब पाठकों की सहूलियत के लिये एक जगह संग्रह करके रख देना हमने उचित समझा है। जिन दिनों कश्मीर क़ाबुल के आधीन था उस समय वहाँ अतामुहम्मद सूबेदार था। अतामुहम्मद ने सन् १८१० ई० में शुजा की मदद करके उसके विरोधी भाई महमूद को हराया था। उसी साल दीवान मुहकमचन्द ने भम्बर और राजौरी पर हमला किया। भम्बर के सुल्तान खान ने सामना किया परन्तु हार गया और ४० हज़ार रुपया खिराज़ देना मंजूर किया। दूसरी तरफ़ महाराज ने क़टाल में गंगा का क़िला जीत लिया था। उन्हें इसी समय समाचार मिला कि शाह महमूद सिन्ध के पार हो आया है। महाराज खेवड़ा से चलकर रावलपिण्डी जा पहुँचे। यहाँ उन्हें यह पता लगा कि शाह महमूद काश्मीर के सूवेदार अतामुहम्मद को तथा अटक के सूवेदार को सजा देना चाहता है। महाराज ने उसके साथ दोस्ती कर ली और वापिस चले आए। यहाँ पर उन्हें मालूम हुआ कि इस्माइलखां को जिसे मुहकमचन्द भम्बर का इलाका दे आया था सुल्तानखाँ ने निकाल दिया है। इसलिये भाई रामसिंह और कुँ० खड्गसिंह को सुल्तानखां के ठीक करने को भेजा। सुल्तानखां ने पहिली लड़ाई में सिक्खों को हटा दिया परन्तु जब उसने सुना कि मुहकमचन्द भी फ़ौज लेकर आ रहा है तो वह सन्धि करने पर राज़ी हो गया और मुहकमचन्द के साथ लाहौर चला आया। यहाँ महाराज ने उसे कैद कर लिया और उसका इलाका अपने राज्य में मिला लिया। सन् १८१२ ई० में इस्माइलखाँ ने राजौरी के अज़ीज़खाँ के साथ मिल कर अतामुहम्मद की मदद से बग़ावत खड़ी कर दी। महाराज ने खुद जाकर इस बग़ावत को दबाया। इन्हीं दिनों काबुल के अमीर शाहजमाल और शुजा के कुनबे लाहौर में आए। महाराज की ओर से उनका खूब स्वागत-सत्कार हुआ। महाराज की यह भी इच्छा थी कि शुजा लाहौर में रहे। क्योंक काश्मीर के ऊपर उनकी नज़र थी। इसी समय उन्हें काश्मीर लेने का मौक़ा भी

मिल गया। वजीर फतहखाँ, अतामुहम्मद और उसके भाई जहाँदाद (किलेदार अटक) को सजा देने के लिए काश्मीर जा रहा था। उसे यह खयाल आया कि शायद महाराज रणजीतसिंह की फौज काश्मीर के पहाड़ी रास्तों से भली प्रकार परिचित होगी। इसलिए महाराज की फौज के साथ मिल कर यह मुहीम इख़्त्यार करनी चाहिए। महाराज उसके साथ फ़ौज लेकर चलने के लिए इस शर्त पर तैयार हो गये कि लूट का तीसरा भाग सिखों को दिया जायगा। बारह हजार फ़ौज मुहकमचन्द के साथ महाराज ने काश्मीर के लिए रवाना की। दोनों फ़ौजें प्रथक-प्रथक रास्तों से काश्मीर पहुँचीं। अतामुहम्मद लड़ाई में न ठहर सका और वजीर ने शाह महमूद के नाम पर काश्मीर पर अधिकार कर लिया और सिखों को कुछ नहीं दिया। दीवान मुहकमचन्द को खाली हाथ लौटना पड़ा। यह पहिला मौका था कि महाराज मुसलमान के धोखे में आ गए और वह इतने चिढ़े कि उसी समय अटक के हाकिम जहाँदाद से लिखा पढ़ी की कि अटक का किला सिखों के हाथ में करदे। उस बेचारे ने लाचार होकर महाराज के दावे को स्वीकार कर लिया और सिखों को किले में घुसा लिया। महाराज ने फ़क़ीर अज़ीजुद्दीन और दीवान देवीदास को अटक का चार्ज सँभालने को भेजा। उधर काश्मीर से फ़तहखाँ भी वहाँ का इन्तजाम अपने भाई अजीजखाँ के सुपुर्द करके अटक आ पहुँचा। लड़ाई की तैयारियाँ होने लगीं। सुजूर के मुकाम पर घमासान युद्ध हुआ। परन्तु सिखों की मदद के लिए मुहकमचन्द आ पहुँचा था। वजीर और उसका भाई दोस्त मुहम्मद दोनों बहादुरी के साथ लड़े परन्तु मुहकमचन्द की बहादुरी से यवनों को हार खानी पड़ी और वह भाग खड़े हुए। पठानों पर सिखों की यह पहिली विजय थी। वह शुभ दिन जब कि पठानों पर सिख विजयी हुए थे सन् १८१३ का १३ जौलाई था। इस विजय से लाहौर में बड़ी खुशी मनाई गई। लाहौर, अमृतसर, बटाले में रोशनी की गई। दो महीने तक बराबर आमोद-प्रमोद जारी रहे। कुछ समय के बाद महाराज ने सूबा अटक का मुलाहिजा किया और अक्टूबर में पहाड़ी राजाओं से ख़िराज वसूल करके काश्मीर पर चढ़ाई करने का प्रबन्ध करने लगे। गुजरात के रास्ते से उनकी सेनायें काश्मीर को चलीं। भम्बर और राजौरी होते हुए ठट्ठा में उनकी सेनायें पहुँचीं। परन्तु काश्मीरी मुसलमानों ने बहरामगिला के पास का पुल तोड़ दिया था जिससे उनका आगे बढ़ना रुक जावे। परन्तु राजौरी के सरदार के दूसरा रास्ता बतलाने पर महाराज ने बहराम के किले पर कब्ज़ा कर लिया। आगे बढ़ने का विचार कर रहे थे कि बर्सात शुरू हो गई। इस साल बड़े जोरों का पानी पड़ा। इसलिए महाराज ने यही उचित समझा कि बरसात के बीतजाने पर काश्मीर पर हमला किया जावे। इसलिए उस समय वह लाहौर के लिए लौट आये।

सन् १८१४ ई० में महाराज ने काश्मीर पर चढ़ाई करने का फिर इरादा किया। स्यालकोट में सब फौज और सरदारों को इकट्ठा किया। इस समय दीवान

मुहकमचन्द ने राय दी कि भम्बर और राजौरी में बहुत सा रसद का सामान इकट्ठा कर लिया जाय तब काश्मीर पर चढ़ाई की जाय। परन्तु महाराज ने इस राय पर विशेष ध्यान नहीं दिया। बीमारी की वजह से दीवान मुहकमचन्द तो लाहौर में ही रह गया उसकी जगह पर उसका पौत्र रामदयाल जिसकी उम्र २४ साल की थी जाने को तैयार हुआ। राजौरी के हाकिम अगरखाँ ने महाराज को पूंछ के गलत रास्ते पर डाल दिया। सेना का एक भाग रामदयाल और दूसरे सरदारों के अधीनस्थ था जिनमें हरीसिंह नलुआ और हरनामसिंह अटारी वाला भी थे आगे रवाना हुआ। पीरपंचाल गुजर कर यह फौज महरपुर जा पहुँची। यहाँ अजीमखाँ ने सामना किया परन्तु वह हार खाकर पीछे हट गया और अगले मुकाम शौपम में सिक्ख फौज को आगे बढ़ने से रोक दिया। रामदयाल ने श्रीनगर के पास एक गांव में हट कर डेरा डाल दिये और महाराज के आने की बाट जोहने लगा। उधर महाराज की फौज श्रीनगर के बजाय पूंछ जा पहुँची। बरसात का समय भी आ गया और बरसात आरम्भ भी हो गई। ठीक रास्ता न मिलने के कारण महाराज लाहौर को वापिस लौट आये। लाहौर लौटकर उन्होंने भाई रामसिंह को कुछ फौज देकर दीवान रामदयाल की सहायता को भेजा। परन्तु वह भी बहराम गले में चक्कर खाता रहा और उसे रास्ता न मिला। रामदयाल ने जान लिया कि उसे बिना महाराज के आये हुए ही लड़ना पड़ेगा। इसलिये वह ऐसी बहादुरी से लड़ा कि उसके सामने में दो हज़ार पठान मारे गये। अजीमखाँ ने दीवान रामदयाल से सुलह कर ली और महाराज की भेंट के लिये बहुत सा सामान दिया। रामदयाल लाहौर लौट आया। महाराज को दीवान मुहकमचन्द की बात याद आई और अपनी गलती पर पछताने लगे। यदि राजौरी और भम्बर में रसद का सामान इकट्ठा कर लिया जाता तो काश्मीर अब की बार में ही विजय कर लिया जाता। इसी अरसे राजौरी और भम्बर के सरदारों ने भी बग़ावत खड़ी कर दी। दीवान रामदयाल और दिलसिंह ने उनके इलाके में पहुँच कर बग़ावत को दबा दिया और कुछ दिन के बाद राजौरी और कोटली को विजय कर लिया और रामगढ़ियों का सारा इलाका भी महाराज ने अपने इलाके में मिला लिया। यह समाचार जब काबुल पहुँचा कि महाराज रणजीतसिंह ने काश्मीर को अपने राज्य में मिलाने के लिये चढ़ाई की है तो वहाँ से वजीर फतहखाँ अजीमखाँ की मदद के लिये चला। उसके सिन्ध पार कर चुकने के बाद महाराज रणजीतसिंह को भी उसके आने की खबर मिल गई। इसलिये उन्होंने दीवान रामदयाल को आज्ञा दी कि वह सरायकाला पर पहुँच करके डेरा डाले रहे और उसका सामना करता रहे।

चार साल के बाद सन् १८१८ ईस्वी में काश्मीर के नये सूबेदार जबरखाँ का वज़ीर बीरधर नाराज़ होकर महाराज के पास लाहौर आ पहुँचा और काश्मीर को विजय करने के तमाम तरीक़े उसने महाराज को बतला दिये। इस बार महाराज ने सेना के तीन भाग किये; एक भाग का सेनापति मिश्र दीवान चन्द्र, दूसरे का कुँवर

खड़गसिंह और तीसरे भाग के संचालक खुद महाराज बने। मार्च सन् १८१६ ई० में पं० दीवानचन्द ने राजौरी पहुँच कर अपने सैनिकों को हुक्म दिया कि अज़ीज़ खां को गिरफ़्तार कर लिया जाय। अज़ीज़खां तो भाग गया लेकिन उसके बेटे रहीम-उल्लाखां ने राजौरी का राज्य दीवानचन्द के सुपुर्द कर दिया। यहां से आगे दीवानचन्द ने पूंछ पहुँच कर वहां के शासक ज़बरदस्त खां से आधीनता स्वीकार कराई। और पंचाल को पार करके दीवानचन्द ने अपनी सेना के तीन भाग किये। ता० १६ जून को १२ हज़ार सिख सरायअली में इकट्ठे हो गये। ५ जुलाई को शोपिन के मुकाम पर पठानों और सिखों में एक बड़ी भारी लड़ाई हुई जिसमें हज़ारों पठान मारे गये। बचे-खुचे मैदान छोड़कर भाग गये। ज़बरखां ऐसा घायल हुआ कि उसकी जान मुश्किल से बची। काश्मीर पर महाराज का कब्ज़ा हो गया। सिक्ख चाहते थे कि शहर लूट लिया जाय; परन्तु मिश्र दीवानचन्द ने ऐसा नहीं करने दिया। विजय-उत्सव मनाने के लिए महाराज लाहौर को लौट गए। तीन दिन तक लाहौर और अमृतसर में रोशनी की गई और अनेक तरह के दान-पुण्य किए गए। दीवान मुहकमचन्द के बेटे दीवान मोतीराम को काश्मीर का पहिला सूबेदार नियुक्त करके काश्मीर भेजा गया और लगान उगाही का ५३ लाख में पं० बीरधर को काश्मीर का ठेका दे दिया गया। शाल बनाने का ठेका दस लाख रुपये में जवाहरमल को दिया गया। दूसरे साल मोतीराम बनारस के लिये चले गये तो महाराज ने सरदार हरीसिंह नलुआ को जिसने पिछले साल दुर्बन्धगढ़ को फ़तह किया था, काश्मीर का सूबेदार नियुक्त किया। साहस और बहादुरी के लिए हरीसिंह बड़ा मशहूर था। उसने अकेले ही घोड़े पर सवार होकर एक बार एक शहर को जीत लिया था। परन्तु प्रबन्ध करने में वह सफल नहीं हुआ, इसलिये महाराज ने फिर दीवान मोतीराम को काश्मीर भेजा और वह सन् १८२६ ई० तक काश्मीर रहा।

जब दीवान मोतीराम काश्मीर का सूबेदार था उस समय उसका बेटा जालन्धर के द्वावे पर गवर्नरी करता था और दूसरा बेटा शिवदयाल जिला गुजरात में जागीर का प्रबन्ध करता था। परन्तु राजा ध्यानसिंह जो महाराज के मुँह लगा हुआ था, इन लोगों से इसलिए जलता था कि इनका रुतबा बहुत बढ़ा हुआ था और उसने फलौर को जो मुहकमचन्द की जागीर में था, अपने साले राजारामसिंह को दे दिया। इससे कृपाराम बहुत नाराज हो गया। जब महाराज ने दुर्बन्ध की लड़ाई के लिये उसे बुलाया तो बजाय कुल फ़ौज के सिर्फ़ १५ सवार लेकर हाज़िर हुआ। महाराज उससे बहुत जल गये। उसे क़ैद कर दिया और मोतीराम को काश्मीर से वापिस बुला कर उस पर १७ हज़ार जुर्माना कर दिया और भीमसिंह को काश्मीर में उसके स्थान पर भेजा। किन्तु वह अयोग्य साबित हुआ, इसलिये दीवान चुन्नीलाल को उसकी जगह पर नियुक्त किया। वह भी काश्मीर का शासन करने में सफल नहीं हुआ। डेढ़ साल बाद मोतीराम के खानदान पर फिर कृपा की दृष्टि हुई और दीवान कृपाराम को काश्मीर का गवर्नर नियुक्त किया गया। दीवान कृपाराम बड़ा योग्य और सर्व-प्रिय था।

इसके समय में काश्मीर की बड़ी तरक्की हुई। इसी ने रामबाग़ की नींव डाली। दीवान कृपाराम के काश्मीर से वापिस आने पर बैसाखासिंह को महाराज ने काश्मीर का प्रबन्ध सोंपा था। परन्तु वह बड़ा अयोग्य और नालायक साबित हुआ। सन् १८३३ ई० में उसकी शिकायतें महाराज के पास पहुँचीं। उसके आगे लोगों पर खूब ज़ुल्म होते थे। सारा इन्तज़ाम खराब था। शाल की दस्तकारी बरबाद हो रही थी। सौदागरों का दिवाला निकल रहा था। शेरसिंह जो उसकी देखभाल के लिये मुक़र्रर था शराब पीकर के मस्त पड़ा रहता था। महाराज ने उसे पकड़ करके लाहौर मंगा लिया और उस पर ५ लाख जुर्माना किया। जमादार खुशहालसिंह, भाई गुरुमुखसिंह, गुलाम-मुहीउद्दीन को शेरसिंह की मदद के लिये काश्मीर भेज दिया। परन्तु इन लोगों से कुछ भी अच्छा प्रबन्ध न हो सका बल्कि इन्होंने लोगों को और भी तंग किया। प्रजा के हज़ारों लोग अकाल और ज़ुल्मों से तंग आकर लाहौर की ओर भाग आये। लाहौर की गलियों में वह रोटी के लिये चिल्लाते थे। महाराज ने उनके खाने पीने के लिये मन्दिर व मसजिदों में सदावर्त खोल दिये, और गुलाम मुहीउद्दीन को वापिस बुला कर उसकी जायदाद ज़ब्त कर ली। खुशहालसिंह को दो माह तक अपने सामने नहीं आने दिया और उनकी जगह पर महासिंह को भेजा। सन् १८३४ ई० में जम्बू के राजा गुलाबसिंह को उसके कमाण्डर जोरावरसिंह ने गद्दी से अलग कर दिया और उसके मंत्री को जम्बू का राजा बना दिया। तीस हज़ार रुपया सालाना खिराज़ देना महाराज रणजीतसिंह को मंजूर किया। इस प्रकार जम्बू पर भी महाराज का अप्रत्यक्ष रूप से अधिकार हो गया। लद्दाख के अधिकारियों में भी इसी साल आपस में झगड़ा हो जाने के कारण उन्हें भी महाराज की शरण लेनी पड़ी।

पेशावर पर कब्ज़ा

काबुल का अमीर दोस्तमुहम्मद जो कि शुजा की हुकूमत को काबुल में न बैठने देने के लिये प्राण-पण से चेष्टा कर रहा था यह भी चाहता था कि पेशावर महाराज रणजीतसिंह के आधीन न रहकर काबुल के आधीन रहे। इसलिये उसने छेड़छाड़ आरम्भ कर दी। उसी का इशारा पाकर सन् १८३४ में दिलासाखाँ ने बन्नू के इलाके में विद्रोह कर दिया। उसके विद्रोह को दबाने के लिये सरदार शामसिंह और बख़शी तारासिंह ने उसे गढ़ही में जा दबाया। किन्तु रात के समय पठानों ने सोते हुए सिक्खों पर हमला कर दिया। इस अचानक के हमले में कई सौ सिक्ख मारे गये। सिक्ख लोग घेरे को उठा चुके थे। किन्तु राजा सुचितसिंह मदद को पहुँच गये और विद्रोह को दबा दिया गया। अब महाराज ने पेशावर को क़तई अपने राज्य में मिलाने का निश्चय कर लिया क्योंकि उन्हें अन्देशा था कि शायद पेशावर के मुसलमान शासक मिल कर पेशावर को काबुल के आधीन न कर दें। इन दिनों सरदार हरीसिंह नलुआ यूसुफ़ज़ई के सूबेदार थे। उन्हें आज्ञा दी गई कि वे कुंवर नौनिहाल के साथ मिलकर पेशावर पर क़तई कब्ज़ा करलें। अप्रैल के महीने में यह सेनायें पेशावर पहुँच गईं। बहुत सा खिराज और घोड़े जो सुलतान महमूद ने भेजे कुँवर नौनिहालसिंह ने रख

लिये किन्तु नज़राने में आये हुए घोड़े वापिस कर दिये जिससे पठान समझ गये कि अब की बार खैर नहीं है। अतः उन्होंने अपने परिवार काबुल की ओर भेज दिये। सरदार हरीसिंह नलुआ ने सुलतान महमूद से कहला भेजा कि कुँवर साहब शहर का निरीक्षण करना चाहते हैं। सुलतान महमूद मतलब को समझ गया और रात के समय किले को खाली करके पहाड़ों में भाग गया। दूसरे दिन सिक्ख सेना ने पेशावर पर बिना ही रक्त बहाये अधिकार कर लिया।

लेकिन महाराज निश्चिन्त न थे। वे बराबर पेशावर के लिए फौजें भेजते रहे और खुद भी पेशावर को चल पड़े। क्योंकि वे जानते थे कि पठान धोखे से, स्पष्टता से जैसे भी उनसे बनेगा पूरा उपद्रव करेंगे। सहज ही पेशावर पर कब्ज़ा न होने देंगे। उधर दोस्तमुहम्मद को जब यह खबर लगी कि पेशावर पठानों के हाथ से निकल गया है तो वह बड़ा चिन्तित हुआ और उसने अँग्रेज़ों को लिखा कि वे रणजीतसिंह से यह इलाका वापिस करा दें। लेकिन अँग्रेज़ सरकार ने टकासा "इनकारी का" जवाब दे दिया। दोस्तमुहम्मद अँग्रेज़ों की इनकारी से निराश नहीं हुआ। उसने जबरखाँ को ईरान भेजा ताकि वह वहाँ से मदद लाये। वह खुद सेना लेकर जलालाबाद आ गया और वहाँ से फ़ौज लेकर पेशावर की ओर रवाना हुआ। अलीबागान मुकाम पर पहुँच कर ईद की कुर्बानी की और ख़ुदा से दुआ माँगी कि—"या ख़ुदा मुझ मक्खी को जाट हाथी रणजीतसिंह से लड़ने की ताक़त दे! चूंकि तेरे पास बहुत ताक़त है।" रास्ते में उसके साथ और भी पठान मिल गए। खैबर के सरदार भी सिखों का साथ छोड़ कर दीन के नाम पर उसके साथी बन गए। खैबर को पार करके सिक्खान नामक स्थान में आकर डेरा लगाये। उधर महाराज रणजीतसिंहजी भी पेशावर आ पहुँचे थे। किन्तु वे चाहते थे कि लड़ाई से पहिले उनकी फ़ौज ढंग से लग जाय। इसलिये दोस्तमुहम्मद से यों ही राजीनामे के लिये लिखा-पढ़ी करने लगे। अर्ध-व्यूह की सूरत में सेना को पाँच कैम्पों में विभाजित किया। सामने रिसाला, पीछे पलटन, उसके पीछे फिर रिसाला खड़े किये और अज़ीज़ुद्दीन और मि० हारमैन को दोस्तमुहम्मद के पार्श्व में नियुक्त किया ताकि वे उसे हटाने में शक्ति लगावें। दोस्तमुहम्मद को भी पता लग गया कि सिख-सेना ने उसे चारों ओर से घेर लिया है। वह घबरा गया और भागने का यत्न सोचने लगा। उसे एक उपाय सूझा। उसने अपने भाई सुलतान-महमूद से कहा कि फ़कीर अज़ीज़ुद्दीन और मि० हारमैन को बुला कर धोखे से क़ैद करलो। निदान उन्हें सन्धि के बहाने बुला कर गिरफ़्तार कर लिया और अपने भाई के सुपुर्द करके भाग गया। उसने अज़ीज़ुद्दीन से कहा था कि सिख काफ़िर हैं अतः उनके साथ दगा करना पाप नहीं है। इसीलिये नीति के विरुद्ध मैंने तुम्हें गिरफ़्तार किया है। लेकिन जब उसने सुना कि फ़कीर अज़ीज़ुद्दीन और हारमैन दोनों छुड़ा लिये गए तो उसे अपनी इस हार पर बड़ी शर्म आई। दोस्त-

मुहम्मद के भाग जाने के बाद महाराज ने पेशावर के क़िले की मरम्मत कराई और फिर लाहौर को लौट गये।

सन् १८३७ ई० की सर्दियों में सरदार हरीसिंह नलुआ ने पेशावर से आगे बढ़कर जमसद पर कब्ज़ा कर लिया। इस खबर को सुन कर दोस्तमुहम्मद घबरा गया। उसने अपने वज़ीर को अपने पाँचों बेटों और ख़ैबर के इलाके-दारों के साथ सेना देकर हरीसिंह के मुक़ाबिले को भेजा। पठानों ने ज़मसद पहुँच कर हमला किया। दो दिन की लड़ाई के बाद किले के बाहरी हिस्से पर कब्ज़ा कर लिया। इस छोटी सी जीत के लिए पठान खुशी मना रहे थे कि २० अप्रैल सन् १८३७ को हरीसिंह ने उन पर ऐसा आक्रमण किया कि बेचारों को लेने के देने पड़ गये। जान बचाकर भागने लगे और सरदार हरीसिंह ने मुहम्मद-अफ़ज़ल और अमीर के बेटों को ख़ैबर तक खदेड़ा। उनकी १४ तोपें छीन लीं। सिख पठानों का पीछा कर रहे थे और पठान अपने ही देश में घर की ओर भाग रहे थे। इसी समय पठानों की मदद के लिए शमसुद्दीन फ़ौज लेकर आ गया। इससे पठान फिर खेत में अड़े। लड़ाई बड़ी डट कर हुई। पठानों को भागते ही बना। किन्तु सरदार हरीसिंह इतने घायल हुए कि वे बच न सके। सिखों का दिल टूट गया और वे जमरूद वापिस आ गये। महाराज ने जब स० हरीसिंह के मारे जाने का समाचार सुना तो वे रो पड़े और खुद पेशावर के लिए फ़ौज लेकर चल पड़े। राजा ध्यानसिंह ने जमरूद पहुँच कर किले की मरम्मत कराई और पेशावर में पैंतीस हजार सिख सेना नियत करदी जिससे अफ़गानों के हौसले पस्त हो गए।

शुजा को सहायता

सन् १८३७ ई० में ईरान के बादशाह के मरजाने के बाद ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो गई कि दोस्तमुहम्मद रूसियों से सुलह करने को तैयार हो गया। वह यह भी चाहता था कि रूस की मदद से सिखों से पेशावर छीना जाय। अँग्रेज़ यह चाहते थे कि रूस का प्रभाव काबुल या भारत में कहीं भी न बढ़े। इसलिए उन्होंने दोस्तमुहम्मद को मना किया कि वह रूसियों से सम्बन्ध न जोड़े। किन्तु दोस्त-मुहम्मद ने इस बात की कोई परवाह न की। उसके इस कृत्य से चिढ़ कर अँग्रेज़ों ने मि० होमकनाइन बरनिस को महाराज रणजीतसिंह के पास भेजा कि दोस्तमुह-म्मद को काबुल की गद्दी से हटाने में हमारी मदद करके शाहशुजा को वहाँ का मालिक बनाया जाय। ३० मई को आम दरबार में दीना नगर के कैम्प में महाराज ने अँग्रेज़ी दूत की बात सुनी। मि० मैकनाटन ने अपनी सरकार के मनसूबे महाराज के आगे रक्खे। साथ ही कहा गया कि इस मुहीम को महाराज खुद अपने हाथ में लें तो सरकार अँग्रेज़ उन्हें हर तरह की मदद देगी। महाराज ने इस बात को मंजूर कर लिया। हालांकि राजा ध्यानसिंह पक्ष में न थे। अन्य सरदार भी कहते रहे कि काबुल पर चढ़ाई तो की जाय; लेकिन अँग्रेज़ों से कोई मदद न ली जाय; लेकिन महाराज

ने अँग्रेजों की बात को पसन्द किया। आखिरकार शाहशुजा से तय हुआ कि वह अपनी फ़ौज लेकर काबुल में घुसे। महाराज और अँग्रेज उसकी मदद के लिए आते हैं। अँग्रेज़ तो अपना सौदा शाहशुजा से यहाँ कर ही चुके थे कि उसे बिना अँग्रेज़ों की मर्ज़ी के किसी के साथ सुलह करने या सम्बन्ध जोड़ने का अधिकार न होगा। महाराज के लिए अँग्रेज़ शाहशुजा के जलालाबाद दिलाना चाहते थे; किन्तु शाहशुजा ने दो लाख सालाना और पचास घोड़े महाराज को देना स्वीकार किया। नौम्बर में अँग्रेज़ी फ़ौज फ़ीरोजपुर में इकट्ठी हो गई। यहाँ महाराज और आकलैण्ड की मुलाक़ात हुई। दस हज़ार अँग्रेज़ी फ़ौज और छः हज़ार सिख काबुल को रवाना हुए। शाहशुजा कन्दहार ही पहुँचा था कि दोस्त मुहम्मद काबुल छोड़ कर भाग गया और इस तरह ८ मई सन् १८३९ को शाहशुजा काबुल का बादशाह बना दिया गया। इस तरह काबुल में भी सिखों का यश छा गया। शाहशुजा यथा संभव अपनी शर्त्त महाराज के साथ पूरी करता रहा१।

महाराज रणजीतसिंह के राज्य की सीमा

महाराज का अधिकांश जीवन संग्राम में बीता। वह युद्ध-प्रिय थे। जिस दिन से उनके पिता का देहान्त हुआ उसी दिन से वह युद्धों में लगे रहे। बारह वर्ष की अवस्था से युद्ध-क्षेत्र में उतरे थे और लगभग ६० वर्ष की अवस्था तक बराबर युद्ध करते रहे। जिस दिन से उन्होंने अपनी जागीर का काम सँभाला था, कोई भी वर्ष उनका ऐसा नहीं बीता जिसमें उन्हें युद्ध न करना पड़ा हो। किसी किसी वर्ष में तो अनेक स्थानों पर उन्हें युद्ध करना पड़ा। घर के लोगों से लगा कर काबुल तक लोगों से वह लड़े। वे उच्चाशयी थे। उनकी उच्चाशायें पूरी हुईं। जो व्यक्ति चढ़े हुए 'अटक' जैसे तीव्रगति से चलने वाले नद में अपने घोड़े को यह कह कर डालदे कि—"सबै भूमि गोपाल की या में अटक कहा। जाके मन में अटक है सोई अटक रहा।" भला वह क्या नहीं कर सकता था? नैपोलियन ने भी तो यही कहा था कि 'असंभव' नाम कोई वस्तु नहीं। उन्हें अपनी भुजाओं के बल पर विश्वास था और अपनी ही भुजा के बल से, बाप-दादों की कृपा से नहीं—उन्होंने उत्तर और ईशान कोण की ओर हिन्दूकुश और तिब्बत की पर्वत-माला तक और नैऋत्य कोण की ओर उसमांखेल और खैबर तथा सुलैमान की पर्वत-माला तक अपना राज विस्तार कर लिया था। मिट्ठनकोट से अमरकोट तक

१—सन् १८३९ ई० में सिन्धियों के हमलों से तंग आकर वहाँ के हाकिम दीवान सावनमल ने रोझान पर कब्ज़ा कर लिया और कुछ दिन बाद ही मजारियों से कान का किला भी छीन लिया। अँग्रेज़ों को यह बात बुरी लगी। कर्नल वैड महाराज के पास सावनमल की शिकायत करने आया; किन्तु महाराज ने कुछ परवाह न की और कान के किले को नष्ट कराके मजारियों को दबाये रक्खा।

उनके राज्य की सीमा सिन्धु नदी थी और अग्निकोण की ओर सतलज नदी थी। सतलज के इस पार भी पेंतालीस गामों पर उनका राज्य था। उत्तर में उनके राज्य की सीमा इतनी आगे बढ़ गई थी कि अशोक के बाद किसी भी हिन्दू राजा का राज्य वहाँ तक न पहुँचा था। गोरखा, पठान, मुग़ल और राजपूत सभी से उन्होंने अपने वल को तौला था। उनका लोहा सभी ने स्वीकार किया था। इसमें कोई सन्देह नहीं, यदि अँग्रेज़ भारत में न आये होते तो अफ़गानिस्तान तथा विलोचिस्तान तो उनके अधिकार में होते ही किन्तु तिब्बत, मालवा, सिन्ध और राजपूताना भी उनके अधिकार में होता और यदि धौलपुर और भरतपुर के पैर भी और फैलते जैसी कि बहुत सम्भावना थी तो पंजाब से लगा कर विन्ध्याचल तक एक ऐसा साम्राज्य स्थापित होता जो जाट-साम्राज्य के नाम से पुकारा जा सकता। कारण कि मुरसान और हाथरस के राजा और भरतपुर की महत्वाकांक्षी शक्ति को अँग्रेज़ सरकार के ही कारण संकुचित होना पड़ा था। राजपूताने के राजाओं में इतनी शक्ति व संगठन न था कि वे पंजाब के सिख-जाट और व्रज के हिन्दू-जाटों की सम्मिलित शक्ति का सामना कर सकते; जब कि राजस्थान के जाट भी उनके अत्याचार से उकता कर अपने क़ौमी नरेशों का साथ देने को तैयार हो जाते। महाराज रणजीतसिंह भारत का नक़शा देख कर सर्द आह के साथ कहा करते थे—क्या एक दिन यह सारा लाल रङ्ग का हो जावेगा[१] ? महाराज ने काफ़ी राज्य विस्तार किया किन्तु उनकी इच्छा इससे भी वहुत अधिक थी।

मुलाक़ातें

महाराज ने सन् १८३० ई० तक सारे पंजाब पर विजय प्राप्त कर ली थी। उनका रौब सभी पड़ौसी राज्यों पर छाया हुआ था। सिन्ध को फ़तह करने की लगन उनके हृदय में लगी हुई थी। तत्कालीन देशी-विदेशी शासक उनका कितना सन्मान करते थे वह इसीसे जाना जा सकता है कि निज़ाम हैदरावाद ने उनके लिए तोहफ़े भेजे थे। हिरात के शासक ने अपना एजेण्ट उनकी सेवा में भेजा। विलोचिस्तान से मित्रता के लिए पत्र आए। इङ्गलैण्ड के वादशाह ने दोस्ती का हाथ बढ़ाया और भेट भेजीं। इन भेट, तोहफ़े और नजरानों का कुछ थोड़ा सा दिलचस्प विवरण इस प्रकार है—इङ्गलैण्ड के वादशाह द्वितीय विलियम ने महाराज के लिए पाँच उम्दा घोड़े कर्नल वरनिस के साथ भेजे क्योंकि महाराज ने वादशाह को एक कश्मीरी शाल भेजा था। कर्नल वरनिस सिन्ध के रास्ते इन घोड़ों को लेकर लाहौर पहुँचा। फ़क़ीर अज़ीज़ुद्दीन प्राइममिनिस्टर ने इस भेट के समय कहा था—इङ्गलैण्ड के वादशाह और पंजाव के महाराज की इस दोस्ती की चर्चा ईरान और रूम तक फैल जायगी। ता० १८ जून को लाहौर में जुलूस निकाल कर मि० वरनिस को दरवार में लाया

१—हिन्दुस्तान के नक़शे में वृटिश राज्य लाल रङ्ग से दिखाया गया है। पं० कें० पृ० २७।

गया। तमाम गलियाँ सवारों और प्यादों से भरी हुई थीं। देखने वालों के झुंड के झुंड खड़े थे। राजा ध्यानसिंह ने दरवाजे पर स्वागत किया। महाराज भड़कदार पोशाक और गले में हार पहने हुए थे। अन्य उमराव भी जवाहरात से लदे हुए थे। सब पर बसंती पोशाक थी। महाराज को मि० वरनिस ने सुनहरी बेग में रक्खी हुई चिट्ठी, दो घोड़े और एक गाड़ी भेंट की। महाराज ने चिट्ठी को अज़ीजुद्दीन से पढ़वाया। घोड़ों को देख कर महाराज इतने खुश हुए कि उन्हें छोटे हाथी के नाम से पुकारा। डेढ़ घण्टे तक महाराज मि० वरनिस से बातचीत करते रहे। बातचीत के सिलसिले में वे सिन्ध की गहराई, इंगलैंड की दौलत और ताक़त, फ्रांस और इंगलैंड में कौन शक्तिशाली है आदि प्रश्न करते रहे।

एक दिन महाराज ने मि० वरनिस को तीस-चालीस कश्मीरी और पहाड़ी लड़कियों की पार्टी दिखलाई। यह सब लड़कियाँ नाचने वाली थीं और लड़कों का लिबास पहने हुए थीं। सभी एक से एक बढ़ कर सुन्दरी थीं। महाराज कहने लगे 'यह भी मेरी एक रेजिमेन्ट है। लेकिन यह क़वायद में नहीं जाती।' उनके दो नायक लड़कियों में से एक को १०) प्रति दिन और दूसरी को ५) प्रति दिन वेतन मिलता था। फिर महाराज ने अपने सैनिकों के सम्बन्ध में बातचीत की कि हमारे सिपाही युद्ध के दिनों में अपने लिए आठ दिन का रासन कंधे पर लाद कर लेजा सकते हैं। वे व्यूह बनाना भी जानते हैं। दूसरे दिन उसे तोपखाना दिखाया। उसमें इक्यावन (५१) तोप थीं जो एक-एक पाँच हजार रुपए से कम की न थीं। १६ अगस्त को उसकी प्रार्थना पर उसे कोहनूर हीरा दिखाया जो कि मुर्ग़े के अण्डे का अर्द्धांश था। औरङ्गजेब और अहमदशाह के वे हीरे भी दिखाये जिन पर उनकी भारी ममता थी। जाते समय मि० वरनिस को भी महाराज ने काफ़ी उपहार दिये और फ़ारसी में बादशाह के नाम एक चिट्ठी लिख कर दी। महाराज ने इंगलैंड के बादशाह के न घोड़ों से काम लिया और न गाड़ी से। वे केवल देखने के लिए रख छोड़े थे ताकि दर्शकों की भीड़ लगी रहे।

सन् १८७१ ई० के मार्च महीने में फ्रांस का एक चित्रकार मि० जैक मांट अपने अजायबघर के लिए भारत से सामिग्री संग्रह करने के लिए लाहौर आया। उसे सालामार बाग में ठहराया गया जहाँ कि सुहावने फ़व्वारे छूटते थे। उसने इस बाग के फ़व्वारों की अपनी यात्रा पुस्तक में खूब प्रशंसा की है। महाराज उसके साथ घण्टों बात चीत किया करते थे। उसने लिखा है कि—महाराज प्रत्येक बात को जानना चाहते थे। उनका जानकारी प्राप्त करने का शौक़ इतना बढ़ा हुआ था कि उनके तमाम लोगों की लापरवाही को दूर कर देता था। उन्होंने मुझे फ्रांस, इंगलैंड, भारत, लोक, परलोक, बोनापार्ट आदि के सम्बन्ध में अनेक प्रश्न किए। इस्लाम, ईसाइयत, ईश्वर, जीव, शैतान सम्बन्धी जो भी बात उन्हें याद न थीं, वे पूछे बिना न रहे। मि० जैक ने यहाँ तक लिखा है कि नैपोलियन बोनापार्ट और महाराज में बहुत कुछ समानता है।

भारत का तत्कालीन गवर्नर जनरल भी महाराज की मुलाकात का बड़ा इच्छुक था। उसकी इच्छा का कारण रूस का ही भय था। क्योंकि उस समय रूस की आँख ईरान पर लगी हुई थीं। मुलाकात सम्बन्धी बातें तय करने के लिय अप्रैल सन् १८३१ ई० को महाराज ने अपने प्रधान सचिव फ़कीर अजीजुद्दीन दीवान, मोतीराम और सरदार हरीसिंह नलुआ को गवर्नर के पास भेजा। इन दोनों का गवर्नर की ओर से खूब सत्कार हुआ। एक दिन मुलाकात में फ़कीर अजीजुद्दीन से गवर्नर ने पूछा 'तुम्हारे महाराज किस आँख से काने हैं' फ़कीर अजीजुद्दीन ने कहा—मुझे आज ही आप से मालूम हुआ है। हमारे मालिक के चेहरे पर इतना प्रचंड तेज है कि मुझे कभी उनकी ओर आँख उठाकर देखने का साहस नहीं हुआ है। कई दिन की मिहमानदारी के बाद जब यह लोग लाहौर को वापिस लौटे तो कप्तान वीड उनके साथ आया। महाराज ने रोपड़ के मुकाम को गवर्नर से मुलाकात के लिये तय किया जोकि अँग्रेजों की इच्छा के अनुकूल ही था। फ़ौज लेकर महाराज उस स्थान पर पहुँच गये। अपनी फ़ौजों का कैम्प सतलज के इस पार लगवाया। सिक्ख सरदारों ने गवर्नर जनरल के पास जाकर तय किया कि २६ अक्टूबर के दिन महाराज मुलाकात कर सकेंगे। मुलाकात की तिथि से पूर्व ही अचानक महाराज के हृदय में सन्देह पैदा हो गया। वे सोचने लगे कि दूसरे के इलाक़े में मुलाक़ात करने के लिये जाने में ख़तरा हो सकता है। अंग्रेज़ कंपनी के चाकरों ने कुछ ऐसी घटनायें भारत में कर भी दी थीं जिनसे एक दम अंग्रेज़ों के प्रति विश्वास कर लेना कोई बुद्धिमानी भी न थी। रात के समय महाराज ने ऐलार्ड को बुलाकर कह दिया कि वे गवर्नर से मुलाक़ात न करेंगे। ऐलार्ड बड़े चक्कर में पड़ा। उसने महाराज के सन्देह दूर करने के लिए बड़ी शपथें खाईं। उसने कहा—महाराज के सन्देह में तनक भी सत्यता निकले तो मैं अपना सिर कटा सकता हूँ। आखिर महाराज ने ज्योतिषियों को बुलाया। ज्योतिषियों ने किताबों के पन्ने पलट कर महाराज से कहा कि आप अपने दोनों हाथ में सेब ले जायें और गवर्नर से भेट होते ही सेब नजर करें। यदि वह लेले तो मुलाकात को शुभ समझना।

दूसरे दिन प्रातः काल अपने समस्त बड़े-बड़े सरदारों के साथ बसंती वेश में महाराज गवर्नर की मुलाकात को चले। आठ सौ सिपाही ऐलार्ड के साथ पुल पर पहिले ही भेजे जा चुके थे। तीन हजार सैनिक महाराज के पीछे थे। महाराज हाथी पर सवार थे। अंग्रेज़ों के कैम्पों में होकर महाराज के आने के लिए गवर्नर के स्थान तक रास्ता बनाया गया था। दोनों ओर अंग्रेज सैनिक सलामी के लिए खड़े थे। महाराज जब उनमें से होकर निकले तो प्रत्येक वस्तु के संबंध में जो उन्हें असाधारण दिखाई देती पूछ कर जानकारी प्राप्त करते जाते थे। गवर्नर जनरल से मिलते ही पहिले उन्होंने सेब पेश किये जो उसने तुरन्त ले लिये। सवारियों से उतर कर मुलाकात के खेमे में घुसे जहाँ सब के लिए बढ़िया कुर्सियाँ लगाई गई थीं। महाराज ने पहिले अपने तमाम सरदारों को बिठाया। खुद उनके नाम ले लेकर

बुलाया। जब सब सरदार बैठ गय तब आप बैठे। इसके बाद भेट के सामान अथवा तोहफ़े लाये गये। कलकत्ता, ढाका और बनारस के बनाये हुए खूबसूरत कपड़े, मोतियों की माला, जवाहरात की तश्तरी, ब्रह्मदेश के हाथी, हिसार के घोड़े, सब लाये गए। महाराज ने सब वस्तुओं को ध्यान से देखा और लाने वालों को पुरष्कार दिया। इस भेट को पाकर महाराज बड़े खुश हुए। अपने खेमे में वापिस आकर महाराज ने तीन जड़े हुए कश्मीरी कलमदान, गवर्नर उसकी मेम और उसके सेक्रेटरी को भेजे।

दूसरे दिन गवर्नर जनरल ने महाराज के स्थान पर आकर वापिसी मुलाक़ात की। इस मुलाकात के लिये महाराज के यहाँ बड़ी भारी तय्यारियाँ हुईं। कश्मीरी कारीगरी के खेमे सजाए गए। कुँ० खड़गसिंह और शेरसिंह को गवर्नर को लाने के लिए भेजा। पुल पर महाराज ने पहुँच कर गवर्नर जनरल विलियम-बेन्टिक को अपने हाथी पर चढ़ा लिया। उसी समय तोपों से सलामी हुई। सैनिकों ने हथियारों से सलामी दी। इस समय महाराज को अंग्रेज़ी बैंड बहुत पसंद आया। जब गवर्नर खेमे में आया तो उसने देखा महाराज का शामियाना मोतियों और हीरों से जड़ा हुआ है। फ़र्श रेशमी है। सभी वस्तुऐं बहुमूल्य और मोहक हैं। बैठते समय गवर्नर जनरल को गद्दी पर बैठाया गया। उसके दाहिने महाराज बेशक़ीमती कुर्सी पर बैठे। नाच-गान और नज़रें होने के बाद तोहफ़े मँगाए गए। एकसौ एक तश्तरी जिनमें जवाहिरात जड़े हुए हुए थे, दस बन्दूकें, तलवार, जड़ाऊ तीरकमान, एक पलंग और सोने चाँदी के बर्तन, दस घोड़े और एक हाथी गर्वनर को तोहफ़े में दिए गए।

आगे चार दिन तक खेल तमाशे और प्रदर्शनी होती रही। २ अक्टूबर को तोपखाने के खेल हुए। तोप से एक छतरी पर गोला फेंका गया। राजा ध्यानसिंह, सुचितसिंह और गुलाबसिंह ने तलवारबाजी और सवारी के खेल किये। सरदार हरीसिंह नलुआ, जनरल इलाहीबक्स, जनरल वेन्टोरा और ऐलार्ड ने भी अपने-अपने शस्त्र-निपुणता के खेल दिखाये। जब महाराज की बारी आई तो उन्होंने भी अपने कर्तव्य दिखाये। मैदान में पीतल का एक बर्तन रक्खा गया। महाराज ने अपना घोड़ा पूरी तेज़ी से दौड़ाते हुए उस बर्तन को तीन बार तलवार की नाक से उठाया। इस समय गवर्नरने दो तोप, पाँच पौंडर घोड़ों और सामान के साथ नजर कीं। शाम को एक लटकनेवाला पुल महाराज को उसने दिया। उसे कलकत्ते में इसी निमित्त से बनवाया गया था। रात को मित्रता का एक नया संधिपत्र निर्मित किया गया। इसमें पुरानी शर्तों के साथ सिन्ध नदी में जहाज चलाने का वाक्य जोड़ा गया। महाराज ने इस वाक्य के विरुद्ध यह कहा कि सिन्ध देश को अंग्रेज और हम साथ मिल कर जीत लें, क्योंकि वहाँ बड़ा रुपया है। कोई-कोई लेखक कहते हैं कि महाराज ने अस्पष्ट ढंग से सिन्ध नदी के उस भाग में नाव चलाने की इजाजत नहीं दी जो उनके राज्य में था; किन्तु गवर्नर ने महाराज पर इस बात को

प्रकट नहीं किया कि अँग्रेज़ सरकार की ओर से छिपे-छिपे सिन्ध के अमीरों से लिखा-पढ़ी हो रही है। यहाँ से चल कर महाराज कपूर्थला होते हुये १६ नौम्बर को लाहौर आगये।

दिसम्बर में कर्नल वीड से मुलाक़ात करते हुए महाराज ने कहा था कि सिन्ध को अँग्रेज़ सरकार ले लेने की कोशिश में है; किन्तु सिन्ध देश पर हमारा हक़ बहुत अधिक है। अँग्रेज़ों के बढ़ते हुए प्रभाव से महाराज निश्चय प्रसन्न न थे; किन्तु वे उनसे बिगाड़ना भी उचित न समझते थे।

सन् १८३५ ई० में फ्रांस के बादशाह की ओर से महाराज को तोहफ़े लेकर ऐलार्ड आया। फ़ारसी भाषा में महाराज की प्रशंसा में फ्रांस के बादशाह की ओर से एक नज़्म भी महाराज को सुनाई गई। इसी साल अमरीकन मैकगिरीगर हारेन्स, जर्मन डॉक्टर हांग बरगर, महाराज नैपाल के वकील पं० किशनचन्द, बीकानेर का वकील सरजू और तिब्बत के राजा का भाई भीमकाल भी महाराज के दर्शन और मुलाक़ात के लिये लाहौर आये थे। इससे सहज ही में महाराज रणजीतसिंह की हस्ती जानी जा सकती है। वे अपने समय के भारत के सब से बड़े राजा थे। यही कारण था कि देशी, विदेशी सभी शासक उनसे सम्बन्ध जोड़ना चाहते थे।

सन् १८३७ ई० में कुँवर नौनिहालसिंह की शादी शामसिंह अटारी वाले की लड़की के साथ बड़ी धूम-धाम से हुई। इसमें महाराज ने गवर्नर को शामिल होने के लिये निमंत्रण भेजा। पत्र में महाराज ने लिखवाया था कि यह कुँवर नौनिहालसिंह वही है जिसकी ओर सिन्ध जीतने की मेरी निगाह लगी हुई है। इससे ज़ाहिर होता है कि महाराज सिन्ध देश को अपने राज्य में मिलाने के इच्छुक थे और अङ्गरेज़ों को चेतावनी भी दे रहे थे कि वे सिन्ध का लालच छोड़ दें। सिन्ध देशान्तर्गत कान किले को महाराज के आदमियों ने इन्हीं दिनों अपने राज्य में मिला भी लिया था, इसलिये भी इस शादी में अङ्गरेज़ों का जंगी लाट 'सर हेनरी फिन' शामिल हुआ। महाराज ने जंगीलाट का भली प्रकार स्वागत-सत्कार कराया। ६ मार्च को महाराज से रामबाग में जंगीलाट की मुलाक़ात हुई। उस समय महाराज बसंती पोशाक में थे। पगड़ी उनकी काश्मीरी थी। मुलाक़ात में महाराज ने जंगीलाट से अनेक प्रकार के प्रश्न किये। साथ ही यह भी पूछा कि अङ्गरेज़ों के पास कुल कितनी फ़ौज है? प्रत्येक रजमट में कितने सैनिक और कितने अफ़सर होते है? तोपें किस भांति बनाई जाती हैं? तुम कितनी लड़ाइयों में शामिल हुए हो? आदि आदि। शादी के बाद जङ्गीलाट को बहुत से तोहफ़े देकर बिदा किया। इस शादी में पटियाला, नाभा, झींद आदि के अनेक राज्य शामिल हुए थे।

लाहौर में लौटने पर "सर हेनरी" (जंगीलाट) दरबार में महाराज से मुलाक़ात करने गया तो महाराज ने उससे पूछा—वृटिश सेना की कितनी शक्ति है?

क्या बृटिशों का रौब ईरान में बढ़ रहा है ? अंग्रेजों को ईरान से क्या खतरा है ? इन प्रश्नों के पूछने से जहाँ महाराज अपनी जानकारी बढ़ाते थे दूसरी ओर अपनी शक्ति का उनसे मुक़ाबिला भी करते थे। ता० १६ को सिक्ख फ़ौज का मुलाहिज़ा किया गया। उस समय सिक्ख फ़ौज में केवल अठारह हजार आदमी थे। दूसरे दिन अङ्गरेज़ी फ़ौज की कुछ कंपनी और रजमटों का मुलाहिज़ा हुआ। बृटिश फौज की क़वायद और चाल-ढाल को देखकर महाराज चकित रह गये। कहने लगे—मेरे फ्रेन्च अफसर मुझसे झूठ बोलते रहे। वे कहते थे कि अङ्गरेजी क़वायद कुछ नहीं केवल दिखावा मात्र है। लेकिन तुम्हारी फ़ौज की क़वायद शत्रु पर हमला करने के ढंग आदि कृत्य देखकर मैंने जान लिया कि अङ्गरेज़ी फ़ौजें थोड़ी होते हुए भी विजय प्राप्त कर सकती हैं। महाराज ने अङ्गरेज़ सैनिकों को ग्यारह हजार रुपया इनाम में बांटे। ता० १६ की शाम को महाराज ने अङ्गरेज़ स्त्रियों को भोज दिया। ता० २० को अङ्गरेज़ महिलायें महाराज की रानियों से मुलाक़ात करने गईं। ता० २२ को होली का त्यौहार आ जाने के कारण होली खेली। सर हेनरी पर भी रंग डाला। इन्हीं दिनों कंधार का राजदूत मुहम्मदखाँ लाहौर आया हुआ था। होली के रंग में रंग कर उसकी महाराज के सरदारों ने बड़ी मजाक उड़ाई। ता० २७ को सर हेनरी ने महाराज को तोहफ़े और भेट दीं। महाराज की ओर से भी उसे तोहफ़े दिये गए। उन्हीं दिनों पीरमुहम्मद बारह सौ पठानों को साथ लेकर महाराज से सलाम करने के लिए आया। उसने महाराज को दो घोड़े भेट किए। इन दिनों से दो वर्ष पहिले महाराज को लकवा मार गया। किन्तु उन दिनों भी रौब-दाब उनके पूर्व जैसे ही बने हुए थे। प्रति दिन दो हजार रुपया शाम को उनके सिरहाने रक्खा जाता था और प्रातःकाल गरीबों में बांट दिया जाता था। नित गाय, घोड़े, और कपड़े दान में दिये जाते थे। ज्वाला मुखी और कांगड़ा में बहुत सा रुपया दान पुन्य के लिए भेजा गया। मुलतान में गाने वाली जोटें बड़ी मशहूर थीं। महाराज को गाना सुनाने के लिए मुलतान से गाने वाले बुलाए गए। परमात्मा की महान कृपा से महाराज थोड़े ही दिनों में स्वस्थ हो गए। उनका अर्द्धाङ्ग जाता रहा। सन्न हुए शरीर में फिर से रक्त संचार होने लग गया। जर्मनी से आए हुए डाक्टर तथा हिन्दुस्तानी वैद्यों ने महाराज को स्वस्थ करने में खूब प्रयत्न किया।

नौनिहालसिंह की शादी

यों तो उन्होंने अपने सभी पुत्र-पौत्रों की शादी धूम-धाम से की थीं किन्तु उनका पहिले से ही इरादा था कि कुँ० नौनिहालसिंह की शादी अनुपम बना देंगे। निदान ऐसा ही किया। इन दिनों तक महाराज का वैभव और प्रताप तथा यश भी पहिले से बहुत ज्यादा फैल गया था। अब वे पंजाब के एकछत्र अधीश्वर थे। अनेकों राजे-महाराजे तो उनकी सरदारी में गिने जाते थे। सन् १८३७ ई० में शामसिंह अटारी वाले की सुपुत्री के साथ यह शादी सम्पन्न हुई। इस शादी में नाभा, झींद, पटियाला,

कपूरथला, फरीदकोट और कई पहाड़ी राजे शामिल हुए। भारतीय अँग्रेजी हुकूमत के कमाण्डर इन चीफ़ भी इस शादी में आए थे।

शादी के दिन दोपहर को तम्बूल की रसम अदा हुई। उस समय नाच में ८० नाचने वाली लड़कियाँ थीं जो चार-चार साथ मिल कर गाती थीं। महाराज और दूल्हा एक वृक्ष के नीचे बैठे थे। उस पेड़ में बनावटी संतरे लगाए गए थे। नज़रें पेश होने पर राजा ध्यानसिंह ने एक लाख पचीस हज़ार रुपया, "सर हेनरी फ़िन" ने ग्यारह हज़ार रुपया पेश किया। दो घण्टे में नज़रों में पचास लाख इकट्ठा हुआ। ७ मार्च को हरि-मन्दिर में सेहरा पहनाया गया। ५००) ग्रन्थ और १२५) अकाल बुंगे पर चढ़ाए गए। तीन बजे अटारी की तरफ़ बढ़े। महाराज दोनों तरफ़ रुपये फेंकते जाते थे। लगभग छः लाख आदमी इस शादी में इकट्ठे हुए थे। हाथी और घोड़ों का ठिकाना न था। साथ में बाजे बजते जाते थे। तोपें चलती जाती थीं। जब बरात पहुँची तो खेत में सरदार शामसिंह ने एक सौ एक मुहरें महाराज को, कुँ० खड्गसिंह को इक्यावन और प्रत्येक सरदार को ग्यारह-ग्यारह मुहरें नज़र कीं। रात को ६ बजे बाद नाच-रङ्ग और शराब के दौर दौरा हुए।

८ मार्च को पाँच मील के घेरे में एक बाड़ा बनाया गया। उसमें अस्सी दरवाजे थे। प्रत्येक दरवाजे के पास और घेरे के चारों ओर सिपाही खड़े हुए थे। इस काम का प्रबन्धक मिश्र बलीराम था जिसने बड़ी लगन और होशियारी के साथ इस बाड़े को सजाया था। मिलनी की रसम इसी बाड़े में हुई। मुख्य द्वार पर एक अफ़सर था जो प्रत्येक को एक रुपया देता था। कोई भी बराती इस बाड़े से खाली हाथ बिना रुपया पाये नहीं निकल सकता था।

दहेज में महाराज को शामसिंह ने एक सौ एक बढ़िया घोड़े, एक सौ एक भेंस, दस ऊँट, ग्यारह हाथी, सोने के जेवर, जवाहिरात और सोने चाँदी के बर्तन, मुलतान की रेशम, बनारस के कमख्वाब, कश्मीर के पाँच सौ शाल, आदि सामान इतना दिया कि एक एकड़ ज़मीन में जनाने लिबास का सामान सजाया गया था।

लाहौर में लौटने पर १२ मार्च को महाराज ने सारे आगत जनों और सैनिकों को एक बड़ी दावत दी। इन दिनों लाहौर की शोभा मुग़लशाही ठाठ को मात करती थी।

वस्तु-संग्रह और प्रासाद-निर्माण

महाराज इस बात की खोज में भी रहते थे कि बढ़िया से बढ़िया वस्तुओं का संग्रह उनके यहाँ हो। उनके रहने के भवन भी बढ़िया हों। पोशाक और अस्त्र भी बढ़िया हों। सब से प्रसिद्ध वस्तु जो उनके यहाँ थी वह कोहनूर हीरा था। यह अमूल्य वस्तु गोदावरी के किनारे राजा कर्ण को मिली थी जो भारतीय लूटों में क़ाबुल पहुँच गया था। महाराज ने इसे क़ाबुल के शाहशुजा से हासिल किया था जिसका विवरण पीछे दिया जा चुका है। कहते हैं इसका मूल्य इतना है कि सारी दुनियाँ

के एक समय के भोजन का काम इसके मूल्य में चल सकता है। आजकल यह हीरा लंदन के बादशाह के पास है। महाराज से जब कोई इस हीरे का मूल्य पूछता था तो वे कहते थे कि इसका मूल्य है 'पाँच जूती'। वास्तव में उन्होंने उसकी इससे अधिक क़ीमत क्या चुकाई थी।

दूसरी बढ़िया वस्तु उनके यहाँ एक घोड़ी थी जिसका नाम था-"लीली"। पहिले यह पेशावर के पठान सूबेदार यारमुहम्मद के पास थी। इस घोड़ी के लेने के लिये ईरान के बादशाह ने पचास हज़ार रुपया नक़द और पचास हज़ार की जागीर देने का कहा था। किन्तु यारमुहम्मद ने इस भारी क़ीमत पर उस घोड़ी को न बेचा। महाराज रणजीतसिंह जी को अच्छे घोड़े रखने का बड़ा भारी शौक़ था। इसलिये उन्होंने यारमुहम्मद के पास ख़बर भेजी कि वह लीली घोड़ी को लाहौर भेज दे। यारमुहम्मद ने पहिले तो टालना चाहा किन्तु आख़िरकार उसने घोड़ी देना मंजूर कर लिया। क्योंकि वह समझता था कि पेशावर की सूबेदारी महाराज की कृपा से ही मिल रही है। वे चाहें जब उसे सूबेदारी से अलग कर सकते हैं। कुँवर खड़गसिंह पेशावर जाकर यारमुहम्मद से उस घोड़ी को पंजाब ले आये।

औरंगजेब और अहमदशाह बादशाहों के हीरे भी महाराज के पास थे जो काफ़ी प्रसिद्ध और मूल्यवान समझे जाते थे। जमजमा नाम की पठानों की प्रसिद्ध तोप भी महाराज के यहाँ थी जिसे महाराज के पिता तथा अन्य सिक्ख सरदारों ने अहमदशाह पर आक्रमण करके छीना था। लोहे का लटकने वाला पुल लार्ड विलियम बिन्टिक ने ख़ास तौर से महाराज के लिये कलकत्ते में बनवाया था। भारत की बढ़िया से बढ़िया कारीगरी की वस्तु महाराज के यहाँ थी।

रहने के लिये उन्होंने अनेक महल बनवाए थे जिनमें वे बारी बारी से रहते थे। वे सब एक से एक बढ़िया थे। शालमार बाग़ की नहर के फ़ुआरों की प्रशंसा तो जर्मनी के यात्री ने भी की थी। अमृतसर और लाहौर में अपने निवास के लिए उन्होंने कई बढ़िया इमारतें बनवाई थीं।

अपने साथ ही अपने सरदारों की पोशाक भी वे अद्वितीय तयार करावे थे। उनका प्रत्येक सरदार पोशाक और रहन-सहन में किसी भी छोटे-मोटे राजा-नवाब से कम न जान पड़ता था। सर हेनरी फिन के स्वागत में राजा ध्यानसिंह का लड़का हीरासिंह इतने जवाहिरात पहने हुए था कि नज़र उसकी तरफ़ देखने से चौंधिया जाती थी[1]।

रूप, रङ्ग, सभाव

वैरन ह्यूगल ने महाराजा साहब का चित्र उतारा था। उसी के आधार पर आज कल इतिहासों में उनके चित्र दिये जाते हैं। किन्तु मूल चित्र बहुत ही सही और उत्तम था। महाराज का क़द नाटा और डील-डौल सुदृढ़ और मोटा था। बाँयी आँख चेचक में बचपन ही में जाती रही थी। दाहिनी आँख तेज और

१—तारीख़ पंजाब। पे० ४२२।

चमकीली थी। उनका रंग भूरा था। चेहरे पर शीतला के चिन्ह थे। नाक छोटी और सीधी और कुछ मोटी थी। दाढ़ी सफेद और कुछ काली मिली थी। शीश बड़ा और सुडौल था। गर्दन मोटी और दृढ़ थी जिससे सिर आसानी से इधर-उधर न हिल सकता था। बाँह और टाँग मजबूत, हाथ छोटे-छोटे और सुन्दर थे। यदि किसी का हाथ पकड़ते थे तो घण्टों इसी तरह खड़े बातें कर लिया करते थे और प्रायः उसकी अँगुलियाँ दबाया करते थे। कुर्सी पर पाल्थी मार कर बैठा करते थे। किन्तु जब घोड़े पर सवार होते थे तो मुँह पर एक आश्चर्यजनक तेज झलकने लगता था। उन्हें वृद्धावस्था में अर्द्धाङ्ग हो गया था तिस पर भी उद्दण्ड से उद्दण्ड घोड़े को भली भाँति वश में रखते थे। वे शरीर के सुदृढ़, फुर्तीले, वीर, साहसी और प्रसन्न वदन व्यक्ति थे। लड़ाई के दिनों में तो वे घोड़े की पीठ पर ही भोजन कर लेते थे। चौबीस घण्टे घोड़े की पीठ पर बैठे रहने से भी थकते न थे। लड़ाई में तलवार, बर्छी के अलावा वे तीर कमान भी साथ रखते थे। रौब-दाव उनका इतना था कि बड़े-बड़े उद्दण्ड पठान भी उनके सामने आकर सीधे हो जाते थे। हरीसिंह जैसे दुर्द्धर्ष वीर भी महाराज के तेज से छायादब हो जाते थे। वे शिकार के बड़े प्रेमी थे। घोड़ों पर भारी प्यार करते थे। उन्होंने अपने लिए एक खास घुड़साल रिजर्व रख छोड़ी थी जिसमें भारत, अरब और ईरान तक के घोड़े रहते थे।

इन्हें तलवार से लड़ने का बड़ा भारी शौक़ था। फेंक कर चलाये जाने वाले नेज़े चलाने में वे अद्वितीय थे। अधिकतर कपड़े वे जाफ़रानी रंग के और सादा पहनते थे। किन्तु विशेष अवसरों पर बसंती पोशाक पहनते थे और ऐसे समय पर आभूषण और हीरे जवाहरात भी ख़ूब पहनते थे। 'तारीख पंजाब' के लेखक भाई परमानंदजी ने उनके आभूषणों में बाजूबन्दों का भी जिक्र किया है। वास्तव में भुजबन्द का रूपान्तर बाजूबन्द है। भुजबन्द की प्रथा भारत में अति प्राचीन काल से चली आती थी। योद्धा लोग इसे कोहनी से ऊपर बाहुदण्ड में बाँधते थे। मालूम होता है महाराज रणजीतसिंह के समय तक यह प्रथा प्रचलित थी। अधिकतर महाराज सिर पर पगड़ी बाँधते थे। पगड़ी उनकी कश्मीरी ढँग की अथवा पेंचदार होतीं थी जिसे सरपेंच भी पुकारा जाता था। वे सब तरह भारतीय नरेश और भारतीय जन थे। उन्होंने अपने व्यवहार से ग़ैरों को अपना बना लिया था।

कोष और आय

महाराज ने अपने समय में लूट-मार, जब्ती और नज़रानों से ही करोड़ों रुपया संग्रह किया था। राज्य की उचित आय भी उनकी उस समय के भारत के सभी शासकों से अधिक थी। राज्य करने में वे पैदावार का छटा, आठवां और दसवां भाग लेते थे। भूमि-कर के अलावा उनके राज्य-कोष में अदालतों, नमक-कर और कश्मीर के शालों के ठेके से भी आय होती थी। उनके आगे नमक-कर ६ लाख सालाना था। पीछे

तो ४४ लाख सालाना की आमदनी नमक-कर से होने लग गई थी। शाल के ठेके में एक करोड़ तक की आमदनी हो जाती थी। उन्होंने अपने नाम का सिक्का भी चलाया था, जिस पर लिखा रहता था—'तलवार का आदर तथा गुरु नानक से गुरु गोविन्दसिंह तक अनुपम विजय'। लाहौर में टकसाल भी स्थापित कर दी थी। सिक्के की दूसरी ओर संवत खुदा रहता था। भूमि-कर से प्रत्येक वर्ष में उनके खजाने में १४८८१५००) रु० आता था और उन्होंने १०६२८०००) रु० सालाना आमदनी का इलाक़ा अपने सरदारों को जागीर में दे रक्खा था।

उन्होंने अनेक लोगों की जायदादें जब्त करके तथा उन्हें लूट कर जो धन संग्रह किया था कुछ लोग इसे महाराज के अनुचित कार्य में सँभालते हैं। इसके उत्तर में हम अपनी ओर से कुछ न लिख कर पंजाब के प्रसिद्ध हिन्दू भाई परमानन्दजी की लिखी (उर्दू) 'तारीख पंजाब' से कुछ उद्धरण देते हैं—"दुनिया में हर एक बड़े काम के चलाने के लिये चाहे वह धार्मिक हो या राजनैतिक, दो चीजों की आवश्यकता होती है, एक रुपये की दूसरे योग्य आदमियों की। यदि रुपया हो तो इसकी सहायता से योग्य आदमी संग्रह किये जा सकते हैं और योग्य आदमी हों तो वे रुपया पैदा करने का कोई न कोई उपाय निकाल लेते हैं। लेकिन यह बात है कि इन दो साधनों के बिना कोई काम पूरा नहीं हो सकता। महाराज रणजीतसिंहजी को प्रकृति ने इस सिद्धान्त को समझने की बुद्धि दी थी। रुपये के विषय में मूर्खों की राय में महाराज को इसका बहुत लालच था। लालच के मानी सिर्फ़ इतने ही हैं कि महाराज बाज़ हालतों में रुपया वसूल करने के लिए ऐसा वसीला इस्तैमाल करते थे कि जिसे लोग जाइज़ ख्याल न करते हों। लेकिन महाराज जानते थे बिना रुपये के वे अपनी सल्तनत की इमारत नहीं बना सकते। इसलिए जहाँ कहीं भी उन्हें तनिक भी मौका मिला, उन्होंने रुपया प्राप्त करने में आगा-पीछा नहीं किया। आदि से लेकर इति तक बहुत सी ऐसी मिसालें मिलती हैं, जिनमें महाराज ने रुपया वसूल करने में ज़बरदस्ती की; लेकिन यह ज़बरदस्ती तो उनके ज़माने में एक आम रिवाज था। यदि महाराज ऐसा न करते तो कभी भी दूसरी मिसलों को एक करके अपनी सल्तनत की नींव नहीं डाल सकते थे। मिसलों को अपने क़ाबू में करने के लिए उन्होंने कभी उचित साधनों की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया। यही हालत हम उन चन्द घटनाओं में देखते हैं, जिनमें महाराज ने खास शख्सों से रुपया वसूल किया। यदि सांसारिक दृष्टि से भी देखा जाय तो भी ऐसी पालिसी में इतनी बुराई दिखाई नहीं देती। जो लोग अपने लिए या अपनी औलाद के लिए ग़ैर मामूली मिक़दार रुपये की जमा करते हैं कौन नहीं जानता कि उनके ज़रिये ज़रूरी तौर पर संसारी नियम के विरुद्ध होते हैं। ग़ैर मामूली रुपया या जायदाद किसी न किसी भाँति की बिना बेईमानी के अथवा दूसरों का हक़ दबा लेने के बिना इकट्ठा नहीं किया जा सकता। यह मुमकिन है कि जो शख्स एक वक़

दौलत का मालिक है उसने बेईमानी न की हो। लेकिन दौलत जमा करने की तारीख़ पर ग़ौर करने से मालूम होगा कि उसके बाप या दादा ने या और किसी पिछले बुज़ुर्ग ने संसारी नियम को तोड़कर ही उसकी बुनियाद रक्खी होगी। इस-लिए अगर लोगों को अनुचित तरीके पर रुपया इकट्ठा करने का हक़ है तो सुसाइटी को भी अख़्तियार है कि जरूरत के समय उस रुपये को अपनी उन्नति के लिए उनसे छीन ले। महाराज रणजीतसिंह जी ने इसलिए इस रुपया की ज़ब्ती में कोई इख़लाकी बुराई नहीं की१।

सन् १८१२ ई० में एक बूढ़ा सरदार जयमलसिंह मर गया। महाराज ने उसकी ज़ायदाद ज़ब्त कर ली। उसका बहुत सा रुपया अमृतसर के महाजनों के पास जमा था। महाराज ने हुक्म दिया वे हिसाब करके कुल रुपया लाहौर के ख़ज़ाने में जमा करा दें। सन् १८२२ ई० में अमृतसर का मशहूर शराफ़ रामानंद मर गया। महाराज ने उसे नमक की कान का ठेका दे रक्खा था। उसने मरने पर तिरेसठ लाख रुपया छोड़ा। महाराज ने रुपया ज़ब्त करके उससे लाहौर की दीवार बनाने का हुक्म दे दिया। १८३३ ई० में उनकी सास रानी सदाकौर जो अमृतसर में नज़रबन्द थीं मर गईं। महाराज ने तोशखाने के अफ़सर बेलीराम को हुक्म दिया कि अमृतसर में जाकर उसकी कुल जायदाद को ज़ब्त कर ले। सन् १८३४ में अमृ-तसर का एक खत्री शिवदयाल मर गया। उसने बहुत सा रुपया इकट्ठा किया था। महाराज ने उसके बेटे को गिरफ़्तार करके उससे एक लाख रुपया वसूल किया। एक शख़्स गुलाम मुहीउद्दीन ने जोकि कश्मीर के सूबेदार का नायब रहा था बहुत जुल्म करके बहुत सा रुपया इकट्ठा कर लिया। महाराज ने उसे नौकरी से हटाकर उसकी सब ज़ायदाद ज़ब्त कर ली थी। महाराज को पता लगा कि उसने हुशियारपुर में एक पीर की क़ब्र के नीचे लाखों रुपये गाड़ रक्खे हैं। इस क़ब्र पर क़ुरान पढ़ने के लिए मुल्ला रक्खे हुए थे। मिश्र रूपलाल ने क़ब्र को खोदकर नौ लाख रुपया निकाला। जिस पर महाराज ने शेख़ से कहा "तुम्हारा पीर सचमुच बड़ा बली है। उसकी सारी की सारी हड्डियाँ सोने की हो गईं"। इसी साल सुजानपुर का एक कार्य-कर्ता रामसिंह मर गया। उसके बीस हजार रुपया जमा थे। महाराज ने उनको ज़ब्त करने का हुक्म दे दिया। इसी तरह सन् १८३५ ई० में आनन्दपुर के सोढ़ी अतरसिंह की जायदाद ज़ब्त कर ली। इसी साल सिन्धिया वाले सरदार बिसावा-सिंह के मरने पर उसके बेटे अतरसिंह से पचास हज़ार रुपया वसूल किया। लेकिन यह सारा धन महाराज जाटशाही अथवा अपने राज्य के मजबूत करने के लिए और मुसलमानों के अत्याचारों से देश को सुरक्षित रखने के लिए लेते थे।

उनके राज्य के किसान तथा अन्य प्रजा के लोग आनन्द से रहते थे। उद्योग-धंधों पर किसी भाँति का टैक्स न था। न उनके राज्य में इनकमटैक्स था। ज़मीन

१—तारीख़ पंजाब। पे० ४४२,४४३।

पर किसान का पूरा अधिकार था। किसान अपने गाँव के पूर्णतया सर्वेसर्वा होते थे। महाराज को केवल वे अपनी कृषि की पैदावार का अंश देते थे१। जंगल और चारागाहों पर राज्य कोई कर न लेता था। प्रत्येक गाँव में काफ़ी गोचर भूमि हुआ करती थी। किसान चाहे जितने पशु रख सकते थे। राज पशुओं पर कोई टैक्स न लेता था। पहाड़ और नदी सम्पत्ति समझे जाते थे। उनके समय में ज़मीन बेची न जाती थी। राज्य-कर लेने में कोई सख़्ती भी न होती थी। प्रजा के लोग अपने गाँवों में चाहे जहाँ मकान बना सकते थे। न हौस टैक्स था न मकान बनाने के लिए उन्हें ज़मीन ख़रीदनी पड़ती थी। गाँव का मुखिया कृषि पर टैक्स बाँध देता था जो या तो खड़ी फ़सल को कूत देता था या फ़सल के कट जाने पर अनाज में से राज-कर का हिस्सा बाँट दिया करता था। महाराज ने अपने राज्य में नहर निकालने का भी आयोजन सोचा था। महाराज रणजीतसिंह के प्रताप से पंजाब से अत्याचारी मुस्लिमशासन उठ गया था। पहाड़ी प्रदेशों में से अयोग्य राजपूत राजा राज्य से ख़ारिज कर दिए गए थे। इसलिये सारा पंजाब और पहाड़ी प्रदेश सुख की नींद सोता था। प्रजा धनवान और राजकोष भरापूरा था।

शासन-प्रबन्ध

यद्यपि महाराज का अधिकांश समय युद्ध में बीता किन्तु फिर भी उन्होंने शासन-प्रबन्ध उत्तम बनाने के लिए यथेष्ट प्रयत्न किया था। उन्होंने अपने बड़े राज्य को कई सूबों में विभक्त किया; काश्मीर, पेशावर आदि सूबे जिन में मुख्य थे। सूबेदार को शासन करने के अलावा युद्ध करने का भी अधिकार रहता था किन्तु यथा सम्भव उन्हें महाराज से किसी के साथ सन्धि-विग्रह करने के लिए इजाज़त लेनी पड़ती थी। इन सूबेदारों के नीचे कर उगाहने, नमक, शाल से आय प्राप्त करने के लिए एक नायब रहता था। प्रत्येक सूबे का एक या अधिक नाज़िम होते थे जो प्रजा के आपसी विद्रोह को दबाते थे। साथ ही उनके पारस्परिक झगड़ों का फैसला भी करते थे। अपने इलाक़ के कुल समाचार ये सूबेदार के पास भेजते थे। शहरों की देख-भाल के लिए कोतवाल रखे जाते थे किन्तु पुलिस का काम फ़ौज से लिया जाता था। क्योंकि उस समय प्रजा में अमन-अमान तथा उसकी जानमाल की रक्षा के माने यह समझे जाते थे कि उनकी (प्रजा जनों की) कोई लूट खसोट न हो। इसके लिए प्रत्येक सूबे और निज़ामत में फ़ौज रहती थी। इंसाफ़ करने के लिए न्यायालय भी स्थापित किए थे, किन्तु उनकी बहुतायत न थी। महाराज ने ग़रीबों की फ़रियाद सुनने के लिए एक सन्दूक रखवा दिया। उसमें ग़रीब लोग अपना दुखड़ा लिख कर डाल जाते थे। महाराज उस सन्दूक को अपने आगे खुलवा कर उनकी दुख गाथा के प्रार्थना-पत्रों को सुना करते थे२। फिर उन ग़रीबों को बुलवा कर उचित प्रबन्ध करते थे। उनकी यह हार्दिक इच्छा थी कि ग़रीब प्रजा दुख न पावे।

१—अंग्रेज़ी गज़ट। मई सन् १९३०। २—'पंजाब केसरी'। पे० २२४ (नन्दकुमार रचित)।

देश को दुश्मनों के आक्रमणों से बचाये रखने के लिए तथा राज्य विस्तार करने के लिए उन्होंने अच्छी सेना रख छोड़ी थी। इस सेना को शिक्षा देने के लिए फ्रांसीसी अफ़सर रख छोड़े थे। सेना की संख्या सन् १८३२ ई० में मि० मरे ने जो देखी थी वह इस प्रकार है:—सेना १२८११, नजीव आदि पलटनों के सिपाही ४६४१, दुर्ग की सेना में सवार ३०००, पैदल २३६५०। इसके अलावा जागीरदारों की सेना जो हर समय महाराज की सहायता के लिए तैयार रहती थी २७३१२, कुल सेना ८२०१४ थी। किन्तु आगे इससे भी अधिक बढ़ गई थी।

राज्य की नौकरी सभी जातियों और वर्ग के लोगों को दी जाती थीं। जाति-पाँति और मजहब का कोई ख़याल नहीं किया जाता था। जहाँ कहीं कोई योग्य आदमी उन्हें नज़र आता था, वे उसे अपने यहाँ ले लेते थे। उनके यहाँ ब्राह्मण, वैश्य, खत्री, राजपूत आदि के सिवा शेख़, सैयद, मुगल, पठान और यहाँ तक कि फ्रेंच, अँग्रेज़ सभी जातियों और धर्मों के लोग नौकर थे। विश्वासघात करने वालों को वे अपने यहाँ से निकालने में तनक भी आगा पीछा न करते थे। राज्य में उन्होंने अपने सरदारों को जागीरें दे रक्खी थीं। यद्यपि वे सिख-धर्म के मानने वाले जाट थे फिर भी वे राजकाज में किसी का पक्षपात न करते थे।

प्रजा के ऊपर अत्याचार करने वालों को महाराज बड़ा कड़ा दण्ड देते थे। कश्मीर पर ज़ुल्म करने वाले मुहीउद्दीन की कुल जायदाद उन्होंने ज़ब्त करली थी और खुशहालसिंह को जो कि महाराज में खास श्रद्धा रखता था दो महीने तक अपने सामने भी न आने दिया। वे सरदारों के प्राइवेट जीवन पर बहुत कम ध्यान देते थे। किन्तु तौ भी वे यह कदापि बर्दाश्त नहीं कर सकते थे कि सरदार या जागीरदार प्रजा के लोगों को सतावें या युद्ध के समय कायरता दिखावें। जो सैनिक या सरदार युद्ध में वीरता दिखाता था उसे भरपूर इनाम देते थे। वे चाहते थे कि उनका शासन-प्रबन्ध इतना श्रेष्ठ हो कि अड़ौस-पड़ौस के राज्यों की प्रजा भी यह चाहे कि उन्हें रणजीतसिंह की छत्र-छाया में रहने का सौभाग्य प्राप्त हो।

उनके यहाँ एक मंत्रि-मंडल भी था। सलाह के लिए जो सरदार तथा मंत्री बैठते थे उसे 'गुरुमता' कहते थे। होलकर को मदद देने की इन्कारी गुरुमते ने ही की थी। तत्कालीन अवस्था को देखने से प्रतीत होता है कि महाराज अपने समकालीन शासकों में श्रेष्ठ शासक थे।

उनके समय की विशेष घटनायें

उनके समय में सब से ज़बरदस्त घटना थी नेपोलियन बोनापार्ट के युद्धों की। इस साहसी वीर ने योरुप को एक दम से दहला दिया था। योरुप के सिवाय एशिया में भी उसकी चर्चा थी। भारत-स्थित अँग्रेज गवर्नर उसकी वजह से चिन्तित थे। वे समझते थे कि नैपोलियन ईरान व अफ़ग़ान के मार्ग से भारत पर आक्रमण करेगा; इसलिए वे महाराज रणजीतसिंहजी से सन्धि के बड़े इच्छुक थे। इसमें भी

ोई सन्देह नहीं कि जिस भाँति योरुप में नैपोलियन दहाड़ रहा था, उसी भाँति ारत में महाराज रणजीतसिंह गर्ज रहे थे। वे भी युद्धों में हारना तो जानते ही थे। काबुल, ईरान के शासक उनकी लगातार विजयों के समाचारों से चिन्तित ोने लग गये थे।

दूसरी घटना थी अँग्रेज और मल्हारराव होलकर के संघर्ष की। इस वीर ने भी अँग्रेजों का नाक में दम कर रक्खा था। यदि सेंधिया इसका साथ न छोड़ बैठता, अथवा पानीपत के मैदान के भाऊ इसकी बात को मान कर मरहठा शक्ति का ह्रास न होने देता, तो यह वीर शायद ही अँग्रेजों के भारत में पैर जमने देता। सन् १८०४ में यह पंजाब में पहुँचा। यद्यपि लार्ड लेक उसका बराबर पीछा कर रहा था, किन्तु कहते हैं कि यह कहता था—जहाँ तक मेरे घोड़े का पैर पड़ता है वहाँ तक हमारा राज्य है। उसने महाराज से कहलाया कि 'सिख, मराठाओं से मिल कर अँग्रेजों को देश से निकाल देना चाहते थे, किन्तु महाराज के गुरमते ने राय न दी और होलकर को यों ही टाल दिया। यदि महाराज होलकर की बात को मान लेते तो आज भारत का इतिहास दूसरी ही तरह का लिखा जाता, क्योंकि भरतपुर के महाराज भी इन्हीं का साथ देते। महाराज ने यह भूल की, अथवा नहीं, यह तो जानकार अन्दाजा लगा सकते हैं।

तीसरी घटना सन् १८२७ की है। महाराज भरतपुर ने जब कि लार्ड कैम्बिलमीयर भरतपुर पर नाबालिग़ की हिमायत के नाम पर चढ़ कर आया तो महाराज रणजीतसिंह के पास खबर भेजी कि जाट होने के नाते आप हमारी सहायता कीजिये। इस समय उचित है कि जाट सम्मिलित शक्ति से अँग्रेजों का मुक़ाबिला करें, किन्तु महाराज ने भरतपुर वालों को कोई जवाब नहीं दिया। इतने बड़े बहादुर और विजेता के लिए यह बात उचित कदापि न थी। सिख-साम्राज्य राज्य न रहा। यदि उस तरह से जाता तो बात और ही रहती; लेकिन महाराज उपयुक्त समय देखते थे। वह उपयुक्त समय न आया और कभी न आया।

इसके अलावा अन्य भी अनेक घटनायें हैं; किन्तु स्थानाभाव से उनका देना आवश्यक नहीं।

रनिवास

महाराज रणजीतसिंहजी के सोलह रानियाँ थीं। जिनमें ६ विवाहिता थीं और सात चादर डाल कर लाई गई थीं। नियोग या नाते का नाम चादर डालना है। भारत के सभी पुराने क्षत्रियों में इस तरह के विवाह उचित माने गए थे। अब भी भारत में जो पुराने क्षत्रियों के वंशज हैं अथवा पुरातन नियमों को मानते चले आते हैं उन में चादर डालने अथवा नाता करने की प्रथा है। महाराज रणजीतसिंहजी ऐसी पुरातन काल के क्षत्रियों की संस्था जाट-जाति की संतान होने के कारण जाति के नियमा-

नुसार सात व्याह चादर डाल कर कर लाये थे१। उन विवाहित अथवा नाता की हुई रानियों का परिचय इस प्रकार हैः—

(१) रानी महताब कुँवरि—यह कन्हैया मिसल के सरदार गुरुबख्शसिंह की सुपुत्री थीं। इन से महाराज ने १७९६ ई० में विवाह किया था। इनकी ही माँ का नाम सदाकुँवरि था जो कि शासन करने में बड़ी योग्य थीं। इनके दो पुत्र हुए थे—[१] शेरसिंह [२] तारासिंह। कुछ इतिहासकार कहते हैं यह पुत्र इनके पैदा नहीं हुए थे। जब कि ये अपनी माँ सदाकुँवरि के पास थीं तब इनकी माँ ने किसी के दो पुत्रों को इनके गर्भ से होना घोषित कर दिया था। महाराज ने भी उन्हें अपना पुत्र मान लिया था। आगे शेरसिंह को तो सदाकुँवरि ने अपना उत्तराधिकारी बना दिया था। सन् १८१३ ई० में महारानी महतावकुँवरि की मृत्यु हो गई।

(२) रानी राजकुँवरि—यह ककई मिसल के सरदार रामसिंहजी सिन्धू (जाट) की पुत्री थीं। इनसे महाराज ने सन् १७९८ ई० में विवाह किया था। चूँकि महराज की बहिन का नाम भी राजकुँवरि था। इसलिए इन्हें दातार कुँवरि व माई निकाई के नाम से लोग पुकारते थे। कुँवर खड़गसिंह का जन्म उन्हीं के गर्भ से हुआ था। सन् १८१८ ई० में यह स्वर्ग सिधार गईं।

(३) रानी रूपकुँवरि—ये अमृतसर जिले के एक प्रसिद्ध सरदार जयसिंह की लड़की थीं। सन् १८१५ ई० में महाराज ने इनसे विवाह किया था। दूसरे सिख युद्ध के वाद जव सरकार ने पंजाव को अपने राज्य में मिला लिया तो इन्हें १६८०) वार्षिक पेन्शन सरकार अँग्रेज़ जीवन पर्यन्त देती रही।

(४) रानी लक्ष्मी—ये गुजरानवाला जिले के जोगीखाँ गाँव के सिन्धू जाट देसासिंहजी की सुपुत्री थीं। पंजाब-हरण के बाद सरकार ने इन्हें ११२००) वार्षिक की पेन्शन दी थी।

(५-६) कांगड़ा के राजा संसारचन्द्र की महतो देवी और राजवंशी नाम की दो पुत्रियाँ थीं। इन्हें कांगड़ा विजय के वाद महाराज ने विवाहा था। ये दोनों ही १८३६ ई० में महाराज के साथ सती हो गईं।

(७) गुलवेगम—यह अमृतसर के एक प्रतिष्ठित मुसलमान की लड़की थीं। महाराज इनकी सुन्दरता पर मुग्ध हो गये। इसलिए इन से वड़ी धूमधाम के साथ विवाह कर लिया। सरकार ने पंजाव को जव्त करने के वाद इनकी १२३८०) वार्षिक पेन्शन कर दी। १८६३ ई० में यह मर गईं।

(८) रानी रामदेवी—गुजरानवाला के कर्मसिंह की पुत्री थीं। महाराज ने गुजरानवाला विजय के समय इनसे व्याह किया था।

१—वधू को जव उसके मायके से विदा करके लाते हैं तो उसे नवपति की ओर से एक सफ़ेद चादर उढ़ाते हैं। इसे चादर उढ़ाना कहते हैं। लेखक।

(६) शहाराज की नवीं रानी अमृतसर जिले के चीना (जाट) की सुपुत्री थीं। ये नौ रानी महाराज की विवाहिता थीं और नीचे लिखी सात रानियाँ चादर डाली हुई थीं—

(१) रानीदेवी—ये हुशियारपुर के जसवान गाँव के वसीर नाकुद्दा की पुत्री थीं।

(२), (३) गुजरात के सरदार साहबसिंह भंगी की दो विधवाओं दयाकौर और रतनकुँवरि से महाराज ने सन् १८११ ई० में नाता किया था। रानी रतनकौर ने मुल्तानसिंह को अपना पुत्र मान लिया था। पंजाब हरण करने के बाद सरकार ने इन्हें १०००) वार्षिक पेन्शन दी थी। दयाकुँवरि ने काश्मीरासिंह और पिशोरासिंह को अपना पुत्र मान लिया था। इनकी सन् १८४३ ई० में मृत्यु हो गई थी।

(४) रानी चाँदकुँवरि—यह अमृतसर जिले के चैनपुर गाँव के जाट सिंह की पुत्री थीं। १८२२ ई० में महाराज ने इनसे सम्बन्ध किया। सरकार ने इन्हें १६३०) वार्षिक पेन्शन दी थी।

(५) रानी महताबकुँवरि—ये गुरुदासपुर जिले के मल्ल गाँव के जाट चौधरी सुजानसिंह की लड़की थीं। इनसे भी महाराज ने सन् १८२२ ई० में सम्बन्ध किया था—१६३०) वार्षिक की सरकार ने इन्हें भी पेन्शन दी थी।

(६) रानी सामनकुँवरि—मालवा के जाट सूबासिंह की सुपुत्री थीं। सन् १८३२ ई० में महाराज ने इनके साथ सम्बन्ध किया था। १४४०) वार्षिक की पेन्शन सरकार से इन्हें पंजाब हरण के बाद मिलती रही थी।

(७) महारानी जिन्दा—महाराज की अन्तिम रानी जिन्दा थीं। ये सरदार मन्नासिंह की सुपुत्री थीं। महाराज दिलीप इन्हीं से पैदा हुए थे। पंजाब के हरण के बाद सरकार ने इनकी बड़ी भारी पेन्शन करके इन्हें काशी भेज दिया था। वहाँ से यह नैपाल को इसलिए भाग गईं कि वहाँ के राजा की मदद से अपने पंजाब को वापिस ले लें। इनका पूरा हाल आगे दिया जायगा।

इनके अलावा गुलाबकौर भी महाराज की रानी थीं जो अमृतसर के जगदेव गाँव के एक जमींदार की लड़की थीं। एक थीं मोरन। इससे महाराज ने प्रेम के वशीभूत होकर बड़ी धूम-धाम से विवाह किया था। लाहौरी और शाहबीन दरवाजे के बीच गोबर चीनी फटग की एक हवेली में इससे विवाह हुआ। फिर इसके साथ महाराज ने हरिद्वार यात्रा की। महाराज के साथ जब रानी महताबकुँवरि सती हुई थीं तो उनकी दासी हरिदेवी, राजदेवी और देवनो भी सती हो गई थीं।

इन रानियों में ७ सिक्ख जाटों की, ५ हिन्दू जाटों की, २ राजपूतों की, २ मुसलमानों की, १ हिन्दू जमींदार की और १ विदेशीय संतान थीं। भारत के हिन्दू

नरेशों में महाराज रणजीतसिंह और महाराज जवाहरसिंह (भरतपुर) ही ऐसे थे जिन्होंने मुसलमानों की ललनाओं के साथ भी विवाह किए थे। वरना ग्यारहवीं शताब्दी से इतिहास में यही होता रहा कि भारत के राजपूत नरेशों की ललनाओं को मुसलमान शासक अपनी अंकशायनी वनाते रहे। यह सिक्ख और खास तौर से जाट-जाति के लिए स्वाभिमान की बात है।

महाराज का दरवार और उनके सरदार

महाराज की सफलता का मुख्य कारण यह था कि उन्होंने अपने चारों ओर योग्य सरदारों और बुद्धिमान कार्यकर्त्ताओं का दल संग्रह कर लिया था। महाराज को योग्य आदमियों के निर्वाचित करने में बड़ा अनुभव था। ज्ञात ऐसा होता है कि उनके दिमाग़ में खास शक्ति थी जिससे वे किसी भी आदमी के अन्तर पट को समझ लेते थे। मनुष्य के दिल को जीतने की भी उनमें कोई आकर्षण शक्ति थी। जो भी कोई एक वार उनके निकट आ गया वह हृदय से उनका भक्त और हितैषी वन जाता था। नियंत्रण रखने में भी वे अपनी समता नहीं रखते थे। जिस भाँति पारा रेत में गिर कर सोने के वारीक कणों को अपनी ओर खींच लेता है उसी तरह दलित किये हुए और पतनावस्था को प्राप्त हुए पंचनद की उपजाऊ भूमि में से स्वर्णमयी योग्यता के आदमी महाराज की शक्ति से उनकी ओर खिच आये। लुहार लोहे को, सुनार सोने को परख सकता है जौहरी पत्थरों में से हीरे और मोती को परख सकता है; मानवी योग्यताओं का मनुष्य ही गन्दे ढेरों में से योग्य मनुष्य को ढूंढ सकता है। महाराज ने अपने लिए ऐसे आदमी चुन लिए। विचित्र वात यह है कि जिन महापुरुषों ने सिक्ख साम्राज्य स्थापित करने में महाराज रणजीतसिंह का साथ दिया, वे सव के सव ही सिक्ख नहीं थे। खालसा के आदमियों में सव से योग्य हरीसिंह नलुआ था। वह जाति का खत्री था। अन्य योग्य सरदारों में ग़ैर सिक्ख भी काफ़ी थे। अमृतसर पर आधिपत्य कर लेने के वाद महाराज ने ओहदे और उपाधियाँ देते हुए कई सिक्ख सरदारों को उसके लिए निर्वाचित किया था। उनमें सरदार दिलसिंह मजीठिया निहालसिंह अटारी वाला और वाजसिंह और हरीसिंह नलुआ थे। फूलासिंह अकाली सिक्खों में एक बड़ा वहादुर और अकालियों का लीडर था। लेकिन महाराज उस पर अधिक विश्वास इसलिए न करते थे कि उसकी ओर से यह उम्मेद न थी कि वह अपनी जिम्मेदारी के लिए स्वच्छन्दता को छोड़ दे। एक वार फूलसिंह ने निहालसिंह अटारी वाले को साथ लेकर मालवे में विद्रोह भी कर दिया था जिसे दीवान मोतीराम ने दवाया था। मोतीराम उन दोनों को गिरफ़्तार करके लाहौर ले आया। कुछ दिन के वाद महाराज ने उन्हें क्षमा कर दिया। फिर कभी भी उन्होंने उद्दण्डता न की। हरीसिंह नलुआ के पश्चात् सिखों में सरदार देसासिंह मजीठिया था। उसे निहालसिंह के साथ पाँच सौ सैनिकों के ऊपर अफसर नियुक्त किया था। उसने महाराज की बड़े प्रेम से सेवायें कीं। इसे महाराज ने कई युद्धों में भेजा था। सन् १८१६ में पहाड़ी राजाओं से कर

वसूल करने के लिए सरदार देसासिंह ही गया था। घलोर के पहाड़ी राजा ने जिसका सदर मुकाम विलासपुर अङ्गरेजों की ओर था खिराज देने से इन्कार कर दिया। सरदार देसासिंह ने उसके तीन बड़े गढ़ों—अचरोटा, अकालगढ़, यनोवीदे को घेर लिया। राजा सतलज पार भाग गया। सरदार देसासिंह ने विलासपुर का घेरा डाल लिया। इसी समय अंग्रेजों ने महाराज से लिखा पढ़ी की। इसलिये महाराज की आज्ञा से वह वापिस लाहौर आगया। अप्रेल सन् १८३२ में यह वूढ़ा शेर मर गया। उसके स्थान पर उसका वेटा सरदार लहजासिंह नियुक्त हुआ। सरदार लहजासिंह सन् १८४४ तक सतलज और रावी के बीच के इलाके का हाकिम रहा। साथ ही अमृतसर के दरबार साहब का निरीक्षण का काम भी लहनासिंह के सुपुर्द था।

महाराज रणजीतसिंह अन्धविश्वासी व हठ धर्मी न थे। साम्राज्य के स्थापन और रक्षण में धार्मिक जोश से काम नहीं लिया। वे राष्ट्रवादी थे। राष्ट्रवादी के नाते ही उन्होंने प्रजा के साथ सलूक किये। कुछ मुल्लापंथी सिख तो यह न चाहते थे कि महाराज इतने बड़े साम्राज्य के स्वतन्त्र शासक हों। वे चाहते थे कि रणजीतसिंहजी खालसा की ओर से शासन करें। पंजाब के हिन्दुओं ने भी महाराज के साम्राज्य स्थापन में पूरी सहायता दी थी। सिख जितने लड़ाकू योद्धा और सैनिक थे कुछ हिन्दू उतने ही योग्य संचालक महाराज को मिल गये थे। कुंजाह के दीवान खानदान ने भी महाराज के साम्राज्य स्थापन में कम परिश्रम नहीं किया।

दीवान मुहकमचन्द महाराज के पिता महासिंह के जमाने से उनके यहाँ मौजूद था। वह अपनी निष्कपट सेवा और अद्भुत रण चातुरी के कारण ही महासिंह का दीवान बन गया था, हालांकि आरम्भ में वह महासिंह के यहाँ थोड़े से उहदे पर रक्खा गया था। सन १८०८ ई० में जब मि० मेटकाफ़ महाराज के पास अङ्गरेज सरकार से सन्धि करने का प्रस्ताव लेकर आये थे तब इसने महाराज को सलाह दी थी कि सन्धि को आजकल करते-करते उस समय किया जावे जब तक जमुना के इलाके पर अपना कब्जा हो जाय। सन्धि की चर्चा के दौरान में ही महाराज ने साईसवाल, चांदपुर, झण्डा, दहारी और बहरामपुर आदि स्थानों को विजय कर लिया और ये स्थान मुहकमचन्द को जागीर देकर उसके नाम लिख दिए। सन् १८१० ई० में दीवान मुहकमचन्द ने भम्बर और राजौरी को जीत कर महाराज के राज्य में मिला लिया। इसी साल जालन्धर, फलोर पट्टी, हैतपुर पर कब्जा कर लिया। इस तरह से इसने तीन लाख का इलाक़ा महाराज के राज्य में मिला लिया।

महाराज ने इससे प्रसन्न होकर फलोर को भी इसे जागीर में दे दिया। साथ ही दीवान का खिताब दिया और एक हाथी मय सुनहरी हौदे के तथा तलवार इनाम में दी।

सन् १८११ ई० में राजौरी के हाकिम सुल्तानखाँ को गिरफ़्तार करके यह लाहौर ले आया। फिर वज़ीर फ़तहखाँ के साथ सेना लेकर काश्मीर पर चढ़ाई की। सन् १८१३ ई० में अटक पर कब्ज़ा करने के लिये हज़ूर के मुकाम पर पठानों को परास्त किया और अटक के सूबे को महाराज के राज्य में मिला लिया। सन् १८१४ में वह बीमार हो गया। इसी साल महाराज ने इसके बेटे रामदयाल को काश्मीर विजय के लिये भेजा। इसने सलाह दी थी कि काश्मीर पर चढ़ाई करने से पहिले राजौरी में अपना रसद का सामान भेज दिया जाय। महाराज ने इस राय को उस समय नहीं माना; किन्तु उन्हें पीछे पछताना पड़ा। बीमारी में सन् १८१५ में ही यह मर गया। महाराज को उसकी मृत्यु से बड़ा दुख हुआ। यह हृदय से महाराज का भक्त था।

दीवान रामदयाल के मरने पर महाराज ने उसके बेटे मोतीराम को अपना दीवान बनाया। जालन्धर के सूबे का प्रबन्ध करने के लिए उसे जालन्धर का सूबेदार बना दिया और उसके बेटे रामदयाल को फ़ौज का कमाण्डर बनाया। काश्मीर की विजय से दीवान रामदयाल की बहादुरी की प्रशंसा होने लग गई थी। महाराज ने दीवान मोतीराम को काश्मीर विजय होने के बाद महीदीन के प्रबन्ध के बाद जालन्धर से काश्मीर का सूबेदार बना कर भेजा। फलोर का इलाका भी मोतीराम के आधीन था। इसके बाद रामदयाल ने श्यामसिंह अटारी वाले के साथ हजारा पर चढ़ाई की। दीवान इलाहीबख्श जो महाराज की ओर से हजारा के साथ लड़ रहा था खतरे में ही था कि दीवान रामदयाल ने ठीक समय पर पहुँच कर उसकी रक्षा की। खुद मैदान में डट गया। दिन छिप जाने पर भी सब से आख़िर तक लड़ता रहा। पठानों को जब इसका पता लगा तो वे गोल बाँध कर दीवान रामदयाल पर टूट पड़े। अकेला मैदान में घिर जाने पर भी यह नौजवान बड़ी बहादुरी के साथ लड़ता रहा और पठानों के दाँत खट्टे कर दिये, किन्तु आख़िरकार मैदान में काम आगया। इसकी मृत्यु के रंज से दीवान मोतीराम ने काश्मीर की दीवानी छोड़कर बनारस में चले जाने का इरादा कर लिया। महाराज दीवान रामदयाल की मृत्यु से बड़े दुखी हुए। किन्तु कश्मीर का प्रबन्ध मोतीराम के बिना सुचारु रूप से नहीं चला। इसलिए महाराज ने धैर्य बंधा कर फिर वापिस बुला लिया और कश्मीर भेज दिया। मोतीराम का दूसरा बेटा कृपाराम था। महाराज ने उसे रामदयाल की जगह मुकर्रिर किया। उसे दीवानचन्द मिश्र और हरीसिंह नलुआ के साथ पेशावर युद्ध के लिये भेजा। नौशेरा के प्रसिद्ध युद्ध के बाद दीवान कृपाराम को जालंधर का सूबेदार बना दिया गया। बीच में एक बार महाराज इस ख़ानदान से नाराज़ हो गए। डेढ़ साल की नाराज़गी के बाद महाराज ने नज़र बन्दी से रिहा करके दीवान कृपाराम को कश्मीर का सूबेदार बनाया। इसने अपने समय में कश्मीर में बड़ी सहृदयता से शासन का काम चलाया।

ध्यानसिंह

यह डोंगरा राजपूत था। इसके दो और भाई थे—गुलाबसिंह और सुचितसिंह उनके नाम थे। यह सब पहिले अर्दली के बतौर महाराज के यहाँ भर्ती हुए। यह शनैः शनैः उन्नति करते रहे। ध्यानसिंह कुछ दिन के बाद ड्योढ़ीवान बना लिया गया। गुलाबसिंह ने जम्बू-काश्मीर के विद्रोह को दबाया इसलिए महाराज ने उसे जम्बू में जागीर प्रदान की। सुचितसिंह दरबारी ही बना रहा। तीनों भाइयों को क्रमशः राजा का खिताब महाराज की ओर से दिया गया। राजा ध्यानसिंह का बेटा हीरासिंह अभी बच्चा ही था कि महाराज उससे अपने बेटे की तरह प्रेम करने लगे। उसकी अवस्था जब कि बारह वर्ष की थी राजा ध्यानसिंह ने महाराज से प्रार्थना की कि इसकी शादी राजा संसारचंद की लड़की के साथ करादी जाय। महाराज ने संसारचंद के लड़के अनिरुद्ध को तो इस बात के लिये तैयार कर लिया लेकिन लड़कियों की माँ, सतलज पार भाग कर चली गई। कुछ दिन के बाद अनिरुद्धचंद और उसकी माँ दोनों मर गये। दीवान खान्दान की अवनति के साथ ही साथ यह डोगला खान्दान उन्नति करता गया और महाराज का अधिक से अधिक प्रेम-पात्र बन गया। राजा ध्यानसिंह महाराज में इतनी भक्ति रखता था कि महाराज के मरने पर उनकी चिता में कूदने के लिये तैयार हो गया। लेकिन लोगों ने उसे जबर्दस्ती करके रोक लिया।

मिश्र दीवानचन्द

महाराज के यहाँ युद्ध सम्बन्धी सब से अधिक सेवायें दीवानचन्द ने ही की थीं। यह गुजरानवाला के ज़िले का दरिद्र ब्राह्मण था। यह वैसे तो अशिक्षित था, लेकिन था बड़ा लम्बा-चौड़ा और तगड़ा आदमी। तीर चलाने में यह अपनी योग्यता सब से बढ़ कर रखता था। इसका निशाना कभी खाली ही नहीं जाता था। यह आरम्भ में तोपखाने में आकर भर्ती हुआ था। महाराज ने इसकी योग्यता को देख कर इसे तोपखाने का सब से बड़ा अफ़सर बना दिया। यह सन् १८१७ ई० में दीवान मोतीराम, सर० हरीसिंह नलुआ के साथ तोपखाना लेकर मुलतान गया। इस वर्ष इन सब को असफल होकर वापिस लौटना पड़ा। सन् १८१८ में महाराज ने इसे ज़फ़रजंग की पदवी दी और पचीस हज़ार फ़ौज देकर इसे मुल्तान पर विजय हेतु भेजा। यहाँ बड़ी डट कर लड़ाई हुई। इसमें सन्देह नहीं कि मुलतान की विजय मिश्र दीवानचन्द के कारण हुई। पूंछ के राजा को भी सन् १८१६ में इसने परास्त किया था। १८२० ई० में इसने कश्मीर आक्रमण के बाद बटाला पर चढ़ाई की। नौशेरा की प्रसिद्ध लड़ाई में इसने बड़ी बहादुरी दिखाई। यदि नौशेरा के युद्ध में यह न होता तो कदापि नौशेरा की विजय न होती। सन् १८२४ ई० में इसके अर्धांग की बीमारी हुई और इसी में मर गया। उसकी अरथी के नीचे सारा दरबार लगा था। महाराज की आज्ञा से उसका संस्कार चन्दन की लकड़ी से किया गया। कफ़न के लिये महाराज ने अपना निजी शाल उस पर डाल दिया। इसे हुक्का पीने की टेव थी। महाराज ने इसे प्रेम के वश होकर तथा

उसकी बहादुरी के कारण दरबार में भी हुक्का पीने की इजाजत देदी थी। उ
महाराज ने एक सुनहरी हुक्का भी दिया था।

सरदार हरीसिंह नलुआ

यह गुजरानवाला में पैदा हुआ था। लड़कपन में महाराज के साथ खेल करता था। महाराज को उससे बड़ी मुहब्बत थी। १८०५ ई० मामूली ख़िदमत से तरक्की देकर इसे महाराज ने ८०० प्यादों व सवार बनाया। अपनी समस्त आयु उसने महाराज के लि लड़ाई में बिताई। सरदार हरीसिंह नितान्त सैनिक व्यक्ति था उसे एक बार काश्मीर का सूबेदार बना कर भेजा गया। प्रबन्ध के तौर पर व असफल रहा। उसने यूसुफ़जई के पठानों को विजय किया। दुरबन्द और जहाँगी के पास उनके साथ लड़ाइयाँ कीं। अटक के मैदान में पठानों के दाँत खट्टे किए उसका समय अधिकांश में पठानों के साथ लड़ाइयों में बीता। अफ़रीदी उस हराये। हजारा के कबीलों को उसने कुचला। कुँ० नौनिहालसिंह के साथ पेशाव पर चढ़ाई करके उसे जीता। पठानों को पेशावर से खदेड़ दिया। जमसद के क़ि पर कब्जा किया। ख़ैबर की घाटी को पार करके अफ़गानों को इतना भयभी किया कि उसके नाम से पठान काँपने लगे। लेकिन इसी लड़ाई सन् १८३७ ई० उसके गहरा जख़्म आया जिससे उसकी मृत्यु हो गई। उसकी मृत्यु भी उसक बहादुरी की वजह से हुई। उसका साहस अनुपम था। वह पठानों का तो जा दुश्मन था। वह पठानों को बुजदिल और नीच समझता था। पठान उसके नाम काँपते थे। पेशावर, काबुल इत्यादि में अब भी उसका नाम बच्चों को डराने के लि प्रयोग किया जाता है। जिस तरह भारत में मातायें बच्चों को रोने से चुप करने लिए हौआ का डर दिखाती हैं उसी तरह काबुल, पेशावर की पठान स्त्रियाँ बच्चों व रोने से बन्द करने के लिए कहती हैं—"खुफ़ता बाशिद हरी आयद" या 'बच्चे चुप हो जाओ हरी आता है।' एक हिन्दी कवि ने हरीसिंह के लिए कहा है—

"मारि-मारि यवनों का बनाय दिया हलुआ।"

सरदार हरीसिंह के अन्दर आकर गुरु गोविन्दसिंह की भविष्यवा पूरी होती है। वे कहा करते थे—'चिड़ियों से मैं बाज़ मराऊँ। तब ही नाम मैं गोबिन सिंह पाऊँ'॥ गुरु गोविन्दसिंह के समय में मुसलमान अपने को बाज़ औ हिन्दुओं को चिड़िया समझते थे। वास्तव में हिन्दू बहुत बुजदिले हो गये थे। मरने और मारने दोनों से डरते थे। गुरु गोविन्दसिंह ने उनके दिल से मौत व डर दूर करके उन्हें निर्भयता पूर्वक मरना सिखाया और फिर बीरबन्दा तथ महाराज रणजीतसिंह ने उन्हें मारना सिखाया।

फ़कीर-बन्धु

महाराज के यहाँ बड़े-बड़े सरदारों में दो फ़कीर भाई भी थे—एक का ना नूरुद्दीन और दूसरे का नाम अजीजुद्दीन था। ये दोनों बड़े बफ़ादा आदमी थे। लाहौर पर अधिकार जमाते ही महाराज ने इनव अपने यहाँ ले लिया और मरते दम तक ये महाराज के यहाँ रहे

इनमें फ़कीर नूरुद्दीन बड़ा अच्छा हकीम था। यह बराबर महाराज का इ
करता रहता था। सन् १८०५ में उसे गुजरात का हाकिम बनाया गया। फ़
अजीज़ुद्दीन राज्य प्रबन्ध के प्रत्येक मामले में महाराज का सलाहकार था। महा
उसकी राय की क़दर करते थे। यह कई बार महाराज की ओर से संदेशवाहक
रूप में लाट साहब के पास भी गया था। दोनों भाइयों ने लड़ाइयों में भारी हि
लिया था। जहाँ कहीं आवश्यकता पड़ती थी फ़कीर अजीज़ुद्दीन फ़ौज ले
पहुँचता था। महाराज की फ़ौज के अफ़सर के नाते वे दोनों भाई अपना कर
उसी भाँति पालन करते थे जैसे कि अन्य सिक्ख सरदार। दोनों भाई सच्चे ह्
से सच्चे अर्थों में महाराज के हितेच्छु थे। फ़कीर अजीज़ुद्दीन को सन् १८१३
अटक के क़िले को विजय करने के लिये महाराज ने भेजा था। पेशावर के युद्ध
जिसमें कि महाराज का क़ाबुल के अमीर दोस्तमुहम्मद से मुक़ाबिला था
महाराज के साथ था। इसने मजहबी पक्षपात को लात मार कर महाराज की त
से मुसलमानों से ख़ूब शत्रुता की। महाराज भी इसे हद से ज्यादा प्यार करते
यह बात मुसलमानों पर भी प्रकट थी कि महाराज फ़कीर बन्धुओं पर सिखों
भी बढ़कर प्यार करते हैं।

भवानीदास—यह शाहशुजा का माल अफ़सर था। महाराज ने भी
अपने यहाँ माल का अफ़सर बना दिया। इसके समय में बाक़ायदा महकमा
बन गया। यह सन् १८०८ में लाहौर आया था। इसी साल महाराज ने कर्म
को मुहर का अफ़सर बनाया। भवानीदास कई स्थानों पर युद्धों में भी शा
हुआ। सन् १८१६ ई० में उसने जम्बू पर चढ़ाई करके उसे विजय किया।

गंगाराम—यह दिल्ली का रहने वाला था। राजनीति समझने में पूरा वि
था। पहिले सेंधिया महादाजी के पास रह चुका था। महाराज ने इसकी ख
लगते ही इसे लाहौर बुला लिया और सरकारी मुहर उसके सुपुर्द कर दी।
गंगाराम ने महकमा आबकारी का इन्तजाम बहुत अच्छी तरह से किया। इ
मर जाने पर इसकी जगह पं० दीनानाथ को मिली। सन् १८२४ ई० में भवानी
के मर जाने पर महकमा माल भी पं० दीनानाथ के ही हाथ में सौंपा गया।

यूरोपियन अफ़सर

सन् १८२२ ई० में दो यूरोपियन सय्याह एक इटैलियन मि० वेन्तूरा, दू
फ्रान्सीसी ऐलार्ड ईरान होते हुए लाहौर दरबार में आये।
मुसलमानी लिबास में थे और उन्होंने अपनी सब बातें फ़ा
जबान में बताईं। महाराज ने उन्हें हुक्म दिया कि वे अपनी
अपनी भाषा में लिख कर पेश करें। उनके काग़ज़ों को महाराज ने लुधियान
अँग्रेजी रेज़ीडेण्ट के पास तर्जुमा करने को भेज दिया। तर्जुमा की बातें उन
कही हुई बातों से यथावत मिल जाने पर महाराज ने उनको अपनी फ़ौज में क़वा
सिखाने के लिए नौकर रख लिया। थोड़े दिनों में उन्होंने फ़ौज को यूरोपियन
पर ऐसा तैयार कर दिया कि महाराज उनसे ख़ुश हो गए और उनके लिए मक़

अनारकली के पास रहने के लिए जगह दे दी। चार साल के बाद दो और फ्रान्सीसी 'कोट' और 'ओवीन्तवेला' जिन्होंने नैपोलियन के अधीनस्थ सेवायें की थीं, लाहौर आये। महाराज ने उन्हें भी फ़ौज में स्थान दिया। वे धीरे-धीरे उन्नति करते हुए फ़ौजों के जनरल बन गये। महाराज के सिपाही नया लिवास पहनने और नये ढंग पर चलने से झिझकते थे। महाराज ने खुद वर्दी पहनी और क़वायद की, जिससे उनके सिपाही भी करने लग गये। अफ़सरों की सहायता व योग्यता से महाराज के पास पचास हज़ार वाक़ायदा फ़ौज और एक लाख दूसरे ढंग के सिपाही तैयार हो गये। लाहौर और अमृतसर में तोपें ढालने और बारूद बनाने का कारखाना खोला गया। महाराज ने इन यूरोपियनों को नौकर रखते समय प्रतिज्ञा कराई थी कि वे गाय का गोश्त न खायेंगे, दाढ़ी न कटायेंगे और तम्बाकू न पियेंगे। पहिली दोनों बातें वे पूर्णतया मानते रहे[1]। तीसरी बात महाराज ने माफ़ कर दी। वेन्तूरा और ऐलार्ड महाराज के रिसाले के इञ्चार्ज थे और ओवीन्तवेला प्यादा फ़ौज का तथा कोट तोपखाने का इंचार्ज था। इनकी तनख्वाह दो और तीन हज़ार के बीच थी।

योग्यता-आचरण

महाराज पढ़े-लिखे न थे किन्तु प्रतिभा सम्पन्न थे। उनका दिमाग़ उपजाऊ और बलवान था। वे बहुत दूर की बात सोचते थे। लिखने-पढ़ने वाले मन्त्रिलोग उनके पास हर समय रहते थे। यहाँ तक कि रात के समय भी एक आदमी लिखने लिए उनके पास रहता था। सारा राज-काज पार्सी, हिन्दी और पंजाबी में होता था। वे हरेक कागजात को सुनकर उस पर अपनी सही करते थे। अपनी आज्ञाएँ स्वयं लिखाते थे। लिखाने के बाद उसे पढ़वाकर सुनते थे ताकि सही लिखने का पता उन्हें लग जावे। कभी-कभी तो रात के समय भी दिमाग़ में आई हुई बात को मंत्री के लिए नोट करा देते थे। वे कुर्सी पर पालथी मार कर बैठते थे। जब बातें करते थे तो एक हाथ उनका दाढ़ी पर रहता था और एक घुटने पर। राज-सम्बन्धी प्रत्येक मामले में उन्हें जानकारी थी।

उन्हें हँसी-मजाक करने का बड़ा शौक था। एक दफ़े एक सुन्दर लड़की ने उन्हें काना कह दिया। इस पर वे हँस पड़े और उसे इनाम दे दिया। एक समय एक जाट ने उन्हें बिना पहँचाने गाली दी। महाराज उससे बड़े खुश हुये, कहने लगे—अच्छा रिश्तेदार मिला है। उसे अनोखी-अनोखी गाली देने के एवज में इनाम दिया। हँसोड़ लोगों की उनके दरबार में क़दर थी। उन्होंने एक ऐसे ब्राह्मण को नौकर रख छोड़ा था जो अवकाश में महाराज से मजाक करके उन्हें प्रसन्न किया

१—शाहशुजा से भी महाराज ने यही कहा था कि मैं तुम्हें काबुल का बादशाह बनने में इस शर्त पर सहायता कर सकता हूँ कि—(१) समस्त अफ़गानिस्तान में गोवध बन्द करा दिया जावे। (२) सोमनाथ के मन्दिर के किवाड़ गजनी से वापिस लाकर यहाँ लगा दिये। भारत का इतिहास (इति० प्रेमी०) पे० १७४-१८२।

करता था। महाराज उसे शनीचर कहते थे। धार्मिक तौर पर ग्रन्थ साहब को नित सुना करते थे। किन्तु उनके यहाँ धार्मिक पक्षपात तनक भी न था।

अधिक स्त्रियाँ करके उन्होंने बेशक अच्छा नहीं किया किन्तु उन्होंने अपने पंथ और जाति के नियमों के विरुद्ध कुछ नहीं किया। उनकी जाति (जाटों) में अनेक स्त्रियाँ रखने का रिवाज था। साथ ही विशेष अवसरों पर पाण्डवों की भांति कई भाई एक ही स्त्री भी रखते थे। किन्तु यह उनकी प्रशंसनीय बात न थी कि अधेड़ उम्र में भी शादी करते रहे। उस समय की अंधश्रद्धा के अनुसार महाराज भी फलित ज्योतिष पर पूरा विश्वास रखते थे। इस तरह ज्योतिषी उन्हें खूब चकमा देते थे। मोरन से शादी करने के बाद महाराज ने एक दिन स्वप्न देखा। उसमें उन्होंने देखा था कि एक आदमी सिक्ख का लिबास पहने हुए उन्हें धमकी दे रहा है। महाराज ने ज्योतिषियों को बुलाकर स्वप्न का हाल कहा। ज्योतिषियों ने बताया कि यह कोई निहंग है जो मुसलमान औरत से शादी करने के कारण नाराज हो गया है। महाराज को चाहिए कि अपनी जैसी सोने की एक मूर्ति बनवा कर मथुरा के किसी ब्राह्मण को दान कर दें। इस तरह से उनका नूतन जन्म समझा जायगा। महाराज ने ऐसा ही किया। और भी दान पुण्य किया। राजनैतिक क़ैदियों को छोड़ा। इन्हीं राजनैतिक क़ैदियों में जम्बू का राजा भूपसिंह भी था जो १५ वर्ष से क़ैद था। नूरपुर का राजा वीरसिंह और भम्बर का मालिक तालिबखाँ भी थे।

महाराज जवानी में बड़े खिलाड़ी और सैनिक-परेड कर्त्तव्यों के शौक़ीन थे। होली के दिनों में सरदारों के साथ खूब खेलते थे। उनके यहाँ दशहरा भी बड़े जोर से मनाया जाता था। दशहरे के पश्चात् ही वे विजय के लिए चल पड़ते थे।

उनका अधिकांश समय नया देश विजय करने में बीता। मुल्की प्रबन्ध करने के लिए बहुत कम अवसर उन्हें मिला। एक तो उनके राज में शिक्षा का प्रबन्ध अच्छा न हुआ और न स्वास्थ्य के लिये कोई योजना तयार की गई। सब से बड़ी बात महाराज के करने के लिये यह रह गई कि वे अपने दफ़्तरों की भाषा हिन्दी न कर गए। ऐसा कर जाते तो पंजाब में आज उर्दू का राज न होता। क्योंकि अंग्रेज सरकार ने दफ़्तरों की वही भाषा रक्खी है जो पहिले थी।

लेकिन फिर भी उस समय की अवस्था में महाराज नमूने के योद्धा, विजेता और शासक थे। यह उन्हीं का बल था कि लगभग आठ सौ वर्ष से चली आई पंजाब में की मुसलमानी सल्तनत की उन्होंने जड़ उखाड़ कर फेंक दी और जिन पठानों का भारत पर विजय करने के कारण सिर आसमान पर चढ़ गया था उन पठानों से भेट, खिराज और नजराने लिये। तथा उन्हीं की आबादी, डेरागाजीखां, जमरूद, खैबर, यूसुफ़जई में उन्हें परास्त करके अपनी सल्तनत स्थापित की। राजपूताने और यू० पी० में सल्तनत स्थापित करना कोई कठिन काम न था। न बंगाल और उड़ीसा में कोई कठिनाई थी। कठिनाई थी तो पश्चिमोत्तर

देश में हिन्दू हुकूमत स्थापित करने में थी। महाराज की अद्भुत योग्यता, आश्चर्य-जनक शक्ति का ही यह परिणाम था कि उन्होंने अपने-पराये देशी-विदेशी सब के ईर्षा-द्वेश करते रहने पर भी और उनसे टक्कर लेकर इतना बड़ा जाट-राज्य खड़ा कर दिया।

महाराज का स्वर्गवास

महाराज को इतनी बड़ी सल्तनत कायम करने में उचित से अधिक परिश्रम करना पड़ा। इस परिश्रम से उनका शरीर पिस गया था। महाराज को इतने राजाओं, नवाबों और खानों को परास्त करना पड़ा था जितने शायद ही किसी एक शासक ने किये हों। उन्हें अपने राज्य की खराबियों और कमजोरियों को दूर करना पड़ा। उन्हें सेना जुटानी पड़ी। उन्हें लड़ना पड़ा, उन्हें अपनी थोड़ी सी जिन्दगी में इतनी चिन्ताओं का सामना करना पड़ा, हम उनका ख्याल रखते हुए उन्हें ग़ैर मामूली ताक़त का आदमी समझे बग़ैर नहीं रह सकते।

जब वे बीमार हुए तो उपचार के लिए सब प्रकार के इलाजों का प्रयोग किया गया। लाहौर और अमृतसर के सभी वैद्य, हकीम, जोगी, ज्योतिषी बुलाये गये। मोतियों की माजून तयार की गई। किन्तु सभी परिश्रम— सभी प्रयोग निष्फल सिद्ध हुए। दो सप्ताह तो वे अत्यधिक बीमार रहे। सन् १८३९ ई० की २० वीं जून को भारत के इन महाप्राण ने इस संसार से विदा ली। जिन महावीर का प्यारा नाम स्मरण करते ही पंजाब वासियों की आज भी कमज़ोर नसें फड़क उठती हैं, संसार विजयी अँग्रेजों को जिन्हें 'पंजाब केसरी' की गौरव मय उपाधि देकर उनके नाम की पूजा करनी पड़ी थी, उन पंजाब राज्य के प्रतिष्ठाता वर्तमान युग के एक मात्र सुप्रसिद्ध राजनीतिज्ञ, वीर चूरामणि महाराज रणजातसिंहजी का देहान्त हो गया। दस लाख रुपए के चबूतरे पर महाराज को सुलाया गया। उसी चबूतरे के ऊपर शालों पर लेटे हुए महाराज ने प्राण छोड़े। प्राण छोड़ने से पूर्व हजारों का दान पुण्य किया गया। महाराज की मृत्यु के समाचार ने पंजाब को स्तम्भित कर दिया। वृद्ध, युवा, बालक, स्त्री-पुरुष सभी ने उनके शोक में आँसू बहाये। जिसने सुना उसीने एक लम्बी आह ली। पंजाब वासियों के लिए स्वतंत्रता और प्रसन्नता का वह अन्तिम दिन था। वे प्रसन्नता के दिन अब पंजाब वासियों को कब प्राप्त होंगे! महाराज के शरीर को इत्रों से स्नान कराया गया। रेशमी वस्त्रों और रत्न जटित आभूषणों से सजाया गया। चार रानियाँ और सात दासियाँ जो कि उनके साथ सती होना चाहती थीं उनके सिरहाने खड़ी हो गईं। भगवद्-गीता उनकी छाती पर रक्खी गई। राजा ध्यानसिंह ने उस पर हाथ रख कर खड्गसिंह से वफ़ादारी की शपथ ली। नाव के आकार का एक स्वर्ण-खचित विमान बनवाया गया। रेशमी वस्त्रों से विमान को सजाया गया। इसी विमान पर महाराज को रख कर किले से बाहर निकाला गया। लाखों आदमियों की भीड़ विमान के साथ थी। रानियाँ सफ़ेद वस्त्र पहने हुए नंगे पैरों महलों

से बाहर निकलीं। रानियों ने अपने सब वस्त्र और गहने गरीबों में बाँट दिये। हजारों रुपये विमान के ऊपर फेंके गये। प्रत्येक रानी से दो तीन क़दम आगे एक-एक मर्द अपने हाथ में दर्पन लिए हुये था। दर्पन उनके हाथों में इस तरह से था कि रानियाँ उसमें अपना मुँह देखती रहें, शायद सती होने के रंज से उनके चेहरे भयभीत तो नहीं हुये हैं। इन रानियों में राजा संसारचन्द की बेटी भी थी। रानियों के पीछे दासियाँ थीं। "डाक्टर हांगवरगर" कहते हैं कि—"हमारे दिल सब से ज्यादा उन बेचारियों के लिए धड़कते थे जिन्होंने अपने भाग्य का फैसला खुद कर लिया था।" नक्कारों की आवाज रंज और ग़म की थी। गायक शोक पूर्ण गीत गाते जा रहे थे। उनके साजों की आवाज भी दिल में दर्द पैदा करती थी। लाखों आदमी उनके शव के जुलूस में हिलकियाँ भरते हुए जा रहे थे।

छः फीट लम्बी उनकी चिता बनाई गई। उनके शरीर के वस्त्र और आभूषण उतार कर गरीबों में बाँट दिये गये। गुरुओं और ब्राह्मणों ने पाठ किया। आध घण्टे के बाद सरदारों और वजीरों ने उनके शव को चिता पर रख दिया। चारों रानियाँ चिता पर महाराज के शिर को अपनी गोद में लेकर बैठीं। दासियाँ पैरों की ओर बैठ गईं। इन सबको बाँस की चटाइयों से ढांप दिया गया जिनमें बहुत सा तेल डाला गया था। राजा ध्यानसिंह भी महाराज की चिता में कूदा पड़ता था किन्तु उसे लोगों ने पकड़ लिया। चिता पर तेल, इतर और घी डाले गये। खड्गसिंह ने अग्नि संस्कार किया। एक क्षण में आग की लौ में महाराज और रानियाँ भस्म होगईं।

तीसरे दिन राख संभाली गई और उसे हरद्वार भेजा गया। महाराज और रानियों की राख अलग-अलग पालकियों में डालकर किले से निकाली गई। हाथी घोड़े, सेना, सरदार, मंत्री आदि साथ थे। महाराज की राख का यह जलूस शहर के बड़े बड़े गली-कूचों और बाजारों में घुमाया गया। छतों व सड़कों और रास्तों में दर्शक खचाखच भरे हुए थे। सब ने पालकियों पर फूलों की वरसा की। राजा ध्यानसिंह महाराज की पालकी पर चौर करता जाता था। नगर से जुलूस के बाहर निकलते ही तोपों की सलामी दी गई। जब महाराज की राख अँग्रेजी इलाके से गुजरी तो वहाँ भी तोपों से सलामी हुई। सभी जगह उनकी राख का सम्मान हुआ। भारत के सभी प्रान्तों के राजाओं ने उनके लिए शोक प्रदर्शित किया। १३ वें दिन महाराज के नाम पर बहुत सा दान पुण्य हुआ।

महाराज ने अपने मरने से पहिले ही खड्गसिंह को पंजाब का महाराज बना दिया था—उसे अपने हाथ से ही राजतिलक कर दिया था और राजा ध्यानसिंह को मंत्री बना दिया था। इस बात की सूचना समस्त सूबों में पहुँचा दी थी।

महाराज की वंशावली

महाराज शालवाहन (शालिवाहन)[१]
|
जौनधर (भटिंडा के राजा)
|
सधवा
|
सहस्थ (साँसी के पालने से साँसी कहलाये)
|
लखनपाल
|
धरी
|
उदयरथ या उदारथ
|
जात्री
|
पातु
|
उगर
|
करुत (कीर्त्ति)
|
वीरु
|
वच्या
|
भागमल
|
कालू
|

१—यह वंश-वृक्ष हमने पंजाब केसरी (ले० नन्दकुमार देव शर्मा) से उद्धृत किया है। पे० परि० (ग पे०) २४६–२५१।

इतिहास गुरु खालसा में लिखा है कि महाराज शालिवाहन ने स्यालकोट में राज्य स्थापित किया था। वि० सं० १२५ में इस ने विक्रमाजीत राजा को देहली में परास्त करके उसका सिर काटा था। दिल्ली ही में इसने शाका संवत् चलाया था। राजा विक्रम ३०० वर्ष जीवित रहे थे, ऐसा कहा जाता है। एक इतिहास में शालिवाहन यदुवंशी था जो कि गजनी से लौट कर आया था, ऐसा लिखा है। एक शालिवाहन दक्षिण के शातिवाहनों में भी था; किन्तु यह शालिवाहन यदुवंशी ही जान पड़ता है। इसी के वंश में पूर्णभक्त और रसालु हुए हैं।

जोंघोमन
|
जालिब
|
बीत्तू या खटूट्
|
राजदेव
|
वाघा
|
प्यारा
|
बुद्धा
|
विद्धा (विधसिंह)
|
चरतसिंह
|
महासिंह
|
रणजीतसिंह

शेरसिंह, खड़गसिंह, तारासिंह, पिशोरासिंह, काश्मीरासिंह, मुल्तानसिंह, दिलीपसिंह

- शेरसिंह — प्रताप, सहदेव
  - सहदेव — सुखदेव
- खड़गसिंह — नौनिहालसिंह
- तारासिंह — फतहसिंह
- पिशोरासिंह — जगजूतसिंह
  - जगजूतसिंह — पुरुपसिंह (बहराइच में रहा)
- मुल्तानसिंह — किशनसिंह, केसरीसिंह, अर्जुनसिंह
- दिलीपसिंह — विक्टर दिलीप

महाराज खड़गसिंह-नौनिहालसिंह

महाराज रणजीतसिंह ने खड़्गसिंह को अपना उत्तराधिकारी बना तो दिया था किन्तु खड़्गसिंह राज्य-शासन संचालन के सर्वथा अयोग्य साबित हुए। थोड़े ही दिनों पीछे राजा ध्यानसिंह में और उनमें मन-मुटाव हो गया और धीरे धीरे वे एक दूसरे के प्राण-शत्रु हो गए। दोनों ही महाराज के अन्तिम आदेश को भूल गए। महाराज खड़्गसिंह ने अपने कृपा-पात्र चेतसिंह को मंत्री बना लिया और आप ऐश-आराम में फँस गए। राज-भवन में शराब के फव्वारे छूटने लगे। चेतसिंह के मंत्री बनाये जाने के बाद राजा ध्यानसिंह और भी चिढ़ गए और महाराज की अमंगल-कामना के लिए भयानक षड़्यंत्र रचने लगे। उन्होंने सिख सैनिकों और सरदारों में प्रकट किया—महाराज खड़्गसिंह ने अंग्रेजों की आधीनता स्वीकार

करली है। वे अंग्रेजों को अपनी राज्य-आय में से प्रति रुपया छः आना देंगे। अब पंजाबी सेना में सिखों के स्थान पर अंग्रेजी अफसर और सैनिक रक्खे जायँगे। सिख अंग्रेजी वक्र-दृष्टि से शंकित तो थे ही उसकी यह युक्ति काम कर गई। उन्होंने ध्यानसिंह की बात को सही मान लिया। राजा ध्यानसिंह ने महाराज खड़्ग की रानी और उनके पुत्र नौनिहालसिंह के हृदय में भी यही भाव पैदा कर दिए। अपने बाप की विलासितासे कुँवर नौनिहालसिंह शंकित तो पहिले ही से थे, उनकी शंका निर्मूल भी न थी। शेरसिंह इस समय अंग्रेजों से सहायता प्राप्त करने की प्रार्थना इसलिए कर रहे थे कि पंजाब का राज्य मुझे मिले। शेरसिंह का कहना था कि मैं महाराज रणजीतसिंह का ज्येष्ठ पुत्र हूँ। एक दिन राजा ध्यानसिंह ने कई सरदारों की सहायता से चेतसिंह को मरवा डाला। चेतसिंह था भी दुश्चरित्र और दुष्ट स्वभाव का। महाराज खड़्गसिंह को एक तरह से वन्दी बना लिया गया। कर्नल वेड ने इस समय यह प्रकट किया कि हम महाराज खड़्गसिंह के सम्मान की पूर्ण रक्षा करेंगे। वे वास्तव में ऐसी बात सिख-साम्राज्य के हित के लिए नहीं किन्तु अपनी भलाई के लिए कर रहे थे। चेतसिंह को ध्यानसिंह, गुलाबसिंह और सिंधान वाले सरदारों ने जिस समय क़त्ल किया वह छिप गया था पर ढूँढ लिये जाने पर स्त्रियों की तरह गिड़-गिड़ाने लगा। फिर भी उसे मार डाला गया। महाराज खड़्गसिंह को क़िले के बाहर नजरबन्द करने पर ८ अक्टूबर सन् १८३६ को विशाल सिख-साम्राज्य का अधीश्वर उनके बेटे नौनिहालसिंह को बनाया गया। उनकी अवस्था इस समय केवल २१-२२ वर्ष की थी। इस प्रवीण युवक महाराज की गम्भीरता देख कर लोगों ने इन्हें दूसरा रणजीतसिंह विचारा था। स्वयं महाराज रणजीतसिंह जी ही इनकी प्रखर बुद्धि और रण कौशल से मोहित होकर कहा करते थे— 'मेरी मृत्यु के बाद पंजाबवासी इस लड़के को ही अपना सच्चा राजा पावेंगे।' युवक महाराज नौनिहालसिंह को राज्य की यह शोचनीय अवस्था देख कर आँसू गिराने पड़े। उन्होंने विचार लिया था कि कुटिल मंत्री चेतसिंह और अँग्रेजी स्वार्थ चाहने वाले कर्नल वेड के रहते हुए पिता की गतिमति सुधरने की संभावना नहीं है। इसीलिए उन्होंने अपने विरोधी राजा ध्यानसिंह की शरण ली थी। इस तरह शत्रु से शत्रु का वध कराकर कुमार नौनिहालसिंहजी ने कर्नल वेड को अपने यहाँ से अलग करने की दरख्वास्त सिखों के जरिये लाट साहब के पास पहुँचाई। लार्ड आकलेण्ड ने सिखों को खुश रखने की इच्छा से सन् १८४० में कर्नल वेड को वापिस बुलाया और मि० क्लर्क को उसकी जगह लाहौर भेज दिया। कर्नल वेड को बदलवाने में भी कुमार नौनिहालसिंह जी ने अपनी बुद्धिमानी का परिचय दिया था। लेकिन कर्नल क्लर्क भी वेड की नीति का पालन करने लगा। इस से सिखों ने समझ लिया कि सभी गोरे एक होते हैं। अपने स्वार्थ के लिये वे एक ही नीति पर चलते हैं।

नौनिहालसिंह अपने प्रपिता महाराज रणजीतसिंह जी की तरह ही उच्चाशयी, निडर और सैनिक जीवन के व्यक्ति थे। उनके दिल में यह पक्का विचार हो गया था कि वह अफ़ग़ानिस्तान से लेकर बनारस तक राज करेंगे। यहीं तक नहीं पहिले से ही उन्होंने अपने सरदारों को इन इलाकों की मौखिक सनदें दे दी थीं। क्योंकि उनको यह पक्का विश्वास हो गया था कि एक दिन वहाँ तक उनका राज होगा। अपने पिता पर उन्हें सन्देह था कि वह अँग्रेजों को यहाँ बुलाना चाहता है। इसलिए अपने पिता खड्गसिंह से उन्हें कोई हमदर्दी नहीं थी। वे अँग्रेजों से दिली नफ़रत करते थे क्योंकि वे समझते थे कि एक दिन अवश्य ही यह सिख राज्य को हड़प कर जायँगे। महाराज खड्गसिंह नौ माह की बीमारी से ५ नौम्बर सन् १८४० ई० को मर गये। उनके साथ उनकी दो रानियाँ और ११ जोलियां सती हुईं।

कुमार नौनिहालसिंह जिस समय अपने पिता का अन्त्येष्टि संस्कार कर के लौट रहे थे कि दरवाज़ा उनके ऊपर गिर पड़ा। मूर्छितावस्था में राजा ध्यानसिंह उन्हें उठा कर अपने मकान पर ले गया। मिलने वाले सरदारों से कहता रहा महाराराज नौनिहालसिंह के दिल को चोट पहुँची है वे अच्छे हो जावेंगे, घबराने की कोई जरूरत नहीं। यहाँ तक कि इनकी माँ चाँदकौर को भी उनसे नहीं मिलने दिया। तीन दिन के बाद महारानी साहिबा को अपने यहाँ बुलाकर कहा कि कुमर तो मर गये। अब तुम शासन को सँभालो, पर अभी किसी पर यह मत प्रकट करो कि कुमर मर गये। रानी चाँदकौर धोखे में आ गई। इसी समय राजा ध्यानसिंह ने शेरसिंह को लाहौर में बुला लिया जो कि पहिले से ही राज का दावेदार बन कर अंग्रेजों से प्रार्थना कर रहा था। लोगों का और कई इतिहास लेखकों का यह भ्रम है कि नौनिहालसिंह को मारने में ध्यानसिंह का हाथ था। कारण कि वह समझता था कि इस योग्य लड़के के आगे वह सिक्ख राज्य का सर्वेसर्वा नहीं बना रह सकता। नौनिहालसिंह की मृत्यु से सारे पंजाब में शोक छागया।

शेरसिंह बकरियाँ से लाहौर की तरफ़ कुछ फ़ौज लेकर आगया। वह सुन्दर था किन्तु सिक्खों जैसी वीरता से हीन था। मदिरा तथा वेश्याओं का गुलाम था। भला सिक्ख जाति ऐसे अपात्र को नेता स्वीकार कर सकती थी? किन्तु ध्यानसिंह अपना मतलब साधने के लिये उसे राजा बनाना चाहता था। अंग्रेज सरकार ने भी मंजूरी देदी थी।

इधर रानी ने हरिद्वार से सिन्धान वाले सरदार अतरसिंह को बुला लिया, वह स्वयं सिंहासन पर बैठना चाहती थी उन्होंने घोषित किया कि नौनिहालसिंह की स्त्री हामला है इसलिये गद्दी की हक़दार उसकी संतान ही होगी। शेरसिंह राजा नहीं बनाया जा सकता। राजा ध्यानसिंह ने सिक्खों को समझाया कि स्त्री के लिये इतने बड़े राज्य की बागडोर नहीं दी जानी चाहिये। रानी चाँदकौर कैसी भी

योग्य हों आखिर स्त्री हैं। अधिकांश सिक्ख महारानी के पक्षपाती थे। इसलिये राजा ध्यानसिंह ने दूसरी चालाकी यह चली कि महारानी को पंजाब की अधीश्वर और शेरसिंह को शासन सभा का प्रधान मंत्री बना दिया और स्वयं मंत्री बन गया। इस तरह से दोनों पार्टियों में बाहरी मेल करा दिया। महारानी ने सिन्धान वाले अतरसिंह को अपना प्राइवेट मंत्री बना लिया। इतना हो जाने पर राजा ध्यानसिंह बराबर अपने षड्यंत्र में लगे रहे, वे रानी को शासन के अयोग्य व शेरसिंह को सम्पूर्णतया योग्य प्रसिद्ध करते रहे। धीरे-धीरे सिक्ख सैनिक और सरदारों को अपने पक्ष में करते रहे। फिर भी इस बीच में खालसा सेना राजा से स्वतंत्र होकर अपने विरोधियों को जो यत्रतत्र खड़े होते थे कुचल देती थी। नीलसिंह जो अंग्रेजी सेना पंजाब में लाने के इरादे में था[१] सिक्ख सेना ने मार डाला। अंग्रेजों ने शेरसिंह को लिखा कि हम तुम्हारी विद्रोही व उद्दंड सेना का दमन करने को बारह हजार सैनिक लेकर आने को तैयार हैं किन्तु इसके बदले तुम्हें ४० लाख रुपया और सतलज के दक्षिण के इलाके हमें दे देने होंगे। लेकिन शेरसिंह ने इस प्रस्ताव को अस्वीकार करते हुए लिखा कि—यदि सिक्खों को यह बात मालूम हो गई तो मेरा प्राण लेते उन्हें तनक भी देर न लगेगी। इसी समय अफ़ग़ानिस्तान स्थित अंग्रेज ने घोषणा की कि सिक्ख साम्राज्य से हमारी सन्धि टूट गई। पेशावर को हम अफ़गानों के सुपुर्द करेंगे। इस समय पेशावर सिखों के अधीन था वे इस घोषणा से बड़े अचम्भित हुए। राजा ध्यानसिंह इन्हीं दिनों जम्बू चले गये उन्होंने बीमारी का बहाना किया था। शेरसिंह भी बटाले चले गये थे। रानी चाँदकौर माई का खिताब धारण करके पंजाब का शासन करने लगीं। उन्होंने चार सरदारों की कौंसिल बनाई। राजा गुलाबसिंह रानी के पक्ष में हो गया। किन्तु लाहौर में राजा ध्यानसिंह के एजेण्ट षड्यन्त्र में लगे हुए थे उन्होंने बहुतेरे सिख सरदारों को फोड़ लिया और उनसे वचन ले लिया कि जब राजा शेरसिंह और ध्यानसिंह लाहौर पर हमला करेंगे तो शेरसिंह का वे लोग साथ देंगे। कुछ दिन बाद शेरसिंह तीन सौ आदमी साथ लेकर लाहौर के निकट शाला-मार बाग़ में आगया कुछ सिख सरदारों ने जाकर उसे राजा मान लिया और उसे किले पर चढ़ा लाये। इधर रानी चान्दकौर के कहने से राजा गुलाबसिंह ने क़िले के फाटक बन्द कराकर युद्ध कराया। राजा सुचितसिंह और जनरल वेन्तूरा शेर-सिंह से जा मिले, उनकी संख्या सत्तर हज़ार होगई। रात में शेरसिंह ने कई दिन की कठिनाई के बाद क़िले पर कब्ज़ा कर लिया[२]।

१८ जनवरी सन् १८४१ ई० को शेरसिंह महाराजा बना। सिन्धान वाला सरदार को छोड़कर उसे सबने सलाम किया। इस राजपोत में ४७८६ आदमी ६१० घोड़े और पांच लाख रुपयों को स्वाहा करना पड़ा। रानी चांदकौर को जम्बू के

१—सिख युद्ध पे० १३ (बंगवासी प्रेस द्वारा प्रकाशित)। २—गुलाबसिंह लाहौर को छोड़ते समय १६ छकड़े खजाने से ले गया। तारीख़ पंजाब पे० ४७१।

इलाके में ६ लाख की जागीर दी गई। ध्यानसिंह को प्रधान मन्त्री बनाया गया। अतरसिंह और चेतसिंह अङ्गरेजों के पास भाग गये, उनकी जायदाद जब्त करली गई। लहनासिंह गिरफ़्तार होकर लाहौर लाया गया।

जितना इनाम सैनिकों को रानी चांदकौर के खिलाफ़ लड़ने पर देने को कहा गया था जब उन्हें न दिया गया तो वे बाग़ी हो गये, अफ़सरों को लूटने खसोटने लगे। एक अँग्रेज़ अफ़सर क़त्ल कर दिया गया, जनरल कोट भाग गया। यह बग़ावत सूबों में भी पहुँच गई। अयोग्य राजा उन्हें काबू में न ला सकता। काश्मीर में जनरल महीसिंह को लूट लिया गया। पेशावर का सूबेदार अबीतोपला डरके मारे जलालाबाद भाग गया।

शेरसिंह बड़ा निकम्मा था। मदिरा पान खूब करता था। नाच-तमाशे खूब देखता था। उसकी इच्छा थी कि रानी चांदकौर उससे चादर डालकर शादी करले। रानी भी तैयार होजाती किन्तु गुलाबसिंह ने रानी को बहका दिया। किसी ने शेरसिंह से कहा कि रानी आपसे घृणा करती है। वह कहती है कि आप रणजीतसिंह के औरस पुत्र नहीं हैं। उसने रानी की दासियों को रानी से इस अपमान का बदला लेने के लिये षड्यन्त्र किया और खुद वजीराबाद चला गया। रुपये की लोभिन बाँदियों ने रानी का सिर ईंटों से फोड़ डाला। इस तरह रानी चाँदकौर का जीवनान्त हो गया। राजा ध्यानसिंह ने इन बाँदियों को कोतवाली पर नाक-कान से रहित करा दिया। हाथ भी कटवा लिये। रावी पार निर्वासित कर दिया[1]। अँग्रेजों की सिफ़ारिश पर महाराज ने सिन्धान वालों को वापिस बुला लिया। वे बड़े चाटुकार थे। जब उन्होंने अपनी चाटुकारी से अँग्रेजों को वश में कर लिया तो शेरसिंह की तो बात ही क्या थी। थोड़े ही दिनों में शेरसिंह उनकी ख़ुशामद से उन पर लट्टू हो गया। वे दिन-रात उसी के साथ घिरे रहने लगे। राजा ध्यानसिंह को यह बातें बुरी लगती थीं, इसलिये वह महाराज रणजीतसिंह के छोटे राजकुमार दिलीप को प्यार करने लगे। सिन्धान वाले दोनों ही से जलते थे। वे चाहते थे कि ध्यानसिंह शेरसिंह दोनों का सर्वनाश हो जावे। एक दिन बातों ही बातों में उन्होंने शेरसिंह से कहा कि राजा ध्यानसिंह का इरादा अब दिलीपसिंह को तख्त पर बैठाने का है। इसके लिये उसने एक दिन हम से शपथ लेकर कहा था कि शेरसिंह के मारने पर तुम्हें ६० लाख की जागीर दी जा सकती है; किन्तु हम अपने मालिक से दग़ा नहीं कर सकते हैं। राजा शेरसिंह उनके जाल में फँस गया और उसने हुक्म दिया कि यदि तुम ध्यानसिंह को मार दोगे तो वह उनके लिये सब कुछ कृपा करने को तैयार है। उन्होंने शेरसिंह से हुक्मनामा भी लिखाया। फिर वही हुक्मनामा उन्होंने ध्यानसिंह को जा दिखाया। ध्यानसिंह बड़ा क्रोध में आया और

१—तारीख़ पंजाब पे० ४७२।

क्रोधावेश में ही उसने भी उनको बड़े लोभ पर शेरसिंह को मारने का वारण्ट लिख दिया।

शुक्र के दिन राजा शहर से बाहर निकला। ध्यानसिंह और दीनानाथ उसके साथ थे। बुधसिंह भी जो कि शेरसिंह का साथी था उनके संग था। बारहदरी में राजा शेरसिंह कुश्ती करने वालों को इनाम दे रहे थे कि सिन्धान वाले अजीतसिंह ने महाराज शेरसिंह के पास आकर जब कि वे इनाम दे चुकने के बाद आराम कुर्सी पर लेटे हुए थे एक बन्दूक लाकर दिखाई और कहा कि महाराज मैंने इसे चौदह सौ में खरीदा है; किन्तु अब तीन हजार में भी बेचने को तैयार नहीं हूँ। महाराज ने ज्यों ही हाथ बढ़ाया कि उसने गोली दाग़ दी। वह इतना बोला—"यह······के······दग़ा······" और मर गया। बुधसिंह ने लपक कर अजीतसिंह के दो साथियों को मार गिराया, लेकिन उसकी तलवार टूट गई। दूसरी तलवार लेना चाहता था कि उसका पैर फ़िसल गया और वह भी मार डाला गया। इन क़ातिलों ने बाग़ में जाकर शेरसिंह के पुत्र प्रतापसिंह जब कि वह पाठ करके दान-पुण्य कर रहा था, जा घेरा। उसने हाथ जोड़ कर क्षमा चाही; किन्तु उसे भी मार डाला गया। इस समाचार से शहर में सनसनी फ़ैल गई। बाजार बन्द हो गए। दो सरदार अपने दो चार पियादी लिये हुए आए। रास्ते के अधवर में उन्हें राजा ध्यानसिंह मिला। अजीतसिंह ने उसे बताया, काम तमाम हो गया है। तुरन्त उसे दोनों शिर दिखाये। ध्यानसिंह ने कहा—'तुमने बच्चे को मार कर अच्छा नहीं किया' अजीतसिंह ने कहा जो कुछ हो गया सो हो गया, अब क्या है। ध्यानसिंह चिन्तातुर अवस्था में क़िले में आया। दरवाज़े पर पहुँचते ही ध्यानसिंह को रोक दिया गया। ध्यानसिंह को सन्देह हुआ, पीछे फिर कर देखा तो उसके साथी बहुत थोड़े थे। अजीतसिंह ने पास आकर पूछा कि अब राजा किसे बनाया जायगा? ध्यानसिंह इसके सिवा क्या कह सकता कि राज्य के हक़दार दिलीपसिंह हैं। अजीतसिंह ने इस पर कहा—'अच्छा, दिलीप तो राजा हो जायगा और तुम हो जाओगे मंत्री, हम ख़ाक चाटते फिरें। गुरमुखसिंह ने क्रोध के साथ कहा—इसे भी साफ़ करो। अजीतसिंह ने इशारा किया "पीछे से साँय साँय गोली की आवाज़ हुई। ध्यानसिंह गिर पड़ा। ध्यानसिंह के अर्दली एक मुसलमान ने सामना किया, उसे भी मार कर ध्यानसिंह के साथ तोपखाने में फेंक दिया। जब सर० लहनासिंह आया तो वह अजीत की जल्दबाज़ी पर उसे फटकारने लगा। वह चाहता था कि जम्बू का सारा परिवार जब इकट्ठा होता तब इनका काम किया जाता, अभी गुलाबसिंह सुचेतसिंह और हीरासिंह बाक़ी हैं।

ध्यानसिंह के पुत्र हीरासिंह उस समय पेशावर के हाकिम फ्रॉसीसी अवटेवल के मकान पर राजा शेरसिंह की हत्या की चर्चा सुन कर दुःख प्रकट कर रहे थे। कुछ ही समय बाद जब उन्हें अपने पिता के निधन का समाचार मिला तो वह मूर्छित हो गए। पृथ्वी पर लेट कर हाथ पैर

उनके भाई केसरीसिंह ने कहा—क्या बच्चों और रांड़ों की तरह रोते हो, मर्द बनो और अपने पिता का बदला लो। हीरासिंह के हृदय में प्रतिहिंसा की ज्वाला धधक उठी। उन्होंने बड़ी प्रार्थना के साथ खालसा सरदारों को अपने स्थान पर इकट्ठा किया। सब के आने पर अपनी गर्दन उनके सामने झुकादी और कहा या तो मेरी गर्दन काट कर मुझे मेरे पिता के पास पहुँचा दीजिये या पितृ-हन्ता से बदला लेने में मेरी सहायता कीजिये। बालक प्रतापसिंह योग्य मंत्री की हत्या से लोग वैसे ही विचलित थे। वे इस दग़ावाज़ी को महा नीचता समझते थे। फिर हीरासिंह की अपील ने उन्हें और भी उत्तेजित किया, वे भड़क उठे और प्रतिज्ञा-पूर्वक बोले हम तुम्हारी मदद करेंगे और दग़ावाज़ को मज़ा चखा देंगे। इधर तो यह हो रहा था उधर सिन्धान वाले सरदारों ने दलीप को महाराज और अजीतसिंह के लिए मंत्री घोषित कर दिया। साथ ही सरदारों को बुलाकर राज-भक्ति की शपथ लेने लगे। किन्तु क़िले से बाहर निकलना उन्होंने बन्द कर दिया। हीरासिंह के पास चालीस हज़ार सिख इकट्ठे हो गये। उसने शाम के चार बजे आकर लाहौर को घेर लिया। सारी रात क़िले पर गोले बरसते रहे। हीरासिंह ने सरदारों के सामने प्रतिज्ञा की कि जब तक मैं अपने महाराज और पिता के हत्यारों के शिर कटे हुए न देख लूँ गा तब तक अन्न जल ग्रहण न करूँगा। सैनिकों ने इतने ज़ोर से हमला किया कि विजय प्राप्त हो गई। अजीतसिंह दीवार से उतर कर भागा लेकिन एक मुसलमान सैनिक ने उसका शिर काट लिया। हीरासिंह की सौतेली माँ अजीतसिंह के सिर को देख कर भारी प्रसन्न हुई और अपने पति राजा ध्यानसिंह के शव को लेकर मय दासियों के सती हो गई। वह अब तक इसीलिए रुकी हुई थी कि पति के मारने वालों का नाश देख ले। इसके पश्चात् सरदार लहनासिंह की तलाश हुई। वह तहखाने में छिपा हुआ मिला। उनका शिर काटने वाले को हीरासिंह ने दस हज़ार रुपया इनाम में दिया। अतरसिंह भाग कर अँग्रेज सरकार की मदद में चला गया क्योंकि वह उस समय लाहौर में मौजूद न था। शत्रुओं से बदला लेने के बाद हीरासिंह ने महाराज दिलीपसिंह के पैर चूमे और राजभक्ति प्रकट की। खालसा ने हीरासिंह को मंत्री नियुक्त किया और उसे विश्वास दिलाया कि सिन्धान वालों के साथियों को मौत की सजा दी जायेगी। हीरासिंह शिक्षित था, उसने अँग्रेजी भी पढ़ी थी। महाराज रणजीतसिंह खुद उसे बहुत प्यार करते थे। इस समय इसकी अवस्था पचीस साल की थी।

पंजाब के राज्य-सिंहासन पर बैठते समय दिलीपसिंह की अवस्था केवल पांच साल की थी। दिलीप महाराज के विषय में अँग्रेज इतिहासकारों ने कहा है कि इनकी पांच वर्ष की अवस्था से ही तेज बुद्धि का परिचय मिलता था। बड़े होकर यदि राज्य करने का सौभाग्य उन्हें प्राप्त होता तो वह पिता के योग्य पुत्र सिद्ध होते। लेकिन दैव ने उन्हें अवसर ही नहीं दिया। महाराज के बालक होने के कारण उनके राज्य की निरीक्षक महारानी झिंदा जो उन्हीं की माता थीं नियुक्त

हुईं। वे महाराज रणजीतसिंह की परम प्यारी रानी थीं। वे उनको महबूबा (प्रिय पति की परम प्यारी) सम्बोधन से सदा सम्मानित करते थे। रणजीतसिंह जी ने उनसे वृद्धावस्था में विवाह किया था। उनके पिता का नाम मन्नासिंह था जो कि महाराज की सेना में घुड़सवार था। मुसलमान लेखकों के आधार पर कुछ अँग्रेज़ लेखकों ने श्री महारानी झिंदा के आचरण पर सन्देह किया है। किन्तु यह बात इसीलिए तत्कालीन अँग्रेज़ शासकों तथा मुस्लिम वर्ग की ओर से फैलाई गई होगी कि सिख वीरों के हृदय से उनकी (म० झिन्दा की) भक्ति कम हो जावे। ख़ास घर के अनेक सिख भी स्वार्थ-वश महारानी से द्वेष करते थे। किन्तु महारानी झिन्दा पवित्रता की देवी थीं। उनमें राज्य शासन योग्य अधिक शक्ति न रहने पर भी तप्त स्वर्ण की रूप-राशि से नारी दुर्लभ वीरता का ऐसी झलक प्रकट होती थी कि उन दिनों में क्रमशः हतोत्साह होती हुई ख़ालसा सेना की वीरता पुनः प्रचंड सौर्य्य धारण करने लगी थी, देश-भक्ति का संचार फिर से उनकी नसों में होना आरम्भ हो गया था। एक तो अनुपम रूप लावण्य की खानि, दूसरे चरित्र में वीरता की धारा, तीसरे इनकी नारी-सुलभ राजनैतिक योग्यता तथा उदारता सिख मात्र को अपार प्रसन्नता देती थी। उनके कट्टर निन्दाकारियों ने भी इस बात को स्वीकार किया है कि महारानी झिन्दा की गम्भीरता के कारण उन दिनों पंजाब दरबार का रौब ख़ूब जमा हुआ था। यहाँ तक कि यूरोप की राज-सभाओं में भी उनकी प्रशंसा हुई थी।

राज-दरबार में जल्ला नाम के एक पण्डित की भी ख़ूब चलती थी। हीरासिंह उसे अपना गुरु समझते थे। सारा कार्य्य हीरासिंह जल्ला की सम्मति से ही करता था। जल्ला मंत्र तंत्रों पर भी पूरा विश्वास रखता था। हीरासिंह भी इन मामलों में अन्ध विश्वासी था। इस समय पंजाब का शासन अच्छी तरह से होने लगा था, किन्तु पंजाब के भाग्य में सुख शान्ति न थी। थोड़े ही दिनों में हीरासिंह से भी लोग डाह करने लगे। दलीपसिंह के मामा तथा अचकई सरदारों ने हीरासिंह से मंत्रिपद छीन लेने की चेष्टा की थी। स्वयं हीरासिंह का ताऊ सुचेतसिंह उससे डाह करने लगा। कुछ इतिहासकारों का कहना है कि महारानी झिन्दा की इच्छा भी यही थी कि हीरासिंह की जगह सुचेतसिंह दीवान हो। जवाहिरसिंह जो कि रानी झिन्दा के भाई थे, एक दिन राजा सुचेतसिंह को खालसा सेना में महाराज दिलीपसिंह समेत ले गये। वहाँ सुचेतसिंह की सम्मति से जवाहरसिंह ने खालसा से कहा कि हीरासिंह महाराज को बहुत कष्ट देता है, यदि आप लोग महाराज की रक्षा न करेंगे तो मैं उन्हें अंग्रेजों की शरण में ले जाऊँगा। हीरासिंह ने पहिले ही यह अफ़वाह उड़ा रक्खी थी कि जवाहरसिंह महाराज को अँग्रेजों के हवाले करना चाहता है। अब जब कि खालसा ने ख़ुद जवाहरसिंह के मुँह से ही यह बात सुनी तो वह आगबबूला हो गये। खालसा सेना ने रातभर जवाहरसिंह समेत पहरे में रक्खा, सवेरे हीरासिंह के पास ख़बर पहुँचाई। हीरासिंह ने जवाहरसिंह को तो

क़ैद कर लिया और सुचेतसिंह की सेना की दोनों पलटनों को जो उस समय क़िले में क़ैद थीं उनके हथियार छीन कर क़िले से बाहर निकाल दिया। इस बात से सुचेतसिंह को बड़ा रंज हुआ, लेकिन राजा गुलाबसिंह समझा-बुझा कर अपने साथ जम्मू ले गये। महाराज दिलीप के शहर में आने पर सौ तोपों की सलामी हुई। उस दिन से खालसा सेना राजा सुचेतसिंह को लाहौर दरबार का दुश्मन समझने लगी। इस तरह से हीरासिंह ने जवाहरसिंह और सुचेतसिंह का दमन करके कुछ दिनों के लिये शान्ति स्थापित करदी किन्तु अशान्ति की ज्वाला भीतर ही भीतर धधकती रही।

उस समय सिख साम्राज्य के प्रत्येक सरदार को राज-शक्ति के प्राप्त करने की इतनी लालसा लगी हुई थी कि उनके हृदय में भले बुरे के विचार करने की भी शक्ति का अभाव हो गया था। प्रत्येक सरदार निज स्वार्थ के लिए कुछ न कुछ ऐसी चाल चलता था जिससे पुराने बखेड़े शांत होने तो दूर रहे, नए और खड़े हो जाते थे। हीरासिंह के सलाहकार पंडित जल्ला ने एक और षड्यंत्र यह रचा कि दलीपसिंह को राज्य से हटा कर शेरसिंह के पुत्र को पंजाब का महाराज बना दिया जाय। किन्तु महारानी झिन्दा को जल्ला की चालाकी का पता लग गया। उसने महारानी झिन्दा के आचरण पर भी आपेक्ष करने आरम्भ कर दिए।

उधर जम्मू पहुँच कर गुलाबसिंह भी शान्ति से बैठा न रहा। उसने लाहौर दरबार में एक जाली पत्र भिजवाया कि रणजीतसिंह के दोनों पुत्र काश्मीरसिंह और पिशौरासिंह सिन्धान वाले अतरसिंह से मिलकर राज्य हड़पने की तैयारी कर रहे हैं। गुलाबसिंह के साथ इस चालाकी में हीरासिंह स्वयं शामिल था। हीरासिंह ने उन दोनों के दमन करने के लिए सेना भेज दी। खालसा सेना महाराजा रणजीत-सिंह के लड़कों की बड़ी इज्जत करती थी। इस खबर को सुनकर एक दम से वह क्रोधित हो उठी। उसने हीरासिंह को उसी के बाप की हवेली में क़ैद कर लिया। हीरासिंह ने सेना को वचन दिया कि काश्मीरासिंह और पिशौरासिंह दोनों राज-कुमारों के प्राण और संपत्ति की रक्षा की जावेगी और आगे से जल्ला पंडित को राज काज में भाग लेने से अलग कर दिया जायगा। गुलाबसिंह की सेना ने उधर उन दोनों राजकुमारों के दमन के लिए सेना भेजी किन्तु वे दोनों सेना के हाथ न आए। सेना ने उनकी जागीर जब्त करली। थोड़े दिनों बाद गुलाबसिंह ने उन्हें दम दिलासा देकर जम्मू बुला लिया और क़ैद कर लिया। साथ ही उनसे कहा कि यदि एक लाख रुपया दो तो तुम्हें छोड़ दिया जायगा। जब खालसा सेना को इस बात का पता लगा तो उसने राजकुमारों का पक्ष लिया। इसलिए गुलाबसिंह ने दोनों से बीस हजार रुपया लेकर छोड़ दिया। फिर भी खालसा सेना संतुष्ट न हुई।

राजधानी की अराजकता से सूबेदार भी खूब धन्धा धुन्धी में लगे हुए थे। खुद गुलाबसिंह ने भी पिछले कई वर्ष से राज-कर अदा नहीं किया था। मुल-

तान का दीवान मूलराज भी जो कि सावनमल का बेटा था राजस्व-कर देना बन्द कर चुका था। उसने घोषणा कर दी कि मुलतान लाहौर का करद राज्य नहीं किन्तु स्वतंत्र राज्य है। इस समय तक खालसा सेना को वेतन भी नहीं मिला था। खालसा सेना वेतन न पाने से तो असंतुष्ट थी ही, काश्मीरासिंह और पिशौरासिंह के साथ गुलाबसिंह के किए गए व्यवहार ने उसे और भी असंतुष्ट कर दिया १। इसलिए उसने सुचेतसिंह को दीवान बनने के लिए तैयार किया। वह तो यह पहिले से ही चाहता था। सन् १८४३ की २८ वीं मार्च को वह थोड़ी सी सेना के साथ शाह-दरा के पास पहुँच गया। इस खबर को सुनकर हीरासिंह बहुत घबराया और खालसा सेना में पहुँचकर उसने बड़े मार्मिक शब्दों में भाषण दिया। उसमें उसने सिख सैनिकों से अपील की—"खालसा सेना के बहादुरो! आपके पुराने पुराने मंत्री राजा ध्यानसिंह का पुत्र और आपके श्रद्धेय महाराजा रणजीतसिंहजी का दत्तक पुत्र आपके सामने खड़ा है। अगर इसने कोई अपराध किया है यह लो तलवार इससे इसका सिर अलग कर दो किन्तु मुझे फिरंगियों के दोस्त सुचेतसिंह के हवाले मत करो। मैं खालसा के बहादुर सैनिकों द्वारा मरना अपने पतित ताऊ सुचेतसिंह के हाथ से मरने की अपेक्षा अच्छा समझता हूँ। इसके अलावा उसने प्रत्येक सिपाही को सोने का कड़ा और प्रत्येक अफ़सर को सोने का कण्ठा देने का वचन दिया। खालसा सेना पर उसका यह मोहनी मंत्र काम कर गया। जो खालसा सेना उसके विरुद्ध थी अब उसकी सहायक हो गई। सुचेतसिंह के पास खालसा सेना तथा हीरासिंह की ओर से लौट जाने की खबर पहुँचाई गई किन्तु उसने कहला भेजा कि यदि खालसा मेरे साथ विश्वासघात करना चाहता है तो करे। पहिले उसने मुझे बुलाया है अब इस तरह मेरा अपमान किया जाता है। उसके ४०० सिपाहियों में से केवल उसके पास ४० ही रह गये। हीरासिंह ने उसे जहाँ कि वह एक मस्जिद में ठहर रहा था चौदह हज़ार सवारों के साथ घेर लिया। उसके दो साथी, राय केसरीसिंह और बसन्तसिंह बड़ी बहादुरी से लड़े २। जो आशरों पर खेल जाता है वह सब कुछ कर गुज़रता है। १६० सिखों को मारने के बाद यह ४० आदमी काम आये। लड़ाई खतम होने पर हीरासिंह ने सुचेतसिंह की लाश को ढुँढवाया। लाश को देखकर हीरासिंह खूब रोया। उसका सम्मान-पूर्वक दाह-संस्कार किया गया।

राजा सुचेतसिंह की मृत्यु के बाद जवाहिरसिंह कुछ दिन के लिए दब गया। किन्तु फिर भी सर्वशान्ति नहीं हुई थी। वह लाहौर में अपना वश न चलता देखकर अमृतसर चला गया। क्योंकि सुचेतसिंह लावारिस मरा था इसलिए उसकी सम्पत्ति

१—राज्य की आर्थिक परिस्थिति की जाँच के लिये जल्ला पंडित को नियुक्त किया था। उसने कई यूरोपियन कर्मचारियों को अलग कर दिया। २—केसरीसिंह ने घायल अवस्था में हीरासिंह से जयदेव कहकर पीने को पानी माँगा, किन्तु हीरासिंह ने यह अमानुषी उत्तर दिया कि—"पानी पहाड़ों में से पियो।"

और जायदाद सिख क़ानून के अनुसार सिख राज्य में शामिल करली गई। किन्तु अँग्रेजों ने विना ही कारण इस मामले में हस्तक्षेप किया। सिख दरवार से अँग्रेज सरकार की ओर से कहा गया कि राजा सुचेतसिंह की जायदाद और सम्पत्ति पर दख़ल पाने न पाने का निवटारा व्रटिश अदालत में होना चाहिये। स्वाधीन राज्य के साथ अङ्गरेज़ों की ऐसी लिखा पढ़ी एक दम अनधिकार चेष्टा थी। सिख दरवार ने इस हस्तक्षेपको अस्वीकार कर दिया। फिर अङ्गरेज़ी अदालत में विचार हुआ। अदालत ने फ़ैसला दिया कि राजा सुचेत की जायदाद और सम्पत्ति पर क़ब्ज़ा कर लेने का सिख साम्राज्य को अधिकार है। फिर हटी अँग्रेज कर्मचारियों ने सिख दरवार को लिखा कि यदि सुचेतसिंह के भाई राजा गुलावसिंह और भतीजा हीरासिंह अपनी मर्ज़ी से यह सब सम्पति महाराजा दिलीप को देना चाहते हैं तो हमें कोई ऐतराज नहीं है। लेकिन सिख दरवार ने इस वेहूदी चिट्ठी का कोई जवाब नहीं दिया। आख़िर सुचेतसिंह की जो सम्पत्ति अँग्रेजी इलाके में थी उसे वे हज़्म कर गये। यह क़रीब १५ लाख के थी। इस वखेड़े के बाद खालसा पर हीरासिंहजी का अच्छा असर पड़ा, क्योंकि इस वखेड़े में उसने ,बड़ी दिलेरी के साथ अँग्रेज़ी हस्तक्षेप का विरोध किया था।

जवाहरसिंह अमृतसर पहुँच कर हीरासिंह के विरुद्ध षड्यन्त्र रचने लगा। वहाँ उसने अकाली भैया, वावा और पुरोहितों तथा गुरुओं से मिल कर षड्यन्त्र की तैयारी की। इस कार्य में लालसिंह भी जो राजा ध्यानसिंह का प्रिय पात्र और हीरासिंह का मित्र था, शामिल हो गया। मित्र के प्रति विश्वास-घात करने के लिए लालसिंह की पापी आत्मा ने जवाहरसिंह से सम्बन्ध स्थापित कर लिया। वैसे यह लालसिंह जल्ला पंडित का भी मित्र वन चुका था, पर कपट उसके हृदय में खेलता था।

माझा में एक व्यक्ति वावा वीरसिंह नामक रहता था। उसने १५०० सवार इकट्ठे कर लिये थे। यह कहता फिरता था कि पंजाव की हुकूमत गुरु गोविन्दसिंह की है, दिलीपसिंह वचा है। हीरासिंह ये भी अयोग्य हैं। इस साम्राज्य के लिये खालसा को कोई अपना आदमी नियुक्त करना चाहिये। साथ ही सिन्धान वालों के पक्ष में प्रचार आरम्भ किया। इसी उद्देश्य से सब सरदारों को चिट्ठियाँ भी लिखीं। काश्मीरासिंह और पिशौरासिंह भी इस विद्रोह में शामिल हो गये, क्योंकि वे गुलावसिंह के दुर्व्यवहार और हीरासिंह की चालाकी से जलते थे। लाहौर दरवार की ओर से इस दल को दमन करने के लिए फ़ौजें भेजी गईं। घनघोर युद्ध हुआ। इस युद्ध में भाई वीरसिंह, अतरसिंह सिन्धान वाला और काश्मीरासिंह इस लड़ाई में मारे गए। कुँवर पिशौरासिंह घटना से एक दिन पहिले लाहौर चले आए थे; इससे वे वच गए। हीरासिंह ने लाहौर में उनका वड़ा आदर-सत्कार किया था। उनकी जागीर वापिस कर दी। हीरासिंह ने इस वनावटी आव-भगत से लाहौर में रहते समय तक पिशौरासिंह को यह न मालूम होने दिया

कि युद्ध में सिन्धान वाले तथा काश्मीरासिंह आदि मारे गए हैं। अपनी वाक-चातुरी, राजनैतिक वुद्धि से हीरासिंह ने अपने सभी विरोधियों का दमन कर दिया था। खालसा सेना पर भी काफ़ी दिनों तक प्रभाव रक्खा; किन्तु वह समय भी धीरे-धीरे आने लगा जब हीरासिंह के प्रति असन्तोष की मात्रा इतनी बढ़ गई जव कि उसका दमन न हो सका।

जल्ला यद्यपि विद्वान् और राजनीतिज्ञ था, वह लाहौर के शासन में विदेशियों का हस्तक्षेप भी नाजायज़ समझता था, उसने कुछ यूरोपियन कर्मचारियों को भी अलग किया था, किन्तु वह भी गृह-युद्ध में एक पात्र वन गया। यों तो उसने अपने रूखे स्वभाव से सारे सिख सरदारों को चिढ़ा दिया था, किन्तु साथ ही वह महारानी झिन्दा की भी निन्दा किया करता था। आगे चलकर ऐसी अफ़वाह फैली कि जल्ला पंडित और हीरासिंह दीवान महारानी को व्यभिचार के हेतु अपने चंगुल में फँसाने के लिये उन्हें तंग करते हैं। फिर क्या था, खालसा सेना भड़क उठी। उसने जल्ला पंडित को मारने का निश्चय कर लिया। १८ दिसम्बर सन् १८४४ को एक दिन रात के समय राजा हीरासिंह दीवान और जल्ला पंडित लाहौर से भागने की तैयारी कर रहे थे कि उन्हें सेना ने गिरफ़ार कर लिया, और दोनों को मार डाला। हो सकता है कि इनके विरोधियों ने यह झूठी अफ़वाह फैलाई हो किन्तु यह वात भी सही है कि महारानी झिन्दा इन दोनों ही से खुश न थीं। जल्ला का शिर नगर में गली बाज़ारों और मुहल्लों में घुमाया गया। फिर उसे कुत्तों को खिला दिया गया। जम्बू के राजा गुलावसिंह के लड़के मियाँ सोहनसिंह का शिर मोरी दर्वाज़े पर और हीरासिंह दीवान का शिर लाहौरी दर्वाज़े पर टाँग दिया गया। कुछ दिन के वाद इन शिरों को राजा ध्यानसिंह की हवेली में फेंक दिया गया।

हीरासिंह की मृत्यु के पश्चात् खालसा ने जवाहरसिंह को मंत्री वनाया, खालसा और उसके सैनिकों को प्रसन्न करने के लिये जवाहरसिंह ने तोशा खाने के सोने के वर्तनों को गलवा कर कंठे वनवा कर सिपाहियों में वतौर इनाम के वाँट दिये, इसलिये खालसा के सैनिक वड़े प्रसन्न हुए। पिछले कई वर्ष से गुलावसिंह जम्बू ने खिराज देना वन्द कर दिया था। उसकी तरफ तीस करोड़ रुपये निकलते थे। इसलिये खालसा फ़ौज ने जम्बू पर चढ़ाई करदी। लड़ाई में सरदार फतेसिंह काम आया। गुलावसिंह इतना डरा कि हाथ जोड़ कर खालसा के सामने हाज़िर हुआ और अपने किये के लिये माफ़ी मांगने लगा। तीन लाख रुपया उसने खालसा के सैनिकों में वांटा। इस तरह से खालसा सैनिकों ने अधिक उपद्रव नहीं किया और गुलावसिंह को लाहौर ले आए। महारानी झिन्दा राजा गुलावसिंह की खुशामद से प्रसन्न हो गईं और उनकी यह भी इच्छा हो गई कि उनको दरवार का मंत्री वना दिया जाय, किन्तु चूंकि वह डरता था कि उसकी भी गति ध्यानसिंह और हीरासिंह की सी न हो इसलिये उसने जम जाना ही उचित

समझा। महारानी ने उस पर छः लाख अस्सी हज़ार रुपया जुरमाना करके जम्बू जाने की आज्ञा देदी और उसकी बहुत जागीर भी अपने राज्य में मिला ली। यहाँ से लौटने पर उसने पिशौरासिंह को मंत्री जवाहरसिंह के ख़िलाफ़ उकसाया। जवाहरसिंह भी योग्य आदमी न था, शासन-सूत्र भी उससे चलना कठिन हो रहा था और उधर खालसा की शक्ति भी बढ़ी हुई थी। इस रणजीतसिंह के साम्राज्य का कर्त्ता-धर्त्ता खालसा ही था। खालसा जिसे चाहता था राजा बनाता था और जिसे चाहता मंत्री। जवाहरसिंह के कुछ एक कृत्यों से खालसा नाराज़ भी था। क्योंकि एक समय जवाहरसिंह ने महाराजा दिलीपसिंह को अंग्रेजों के पास लेजाने की धमकी दी थी। जवाहरसिंह ने अपनी बहिन महारानी झिन्दा के परामर्श से बहुत वायदे करके खालसा को फ़ौरन अपनी ओर मिलाने की चेष्टा की इसलिये उस समय तो खालसा ने लाहौर आए हुए पिशौरासिंह को कोई मदद नहीं दी और उसे अपनी जागीर में जाने को कह दिया। पिशौरासिंह ने लाहौर से चलकर पठानों की मदद से अटक को अधिकार में कर लिया और साथ ही अपने को पंजाब का राजा घोषित कर दिया। सारे पंजाब पर अधिकार करने के लिये क़ाबुल के अमीर दोस्त मुहम्मदखां से लिखा पढ़ी करने लगा। उसकी ऐसी कार्य्यवाही देखकर लाहौर से अफ़सर ने खालसा फ़ौजें उसको दमन करने के लिये भेजीं। लेकिन खालसा ने पिशौरासिंह के खिलाफ़ लड़ने के लिए इन्कार कर दिया। चूंकि वह अपने महाराज रणजीतसिंह के पुत्र पर हाथ उठाना नहीं चाहते थे तब जवाहरसिंह ने सरदार चतरसिंह अटारी वाले को नौशेरा से और फ़तहखान टवाना को डेराइस्माइलखां से पिशौरासिंह के दमन के लिए अटक भेजा। इन लोगों ने मुक़ाबिले की हिम्मत न देख कर सुलह से काम लिया। बहुत सी चिट्ठी-पत्री के बाद निर्णय हुआ कि पिशौरासिंह क़िला खाली करके बाहर आ जाय तो महारानी झिन्दा से उसे एक रुपये की जागीर और दिला दी जायगी। वह इन लोगों के दम दिलासे में आगया और क़िला खाली करके बाहर निकल आया। लेकिन इन लोगों ने विश्वासघात करके उसे क़ैद कर लिया और गला घोंट कर उसका प्राणांत कर दिया। जब यह खबर लाहौर पहुँची तो जवाहर ने बड़ी खुशियां मनाईं और तोपों से सलामी दी गई और रात को रोशनी की गई। पिशौरासिंह की मृत्यु के उपलक्ष में जवाहर द्वारा इस तरह खुशियाँ मनाये जाने पर खालसा सेना क्रोध से उत्तेजित हो उठी और उसने दूसरे ही दिन क़िले को घेर लिया। जवाहरसिंह खालसा की नाराज़गी से घबरा गया; उसके सैनिकों को बहुत सा इनाम देने के प्रलोभन दिये परन्तु उसने एक न सुनी। लाचार होकर अपनी बहिन की सलाह से बालक महाराज को साथ लेकर खालसा सरदारों की सेवा में हाज़िर हुआ। सैनिकों ने उसे देखते ही बिगुल बजाना शुरू कर दिया और जबरदस्ती उसे हाथी पर कस लिया। सैनिक इतने उत्तेजित थे कि उन्होंने जवाहरसिंह की गोद से महाराजा दलीपसिंह को छीन लिया और उसे संगीनों से छेद डाला और साथ

ही उसके सलाहकार रतनसिंह और भाई जदू को क़त्ल कर दिया। यह घटना २१ सितम्बर १८४५ ई० की है।

महारानी के पास से भी बहुत सी नक़दी और सोना ले लिया और महारानी को रात भर खैमों में रक्खा। वहाँ वह रात भर रोती रही। सवेरे उन्हें उनके भाई जवाहरसिंह की लाश दिखलाई। महारानी अपने भाई की मृत्यु से इतनी दुःखी हुई कि अपने शिर के बाल नोचने और अपने शरीर के कपड़े फाड़ने लग गई। बड़ी मुश्किल से लाश उनसे वापिस ली गई जिसे भस्ती दरवाज़े के बाहर जलाया गया। जवाहरसिंह के साथ उनकी दो रानियाँ और तीन दासी सती हुईं। रानी नित्य प्रति अपने भाई की समाधी पर जाकर रोती थीं। खालसा के सरदारों ने बड़ी प्रार्थनायें और खुशामदें कर के उन्हें प्रसन्न किया और यह तय हुआ कि जवाहरसिंह के हत्यारों को महारानी के सुपुर्द कर दिया जायगा। राजा सुचेतसिंह का मंत्री जवाहरमल जो कि जवाहरसिंह के षड्यंत्र में शामिल था महारानी के सुपुर्द कर दिया गया। तथा कुछ और भी डोंगरे राजदूत पकड़े गये। इन सब को रात के समय शहर छोड़ने की आज्ञा दी गई।

जवाहरसिंह के मारे जाने के पीछे पंजाब में पूरी अशान्ति छा गई। कोई भी सिरधरू न रहा। गुलाबसिंह और तेजसिंह से मंत्री होने के लिए कहा गया। लेकिन उन्होंने खालसा की डर की वजह से नामंजूर किया। उस समय पंजाब की मन्त्रित्व की कुर्सी तप्त तवे के समान थी। मंत्री वही हो सकता था जिसमें खालसा सेना को वश में रखने की शक्ति हो। समस्त पंजाब में उस समय कोई भी माई का लाल मंत्रित्व ग्रहण करने के लिए तैयार नहीं दिखाई देता था। लाचार दशहरे के दिन महारानी Regend of state यानी प्रतिपालक नियुक्त हुई और वे दीवान दीनानाथ, भाई रामसिंह तथा मिश्र लालसिंह आदि के परामर्श से राज-कार्य चलाने लगीं। एक बार महारानी ने मंत्री पद के लिए पांच आदमियों के नाम की चिट्ठी डलवाई। चिट्ठी लालसिंह के नाम की निकली। लेकिन खालसा ने उसे स्वीकार नहीं किया। फिर भी महारानी ने लालसिंह को राजा की उपाधि दी और तेजसिंह को सेनापति बना दिया। लेकिन अन्तिम निर्णय खालसा के हाथ था। अब आगे वह हाल दिया जायगा जिस में सिख साम्राज्य का गृह-कलह के कारण नष्ट होने का चित्र है।

सिख-साम्राज्य और अँग्रेज़

यहाँ हमें अँग्रेजों के पूरे इतिहास पर प्रकाश डालने की आवश्यकता नहीं; किन्तु पाठकों की जानकारी के लिए इतना लिख देना आवश्यक है कि यह यूरोप द्वीप से एक व्यापारी क़ौम १७ वीं सदी के आरम्भ में भारत में व्यापार के इरादे से आई थी; लेकिन मुग़ल-साम्राज्य के क्षय हो जाने के बाद इसने राजनैतिक क्षेत्र में भी पाँव फैलाये और धीरे-धीरे बंगाल, मद्रास और बम्बई के अहातों में अपना

राज्य क़ायम करते हुए इस क़ौम ने देहली तक के प्रान्त हथिया लिए। राज्य प्राप्त करने में इस क़ौम ने व्यापार, दलाली, एजेन्सी, बुद्धिमानी, उदारता, बहादुरी और नीतिमत्ता सभी साधनों को काम में लिया। मुग़ल-पठानों के बाद राजपूत और मराठों का दमन करके भी यह क़ौम निश्चिन्त तथा सन्तुष्ट न थी। उच्चाशयी विचारों के कारण यह क़ौम समस्त भारत पर कब्ज़ा करना चाहती थी। महाराज रणजीत-सिंह के समय में अँग्रेज़ों—कम्पनी के कर्मचारियों की इतनी हिम्मत नहीं हुई कि वे पंजाब पर हाथ डालें। यदि महाराज रणजीतसिंह से अङ्गरेज़ों की ठन जाती तो आज भारत का इतिहास दूसरी ही भाँति लिखा जाता। महाराज रणजीतसिंहजी इस बढ़ते हुए अङ्गरेज-शाही अजगर से शंकित न हों, सो बात नहीं। एक बार जब उन्हें एक अङ्गरेज ने भारतवर्ष का नक़्शा दिखाते हुए लाल रंग की भूमि को अङ्गरेज़ी राज्य बताया तो उन्होंने बड़े अफ़सोस के साथ, दीर्घ निःश्वास छोड़ते हुए कहा था, हा! एक दिन यह सारा लाल हो जावेगा; किन्तु वे भी भीतरी शक्तियों को वश में करने में लगे हुए थे, इसलिए कर क्या सकते थे। उस समय के अँग्रेज अधिकारी भी महाराज की गति-विधि पर पूरा ख्याल रखते थे। वे महाराज के बढ़ते हुए वैभव को देख कर प्रसन्न होते हों सो बात नहीं। ज्यों ही उन्हें पटियाला, नाभा आदि को अपनी ओर मिलते देखा-त्यों ही उन्होंने महाराज को सतलज के पार बढ़ने से रोक दिया; किन्तु नैपोलियन, फ्रान्सीसी तथा रूस के बादशाह के डर ने उन्हें इस बात के लिए बाध्य किया कि वे शीघ्र महाराज रणजीतसिंह से सन्धि करलें। अपनी चतुरता, राजनीतिमत्ता से सन् १८०८ ई० में उन्होंने सिख-साम्राज्य के कर्त्ता-धर्त्ता महाराज रणजीतसिंह को अपना दोस्त बना ही लिया। महाराज जब तक जिन्दा रहे बड़ी इज्ज़त और दृढ़ता के साथ अङ्गरेज़ों ने सन्धि को निभाया। यदि न भी निभाते तो वे कर क्या सकते थे। प्रकृति ने रणजीतसिंह को इसीलिए बनाया था कि उसके विरुद्ध होने वाले को सज़ा भुगतनी पड़े। एक बात यह भी थी कि रणजीतसिंह के भय से किसी भी सरदार जागीरदार की इतनी हिम्मत न होती थी कि वह गृह-कलह का बीज बोदे। भारत का इतिहास इस बात का साक्षी है कि विदेशियों ने ख़ास कर अङ्गरेज़ों ने गृह-कलह से भारत में बड़ा लाभ उठाया है। पंजाब में भी यही हुआ। महाराज रणजीतसिंह के स्वर्ग-वास होते ही गृह-कलह आरम्भ हो गया। महाराज के अयोग्य पुत्र खड्गसिंह के समय में ही षड्यन्त्र रचने आरम्भ हो गए। सब से पहले इन षड्यन्त्रों में डोगरा राजपूत सरदार राजा ध्यानसिंह ने भाग लिया। यह सही है कि खड्गसिंह ने चेतसिंह जैसे निकम्मे और चरित्रहीन व्यक्ति को अपना प्रधान मंत्री बना कर ग़लती की; किन्तु ध्यानसिंह ने जो निराधार अफ़वाह उनके सिखों तथा स्त्री, पुत्रों में फैलाई, यह सर्वथा उसके अयोग्य थी। राजा ध्यानसिंह जिसे महाराज रणजीतसिंह ने नाचीज़ से इतना बड़ा बनाया था, उसने सिख-साम्राज्य की हित-चिन्ता की अपेक्षा अपने मानापमान को अधिक समझा। केवल अपना स्थान और गौरव बनाये रखने के [illegible] कुछ किया। उसने वह कृत्य किए जिन्हें कोई भी राष्ट्र-हितैषी

घृणित कह सकता है। हो सकता है कि नौनिहालसिंह की मृत्यु में उसका हाथ न रहा हो; लेकिन इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि नौनिहालसिंह की मृत्यु के पीछे अवश्य ही उसके हृदय में दग़ाबाज़ी थी। नहीं तो क्या कारण था कि शेरसिंह को वह राज्य दिलाने के लिए उकसाता। सिर्फ इसीलिए कि शेरसिंह के राजा होने पर उनका मन्त्रित्व और गौरव रजिस्टर्ड हो जावेगा। इसके भाई सुचेतसिंह, गुलावसिंह और पुत्र हीरासिंह सभी ने गृह-कलह में भाग लिया। गुलावसिंह ने तो यहाँ तक धृष्टता की कि जम्मू को जो कि महाराज ने इसे सूबेदारी में दिया था, सिख-साम्राज्य से अलग ही करने की चेष्टा की।

कहा जा सकता है कि यह लोग ग़ैर सिक्ख अथवा ग़ैर जाट थे किन्तु सब से बड़ा पाप सिन्धान वालों ने किया। जिन्होंने मंत्रीपद की प्राप्ति के लिए अपने जातीय नरेश और उसके बच्चे (महाराज शेरसिंह और कुं० प्रतापसिंह) को क़त्ल कर दिया।

कुँवर काश्मीरासिंह, पिशौरासिंह, महारानी भिन्दा और उसके भाई खालसा तथा प्रान्तीय शासक सभी ने गृह कलह में आहुति दी। लेकिन यह मानना पड़ेगा कि खालसा ने गृह युद्ध में भाग लिया सही फिर भी महाराज रणजीतसिंह के वंशजों के प्रति उसकी अपूर्व भक्ति रही। खालसा स्वतंत्रता प्रिय दल था। वह यह कदापि वर्दाश्त नहीं कर सकता था कि पंजाब का कोई भी अधिकारी तथा राज परिवारीजन अङ्गरेज़ों के हाथों में पंजाब को सौंपने की कोशिश करें। खालसा को किसी भी व्यक्ति के विरुद्ध भड़काने के लिए इतना कह देना काफ़ी था कि अमुक व्यक्ति अङ्गरेज़ों को पंजाब के शासक बनने में उकसाता है या सहायता देना चाहता है। महाराज खड़गसिंह से लेकर जवाहरसिंह तक सभी के विरुद्ध खालसा को इसी एक कुमंत्र ने कर दिया।

शासन के सूत्रधारों की परस्पर ईर्षा, राज्य परिवार के सदस्यों की अनैक्यता और खालसा की उद्दंडता के समय अङ्गरेज़ भला कब चुप चाप बैठे रह सकते थे। वह तो ऐसे मौक़े की तलाश में थे ही। उन्होंने इस अवसर को हाथ से न जाने देने तथा लाभ उठाने की चेष्टायें आरम्भ कर दीं। पंजाब दरबार के विद्रोहियों को तो वह शरण देने लग ही गए थे किन्तु शेरसिंह के पंजाब नरेश होते ही इन्होंने उन्हें लिखा कि हम उद्दंड खालसा को सबक़ देने के लिए बारह हज़ार सवारों के साथ तैयार हैं। बदले में तुम्हें सतलज के दक्षिण के इलाक़े तथा ४० लाख रुपया देना होगा। किन्तु शेरसिंह ने इस सहायता के लेने से स्पष्ट इनकार कर दिया। लेकिन अङ्गरेज़ निराश होने वाली क़ौम थोड़े ही है। उन्हीं दिनों अफ़ग़ानिस्तान स्थित अङ्गरेज़ एजेन्ट मि० ऐवट ने घोषित किया कि अब से पंजाब से की हुई हमारी सन्धि भंग हो गई है और पेशावर को हम सिक्खों से छीन कर अफ़ग़ानों को देंगें। यह अङ्गरेज़ी मनोवृत्ति की पहिली सूचना थी जिसने एक ही बार में सिक्खों की आँखें खोल दीं। वे भौचक्के हो गए। जिन अङ्गरेज़ों को वह मित्र समझते थे, उन्हीं के एजेन्ट की

ऐसी घोषणा। उन्होंने समझ लिया निकट भविष्य में अङ्गरेज़ उनसे झगड़ा करेंगे
और अवश्य करेंगे।

यद्यपि सिख अँग्रेजों से शंकित रहने लगे थे फिर भी उन्होंने अँग्रेजों की
आपत्ति के समय रक्षा की। दोस्त मुहम्मदखाँ अमीर क़ाबुल के बहादुर शाहज़ादे
अकबरखाँ ने बालाहिसार में रहने वाले अँग्रेज-दूत मकनाटन साहब तथा अनेकों
गोरे सैनिकों को विश्वासघात करके मार डाला। अकबरखाँ से बदला लेने के लिये
अँग्रेजों ने अफ़ग़ानिस्तान पर चढ़ाई की। सहायता के लिये लाहौर दरबार से
प्रार्थना की। महाराज शेरसिंह ने कुछ सैनिक भेज दिये। विजय हो जाने पर
जो कि सिखों की वीरता से हुई थी अँग्रेज जनरल ड्यूक ने लूट के समय
सिख सैनिकों को लूट करने से रोक दिया और अँग्रेजी सेना क़ाबुल को लूटती
रही। इस बात का भी सिखों पर बुरा प्रभाव पड़ा। वे अँग्रेजों की आन्तरिक
भावना को ताड़ गये। साथ ही अँङ्गरेजों के मि० ब्रांडफुट साहब ने१ अपनी सेना
को सिख राज्य में से :अफ़गान लेजाकर अपनी-अँङ्गरेजों की उस प्रतिज्ञा को
तोड़ दिया जो उन्होंने २७ जून सन् १८३८ ई० को (शाहशुजा को क़ाबुल की गद्दी
पर बैठा कर वापिस आते समय) अपनी फ़ौज को सिख राज्य में से ले जाते
समय 'भविष्य में सिख राज्य में होकर अँङ्गरेजी सेना न ले जाने की की थी।'

इन बातों के अलावा अँङ्गरेज़ सन् १८०६ ई० की सन्धि के विरुद्ध भी
आचरण कर रहे थे। उस समय उन्होंने प्रतिज्ञा की थी कि सिख साम्राज्य के
निकट छावनी नहीं बनावेंगे। पर पीछे अँङ्गरेज लोग इस प्रतिज्ञा को भूल गए,
लाहौर के निकट ही लुधियाने में उन्होंने अँङ्गरेज़ी छावनी बनाली। इसके सिवा
नैपाल युद्ध के पश्चात् सबथू में पुलिस रक्षा के बहाने पर एक पल्टन रक्खी—
फ़ीरोज़पुर जो कि एक तरह से सिख साम्राज्य के अन्तर्गत था अँङ्गरेजों ने उसे
अपने राज्य में मिला लिया२। वहाँ पर बारह हज़ार सेना रखते समय अँङ्गरेजों ने
कहा था कि सेना यहाँ केवल एक वर्ष रहेगी, किन्तु एक क्या दो वर्ष पीछे भी सेना
वहाँ से नहीं हटाई और स्थायी छावनी बनवा दी। यही क्यों, अँङ्गरेजों ने सिख-
साम्राज्य के निकट अम्बाले तथा पहाड़ी भूखंडों में भी सैनिक टुकड़ियाँ रख कर

१—ब्रांडफुट ने सिखों के साथ और भी नटखटीपन यह किया कि कार्यवश आगे से
निरस्त्र सिख सेना पर उन्होंने अपने सैनिकों को दौड़ाया और पेशावर पहुँचकर उन्होंने
अटक नदी का पुल खुदवा दिया। इस पर भी सिख शान्त रहे। फिर अफ़ग़ान प्रजा को
ब्रांडफुट सिखों के विरुद्ध उकसाने लगे। यही क्यों, सड़क पर चलते हुए कुछ सिख सिपाहियों
को ही क़ैद कर लिया। २—रणजीतसिंहजी के समय में फ़ीरोज़पुर विधवा तथा निःसन्तान
रानी लछमनकौर के अधीन था। महाराज रणजीतसिंह ने लछमनकौर के राज्य की उस समय
रक्षा की थी जबकि उसे एक राज्य लोभी हड़प लेना चाहता था। इस प्रकार यह सिखों का

छावनी बनादीं। सीमा प्रान्त में ढाई हज़ार से आठ हज़ार (लार्ड आकलैंड के समय में) चौदह हज़ार (लार्ड ऐडनबरा के समय में) और फिर बत्तीस हज़ार (लार्ड हार्डिङ्ग के समय में) फ़ौज बढ़ादी गई। छः तोपों के स्थान पर ६८ तोपें करदी गईं। इसके सिवा मेरठ में तोप और सेना की स्थापना कर दी गई। इतनी तैयारियों के देखने से सम्भवतः सिखों के हृदय में यह आशंका घर कर गई कि अंग्रेज़ यह तैयारी अपनी रक्षा के लिये नहीं किन्तु सिख साम्राज्य के हड़पने के लिए कर रहे हैं[१]।

सिखों की आशंका को बढ़ाने के लिए अंग्रेज़ों की ओर से नित नई घटनायें होती थीं। अफ़ग़ान युद्ध के बाद अंग्रेजो ने बम्बई में सतलज का पुल बाँधने के लिये तैयारी करदी। पुल का सामान ढलने लगा और मुल्तान पर आक्रमण करने के लिये सिन्ध में पाँच सेना इकट्ठी होने लगीं। हालांकि अंग्रेज़ों ने सतलज का पुल बाँधने तथा मुल्तान पर आक्रमण करने की सूचना सिख दरबार को नहीं दी थी तथापि इन तय्यारियों की खबर इतने ज़ोर से फैली कि सिखों को भी इसकी सचाई में खास तौर से पूर्व व्यवहारों के कारण सन्देह न रहा।

अपनी स्वाधीनता के अपहरण होने के भय से जबकि सिख लोग इस प्रकार चिन्तित हो रहे थे उन्हीं दिनों घोर सिख विरोधी और महाक्रोधी तथा अविचारी मि० ब्राडफुट को अंग्रेज़ों ने (१८४३ में) पंजाब में एजेन्ट नियुक्त कर दिया। जिस ब्राडफुट ने दो वर्ष पहिले सिखों के हृदय में अंग्रेज़ों के प्रति आशंका के अंकुर पैदा किये थे उसी को एजेन्ट बना कर भेजना सिख अंग्रेज़ों की भली नीयत का परिचायक न समझने लगे। ब्राडफुट ने भी कार्य्य भार संभालते ही "पटियाला, नाभा आदि सतलज के पार के राज्यों को अंग्रेज़ों के रक्षित बताया और साथ ही यह भी प्रकट किया कि इन राज्यों के अधिकारी महाराज दिलीप की मृत्यु के बाद तथा उनके गद्दी से अलग होने पर अंग्रेज़ों के अधीन हो जावेंगे।" अंग्रेजी सेना की लगातार वृद्धि और अंग्रेज़ कर्मचारियों की बिना बात की छेड़छाड़ भला किस सिख के हृदय में क्रोध उत्पन्न न करती होगी। फिर भी सिख शांत थे। वे सहन-शीलता की हद कर रहे थे। मेजर ब्राडफुट के कमीनेपन की हद यहीं तक नहीं हुई। आपने उन सिख घुड़सवारों के ऊपर भी गोली चलवा दी जोकि पंजाब दरबार की आज्ञा से फ़ीरोज़पुर के पास सतलज को पार करके कटकपुरा नामक (सिख अधीनस्थ) स्थान को छुट्टी पर गये हुये सैनिकों की जगह पर जा रहे थे। सन् १८०९ की सन्धि के अनुसार वे सिख घुड़सवार फ़ीरोज़पुर के पास से सतलज पार कर सकते थे।

१—इन बातों के अलावा सिखों के हृदय में एक बात और भी सन्देह पैदा कर रही थी। वह यह कि कुँ० नौनिहालसिंह के समय में कुछ अंग्रेज़ों ने यह प्रस्ताव किया था कि रणजीतसिंह के पौत्र के मरने के बाद पेशावर को पंजाब से अलग करके अंग्रेज़ों के दोस्त शाहशुजा को दे दिया जावे।

किन्तु ब्राडफुट तो रार मचाने पर ही तुला हुआ था। उन सवारों के नायक ने बड़ी सहन शीलता से काम लिया, वरना उनकी भुजाओं में ब्राडफुट को दंड देने की शक्ति थी[1]।

मि० ब्राडफुट ने संग्राम रचने के साधनों में कोई कसर न छोड़ी। बम्बई में जिन नावों के बनाने की ख़बर पहिले सिखों को मिली थी वे ही नावें साहब ने घमंड के मारे एक बड़ी सेना के साथ फ़ीरोज़पुर की ओर मंगवाई। मानो वह सिखों को युद्ध की चेतावनी देना चाहता था। सिखों ने इन सब घटनाओं को देखकर भी सहन किया किन्तु अंग्रेज़ों के छोटे-छोटे जहाज़ बिना रक्षक के सतलज के जल को चीरते हुए सिख सीमा में चला करते थे। एक जहाज़ तो फिल्लौर क़िले के पास ही जहाँ कि सिखों की गगन-विदारी तोपें मौजूद थीं लंगर डाले बहुत दिनों तक पड़ा रहा। सिखों को चाहिए तो यह था, कि उसे तुरन्त क़िले के पास से हट जाने को कहते, किन्तु उन्होंने तो उनके साथ सद्व्यवहार किया। कनिंघम सरीखे अँग्रेज ऐतिहासिकों ने स्पष्ट लिखा है, कि मेजर ब्राडफुट के एजेन्ट बनने ही के कारण सिख-युद्ध बहुत ही शीघ्र सम्भावित हुआ।

अन्य प्रमाणों की आवश्यकता नहीं। मूलराज के पत्र पाने पर ब्राडफुट ने जो आयोजन किया वह उस जैसे अँग्रेज़ों की इच्छा की कलई खोल देता है। मुल्तान के दीवान मूलराज ने लाहौर दरबार को खिराज देना व उसकी आज्ञा मानना बन्द कर दिया था। इसलिए उसका दिमाग़ ठीक करने को लाहौर से सिख-सेना भेजे जाने की तैयारी होने लगी। उस समय मूलराज ने मि० ब्राडफुट को एक गुप्त चिट्ठी लिखने की कमीनी हरकत की। चिट्ठी का अभिप्राय यही था कि जब सिख-सेना मुल्तान पर चढ़ाई करे तो अँग्रेज उसकी मदद करें। मेजर ब्राडफुट को चाहिए तो यह था कि इस चिट्ठी को वापिस लौटा देते क्योंकि अँग्रेज़ों की सिख-दरबार से मित्रता थी और मूलराज था सिखों का अधीनस्थ शासक। लेकिन ब्राडफुट ने अँग्रेज कर्मचारियों को समझाया कि बहुत संभव है सिख सेना अँग्रेज़ी साम्राज्य पर भी हमला करने की हिम्मत करे। इसलिए हमें अभी से सावधान हो जाना चाहिए और सिन्ध विजेता मि० नैपियर को चिट्ठी लिख दी कि वह मूलराज की सहायता करे।

मि० नैपियर ब्राडफुट का भी चाचा निकला। सन् १८४५ की गर्मियों में कुछ सिख-सवार डाकुओं का पीछा करते हुए सिन्ध प्रदेश की सीमा तक पहुँच गये। तब तक सिन्ध प्रदेश और पंजाब के मध्य अँगरेज़ी राज्य और सिख-राज्य की

१—कुछ ऐतिहासिकों का मत है कि अंग्रेज़ सरकार इस झगड़ीले एजेन्ट की कार्यवाहियों से प्रसन्न न थी। लेकिन उसे रोका न गया। यह भूल अंग्रेज़ सरकार की भीतरी इच्छाओं पर दूसरा प्रभाव डालती है।

सरहद मुकर्रर न हुई थी। किन्तु फिर भी नैपियर ने यह दुहाई देकर कि सिख अँगरेज़ी सीमा में घुस आए हैं उन सवारों के पीछे अपनी फ़ौज दौड़ाई। आगे चल कर वह खुल्लम खुल्ला कहने लगा कि अब पंजाब पर हमला करना अँगरेज़ों के लिए बहुत जरूरी हो गया है। इन दोनों अँगरेज़ों के कृत्यों ने सिखों के हृदय में 'युद्ध होगा' की ध्वनि व्याप्त कर दी। इसके अतिरिक्त तत्कालीन अँगरेज़ी समाचार पत्र 'सिख युद्ध निकट भविष्य में होगा' की खबरें और टिप्पणियाँ प्रति सप्ताह देकर सिखों के हृदय में उथल-पुथल कर रहे थे। उन्हीं दिनों ब्राडफुट ने एक अन्याय पूर्ण कृत्य और कर डाला। उसने लुधियाने के पास के दो सिख प्रदेशों को अँगरेज़ी राज्य में मिला लिया। इस अन्धा धुन्धी का कारण बताया कि इन स्थानों में अँगरेज़ी राज्य के अपराधी जाकर छिप जाते हैं। यदि यह बहाना सच भी हो तो भी सन्धि-पत्र के विरुद्ध था। मित्र राष्ट्रों में ऐसे अपराधियों को पकड़ने के लिए जो साधन काम में लाये जाते हैं वही यहाँ भी लाने चाहिये थे। स्वाधीन सिख-राष्ट्र के साथ एक अदना अँगरेज़ कर्मचारी ने जो धृष्टता की थी, अँगरेज़ सरकार को चाहिए था कि वह उसका प्रतिकार करती—उन प्रदेशों को लौटा देती। किन्तु यह कुछ भी न हुआ। अब सिखों को सोलहों आना विश्वास हो गया कि इसी भाँति सारे सिख-साम्राज्य को अँगरेज़ हड़प लेंगे। सिखों की भुजा दुर्बल न थी। अस्त्रों में भी मोरचा न लगा था। केवल सन्धि मात्र के लिहाज से वे इतने दिनों से सभी प्रकार की अँगरेज़ों द्वारा घटित कुचेष्टाओं को बर्दाश्त कर रहे थे। सहनशीलता की भी हद होती है।

इन सब घटनाओं को देखकर सिक्खों का ख़ून उबल उठा। उधर सिक्ख-साम्राज्य में देश-द्रोहियों की कमी न थी। उनकी इच्छा थी कि सिक्ख सेना शक्ति-हीन हो जाये, कारण कि सिक्ख-साम्राज्य की बागडोर सिक्ख-सेना-खालसा के अधिकार में थी। खालसा जिसे चाहता उसे मंत्री बना देता था। मंत्री लोग निरंकुशता चाहते थे। स्वयं महारानी जिन्दा भी खालसा से भयभीत थीं। खजाना खाली था। सैनिकों को वेतन भी समय पर न मिल रहा था। कोई-कोई सिक्ख सरदार कहते थे कि हमें शेरसिंह के लड़के को गद्दी पर बिठाना पड़ेगा। इन्हीं कारणों से पंजाब के मंत्री और महारानी चाहते थे कि खालसा का ध्यान दूसरी ओर बट जाय। निदान यही उचित समझा गया कि अङ्गरेज़ों से खालसा को भिड़ाया जाय। खालसा के सरदार इतने मूर्ख न थे कि वे योंही किसी के बहकाने में आ जाते किन्तु अङ्गरेज़ों के कृत्य उन्हें पहिले से ही उत्तेजित कर रहे थे। वे महाराज रणजीतसिंह की संचित की हुई जाटशाही अथवा सिक्ख-साम्राज्य को सहज में ही नष्ट नहीं होने देना चाहते थे। चूँकि गोला बारूद की कमी थी इसलिए लड़ाई कुछ दिनों के लिए टलती रही। लाहौर से हटाकर दरबार अमृतसर में होने लगा। राम बाग के राजभवन से राजकीय-सूचनायें प्रकाशित होती रहती थीं। सन् १८४५ के नौम्बर में दरबार फिर लाहौर आ गया और उसके अधिवेशन शालामार बाग

में होने लगे। खालसा को उत्तेजित करने के लिए अङ्गरेजों के विरुद्ध कुछ भू
अफ़वायें भी उड़ाई जाने लगीं। कभी कहा जाता अङ्गरेज़ सेना सतलज के दक्षि
पूर्व की ओर बढ़ रही है। कभी उन प्रान्तों के सिक्ख शासकों की नक़ली चिट्ठिय
दिखाई जातीं। यह सब प्रचार इस ढंग से किया जाता था कि सिक्ख-सेना का ख़ू
उबल पड़े। लाहौर अङ्गरेज़ों के आने के भय से सशंकित हो गया। घरू शत्रुओं
की ओर से भी वही किया जा रहा था जिसे अँग्रेज़ चाहते थे। अङ्गरेज़ों ने यदि
युद्ध के लिए आग जलाई थी तो घरू दुश्मनों—लालसिंह, तेजसिंह जैसे नमक हरा-
मियों ने उसमें आहुति दीं।

नौम्बर सन् १८४५ में लालसिंह ने खालसा सरदारों तथा समस्त सिक्ख पंचायतों का एक संयुक्त अधिवेशन किया। शालामार बाग़ में यह ऐतिहासिक अधिवेशन किया गया था। आरम्भ में दीवान दीनानाथ ने एक चिट्ठी पढ़कर सुनाई जिसमें लिखा था कि सतलज पार के इलाक़ों में अङ्गरेज़ों ने अपनी हुकूमत क़ायम करली है। वे सिक्ख प्रजा से कर माँगते हैं और उसे तंग करते हैं। काश्मीर और पेशावर के शासक बाग़ी हो गए हैं। वहाँ से राजस्व-कर के नाम पर एक कौड़ी भी नहीं मिली है। समस्त सिक्ख-साम्राज्य में अराजकता का बोलबाला है। आपके महाराज बालक हैं। सिख-जाति अपने कर्तव्य को स्वयम् पहँचानती है। आज सिख-साम्राज्य के ऊपर आपत्ति के काले बादल मँड़रा रहे हैं। इस लम्बी स्पीच के बाद दीनानाथ ने महारानी जिन्दा, मंत्री लालसिंह, सेनापति तेजसिंह का प्रस्ताव रखते हुये कहा कि—"हे सिख वीरो! विदेशियों द्वारा पंजाब का पवित्र सिख-राज्य क्रमशः लुट रहा है। अब तुम क्या करना चाहते हो?" इस पर सिख-सेना के महावीर वीरों ने उत्तर दिया—"हम हृदय का रक्त बहा कर, मातृ-भूमि की स्वाधीनता अटल रक्खेंगे।"

जब कि सिख-सेना में ऐसी प्रबल युद्धाग्नि जल रही थी, उसी समय गवर्नर जनरल ने अँग्रेज़ी राज्य की सीमा पर जहाँ से कि सिख राज्य निकट ही था, दल-बल सहित डेरे आ जमाये। बस, फिर क्या था, सिखों ने समझ लिया कि अब देर करना अपने लिये हानिकर होगा। युद्ध के लिए तैयारी होने लगी। लाहौर युद्ध की प्रतिध्वनि से गूँज उठा। सिख लोग महाराज रणजीतसिंहजी की समाधि पर इकट्ठे हुए। खालसा के समस्त सरदारों और पंचों ने ग्रन्थसाहब तथा अन्य धार्मिक ग्रन्थों को छू कर शपथ ली कि हम महाराज दिलीपसिंह के राज-भक्त रहेंगे और युद्ध में लालसिंह तथा तेजसिंह की आज्ञा पालन करेंगे।

सन् १८४५ ई० की १७ वीं नौम्बर को सिख दरबार की ओर से निम्न-लिखित चार कारणों का हवाला देकर अँग्रेजों के प्रति युद्ध की घोषणा कर दी गई—(१) अँगरेज़ों ने अपने सेनादल को पहिले सतलज की ओर बढ़ाया है और लड़ाई करने की तैयारी की है। (२) फ़ीरोज़पुर के अँगरेज़ी खज़ाने में राजा सुचेतसिंह का अठारह लाख रुपया जमा है, उसे दरबार के माँगने पर अँगरेज़

कर्मचारियों ने देने से इनकार कर दिया है। (३) मृत राजा सुचेतसिंह की सम्पत्ति पर लाहौर दरबार का स्वत्व है। (४) सतलज के दक्षिण खालसा के अधीन जो स्थान हैं, उन स्थानों में बृटिश गवर्नमैण्ट ने सिख-सेना को आने-जाने से रोक दिया है।

चेलैंज दे दिया गया। दोनों ओर से लड़ाई की तैयारी होने लगी। फ्रान्सीसी नैपोलियन को क़ैद कर लेने, भारतीय मरहठों को मटियामेट कर देने, राजपूती-रज्जु का बल निकाल देने के पश्चात् अँगरेज़ सैनिक और सेनापतियों का दिमाग़ आस्मान पर चढ़ा हुआ था। उनसे पठान काँपते थे, गोरखे पानी भरते थे और बिलोच बलैयाँ लेते थे। अब बाक़ी थे तो केवल गुरु के लाड़ले, रणजीत के बहादुर जाट, जननी के सपूत और खालसा के वीर सिपाही सिख। अँगरेज़ सिख-सैनिकों के बल को नापना चाहते थे। उनके दिल में बहुत दिनों से ख़्वाहिश थी। ये मौक़े की तलाश में थे। देश-द्रोहियों की कृपा से उन्हें मौक़ा भी शीघ्र ही मिल गया। इधर सिख-वीरों के मन में भी अँगरेज़ों से दो-दो हाथ कर लेने की लगी हुई थी, क्योंकि उनकी भुजाओं में भी वह बल था जिससे राजपूत उनके नरेश पर चँवर करते थे, गोरखा गुफ़ाओं में गुज़र करते थे और पठान माँगते थे पनाह (शरण)। उन्हें अँग्रेज़ों से तनिक भी भय न था, चूँकि उन्हें मालूम था, भरतपुर में उनके थोड़े से ही भाइयों ने उनको नाक चने चबा दिये थे; किन्तु सिख जाटों को—ख़ालसा को यह कब मालूम था कि भरतपुर की भाँति गृह-कलह उन्हें भी नीचा दिखाना चाहता है।

युद्ध

१८४५ की १७ वीं नौम्बर को युद्ध की घोषणा हुई थी और ११ वीं दिसम्बर को सिख-सेना सतलज के पार उतर आई। सतलज पार आने के पश्चात् १६ वीं दिसम्बर को अँगरेज़ों को अपने आगमन की सूचना दी। अँगरेज़ पहिले से ही सावधान थे। वेलिंगटन के ड्यूक विलायत से पहिले ही भारत आ चुके थे। ड्यूक ने नैपोलियन को जीता था, इससे उनका सम्मान तथा दिमाग़ बहुत बढ़ा हुआ था। अँगरेज़ों की भारत-स्थिति सेना के जनरल सेनापति मि० गफ ने इस युद्ध का भार ड्यूक के सुपुर्द कर दिया। अँगरेज़ों ने भी सिखों की घोषणा का उत्तर घोषणा द्वारा ही दिया। कारण चाहे जो रहे हों किन्तु उन्होंने कलंक के भागी सिखों को ही ठहराया। उनकी घोषणा का भाव इस प्रकार था—"सिख सेना ने बिना कारण अँगरेज़ी राज्य पर हमला किया है। इसलिए बृटिश राज्य का सम्मान अटल रखने के लिए सन्धि-भंग करने वालों को उचित शिक्षा देनी पड़ती है। अब से सतलज के बाईं ओर के प्रदेश जो महाराज दलीपसिंह के आधीन हैं, बृटिश-राज्य में सम्मिलित समझे जावेंगे।" अँगरेज़ों ने केवल घोषणा ही सिखों से पीछे प्रचारित की थी। युद्ध की तैयारी तो पहिले से ही कर रक्खी थी। अम्बाले से सतलज तक ३२४७९ सैनिक पहिले से ही उपस्थित थे। सिक्ख-दरबार की समस्त ख़बरें उन्हें प्रति-क्षण मालूम होती ही रहती थीं।

ज्योंही उन्होंने सुना कि सिक्ख फ़ौजें लाहौर से चल पड़ीं हैं त्योंही अम्बाला, लुधियाना और फ़ीरोजपुर के अङ्गरेज़ों ने अपनी-अपनी सेनायें रवाना करदीं। कहा जाता है अंग्रेज़ों की सेना में सत्तरह हज़ार सैनिक और ६६ तोपें थीं। अंग्रेज़ इतिहास-वेत्ताओं ने सिक्ख-सेना की संख्या २५, २६ हज़ार और किसी-किसी ने ३० हज़ार तक लिखी है। किन्तु मि० कनिंघम ने अपने इतिहास में लिखा है कि शत्रु की सेना को अपने से अधिक बताने में लड़ने वाले अपनी प्रशंसा समझते हैं।

सेना चाहे सिक्खों की अंग्रेज़ी सेना से अधिक रही हो या बराबर, किन्तु इसमें सन्देह नहीं, उन्होंने अंग्रेज़ों की सारी शेख़ी को धूल में मिला दिया था। कारण कि वे इस समय भारी उत्साह में थे। प्रत्येक सिक्ख इस युद्ध को अपनी स्वाधीनता का युद्ध समझता था। वह अपनी माँ की आन के लिए अपना जीवन अर्पण करना चाहते थे। खालसा सेना के सैनिकों ने इस समय अपने व्यक्तिगत मान-अपमान को झुका दिया था। वे प्रसन्नता पूर्वक छोटे-बड़े सभी कामों को खुद अपने आप करते थे। घोड़ों के बदले उन्होंने स्वयम् ही तोपें खींची थीं। कुलियों के अभाव में गाड़ियों पर अपने हाथ से रसद का सामान लादा था। नावों पर अपने ही आप सामान लादा था और अपने ही आप उसे उतारा था। प्रत्येक कार्य्य को विना किसी की आज्ञा की बाट देखे वे स्वयम् करते थे।

उत्साह और देश-प्रेम से इस भांति मतवाली खालसा-सेना को भी अङ्गरेज़ उपेक्षा की दृष्टि से देख रहे थे। यद्यपि अफ़ग़ान युद्ध में उन्होंने सिखों का युद्ध-कुशल अद्भुत साहस देख लिया था पर ख़ुद उन्हें कभी सिखों के भुजबल का सामना नहीं करना पड़ा था। अङ्गरेज़ समझते थे कि सिख घमंडी हैं। वे इतने वीर नहीं है कि युद्ध क्षेत्र में हमारे सामने ठहर सकें। हमारी सेना के थोड़े से ही हिन्दुस्तानी सिपाही तथा गोरे उन्हें मार भगावेंगे। साथ ही अङ्गरेज़ों को पता था कि खालसा-सेना सेनापति विहीन है। उसके संचालक हमारा साथ देंगे। इसलिए अङ्गरेज़ों ने उन पर्वत-विदारी सिक्ख महावीरों का सामना करने को खिलवाड़ समझकर केवल १७ हजार सैनिक और ६६ तोपें लेकर युद्ध-भूमि में पदार्पण कर दिया था। अंगरेज़ कहते थे कि हम देखते ही देखते हिन्दुस्तानी भेड़ों को भगा देंगे। केवल सेना सहित एक बार उनको आकाश-हिलाने वाली बृटिश तोपों की गर्जन सुनानी है। गोरे लोगों के लाल चेहरे देखते ही सिखों की अक्ल ठिकाने आ जायगी। उनकी सेना के हमारे थोड़े से सिपाही धुर्रे उड़ा देंगे।

किन्तु रण-भेरी बजते ही सेनापति वेलिंगटन के ड्यूक को विलक्षण अनुभव हुआ। वह अचकचा कर देखने लगा कि भारत उनको केवल-कल्पित भावनाओं के विरुद्ध सच्चे सिंहों की जन्म-भूमि है। प्रत्येक सिर, नेपोलियन की प्रति-मूर्ति है और अनन्त वीरता के साथ मातृ भूमि के लिए हृदय का रक्त बहाने का अति

पवित्र उछाह इन कालों की नस-नस में घुसा हुआ है। बेचारे अपनी पूर्व संचित प्रतिष्ठा को बनाये रखने के लिए ईश्वर को याद करने लगे।

खालसा वीरों की वीरता और उत्साह में कुछ भी कसर न थी। कसर थी तो उनके कमीने और पाजी सेनापतियों की थी। जाटशाही अथवा सिख-साम्राज्य की रक्षा के लिए सिख सैनिक सर्वस्व गवाने को उद्यत थे। किन्तु उनके सेनापति लालसिंह और तेजसिंह का उद्देश्य तो उन्हें अँग्रेज़ सेना से पिटवा कर सीधा करने का था। वे कब चाहते थे कि खालसा के वीर सैनिकों की विजय हो, पंजाब का गौरव रहे। वे अँग्रेजों की सहायता से पंजाब पर शासन करने के इच्छुक थे। दुख है राज माता जिन्दा भी इन कुचक्रियों के षडयंत्र में फंसी हुई थीं। लालसिंह और तेजसिंह आदि हज़ार अयोग्य होते हुए भी पंजाब में उच्च स्थान प्राप्त करना चाहते थे। पंजाब की रक्षा के लिए लड़कर नहीं केवल खालसा को तबाह करके। क्योंकि प्रचंड खालसा सेना की महिमा प्रेरित स्वदेश हितैषिता से उनका अभीष्ट सिद्ध नहीं होता था। अपनी कल्पित इच्छा को पूरी करने के लिए महाराज रणजीतसिंह के राज्य की नींव-रूपी इस संसार प्रसिद्ध सेना को नीचा दिखाने में यह दुष्ट तनक न चूके। जितने दिन इतिहास रहेगा, जितने दिन मनुष्यों में मनुष्यता रहेगी, उस अनंतकाल तक इन मनुष्य-चर्म-युक्त सर्पों की घृणा होती रहेगी। इन्हीं की साजिश से महाराज रणजीतसिंह के अपरिमिति बलवीर्य से संचय किया हुआ विशाल जाट-साम्राज्य जोकि संसार के नेत्रों को अपनी ओर आकर्षित करने वाला था मिट्टी में मिल गया। गुरू के बांके वीर सब कुछ बलिदान करके भी उसकी रक्षा न कर सके।

सिख सैनिक जिस उत्साह से इस युद्ध में सम्मिलित हुए थे उनके प्रति उतना ही विश्वासघात का परिचय उनके सेनापतियों ने दिया था। सिख सेना के सतलज़ के इस पार आते ही सेनापति लालसिंह ने अँगरेज़ एजन्ट मि० निकलसन को एक गुप्त पत्र लिखा—"आप जानते होंगे मैं अंगरेजों का मित्र हूँ। मैं सिख सेना समेत सतलज पार उतर आया हूँ। अब कहिये मुझे क्या करना चाहिये ?" इसका उत्तर निकलसन साहब ने यह दिया—"यदि आप अंगरेज़ों के मित्र हैं तो फीरोजपुर पर आक्रमण मत कीजियेगा। जितने दिन की देरी हो सके उतनी देरी कीजिये और जैसे बने वैसे अपनी सेना को गवर्नर जनरल के सामने ले जाइयेगा।" लालसिंह ने ग़ुलाम की भाँति इस आज्ञा को माना। फीरोजपुर बच गया। उस समय फीरोजपुर में केवल आठ हज़ार सेना थी। लालसिंह तथा तेजसिंह ये दोनों ही यदि एक मते से अंगरेजी हित के लिये सिखों का अनिष्ट कराने पर तुले न होते और सिख सेना को फीरोजपुर पर आक्रमण करने की आज्ञा दे देते तो बिना विलम्ब अनायास ही फीरोजपुर के धुर्रे उड़ जाते। फीरोजपुरी फौज का सर्वनाश होने से तथा लुधियाने और अम्बाले पर एक ही समय में आक्रमण करने से विजय-लक्ष्मी निसन्देह सिखों के पक्ष में होती। किन्तु इन सेनापतियों का अभिप्राय

तो अंगरेजी-सेना-ज्वाला से खालसा-सेना को भस्म करा देना था। सिख-सेना आक्रमण करने के लिए सेनापतियों से बार बार आज्ञा प्रदान के लिये आग्रह करती थी। किन्तु उसके कलंकी सेनापति केवल उसकी सामयिक प्रसन्नता के लिये कहते रहे—"हम अंगरेजों के प्रधान सेनापति से लड़ना चाहते हैं। किसी दूसरे से लड़ना अपनी बेइज्जती मानते हैं। यदि तुमने गवर्नर जनरल को पकड़ लिया या मार डाला तो इससे तुम्हारे खालसा की कीर्ति विश्वव्याप्त हो जावेगी।" बेचारे भोले सिख-सैनिक उनके झाँसे में आ गए। अंगरेज ऐतिहासिक सर चार्लस नैपियर की "चिट्ठी-पत्री" से मालूम होता है कि विश्वासघाती लालसिंह सिख सेना को फीरोजपुर के आक्रमण से न रोकता और उसके बाद ही आठ हज़ार सेना मात्र से रक्षित गवर्नर जनरल हार्डिङ्ग पर हमला कर देता तो अवश्य ही अंगरेज हारते१।" लाडलो साहब के इतिहास से भी मालूम होता है कि इन दोनों आक्रमणों के हो जाने के बाद सिख सेनापतियों के हज़ार विश्वासघात करने पर भी अंगरेज़ लोग अपने सर्वनाश से कदापि अपनी रक्षा न कर सकते२। एक और ऐतिहासकार ने लिखा है—यदि इस समय रण-कौशली रणजीतसिंह जीवित होते तो सतलज पार करके अंगरेज़ी प्रदेशों में लूट-मार मचा देते। इसी हेतु से अंगरेजों को सन्धि के लिए छटपटाना पड़ता। मकग्रेगर साहब ने सिखों के इतिहास में लिखा है—यदि लालसिंह सिख सेना को एक स्थान में आबद्ध न रख कर इधर-उधर फैला देता तो उस दशा में भी इस लड़ाई के शान्त होने में बड़ी देर लगती। किन्तु लालसिंह ऐसा कृत्य करने ही क्यों लगा जिसमें खालसा की मान-मर्यादा रह जाती और भारतीय-युद्ध वीरों के उज्वल कीर्ति में बट्टा न लगता! स्वार्थी लोग भी भला कहीं सार्वजनिक हित की कामना किया करते हैं?

निदान सन् १८४५ ई० की १८वीं दिसम्बर को दो महावीर जातियों—सिख, अँगरेजों का युद्ध छिड़ गया। इतिहास प्रसिद्ध होने के लिए मुदकी के मैदान को रक्त-रञ्जित होने का अवकाश मिला। प्रायः ११ हज़ार अँगरेज़ी सेना के मुक़ाबिले में २ हज़ार सवार और ८-६ सौ पैदल सिख सिपाहियों को भिड़ा कर लालसिंह ने विश्वासघात करना आरम्भ कर दिया, अर्थात् सैन्य-संचालन कर्म को छोड़ दिया। फिर भी सिख वीर "सत श्री अकाल" "वाह गुरुजी का खालसा" और "वाह गुरुजी की फतह" से आकाश को गुञ्जारते हुए मातृ-भूमि की रक्षा के लिए अँगरेज़ों पर अग्नि-वर्षा करने लगे। चतुर अँगरेज़ सेनापतियों द्वारा संचालित अँगरेज़ सेना ने भी बड़ी तैयारी के साथ मोरचा लिया। मुग़ल, पठान, मरहठे, यहाँ तक कि यूरोप के दुर्द्धर्ष वीर फ्रान्सीसियों को सिंह-विक्रमी अँगरेज़ों का लोहा मानना पड़ा था; किन्तु आज उन्हीं के मुक़ाबिले में सिखों ने वह भीम-विक्रम दिखाया कि अँगरेज़ों के प्रधान सेनापति गफ़ बहादुर अकचका कर देखने लगे

1—(Sir Charles Napiors Correspondance vol IV P. 669)
2—(History of British India. vol II P. 142)

कि सिख सेना में सेनापति नहीं है, केवल लड़ाके सैनिक अड़े हुए हैं। लड़ाई की आज्ञा देने वाला और समय-समय पर पैंतरे बदलने का संकेत करने वाला नहीं है, फिर भी सिपाही मर मिटना चाहते हैं। वे इस भयङ्करता से युद्ध करते हैं कि प्रत्येक आक्रमण में अँगरेज़ी सेना के दिल दहला देते हैं और अँगरेज़ सैनिकों को पीछे भाग-भाग कर जान बचानी पड़ती है। अँगरेज़ सिपाहियों को पुनः पुनः युद्ध-स्थल में उपस्थित करने में अङ्गरेज़ सेना-नायकों को बड़ी-बड़ी दिक़्क़तें झेलनी पड़ती हैं। सिखों की अपूर्व स्फूर्त्ति से अँगरेज़ सैनिक मोहित हो गये। कहा तो यहाँ तक जाता है कि उनमें सिखों की मारकाट से इतनी घबराहट पैदा हुई कि वे आपस में ही अपने साथियों पर घबराहट से गोली चलाने लग गये। इस गड़बड़-झाले से बचने के लिए अँगरेज़ सेनापतियों को आज्ञा देनी पड़ी कि अँगरेज़ी सेना संगीन तान कर सिख सेना पर हमला कर दे। अँगरेज़ी सेना ने प्रचण्ड वेग के साथ संगीन तान कर सिखों पर आक्रमण किया। इस समय सिख क्या करते, इस कर्त्तव्य को उनका सेनापति ही बता सकता था; किन्तु हरामी सेनापति तो सब से पीछे आराम कर रहा था। फिर भी वीर सिख सैनिक भागे नहीं। अस्वाभाविक वीरतापूर्ण धीरता से अँगरेज़ी सेना के सम्मुख अपनी छाती तान कर क्रमशः (बचाव के लिए) पीछे हटने लगे। इस संकट-जाल में भी वे तितर-बितर न हुए। ढाई कोस तक व्यूह के ज्यों के त्यों रूप में पीछे हटे। यही क्यों, पद-पद पर अपनी प्रचण्ड वीरता की अग्नि का अँगरेज़ों को अनुभव कराया। सभी देशों के इतिहास में यह अपूर्व घटना है कि सेनापति-हीन सेना ने इस भाँति शत्रु का सामना किया हो। आखिर रात्रि हो गई और उस दिन का युद्ध खतम हुआ। आज के युद्ध में ८७२ आदमियों को बलि चढ़ा कर अँगरेज़ों ने सिखों की १७ तोपों पर क़ब्ज़ा किया। प्रसिद्ध अँगरेज़ वीर सर राबर्टसेल और सेनापति कसकिल सिखों की कृपाण की धार से सदा के लिए मैदान में सो गये। सिखों की हानि अँगरेज़ों से बहुत थोड़ी हुई। अँगरेज़ अभिमान पूर्वक नहीं कह सकते थे कि मुदकी के मैदान में उनकी विजय हुई। उस दिन रात में अँगरेज़ों ने यह काम किया कि कुल सेना को लिटलर साहब की सेना में मिला दिया।

अँगरेज़ों को भारत में अनेक युद्ध करने पड़े थे। सभी युद्धों में शत्रुओं के व्यवहार की जो उनके साथ हुआ घोर निन्दा की है। सिराजुद्दौला की कालकोठरी के सम्बन्ध में तो उन्होंने सदैव के लिए उसकी यादगार अमिट कर दी है। उन्हीं अँगरेज़ों को अपने सिख शत्रुओं के व्यवहार की जो उनके साथ युद्ध में सिखों की ओर से हुआ था मुक्त कण्ठ से प्रशंसा करनी पड़ी है। एक दो घटना अँगरेज़ इतिहासकारों की क़लम से लिखी हुई हम भी यहाँ उद्धृत करते हैं—

लेफ़्टिनेण्ट बिडलफ़ गोरा अफ़सर को मुदकी युद्ध में सिख सैनिकों ने गिरफ़्तार कर लिया। जब उसे नायक के सामने पेश किया गया तो उसने बिडलफ़ की उदारता पूर्वक बेड़ियाँ कटवा दीं और हँसते-हँसते यह कह कर छोड़ दिया

कि "शत्रुओं से हम यहाँ बदला नहीं लिया करते हैं। आप अपनी सेना में विना बखेड़े पहुँच कर लड़ने के लिए तैयार हो जाइये। युद्ध क्षेत्र में बदला लिया जायगा।" एक सिख सिपाही अफसर की आज्ञा से उसे अपने दल से पाँच कोस की दूरी पर जाकर छोड़ आया। सिखों के ऐसे उदार व्यवहार से लार्ड हार्डिङ्ग पर इतना प्रभाव पड़ा कि उन्होंने विडलफ़ को फिर सिखों के विरुद्ध लड़ाई में नहीं जाने दिया। मुदकी की लड़ाई के बाद एक वार और कुछ अँगरेज सैनिक रास्ता भूल कर सिखों की छावनी में जा पहुँचे। उनके साथ भी सिखों ने सद्-व्यवहार ही किया। यहीं तक नहीं किन्तु उन्हें राह खर्च के लिए एक एक रुपया भी दे दिया। वे सिखों की प्रशंसा करते हुए अपने दल में जा पहुँचे। दलित शत्रुओं के साथ भी ऐसा सुन्दर व्यवहार किसी अन्य जाति के इतिहास में शायद ही मिले।

फीरोजपुर में लिटलर की अध्यक्षता में आठ हजार सेना थी। वह युद्ध के लिए तैयार होकर आ रही थी। २१ दिसम्बर को मि० गफ़ ने अपनी सेना को उसी सेना में मिला दिया। इस तरह अब अँगरेजी सेना की संख्या १८ हजार होगई। इस सेना के साथ ६५ तोपें थीं। इस प्रकार विराट आयोजन कर के अँगरेजी सेना फिरोज शहर पर आक्रमण करने को चली। इस युद्ध के लिए कितनी प्रवल तैयारी की गई थी उसका पता इस बात से चल जाता है कि समस्त अँगरेजी भारत के शासनकर्ता लार्ड हार्डिंग खुद भी अपने ऊँचे पद की परवा न करके लड़ने को तयार हुए और अपनी सेनायें मि० गफ़ को समर्पित करके उनके नीचे सेनाध्यक्ष बन गये। यह भी अँगरेजी इतिहास में (भारत में) नई बात थी जिसे लार्ड हार्डिंग ने अपनी सेना का उत्साह बढ़ाने की गर्ज से घटित किया था।

मुदकी के पश्चात फिरोज शहर में रणचंडी का ताण्डव नृत्य हुआ। सिख वीर भी अदम्य उत्साह से इस युद्ध में सम्मिलित हुए। विजय प्राप्त करना अथवा समर क्षेत्र में रणचंडी को प्रसन्न करने के लिए आत्मबलि देना, उनका उद्देश्य था। इसलिए उन्होंने कठिन व्यूह की रचना की। अँग्रेजी सेना पहाड़ सदृश सिख व्यूह पर टूट पड़ी। जिस अग्नि वर्षा को करती हुई वृटानियां की वीर संतान सिखों के ऊपर झपटने लगी उस समय का दृश्य बड़ा ही भयानक था। किन्तु बार बार धावा करने पर सर्वग्रासी अंगरेजी-सेना सिखों का बाल भी न उखाड़ सकी। अंगरेजी-सेना ने जितनी बार हमले किये उसे हानि उठानी पड़ी। अँगरेजों को इससे पहिले कभी भी किसी एशियाई लड़ाई में इतना वेइज्जत नहीं होना पड़ा था। सिखों की अग्नि वर्षा से अँगरेजों की तोपें नष्ट होने लगीं। रसद से भरी हुई गाड़ियाँ ध्वंश करदी गईं। बारूद के ढेर में तोप के गोले से आग लगा कर सिखों ने अँगरेजी सेना में हाहा-कार मचवा दिया। फिर भी अँगरेजी सेना इस विपत्ति से तनक भी विचलित नहीं हुई। उसने रणक्षेत्र से पीठ न दिखाई। अँगरेजों ने पीठ न दिखाई पर सिखों के

अनन्त भुजबल से उनकी स्वाभाविक धीरता तथा वृटिश सेनाओं की जगत प्रसिद्ध सुदृढ़ शृंखला में इतना बट्टा लगा कि शायद ही किसी और लड़ाई में भारत-विजयी अँगरेज़ों को इतनी विपत्ति झेलनी पड़ी होगी। सिपाही, अफ़सर, घुड़सवार, पैदल, कुली, गोलन्दाज सब निज-निज स्थान से विचलित होकर घिर गए। गोलियाँ चलाई जाती हैं पर छोड़ने वालों को पता नहीं है किधर किन पर चला रहे हैं? गोले दगते हैं किन्तु गोलन्दाजों की शत्रु-सेना की ओर लक्ष्य करने की शक्ति हर गई है। अफ़सर लोग इधर-उधर फिरते तो हैं किन्तु हानि अपनी हो रही है अथवा शत्रु की इसे तत्काल जान लेने की बुद्धि निकम्मी हो गई है। सेनापति हुक्म देना चाहता है पर हुक्म किसे दें, किससे वह तामील हो, इसी विचार में उनके माथे से पसीना टपक रहा है। इसी घबराहट के कुअवसर में रात्रि आई। किन्तु सिखों से इस रात्रि के अन्धकार में भी निस्तार नहीं। सिख लड़ना और लड़के मरना ही जानते हैं। लड़ाई के आरंभ से खेत में सो जाने तक थकावट उन्हें क्यों आने लगी? खालसा सेना ने थकावट की शिक्षा कभी पाई ही नहीं थी। रात्रि का अन्धकार उनकी तोपों से निकली हुई अग्नि-शिखा से दूर हो रहा था। रात्रि के आते-आते ही अँगरेज़ी व्यूह का बाँया भाग बिगाड़ कर मि० लिटलर को अपनी अधीन सेना समेत भागना पड़ा[1]। बालस साहब की दो पल्टेनों ने गिलबर्ट की सेना के व्यूह के दक्षिण भाग में जाकर प्राण बचाए। इसी व्यूह भाग में मि० गफ और जनरल हार्डिंग युद्ध-कौशल को देख रहे थे। लार्ड हार्डिंग को अपनी सेना की इस कुदशा पर बड़ा क्षोभ हुआ। उन्होंने अपने हाथ की घड़ी और तमगे अपने पुत्र को देकर प्रतिज्ञा की कि या तो प्राण देंगे या अँगरेज़ों की प्रतिष्ठा रखेंगे। वे सामान्य सिपाही की भाँति सेना में घूमने लगे। जहाँ कहीं दुर्बलता दिखाई देती थी वहाँ लाट साहब दौड़ कर पहुँचते थे। एक सिक्ख-तोप आग उगल कर अंग्रेज़ी सेना का ध्वंश कर रही थी। लार्ड हार्डिंग अपनी जान की परवाह न करके कई साथियों समेत उस तोप की ओर दौड़े। कीलों से उसका मुँह बन्द करके अपनी सेना की रक्षा की।

विश्वासघाती और देश-द्रोही (सिक्ख सेना के) संचालक फिरोज शहर में भी अपनी नीचता का परिचय दिये बिना नहीं रहे। युद्ध-भूमि के निकट ही एक सिक्ख-दल खड़ा था। यदि वह दल युद्ध में डटी हुई सेना में मिला दिया जाता तो इसमें सन्देह नहीं कि अंग्रेज़ी सेना का एक भी वीर बचने नहीं पाता। पर बात तो यह है कि सिक्ख अंग्रेज़ों से न लड़कर अपने भाग्य से लड़ रहे थे। पाजी लालसिंह ने इस समय भी अपनी फ़ौज को लड़ने की इजाज़त नहीं दी। सिक्ख वीरों को बताया गया कि इस सेना पर भी अंग्रेज़ हमला करना चाहते हैं।

१—लार्ड हार्डिंग ने २१ दिसम्बर की रात्रि के युद्ध की चर्चा अपने उस पत्र में की है जो उन्होंने इङ्गलैंड के प्रधान मंत्री सर राबर्ट पील को लिखा था।

दूसरे दिन प्रातःकाल फिर युद्ध आरम्भ हुआ। इस समय अंग्रेज़ी सेना ने लालसिंह की सेना पर धावा बोल दिया। उस सेना की बड़ी दुर्गति हुई। किन्तु पास ही खड़े हुये तेजसिंह ने अपने अधीन की सेना को उस सेना की सहायता के लिए आज्ञा दी। अँगरेज़ी सेना के एक नये दल ने फिर सिख सेना पर आक्रमण किया। अब की बार तेजसिंह की सेना अधिक उत्तेजित हुई। इसलिए उसे आज्ञा देनी पड़ी। दोनों सिख-सेनाओं के सम्मिलित होते ही अँगरेज़ी सेना के होश उड़ गये। बहुत शीघ्र ही विजय-लक्ष्मी सिखों को ही प्राप्त होने वाली थी कि तेजसिंह भाग खड़ा हुआ। साथ ही सैनिकों को भी भागने का संकेत किया। उधर अँगरेज़ी सेना भाग रही थी और सिख उसका पीछा कर रहे थे। जब अँगरेज़ों ने तेजसिंह की नीचता के इस अभिनय को देखा तो वे मैदान में डट गये और भागती हुई सिख-सेना पर आक्रमण करके विजय प्राप्त कर ली। जो सिख-सेना विजय-महत्वाकांक्षा से मद-मत्त होकर शत्रुओं का हनन कर रही थी उसे क्षणभर में ही अपने विश्वासघाती सैनिकों की चाल के कारण विजय लाभ से हाथ धोने पड़े! भागी हुई अँगरेज़ी सेना की विजय हो गई। सिख इतिहास के सुप्रसिद्ध लेखक मि० कनिंघम साहब ने इस युद्ध का हृदयद्रावक वर्णन इस प्रकार किया है:—

"यह घटना ऐसी थी कि जिससे सच्चे हृदय के मनुष्य को युद्ध करने का उत्साह बढ़ता। पर विश्वासघाती सिख सेनापति तेजसिंह के ऊपर इसका उलटा असर हुआ। उन्होंने तोपें बन्द करवा दीं और अपने घोड़े को मोड़कर सतलज की ओर जितना जल्दी उनसे हो सका उतनी जल्दी वे भागे। यह उन्होंने ऐसे समय में किया, जब उन्हें विजय प्राप्त होने वाली थी। क्योंकि उस समय वृटिश सेना का कुछ भाग फीरोजपुर से पीछे हट रहा था१।"

इस युद्ध में अँगरेज़ों को विजय प्राप्त हुई यह माना जा सकता है; किन्तु यह विजय उन्हें मंहगी बहुत पड़ी। सिखों की ७० तोपें और कुछ स्थान अङ्गरेज़ों के हाथ लगे। किन्तु अँगरेज़ी सेना का सातवां हिस्सा इस युद्ध में खतम हो गया। सेना की इस भारी क्षति से अँग्रेज़ क्रोध से जल रहे थे। वे सिखों से बदला लेने के लिए व्याकुल हो रहे थे। सेना बढ़ाई जाने लगी किन्तु बारूद और तोपों की कमी से तत्काल युद्ध न हो सका। सिखों की इस शिथिलता को देखकर सिख दूने उत्साह के साथ युद्ध करने की इच्छा से फिर सतलज के पार उतर आये। यह देखकर अँगरेज़ बहुत ही चिन्तित हुये क्योंकि पंजाब की सीमा पर उन दिनों उनकी हालत बड़ी नाज़ुक थी। थोड़े दिन पहिले जिन सिख सरदारों के राज्य को कलम की रगड़ से अपने अधीन बताया था, अब वे सिख राज्य अँगरेज़ों को कुछ भी सहायता देने को तैयार न हुये।

१—सन् १८६७ ई० में जनरल सर चार्लस गफ़ V. C. G. B. और आर्थर डी, इनेन्स M. A. की The Sikhs and the Sikh wars (सिख और सिख-युद्ध) नामक पुस्तक प्रकाशित हुई थी। उसमें इस युद्ध के सम्बन्ध में लिखा हुआ है।

"आज तक कोई देशी सेना जिसकी संख्या कुछ ही अधिक रही हो अँगरेज़ों से ऐसी नहीं लड़ी जैसे सिख लड़े थे। जिनकी वीरता के कारण फिरोज शहर के युद्ध का परिणाम ही सन्देह जनक रहा और यदि अँगरेज़ों को निश्चित रूप से विजय लाभ भी हुई है तो भी इस विषय में मतभेद रहा कि यदि सिख सेना के सेनापति योग्य होते और सिख सेना को अपनी पूरी योग्यता प्रकट करने का अवसर देते तो न मालूम युद्ध का क्या परिणाम होता है ?"........आगे दोनों साहब लिखते हैं—"भारत में आज तक जितने प्रकार के सैनिकों का सामना करना पड़ा है उनमें सिख सैनिक सबसे बढ़कर दक्ष, भीषण और दुर्जय प्रतीत हुये।" वे सब सरदार अब सिखों से मिलकर अँगरेज़ों के विरुद्ध खड़े होने की नीयत दिखा रहे थे। जिन्होंने यकायक खुला खुली मिलने की हिम्मत न भी की वे गुप्त रीति से सिखों के हितों के लिए उत्सुक हुये। अँगरेज़ों की प्रधान छावनी फीरोजपुर ऐसे ही सरदारों से घिरी हुई थी। इन शत्रुओं के कारण अँग्रेज़ों को फीरोजपुर की सेना के लिए रसद मुहय्या करने में बड़ी कठिनाई प्रतीत होने लगी। इससे फीरोजपुर स्थिति अँगरेज़ी सेना की दशा सङ्कट-सम्पन्न थी। पंजाब सीमा के प्रायः प्रत्येक स्थान में अँगरेज़ों की दशा आशंका-जनक थी। बादवाल के जागीरदार अजीतसिंह को अँगरेज़ों ने मार भगाया था। अब सरहद में अँगरेज़ों की स्थिति डाँवाडोल देखकर अजीतसिंह ने सिखों की सहायता से लुधियाने में अँगरेज़ों की छावनी जलाकर बादवाल को अपने कब्ज़े में कर लिया।

गढ़मुक्तेश्वर कुछ समय पहिले अंग्रेज़ों ने अपने अधीन कर लिया था किन्तु अब वहाँ के लोग सिक्खों के सहायक बनने की चेष्टा कर रहे थे। धर्मकोट आदि जैसे छोटे-छोटे क़िलेदार भी जो कि अंग्रेज़ों की अधीनता स्वीकार कर चुके थे अब उनके विरुद्ध होकर सिक्खों को सहायता देने लग गये। रसद तो ये लोग अंग्रेज़ों के लिए संग्रह होने ही नहीं देते थे साथ ही उधर आने वाली अंग्रेज़ सेनाओं से भी छेड़छाड़ करते थे। इन्हीं दिनों अंग्रेज़ों ने तोप, बारूद तथा रसद के साथ कुछ सेना फ़ीरोजपुर भेजी। चूंकि अंग्रेज़ों को सन्देह था कि सिक्ख अथवा अन्य विद्रोही सरदार इस रसद को रास्ते में लूट लेंगे इसलिये एक ब्रिगेड सन् १८४६ ई० की १७वीं जनवरी को मि० हैरीस्मिथ के साथ धर्मकोट की विजय के लिए भेजी। क्योंकि वे समझते थे कि सिक्ख अथवा विद्रोही सरदार इस लड़ाई के झंझट में फँस जावेंगे और रसद सुरक्षित ढंग से फ़ीरोज़पुर पहुँच जावेगी। धर्मकोट सहज ही हैरी साहब के हाथ लग गया। अंग्रेज़ों को आशा हो रही थी कि रसद आदि सामान बिना विपद के ही फीरोजपुर पहुँच जायगा। इसलिए हैरी स्मिथ भी शीघ्र ही धर्मकोट छोड़ कर लुधियाने की ओर सेना समेत बढ़ा। उससे यह भी मालूम हो चुका था कि रणजोरसिंह की अधीनता में सिक्ख सेना लुधियाने पर हमला करना चाहती है और वह इस समय लुधियाने के पच्छिम ओर है और जगराँव से ६ कोस पर बादवाल स्थान में रणजोर ने सेना भेजी है।

अतः साहब ने तुरत-फुरत जगराँव में डेरा जा लगाया और रात के बारह बजे अपनी सेना को लुधियाने की ओर रक्षार्थ बढ़ाया। वह चाहता था कि बादवाल में ठहरी हुई सिक्खों की दस हज़ार सेना से मुठभेड़ न हो। उसकी ४ रिजमट, पैदल रिजमट घुड़सवार १८ तोप और बहुत सी सामिग्री यदि लुधियाने पहुँच जातीं तो लुधियाने-स्थिति अंग्रेज़-सेना शक्ति सम्पन्न हो जाती। इसीलिये हैरी रसद आदि को दाहिनी ओर रख कर इस भांति से लुधियाने की ओर चला कि बादवाल की सिक्ख सेना यदि उस पर आक्रमण भी करे तो भी रसद लुधियाने पहुँच जावे। किन्तु उसका अनुमान ठीक न हुआ। क्योंकि सिक्खों को पहिले ही उसकी रसद के रास्ते और सेना के रास्ते का पता लग गया था। उन्होंने बाँयी ओर से रसद पर हमला कर दिया और हैरी साहब को बादवाल के बराबर ही घेर लिया। अंग्रेज़ों ने चाहा कि पैदल सेना को सिक्खों से लड़ाते रहें और सवारों के साथ रसद को लुधियाने भेज दें। किन्तु उनकी यह चालाकी बेकार हुई। सिक्खों ने उनकी पीठ पर तोपें लगाकर उन्हें घेर लिया। ६ घंटे घमासान लड़ाई हुई। सैकड़ों गोरे वहाँ जल कर राख हो गये। आखिरकार रसद गोले और तोपों को छोड़ कर लुधियाने की ओर भाग गये। कुछ इतिहासकारों ने लिखा है कि रणजोरसिंह ने भी लालसिंह, तेजसिंह की भाँति सिख सैनिकों के साथ विश्वासघात किया। वरना वह चाहता तो मैदान में डटा रह कर सिख सेना को भागते अँगरेजों पर हमला कराके उनका भारी नुकसान कर सकता था। सैनिक बेचारे रसद आदि ही लूटने में लगे रहे। रणजोरसिंह की स्वजाति-अहित-कामना के कारण अँगरेज़ एक भारी आफ़त से बच गये। इसके सिवा उसने एक और भी कलंक लगाने वाली बात यह की कि अँगरेजों का कुछ सामान, कुछ तोपें दिल्ली की ओर से आ रही थीं। सिखों को इसका पता लग गया। वे इस सारे सामान को लूट लेना चाहते थे। वे सहज ही लूट भी लेते क्योंकि उस सामान के साथ थोड़े से ही रक्षक थे। किन्तु रणजोर ने सिखों को इजाज़त न दी और उन्हें सतलज के किनारे लिये पड़ा रहा।

इस बादवाल के युद्ध के बाद सिख सेना २२ वीं जनवरी (१८४६) को वहाँ से रातों रात चल कर लुधियाने से ३५ मील हट गई। इसका कारण कुछ इतिहासकार यह बताते हैं कि रणजोरसिंह ने अँगरेजों के फ़ायदे के लिए ही अपनी फौज को हटा लिया था। कुछ का कहना है कि सर हैरी स्मिथ और लुधियाने को सेना मिला कर इतनी हो गई थी कि सिख सेना अपने को उससे कम शक्ति सम्पन्न समझ कर अपने हित के ख़याल से हट गई थी। लेकिन स्मिथ ने इस मौक़े से भी लाभ उठाया। उसने तुरन्त सिखों द्वारा छोड़ी हुई जमीन पर कब्ज़ा कर लिया और ग्यारह हजार सेना के साथ सिख सेना पर धावा करने की तयारी कर दी। उधर सिख सेना अँगरेज़ी सेना की लापरवाही करके रणजोर ही की अधीनता में बुन्द्री और अलीवाल गाँवों पर अधिकार जमाने लगी। अली-

वाल में अँगरेजी सेना से युद्ध छिड़ गया। यह याद रखने की बात है कि अलीवाल में रणजोर के साथ पूरी सेना न थी। बहुत सी सेना अन्य स्थानों की रक्षा के लिये छोड़ दी गई थी। जो भी कुछ सेना थी उसमें भी अशिक्षित युद्ध के तरीकों से अनभिज्ञ पहाड़ी लोग शामिल थे जो युद्ध आरम्भ होते ही रणजोर के साथ रफूचक्कर हो गये। केवल थोड़े से सिख गोलन्दाज़ रणक्षेत्र में स्थिर रह कर शत्रुओं का सामना करने लगे। यह बेजोड़ युद्ध कब तक चलता ? किन्तु बहादुर सिखों में से जब तक एक भी आदमी जीवित रहा तब तक लड़ाई चलती रही। सचमुच ही अन्त में एक सिख सिपाही रह गया। जब इस एक गोलन्दाज़ को अँगरेज़ों ने आ घेरा तो उसने कहा—"जान रहते तोप न दूंगा"। इस एक आदमी से तोप हस्तगत करने के लिये अँगरेज़ों को उसे काट देना पड़ा। इस लड़ाई में हैरी साहब की जीत तो हुई; किन्तु जब लाशें देखी गईं, तो सिखों से अँगरेज़ों की लाशें अधिक मिलीं। इस युद्ध के सम्बन्ध में एक बात यह और प्रसिद्ध है कि पटर नामक एक अँगरेज़ गोलन्दाज़ कुछ समय पहिले सिखों के यहाँ नौकर हो गया था। बादवाल युद्ध के बाद उसने अँगरेज़ी खेमे में आकर अँगरेज़ों से फिर प्रार्थना की थी कि उसे नौकर रख लिया जाय; किन्तु उससे कहा गया था कि तुम सिखों में रह कर ही जाति का हित करो। अलीवाल युद्ध के बाद उसने अँगरेज़ी सेना में जाकर बताया था कि मैंने सिखों की तोपें इतनी ऊँची लगाईं थीं कि उनके गोले अँगरेज़ों पर न गिरें। तहक़ीकात करने पर यह बात सही पाई गई[१]।

अलीवाल युद्ध के बाद सोबराँव में अँगरेज़ों से सिखों की भिड़न्त हुई। हालांकि अलीवाल में विजय हो जाने से अँगरेज़ मारे प्रसन्नता के फूले नहीं समाते थे। फिर भी उनकी हिम्मत न होती थी कि सिखों का पुनः मुक़ाबिला करें; किन्तु सिखों ने इसी बीच एक और भूल की। उन्होंने अपने पैरों में अपने आप ही कुल्हाड़ी मार ली। वह इस तरह कि पंजाब के मंत्रित्व की गद्दी पर जम्मू के सूबेदार गुलाबसिंह को बिठा दिया। उन्होंने यह नहीं सोचा कि "चोर का भाई गिरहकट होता है।" उसने सिखों से कहा—मैं मंत्री बनता हूँ केवल उस समय के लिये जब तक कि अँगरेज़ों से युद्ध है और मंत्रित्व का कुल कार्य जम्मू में रहते हुए ही करूँगा। यद्यपि सिख गुलाबसिंह से घृणा करते थे फिर भी उसकी बहादुरी, राजनीतिज्ञता से लाभ उठाने के लोभ से उन्हें मंत्री बना दिया। सिखों ने समझा डूबते हुए को तिनके का सहारा मिला, पर बात इसके बिलकुल विरुद्ध हुई। उसने लार्ड हार्डिञ्ज से जो भावी सिन्ध-युद्ध की चिन्ता से घुले जा रहे थे एक गुप्त सन्धि कर ली। गुलाबसिंह ने सन्धि के अनुसार अँगरेज़ों से प्रतिज्ञा की कि युद्ध के समय सिख सेना के संचालक उनसे अलग हो जाया करेंगे और जब सिख सेना हार जायगी तो उसे निकाल दिया जायगा। जिससे सतलज पार करके राजधानी में

१—'सिख युद्ध'। पे० ६७। ले० चक्रवर्त्ती।

आने में अँगरेजी सेना को कोई रुकावट न रहेगी। इस तरह गुलाबसिंह सिखों के लिए लालसिंह और तेजसिंह से भी अधिक खतरनाक सिद्ध हुआ।

सिख अलीवाल-युद्ध में अपनी पराजय के कारण तिलमिला रहे थे। सर्वस्व अर्पण करने पर भी पराजय होते देख कर निराशा-सागर में डूबे हुए थे; किन्तु एक जाट केसरी ने सिंह गर्जन करके उन्हें फिर उत्साहित किया। वे महाराज रणजीतसिंह के बचपन के साथी तथा वीर-श्रेष्ठ कुँ० नौनिहालसिंह के श्वसुर श्यामसिंहजी अटारी वाले थे। बुढ़ापे में भी सरदार श्यामसिंह की सूखी हड्डियों में अपनी जन्म-भूमि की स्वाधीनता की रक्षा के लिए ख़ून दौड़ने लगा। उन्होंने ओजस्वी वाणी से सिख वीरों को सम्बोधित करते हुए कहा—"आओ वीरो! आओ। खालसा के वीर सरदारो आओ!! मातृ-भूमि की स्वाधीनता की रक्षा के लिए फिरंगियों से तुम्हारे साथ लड़ कर तथा प्राण देकर मैं भी स्वर्ग सिधारूँगा। हृदय के गर्म-गर्म लहू को बहा कर गुरु गोविन्दसिंह की आत्मा को प्रसन्न करूँगा और खालसा का गौरव बढ़ाऊँगा।" साथ ही सरदार श्यामसिंह ने सिखों के पवित्र ग्रन्थ साहब को छूकर प्रतिज्ञा की कि प्राण रहते कभी भी युद्ध-स्थल से पीछे नहीं हटूँगा। इस भीषण प्रतिज्ञा के बाद उन्होंने रण-भूमि की तैयारी की। उनकी सफ़ेद डाढ़ी, सफ़ेद मूँछ साथ ही अँगरखी और पगड़ी भी सफ़ेद थीं। यही क्यों जिस समय वे सफ़ेद घोड़ी पर सवार हुए उनकी सुन्दरता जग उठी। युद्ध को प्रस्थान करते हुए उन्होंने खालसा सेना से कहा—आओ खालसा के पुत्रो! पराधीन होने की अपेक्षा अस्त्र-शय्या पर सदा के लिये सो जावें। खालसा सेना के हृदयों को यह मार्मिक अपील पार कर गई। वे सिंहनाद से गर्जते हुए उठ खड़े हुए। उन्होंने भीम-गर्जन के साथ "वाह गुरू की फ़तह" के नारे लगाये।

सिखों ने अँगरेज़ों के साथ युद्ध करने के लिए सोवरॉव पर दखल करके सुदृढ़ व्यूह बना लिया। ६७ तोपों के साथ १५ हज़ार सिक्ख मर मिटने के लिए तथा मार-काट करने के लिए अँगरेज़ी सेना के आने की प्रतीक्षा करने लगे। इधर तो सिक्ख वीर इस तरह मर मिटने को तैयार थे, उधर नमकहराम लालसिंह ने अंगरेज़ों को यहाँ के सब समाचार लिख भेजे—"इस युद्ध का सेनापति तेजसिंह है। पर वह चेष्टा अंगरेज़ों के हित की ही करेगा। मेरे संचालन में घुड़सवार सेना है जिसे मैंने तितर-बितर कर रक्खा है। सिक्ख छावनी का दक्षिण भाग कमजोर है उधर व्यूह की दीवार भी मजबूत नहीं बन सकी है[१]।" इस समाचार के पाने से अंगरेज़ों को बड़ी प्रसन्नता हुई। अंगरेज़ों ने सर राबर्ट डिक की अधीनता में सब से पहिले उसी दक्षिणी हिस्से पर आक्रमण

१—एडवर्ड साहब की तवारीख़ से पता चलता है कि लालसिंह के (द्वारा) अँगरेज़ी सेना में इस प्रकार समाचार देने का हाल सिख-युद्ध में लड़ने वाले अंगरेज़ों के एक अफ़सर से प्रकाशित हुआ था। 'सिख युद्ध' पे० ७३। ले० चक्रवर्ती।

करने की आज्ञा दी। साथ ही अन्य भागों पर भी १२० तोपें लगा दीं। सर वाल्टर डिक साहब के दहिने भाग में और हैरी साहब वाल्टर के दहिने भाग में इस भाँति खड़े हुए कि एक के बाद एक परस्पर सहायता देते रहें। इस प्रकार तीनों भागों में १६ हज़ार राजपूत मिश्रित गोरे नियुक्त किए गए। चाहे लालसिंह ने अंगरेजों को अपना सारा भेद बता दिया था किन्तु अंगरेज़ सशंकित उससे भी थे। इसलिए उसकी निगाह रखने के लिए भी कुछ घुड़ सवार सैनिक नियुक्त कर दिए। ठीक है जो अपनों के साथ विश्वासघात कर सकता है, उसका विश्वास करना महा पाप है। आपत्ति के समय सहायता देने के लिए दो पल्टनें अंगरेज़ों ने फीरोजपुर में नियुक्त कर दीं। सामने छाती से छाती भिड़ा कर अंगरेज सिक्खों से दो बार लड़ चुके थे। उन्हें यक़ीन हो गया था कि सिक्खों से मुक़ाबिले में लड़ कर फ़तह नहीं पा सकते। इसलिए (सन् १८४६ ई० को ६ फर्वरी की रात को) चुपके से सिक्ख सेना पर आक्रमण किया, फिर मुठ भेड़ होते समय तक सूर्य निकल आया। सदा के फुर्तीले सिक्खों ने तुरन्त रण भेरी बजा दी। ठीक ६॥ बजे अँगरेजों की सैकड़ों तोपें सिखों पर गोले बरसाने लगीं। कभी सिखों की हथियारों से भरी हुई गाड़ियाँ तोपों के गोलों से नष्ट होती थीं, कभी बालू से बनाई गई उनकी दीवार गिरती थी। कभी गोले फट कर पृथ्वी में दरारें कर देते थे। सिखों की लोथों पर लोथ बिछ रही थीं किन्तु इतने पर भी सिख वीरों का धीरज न छूटा।

खालसा सेना अँगरेजों के प्रत्येक आक्रमण का उत्तर स्वाभाविक फुर्ती से देकर अँगरेजी सेना में प्रतिक्षण हाहाकार मचा देती थी। भारत में अँगरेजों को अनेक युद्ध करने पड़े हैं। किन्तु अन्यत्र कहीं भी सोबराँव की भाँति दुर्जय वीरों की भीषण समर लीला देख कर जैसा भीत-त्रपित नहीं होना पड़ा था। दोनों ओर की सेनाओं द्वारा गोलों की अविराम वृष्टि, हर घड़ी अस्त्रों का श्रवण-विदारी निनाद तथा सेनाओं की सिंह-गर्जन सोबराँव की भाँति अँगरेज़ों को किसी युद्ध में नहीं देखनी पड़ी। इसलिए सोबराँव युद्ध राजनैतिक रहस्यों के सिवा केवल भीषणता में भी भारत-इतिहास में अति प्रसिद्ध है।

ज्यों-ज्यों सूर्य भगवान् ऊपर को चढ़ने लगे युद्ध की भयंकरता भी बढ़ने लगी। अब तक की गोलाबारी से अँगरेज़ अपने अभीष्ट को पूरा न कर सके। उन्होंने समझा था कि सिखों की असावधानी में गोलाबारी करके उन्हें तुरत ही जीत लिया जायगा। किन्तु सिखों ने अपनी फुर्ती से उनकी इस इच्छा को पूरा न होने दिया। अब उन्होंने लालसिंह के बताए दक्षिण भाग पर सर राबर्ट डिक की अधीनता में धावे के लिए बढ़ना शुरू किया। किन्तु सिख अँगरेज़ों की चालाकी को ताड़ गए और बड़े धैर्य के साथ उस हिस्से पर बड़ी संख्या में जाकर इकट्ठे हो गए और आती हुई अँगरेज़ी सेना पर ऐसा छापा मारा कि अँगरेज़ भाग खड़े हुए और उनके सेनापति डिक साहब सख्त घायल हो गए। यह देखकर पहिले से स्थित मि० गिलबर्ट ने

अपनी सेना को सिखों पर आक्रमण करने को बढ़ाया। डिक साहब की भागती हुई सेना भी रुक गई और दोनों मिलित सेनाओं ने सिखों पर आक्रमण किया। किन्तु बलिहारी सिक्ख वीरों की जननियों को जिन्होंने ऐसे सिंहों को पैदा किया था। वे दोनों सेनाओं के सामने अड़कर वार सहन करने लगे। उन्होंने भीषण वेग से तोपों की वर्षा करके अपनी तो रक्षा कर ही ली किन्तु साथ ही अंग्रेजी सेना को पीठ दिखाकर भागना पड़ा। एक दो और तीन वार अंग्रेजों ने सिक्खों पर नूतन तैयारी के साथ हमला किया। किन्तु उसे हर बार पूरी हार खाकर वापिस लौटना पड़ा। तीसरी बार के आक्रमण में अंग्रेजों के तीनों वीरों—डिक, गिलबर्ट, और हैरी ने सिक्खों से लोहा लिया था। पर वे सिक्खों का कुछ भी न बिगाड़ सके। सिक्खों ने आक्रमण करते और भागते दोनों ही समय अङ्गरेजों को हानि पहुँचाई।

यद्यपि अँग्रेज अभी तक पराजित हो रहे थे किन्तु वे होते हिम्मत के धनी हैं। आशावादी होना उनकी आदत है। निराशा होना वे कभी जानते ही नहीं। यही उनका ऐसा उत्तम गुण है जिसके बल पर भूमंडल के सब से अधिक भाग पर उनका साम्राज्य फैला हुआ है। सिक्खों की भारी वीरता से वे चिन्तित अवश्य हुए किन्तु निराश नहीं। उन्होंने अपनी हार से भी सबक़ लिया। पुनः आक्रमण के लिये वे फिर बल संचय करने लगे। उधर सिक्ख सेना की हालत पर दृष्टिपात करने से आँसू बहाना पड़ता है। सैनिक बिचारे स्वयम् प्रबन्ध करते हैं। उन्होंने अपने बायें और मध्य भाग को मजबूत बनाने के लिए दाहिने भाग को फिर निर्बल बनाया। विश्वासघाती लालसिंह यह सारा तमाशा देख रहा था। अधीन सेना ने उसे दाहिने भाग की कमज़ोरी कई बार बताई किन्तु क्यों ध्यान देने लगा? चौथे आक्रमण के समय डिक-सेना ने उसी दाहिने भाग पर हमला किया। उसने बड़े वेग के साथ चलकर उस स्थान पर क़ब्ज़ा कर लिया। मध्य भाग की ओर गिलबर्ट-सेना बढ़ रही थी। उसे डिक सेना ने बड़ी सहायता पहुँचाई। इन दोनों सेनाओं ने सिक्खों की कई तोपों को छीन लिया। इसी समय हैरी-स्मिथ-सेना ने भी सिक्खों पर आक्रमण किया। शत्रुओं के इस भीषण आक्रमण का उत्तर देने के लिये सिक्ख सिंहों की भांति अँगरेजी दल पर झपटे। अगणित अँगरेज सैनिक उन्होंने काट कर गिरा दिये। आगे की सेना पीछे वालों पर गिरने लगी। पर इतनी हानि होने पर भी गिलबर्ट-सेना ने डिक की सेना के सहारे से सिक्ख सेना पर हमला किया। यह दृश्य अपूर्व था। कभी अँगरेजी सेना सिक्खों को भगाकर आगे बढ़ती, कभी सिक्ख सेना अँगरेज़ी सेना का ध्वंश करती। इसी तरह की कसमकस में अँगरेजों की सेना एक बार के हमले में सिक्ख सेना के भीतर घुस गई और उसके दायें-बायें अंश अँगरेज़-सेना ने घेर लिए। इसी समय अँगरेजी तोपों ने सिक्ख व्यूह की दीवार पर गोले बरसाने आरम्भ कर दिये। थोड़ी देर में दीवार गिर पड़ी और अँगरेजी सेना ने सिक्खों पर चारों

ओर से हमला कर दिया। यही अवसर सेनापतियों के रण-कौशल दिखाने का था। किन्तु बेचारी सिक्ख-सेना के सेनापति तो विश्वासघातक थे। उन नराधमों ने गोलन्दाज़ों को बारूद देना बन्द कर दिया। जो तोपें कुछ समय पहिले अग्नि वर्षा करके अँगरेज़ों के दिल दहला रही थीं, वे अब बिना बारूद के दगने से बन्द रह गईं। अंगरेज़ सैनिक उन पर कब्ज़ा करने लगे। उनकी नीचता की हद यहीं खतम नहीं हुई। स्वजाति-द्रोही तेजसिंह ने एक बड़ी सेना के साथ भागना शुरू कर दिया। उसने सतलज के पुल को भी तुड़वा दिया। वह चाहता था कि भागकर भी सिख-सेना प्राण न बचा सके। अब सिख-सेना इसके सिवा क्या कर सकती थी कि जन्मभूमि के हित डटकर लड़े और लड़ते-लड़ते ही प्राणों का उत्सर्ग करे। लड़ने के भी उनके साधन नष्ट किये जा चुके थे। गोला-बारूद के बिना तोप-बन्दूकें उनकी बेकार साबित हो रही थीं। अब सिखों ने अपनी चिर-संगिनी तलवार को सम्भाला और अटारी के भीम-विक्रमी बूढ़े सरदार श्यामसिंह की उत्तेजना से मदमत्त हस्तियों की भांति अंग्रेज़ी सेना पर आक्रमण किया। सरदार श्यामसिंह सेना के प्रत्येक भाग में आक्रमण करके अपने साथियों का उत्साह बढ़ाने लगे। अन्त में जब उन्होंने देखा कि अब सर्वनाश होने में देरी नहीं है तब उन्होंने सिख वीरों से ललकार पूर्वक कहा—क्षत्रानियों के पुत्रो! आओ कुछ करके मरें। अँगरेज़ों की ५० वीं रेजीमेन्ट पर आक्रमण करो। वे बड़े वेग से हवा में तलवार घुमाते हुए घोड़े को एड़ लगाते हुये अंगरेज़ी रिसाले पर टूट पड़े। ५० अन्य सिख वीरों ने भी प्राणों का कुछ मोह न करके श्यामसिंह का साथ दिया। अंगरेज़ सैनिकों के गोल ने उन पर गोलियों की बौछार कर दी। श्यामसिंह के सात गोलियाँ शरीर में लगकर पार हो गईं। किन्तु प्राण रहने तक श्यामसिंह लड़ते रहे। वे अंगरेज़ सिक्ख वीरों की लाशों के ढेर के ऊपर सदैव के लिए सो गये।

सिख-सेना पीछे हटी किन्तु बड़ी सावधानी के साथ। उसने पीठ न फेरी। अँगरेज़ी फौज के सामने मुंह करके लड़ती हुई उलटे पैरों वापिस लौटी। यदि सतलज का पुल उसके विश्वासघाती सेनापतियों ने तोड़ न दिया होता तो सिख वीर लड़ते हुये भी अपने इलाक़े में पुल पार करके वापिस पहुँच जाते। उन दिनों सतलज चढ़ी हुई थी। अब इसके सिवा उपाय ही क्या था। या तो वे नदी में कूदकर प्राण दें अथवा शत्रु के सामने छाती अड़ाकर अपने जीवन का निर्णय करें। वे तलवार के सहारे ही शत्रुओं का सामना करते हुये लड़कर मरने लगे। अँगरेज़ आश्चर्य करते थे। इस तरह जीवन से निराश होने पर भी उनमें से एक भी सिख माफ़ी माँगने के लिए तैयार नहीं है। उस सम्पूर्ण सिख-दल के रक्त से सतलज का जल रक्त-वर्ण होगया। पानीपत के युद्ध के बाद इतनी नर-हत्या सोबराँव युद्ध में ही हुई थी। प्रायः ८ हज़ार सिख उस दिन माँ की आज़ादी की [illegible] रणखेत में शत्रु के हाथों से वीर-गति को प्राप्त हुये। इतना होते हु[illegible] सेना के

...हज़ार चार सौ तिरासी आदमियों को इस लोक से विदा कर दिया था।' ...गरेज़ों की विजय हुई। पर क्या कोई अभिमानी योद्धा यह कह सकता है कि ...ख अंगरेज़ों से हार गये १?

सिख-राज्य की काया-पलट।

सोवराँव-युद्ध के बाद अँगरेज़ निश्चिन्त नहीं बैठे। थोड़े दिनों के बाद सतलज पार करके वे सिख राज्य में आ धमके। दूसरे दल के साथ लार्ड हार्डिञ्ज भी आ पहुँचे। कसूर में डेरा डाल कर १८४६ ई० की २० वीं फ़रवरी को उन्होंने एक घोषणा प्रकाशित की जिसका आशय यह था:—

"अँगरेज़ों का विचार पंजाब राज्य को अपने राज्य में मिलाने का नहीं है, किन्तु सिखों ने जो सन्धि तोड़ी है उसकी उन्हें सज़ा देने के लिए पंजाब अँगरेज़ों के हाथ में रहेगा। भविष्य में शान्ति रखने तथा युद्ध का ख़र्च वसूल करने के लिए सिख-साम्राज्य के कई प्रदेश अँगरेज़ी शासन के आधीन रहेंगे। यद्यपि लाहौर दरबार को सन्धि-भंग करने की पूरा सज़ा मिलनी चाहिये, तथापि लाट साहब दरबार और सरदारों को राज्य के सुधारने का मौक़ा देना चाहते हैं। दरबार और सरदारों की सहायता से अँगरेज़ों के परम मित्र महाराज रणजीतसिंह के पुत्र की आधीनता में निर्दोष सिख राज्य को स्थापित करने की ही उनकी प्रबल लालसा है। पर यदि सिख जाति को अराजकता से बचाने का यह नवीन उपाय स्वीकृत न हुआ और फिर अँग्रेज़ों से लड़ाई ठानने की तैयारी की जावेगी तो जिस ढंग से पंजाब का शासन करने में अँग्रेज़ों की भलाई होगी, उसी ढंग से लाट साहब शासन का प्रबन्ध करेंगे।"

इस घोषणा से सारे पंजाब में सनसनी फैल गई। यह किसे विश्वास था कि सोवराँव के युद्ध के पीछे ही अँगरेज़ पंजाब में घुस आवेंगे। जिन देश-द्रोहियों के कुकृत्यों के कारण पंजाब में घुसने की सिखों की सामर्थ्य हुई थी वे भी अब पछताने लगे। वे चाहने लगे कि किसी भी भाँति इनका आना पंजाब में रुके। राजा गुलाबसिंह खुद रोते-झींकते कसूर पहुँचे और लार्ड हार्डिञ्ज से लाहौर न जाने की प्रार्थना की। लाट ने एक न सुनी। गुलाबसिंह दुबारा फिर लाट साहब के पास गये और महाराज दिलीप को भी साथ ले गये। लाट साहब ने बालक महाराज दिलीप का आदर-सत्कार किया और गुलाबसिंह आदि सरदारों से कहा—पंजाब को हम अँगरेज़ी राज्य में नहीं मिलाना चाहते हैं। अपने पिता के राज्य के मालिक दिलीपसिंह ही रहें, पर व्यास और सतलज के बीच के समस्त प्रदेश अँगरेज़ों को देने होंगे। इस के सिवा डेढ़ करोड़ रुपया युद्ध के ख़र्च का भी हम (अँगरेज़)

१—सोबराँव युद्ध के बाद ही हार्डिञ्ज और गफ़ को लार्ड की उपाधि विज्ञापन से ... दी गई।

लाहौर दरबार से लेंगे; किन्तु यह सन्धि भी लाहौर राजधानी में चल कर ही हम करेंगे अन्य स्थान पर नहीं।” २० फर्वरी को अँगरेज़-दल लाहौर पहुँचा। दिलीपसिंह को अँगरेज़ों ने फिर से गद्दी पर बिठाने की रस्म अदा की। अँगरेज़ पंजाब निवासियों को बता देना चाहते थे कि अँगरेज़ उदारतापूर्वक महाराज को पंजाब का राज्य दे रहे हैं। वास्तव में अब पंजाब पहिले का पंजाब नहीं रहा। लोगों ने शायद यही समझा हो; किन्तु बात इसके साथ कुछ और भी थी जिसने लार्ड हार्डिञ्ज को इतना उदार बना दिया था। वास्तव में वे बड़े दूरदर्शी थे। अब भी अमृतसर की ओर सिखों की बीस हज़ार सेना मौजूद थी और वह चाहती थी कि उसे अंगरेज़ों से लड़ने का मौक़ा दिया जाय। यदि कोई योग्य सेनापति उन्हें मिल जाता तो वे अंगरेज़ों से सोबराँव का पूरा बदला ले लेते। लार्ड हार्डिङ्ग पंजाब को भला कैसे अपने राज्य में मिला सकते थे। कसूर की मुलाक़ात में गुलाबसिंह ने भी कहा था कि आज मेरी बात नहीं सुनी जाती है किन्तु मैं चाहता तो सोबरॉव के युद्ध को समाप्त न होने देता। तनक से इशारे पर ६०–७० हज़ार सैनिक तैयार थे। इन्हीं शंकित देश-द्रोहियों में से कोई बग़ावत खड़ी कर देता तो अंगरेज़ों को लेने के देने पड़ जाते। आख़िर नवीन सन्धि हुई। बीस हज़ार पैदल और बारह हज़ार सवार रखने की इज़ाजत लाहौर दरबार को इस सन्धि के अनुसार मिली। शेष सेना वेतन चुका कर अलग करदी गई। तोपों को अंगरेज़ों ने हथिया लिया। आगे से ३० तोप रखने का अधिकार लाहौर दरबार को रहा। यह सन्धि ६ मार्च को हुई थी और ललियाना सन्धि कहलाती थी क्योंकि इसका मस्विदा पहिले ललियाना में ही तैयार हुआ था। इस सन्धि के अनुसार व्यास और सतलज के दक्षिण ओर के सम्पूर्ण प्रदेशों को चिरकाल के लिए अंगरेज़ों के सुपुर्द कर देना पड़ा। युद्ध ख़र्च का डेढ़ करोड़ रुपया उस समय अदा कर देने में असमर्थ होने के कारण एक करोड़ के बदले काश्मीर और हजारा सहित, व्यास और सिन्ध के बीच के समस्त प्रदेश अंगरेज़ों के हवाले करने पड़े। शेष पचीस हज़ार रुपया लाहौर दरबार ने कुछ दिन पीछे देने का बचन दिया। सन्धि में यह लिखा जा चुका था कि अंगरेज़ सरकार सिख दरबार के भीतरी मामलों में हस्तक्षेप न करेगी किन्तु गवर्नर जनरल आवश्यकतानुसार शासन-कार्य में उसे परामर्श अवश्य दे सकेंगे। शान्ति बनाये रखने के लिए एक साल तक लाहौर में अंगरेज़ी सेना रहेगी तब तक सिख सेना बाहर रहेगी।

अंगरेज़ों के बाकी रहे हुए पचास लाख का प्रबन्ध लाहौर दरबार ने इस तरह से किया कि अधीनस्थ समस्त सरदारों से सहायता माँगी गई। उनमें से अनेक ने यह भी कहा कि हमारी सारी सम्पत्ति नष्ट हो चुकी है तब कहाँ से दे सकते हैं? किन्तु अटारी वाले चतरसिंह जैसे सिख-राज-हितैषी सरदारों ने काफी सहायता दी जिससे यह रक़म चुका दी गई।

जहाँ राजनीतिक ज्ञान की कमी होती है वहाँ के लोग यह सोचने में किं कर्तव्य विमूढ़ हो जाते हैं कि उनका मानापमान किस मार्ग पर चलने में अधिक सुरक्षित रहेगा। ऐसी ही दशा घरेलू झगड़ों ने महारानी जिन्दा के दिमाग़ की करदी थी। केवल भाई की हत्या का बदला लेने के अभिप्राय से उन्होंने देश के रक्षक खालसा वीरों का सर्वनाश कराया और अब भी उन्हीं खालसा सैनिकों से भयभीत होकर गवर्नर से रक्षा की याचना करती हैं, जिन खालसा वीरों ने जननी जन्म-भूमि की रक्षा के लिए अपना सर्वस्व स्वाहा कर दिया था। उन्होंने गवर्नर जनरल से प्रार्थना की कि मुझे और मेरे पुत्र को पंजाब में सिखों के हाथ में रखने की अपेक्षा बृटिश राज्य की सीमा में रखना अथवा अपने साथ गवर्नमेण्ट हाउस में ले जाना हमारे हक़ में अच्छा होगा। इसके पश्चात् एक पत्र बालक दिलीपसिंह के दस्तखत से रामसिंह, लालसिंह, तेजसिंह, दीनानाथ आदि के द्वारा गवर्नर जनरल के पास पहुँचाया गया। उसमें लिखा था—"लाहौर के इस नवीन प्रबन्ध में किसी तरह की गड़बड़ न हो। इसका कुछ प्रबन्ध अँगरेज़ सरकार अवश्य करे। इसके लिए कुछ अँगरेज़ी सेना लाहौर में रहनी चाहिए जो बालक महाराज की रक्षा कर सके। कमीने षडयंत्र कारियों ने रानी जिन्दा को कितना बहका रक्खा था! भला जो खालसा वीर पिशोरासिंह को भी सिर्फ इसीलिए कि वह महाराज रणजीतसिंह का घोषित पुत्र है अपने हाथ से न मार सके थे वे क्या महाराज दिलीप को नुकसान पहुँचा सकते थे? राज परिवार की सारी हत्यायें गैर जाटों अथवा गैर सिखों के षडयंत्र से हुई थीं। सिन्धान वाले अवश्य ऐसे पाजी निकले थे जिन्होंने जाट अथवा सिख होते हुए महाराज शेरसिंह पर हाथ उठाया था। किन्तु वे खालसा की सलाह से तो इस काम के करने में प्रवृत नहीं हुए थे। ६ मार्च की एक सम्मिलित मीटिंग में गवर्नर ने महारानी जिन्दा के प्रस्ताव को मंजूर कर लिया।

मार्च महीने की ११ वीं तारीख को सन्धि में एक बात और हुई कि पुरानी सिख सेना (खालसा) कतई तोड़ दी गई और नई सेना भर्ती की गई। पूर्व सिख राज्य की प्रेतक्रिया करने के बाद अँगरेज़ों द्वारा जो नया सिख राज्य स्थापित हुआ लालसिंह को उसका प्रधान मंत्री (अँगरेज़ों ने) बनाया। गुलाबसिंह के लिए यह बात अखरी क्योंकि मंत्रित्व के लिए ही तो उन्होंने खालसा के साथ विश्वासघात किया था। गुलाबसिंह को सन्तुष्ट रखने के लिए अँगरेजों ने उसे कश्मीर का इलाका ७५ लाख रुपए में बेच कर वहाँ का स्वतन्त्र राजा मान लिया। तेजसिंह को भी कुछ देना था क्योंकि कौमीगद्दारी उसने क्या कम की थी? इसलिए उसे स्यालकोट के इलाक़े का राजा अँगरेज़ों ने बना दिया। इसी प्रकार अँगरेज़ों की तरफ से उन सभी लोगों को पुरस्कार देकर कृतज्ञता प्रकट की गई जिन्होंने अपने जाति भाइयों के साथ विश्वासघात करके युद्ध के समय अँगरेज-हित की चिन्ता की थी।

कुछ दिनों बाद इमामुद्दीन नामक एक व्यक्ति ने कुछ आदमी इकट्ठे करके गुलाबसिंह के विरुद्ध बगावत खड़ी की। किन्तु अँगरेज़ों की सहायता से उसे दबा दिया गया। नवीन प्रबन्ध से उस समय देखने भर को पंजाब में शान्ति दिखाई देती थी किन्तु वास्तव में वह शान्ति न थी।

लालसिंह जाति द्रोह करके अथवा खालसा को नष्ट करके पंजाब का मन्त्री हुआ सही किन्तु वह अयोग्य था, विषया था और था साथ ही दुर्बल प्रकृति का आदमी। उसके कुशासन से प्रजा हैरान होने लगी। राज्य के धनवानों से कर उगाह कर वह अपनी विलासिता में खर्च करने लगा। तबले की ठनाठन, सारंगी की गुनगुन और मृगनैनियों के घुँघरुओं की छुनछुन में मन्त्री-भवन की शोभा बढ़ने लगी। मदिरा के मधुर प्रवाह से रहस्य और भी खिलने लगा। किन्तु हज़ार दुराचारी होते हुए भी वह अंगरेज़ों को प्रसन्न रखने में कोई कोर कसर न रखता था। फिर भी उसके भाग्य ने साथ नहीं दिया। अंगरेज़ों ने उसके ऊपर इल्ज़ाम लगाया कि इमामुदीन जिसने कि जम्बू नरेश गुलाबसिंह के विरुद्ध बगावत की थी उसे लालसिंह ने उभाड़ा था। ६५ सिखों के सामने अँग्रेज-कमीशन ने जांच की और उसे अपराधी साबित करके दो हज़ार रुपये मासिक की पेन्शन पर आगरा भेज दिया१।

लालसिंह को देश निकाला देने के बाद सन् १८४६ ई० की १६ वीं दिसम्बर को भैरवाल नामक स्थान में लार्ड हार्डिंग ने एक नयी सन्धि की। जिसके अनुसार तय हुआ कि गवर्नर जनरल साहब लाहौर में अपना एक अँग्रेज प्रतिनिधि रक्खेंगे जो रेजीडेण्ट कहलायेगा जिसे राज कार्य में पूरी तरह अपनी शक्ति प्रकट करने का अधिकार रहेगा। कई एक योग्य व्यक्ति उनकी सहायता के लिए नियुक्त होंगे। पंजाब निवासियों के जातीय तथा धार्मिक रिवाजों सम्बन्धी रीति-नीति पर पूरा ध्यान रखकर कार्य किया जायगा। इस कार्य के लिए तेजसिंह अटारी के शेरसिंह दीवान दीनानाथ, फक़ीर नूरुद्दीन, भाई निधानसिंह, अतरसिंह, शमशेरसिंह आदि कई सरदारों की एक प्रतिनिधि सभा होगी जो रेजीडेण्ट साहब की सहायता किया करेगी। बिना रेजीडेण्ट साहब की आज्ञा के इन प्रतिनिधियों में किसी भाँति का हेर फेर न होगा। महाराज की रक्षा तथा राज्य में शांति बनाए रखने के लिए जितनी सेना की आवश्यकता होगी वह सब गवर्नर जनरल की मंजूरी से रक्खी जायगी। आवश्यकता होने पर इस बात की कि राज्य की रक्षा के लिए अँगरेज़ी सेना लाहौर या सिख-राज्य के किसी किले में रखनी जरूरी है तो गवर्नर जनरल बिना रोक-टोक रख सकेंगे। राजमाता महारानी जिन्दा तथा उनकी सखी-सहेलियों के भरण-पोषण के लिए अब से डेढ़ लाख सालाना राज्य-कोष से दिया जायगा।

१—इतिहास तिमिर नाशक। द्वितीय भाग। ओरियन्टल बिओग्राफ़िकल डिक्शनरी पे० २२६।

सन् १८५४ की चौथी दिसम्बर को महाराज की अवस्था १६ वर्ष की होने पर सन्धि की यह पाबन्दियाँ नहीं रहेंगी। यदि इससे पहिले भी दरबार तथा अँग्रेज़ी सरकार को सन्धि-भंग करने की आवश्यकता हुई तो गवर्नर जनरल वह भी कर सकेंगे।

सोबरॉव युद्ध की समाप्ति के एक वर्ष में इस तरह साह की सन्धियों के होने से पंजाब निवासियों को प्रतीत होने लगा कि अँग्रेज़ अब अंगुली पकड़ कर पहुँचा पकड़ना चाहते हैं। भैरवाल की इस सन्धि के अनुसार सर हेनरी लारेन्स जोकि लार्ड हार्डिंग के परम विश्वासी थे पंजाब के रेजीडेण्ट नियुक्त हुए। लारेन्स राजनीति पटु और निहायत योग्य थे। हिन्दुस्तान निवासियों पर दया दिखाना, कोमल स्वभाव रखना, सुख-शान्ति की उत्कट इच्छा रखना आदि उनके गुण थे। इतना होने पर भी वे अँगरेज़ थे। उनके रेजीड़ेण्ट-काल में पंजाब का स्वरूप बृटिश-भारत का जैसे होना आरम्भ हो गया। सिख-जाति का सद्भाव छूटने लगा। उसके हृदय से लड़ाई के भाव लोप होने लगे। कुछ ही दिन पहिले जो सिख-सेना अँगरेजों से लड़ी थी, उसी सेना के अनेक लोग अब तलवार के बदले हल की मूँठ थाम कर लड़ाई के बदले खेत जोतने लगे। दीवानी-फ़ौजदारी के विभाग नये तरीक़े से स्थापित हुए। सिख-राज्य में अँगरेज़ी क़ानून चलने लगा। क्रमशः सिखों की मनोवृत्ति बदलने लगी। चन्द दिन पहिले जो सिख अँगरेजों के लाट साहब को भी अपने राज्य में देख कर क्रोध में आँखें लाल करके म्यान पर हाथ रखते थे, वे छोटे से छोटे अँगरेज को भी देख कर इज्ज़त के साथ सलाम करके बीसियों क़दम पीछे हटने लगे।

सन् १८४७ की तीसरी जौलाई को गवर्नर जनरल ने एक चिट्ठी पंजाब-दरबार के नाम लिख कर रेजीडेण्ट की शक्ति को और भी बढ़ा दिया। लाट साहब ने लिखा—"भैरवाल-सन्धि के अनुसार लाहौर के अँगरेज रेजीडेण्ट, राज्य के सम्पूर्ण विषयों में इच्छानुसार कार्य करने का पूर्ण अधिकार रखते हैं। रेजीडेण्ट बहादुर के लिए प्रतिनिधि सभा के देशी सभासदों के साथ एक मत से कार्य करना बहुत ही अच्छी बात है; किन्तु वास्तव में वे रेजीडेण्ट के पूरे मातहत हैं। वह चाहें तो उनमें से चाहे जिसे अलग कर सकते हैं और उसके स्थान पर दूसरों को भर्त्ती कर सकते हैं।" २३ वीं अक्टूबर को लाट साहब ने एक और चिट्ठी लिखी—"महाराज दिलीपसिंह की नाबालिग़ी तक हम लोगों को याद रखना चाहिए कि सन् १८४६ की सन्धि के अनुसार सिख-राज्य बिलकुल स्वतन्त्र नहीं है। राज्य का कोई भी कर्मचारी अथवा सरदार युद्ध अथवा सन्धि करने अथवा छोटी से छोटी भूमि बेचने वा बदलने का अधिकारी नहीं है। हमारी बिना आज्ञा के ऐसा कोई भी कार्य नहीं हो सकेगा। औरों की बात छोड़ दीजिये, स्वयम् महाराज भी हमारे आधीन हैं। उनको भी अपने मन से कोई काम करने का अधिकार नहीं है।"

लाट साहब की इस प्रकार की चिट्ठी-पत्रियों से पंजाब निवासियों
कान खड़े होने लग गये थे। वे समझने लग गये थे कि "दाल में काला" है
उनके हृदय में भीतर ही भीतर आग सुलगनी आरम्भ हो रही थी। ऐसे
समय रेजीडेण्ट सर हैनरी लारेन्स ने महारानी जिन्दा के नाम एक चिट्ठी लिख
जिसका सारांश यह है—"भैरवाल सन्धि के अनुसार पंजाब के राज्य-कार्य में हस्तक्षे
करने का महारानी को कोई अधिकार नहीं है। स्वतन्त्रता-पूर्वक आनन्द से वे अपना जीव
निर्वाह करसकें इसके लिये उनकी डेढ़ लाख रुपये वार्षिक की वृति नियत करदी गई है
किन्तु ऐसी अफ़वाह है कि महारानी कभी १५ और कभी २० सरदारों को निमंत्र
देकर घर में बुलाती हैं और उनसे परामर्श करती हैं और कोई-कोई सरदार तथ
कर्मचारी छिप कर उनसे मुलाक़ात करते हैं। यह भी सुना जाता है कि पिछ
महीने से महारानी नित्य राज महल में पचास ब्राह्मणों को भोजन कराती ह
स्वयं उनके पैर धोती हैं। इसके अतिरिक्त पर मंडल में भी १०० ब्राह्मणों के भेज
की खबर सुनी जाती है। महाराज रणजीतसिंह के परिवार की मान-मर्यादा
उत्तरदायित्व का भार मेरे ऊपर है। इसलिये कहना पड़ता है कि ये सब का
महारानी के स्वरूप के अनुकूल नहीं हैं; उनकी प्रतिष्ठा में बट्टा लगाने वाले हैं
आगे से महारानी अपनी सखी-सहेली तथा दास-दासियों के सिवा किसी
मुलाक़ात न किया करें। इससे उनकी इस समय भी और भविष्य में भी भलाई है
इसीलिये यह मैं महारानी को लिख रहा हूँ। यदि महारानी की इच्छा दरिद्र तथ
धार्मिक व्यक्तियों को भोजन कराने की हो तो प्रत्येक मास की प्रथम तिथि क
अथवा शास्त्र-सम्मति से किसी अच्छे दिन यह कार्य करें। सारांश यह है वि
महाराज रणजीतसिंह के उदाहरण पर महारानी को चलना चाहिये। यदि किस
सरदार को महारानी के प्रति सन्मान प्रकट करने और अभिवादन करने के लि
महारानी से भेंट करने की आवश्यकता हो तो महारानी को स्त्रियों के समा
नम्रता और शीलता के अनुसार मिलना चाहिये। किसी महीने में पाँच अथव
छः सरदार से अधिक एक समय में महारानी से भेंट न करें। इन सरदारों
मिलते समय महारानी को जोधपुर, जयपुर और नैपाल की राजकुमारियों क
भाँति परदे में रह कर भेंट करनी चाहिये। यदि महारानी कृपा-पूर्वक महल
भीतर किसी अपरिचित व्यक्ति को नहीं आने देंगीं तो भविष्य में सरदारों तथ
अन्य राज-कर्मचारियों को शासन-सम्बन्धी कार्यों में बहुत कम परिश्र
करना पड़ेगा।"

सोबराँव युद्ध के पश्चात् पंजाब की जैसी अवस्था हो गई थी उसक
परिचय रेजीडेण्ट की इस चिट्ठी से मिल जाता है। महाराज रणजीतसिंह क
परम प्यारी महारानी जिन्दा (महबूबा) ने रेजीडेण्ट की इस आज्ञा के सामने
बिना किसी संकोच के सिर झुका लिया। ६ जून को उन्होंने इस चिट्ठी का उत्त
लिखा—"मैंने आपका पत्र आदि से इति तक ध्यान-पूर्वक पढ़ा। आपने मुझे

बताया है कि राज्य-कार्य में हस्तक्षेप करने का मेरा कोई अधिकार नहीं है। मैंने बृटिश-राज्य और सिख-राज्य दोनों में मित्रता होने के कारण, राज-विद्रोही कर्मचारियों को दबाये रखने को महाराज से अपनी तथा प्रजा की रक्षा के लिये लाहौर में अंग्रेजी सेना और अंग्रेज कर्मचारियों के रहने की प्रार्थना की थी। किन्तु राज्य-कार्य में मेरा कोई सम्बन्ध नहीं रहेगा, ऐसा उस समय कुछ भी तय नहीं हुआ था। हाँ, यह बात अवश्य तय हुई थी, कि राज्य-कार्य में मेरे कर्मचारियों से परामर्श ज़रूर लिया जायगा। जितने दिन तक बालक दिलीपसिंह पंजाब के नृपति हैं उतने दिन तक मैं पंजाब की अधीश्वरी हूँ। किन्तु इतने पर भी राज्य की भलाई के लिए, नवीन सन्धि के अनुसार यदि और कोई प्रबन्ध किया गया हो तो मैं इसमें भी सन्तुष्ट हूँ।

मुझे अपनी डेढ़ लाख वार्षिक वृत्ति के सम्बन्ध में केवल इतना ही कहना है कि अब इस विषय की चर्चा करना व्यर्थ है। कारण यह है कि मनुष्य की जैसी परिस्थिति हो जाती है उसी के अनुसार अपने दिन काटता है। फिर इसके जानने से मतलब ही क्या है कि उसका जीवन किस प्रकार से बीतता है? तिस पर भी महाराज के बालिग़ होने तक यह प्रबन्ध राज्य की भलाई के लिए किया गया है इस से मैं इसमें भी संतुष्ट हूँ।

सरदारों से एकान्त में मिलने और परामर्श करने के सम्बन्ध में असली बात यह है कि मैंने केवल दो बार सरदारों को बुला कर परामर्श किया था। एक बार अमृतसर से लाहौर आते समय मैंने उनको यह सम्मति दी थी कि लाहौर में परमा के आने में कोई भलाई नहीं है। दूसरी बार महाराज के निज-खर्च सम्बन्धी परामर्श के लिए मैंने सरदारों को बुलाया था। इसके सिवा मैं कभी-कभी सरदार तेजसिंह और दीवान दीनानाथ को भी बुला लेती हूँ। भविष्य में आपके परामर्श के अनुसार पांच-छः सरदारों को ही बुलाया करूँगी। मेरे अधीन चार पांच विश्वासी नौकर हैं। मैं उन्हें परित्याग नहीं करूँगी। उस दिन मुलाक़ात करते समय मैंने आपसे यह कह भी दिया था कि सिवा इन लोगों के मुझे और किसी से मुलाक़ात करने की आवश्यकता नहीं है।

आपने पचास ब्राह्मणों के भोजन कराने और उनके पैर धोने के सम्बन्ध में लिखा है। इसके विषय में मुझे इतना ही कहना है कि शास्त्रों की रीति के अनुसार यह एक मामूली कार्य है। इस महीने में और इसके पहिले महीने में मैंने यह कार्य किया था। पर जिस दिन से आपका पत्र मिला है, उस दिन से मैंने यह कार्य छोड़ दिया है। आगे से आपके नियत समय पर ही मैं दान-पुण्य किया करूँगी। परमंडल के ब्राह्मण-भोजन के सम्बन्ध में भी यही कहना है कि वह स्थान अत्यन्त पवित्र कहा जाता है, इसलिए वहाँ ब्राह्मण भेजे गए थे।

आप लिखते हैं कि आप पंजाब में सुव्यवस्था करने के, महाराज रणजीत-सिंह के परिवार और हमारे सम्मान की रक्षा के विशेष प्रयासी हैं। हमारी प्रतिष्ठा के लिए अँगरेज़ सरकार जो कुछ उपाय करेगी उसके लिए हम अँगरेज़ों के कृतज्ञ रहेंगे।

आपने जयपुर, जोधपुर और नैपाल की राजकुमारियों के समान मुझे भी पर्दे में रहने के लिये कहा है। इसके सम्बन्ध में केवल इतना ही कहना है कि वे राजकुमारियाँ राज्य-कार्य्य में भाग नहीं लेती हैं। अतएव उनका पर्दे में रहना सहज है। उनके राज्य में स्वामि-भक्त, बुद्धिमान और विश्वासी राज-कर्मचारी अपने राजा की भलाई की प्राण-पण से चेष्टा करते हैं। किन्तु यहाँ जिस राज-भक्ति से राज-कर्मचारी काम करते हैं सो आपसे अविदित नहीं है। आप यह विश्वास रखियेगा कि कोई अपरिचित व्यक्ति हमारे यहाँ ज़नाने में नहीं आता है और आगे भी कोई अपरिचित व्यक्ति नहीं आने पावेगा। जिस पर भी मेरी आप से यह प्रार्थना है कि आप ऐसे विश्वस्त सरदार नियुक्त कर दीजिये जो आपको मेरे सम्बन्ध में समाचार देते रहें। किन्तु दरबार का कोई भी सरदार इस काम के लिये नियुक्त न किया जाय। यह बड़ी खुशी की बात है कि महाराज रणजीतसिंह अँग्रेज़ों के साथ मित्रता कर गये हैं। जिसका अमृत-फल मैं और बालक महाराज दिलीपसिंह दोनों भोग रहे हैं। जब कभी आवश्यक समझें मुझे शिक्षा देने से चूकियेगा नहीं।"

कई इतिहास-लेखकों ने इस पत्रोत्तर को महारानी की कूटनीतिज्ञता बताया है? हम उनके विचार पर टिप्पणी नहीं करते। किन्तु इतना कहना अवश्य चाहते हैं कि महारानी ने अपनों (ख़ालसा) से बैर और ग़ैरों (थालसिंह आदि) से प्रेम करने का जो अपराध किया था उसका फल उन्हें तुरन्त भोगना पड़ा कि उन्हें राज्य-कार्य्य से अलग रहने ही को नहीं कहा गया, किन्तु पुण्य-धर्म करने तथा पर्दे से बाहर रहने पर भी हिदायतें सुननी पड़ीं। हैनरी की चिट्ठी "जिसकी लाठी तिस की भैंस" के सिवा क्या हो सकती है। धीरे-धीरे अँग्रेज़ी विज्ञप्तियों ने वह वातावरण पैदा कर दिया था जिससे मूर्ख भी समझने लग गये थे कि अँग्रेज़ पंजाब को हड़पना चाहते हैं। अँग्रेज़ों को महारानी के दान-पुण्य के तरीके में भी षडयंत्र की गंध आने लगी। यही क्यों रेज़ीडेन्ट हैनरी को महारानी के प्रत्येक कार्य्य में षडयंत्र की बू आती थी। मुल्तान से महारानी की एक सहेली सफ़ेद गन्ने लाई थी। रेज़ीडेन्ट ने गन्ने में भूत देखा। वह यह कि महारानी मुल्तान के दीवान मूलराज से मिलकर विद्रोह का झंडा खड़ा करना चाहती हैं। उन्हीं दिनों परमा नामक व्यक्ति ने तेजसिंह की हत्या की कोशिश की थी। इस साजिश में महारानी के सिक्रेट्रियों को भी गिरफ़्तार किया गया और महारानी पर मुक़द्दमा लार्ड हार्डिंग के चलाया गया। किन्तु लार्ड साहब ने महारानी को निर्दोष सिद्ध कर दिया।

इतना करके भी हैनरी साहब चुप न रहे। उन्होंने महारानी पर दोषारोपण किया कि वे बालक महाराज को बिगाड़ती हैं।

७ वीं अगस्त सन् १८४७ को अच्छा काम करने के उपलक्ष्य में अँगरेज सरकार की ओर से सिख सरदारों को उपाधें दी गई। तेजसिंह को राजा की उपाधि मिली थी। सिख दरबार का परम्परागत नियम था कि जिस किसी को यह उपाधि दी जाती थी पंजाब नरेश उसके स्वयं टीका करते थे। किन्तु उस दिन महाराज दरबार में देर से पहुँचे। हैनरी साहब ने महाराज से तेजसिंह के टीका कर देने को कहा। बालक महाराज ने अपने छोटे-छोटे हाथों को पीछे की ओर हटाकर करने से मना कर दिया। रेजीडेण्ट हैनरी ने सिख पुरोहित से टीका करवा दिया। रात को प्रसन्नता में आतिश-बाजी के खेल हुये। महाराज वहाँ भी नहीं गये। रेजीडेण्ट ने समझ लिया कि यह सब काम महारानी साहिबा के हैं।

लार्ड हार्डिङ्ग, सर हैनरी आदि सभी के दिल में यह बात समा गई कि यदि दिलीपसिंह अपनी माता के पास बहुत दिनों तक रहेंगे तो वे बिल्कुल अयोग्य हो जावेंगे। इसलिए महारानी के प्रभाव से महाराज को अलग रक्खा जाना उचित है। इसी विचार के अनुसार लार्ड हार्डिङ्ग ने १६ वीं अगस्त को सर हैनरी लारेंस को लिखा कि "महारानी को लाहौर से निर्वासित करने के सम्बन्ध में दरबार में स्पष्ट रूप से सम्मति ली जाय।" अँगरेजों के मनोनीत सभासद भला लाट साहब के प्रस्ताव के खिलाफ़ बोल सकते थे? उनके लिए लाहौर से १६ कोस की दूरी पर शेखूपुरा में चार हजार मासिक की वृत्ति पर नजरबन्द रहने का प्रस्ताव पास होगया। महारानी साहिबा को लाहौर से निर्वासित करते समय बालक दिलीपसिंह को शालामार बाग़ में भेज दिया गया था। रात भर आपको वहीं रखा गया। सवेरे लाहौर लौटने पर उन्हें मालूम हुआ कि उनकी माता निर्वासित करदी गई हैं। मातृ-वियोग में वे बड़े दुखी हुये। उन्होंने अपने नित के स्थान समन-बुर्ज में रहने की मनाही कर दी और तख्तगाह के पास के कमरों में रहने लगे। कुछ दिन के बाद आपकी माता ने आपके पास कुशल-समाचार भेजे। खाने को मिठाई तथा खेलने को तोते भेजे। उन्हें पाकर महाराज बड़े प्रसन्न हुये। पर आगे से रेजीडेण्ट ने माता-पुत्र के बीच पत्र-व्यवहार को भी बन्द कर दिया।

लाहौर छोड़ने से पहिले महारानी एक बार रेजीडेण्ड से मिलना चाहती थीं। किन्तु रेजीडेण्ट ने मिलने से इनकार कर दिया। अलबत्ता उनसे कहा गया कि वे अपने जेवर आदि सब साथ ले जा सकती हैं और यदि सब साथ न ले जायँ तो अपने नौकरों के पास जिन पर उन्हें विश्वास हो छोड़ सकती हैं। तेजसिंह ने कहा था कि महारानी अपने साथ छः लाख के क़रीब के आभूषण तथा जवाहिरात लेगई थीं। पंजाब में उन दिनों यह भी अफ़वाह उड़ी थी कि महारानी साहिबा को शेखूपुरा जाने के लिए ज़बर्दस्ती से केश पकड़ कर के निकाला गया है। किन्तु सरकारी कागज़-पत्रों से मालूम हुआ है कि हैनरी साहब ने उन्हें सम्मान पूर्वक शेखूपुरा पहुँचाया

था। १६ वीं अगस्त को महारानी शेखूपुरा पहुँची थीं। यह स्थान मुस्लिम आबादी के बीच में था। उनकी रखवारी का भार भूरसिंह नामक व्यक्ति पर सौंपा गया था।

इस घटना के थोड़े ही दिन पीछे हैनरी साहब का स्वास्थ्य खराब हो गया। इसलिए वे डाक्टरों की सलाह से अपना स्वास्थ्य सुधारने के लिये इंगलैण्ड चले गये। उनके स्थान पर सर फ्रेडिक कैरी पंजाब के नये रेज़ीडेण्ट मुकर्रिर हुए। लार्ड हार्डिंग के शासन के भी दिन पूरे हो चुके थे। उनके स्थान पर मारक्विस आफ़ डलहौज़ी भारत के गवर्नर जनरल नियुक्त हुए। लार्ड हार्डिंग ने लार्ड डलहौज़ी को चार्ज सँभालते हुए कहा था कि भारत में अगले सात वर्ष तक गोली चलाने की किञ्चित भी आवश्यकता न रहेगी। किन्तु प्रत्येक अँगरेज़ वही करता है जिसे वह अपने देश के लिए हितकर समझता है। लार्ड डलहौज़ी नहीं चाहते थे कि भारत के देशी राज्य बने रहें। उन्होंने अपनी बुद्धिमानी के अनुसार पंजाब के साथ भी वही सलूक किया जो वह उचित समझते थे।

पंजाब के नये रेज़ीडेण्ट ने ६ अप्रेल सन् १८४७ को गवर्नर जनरल को लिखा था कि समस्त पंजाब में पूर्ण शान्ति है। सर्व साधारण वर्तमान अवस्था से संतुष्ट हैं। लार्ड डलहौज़ी स्वयम् भी इसके पूर्व ही विलायत कोर्ट आफ़ डाइरेक्टर्स को लिख चुके थे कि पंजाब में किसी प्रकार का उपद्रव नहीं है। वहाँ पूरी तरह से शान्ति है। महारानी जिन्दा के निर्वासन से पंजाब निवासी क्षुब्ध थे किन्तु फिर भी वे कोई झगड़ा मचाना पसन्द नहीं करते थे। एक बात और भी थी कि पुराने खालसा के सैनिक और सरदार अब लाहौर की सेना में नहीं थे, न खालसा का अब वह जोर था। नहीं तो यह हो नहीं सकता था कि महारानी इस तरह निर्वासित कर दी जातीं। खालसा में चाहे उद्दण्डता रही हो, राजनैतिक ज्ञान की कमी रही हो, किन्तु राज-परिवार के प्रति उसके हृदय में कूट-कूट कर भक्ति भरी हुई थी।

मुल्तान-विद्रोह

मुल्तान लाहौर-दरबार के नीचे एक सूबा था। महाराज रणजीतसिंह के समय में वहाँ का दीवान सावनमल था। उसके मरने पर उसका बेटा मूलराज दीवान हुआ। मूलराज ने राजधानी लाहौर में गृह-कलह देख कर खालसा-दरबार को ख़िराज देना बन्द कर दिया और अपने लिए खुद-मुख़तार शासक घोषित कर दिया। इसलिए उस पर सन् १८४५ ई० में लाहौर-दरबार ने चढ़ाई कर दी थी और इस युद्ध के उपरान्त उसने लाहौर दरबार को अठारह लाख रुपया देना मंजूर कर लिया; किन्तु इसी बीच अँगरेजों से सिख-दरबार की लड़ाई छिड़ जाने के कारण मूलराज रुपया अदा करने से चुपकी लगा गया। युद्ध समाप्त होने पर मंत्री लालसिंह ने सिख-सेना मूलराज के विरुद्ध युद्ध करने को भेजी; किन्तु

इस सेना को मूलराज ने हरा दिया। सर हैनरी लारेन्स ने मध्यस्थ बन कर झगड़ा मिटाने के लिए यह फ़ैसला किया कि एक तो मूलराज झंग को छोड़ दे और अब तक का बकाया कुल खिराज तथा दीवानी प्राप्त करने का नज़राना दरबार को दे। इसके पूरा करने के लिए मालगुज़ारी और चुंगी बढ़ा दी जावे। दूसरे मुल्तान के दीवानी-फ़ौजदारी के मामलों की अन्तिम अपील लाहौर-दरबार में हुआ करें। इस निर्णय के अनुसार मूलराज को पन्द्रह लाख सत्ताईस हज़ार के बजाय सोलह लाख अड़सठ हज़ार देना पड़ता था। निर्णय के समय तो मूलराज बहुत प्रसन्न हुआ; किन्तु पीछे मालगुज़ारी की उगाही में कठिनाई आने के कारण घबराहट पैदा हुई और इसीलिए उसने सन् १८४७ ई० में लाहौर आकर अपने पद से इस्तैफ़ा दे दिया। कारण उसने यह बताये कि मालगुज़ारी बढ़ाई जाने के कारण वसूली में कठिनाई पड़ती है। दूसरे उनके यहाँ के अभियोगों की अपील लाहौर होने से प्रजा पर से उनका प्रभाव कम हो गया है। इस्तैफ़ा के साथ ही मूलराज ने यह भी प्रार्थना की कि गुज़ारे के लिए उसे कोई जागीर दे दी जाय। साथ ही इस्तैफ़ा को दरबार से गुप्त रक्खा जाय।

जिस समय यह इस्तैफ़ा पेश हुआ, उस समय लाहौर में रेजीडेण्ट सर हैनरी लारेन्स न था, वह विलायत चला गया था। सर फ्र`डिक कैरी के आने तक हैनरी का छोटा भाई जौन लारेन्स कार्य कर रहा था। उसने मूलराज को इस्तैफ़ा वापिस लेने के लिए समझाया। मूलराज ने इस्तैफ़ा वापिस लेना मंजूर न किया और वह वापिस मुल्तान आ गया। फिर भी जौन लारेन्स ने उसे लिखा कि इस्तैफ़ा वापिस लेना चाहो तो अभी वापिस दिया जा सकता है; लेकिन मूलराज रज़ामन्द न हुआ। जब मि० फ्र`डिक कैरी पंजाब का रेजाडेण्ट हो कर आ गया तो उसने भी मूलराज को इस्तैफ़ा वापिस लेने के लिए लिखा, किन्तु मूलराज की कुछ समझ में न आया। इस पर रेजीडेन्ट कैरी ने मूलराज को लिख भेजा कि इस्तैफ़ा मंजूर होने पर उन्हें कोई जागीर न दी जावेगी किन्तु पिछले दस बरस का हिसाब और देना होगा। मूलराज ने इसके उत्तर में लिख भेजा कि—"मैं किसी न किसी भांति अपने बापके समय के काग़ज़-पत्र इकट्ठा करूँगा। लेकिन उन सब काग़ज़ों को दीमक खा गई हैं। उससे आपका कोई मतलब हल न होगा। मैं तो सब तरह से आपके आधीन हूँ।" मूलराज के इस उत्तर के आने पर रेजीडेन्ट ने सरदार काहनसिंह को सूबेदार मुक़र्रिर करके मुल्तान को भेजा।[1] और उसके साथ वारेन्स अगन्यू और लेफ्टीनेन्ट अन्डरसन की मातहती में ६ तोपें तथा कुछ फ़ौज भी भेजी। मूलराज ने इनके मुल्तान में पहुँचने पर बड़ी इज्ज़त के साथ इनका स्वागत-सत्कार किया। दूसरे दिन हिसाब-किताब हुआ जिसमें अँग्रेजी अफ़सरों और मूलराज के बीच कुछ अन-बन हो गई। किन्तु आखिर में सब ठीक

१—सिख-युद्ध (बंगवासी स्टीम प्रेस से मुद्रित) के लेखक ने काहनसिंह के स्थान पर खानबहादुरख़ां लिखा है। पे० १६।

प्रत्येक ऋतु को सहन नहीं कर सकते तो वहाँ हम कदापि नहीं ठहर सकते हैं१ ।"
(Trotar's History of India vol I. P. 134 में) मेजर इवान्सवेल का कथन है कि—यदि सेना भेजने की यह देरी सरल अन्तःकरण से हुई हो तो मैं इसको अराजनैतिक और भ्रमात्मक कहूँगा और यदि इस नीयत से सेना भेजने में देरी हुई हो कि समस्त पंजाब में अराजकता छा जाने से बृटिश गवर्नमेण्ट रणजीतसिंह के राज्य को ज़ब्त कर लेगी तो मैं इस चाल को घृणित और कलंकित कहूँगा ।

अंग्रेज़ों के बड़े-बड़े अधिकारी तो राजनैतिक दाव-पेचों में गोते लगा रहे थे, किन्तु मेजर ऐडवार्डिस डेरागाजी में स्थित जनरल कोर्टलेण्ड की सेना की सहायता लेकर मुल्तान के विद्रोहियों को दबाने के लिये तैयार हो गए। कोर्टलेण्ड की सेना में सुबानखाँ की कुछ सेना व ६ तोपें भी थीं । यह भी ऐडवार्डिस ने साथ लेलीं और सन् १८४८ ई० की ११ मई को मानग्रोटा क़िले पर कब्ज़ा कर लिया । कुछ ही समय पश्चात् कोर्टलेण्ड ऐडवार्डिस का साथ छोड़ गया क्योंकि रेजीडेण्ट की आज्ञा उसे वापिस लौटने की थी । फिर भी ऐडवार्डिस विद्रोह को दबाने में लगे रहे । उन्होंने प्रायः ५०० पाँच सौ विद्रोहियों से हथियार ले लिये और उन्हें काबू में कर लिया। १६ मई को अपनी ही जिम्मेवारी पर नवाब बहावलपुर से सहायता की प्रार्थना की । इसी बीच में उन्हें पता लगा कि कुछ विद्रोहियों ने पीरावालो पहुँच कर उत्पात करने की ठानी है। एडवार्डिस ने ३२ मील के लम्बे सफर को तय कर के पीरावालो में पहुँच कर कोर्टलेंड को सहायता दी। किन्तु विद्रोहियों ने कुछ उत्पात न किया था । कौराखाँ भी आकर एडवार्डिस से मिल गया। इसने विद्रोहियों के दबाने में खूब बहादुरी दिखाई थी . यह अँगरेज़ों का मित्र और खौस लोगों का सरदार था । बहावलपुर के नवाब की १२ हजार सेना की सहायता तथा अन्य ज़मीदारों की सहायता से एडवार्डिस विद्रोह को दबाने में कोशिश करने लगे ।

विद्रोही दल ने रङ्गाराम के संचालन में कनेरी के घाट पर एडवार्डिस से घोर युद्ध किया । बहावलपुर की सेना ने इस युद्ध में विशेष बहादुरी का कोई भी काम नहीं किया। मि० एडवार्डिस के पाँव उखड़ गये । वे भागना ही चाहते थे कि इतने में कोर्टलैण्ड की भेजी हुई कुछ सेना आ गई। इससे विद्रोहियों के पाँव उखड़ गये और वे अपनी ८ तोपें छोड़ कर भाग गये। इस हार के कारण मूलराज के हाथ से सिन्ध और चिनाव के बीच के इलाके निकल गये। बहावलपुर के नवाब ने इस समय और भी सहायता एडवार्डिस की यह की कि उसने सहायतार्थ पचास हजार रुपए दिये। लाहौर दरबार की ओर से इमामुद्दीन चार हजार सेना लेकर इसी समय आ गया । इस तरह से एडवार्डिस के पास २२ तोपें और अठारह हजार सेना हो गई । एडवार्डिस इन सेनाओं को लेकर मुल्तान की ओर बढ़े। मूलराज ने, जब कि ये लोग मुल्तान से केवल ८ मील दूर रहे थे, ग्यारह

१—Kaye's Lives of Indian officers vol, II P. 397-8.

हजार सेना और १० तोपें ले आक्रमण किया। मूलराज की सेना ने इस समय अद्भुत वीरता दिखाई कि अँगरेज़ी सेना के पाँव उखड़ गये। किन्तु इसी समय दुर्घटित घटना ने रङ्ग बदल दिला। मूलराज के हाथी के ऊपर तोप का एक गोला गिरा जिस से वह हौदे से नीचे गिर पड़ा। मूलराज की सेना उसे मरा हुआ जान कर भाग खड़ी हुई। मूलराज तुरन्त घोड़े पर सवार होकर २८१ आदमियों को खेत में छोड़ कर मुल्तान दुर्ग में भाग गये। यह युद्ध पहिली जुलाई सन् १८४८ ई० को हुआ था।

एडवार्डिस की यह विजय कुछ विशेष लाभकारी न हुई क्योंकि उसे मुल्तान जीतना आसान दिखाई न देता था। उस के लिए बड़े-बड़े इञ्जीनियरों की आवश्यकता थी। मुल्तान का दुर्ग लेना वास्तव में टेढ़ी खीर थी। मूलराज ने किले में बैठ कर तयारी करनी शुरू कर दी। सिख लोग अँगरेज़ों के कृत्यों से रात दिन अधिकाधिक कुढ़ते जा रहे थे। इसीलिए वे दल के दल विद्रोही सरदार मूलराज की सहायता के लिए इकट्ठे होने लगे। मि० एडवार्डिस ने अपने इतिहास में लिखा है कि—"सिख सेना से सहायता पाने के भरोसे मूलराज बागी नहीं हुआ था; किन्तु वृटिश गवर्नमेएट के द्वारा उसे न दबाने के कारण वह सिख सेना को विद्रोही बनाने में सफल हुआ।" उन्होंने अपने इतिहास में एक अन्य स्थान पर लिखा है—"मैं पंजाब के दूसरे अँगरेज़ों के साथ स्थिर विश्वास रखता हूँ कि यदि मुल्तान-विद्रोह शीघ्र दबा दिया जाता, तो कभी भी उससे दूसरा सिख-युद्ध न उभड़ता। यदि सन् १८४८ ई० के जून में या जुलाई में मुल्तान वृटिश सेना द्वारा उससे छीन लिया जाता तो कभी भी रणजीतसिंह के राज्य को डुबा देने का मौक़ा नहीं मिलता।"

महारानी जिन्दा के निर्वासन के कुफल

यह पहिले ही लिखा जा चुका है कि महारानी जिन्दा शेख़पुरा में ले जाकर नज़रबन्द कर दी गई थीं। नया रेजीडेएट सर फ्रेडरिक कैरी महारानी की प्रत्येक चाल-चल पर ध्यान रखता था। वह उन्हें सन्देह की दृष्टि से खाली न देखता था। ...ी को समाचार मिला कि महारानी से लालसिंह का एक अर्दली साहबसिंह ... रूप से मिला है। उसने तुरन्त महारानी को भविष्य में इस प्रकार मिलने की ...ध आज्ञा दी और साहबसिंह को डांट बताई कि भविष्य में वह शेख़ूपुरा दुर्ग ...कट भी देखा गया तो उसे दंडित किया जायगा। इस घटना के कुछ ही समय ... महारानी ने अपने क़िले के पहरेदारों को साठ-साठ रुपये की कण्ठी इनाम ... साथ ही आज्ञा दी कि यदि कोई भी सैनिक और सेनापति महारानी से ...र स्वरूप कोई वस्तु लेगा तो उसे सज़ा दी जावेगी। पहरेदारों से वे कंठियाँ ...पिस करा दीं। इतने पर भी कैरी को सन्तोष न हुआ और पुराने पहरेदारों ... कर नये नियुक्त किये गये, जो कि अधिकांश में महारानी से द्वेष रखते

वाले थे। इसके पश्चात् रेजीडेण्ट कैरी को समाचार मिला कि महारानी ने महाराज दिलीपसिंह और राजा गुलाबसिंह के पास एक-एक आदमी भेजा है; किन्तु यह बात साबित न हो सकी। फिर भी महारानी की निगरानी और भी कठोर हो गई। रेजीडेण्ट ने यह भी नृशंस आज्ञा दी कि महारानी अपनी सेविकाओं व सेवकों के सिवाय किसी से बात-चीत न किया करें। वे अपने पत्रों को जो उन्हें बाहर भेजने हों, पहिले क़िलेदार को दिखा दिया करें। उनको अपने राज्य में ही ग़ैरों द्वारा उन्हें इस तरह से अपमानित और दुखित किया जा रहा था इससे सिख लोगों की आन्तरिक ज्वाला और भी धधकने लगी। महारानी ने लाचार होकर अपनी शोचनीय अवस्था का ज्ञान कराने के लिए अपने वकील जीवनसिंह को लार्ड डलहौज़ी के पास कलकत्ता भेजा।

सन् १८४८ ई० की दूसरी फ़र्वरी को जीवनसिंह ने कलकत्ता पहुँच कर लार्ड डलहौज़ी से निवेदन किया कि मैं महारानी की ओर से वकील नियुक्त होकर सेवा में हाज़िर हुआ हूँ। उनके साथ जो निष्ठुर और अन्याय पूर्ण व्यवहार हो रहा है उससे वे बहुत दुखी हैं। वह कौनसा अपराध है जिसके लिये उन्हें बृटिश गवर्नमेण्ट की ओर से ऐसी यातनायें दी जा रही हैं? इसकी निष्पक्ष जाँच होनी चाहिये। क्योंकि महारानी इस समय अँग्रेज़ों की संरक्षा में हैं। जब तक इस विषय की तहकीक़ात न हो जाय तब तक उनके साथ राज-माता और राज-रानी के समान व्यवहार होना चाहिये। न उन्हें तब तक अपने हितैपियों-सम्बन्धियों और सलाह-कारों से भेंट करने से रोका जाय। वास्तविक बात क्या है इसकी शीघ्र जाँच होनी चाहिये। लार्ड डलहौज़ी की सरकार ने जीवनसिंह को जो उत्तर दिया वह बिल्कुल अनुचित और अन्याय पूर्ण था। "सरकार जीवनसिंह को महारानी का वकील नहीं मानती है। महारानी को जो कुछ कहना हो वह रेजीडेण्ट द्वारा कहलायें"। यह डलहौज़ी की सरकार का उत्तर था। जिसके विरुद्ध शिकायत थी उसी के द्वारा शिकायत की जाय। क्या खूब? यह उत्तर जीवनसिंह को १८ फ़र्वरी को मिला था। उन्होंने २३ फ़र्वरी को फिर गवर्नमेण्ट से प्रार्थना की—"जहाँ शेखूपुरा में महारानी को क़ैद किया गया है वह साधारण क़ैदियों का क़ैदखाना है। जिन सरदारों को वहाँ रखवाली के लिये रक्खा गया है, उन सरदारों के पकड़ने के कारण ही महा-रानी ने अपनी तथा अपनी संतान की रक्षा के लिये पहिले बृटिश सेना की सहायता माँगी थी। इस समय महारानी अपने किसी भी हितचिन्तक से यहाँ तक कि अपने धर्मगुरु से भी नहीं मिल सकतीं हैं। अधिक क्या जो थोड़ी सी बांदी-दासियां उनके पास हैं वे भी उनके शत्रुओं की रखी हैं। महारानी के साथ यहाँ तक कठोर बर्ताव किया जाता है कि उनकी इच्छानुसार खाने-पीने की भी चीज़ें नहीं मिलती हैं। लाहौर में महारानी के जो भाई-बन्धु हैं वे यहां तक डर गये हैं कि उनकी समझ में रेजीडेण्ट से महारानी की कठोर यातना की कोई भी बात कहने से उन्हें भी रेजीडेण्ट का कोप भाजन होना पड़ेगा। अच्छा हो कि गवर्नमेण्ट महारानी की रक्षा

का भार किसी बृटिश कर्मचारी के सुपुर्द सौंप दे। इसके उत्तर में लार्ड डलहौजी ने जीवनसिंह को जो उत्तर दिया था वह एक-दम से उनकी बदनीयत को जाहिर करने वाला तो है ही साथ ही वह इतना अनुचित भी है कि कोई भी ईमानदार और योग्य आदमी इस उत्तर को दाद नहीं दे सकता। डलहौजी ने कहा—"महारानी ने अपने आपको रणजीतसिंह की विधवा और मौजूदा महाराज की माँ कहकर दरख्वास्त की है, इसलिए वह मुझसे किसी किस्म की उम्मेद न करें१।" क्या महारानी जिन्दा रणजीतसिंह की विधवा न थीं और क्या महाराज दिलीप की माँ जिन्दा के बजाय विलायत की कोई भिख मंगी मेम थी? इसमें उन्होंने अपराध ही क्या किया था?

इसके दो तीन मास पश्चात मई महीने में रेजीडेण्ट को पता लगा कि मुलतान की बग़ावत में साजिश पाई जाती है, और इस साजिश में महारानी जिन्दा का भी हाथ है। क्योंकि उनके वकील गंगाराम और कई अन्य व्यक्तियों के शामिल होने का सबूत हो चुका था। गंगाराम को एक सिख समेत फांसी पर चढ़ा दिया गया और दो आदमियों को देश निकाले की सजा हुई। विचार यह किया जाने लगा कि खुली अदालत में महारानी का अभियोग सुना जावे। वाहरे अँगरेज़ जाति तेरी हिम्मत! जिस महारानी के पति रणजीतसिंह के लिए जिनको वादशाह तक भेट भेजते थे उन्हीं की प्राणप्यारी महबूबा पर जुर्म लगा कर खुली अदालत में फ़ैसला किया जावे! आख़िर कुछ सोच समझ कर मुकद्दमा न चलाया गया और निर्णय हुआ कि महारानी साहिबा को पंजाब से वाहर कर दिया जाय। इस आज्ञा पर कौंसिल के तीन मेम्बरों के दस्तख़त कराये गए जिनमें एक राजा तेजसिंह दूसरा हजारा के शेरसिंह का भाई गुलाबसिंह था। इस फैसले में यह भी लिखा गया कि यदि काशी में महारानी के किसी और साजिश में शामिल होने की ख़बर लगी तो उन्हें चुनार में बन्द करके क़ैद को बहुत सख़्त कर दिया जावेगा।" १४ जून को रेजीडेण्ट ने महारानी को एक चिट्ठी लिखी जिसमें लिखा था कि—मैं कप्तान लिमिडन और लेफ्टीनेण्ट हडसन के साथ कुछ सरदार भेजता हूँ। यह लोग शेख़ूपुरा से वाहर जाने के सम्बन्ध में आप से कुछ कहें आप उस पर अमल करने में देरी न करें। यह लोग आपको इज्ज़त से ले जायेंगे। आपको किसी भी भाँति का शारीरिक कष्ट देने का ख्याल नहीं है। इस चिट्ठी पर बालक महाराज दिलीपसिंहजी की भी मुहर लगवादी। यह और भी नाटक का एक विचित्र सीन था कि महारानी के देश निकाले पर उसके बेटे की मुहर! सो भी उस हालत में जब कि बेचारे दिलीप नाबालिग़ हैं; राज-काज में उनका कोई भी दख़ल नहीं है।

इस पत्र को लेकर रेजीडेण्ट के आदमी शेख़ूपुरा पहुँचे। अब उन्होंने महारानी के हाथ में देश निकाले को आज्ञापत्र दिया तो उन्होंने बड़े धैर्य का परिचय

१—तारीख़ पंजाब। भाई परमानंदजी। पे० ४२१।

दिया। अविचलित हृदय से महारानी न केवल इतना ही पूछा—"मुझे कहाँ ले चलोगे ?" कप्तान ने जवाब में कहा—यह बात महारानी को बताने में मैं असमर्थ हूँ। केवल इतना कह सकता हूँ कि महारानी को किसी भी प्रकार का कष्ट न होगा और न उन्हें अपमानित ही होना पड़ेगा। महाराना ने समझा शायद लाहौर लिये जा रहे हैं। लेकिन जब लाहौर से भी उन्हें आगे ले जाया गया तो उन्होंने कप्तान को बुला कर पूछा—मैं तुम से फिर पूछती हूँ मुझे कहाँ लिये जा रहे हो ? क्या मेरे देश से बाहर बृटिश भारत में लिए जा रहे हो ? मेरी ओर से रेजीडेण्ट से कहना कि उन्होंने मुझे अँगरेज़ी राज्य में रक्खा है इसके लिए मैं उनकी कृतज्ञ हूँ।

बनारस पहुँचने पर मेजर मेकग्रेगर उनके रक्षक नियुक्त हुए। बनारस में उनसे उनके कुल ज़ेवर जो कि पचास लाख की कीमत के थे और दो लाख रुपए नक़द सरकार अँगरेज़ ने ले लिए। साथ ही उनकी मासिक वृत्ति भी चार हज़ार से घटा कर एक हजार मासिक कर दी गई। महारानीजी से ज़ेवर और रुपए छीन लेने के सम्बन्ध में रेजीडेण्ट ने लिखा था—"कुछ षडयंत्र सम्बन्धी चिट्ठियाँ मिली हैं। किन्तु कहा नहीं जा सकता कि ये सही हैं या नहीं। यदि सही हैं तो महारानी बड़े घृणित षडयन्त्र में फँसी हैं। लाहौर में जो कागज़-पत्र मिले हैं उनमें महारानी की कछ असली चिट्ठियाँ भी हैं। पंजाब से अकस्मात उनका निर्वासन किये जाने के कारण वे चिट्ठियाँ उनको नहीं दी गई हैं।" सन् १८४८ ई० की जुलाई को इसी अपराध के आक्षेप में उनके कुल ज़ेवर ले लिए गए।

महारानी के निर्वासन के उपरान्त पंजाब के रेज़ीडेण्ट मि० कैरी ने लिखा था—"सौभाग्य वश पंजाब में महारानी के निर्वासित होते समय किसी प्रकार का झगड़ा-बखेड़ा न हुआ। किसी ने भी मेरे विरुद्ध जबान नहीं हिलाई। यहाँ तक कि महारानी के नौकर-चाकर भी शिष्टता के साथ कार्य करते रहे। इसका कारण यह मालूम होता है कि कुछ दिन पहिले अपराधियों को फांसी आदि की जो कठोर सजाएँ दी गई थीं उससे दूसरे लोग भी समझने लगे कि कहीं हमारे साथ भी ऐसा न हो।" आगे कैरी ने महारानी के सम्बन्ध में लिखा था—"मालूम होता है महारानी को भी यह डर हो गया था कि कहीं उनकी भी ऐसी ही दशा न हो।"

यह सही है कि अँगरेज़ महारानी की भी ऐसी दशा कर सकते; किन्तु उन्होंने महरबानी पूर्वक नहीं किया, यह कौन कह सकता है। खालसा के वीर-सैनिक क्या इतने दमन किये जा चुके थे कि पंजाब को वह अपना ख़ून बहा कर तथा अँगरेज़ों की जान लेकर लाल न कर देते ? हम तो यही समझते हैं कि खालसा के डर से पंजाब में महारानी के साथ बनारस जैसा दुर्व्यवहार नहीं किया गया था। क्योंकि रेज़ीडेण्ट कैरी बहादुर ने उस समय वाइसराय को लिखा था—"राजा शेरसिंह के ख़ेमे से ख़बर आई है कि खालसा-सेना महारानी के देश निकाले के समाचार से बड़ी अधीर हुई है। सेना के लोगों ने कहा है कि महारानी खालसा
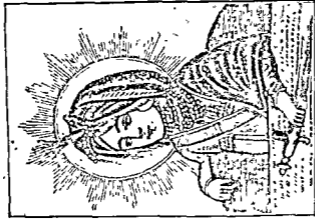
महाराज दलीपसिंह ।
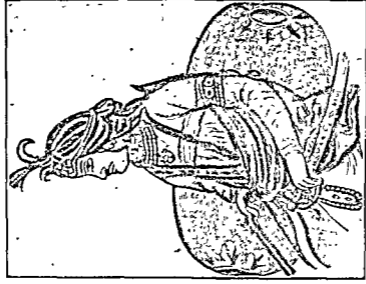
कुमार नौनिहाल सिंह ।
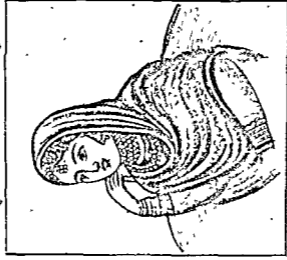
रानी झिन्दन या चन्द्रावती ।
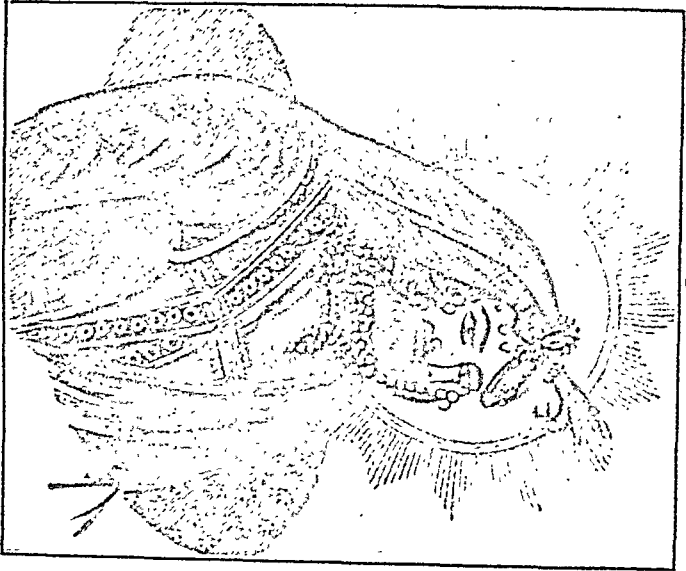
महाराज शेरसिंह।
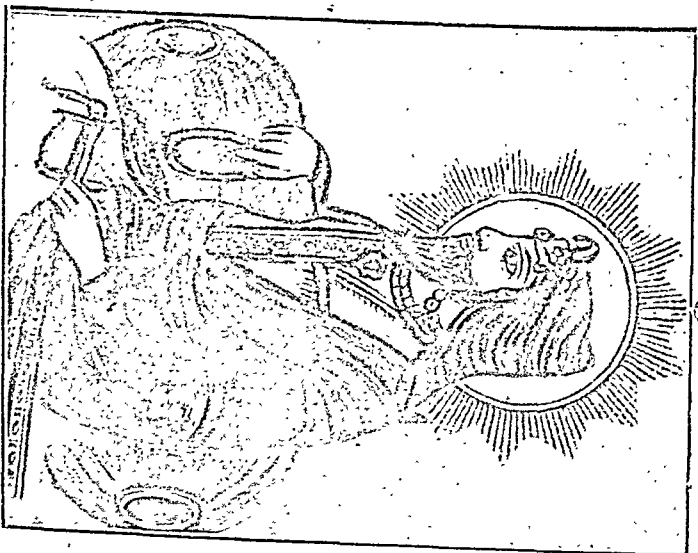
महाराज खड़गसिंह।

की माता हैं। जब कि वही देश से निकाली गईं और बालक महाराज हमारे हाथ में हैं, तो हम अब दूसरे किस की रक्षा करें ? हमें किसी के लिए लड़ने का प्रयोजन मालूम नहीं होता है। हम लोग अब मूलराज के विरोधी न होकर अपने सेनापति और सरदारों को क़ैद करके मूलराज के पक्ष में हो जायँगे।" तत्कालीन सरकार के पत्रों से जाना जाता है—"सन् १८४८ ई० की २४ वीं नवम्बर को शेरसिंह एवं अन्य सरदार लोग इसे स्पष्ट प्रगट कर चुके थे कि महारानी के निर्वासन से शासन-कार्य कठिनाइयों से करना पड़ता है।" अतः यह सही तो क्या असम्भव था कि महारानी और सिक्ख सरदार डर गये थे। इस असन्तोष का विस्फोट भी कुछ काल बाद का दूसरा सिक्ख युद्ध था।

जो अँगरेज़ सामने से स्त्री को आते देख कर सर से टोप उतार कर स्त्रियों का आदर प्रगट करते हैं, स्त्रियों के प्रति सत्कार प्रदर्शित करने में अपना सानी नहीं समझते। वही अँगरेज़ इतनी नीचता पर उतरे कि उन्होंने अपने मित्र रणजीतसिंह की स्त्री के साथ ऐसा घृणित व्यवहार किया। 'इङ्गलिश मैन' ने जो भारत का कट्टर विरोधी है, १८४८ ई० की २७ जनवरी के अङ्क में लिखा था—"महारानी की क़ैद और देश निकाला बड़े भयावने अत्याचार के कार्य हैं।............इस नारी के साथ जैसा कठोर वर्त्ताव किया है, वह हमारे जातीय कलंक का एक उदाहरण है।" इसी तरह उस समय के कठोर से कठोर व्यक्तियों ने भी इसकी निन्दा की है।

आपत्तियों की भी कोई हद होती है। पर शासकों को किसने और कहाँ रोक पाया है ? इसलिए महारानी के कष्टों की हद नहीं आई और वे दिन पर दिन नये कष्टों को देखतीं रहीं। एक हज़ार रुपये मासिक से काम चलना मुश्किल था, पर करतीं हीं क्या ? वे किसी से मिल भी नहीं सकती थीं, न किसी से बात ही कर सकती थीं। ओह परिवर्त्तन तू कितना भयङ्कर हो सकता है ! जिस राज-रानी के नौकरों का हज़ारों रुपए का खर्च था, वही आज एक हज़ार में अपना काम चलाने को बाध्य हो गईं !

जिस अपराधी के अपराध के लिए कोई सबूत न हो, बार-बार सबूत न होने के प्रमाण हों, प्रथम तो उसे अपराधी ही कैसे कहा जा सकता है, यह ही चिन्त्य है, परन्तु उसे दोषी ही नहीं उसका सर्वस्व भी छीना गया। उनके अपराध के बारे में मेकग्रेगर ने वाइसराय को लिखा था कि—"तैंतीस पत्र मिले हैं, पर इनमें विद्रोह-सूचक कुछ भी नहीं है।" बलिहारी है ऐसे न्याय की !

जीवनसिंह ने महारानी के १०००) से गुजारा न होने की वकालत के लिए न्यूमार्च को कलकत्ते पहुँच, नियुक्त किया। न्यूमार्च ने महारानी से मिलने की प्रार्थना की। वकील की हैसियत से अकेले बनारस में मिलने की आज्ञा मिली। बनारस पहुँच न्यूमार्च आठ दिन रहे और कई बार मुलाक़ात की। खर्च के सभी ब्योरों का अनुसन्धान किया और अत्यन्त विनीत शब्दों में केवल १००:०)

मासिक रक़म व्यय की और बढ़ाने की प्रार्थना की गई। महारानी ने जवाहिरात और सम्पत्ति की भी सूची माँगी और यह भी पूछा कि लाहौर दरबार और दूसरे कौन-कौन इस सम्पत्ति के किस-किस अंश में दावेदार हैं ?

आशा ही मनुष्य की संकटावस्था पर जीते रहने का मुख्य सहारा है। यद्यपि महारानी के साथ कठोर से कठोर व्यवहार हो रहा था परन्तु अभी मनुष्योचित दयालुता की परीक्षा के लिए खर्च की रक़म बढ़ाने की प्रार्थना कर उत्तर की प्रतीक्षा की गई! पर हुआ वही जो लगातार दुःखों की बढ़ती हुई संख्या बता रही थी कि—"हमारे किए हुए निश्चय ईश्वर के निश्चय से कम नहीं हैं बल्कि वे बदल सकते हैं पर यह नहीं।" ५ वीं नवम्बर को लाट साहब का उत्तर मिला—"इस समय जो रक़म महारानी के खर्च के लिए मिल रही है, उससे वे अच्छी तरह अपना निर्वाह कर सकती हैं।" इस भाँति सब ओर से महारानी को निराश होना पड़ा। दुबारा जांच की प्रार्थना की गई पर वहाँ भी महारानी का अभाग्य अड़ बैठा और मेजर मेकग्रेगर ने सन् १८४८ की १८ वीं नवम्बर को सूचना दी।" गवर्नर जनरल महारानी के विषय में फिर तहक़ीकात करने की कोई आवश्यकता नहीं देखते हैं इसलिए उन्होंने महारानी के आवेदन को स्वीकार नहीं किया है। कलकत्ते का सुप्रीम कोर्ट का दरवाजा भी खटखटाया पर वहाँ भी कुछ ध्यान न दिया गया।

सब ओर से निराश होकर न्यूमार्च साहब ने इँग्लैण्ड में कोर्ट ऑफ डाइरेक्टर्स-सभा में महारानी की कष्ट कथा रखने के लिए २५०००) माँगे! पर भला जहाँ एक-एक हज़ार के लिए प्रार्थना की जाती थी वहाँ २५०००) कहाँ? हाँ, शेख़ूपुरा में रहते अवश्य प्रबन्ध हो सकता था क्योंकि उस समय महारानी के पास ५००००००) पचास लाख का तो गहना था और दो लाख नक़द थे। पर यहाँ (बनारस में) तो सर्वस्व हरण हो चुका था—निर्लज्जता की हद हो चुकी थी—न········कर के इनकी तलाशी तक ले ली गई थी। यहाँ २५०००) कहाँ? अतः यह विचार होकर ही रह गया।

महारानी जिन्दा! पंजाब खालसा की माँ जिन्दा! तुम्हारे दुःखमय परिवर्तन! दुर्भाग्य के दिन, लगातार निराशा के झोंके की कहानी इतिहास में नहीं मिलती। तुम्हारे दिनों की दाहक उलट-फेर को देख कर बड़े-बड़े धैर्यवानों के धैर्य किनारा कर गए। अग्नि धधक उठी! ठीक है लगातार रगड़ से चन्दन भी आग उगलता है—इसी तरह दूसरा सिख-युद्ध फट पड़ने में एक कारण यही निर्वासन हुआ।

हजारा-विद्रोह

महारानी जिन्दा के निर्वासन से ही सिख-जाति में विद्रोह की आग धधकने लगी थी। उस समय वह अपमान के कड़े घूंट पीकर तिलमिला उठी थी। इसके

साथ ही हजारा के सरदार चतरसिंह के साथ की गई विश्वासघातकता ने अग्नि में घी का काम किया। सरदार चतरसिंह हजारा-भूमि के शासनकर्त्ता थे। वे पूरे राजभक्त थे। उनके लड़के सिक्ख-सेना के सेनापति थे और विश्वासपात्र होने के कारण ही अँगरेजी सेना के साथ मेजर एडवार्डिस के साथ मुलतान में विद्रोह-दमन के लिए गये थे। इससे जाना जा सकता है यह सरदार-परिवार कितना विश्वासी और अँगरेज़-भक्त था।

चतरसिंह की लड़की से महाराज दिलीपसिंह का व्याह निश्चित हुआ था। और चतरसिंह बूढ़ा भी हो चला था अतः जीतेजी कन्यादान के पुण्य का भागी हो जाय इस इच्छा ने जोर मारा और अपने पुत्र शेरसिंह की मारफ़त रेजिडेण्ट एडवार्डिस के जरिये प्रार्थना पत्र भेजा। मेजर साहिब ने शिफ़ारिस करते हुए रेजीडेण्ट साहब को लिखा—"राजा शेरसिंह से कल मेरी गुप्त बातें हुई हैं। उनकी बहिन की शादी महाराज दिलीपसिंह से हो यह उनके पिता की वाञ्छा है। उनकी दो काम करने की हार्दिक इच्छा है और वह दोनों ही बृटिश गवर्नमेण्ट की अनुमति से हो सकते हैं। आपकी इच्छा अगले वर्ष ही विवाह कर देने की न हो तो चतरसिंह यह आज्ञा चाहते हैं कि हजारा का शासन-भार दो वर्ष के लिए छोड़ तीर्थ कर आवें और यदि इसी वर्ष महाराज दिलीपसिंह का विवाह करना हो तो यह प्रार्थना है कि आपके परामर्श से दरबार एक ज्योतिषी नियत कर दे और वह ज्योतिषी कन्या-पक्ष के ज्योतिषी से मिल कर अच्छा महीना, दिन तय कर ले। राजा शेरसिंह के पिता इस विवाह में दहेज देना चाहते हैं, उसके तैयार करने में एक वर्ष लग जावेगा। दस दिन के भीतर इसका उत्तर मिल जाय, यही आपसे विनय है।"

उपरोक्त सिफ़ारिश के साथ ही मेजर साहब ने राज्य की हितचिन्तना के साथ बुद्धिमत्ता-पूर्ण एक सुन्दर सलाह भी लिखी थी कि—"इस समय विद्रोह और सैनिकों की अशान्ति के कारण पंजाब के निवासियों में यह अफ़वाह फैल रही है कि बालक दिलीप का राज्य अँगरेज़ लेना चाहते हैं। यदि इस विचार से देखा जाय तो इस विवाह का दिन ठहर जाने से राज्य-हरण का सन्देह भी दूर हो जायगा।" निस्सन्देह उस समय पंजाब में जो ऐसी अशान्ति थी, अगर शादी करने की बात तय हो जाती तो बहुत कुछ अँगरेज़ों के प्रति सिख-जनता की सहयोग-भावना की वृद्धि होती; परन्तु मेजर साहब की सलाह का कुछ भी ख्याल न कर इस प्रकार गोल-माल उत्तर दिया गया कि तत्कालीन अशान्ति के कारणों में एक और वृद्धि हो गई। उत्तर में इस प्रकार राजनीतिक भाषा (!) थी—"विवाह सम्बन्धी सभी प्रबन्ध होगा। साधारणतः विवाह का दिन कन्या पक्ष की ओर से तय किया जाता है, किन्तु महाराज के सम्बन्ध में कोई भी बात रेजीडेण्ट की संमति और स्वीकृति के बिना नहीं होगी। विवाह का दिन रेजीडेण्ट दरबार के सभासदों से गुप्त परामर्श करके स्थिर करेंगे। पीछे वर और कन्या दोनों ओर के सम्मानानुकूल यह कार्य

होगा। उस कार्य को ब्रिटिश गवर्नमेंट करेगी। इस विषय में शेरसिंह को निश्चिन्त रहना चाहिये।"

इस प्रकार का उत्तर पाकर शेरसिंह और उसके पिता चतरसिंह निराश हो गए। बूढ़े चतरसिंह "अपनी कन्या का दान भी वचनानुसार नहीं कर सकते" सोच, सर्द आह खींच रह गये। अपने को कन्या-दान के पुण्य के भागी न होने का विश्वास हो गया। साथ ही पंजाव के निवासियों का अँगरेजों के प्रति अविश्वास और आशंका में वृद्धि हुई। चतरसिंह के छोटे पुत्र गुलावसिंह ने जो दरवार में रहते थे और रेजीडेण्ट से विना किसी रुकावट मुलाक़ात करते थे रेजीडेण्ट साहव से विवाह के सम्वन्ध में हुई वातें अपने पिता चतरसिंह और भाई शेरसिंह को लिख भेजीं। गुलावसिंह के पत्र से समाचार जान चतरसिंह और भी जल उठा। पर तो भी विद्रोह करने के भाव न उग सके। हाँ पृथ्वी जुतकर अवश्य तैयार हो गई।

हजारा कट्टर मुसलमानों का केन्द्र था और उस समय आर्य-समाजियों की तरह सिक्ख ही मुसलमानों को पचाने वाली क़ौम थी। इसी ने मुसलमानी शासन का अन्त किया था। इसलिए सिक्ख-शासक मुसलमानों की आखों में खटकते थे। यद्यपि हजारा में एवट साहव के गए पहिले किसी अशांति का पता नहीं चलता पर तो भी हजारा के शासन में सहायता करने—सम्मति देने के लिए रेजीडेण्ट ने अपने सहकारी कप्तान एवट को नियुक्त किया। एवट के दोषों के सम्वन्ध में कई प्रमाण हैं। स्वयं पूर्व रेजीडेण्ट सर हेनरी लारेन्स ने लिखा था—"कप्तान एवट हर एक मामले में कुटिल अर्थ लगा कर न्याय को अन्याय सुधाने में सदा उत्सुक रहते हैं। ज्वालासाही की भाँति अच्छे सज्जन रईस से अत्याचार करना उनके उसी हठ-धर्म का परिचय है।" कप्तान एवट ने ही झण्डासिंह की घुड़सवार सेना में कुछ लोगों के विद्रोही होने के सन्देह में झण्डासिंह को भी दोषी ठहराया था। इस पर नए रेजीडेण्ट फ्रेडरिक ने लिखा था—"झण्डासिंह की घुड़सवार सेना में यद्यपि कुछ लोग विद्रोही हो गए हैं। पर सरदार झण्डासिंह इस विषय में बिल्कुल निर्दोष हैं। किन्तु एवट कहते हैं झण्डासिंह भी शामिल हैं। उनका विश्वास है कि सरदार विद्रोहियों को मूलराज की सहायता के लिए मुलतान भेजना चाहते हैं।" इसी प्रकार रेजीडेण्ट साहव ने एवट को भी लिखा था कि—"सरदार झण्डासिंह के वारे में आपकी राय वेजोड़ है। क्योंकि यह सरदार हमारे कहने के मुताबिक काम करता है।" एवट के गुणों का वर्णन रेजीडेण्ट कैरी ने गवर्नर जनरल को इस प्रकार लिखा था—"आपने एवट के चरित्र को भली भाँति समझ लिया होगा। किसी षडयन्त्र की अफ़वाह सुनते ही वे सत्य मान लेने के लिए तत्पर हो जाते हैं। पास के या दूर के यहाँ तक कि स्वयं नौकरों पर भी सन्देह वना रहता है और अपनी समझ पर उन्हें इतना अटल विश्वास हो जाता है कि वार वार उनको उनकी भूल वताने पर भी, उन्हें अपनी भूल प्रतीत नहीं होती है।"

राजा चतरसिंह की शासन सहायतार्थ एबट जैसे गुणी (?) जिनके सम्बन्ध में ऊपर काफी लिखा जा चुका है, पहुँचे। भोले स्वभाव के निष्कपट वृद्ध चतरसिंह भी एबट के सन्देह-स्वभाव से बच न सके। चतरसिंह की पल्की की सेना में कुछ सैनिक बदल कर मूलराज विद्रोही की सेना से मिलने के इरादे करने लगे थे। यद्यपि चतरसिंह मय अफ़सर लोगों के विद्रोहियों को दबाने का प्रयत्न कर रहे थे पर एबट जैसे वहमी दिमाग़ के लिए यह बहुत था। उसने सोचा इसका कारण चतरसिंह ही हैं। उसके दिल में समा गई कि चतरसिंह विद्रोही है और शीघ्र ही अँगरेज़ों को पंजाब से निकाल बाहर करेगा। लाहौर के अँगरेज़ों पर शीघ्र ही हमला होने वाला है। इन सन्देहों से घबड़ा कर राजधानी से निकल १६ मील सिरवां नाम के स्थान पर पड़ाव डाल दिया।

सरल स्वभाव के राजा चतरसिंह अपने सहकारी की चाल को कुछ न समझ पाये। इसके लिए अपने वकील को एबट के पास भेजा। एबट ने टका सा जवाब दिया—"मैं तुम्हारे राजा (चतरसिंह) का विश्वास करता हूँ।" ऐसा ऊटपटाँग उत्तर सुनकर भी चतरसिंह ने अपने शान्त स्वभाव, शीलता एवं धीरता का परिचय दिया और एबट महाशय को कहला भेजा कि—"यदि आपको सिरवां में रहना मंजूर हो तो मुझे अथवा मेरे पुत्र अतरसिंह को अपने पास रहने की आज्ञा दीजिए। जिस से शासन-कार्य में त्रुटि न रहने पाये।" भ्रम-भूत के शिकार एबट द्वारा यह प्रार्थना भी अस्वीकृत हुई। एबट साहब चतरसिंह को विद्रोही कह कर ही शान्त न हुए बल्कि उनके विरुद्ध मुसलमानों को भड़काने लगे।

हम पहिले कह आये हैं कि मुसलमानों में सिखों के प्रति कटुता का भाव पैदा हो रहा था और वे स्वभावतः सिख-जाति के विद्रोही थे। अतः उनके कुटिल विचारों को स्वर्ण अवसर मिल गया। जिसको वे चाहते थे उस के लिए एबट की ओर से रुपयों के लालच अँगरेज़ों को सहानुभूति का आश्वासन मिला। सन् १८४८ ई० की ६ अगस्त को झुण्ड के झुण्ड मुसलमान चतरसिंह के निवास-स्थान हरिपुर में इकट्ठे होने लगे। हरिपुर में पहुँच विद्रोही मुसलमान दलों ने नगर घेर लिया। सरदार चतरसिंह ने इस आकस्मिक हमले के सम्बन्ध में कुछ न समझा और नगर-रक्षक-सेना को तोप के साथ सामना करने को भेजा। चूंकि सिक्ख सेना पल्की में थी और एबट के सवनी में जाने से उसका रास्ता रुक गया था अतः वह सहायतार्थ आने में असमर्थ थी।

विपत्तिकाल आता है तब अनेक संकट आते हैं, क्योंकि अगर एक का उपाय होगया तो फिर वह व्यक्ति जिस पर विपत्तिकाल आता है बच के निकले तो दैव-कुदृष्टि का कुछ वश न चले। इसी तरह सरदार चतरसिंह के लिए भी एक साथ कठिनाइयों का दौरा हुआ। सिक्ख-सेना तो आ ही न सकती थी। नगर-रक्षक-सेना में अमेरिका का कनोरा नामक एक आदमी तोपखाने का अध्यक्ष था। युद्ध में जाने के लिए जब उससे कहा गया तो उसने कहा—मैं कप्तान एबट की आज्ञा बिना

नहीं जासकता।" कनोरा को आजकल के फ़ौजी क़ानून के अनुसार सरदार की आज्ञा न मानने के अपराध में उसी वक्त गोली से उड़ा दिया जाना चाहिए था। परन्तु यदि गुड़ के प्रयोग से ही काम निकल जाय तो ज़हर की क्या आवश्यकता है। यह सोच सरदार चतरसिंह ने समझाया कि तोप लेकर युद्ध के लिये जाओ नहीं तो सहज ही में शत्रु अधिकार कर लेंगे और इस तरह दुखद अन्त हो जायगा। परन्तु कनोरा ने तोप भर कर बीच में खड़ा हो, उत्तर दिया—"जो कोई मेरे पास आवेगा उसी को गोली से उड़ा दूंगा।" पैदल सेना के दो दलों को सरदार साहब ने आज्ञा दी कि तोप ले आओ। कनोरा सिपाहियों को आते देख बिगड़ उठा। उसने, एक सिक्ख हवलदार को गोला बरसाने की आज्ञा दी। पर हवलदार ने साफ़ इन्कार कर दिया। सिक्ख हवलदार का सिर क्रोध में उन्मत्त हो कनोरा ने धड़ से अलग कर दिया। स्वयं तोपों पर बत्ती सुलगादी। दैवात् तोपों का निशाना खाली गया। कनोरा क्रोध में पागल हो गया। शीघ्र ही पिस्तोल से सरदार की सेना के दो सिपाही मौत के घाट उतार दिये। इसी समय पैदल सेना में से किसी ने कनोरा का सर तलवार से काट डाला। यही कनोरा की मृत्यु सरदार के अभियोग का खास कारण हुई।

कनोरा का बध उसके अपराध को देख कर किसी भी देश की सरकार अनुचित नहीं बतला सकती। जब कि युद्ध के समय जान ही खतरे में नहीं बल्कि सर्वस्व नाश की घड़ी सर पर हो युद्ध का कारिन्दा इन्कार करदे इससे बड़ा क्या कोई अपराध हो सकता है? और जब कि उसने इन्कार ही नहीं दो-दो जान ले लीं फिर भी उसका मारा जाना दोष माना जाय! पर खेद है कि एबट साहब को इसमें भी सरदार साहब का ही पूर्ण दोष जान पड़ा और रेजीडेण्ट को लिख भेजा—"कनोरा की हत्या सरदार चरतसिंह ने पिशोरासिंह की हत्या के समान ही की है। और इसके सम्बन्ध में पहिले ही सोच लिया गया था।" चरतसिंह ने भी सच्ची कैफ़ियत रेजिडेण्ट की सेवा में लिख भेजी। पर रेजीडेण्ट साहब ने अपनी मंगाई हुई दोनों सरदार और एबट की कैफ़ियत देखकर एबट साहब को लिखा कि—"कनोरा की हत्या के सम्बन्ध में आप तथा चतरसिंह दोनों ने मुझे लिखा है। उसको पढ़ कर मैं ने यह परिणाम निकाला है कि सरदार की बार बार आज्ञा का उल्लङ्घन करने तथा उनके भेजे हुए सनिकों पर विरुद्धाचरण करने के कारण कनोरा की हत्या हुई है। इस सम्बन्ध में जो कुछ आपने कहा है उससे मैं सहमत नहीं हूँ। सरदार चतरसिंह हजारा के दीवान और सामरिक शासन-कर्ता हैं। इसलिए सिख-सेना के अफ़सर को उनका मान करना चाहिये। इस विषय की अधिक चर्चा न करके मैं आपसे यह पूछना चाहता हूँ कि आपने कनोरा की हत्या, पिशोरासिंह की हत्या के समान कैसे ठहराई है?" इसी पत्र में आगे एबट साहब की प्रत्येक बात का खण्डन करते हुए सरदार साहब चतरसिंह के कार्य्य को आत्मरक्षार्थ बतलाया है।

एवट जैसे व्यक्ति के लिये जिसे कई बार झूठा कह दिया गया हो और उसकी बातों का खण्डन कर दिया हो, उपरोक्त पत्र का क्या प्रभाव पड़ सकता था? उसने उलटा चतरसिंह को लिखा—"यदि कनोरा की हत्या करने वाले को मुझे सोंप दिया जाय तो सरदार साहब की सेना और जागीर बनी रह सकती है।" एक दूसरे पत्र में फिर एवट ने लिखा—"कनोरा के हत्यारे को मुझे सौंप दो, क्षण भर में हजारा में शान्ति स्थापित कर दूंगा।" पाठक सोच सकते हैं किसी ऐसे ढांचे का यह विद्रोह था कि जिसका रोकना और चलाना एवट के मिनट भर का काम था; तब मुसलमानों से एवट ने विद्रोह करवाया इसमें कोई सन्देह नहीं।

इस प्रकार सरदार चतरसिंह की गति साँप-छछुन्दर की सी होगई। वह करे तो क्या करे। वह जानता था कि एवट के विरोध का फल अच्छा नहीं भले ही सरकार पत्र-व्यवहार में एवट की बातों पर अविश्वास करती हो। पर कनोरा के मारने वाले को भी वह कैसे सौंप सकता था जिसने कनोरा को मार कर तत्काल की भारी क्षति को बचाया था। क्योंकि कनोरा तोप के निशानों में सफल हो जाता तो मुसलमानों के पहिले वही सरदार को पंगु बना देता। इसकी हत्या के साहसिक कार्य के लिए तो सरदार साहब ने इनाम दिया था। सरदार चतरसिंह ने एवट से मिल कर इस सम्बन्ध में मिल कर समझौता करने एवं भ्रम मिटाने की तजवीज भेजी। परन्तु एवट का दिमाग़ तो सातवें आसमान पर था और उसमें भीतरी हाथ से गहरी राजनैतिक चाल थीं। उसने कहा—"कनोरा की हत्या के पापी से मैं नहीं मिलना चाहता"। एवट साहब इससे भी सन्तुष्ट न हुए और रेजीडेण्ट को १३ वीं अगस्त को एक पत्र लिखा जिसमें लिखा था—"चतरसिंह सिक्ख सेना को विद्रोह करने के लिए उत्तेजित कर रहे हैं। उन्होंने जम्बू-नरेश को चिट्ठियाँ भेजी हैं।" बात यह थी कि सरदार चतरसिंह ने मुसलमानों को दबाने के लिए जम्बू-नरेश को तीन-चार पलटन, भेजने के लिए लिखा था। वही पत्र एवट साहब के हाथ लग गया था। पर निकलसन ने दोनों पत्रों को देख कर उनमें किसी तरह के विद्रोह के कारण नहीं बताये। भला उनमें विद्रोह कहाँ दबा रक्खा था? सरदार चतरसिंह जिस पर अब तक कितने ही आक्षेप लग चुके थे, इस समय तक पक्का अँगरेज़-भक्त था। जिन पत्रों का सबूत सरदार साहब के बाग़ी होने का किया वही निर्दोषित होने का प्रमाण हुईं।

शासक और परमेश्वर में कुछ भी अन्तर नहीं। शक्तिशाली शासक जो कुछ करे वही सही हैं। परमात्मा तो अप्रत्यक्ष में भली बुरी जो कुछ करता है, सो करता है; परन्तु जबरदस्त शासक प्रत्यक्ष में करता है। परमात्मा अगर बुरी करता है तो लोगों की समालोचना में आ सकता है, पर जबरदस्त के अन्याय को अन्याय भी नहीं कहा जा सकता। सरदार चतरसिंह पूर्णतः निर्दोष हैं, यह वाक्य कहने वाले निकलसन ने ही रंग बदला। कनोरा के हत्यारे के सुपुर्द करने का बहाना मिल गया। कुछ समय बाद ही चतरसिंह को लिखा गया—"कनोरा के हत्यारों के साथ

अविलम्ब मेरे यहाँ हाज़िर होइये। इस अवस्था में आपके मान और जीवन की रक्षा का भार ले सकता हूँ। अब आप अपनी निज़ामत और जागीर की आशा न रक्खें।" निकलसन ने इस पत्र की बातें गुप्त रख उस समय ही रेजीडेण्ट साहब को भी लिखा—"मुझे आशा है कि आप मेरे इस मत से सहमत होंगे कि चतरसिंह को जागीर और निज़ामत से अलग कर देना ही उचित दण्ड है।" पंजाब के सरकारी काग़ज़-पत्रों से ज्ञात होता है कि रेजीडेण्ट भी दुरंगी चाल चल रहा था। उसने एक ही तारीख़ में व एक ही दिन के अन्तर से कैसे-कैसे विचार प्रकट किये थे! देखिये:—

१८४८ ई० २३ अगस्त को रेजीडेण्ट ने मेजर एडवार्डिस को लिखा—"चतरसिंह पूर्णतः निर्दोष हैं। कप्तान एबट इस पूरे अनर्थ की एक मात्र जड़ हैं।"

इसी २३ वीं तारीख़ को निकलसन को आज्ञा दी कि "चतरसिंह की जागीर और निज़ामत छीन कर उसे उचित दंड दीजिये।" और २४ अगस्त अर्थात् चतरसिंह के सर्वनाश के एक दिन पहिले ही एबट को डाटते हुए लिखा—"तुम्हारा कार्य अन्याय-पूर्ण है। कनोरा की उचित सज़ा को तुम हत्या नहीं कह सकते।"

उपरोक्त पत्रों के उद्धरणों से न्याय-अन्याय का अन्दाज़ा पाठक सरलता-पूर्वक कर सकते हैं। पहिले तो एबट की नियुक्ति ही 'मान न मान मैं तेरा महमान' वाली कहावत के अनुसार थी; परन्तु इन सब में भेद-नीति काम कर रही थी। एक ओर कुछ पत्र-व्यवहार हो रहा है तो एक ओर कुछ ही चाल चली जा रही थी। आख़िरकार चतरसिंह को यह दुखदाई समाचार दिया गया। पर सरदार साहब की समझ में न आया कि अपराध क्या है? उन्होंने विनय-पूर्वक प्रार्थना-पत्र भेजा—"मेरे जैसे अँगरेज़ों के परम भक्त के साथ क्यों ऐसी सख़्ती की जाती है? यदि कोई व्यर्थ सन्देह उपस्थित हुआ हो तो कहिए, मैं उसे बिना विलम्ब दूर करदूँ।" पर इसका कुछ भी प्रभाव न पड़ा।

बूढ़ा चतरसिंह भावी-दुखद आशंका से कांप उठा। उसने सोचा था इबटसन जिसके कि प्रति रेजीडेण्ट साहब ने काफी डाट बताई है दोषी को छोड़ मेरे समान निर्दोषी पर अत्याचार होगा! उसके मन में तरह-तरह के विचार आने लगे। अपना सब कुछ देकर भी उसे दोषी होना अच्छा न लगा। हाँ, उससे अगर निर्दोष कर जागीर-ज़मीदारी छीन ले तो कोई हरज नहीं। अपराधी होने का कलंक उसके मन में विद्रोह के भाव जमा बैठा। उसने सोच लिया इस जीने से तो मरना ही अच्छा है। अपनी मान-रक्षा के लिए इस तीर्थ-यात्रा की उमर में उस बूढ़े शेर ने बग़ावत की तैयारी करनी शुरू करदी। दल के दल सिख इनके झण्डे के निकट आकर इकट्ठे हो गए। महारानी जिन्दा के निर्वासित हुए क्षुभित युवक प्रतिहिंसा के लिए मर मिटने को तत्पर हो गए। जो चतरसिंह कुछ दिन पहिले अँगरेज़ों का

पूरा भक्त था वही अनुचित अपमान, अत्याचार के कारण विद्रोहियों का नेता बन गया।

हम पहिले ही लिख आये हैं कि मूलराज ने मुलतान-किले में जाकर अपना संगठन करना शुरू कर दिया। उसकी शक्ति बढ़ने लगी। देश, धर्म और मान रक्षा के हितार्थ लोग इकट्ठे होने लगे। यद्यपि जन-साधारण में अँगरेजों के प्रति असन्तोष बढ़ता जा रहा था परन्तु प्रधान-प्रधान जागीरदार (सरदार) सब अँगरेजों के आज्ञाकारी और मददगार थे। सरदारों में से बहुतसों ने कई विद्रोह भी दबवाए थे, जैसे साहबदयाल नाम के एक सिक्ख राज्य के कर्मचारी ने १८४८ ई० में महाराजसिंह के विद्रोह को दबाया था। स्वयं सरदार चतरसिंह का बड़ा लड़का शेरसिंह मेजर एडवार्डिस के साथ मुलतान-युद्ध में था।

मुलतान-युद्ध

यह सही है कि उस समय सरदार लोग अँगरेजों के साथी थे। परन्तु उनके अधीनस्थ सेना उनके वश की न थी। रेज़ीडेण्ट कैरी के धमकाये जाने पर कि तुम्हें मुलतान जाना पड़ेगा उन्होंने विनीत शब्दों में कहा भी कि "हम मुलतान जाने और मूलराज से लड़ने के लिए तैयार हैं। पर दुख है कि सिख-सेना हमारा कहना नहीं मानेगी। महारानी जिन्दा के देश निकाले से वे अँगरेजों के विरुद्ध हो गए हैं। हम लोगों को अँगरेजों के प्रेमी होने से देश-द्रोही, धर्म-द्रोही मानते हैं। समय आने पर या तो वे हमें मार डालेंगे या हमें अपने साथी बनने को बाध्य करेंगे और मूल-राज की सेना के सामने पहुँच करके विशेषतः विद्रोही बन जाएंगे।" पर इन बातों को कुछ न सुना गया और उन सब को सिख-सेना के साथ युद्ध के लिए मुलतान जाना पड़ा। सरदार चतरसिंह के पुत्र शेरसिंह की सेना के लोग बागी विचारों के बनने लगे। पर शेरसिंह विद्रोहियों को दंड देने में बड़ा कड़ा था। जिससे प्रसन्न होकर उनकी अँगरेज़-भक्ति पर मेजर एडवार्डिस ने सेना के रेजीडेण्ट से कहा था कि—"सरदार लोग हमारे पूरे पक्षपाती हैं। यद्यपि शेरसिंह की सेना का अधिकांश भाग अविश्वासी हो गया है, तो भी राजा शेर का ऐसा प्रभाव है कि उनमें से किसी को चूँ तक भी करने की हिम्मत नहीं होती है। वह तुरन्त उसे कड़ी सजा देकर सब को डरा देते हैं।"

मूलराज ने मेजर एडवार्डिस के साथ अब के बहुत से सरदारों को देखा। उसकी दृष्टि इस नरसिंह शेर पर भी पड़ी। वह डरा कि अब की बार तो महावीर से सामना करना है। पर उसने सोचा अगर यह वीर अपने में आ जाय तो विजयलक्ष्मी अवश्य हमारी होगी। शेरसिंह को मिलाने के लिए उसने दूत भेजा। पर शेर ने दूत को अनादर के साथ रवाना कर दिया। दूत की दुर्गति हुई जान मूलराज जान गया कि शेरसिंह इस तरह अपने कब्जे में नहीं आ सकता तो इसे मरवा ही दिया जाय तो ये बला टल सकती है। पर इस षड्यन्त्र में भेजे गए

व्यक्ति भी पकड़े गये और तोपों के सामने रख उड़ा दिए गये। शेरसिंह की सेना के सिपाहियों के मन तो बदले हुए थे ही। इस घटना से और भी असन्तोष बढ़ा जिसे सँभालना शेरसिंह के लिए भी कठिन हो गया। पर शेरसिंह के इतने अँगरेज़-भक्ति के कार्य करने पर भी बाहरी लोगों को यह सन्देह ही रहा कि इन सब की जड़ शेरसिंह ही है।

अँगरेज़ों का जबर्दस्त प्रेमी शेरसिंह इस बात से अनभिज्ञ था कि उस पर बाहरी लोग अविश्वास करते हैं। वह मेजर साहब की समय-समय की कीगई बड़ाइयों पर कृतज्ञता से दबा जा रहा था। वह एबट द्वारा अपने पिता पर किये गए अभियोगों की खबर पाकर भी वैसा ही बना रहा क्योंकि उसे मालूम हुआ था कि पत्रों द्वारा इसके पिता को निर्दोष साबित कर दिया गया है। उस समय सिर्फ उसने मेजर एडवार्डिस के सामने एबट की अन्याय और पिता की न्यायों ही की चर्चा की। यही नहीं १ ली सितम्बर को एडवार्डिस की सेना के मूलराज जी की सेना के सामने छक्के छूटने की खबर पाकर बड़ी होशियारी से उन्हें बचाया और ३ री जून को युद्ध में बड़ी बहादुरी से मूलराज को मार भगा दिया और अँगरेज़ों के प्रति अपने अपूर्व प्रेम का परिचय दिया। इस दिन की लड़ाई से प्रसन्न हो कर मेजर साहब ने रेजीडेण्ट को लिखा—"शेरसिंह ने अब तक अँगरेज़-प्रेम का उज्ज्वल उदाहरण दिखाया है। उसका कार्य देख कर स्पष्ट ही मालूम होता है कि विना इच्छा के वह ऐसा काम नहीं कर सकता। मुल्तान में आने के बाद विनय से, भय से, अथवा सजा दे के किसी न किसी प्रकार उन्होंने सेना को कर्तव्य में सन्नद्ध रखने की त्रुटि नहीं की है। राजा शेर ने अपनी सेनाओं का विद्रोह दबाने के लिए इस प्रकार प्रयत्न किया है कि सिख-सेना के लोग उससे चिढ़ कर उनको सिख नाम की ग्लानि तथा मुसलमान का जना तक कहते हैं। १० वीं सितम्बर के पत्र में लिखा—"राजा शेरसिंह और उनके अधीन सरदार लोग विद्रोही सिक्खों के दबाने में कटिबद्ध हैं।" इस तरह सिक्ख सरदार और शेरसिंह बराबर अंग्रेज़ों की ओर से जी जान से लड़ते रहे।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि सेना के अस्वस्थ का बहाना कर लार्ड डलहौज़ी ने सेना भेजने में देरी कर मूलराज के बल एवं विद्रोह-विचार के सिपाहियों के बढ़ने में काफ़ी मदद की। चौथी सितम्बर को मुल्तान का क़िला घेरने के लिए तोपें पहुँचीं। अब तक सेनापति ह्वीस ८०४१ पैदल सेना, १५१६ घुड़सवार, ४४ तोपों के साथ क़िला घेरने को तैयार हुए। मदद के लिए एडवार्डिस की ६७१८ पैदल सेना, ३११३ घुड़सवार, २३ बड़ी और २५ छोटी तोपों के साथ थे और इनके अलावा बहावलपुर के नवाब की ५१०० पैदल सेना, १६०० घुड़सवार सेना, १४ तोपें राजा शेरसिंह की ६०६ पैदल सेना, ३३८२ घुड़सवार और १२ तोप थीं और भी कुछ दूरी पर इसके अतिरिक्त सेना थी।

६ सितम्बर को लेफ्टीनेण्ट पेटडन ने कुछ अंग्रेज़ी और देशी सेना को लेकर धावा बोल दिया। लेफ्टीनेण्ट की बहुत चेष्टा करने पर भी विजय-माला मूलराज के गले पड़ी। मूलराज के पास दस हज़ार सेना और ५६ तोपें थीं। इस विजय से मूलराज की हिम्मत बढ़ गई और क़िले को और भी मज़बूत बना लिया। अब तक अंग्रेज़ी सेना के २५५ सैनिक और २५ घोड़ों का अन्त हो चुका था। परन्तु शेरसिंह जिसने मूलराज को भयभीत कर दिया था की मदद से अंग्रेज़ी सेना आगे बढ़ने लगी। यहाँ तक कि १२ तारीख़ तक क़िले से ८०० गज के फ़ासले पर जा पहुँची। शेरसिंह की वीरता से लड़ने की प्रशंसा उस समय सभी अफ़सरों ने की है। निस्संदेह वह अंग्रेज़ों की विजय का हृदय से इच्छुक था।

इधर तो शेरसिंह का यह हाल था और उधर उनके पिता के साथ अन्याय की हद पार कर दी गई थी जिसका वर्णन हम पहिले कर आये हैं। शेरसिंह को पिता के साथ किए गए निष्ठुर व्यवहार का पता मिलते ही वे एकदम से बदल गए। पिता के अपमान का प्रतिकार करने की तीव्र इच्छा हो गई। रानी जिन्दा के देश निकाले और बहिन के विवाह के लिए गोलमाल उत्तर की याद आने पर उसके हृदय में शूल से चुभने लगे। अब तक जिस हृदय में अंग्रेज़ों की विजय-इच्छा थी वही अंग्रेज़ों से लड़ने के लिए तैयार हो गया। जिस मूलराज के दूत की उसने बेइज्ज़ती की थी उसी मूलराज का शेरसिंह पक्ष-समर्थक बन गया। जो प्रतिकार की भयंकर आग उस समय उसके हृदय में जल रही थी उसका अनुमान उनके छोटे भाई गुलाबसिंह को लिखे गए पत्र से अच्छी तरह लगता है। वे लिखते हैं—"सिंह साहब पिताजी मुझे बार-बार लिखते थे कि मैं कप्तान एबट की सदा आज्ञा पालन करता हूँ। किन्तु उस कर्मचारी (एबट) ने हज़ारा के मुसलमानों से मिलकर बड़ा अन्याय किया है और पिताजी को अत्यन्त दुख और क्लेश दिया है। अधिक क्या कहा जाय, वह अंग्रेज़ कर्मचारी सिख-सेना के नाश करने का भी प्रबल प्रयत्न कर रहा है। अब तक कप्तान एडवार्डिस मेरे साथ प्रेम-पूर्वक व्यवहार करते थे पर पिछले सप्ताह से उनके मन का भाव भी बदल गया है। इसलिए कल मैंने सिंह साहब (पिताजी) से मिलने की दृढ़ प्रतिज्ञा करली है। यदि सिंह साहब की आज्ञा और मेरी सम्मति पर तुम्हें कुछ भी श्रद्धा हो तो इस पत्र को पाते ही सिंह साहब के पास चले जाना और नहीं तो शीघ्र ही जम्मू अथवा और कहीं चले जाना। इसे पढ़ किञ्चित्-मात्र की भी देरी न करना और यदि तुमको मेरी सम्मति स्वीकार न हो तो तुम्हारी जो इच्छा हो करना। किन्तु याद रखना पिता की आज्ञा मानना सन्तान का परम कर्तव्य है। यह जीवन दो दिन का है। अब तुम मेरे दूसरे पत्र की राह मत देखना। यदि जीवित रहे तो फिर मिलेंगे नहीं तो जो ईश्वर को मन्जूर है वही होगा।" शेरसिंह ने उपर्युक्त पत्र भाई को भेजकर घोषणा की:—"सम्पूर्ण पंजाब निवासी एवं अन्य किसी से यह बात छिपी नहीं है कि स्वर्गीय महाराज रणजीतसिंह की विधवा पर फिरंगियों ने जिस

तरह अत्याचार किया है—उनका जो अपमान किया है तथा प्रजा के प्रति फिरंगियों ने जिस प्रकार का निष्ठुर व्यवहार किया है वह किसी से अविदित नहीं है—पहिले पंजाबियों की माता स्वरूप महारानी जिन्दा को निर्वासित करके सन्धि भंग की है। दूसरे रणजीतसिंह की सन्तान के समान हमने सिक्खों के प्रति अन्याय और अत्याचार किया है कि हम धर्मच्युत हो गये हैं। तीसरे राज्य का पहिला गौरव भी लुप्त होगया है। बस अब क्या देखते हो, आओ सर्वस्व की रक्षा के लिए तैयार होजावें।" अतिरिक्त घोषणा कर शेरसिंह ने अँगरेजी सेना से अलग होकर मूलराज से मिलने के लिए पत्र लिखा कि—मैं आपसे मिलना चाहता हूँ।

पंजाब-वासियों खासकर सिख-धर्म का दुर्भाग्य! मूलराज को विश्वास नहीं हुआ। नहीं तो सिख-साम्राज्य का एक और ही अध्याय लिखा जाता—पंजाब का इतिहास आज दूसरा ही होता। मूलराज ने सोचा शेरसिंह कपट चाल में है; इस तरह से मुझे धोखा दिया जा रहा है। उसका यह सन्देह निराधार नहीं था। क्योंकि शेरसिंह के पहिले कृत्य इसके प्रमाण थे। यह विश्वास करना वास्तव में कठिन था कि ऐसा अँगरेज़-प्रेमी, उन पर पूर्ण विश्वासी शेरसिंह में इतने क्रान्तिकारी परिवर्तन आ सकते हैं। मूलराज जबरदस्त प्रबन्ध के साथ मिला। मिलने पर भी वह सन्देह को नहीं हटा सका और एक मन्दिर में ले जाकर ग्रन्थ साहब को हाथ में देके प्रतिज्ञा कराई कि "मेरे साथ किसी तरह विश्वासघात तो नहीं किया जायगा।" ग्रन्थ साहब को छू प्रतिज्ञा कर लेने पर भी मूलराज का सन्देह-भूत दूर न हुआ। वह शेरसिंह के हृदय को न समझ पाया। हारकर शेरसिंह करीब चार हजार विद्रोहियों का मुखिया बन पिता से मिलने चल दिया।

अँगरेजी सेना को शेरसिंह के चले जाने से एक दृढ़ स्तम्भ टूट गया। यद्यपि अन्य सरदार अँगरेजी सेना के पूरे सहायक थे और मूलराज से लड़ने के लिए तत्पर रहे थे पर तो भी अँगरेजों को मुल्तान दुर्ग पर चढ़ाई करने की हिम्मत न हुई और शेष सितम्बर मास सोच-विचार में ही चला गया। इधर मूलराज को अपनी शक्ति दृढ़ करने का अवसर मिल गया। और जहाँ १२ वीं सितम्बर को उसके पास दस हजार सेना थी उसकी संख्या १२१५० हो गई। और उसने उधर काबुल के दोस्त मुहम्मद से सहायता की प्रार्थना की। फलस्वरूप उसने अपने पुत्र को एक सेना देकर मूलराज की सहायता को भेज दिया।

चौथी तारीख नवम्बर के दिन जनरल ह्वीस ने विद्रोहियों की सेना पर तोपें दाग दीं। भयंकर अग्नि वर्षा हुई, पर मूलराज की सेना टस से मस न हुई। तोपों से काम चलता न देख ह्वीस साहब ने सङ्गीनों से हमला करने का निश्चय किया। छठी तारीख को धावा बोल दिया गया। इस हमले में बहावलपुर के नवाब और दीवान जवाहरसिंह की सेना बहुत बहादुरी से लड़ी। मुल्तानी सेना ठहर न सकी। विजय अंग्रेजों की हुई। मूलराज को आज की पराजय से हानि उठानी

पड़ी पर फिर भी वह लड़ता ही रहा। २३ दिसम्बर को जब अंग्रेजों की सहायता के लिए बम्बई से और फौज आ गई तो अंग्रेजों का साहस बहुत बढ़ गया। इस नयी सेना के साथ मुल्तान-दुर्ग पर आक्रमण बोल दिया गया। इस समय ह्वीस साहब के पास १५,६४८ सैनिक, ३०१२ घोड़े और ६१ तोपें थीं। २७ दिसम्बर को यह युद्ध छिड़ा। इस विकट युद्ध में क़िले का बहुत सा भाग अंग्रेजों के अधिकार में हो गया। मूलराज बन्दी-सा हो गया। ता० २६ को दो हजार मुल्तानियों ने अंग्रेजी सेना पर धावा बोल दिया था, पर इतनी बड़ी सेना के आगे इनका ठहरना मुश्किल था।

३० वीं दिसम्बर का दिन मूलराज की हिम्मत तोड़ देने वाला था। एक गोला बारूदखाने में जा गिरा। उस ५००० मन बारूद में गोला गिरते ही आग लग गई। भयंकर धूँआधार छा गया। अँधेरे की ऐसी रात-सी हुई कि एक दूसरे को देखना मुश्किल था। बारूद के इस काण्ड में ५०० सैनिक लापता हुए। सन् १८४६ ई० की दूसरी जनवरी को अंग्रेजी सेना दिल्ली दरवाजे तक पहुँच गई। इसी समय बम्बई से बङ्गाल-सेना भी आ मिली जिससे विजय और भी सरल हो गई। मूलराज ने यह देख कर कि अंग्रेजों ने शहर पर अधिकार कर लिया तो वह अपनी तीन हजार सेना के साथ क़िले में चला गया। ३ री जनवरी को विजय से प्रसन्न अंग्रेजी-सेना नगर में घुस गई। उस समय के बारे में एडवार्डिस साहब के शब्दों में ही "प्रति हिंसा का ऐसा भयानक चित्र मैंने कभी कहीं नहीं देखा था" था।

मूलराज के चारों ओर से घिर जाने पर आत्मसमर्पण के सिवा चारा ही क्या था। उसने एडवार्डिस साहब के जरिए आत्मसमर्पण के लिए कहा! पर उत्तर मिला—"जिसका अनुरोध मुझ से किया है वह होना असम्भव है। जब तक आप स्वयं न आवेंगे कोई बात न सुनी जायगी।" स्वाभिमानी मूलराज को यह उत्तर मान्य न हुआ। उसने फिर साहस किया और १२ तारीख को अंग्रेजी सेना पर आक्रमण कर दिया, पर भाग्य ने साथ न दिया, वह हारता ही गया। १६ वीं जनवरी को एक विश्वासी द्वारा पुनः आत्मसमर्पण का प्रस्ताव भेजा परन्तु उत्तर में सिर्फ यही था कि "तुम कल आठ बजे तक आत्मसमर्पण करदो।" मूलराज उत्तर पाकर चुप रहा, करता ही क्या? आखिरकार २१ जनवरी को सवेरे ही जनरल ह्वीस ने सेना को दुर्ग पर अधिकार करने की आज्ञा दी। मूलराज भयंकर विपत्ति में फँस गया। उसने जनरल ह्वीस को कहला भिजवाया कि मैं इसी समय आत्म-समर्पण को तैयार हूँ। इसका निपटारा करने के लिए मैं अपने वकील को आपके पास भेज रहा हूँ। सादर प्रार्थना है कि "मेरे प्राणों तथा स्त्रियों के सतीत्व की रक्षा की जाय।" जनरल ने उत्तर दिया कि "समर-समाप्ति पर आपके जीवन की रक्षा अथवा नाश की कुछ भी शक्ति मुझ में नहीं है। इसकी क्षमता गवर्नर जनरल पर ही है। पर हाँ, आपकी स्त्रियों की रक्षा करना मैं यथाशक्ति स्वीकार करता

हूँ।" इसके बाद ह्वीस साहब की सेना रात भर दुर्ग पर गोलाबारी करती रही। दूसरे दिन जब दुर्ग पर अधिकार कर लेने की तैयारी थी, दीवान मूलराज ने आत्म-समर्पण कर दिया। लगातार २७ दिन के युद्ध के बाद क़िला अँगरेज़ों के अधिकार में आया।

दीवान मूलराज लाहौर लाये गये। तीन अँगरेज़ों ने मिल कर दीवान मूलराज के मामले का विचार किया। मूलराज को दोषी करार पाया और उसे फाँसी की सज़ा दी गई। पीछे यह सज़ा काले पानी में बदल दी गई और काले पानी जाते हुए ही जहाज़ पर उसकी मृत्यु हो गई। इस प्रकार अँगरेज़ों के विद्रोहियों का एक नेता तो संसार से चल बसा। अँगरेज़ों की मुल्तान-विजय विद्रोहियों को और भी बुरी लगी और अँगरेज़ों के प्रति असन्तोष की वृद्धि होती ही गई।

दूसरा सिख-युद्ध

महारानी जिन्दा का निर्वासन और हज़ारा के चतरसिंह के साथ हुए अत्याचार के क़ारण क्रोधित सिख मुल्तान-विद्रोह का समाचार पाकर और भी ज़ोर-शोर से विद्रोह की तैयारी में उद्यत हो गए। महाराज चतरसिंह की संरक्षता में सिख वीर अपने धर्म की रक्षा के लिए इकट्ठे होने लगे। शेरसिंह की घोषणा को सुन कर सिख-सेना अँगरेज़ों के ख़ून की प्यासी हो गई। यहाँ तक कि पेशावर की सेना ने तो अपने शासकों के विरुद्ध तलवार ले ली। अँगरेज़ों ने सोचा कि अब बचना मुश्किल है, तो ख़ैबर घाटी की ओर प्राण बचाने चले गये। पर यह ही नहीं था कि सब पंजाब वासी अँगरेज़ों को निकाल बाहर करना चाहते थे। सरदार लोग अभी तक पूरा साथ दे रहे थे। स्वयं रेजीडेण्ट के कथनानुसार "चौथी अक्टोबर से पहिले कोई सिख सरदार बाग़ियों में शामिल नहीं हुआ था।" चार लाख पंजाबियों में से सिर्फ़ ६० हज़ार बाग़ियों के पक्ष में थे।

अँगरेज़ों में यह विशेष गुण है कि वे एक बार की ग़लती की पुनरावृत्ति नहीं होने देते; परन्तु यहाँ तो ग़लती के पीछे ग़लती हो रही थी। पहिले तो मूलराज का कहना न मानने की ग़लती शेरसिंह ने की और फिर उसकी पुनरावृत्ति स्वयं मूलराज ने शेरसिंह के प्रति सन्देह कर के की। हम ऊपर कह आए हैं कि अँगरेज़ एक बार की की हुई भूल को दूसरी बार सुधार लेते हैं अथवा नहीं करते। लार्ड डलहौजी ने जहाँ मुल्तान-युद्ध में सेना भेजने में देरी की, वहाँ अब की बार तत्काल घोषणा की कि "जो अँगरेज़ों के विरुद्ध हथियार न उठायेगा उसे अभय दान दिया जायगा।" साथ ही अँगरेज़ी सेना को रसद आदि सब तरह से सहायता पहुँचाने का सरदारों को भी आदेश था। लार्ड डलहौजी ने इस घोषणा का समर्थन किया।

इधर बाग़ी सिख-सेना भी निरन्तर बढ़ रही थी। शेरसिंह की सेना भी लगभग ४२९१ के होगई थी। सिख-सेना अपने सरदारों को छोड़ छिन्न-भिन्न हुई फिरती थी। प्रतिहिंसा की आग से वे जले जा रहे थे। वे सभी यही चाहते थे कि—आज ही रणद्वन्द मच जाय। महाराज रणजीतसिंह के पुत्र दिलीपसिंह का राज्य अन्याय पूर्वक ले लिया है और महारानी जिन्दा के साथ भारी अत्याचार किये गए हैं। सिख-धर्म की बेइज़्ज़ती की है। यह बातें हरएक विद्रोही इस तरह कहता कि सुनने वालों के रोंगटे खड़े हो जाते, बुड्ढों की नसों में भी ख़ून खौलने लगता। वे छाती फुला-फुलाकर पुकार उठते—धर्म की रक्षा के लिए मर जाओ? महारानी जिन्दा, खालसा-मां जिन्दा के अपमान का बदला लो? फिरंगियों को निकाल बाहर करदो और अपने महाराज दिलीप को सिंहासनासीन करदो!

सन् १८४८ ई० की २२ वीं नवम्बर को प्रधान सेनापति ब्रिगेडियर ने कौलिन कम्बल और कोर्टियन को आज्ञा दी कि रामनगर जाकर अपनी सेना से सिखों पर धावा बोल दो। पर रामनगर पहुँचने पर इन्हें सिख-सेना का नाम भी न मिला। उनकी समझ में न आया यह सेना क्या हुई! बहुत ढूंढने पर उन्हें सिख-सेना दिखलाई पड़ी। दूर से ही गोले छोड़े गये। पर ये गोले व्यर्थ हुए। निकट पहुँचकर जब अँगरेज़ी सेना ने गोले छोड़ने शुरू किये भी न थे, कि सिख सेना की ओर से एकदम अग्नि-वर्षा हुई। जिस तरह ज्वालामुखी पर्वत के फट पड़ने से आस-पास के गांवों का तो पता ही नहीं चलता बल्कि दूर के गांवों में भी खलबली पड़ जाती है, इसी तरह सिक्खों की तोपों की भयंकर गर्जना और गोलाबारी ने अँगरेज़ी सेना के होश भुला दिये। अँगरेज़ी-सेना इधर-उधर भागने लगी। दो तोपें और कितने ही छकड़े रसद के छोड़ जान बचाकर अँगरेज़ी-सेना भाग निकली।

सेनापति लाट गफ़ को प्रथम बार ही भारी क्षति उठानी पड़ी। वैसे तो सेना के डर से भाग जाना ही बतलाता है कि अँग्रेज़ सैनिक बुरी तरह घबरा गए थे। डरे हुए अँगरेज अफ़सरों की सलाह से छावनी छोड़ सेनापति गफ़ को भाग जाना भी अनुचित न लगा। भगी हुई अँगरेज़ी सेना का पीछा सिख-सेना ने किया और युद्ध के लिए ललकारा। कुछ अँगरेज़ वीर वापिस भी हुए जिनमें विलियम हैवलाक नामक अँगरेज भी था। यह वीर वाटरलू के युद्ध में वीरता प्रगट कर चुका था। वीर हृदय से रुका न गया, अपने कुछ साथियों के साथ सिख-सेना से लोहा लेने लगा। पर इधर भी सिख इनसे किसी तरह भी कम न थे। सिख-सेना ने ज़बरदस्त गोलाबारी के साथ हैवलाक और उसके साथियों का सदा के लिए अन्त कर दिया। रामनगर के इस युद्ध में अँगरेज़ों के २३० सैनिक काम आए और कितने ही अँगरेज़ शेरसिंह के बन्दी हुए। बन्दी अँगरेज़ों के साथ शेरसिंह का बर्ताव प्रेमपूर्ण था। उसने उनको किसी प्रकार तकलीफ़ न दी और भोजन करवा के उनके डेरे पर पहुँचा दिया। ऐसी ही उदारता भारत के इतिहास में जगह-जगह मिलती है। उदारता का कैसा दुरुपयोग है। क्या ख़ूब, बाहरे उदारता!

सेनापति गफ़ ने प्राण-रक्षा करके एक सप्ताह बाद रामनगर से ६६ मील की दूरी पर छावनी का प्रबन्ध किया। बड़ी-बड़ी तोपें मंगाई गईं। शेरसिंह की खालसा सेना पर २ दिसम्बर को धावा बोलने का निश्चय हुआ। वे शेरसिंह के खेमे पर आक्रमण करने की तैयारी करने लगे। निश्चय हुआ कि मेजर जनरल सर जोसफ थाकवेल तो चिनाव नदी पार करके बाईं ओर से हमला करदें और शेरसिंह के सामने खुद प्रधान सेनापति गफ साहब। पूर्विय सैनिकों को धन का लोभ देकर मिलाने का षड्यंत्र भी सोचा गया। दूसरे दिसम्बर को थाकवेल साहब अपने मंजे-मंजाये सात हज़ार सैनिकों को ले चिनाव पार कर वजीराबाद के पास पहुँच गए और प्रातःकाल होने पर सिख-सेना पर आक्रमण करने के लिए तैयार रहने का आदेश किया। शेरसिंह अँगरेज़ी सेना के साथ रहकर लड़ चुका था। वह इन सब चालों को जानता था। थाकवेल के इस षड्यंत्र का उसे पता लग गया और वह कुछ सेना गफ से सामना करने के लिए छोड़ रामनगर से थाकवेल से लड़ने चल दिया। उस समय किसी देश-द्रोही ने शेरसिंह के आने का समाचार दिया। थाकवेल ने घबराकर बड़ी सावधानी से सेना को आगे बढ़ने की आज्ञा दी और सब समाचार प्रधान सेनापति के पास भेज दिए। गफ साहब ने लिखा कि ब्रिगेडियर गोडवी सेना सहित तुम्हारी मदद को आते हैं। जब तक ये न पहुँचें सिखों से युद्ध न करना।

इधर वीर शेरसिंह सिख योद्धाओं के साथ निकट पहुँच चुका था। थाकवेल साहब अस्थिर विचार हो गए। प्रधान सेनापति की आज्ञा भी है कि जब तक मदद न पहुँचे धावा न करना। यह ख्याल आने पर वे सेना सहित भाग चले। शेरसिंह ने फुर्ती से पीछा किया और सादुल्लापुर के पास थाकवेल की सेना से जा जुटा। धड़ाधड़ गोले बरसाये जाने लगे। थाकवेल ने एक गन्ने के खेत का सहारा लिया। वहाँ से वे अपना बचाव करते रहे। अँगरेज़ी सेना ने २ घण्टे तक सिख सेना की मार सही। इस बीच में अँगरेज़ी सेना ने भी विकराल धावा किया पर सिखों को कुछ भी घबराहट न हुई। अँगरेज़ी सेना को ही बहुत सी हानि उठानी पड़ी। शाम हो गई थी। थाकवेल साहब को रात को और भी भय की आशंका थी और गोड़वी के आने का भी कोई चिह्न दिखलाई न पड़ता था। अतः थाकवेल साहब ने चल देने में ही भलाई समझी। शेरसिंह भी रात होने से समस्त सेना और तोपों के साथ झेलम के दक्षिण की ओर चला आया।

यद्यपि युद्ध में अँगरेज़ों को काफी नुकसान उठाना पड़ा और भगाए गए पर तो भी 'सादुल्लापुर' के विजय-लाभ का इज़हार किया गया। किन्तु मार्शमैन साहब ने इतिहास में साफ़ लिखा है कि "युद्ध में शेरसिंह को ही फायदा रहा है, क्योंकि वह अँगरेज़ों के इरादे तोड़ कर सुभीते के स्थान पर पहुँच गया था और दर असल में शेरसिंह ने गफ साहब के सब मनसूबों पर पानी फेर दिया था। अँगरेज़ी सेना के दोनों वार की हार ने दिल तोड़ दिए थे। क्योंकि सादुल्लापुर के

बाद सवा महीने तक लाट गफ साहब चढ़ाई करने का साहस न कर सके और लूसरी नामक स्थान पर समय काटते रहे"। पाठक सोच सकते हैं कि विजित लार्ड गफ साहब ने कैसी विजय ! की थी। भला विजयी सेना भी इस तरह कभी शत्रु को अपनी शक्ति बढ़ाने का अवसर दे सकती है ?

लार्ड गफ ने १२ वीं जनवरी को डिङ्गी नामक स्थान में पहुँच बड़ी भारी सेना के साथ छावनी बनाई। वहाँ से ८ मील पर ही शेरसिंह भी सेना तैयार कर रहा था। सिख-छावनी का स्थान इस प्रकार का था कि पीछे तो झेलम बह रही थी और सामने एक छोटा सा जङ्गल था जिससे शत्रु-सेना को संगठन का पता न चलता था। दाहिने और बांये ओर से भी पूरा प्रबन्ध था। सिख-सेना की सुरक्षित छावनी को देखकर अँगरेज सेनापति गफ साहब चकित हो गये थे। किसी न किसी तरह आक्रमण कर देने की सुराग देखने लगे। निश्चय किया गया कि पीछे से रास्ता रोक दिया जाय और बांये भाग पर हमला किया जाय जिससे शत्रु भाग न सकें। १३ जनवरी को अँगरेजी सेना शत्रु-सेना पर निश्चयानुसार चढ़ाई करने को आगे बढ़ी और १४ जनवरी को हमला कर देने की पूर्णतः तैयारी कर ली। सिख सेनापति चतुर शेरसिंह अचेत न था। वह सब गति-विधि का पता रखता था। उसने चुपचाप अपना स्थान छोड़ कर आक्रमण कर दिया। शेरसिंह की चतुरता से गफ साहब के सब निश्चय धूल में मिल गये। यह देखकर अँगरेजी सेना क्रोधातुर हो उठी ! बड़ा भयानक धावा बोला गया। अग्नि-वर्षा की जाने लगी। दो घण्टे तक सिख-सेना पर अँगरेजी सेना ने तेजी से गोले बरसाये। गोलों का कोई फल न देख गफ साहब ने सेना के आगे बढ़ने का हुक्म दिया। ब्रिगेडियर जनरल कौलिन कम्बल ने सब से आगे धावा किया। पैदल सेना के दो भाग थे—एक कम्बल साहब की अध्यक्षता में हगन साहब द्वारा और दूसरा ब्रिगेडियर पेनकुहक से संचालित होता था। इन वीर सैनिकों ने बड़ी दृढ़ता से आक्रमण किया। ये तलवारों की चमचमाहट से तोपों की भयावनी गड़-गड़ाहट को चीरते हुए तोप चलाने वाले सिखों के पास पहुँच गये। तोपों के पास पहुँच कर तोप चलाने वालों को एक-एक कर गिराने लगे और कई तोपों के मुँह पर कीलें जड़ दीं। किन्तु इस समय सिक्खों ने भी कम वीरता का परिचय न दिया। तोपों के मुँह से कीलें उखाड़ फेंकी और उसी प्रकार गोले बरसाने लगे। तोपों के मुँह बन्द करने वालों के पास अपनी तलवार के बल से पहुँच कर हाथ दिखाने लगे। इस समय दोनों ओर से भयानक युद्ध हो रहा था। स्वयं कम्बल साहब भी पैदल सेना के साथ आगे बढ़ आये थे। एक सिक्ख सैनिक ने साहब बहादुर पर भी तलवार छोड़ी। अगर बीच में एक अँग्रेज की तलवार आड़ी न आती तो कम्बल साहब का अन्त होने में देर न थी। पर तो भी साहब बहादुर घायल तो हो ही गए। अँग्रेजी सेना के ३६ एवं ४६ रेजीमेण्ट की देशी पैदल सेना ने इस युद्ध में अत्यन्त वीरता दिखाई। साहब बहादुर के जख्मी

होने की कोई बात नहीं, विजयश्री ने उन्हीं का साथ दिया और साथ ही सिक्ख-सेना की चार तोपें हाथ आईं।

इस ओर कैम्बल साहब ने तो विजय प्राप्त की परन्तु उधर उनके सहकारी पेनकुहक साहब का बुरी तरह अन्त हुआ। वे अपने पाँच सौ सैनिकों के साथ खेत रहे। अँग्रेज़ी झंडा सिक्खों के हाथ लगा। ब्रिगेडियर ने सेना को दो दलों में विभक्त कर दो ओर से सिक्ख सेना पर हमला किया और इसी समय दो अन्य स्थानों पर गिलबर्ट की पैदल सेना ने भी आक्रमण किया। ब्रिगेडियर की सेना का सामना सिक्खों ने धैर्य पूर्वक किया। तोपों की भयंकर आवाज़ से कान फटने लगे। गोडवी की सेना अधिक वेग से बढ़ने लगी। अब सिक्ख न ठहर सके। वे लड़ाई के मैदान से भाग खड़े हुए। चार तोपें अँग्रेजों के हाथ लगीं। गिलबर्ट ने सिक्खों का पीछा न कर घायल सैनिकों को सम्हालना उचित समझा।

सिक्खों ने अवसर पाकर पीछे से आक्रमण कर दिया। अँग्रेज़ सैनिकों के भागने के मार्ग भी रोक दिये गए। गिलबर्ट अधिक देर तक संकट में रहा। उसकी मदद के लिए सेना के साथ कप्तान डेन पहुँच गए। अवश्य ही अगर कप्तान साहब न आते तो गिलबर्ट साहब का बुरा हाल होता। मदद पहुँचने पर गिलबर्ट के सैनिकों का साहस बढ़ गया। कप्तान डेन और गिलबर्ट की सेना ने भयंकर गोले बर्षाए। प्रलयकाल दिखाई पड़ने लगा। युद्ध-भूमि मृत-सैनिकों की लाशों से भर गई। जो सिख गिलबर्ट की दुर्दशा करने आये थे बड़ी बुरी तरह फँस गए। जहाँ गिलबर्ट के लिए संकटापन्न की सोची जा रही थी वहाँ सिक्खों को लेने के देने पड़ गए। वे इस तेज धावे को न सह कर भाग खड़े हुए और अँग्रेज़ों के हाथ सिक्खों की ३ तोपें और आगईं। गिलबर्ट ने भी उधर ५ तोपें सिखों से छीन ली थीं। कहना न होगा कि सिख दो बार हार कर तोपों को अँगरेज़ों के हाथ दे चुके थे; परन्तु यह नहीं कि वे लड़ने में निर्बल रहे। सिखों ने लड़ाई में बड़े धैर्य और साहस से काम लिया। उन्होंने अँगरेज़ी सेना पर भयंकर अग्नि बरसाई जिसके सामने गौडवी की सेना युद्ध में न जम सकी। महाराजपुर के युद्ध के झंडे जो कि अँगरेज़ों के पास थे सिखों के हाथ आये। सेना की दुर्दशा देख इनकी पैदल सेना मदद को आ पहुँची; किन्तु सिख वीरों की मार वे भी न सह सके। इस लड़ाई में १६ अँगरेज़ अफ़सर, छः सौ सिपाही मरे और घायल हुए।

मेजर जनरल सर जोसफ थाकवेल साहब ने जो पेनिनसुला के युद्ध में बड़ी बहादुरी पा चुके थे, सिखों की घुड़सवार सेना के अध्यक्ष अतरसिंह की सेना पर हमला किया। इसी सैन्यदल में रणवीर शेरसिंह भी थे। थाकवेल साहब ने पाँचवीं और तीसरी घुड़सवार सेना से युनेट को आक्रमण करने की आज्ञा दी। युनेट ने जा कि थाकवेल के अधीन का एक अफ़सर था लड़ाई के व्यूह को तोड़ना चाहा, पर सिखों का मुकाबिला कम न था। सिख-सैनिकों की दीवारें मिट्टी की न थीं, वह वज्र से भी कड़ी थीं। युनेट के आक्रमण को सिख सैनिकों ने निष्फल कर दिया।

कितने ही अँगरेज सैनिक लड़ाई में मारे गये। युनेट साहब खुद मैदान में काम आए। सिखों ने इस वक्त अद्वितीय लड़ाई लड़ी। वे गाजर-मूली की तरह शत्रु-सेना को काट रहे थे। स्वयं थाकवेल साहब ने पंजाब-युद्ध का इतिहास लिखा है। उसमें वे लिखते हैं—"मुझे मालूम हुआ कि मेरी सेना में एक भी मनुष्य ज़िन्दा नहीं।"

इस हानि और पराजय के होने पर भी अँगरेजों ने साहस को न छोड़ा। सेना के दाहिने भाग से लार्ड गफ ने लेफ्टीनेण्ट करनल पोप को ४ घुड़सवार रिजमेण्ट लेकर लड़ने को भेजा। भालाधारी घुड़सवारों की भी इनमें पलटन थी। सिखों ने बहादुरी से इस हमले का सामना किया। इतने में भालाधारी पलटन भाले चलाने लगी। भालों की चोटों को सिखों ने दृढ़ता-पूर्वक ढालों पर रोका और अपनी तलवारों से चतुरता पूर्वक घुड़सवारों को घोड़े समेत काट कर गिराने लगे। थाकवेल का इतिहास बतलाता है कि सिखों के एक-एक पैदल सिपाही द्वारा तीन-तीन घुड़सवार धराशायी हुए। बड़ा भयानक युद्ध था। सिख लोग चुन-चुन कर शत्रुओं को यमपुर पहुँचाने लगे। लेफ्टीनेण्ट करनल पोप भी युनेट की भाँति मदान रहे। अँगरेजों की घुड़सवार सेना पोप के बिना सेनापति विहीन हो गई। सैनिक छिन्न-भिन्न होकर भागने लगे। पर सिक्खों ने पीछा किया। जहाँ कहीं जो अंग्रेजी सेना का सैनिक वा डाक्टर कोई भी मिला मौत के घाट उतार दिया गया। अंग्रेजी सेना रसद का सामान इधर-उधर बिखरा छोड़ प्राण ले भागने की धुन में लग गई। पर भागे हुओं में से बहुत कम ही जान बचा पाये। महावीर सिक्खों ने दौड़-दौड़ कर हाथ साफ़ किए! मेजर क्रिष्टी तोपों को बचा कर ले भागना चाहते थे। पर मेजर साहब साथियों समेत सदा के लिए तोपों को छोड़ कर चले गए। सिक्खों ने क्षण भर में उन सब को पृथ्वी पर सुला दिया। गोलन्दाजों की मदद के लिए कुछ अंग्रेज संगीन लेकर दौड़े परन्तु बेचारे संगीनों को लिए हुए जमीन नापने लगे। सिक्खों के एक झोंके ने ही उन्हें मदद की फिकर से हमेशा के लिए दूर कर दिया।

प्रधान सेनापति गफ साहब को भी कुशल से रहने में सन्देह हुआ। यह असम्भव न था कि बढ़ती हुई सिक्ख-सेना का रुख होते देर लगे। अतः कुछ लोग उन्हें भागने की सलाह देने लगे। क्योंकि पता न था भूखे सिंह की भाँति सिख कब टूट पड़ें। परन्तु गफ साहब बाइज्जत रह गए भागे नहीं। गफ के शरीर-रक्षकों ने बड़े वेग से तोप से गोले बरसाए। विजयी घुड़-सवार सिक्ख-वीर शत्रु की सेना को भगा कर अंग्रेजी तोपों को लेकर अपनी छावनी में आगए।

लाट गफ ने हिम्मत तब भी न छोड़ी और एक अन्तिम उद्योग करना उचित समझा। ब्राइण्ड और ह्वाइट नामक दो साहबों को सिक्खों के दाहिनी ओर हमला करने का हुक्म दिया। वे तोपों की गर्जना के साथ आगे बढ़े। शत्रु-सेना छिन्न-भिन्न देख कर अतरसिंह के तोपखानों ने कुछ देर के लिए गोला छोड़ना

बन्द कर दिया था। ब्राइण्ड साहब ने सोचा मेरी तोपों के डर से अतरसिंह ने तोपें बन्द करदी हैं। साहब महाशय यह सोच ही पाए थे कि अतरसिंह की तोप के गोलों से आसमान गूँज उठा। भयानक अग्नि-वर्षा से घास की तरह अंग्रेज़ों का सामान, रसद की गाड़ियाँ, सब राख में मिलने लगीं। साँझ का समय हो आया था। सारे दिन में अंग्रेज़ी सेना की दुर्दशा हुई थी। कोई विरला ही ऐसा सैनिक था जो इस लड़ाई में चोट से बचा हो। प्रधान सेनापति गफ बहुत से सामान और तोपों को छोड़ कर लड़ाई का मैदान छोड़ चिलियानवाला नामक स्थान की तरफ चले गए।

सिक्खों के लिए विजय का यह दिन गर्व का दिन था। इस दिन उन्होंने शत्रुओं को मार कर ढ़ेर कर दिया था। जिस घुड़सवार सेना ने महावीर नेपोलियन बोनापार्ट को परास्त किया था, उसी घुड़सवार सेना के पैर वीर सिक्खों के आगे न जम सके। अंग्रेज़ों की जीत कर लाई हुई ध्वजा भी सिक्ख सैनिकों के हाथ आई। जिधर से शत्रु सेना ने हमला किया, मुँह की खाई। बड़े-बड़े रण-निपुण महारथियों को लड़ाई के मैदान में सदा की नींद सो जाना पड़ा। सिक्ख-सरदारों ने प्रधान सेनापति के चिलियानवाले की तरफ चले जाने पर, पीछा न कर, युद्ध-क्षेत्र में मरे सैनिकों का धर्म-संस्कार करना उचित समझा।

इस युद्ध में विजय तो सिखों की हुई ही पर गफ़ साहब ने भागते वक्त विजय के नगाड़े बजा दिए। जीत की तोपें छोड़ी गईं। इधर शेरसिंह ने भी सची विजय की तोप-ध्वनि की। पर गफ़ साहब ने तो हार कर भी जीत की घोषणा करवाई। लार्ड डलहौजी ने तो इसी झूठी विजय की प्रसन्नता में एक-एक कर सभी तोपें चलाने का हुक्म दिया। वास्तव में यह एक राजनीतिक चाल भी थी। क्योंकि इस से प्रजा में भय संचारित होता था और विद्रोह में शामिल होने वालों का उत्साह भंग होता था। अँगरेज़ों की पराजय का पता इन सम्मतियों से अधिक स्पष्ट हो जाता है। सर लेफिनग्रिफिन साहब (पंजाब राजाज़) नामक पुस्तक में लिखते हैं—"चिलियानवाला का युद्ध अफ़गानिस्तान की महाहत्या के समान ही अँगरेज़ों के लिए भयावना हुआ।" उस समय कलकत्ता रिव्यू में एक अँगरेज़ ने लिखा था—"भारत में अँगरेज़ों ने जितने युद्ध किये हैं चिलियानवाला का युद्ध उनमें से अतीव भयानक हुआ।" 'के' साहब ने सिपाही युद्ध के इतिहास नामक ग्रन्थ में लिखा है—"चिलियानवाला युद्ध में बृटिश तोपें छीन ली गई हैं। बृटिश पताकाओं के सिखों के हाथ पड़ने से उनका गौरव बढ़ा है। बृटिश घुड़ सवार सेना सिखों से डर कर भेड़-बकरियों की भांति भाग गई है।" पाठक समझ गये होंगे कि विजय किनकी हुई है। प्रसिद्ध इतिहासकार कनिंघम साहब ने सिखों के चिलियानवाला युद्ध की सिकन्दर महान् और पोरष के युद्ध से तुलना की है।

चिलियानवाला युद्ध के पराजय का समाचार इङ्गलैंड पहुँचने पर बड़ा आन्दोलन हुआ। उन्नति-शील अँग्रेज़ जाति से यह अपमान सह्य न हुआ। प्रधान
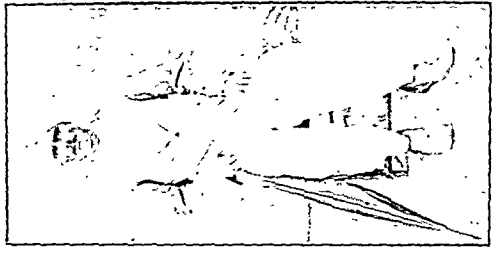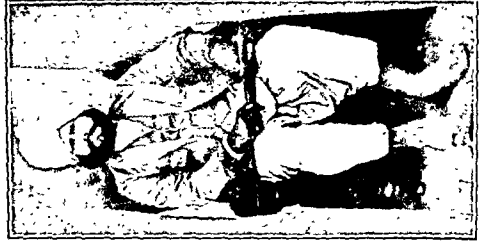
मास्टर अमनसिंह जी म० पो० बामनौली

श्री नारायणसिंह जी भाटी
मंडी डब्बावाली, हिसार।

मास्टर जोधसिंह 'वर्म्मा', अध्यापक
गुरुकुल-वृन्दावन. (मथुरा)
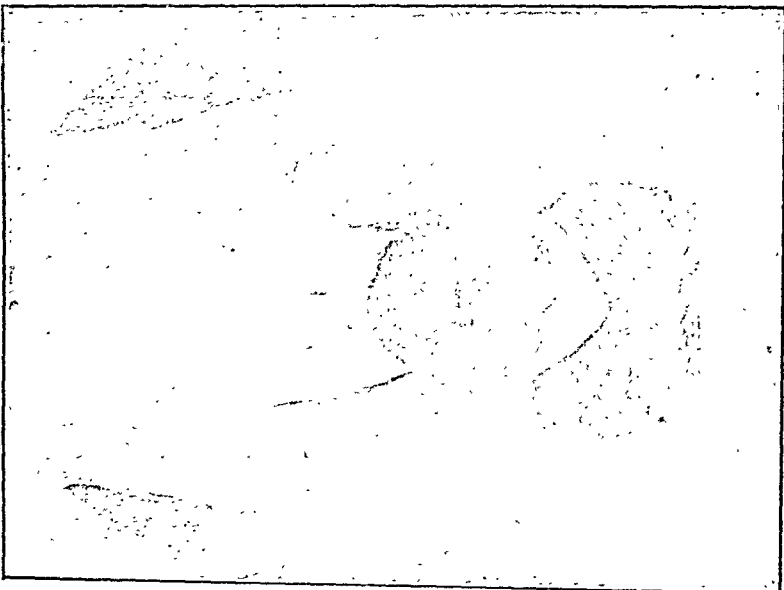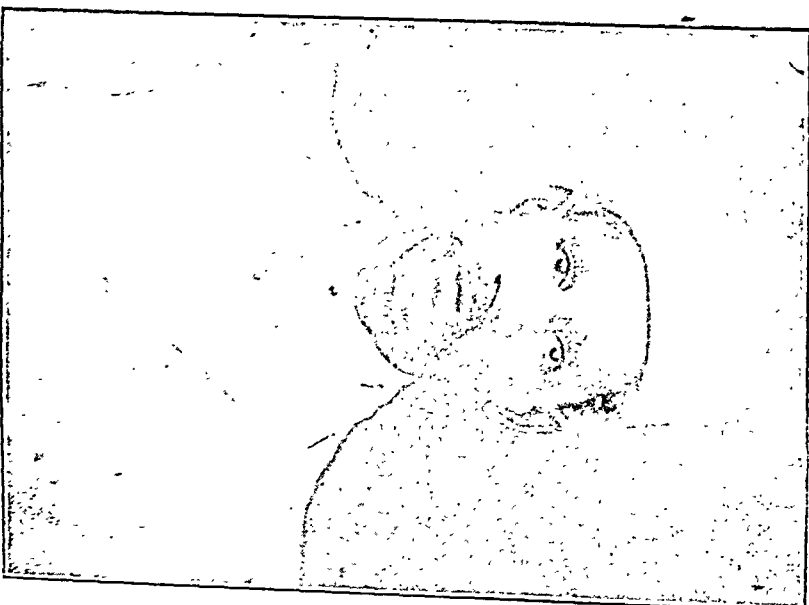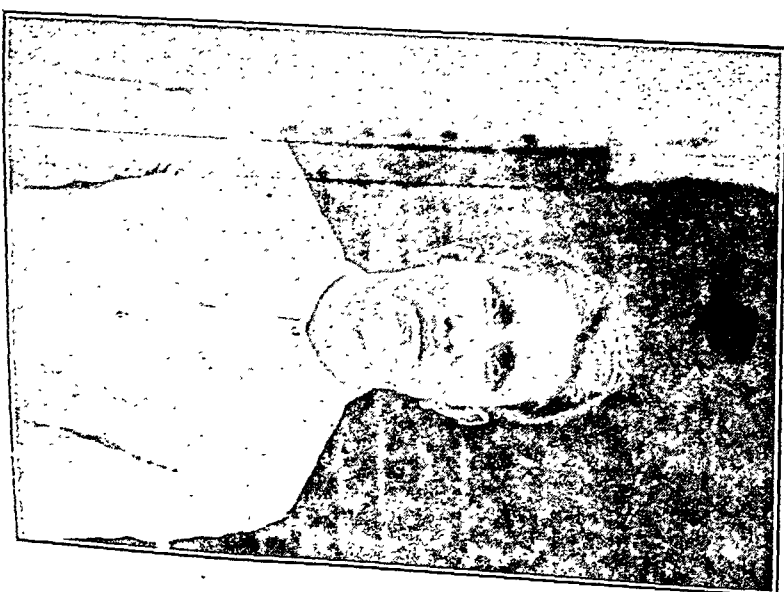
चौ० ख्यालीसिंह गोदारा वकील,
राज्य श्री बीकानेर।

सेनापति गफ को इस पद के योग्य न समझा गया और उन्हें हटा देना ही उचित समझा। युद्ध की पराजय का समाचार सुनकर नैपोलियन को हराने वाले ड्यूक आफ़ वेलिंगटन ने नेपियर साहब को प्रधान सेनापति बनाते वक्त जोश में भर कहा था कि—"अगर तुम नहीं जाना चाहते हो तो स्वयं मुझे हिन्दुस्तान जाना होगा।" परन्तु लाट गफ़ का सौभाग्य था कि भारत में इंग्लैण्ड से निर्वाचित सभापति के आने के पहिले ही गुजरात युद्ध की जय के गर्व का अवसर मिल गया और वे इस युद्ध की विजय से चिलियानवाला की पराजय की शरमिन्दगी को ढांक सके।

चिलियानवाले युद्ध के बाद सेनापति गफ ने २५ दिन तक लड़ाई बन्द रखी और युद्ध करने के लिए तैयारी करने लगा। सिखों ने भी इन दिनों में अपनी सेना मजबूत की। युद्ध के दो दिन बाद ही चतरसिंह भी शेरसिंह और अवरसिंह से आ मिला। शेरसिंह के पिता चतरसिंह के पास लड़ाई में बन्दी हुए। मेजर लारेंस और लैफ्टीनेन्ट हरबर्ट और बोर भी थे। ये बन्दी अँगरेज शेरसिंह के तम्बू में लाए गए। शेरसिंह ने इनके साथ बड़ी नरमी का बरताव किया। यहाँ भी उदारता का अनुचित प्रयोग किया गया। बन्दी करके उन्हें सुविधा से रखना तो उदारता की हद में आती भी है पर इन वीरता के मद में मतवालों ने पास में पड़ी शत्रुओं की छावनी में भी इन बन्दियों को आने-जाने की सुविधा देदी। इससे जाना जा सकता है कि सिख-सैनिक सरदार अपने बल पर कितना विश्वास रखते थे। उन्हें अपने भुजबल पर इतना विश्वास हो गया था कि ये अँग्रेज कैदी शत्रुओं की सेना में हमारी सारी गतिविधि का पता देंगे तो भी कोई हर्ज नहीं है। इस तरह से ये बन्दी अँग्रेज़ सेना से मिलते रहते थे और, सिख-सेना के समाचार उन्हें देते रहते थे। ये सुन चुके थे कि कुछ सिख-सैनिक अँगरेजों की तोपों की अग्नि वर्षा से डरते हैं और अगर बराबर तोपों से काम लिया जाय तो अँगरेजों को कामयाबी मिल सकती है। यह समाचार पाकर लार्ड गफ ने बड़ी-बड़ी तोपों को मंगा लिया। यही नहीं शेरसिंह ने इन लोगों के (बन्दियों के) जरिए सन्धि की भी बात-चीत छेड़ दी। शेरसिंह को कहा गया कि सन्धि की बात-चीत प्रधान सेनापति से कह दी है। इस प्रकार शेरसिंह अँगरेज़ों की राजनैतिक चाल में फँस गए।

इधर सिख-सेना की वृद्धि में शिथिलता आने लगी। क्योंकि शेरसिंह सन्धि के चक्कर में डाल दिया गया था। सन्धि-प्रस्ताव का उत्तर आने की प्रतीक्षा में रहने लगे। और उधर अँगरेजों ने सैनिक शक्ति बढ़ाने, भयंकर तोपों का प्रबन्ध करने में सारी शक्ति से काम लिया। सिक्खों ने सन्धि की आशा में २५ दिन व्यर्थ खो दिए और शत्रुओं को शक्ति बढ़ाने का अवसर दिया। जब सन्धि-प्रस्ताव का उत्तर आया कि संधि करना मंजूर नहीं है तब शेरसिंह की आँखें खुलीं। अब तक अँगरेज पूर्णतः अपनी शक्ति बढ़ा चुके थे।

सन् १८४६ ई० की ६ फरवरी को अँगरेज़ों को पता लगा कि सिख-सेना रसूलपुरा चली गई है। सेनापति ने खुद जाकर सिखों के पड़ाव को देखा। वे देख-कर स्तंभित हो गए कि ऐसे सुरक्षित स्थान को सिख कैसे छोड़कर चले गए। उन्हें बड़ी प्रसन्नता भी हुई कि सिक्खों के ऐसे सुदृढ़ स्थान को छोड़ देने से विजय आसानी से हो सकती है और अगर इस स्थान पर सिख-सेना रहती तो विजय पाना असंभव नहीं तो अत्यन्त कठिन था। पर इस प्रसन्नता में वे थोड़ी ही देर ठहर सके, क्योंकि उन्हें पता चला कि शेरसिंह ६० तोपों के साथ लाहौर की ओर चला गया है। इस समाचार को पाकर सेनापति गफ को घबराहट का सामना करना पड़ा। वे स्थिरचित्त होकर शेरसिंह को रोकने की तैयारी करने लगे और रास्ते में ही रोक लेने के उपाय में लगे। निस्संदेह अगर शेरसिंह लाहौर पहुँच पाता तो पंजाब क्या भारतवर्ष में से अँगरेज़ों को भाग जाना पड़ता और सिख वीरों की विजय-ध्वजा भारतवर्ष पर फहराती। उस समय के कलकत्ता के रिव्यू पत्र से जाना जाता है कि इस यात्रा में पंजाब का संपूर्ण सार भूखण्ड और दिल्ली से लाहौर तक की राह सिखों के हाथ लगी।

चतरसिंह द्वारा किए वन्दियों के शत्रुओं की शिविर में जाने देने से प्रधान सेनापति गफ को मालूम हो गया था कि सिक्खों के पास बड़ी-बड़ी तोपों की कमी है और तोपों की बढ़ोतरी से ही युद्ध में कामयावी हो सकती है। १४ फ़रवरी को गुजरात में इन्हीं भयंकर तोपों का इस्तैमाल किया गया। बड़ा भीषण संग्राम हुआ। सिख सैनिकों ने जान की वाजी लगादी। सरदार चतरसिंह के पास ३६००० सेना और ५६ तोपें थीं। दोस्तमुहम्मद की क़ाबुल से भेजी हुई मदद भी पहुँच गई थी। दोस्तमुहम्मद ने १५०० अफ़गान सैनिक भेजे थे और खुद मय बेटों के सिक्खों के सहायतार्थ आए थे। चतरसिंह कटक का क़िला उनके हवाले सौंप शेरसिंह से आ मिले थे।

अंग्रेज़ सेनापति लार्ड गफ की सहायता के लिए भी जनरल ह्वीस १२ हज़ार सैनिकों के साथ मुल्तान युद्ध हो चुकने से पहुँच गए थे और वे अपने साथ १०० तोपें भी लाए थे। सेनापति गफ का साहस तो यों और ह्वीस समेत सैनिकों की सहायता से द्विगुणित हो गया। अँग्रेज़ सेना भर नवीन उत्साह के साथ लड़ाई में जुट गई।

सन् १८४६ की २१ फ़रवरी का दिन सिक्खों के दुर्भाग्य का दिन था। सवेरे से ही तोपों की घनघोर गड़गड़ाहट से कान फटने लगे। अंग्रेज़ी सेना ने १०० तोपों से अग्नि वर्षा कर दी। सिक्खों के पास केवल छोटी ५६ तोपें थीं। भला वे इन तोपों के सामने कैसे ठहर सकतीं? परन्तु सिक्ख योद्धाओं ने हिम्मत नहीं छोड़ी। वे तलवार चलाने लगे। उस समय अँग्रेज़ी फ़ौज में तोपों की देख-रेख स्वयं सेनापति गफ कर रहे थे। चिलियानवाला-युद्ध की हार ने उनके हृदय में प्रतिकार की आग

सुलगा दी थी और तोपों से वे गोले पर गोले छुड़वाले जा रहे थे जिससे सिक्खों की तोपों को भारी नुक़सान पहुँच रहा था। वे एक के बाद एक बेकार होती जा रही थीं।

सिक्ख सैनिकों ने तलवार से भयंकर धावा किया। वे आगे तक बढ़ते ही गए। यहाँ तक कि प्रधान सेनापति गफ तक जा पहुँचे। सेनापति को आपत्ति में देख शरीर रक्षकों ने भयंकर गोले छोड़े। जिससे वे सिक्ख सैनिक रणस्थली में लेट गए। उधर थैवल साहब की घुड़सवार सेना ने दोस्तमुहम्मद के भेजे हुए सैनिकों पर विजय प्राप्त कर ली। दोस्तमुहम्मद के भेजे हुए १५०० अफ़ग़ान सिपाही दाहिनी ओर थे। इनके भागते ही सिक्खों की सेना का व्यूह भंग हो गया। टूटे हुए भाग की ओर से अंग्रेज़ी सेना व्यूह में पैठ गई। किन्तु तो भी सिख सैनिकों ने अलौकिक साहस, वीरता, और धीरता का परिचय दिया। अँगरेज सैनिक संगीनों से आक्रमण कर रहे थे। सिख सैनिकों ने पैतरे बदल-बदल कर बाँए हाथ से संगीनों को रोक तलवार के अद्भुत हाथ दिखाये। पर खाली तलवारों से ये वीर क्या कर सकते थे। सेना-व्यूह टूट चुका था। तोपें बेकार हो चुकी थीं। अँगरेजों की तोपों से अग्नि-वर्षा बराबर हो रही थी। आखिरकार ऐसे समय जो होता है वही हुआ। सिख सेना को भागना पड़ा और जो भागने से अच्छा रणक्षेत्र में बलिदान होना सौभाग्य समझते थे, वे वीर बराबर लड़ कर अपने को सदा की नींद सुलाते जा रहे थे। कितने ही सिख सैनिक भय से पेड़ों पर चढ़ गए; परन्तु वे बुरी तरह से मारे गये। निहत्थे सैनिकों को भी बन्दी न कर बड़ी दुर्गति के साथ मारा गया। बेरहमों ने शेरसिंह के बन्दी किए हुए अँगरेजों से किए गए उदारता के व्यवहारों से कुछ न सीखा।

चतरसिंह और शेरसिंह की हार हुई। गुजरात-युद्ध में विजय लक्ष्मी इन से रूठ कर अँगरेजों पर प्रसन्न हुई। वास्तव में इस पराजय का कारण शेरसिंह की उदारता का प्रयोग भी बहुत कुछ था। इस लड़ाई में जहाँ सिखों के अगणित योद्धा खेत रहे, तहाँ अँगरेजों के पाँच सौ सैनिक काम आये। अँगरेजी सेना के कम सनिक मरने के कारण तोपों की अग्नि वर्षा का युद्ध था। सिखों के मैदान छोड़ भाग जाने से ५६ तोपें और बहुत सी रसद तथा लड़ाई का सामान अँगरेजों के हाथ लगा। रणक्षेत्र से भागने पर भी जनरल गिलबर्ट ने पीछा किया। पन्द्रह हज़ार सेना और तीस तोपों को लेकर गिलबर्ट साहब चढ़ दौड़े। कैम्बल द्वारा रोहितासगढ़ का दुर्ग सिखों से जीता गया। पहिले बताया जा चुका है कि सिखों की सेना में कुछ अँगरेज़ बन्दी भी थे जिनमें कई स्त्रियाँ भी थीं। उनमें जार्ज लारेन्स की अर्द्धाङ्गिनी भी थीं। छठी मार्च को इन क़ैदियों को रिहा कर दिया गया। बन्दी स्त्रियों और पुरुषों के साथ पूर्णतः भद्र व्यवहार किया था और उनके साथ छोड़ने तक किसी प्रकार कड़ाई नहीं की गई। क्या किसी देश के इतिहास में ऐसी आदर्श शत्रुता की मिसाल मिल सकती है ?

सिख सरदारों की इस हृदयता, दयालुता की कहानी पढ़ने के बाद अब सभ्यता में ऊँची अंग्रेज़ जाति के वर्ताव की भी कथा सुन लीजिए! रसद की और हथियारों की कमी के कारण शत्रु सेना से घिरकर सिख सरदारों ने आत्म समर्पण कर दिया। युद्ध-सामग्री के बिना और दूसरा रास्ता ही न था। पर अब भी इन स्वाभिमानी सरदारों के चेहरे से वीरता झलकती थी। शेरसिंह ने सेनापति गिलबर्ट की दाहिनी ओर खड़े होकर शस्त्र रखते हुए निर्भयता से कहा—"अँगरेज़ों के अनेक अत्याचारों से ऊबकर हमने यह युद्ध किया था। हमारे देश की रक्षा के लिए हमने यह युद्ध किया था। अब हमारी यह दुर्दशा हो गई है कि हमारी सेना के योद्धा रणभूमि में सदा के लिए सो गए हैं। हमारी तोपें, हमारे अस्त्र-शस्त्र हमारे हाथ से निकल गए हैं। हम इस समय अनेक अभावों के कारण आत्म-समर्पण करते हैं। हमने जो कुछ किया है उसके लिए हमें कुछ भी पश्चाताप नहीं। हमने जो कुछ अब किया है, शक्ति होने पर कल भी वही करेंगे।" सब सैनिकों ने हथियार रख दिए परन्तु सिक्ख शिरोमणि भाई महाराजसिंह और रिछपालसिंह ने हथियार न रखे। उस समय प्रत्येक सिख की आँखों से आँसू वह रहे थे। आँसू भरे हुए गम्भीर मुख से सब कह उठे "आज वास्तव में महाराज रणजीतसिंह की मृत्यु हुई।"

इन आत्म-समर्पण किए हुए वीरों के सम्मान की रक्षा न हुई। इनके वीरत्व का भी आदर न हुआ। उनकी वीरता का अपमान किया गया। अँगरेज़ सेनापति ने इजहार किया कि निहत्थे सिख सैनिकों को कुछ धन दिया जायगा। स्वाभिमानी सिख सरदारों ने घृणा पूर्वक रुपए लेना अस्वीकार कर दिया। वे चाँदी के टुकड़ों पर अपनी आत्मा को न बेच सकते थे। पराजय की आत्मग्लानि के कारण ही उनकी आँखों से लगातार आँसू वह रहे थे। दुख की श्वास छोड़ वे आँसू बहाते हुए वहां से चले गये। वास्तव में यह रौद्र-शान्ति का भयानक दृश्य था। सिखों की और भी १ तोप अँगरेजी सेना के हाथ आयी। इस तरह सिखों का यह दूसरा युद्ध समाप्त हुआ। सिखों के भाग्य का इस प्रकार पटाक्षेप हुआ। चतरसिंह-शेरसिंह वन्दी बन कर कलकत्ते पहुँचा दिए गए!

पंजाब-हरण

काल की विचित्र गति से जो पंजाब महाराज रणजीतसिंह के शासन-काल के समय विदेशी यात्री को अपने में पैर भी न रखने देता था वही विदेशियों द्वारा बुरी तरह रौंदा गया। उसके निवासियों की सहायता से ही उसके निवासियों की दुर्गति हुई। इस कराल काल के वश में कौन नहीं आता? किसे पता था कि महाराज रणजीतसिंह का विस्तृत राज्य दस वर्ष के काल में ही पराधीन हो जायगा? गुजरात युद्ध के बाद लार्ड डलहौजी की आँख पंजाब पर आ लगीं। इस हरे-भरे प्रदेश को देख कर भला कौन ललचाये बिना रह सकता है और अब

कोई विरोध करने वाला भी न था ? पर किसी प्रकार की झूठमाठ की ओट नी आवश्यक थी। और कुछ नहीं तो 'पंजाब में अशान्ति है' के नाम पर ही पनी इच्छा पूरी करने की ठानी गई।

यद्यपि दूसरे युद्ध में शेरसिंह-चतरसिंह ही विद्रोही हुए थे। बाकी के सरदार राबर अँगरेज़ों की मदद करते थे। लाहौर दरबार की प्रतिनिधि सभा में माठ सिख सरदार थे। जिन में शेरसिंह ने तो अपने पिता के साथ किए अन्याय से उभड़ कर विद्रोह किया था। दूसरे रणजोरसिंह को अँगरेज़ सरकार द्वारा और दोषी पाया गया था। शेष सरदार अँगरेज़ों की ही तरफ़ थे। राज-कर सम्बन्धी नये नियम बनने पर सिख सरदार कर-संग्रह करने में पूरी शक्ति से लगे थे। इसमें सन्देह नहीं कि बिना सरदारों की सहायता अँगरेज़ कर वसूल नहीं कर सकते। यह ही नहीं जिस समय पंजाब में रणचण्डी नृत्य कर रही थी, लाहौर दरबार ने पूरी सहायता देकर मदद की थी। सर हैनरी लारेन्स खुद मंजूर करते हैं कि "विद्रोही सेना में बहुत कम सिख थे, जो लोग अँगरेज़ी राज्य से अप्रसन्न थे उनमें से ही विद्रोहियों का साथ दिया था। सर्व साधारण सिख इस विद्रोह में शामिल नहीं हुए थे। सिखों में अनेक विश्वासी और सिखों के हितैषी थे।" किन्तु इतने पर भी महाराज रणजीतसिंह का सिख-राज्य डलहौजी की हड़प-नीति से न बच सका।

इस बात को कौन स्वीकार नहीं करेगा कि लाहौर दरबार का इस विद्रोह से कुछ भी सम्बन्ध नहीं था जब कि महारानी जिन्दा अँगरेज़ों की क़ैद में थीं और लाहौर दरबार में से शेरसिंह को छोड़ कोई बाग़ी न हुआ था। अँगरेज़ी रेजीडेण्ट द्वारा पंजाब केसरी महाराज रणजीतसिंह के राज्य का शासन हो रहा था। रणजीतसिंह के पुत्र दिलीपसिंह अँगरेज़ सरकार की देख-रेख में थे। तब पंजाब-खालसे किये जाने का विचार करना 'स्वार्थ के लिए अन्याय' के सिवा क्या हो सकता है।

जहाँ स्वार्थ होता है वहाँ न्याय अन्याय का ख्याल नहीं किया जाता। लार्ड डलहौजी ने कुछ भी विचार नहीं किया कि इसमें बालक शेरसिंह का क्या दोष है ? बालक दिलीप का इस विद्रोह से क्या सम्बन्ध है ? महाराज रणजीतसिंह से क्या सन्धि की गई थी ? उन्होंने गवर्नर ऑफ़ इण्डिया के सैक्रेटरी मि० (पीछे सर) हैनरी इलियट को लाहौर राज्य की प्रतिनिधि सभा से ईस्ट इण्डिया कम्पनी के पास पंजाब खालसा करने की बातें तय करने को भेजा। सन् १८४६ ई० को इलियट साहब लाहौर पहुँच गए।

किसी भी सिख सरदार को यह स्वप्न में भी न आया था कि जिन अँगरेज़ों को उन्होंने सहायता दी है और पूरे भक्त रह कर साथ दिया है, उनके सामने पंजाब खालसे करने का प्रस्ताव सामने आयेगा। और तो और हैनरी लारेन्स भी

इससे सहमत न थे कि पंजाब ईस्ट इण्डिया कम्पनी के आधीन कर लिया जावे। इलियट साहब ने उस समय लिखा था कि--मैंने लाहौर आकर, जिस कार्य के लिए आया था, सर हैनरी लारेन्स और मि० जौन लारेन्स से लिखा-पढ़ी की। मुझे दुख हुआ कि ये दोनों अफ़सर (सर हैनरी और जौन लारेन्स) इस बात पर तुले हुए थे कि प्रतिनिधि सभा से सन्धि की शर्तें स्वीकार करने का अनुरोध न किया जाय क्योंकि प्रतिनिधि सभा के सभासद अपने देश में पहिले ही पहिली सन्धि के कारण बदनाम हो रहे हैं। इस पर मैंने उनसे प्रार्थना की कि कौंसिल के दो प्रभावशाली सभासदों को प्राइवेट कॉनफ्रेन्स में शीघ्र ही बुलाया जाय। मेरे प्रस्ताव के अनुसार राजा तेजसिंह और दीवान दीनानाथ बुलाए गए। राजा तेजसिंह ने पहिले तो अस्वस्थ होने का बहाना बनाया और आना स्वीकार नहीं किया। मैं राजा के घर चला जाता पर मुझे खटका था कि पंजाब जब्त करने की विशेष उत्सुकता प्रगट करने से कहीं तेजसिंह मेरा प्रस्ताव अस्वीकृत न कर दे। अतः मैंने पुनः राजा तेजसिंह को कहला भेजा कि आपके आए बिना यह काम पूरा नहीं हो सकता है। इस पर राजा तेजसिंह, दीवान दीनानाथ के साथ मेरे पास आए। उनकी शकल देखने से किसी बीमारी का चिह्न नहीं दीख पड़ता था। प्रथम भेंट में ही मैंने अपने पंजाब आने का जो उद्देश्य था कह दिया। मैंने कहा कि अब पंजाब बृटिश राज्य में मिलाया जायगा। किन्तु इस बात का निर्णय करना, प्रतिनिधि सभा के सभासदों की इच्छा पर निर्भर है कि मैं जो शर्त आप लोगों के सामने पेश करता हूँ उनके अनुसार पंजाब मिलाया जावे अथवा किसी दूसरे ढंग से। यह सुनते ही राजा तेजसिंह कुछ डरे और घबड़ाए। उन्होंने राजा शेरसिंह तथा अन्य विद्रोहियों की निन्दा की। साथ ही यह स्वीकार किया कि गवर्नमेण्ट को इस विषय में पूरा अधिकार है। वह जैसा उचित समझे करे। उन्होंने यह भी कहा कि किसी प्रकार की शर्त पर कॉउन्सिल के दस्तखत किए बिना ही जब्ती की घोषणा कर देनी चाहिए। इस पर गफ़ ने कहा--यदि प्रतिनिधि सभा के सभासद गवर्नर जनरल की उन शर्तों को स्वीकार नहीं करेंगे जो उनके तथा महाराज के लिए हैं, तो मेरी इच्छा होगी वही करूँगा। मुझे यह कहने का कुछ भी अधिकार नहीं है कि कौंसिल के सभासदों को जीवन-निर्वाह के लिए कुछ वृत्ति दी जावेगी या नहीं? यह सुन कर दीवान दीनानाथ ने तेजसिंह की भाँति दुर्बलता जाहिर की! उन्होंने कड़ी शर्तों का प्रतिवाद किया और लाहौर से महाराज दिलीपसिंह तथा लाहौर के क़िले से महाराज के घराने की स्त्रियों को हटाने का भी घोर विरोध किया और कहा कि इस में महाराज रणजीतसिंह की भारी बदनामी होगी।

इस इलियट साहब के पत्र से अच्छी तरह जान पड़ता है कि उस समय उन्हें कितने विरोध का सामना करना पड़ा। परन्तु कोई भी तनिक-सा प्रतिपादन करते ही डाट दिया जाता था। इतनी उस समय किसके पास शक्ति थी कि सामना करता? बेवश सब को चुपचाप इलियट साहब की भेड़ बनना पड़ा। तेजसिंह

और दीवान दीनानाथ को पूछने पर कि हमारी जागीर रहेंगी या नहीं इलियट साहब ने उत्तर दिया—"आप लोगों को जागीर अथवा वेतन से अलग करने का विचार नहीं है। पर इसके बदले में जब कभी बृटिश गवर्नमेण्ट को जरूरत पड़े तो आप निःसङ्कोच सहायता अथवा परामर्श दें; और यदि आप की हुई शर्तें स्वीकार नहीं करेंगे तो आपके प्रति किसी प्रकार की दया न दिखाई जायगी।" दीवान दीनानाथ के पूछने पर कि आगे जागीर पर हमारी सन्तान का भी अधिकार रहेगा या नहीं! इलियट साहब ने कहा—"क्यों नहीं, यदि जागीर सदैव के लिए है तो रहेगी और इसकी जांच करने के लिए शीघ्र ही एक अफ़सर नियुक्त होगा। इस बात पर आप लोग स्वतंत्रता पूर्वक विचार लें कि संधि-पत्र पर हस्ताक्षर करें या नहीं।" राजा तेजसिंह और दीवान दीनानाथ दोनों ने सोच लिया कि पंजाब तो खालसे हो ही गया भले ही हम संधि-पत्र पर हस्ताक्षर करें या न करें और यदि हम हस्ताक्षर नहीं करेंगे तो हमारी कुशल नहीं। उन दोनों ने रोते हृदय से ठंडी साँस के साथ हस्ताक्षर कर दिए। तेजसिंह और दीनानाथ के हस्ताक्षर हो जाने के बाद इलियट साहब ने फ़कीर नूरुद्दीन और भाई शेरसिंह को बुलाया। ये दोनों उस समय सिख-धर्म के प्रधान नायक थे। इनसे भी वही बातें हुईं। इन लोगों ने भी अन्त में संधि-पत्र पर हस्ताक्षर कर दिए। इसके बाद प्रतिनिधि सभा के बाकी सभ्यों ने भी दस्तखत कर दिए और यह निश्चय कर लिया कि कल प्रातःकाल सात बजे दरबार कर संधि की शर्तों पर महाराज की मंजूरी करा ली जाय। इसके बाद सब लोग चले गए।

सन् १८४६ ई० २६ मार्च को प्रातःकाल महाराज रणजीतसिंह के राजभवन में आखिरी दरबार लगा। रणजीतसिंह के लाहौर, पंजाब में सूर्योदय का भी यह आखिरी दिन था और उसी दिन पंजाब केसरी वीरवर रणजीतसिंह के पुत्र, अँगरेजों के संरक्षत्व में रहने वाले बालक महाराज दिलीपसिंह भी अन्तिम बार अपने पैतृक सिंहासन पर बैठे। पर दरबार महाराज के समय में भी लगता था पर उन दरबारों की रौनक़ और आज के दरबार की उदासी बराबर थी। वह उगता हुआ सूर्य था तो यह अस्त होता हुआ। सब दरबारियों के हृदय रो रहे थे। जहाँ सिख सरदार दरबार के विशेष कपड़े और आभूषणों से बनकर आते थे वहाँ आज सब शोक वस्त्र धारण किए हुए थे। कपड़े और गहने सम्हाल कर पहनने का होश किसे था? सब दुख से बेसुध से हो रहे थे। जहाँ सरदार लोग शस्त्रों से सुसज्जित आते थे वहाँ आज निःशस्त्र आए थे। सब के दिल पूर्व के दिनों की यादकर फटे जा रहे थे। शीघ्र ही दिलीपसिंह के सर्वनाश का समय आ गया। मिस्टर इलियट, सर हेनरी लारेन्स और रेजीडेन्सी के अनेक कर्मचारी दरबार में आ पहुँचे। इनके साथ सेना का पूरा प्रबन्ध था। वैसे तो दरबार में पहिले ही सेना का पूरा इन्तजाम था पर साहब लोगों के साथ शरीर-रक्षक सैनिक आए थे। उनकी तादाद बहुत ज्यादा थी। महाराज दिलीपसिंह तथा अन्य सरदार स्वागत के लिए राजभवन के फाटक पर पहुँचे।

दोनों ओर से अभिवादन होने पर दरबार में पहुँचे। दिलीपसिंह अपने पैतृक सिंहासन पर अन्तिम बार बैठा। कहते हैं बालक दिलीपसिंह में इस समय कुछ भी बालोचित चंचलता न थी। वह गम्भीरता पूर्वक सिंहासन पर बैठे हुए थे। धीरज और शान्ति उसके चेहरे से टपकी पड़ती थी। बाईं ओर सिख सरदार बैठे हुए थे और दाहिनी तरफ़ फ़ौज हथियारों से लैस खड़ी थी। दरबार में अन्य लोग भी इस दुखद अन्त को अवलोकनार्थ पहुँच गए थे। दरबार का हाल खचाखच भरा हुआ था। यद्यपि महाराज रणजीतसिंह की जागीर के हक़दार उनके पुत्र दिलीपसिंह बाल्यावस्था में थे पर सम्भवतः वे इस दरबार के कारण को जान गए थे। नियत समय पर इलियट साहब ने भाषण किया और इसके बाद एक मौलवी ने फ़ारसी में पंजाब को कम्पनी के अधीन किए जाने की घोषणा पढ़ सुनाई। पीछे उसका तरजुमा हिन्दी में सुनाया गया। भला बालक दिलीप इस घोषणा का अभिप्राय क्या समझता ! कुछ देर के लिए दरबार में सन्नाटा छागया। पर दीवान दीनानाथ हृदय के उठते हुए भावों को न रोक सके। उनकी आँखों से अश्रु-धारा बह रही थी, हृदय फटा जाता था। उन्होंने पंजाब खालसा किए जाने की शर्त-सूची का घोर विरोध किया। दीवान साहब ने रूँधे हुए स्वर से नम्रता के साथ कहाः—"इस समय अँग्रेज सरकार को अपनी कुछ उदारता दिखानी चाहिए। जिस तरह बोनापार्ट ने फ्रांस को जीत करके उसके असली शासक को सौंप दिया था उसी तरह पंजाब महाराज दिलीपसिंह को क्यों न दे दिया जाय ?" ....पर दीवान साहब को बुरी तरह डांट दिया गया। इलियट साहब गर्म होकर बोलेः—"शान्त रहो ! नहीं तो काले पानी भेज दिए जाओगे। अब उदारता और दया का समय नहीं है। मैं गवर्नर जनरल की ओर से संधि को स्वीकृत करवाने आया हूँ जो कल कौंसिल ने तय करदी है।" इलियट साहब के शब्द सुनकर दीनानाथ चुपचाप अपने स्थान पर बैठ गए। भय के मारे सब दरबारी शान्त हो गए। किसी ने चूं करने तक की भी हिम्मत न की।

जिस कार्य्य के लिए दरबार किया गया था वही काम शुरू किया गया। संधि-पत्र पर सरदारों से हस्ताक्षर लिए जाने लगे और पश्चात् बालक महाराज दिलीपसिंह के सन्मुख संधि-पत्र दस्तख़त के लिए रख दिया। पता नहीं आजकल के अदालतों में प्रचलित बालिग़-नाबालिग़ का क्या मतलब है ? दिलीपसिंह के नाबालिग़ होने पर भी पता नहीं क्यों हस्ताक्षर लेना आवश्यक समझा गया ? महाराज के पास रहने वाले मियां की माँ के कहने पर महाराज ने नन्हे-नन्हे हाथों से शीघ्रता से हस्ताक्षर कर दिये। बेचारा अबोध बालक दिलीप क्या समझता था कि इस नाटक के अन्त का तेरे भाग्य से क्या सम्बन्ध है ? दरबार शेष हो गया। महाराज रणजीतसिंह के क़िले पर बृटिश-ध्वजा रोप दी गई और तोपें छोड़ी गईं। पंजाब खालसा किए जाने का घोषणा-पत्र निम्न प्रकार थाः—

"१—महाराज दिलीपसिंह और उनके उत्तराधिकारी-गण पंजाब-राज्य सम्बन्धी समस्त स्वत्व, दावा और क्षमता परित्याग करते हैं।

२—लाहौर-दरबार की जो सम्पत्ति है उस पर ईस्ट इण्डिया कम्पनी का अधिकार होगा।

३—महाराज रणजीतसिंह ने शाहशुजा से जो कोहनूर नामक हीरा लिया था अब वह लाहौर के महाराज को इङ्गलैण्ड की महारानी की भेंट करना पड़ेगा।

४—महाराज दिलीपसिंह, उनके परिवार तथा नौकरों के जीवन-निर्वाह के लिए ईस्ट इण्डिया कम्पनी अधिक से अधिक पांच लाख रुपये प्रतिवर्ष या कम से कम चार लाख रुपये दिया करेगी।

५—महाराज दिलीपसिंह के प्रति सम्मान का व्यवहार किया जायगा। उनकी पदवी महाराज दिलीपसिंह बहादुर रहेगी। यदि वे भविष्य में ब्रटिश गवर्नमेण्ट के अधीन रहें तो यावज्जीवन उन्हें ऊपर लिखी हुई वृत्ति अथवा उसका कुछ अंश जिस समय जितना आवश्यक समझा जायगा उतना उन्हें मिलता रहेगा। उनके रहने के लिए गवर्नर जनरल जिस स्थान को पसन्द करेंगे, उस स्थान में ही उन्हें भविष्य में रहना पड़ेगा।”

लार्ड डलहौजी ने पता नहीं अबोध दिलीपसिंह का क्या अपराध था कि उसकी पैतृक जागीर जब्त करली? उनके इस कार्य की किसी भी इतिहासकार ने आज तक पुष्टि नहीं की। स्वयं अँगरेज लेखक इस कठोर कार्य की निन्दा करते हैं। लार्ड ले ने लिखा है—“हम (अँगरेज) चौड़े में दिलीपसिंह के रक्षक थे, सन् १८५४ ई० में कहीं दिलीपसिंह बालिग होते। हम सन् १८४८ नवम्बर की १६ वीं तारीख को राज्य की रक्षा के लिए आगे बढ़े थे। राज्य-रक्षा की हमने घोषणा भी की थी[१]। विद्रोहियों को दण्ड देना और शासन-सभा के प्रति जो विद्रोह हुआ था उसको दमन करना ही हमारा मुख्य उद्देश्य था। किन्तु ५ मास में ही इतना परिवर्तन हो गया कि बालक दिलीप का राज्य जब्त कर लिया गया। हमने यह **विलक्षण-रक्षा की**। सन् १८४६ ई० की २४ मार्च को पंजाब-राज्य के अन्त करने की घोषणा कर दी गई और हमने अपने रक्षाधीन बालक को सब सम्पत्ति और राज्य छीनकर **विलक्षण-रक्षा** का परिचय दिया।”

पंजाब जब्त करने का सारा दोष लार्ड डलहौजी का नहीं था। इस सम्बन्ध में भीतरी नीति सब की यही थी। नहीं क्या मजाल थी कि अकेला डलहौजी इतना साहस कर लेता? खालसे होजाने के बाद पंजाब का शासन सर हेनरी लारेन्स को सौंपा गया। पाठक पीछे पढ़ चुके हैं कि हेनरी लारेंस पंजाब खालसा करने के

१—लार्ड हार्डिङ्ग ने सन् १८४६ की २० वीं फरवरी की घोषणा में लिखा था—“दरबार और सरदारों की सहायता से अङ्गरेज़ों के परम मित्र महाराज रणजीतसिंह के पुत्र की अधीनता में निर्दोष सिख-राज्य को स्थापित करने की हमारी इच्छा है।”

मत से सहमत न थे। यह सहृदय अँग्रेज़ केवल असहमत ही नहीं हुये बल्कि इन्होंने पंजाब को अँगरेज़ी राज्य में मिलाने का घोर विरोध किया था। पर इनके विरोध का कुछ फल न हुआ।

लार्ड डलहौज़ी ने सोचा कि ऐसे ही व्यक्ति को इस समय पंजाब का शासन-भार देना चाहिए। क्योंकि क्षुभित पंजाब में शान्ति के लिए उस समय ऐसा ही अफ़सर आवश्यक था जिसके प्रति प्रजा के सुन्दर भाव हों। चूँकि हेनरी लारेंस ने पंजाब की ज़ब्ती का विरोध कर कुछ समवेदना प्राप्त करली थी। वास्तव में लारेंस महोदय हृदय से इसके विरोधी थे। पंजाब के शासक होने का उच्च पद भी इन्हें अच्छा न लगा, पर कुछ मित्रों के अनुरोध से यह पद इन्होंने छोड़ा नहीं। उदार और अनुदारों का सम्बन्ध बहुत दिन तक चलना असम्भव है। कहते हैं पंजाब में भूमि-कर बढ़ाना लारेंस के रहते संभव न था। उनके रहते हुए कर-वृद्धि में कठिनाई पड़ती थी। इसी पर लार्ड डलहौजी और सर हेनरी लारेंस की नहीं बनी और वे पंजाब से हटा दिए गए और पंजाब का शासन-भार जौन लारेंस (ये हेनरी लारेंस के भाई ही थे) को सौंपा गया।

महाराज दिलीपसिंह के निरीक्षक और अभिभावक डाक्टर लेगिन नियुक्त हुए। इनका वेतन १२००) मासिक था। दिलीपसिंह के रहने का स्थान और डाक्टर लेगिन का स्थान निकट-निकट ही था। कुछ दिन बाद मकान के पास ही मकान बना लिया गया। दिलीपसिंह इस समय १२ वर्ष के न हुए थे परन्तु फ़ारसी भाषा का उन्हें अच्छा ज्ञान हो गया था। उन्हें अँगरेज़ी सीखने का भी उसी समय शौक़ हुआ। डाक्टर लेगिन को इससे बड़ी प्रसन्नता हुई। डाक्टर साहब का व्यवहार बड़ा अच्छा था जिसके सबब से दिलीपसिंह की भी काफी मुहब्बत हो गई थी। उन्हें (दिलीपसिंह) बाजपक्षी से अन्य पक्षियों का शिकार कराने में बड़ा आनन्द मिलता था। वे पढ़ने के साथ कुछ चित्रकारी भी सीखते थे। इतनी कम उम्र में भी दिलीपसिंह की बुद्धि बड़ी तेज थी। वे दूसरे व्यक्तियों के चरित्र की आलोचना इस प्रकार करते कि जिसे सुन कर डाक्टर लेगिन चकित हो जाते। लेगिन के कथनानुसार इस उम्र में इतना चतुर कोई अँगरेज़ बालक भी कहीं नहीं देखा गया। डाक्टर लेगिन दिलीपसिंह की शिक्षा और देखरेख के अलावा राज्य के परिवार और पंजाब के प्रबन्ध का भार भी लिए हुए थे। लाहौर राज्य के परिवार में महाराज रणजीतसिंह की १७ हिन्दू रानियाँ और ४ मुसलमान स्त्रियाँ थीं। और इसके अलावा रणजीतसिंह के वारिस खड्गसिंह, नौनिहालसिंह, शेरसिंह आदि की स्त्रियाँ और बालबच्चे थे। १३० दासियाँ, तीन दल काश्मीरी और देशी नाचने वाली वेश्याओं के अतिरिक्त पांच दल गाने-बजाने वालियों के थे।

महाराज रणजीतसिंह के खजाने में उस समय अटूट धन-राशि और रत्न-राशि भरी हुई थी। और तो और संसार प्रसिद्ध 'कोहनूर' हीरा महाराज के

यहां था। बहुत से सोने-चांदी के वर्तन, बहुमूल्य पोशाकें, रत्न जटित शस्त्र, कवच और कितनी ही अन्य बेशक़ीमती वस्तुएँ थीं। सिक्ख गुरुओं की खड़ाऊँ, जामा, लकड़ी, प्रार्थना-पुस्तकें आदि आदि कई चीजें थीं। इनके अतिरिक्त रणजीतसिंह के पिता महासिंह के विवाह-काल की अमूल्य पोशाकें थीं।

महाराज रणजीतसिंह का खजाना कोई छोटे-मोटे राजा का खजाना न था। वह शस्य श्यामला पंजाब-भूमि के अधिपति का कोप था! और महाराज रणजीतसिंह को संग्रह का भी बहुत शौक़ था। वे महत्वाकांक्षी थे। वे संसार की अद्वितीय वस्तुओं का अधिपति कहलाना चाहते थे। उनका स्वर्ण-सिंहासन, रत्न-जटित बहुमूल्य काश्मीरी शालों का पट-मण्डप, बेजोड़ थे। उक्त सम्पत्ति डाक्टर लेगिन की देख-रेख में कुछ दिन रही। पश्चात् ईस्ट इण्डिया कम्पनी के खजाने में पहुँच गई। कोहनूर हिन्दुस्तान छोड़ इङ्गलेण्ड पहुँच गया। महाराज रणजीतसिंह के बड़े परिश्रम से इकट्ठे किए हुए बहुत से पदार्थ नीलाम पर चढ़ा दिए गए। विधि की गति कौन जानता है! जिन वस्तुओं को रणजीतसिंह के अधीन रहते, बड़े-बड़े लोग देखने को भटकते थे उनकी कैसी दशा हुई। महाराज दिलीपसिंह का खरच घटाया जाने लगा। डाक्टर लेगिन साहब ने टोमस लैम्बट बारलो नामक युवक को दिलीपसिंह का अध्यापक बनाया। डाकूर लेगिन ने बातों-बातों में यह भी सुझा दिया था कि अब लाहौर छोड़ना पड़ेगा।

१८४९ ई० सितम्बर मास की ४ थी तारीख दिलीपसिंह का जन्म दिवस था। इस दिन महाराज दिलीपसिंह की वर्षगांठ थी। वे ११ वां वर्ष समाप्त कर १२ वें वर्ष में पदार्पण कर रहे थे। गवर्नमेंट की आज्ञानुसार महाराज दिलीपसिंह के जन्म तिथि के उपलक्ष में डाकूर लेगिन ने एक लाख रुपये की जवाहिरात कोष में से उनकी (दिलीपसिंह की) भेंट की। महाराज सदा की भांति बहुमूल्य वस्त्र और गहने पहने हुए थे, पर कोहनूर हीरा इस वर्ष बाहु पर न था। डाकूर लेगिन से दिलीपसिंह ने पूछा कि—गतवर्ष जो कोहनूर हीरा मैंने पहना था वह अब कहाँ है? अबोध बालक को क्या मालूम अब वह अपनी जन्म-भूमि भारत छोड़ इङ्गलेण्ड पहुँचा दिया गया है।

मातृ-भूमि-विछोह

मनुष्य के पराधीन हो जाने पर उसका खाना, पीना, उठना, बैठना, बोलना सब दूसरे के इंगित पर हो जाता है। इस अवस्था में जो कुछ भी हो जाय असम्भव नहीं। हमारी इस बात के प्रमाण के लिए आप संसार के छोटे-छोटे बन्दियों का नहीं, बड़े-बड़े योद्धाओं का इतिहास देख लीजिये—महावीर नेपोलियन बोनापार्ट जैसे वीरों को बन्दी होने पर कितनी यन्त्रणायें सहनी पड़ी थीं।

सन् १८४९ ई० के सितम्बर महीने में लार्ड डलहौजी लाहौर आये। तब उन्होंने महाराज दिलीपसिंह से भी भेंट की। भेंट करने के समय डाक्टर लेगिन को

सिखाया हुआ वाक्य "I am happy to meet you my Lord !" दिलीपसिंह ने उच्चारण किया। अर्थात्'—प्रभो! मैं आपके दर्शन से कृतकृत्य हुआ हूँ।' गवर्नर जनरल लार्ड डलहौजी ने दिलीपसिंह की पीठ पर हाथ फेरा। १५ दिन रह कर वाइसराय लाहौर से विदा हो गए। डलहौजी के चले जाने के कुछ दिन बाद ही दिलीपसिंह को यात्रा करने के लिए तैयार होने को कह दिया गया। पर कहाँ जाना होगा यह गुप्त रखा गया।

सन् १८४६ ई० दिसम्बर मास की ११ वीं तारीख को दिलीपसिंह के सम्बन्ध में डाक्टर लेगिन को गवर्नर जनरल की ओर से पत्र मिला, जिसका आशय यों था—"अब दिलीपसिंह को पंजाब छोड़ कर फतेहपुर जाना होगा। वहाँ उनके रहने के लिए स्थान का प्रबन्ध हो गया है। आपको (डाक्टर लेगिन को) भी दिलीपसिंह के साथ जाना पड़ेगा। उनके १२००) रुपये मासिक वेतन में ६००) सरकार और ६००) दिलीपसिंह की वार्षिक वृत्ति में से मिलेगा। दिलीपसिंह के बालिग होने तक निरीक्षण और शिक्षा की देख-रेख का भार आप पर रहेगा। महाराज शेरसिंह के पुत्र और महाराज रणजीतसिंह के पौत्र सहदेवसिंह भी दिलीपसिंह के साथ ही फतेहपुर जायँगे..............।" उक्त आज्ञा पाते ही डाक्टर लेगिन यात्रा करने को तैयार थे, परन्तु बालक सहदेवसिंह जिसकी आयु सिर्फ साढ़े छः वरस की थी, इतनी छोटी अवस्था में ले जाना मुश्किल था, इसलिए सहदेवसिंह की माता के भी साथ ही चलने का प्रबन्ध किया गया। २१ दिसम्बर सन् १८४६ ई० को प्रातःकाल ६ वजे महाराज दिलीपसिंह अपने भतीजे सहदेवसिंह और उसकी माता के साथ डाक्टर लेगिन के साथ लाहौर से विदा हो गए।

फरवरी मास सन् १८५० ई० को डाक्टर लेगिन सहित दिलीपसिंह फतेहगढ़ पहुँचे। पहिले इनके रहने के लिए गंगा के किनारे एक स्थान तय हुआ था; परन्तु यह स्थान पसन्द न होने पर डाक्टर लोगों ने कुछ भूमि खरीद कर एक अलग मकान बनवा दिया। खास महाराज दिलीपसिंह के रहने के लिए भी गवर्नर जनरल की आज्ञानुसार एक मकान बनवाया गया। किसी समय लाहौर के सुविशाल राज-भवनों में रहने वाले राजकुमार गाँव के साधारण मकान में रहने लगे! यद्यपि महाराज पूर्णतः देख-रेख में थे, पर तो भी यह मकान फतेहपुर के क़िले और छावनी के मध्य में बनाया गया था और रात-दिन कितने ही सिपाही पहरा देते थे। जब महाराज बाहर निकलते तो एक सिपाही साथ रहता था। मानों वे कोई चीज़ हैं जो अकेले रहने से आस-पास की प्रकृति को भी विद्रोही बनायेंगे जिससे बृटिश-शासन खतरे में पड़ जायगा।

फतहगढ़ पहुँचने पर डाकृर लेगिन को हेनरी लारेन्स का एक पत्र मिला। जिसमें इस सहृदय-उदार अँगरेज सज्जन ने कुशल-क्षेम के सिवा दिलीपसिंह के शिक्षा और स्वास्थ के ध्यान रखने की आशा प्रगट की थी। जुलाई के महीने में

डाक्टर लेगिनने महाराज दिलीपसिंह से शादी के करने के सम्बन्ध में पूछा। इस पर दिलीपसिंह ने शेरसिंह की बहिन से शादी करना अस्वीकार कर दिया १। शेरसिंह की बहिन के साथ शादी करने से इन्कार कर देने पर लेगिन ने कुर्ग के राजा की लड़की से विवाह का प्रस्ताव रखा। पर इसके लिए भी दिलीपसिंह राजी न हुए। फतेहगढ़ में गार्रेज नामक अध्यापक दिलीपसिंह को अँगरेजी पढ़ाता था। फ़ारसी के लिए भी एक मौलवी था, परन्तु धार्मिक शिक्षा का किसी प्रकार का प्रवन्ध नहीं था। यहाँ आने पर भतीजे सहदेव पर भी दिलीपसिंह का प्रेम हो गया था। डाक्टर लेगिन ने फतेहगढ़ भवन में एक बाग़ का भी इन्तिजाम किया था। पर अफ़सोस लार्ड डलहौजी को यह भी न सुहाया। इसके लिए लेगिन को लिखा गया—"आपने महाराज के रहने का जिस प्रकार आयोजन किया है इसमें विशेष खर्चा पड़ता है। क्या आप समझते हैं कि उसका (दिलीपसिंह) जीवन राजाओं के समान होगा! मुझे यह पसन्द नहीं है।" लेगिन साहब के लिए यह ईश-वाक्य से बढ़कर था। उन्होंने इसका अनुसरण किया। वैसे तो डाक्टर लेगिन साहब दिलीपसिंह से बड़ा प्रेम करते थे। सिख-धर्म के सम्मानार्थ वे कभी भी गो-मांस घर में न आने देते थे। डाक्टर लेगिन की लेडी साहिबा का भी सहदेव की माता से प्रेम पूर्ण व्यवहार था।

दिलीपसिंह पर अँगरेज़ी शिक्षा और सभ्यता ने असर डालना शुरू किया। वे सिखों के लंबे केश न रखकर छोटे-छोटे अँगरेज़ी बाल रखने लगे। अँगरेज़ी बालकों के हेल-मेल से कोट, पतलून, टोप का पहनना शुरू हो गया। सहदेवसिंह की माता को इससे धारणा होने लगी कि मेरा बेटा सिख-साम्राज्य का अधिकारी होगा। उस बेचारी को क्या खबर थी कि सिख-राज्य मिट चुका है और ऐसे विचार करना भी भयंकर अपराध समझा जाता है। लार्ड डलहौजी को सहदेव की माता की उपरोक्त धारणा मालूम पड़ी तो सन् १८५१ की २३ वीं तारीख़ को डाक्टर लेगिन को लिखा—"आप शेरसिंह की रानी को कह दीजियेगा कि पंजाब में सिख-राज्य की सदा के लिए समाप्ति हो गई है। इस समय पंजाब पर अपने लड़के तथा अन्य किसी व्यक्ति के बैठने की आशा करना सिवा राज-विद्रोह के कुछ नहीं है। यही शिक्षा उन्हें अपने लड़के सहदेवसिंह को देनी चाहिए। यदि आगे से शेरसिंह की रानी वर्तमान अवस्था से भिन्न अपने लड़के के लिए पंजाब के राज्य लेने अथवा और उच्चपद प्राप्त करने की आशा करेंगी तो उनके लड़के सहदेवसिंह के लिए अच्छा न होगा।" यह सन्देश लेडी लेगिन ने सहदेव की माता को सुना दिया।

एक दिन लेडी लेगिन के साथ महाराज दिलीपसिंह रानी से मिलने गए। रानी ने इस बात की परीक्षा करने के लिए कि दिलीपसिंह का धर्म के प्रति कितना

१—हजारा के सरदार चतरसिंह की लड़की की इसके साथ पहिले सगाई हो चुकी थी और हजारा का सरदार चतरसिंह शादी करने की प्रार्थना भी कर चुका था।

विश्वास है एक चाल चली। रानी शर्वत बनाने में मशहूर थीं। शर्वत तैयार कर के गिलास में लाकर दिलीपसिंह के सामने रख दिया। लेडी लेगिन के लिए दूसरा गिलास न आने से दिलीपसिंह ने अपने सामने का गिलास लेडी लेगिन को दे दिया। श्रीमती लेगिन ने सोचा कि दिलीपसिंह के लिए अन्य वर्तन में शर्वत आता होगा; थोड़ा सा पीकर गिलास रख दिया। सहदेव की माता ने न तो वह झूठा शर्वत नीचे डाला और न उसे साफ़ किया। उसी शर्वत में और शर्वत डाल कर दिलीपसिंह के सन्मुख रख दिया। लेडी लेगिन ने कहा भी कि—"महाराज यह शर्वत नहीं पीयेंगे। पर महाराज ने मना करते-करते भी वह शर्वत का गिलास पी लिया और तत्काल बाहर चले आए। रानी यह देख कर बड़ी विस्मित हुई। अनन्तर लेडी लेगिन ने भी रानी साहिबा से विदा ली और बाहर आने पर दिलीपसिंह से झूठा शर्वत पी जाने का सबब पूछा। उन्होंने कहा—"क्या मैं उस समय शर्वत न पीकर आपका अपमान करता? मैं आपका आदर करता हूँ और इसमें मुझे अपनी जाति से च्युत भी होना पड़े तो कोई शरम की बात नहीं है।" इस तरह दिलीपसिंह के विचार नये साँचे में ढल रहे थे। सन् १८५१ ई० के दिसम्बर महीने में जब लार्ड डलहौजी और लेडी डलहौजी फतेहगढ़ पधारे, दरबार किया। दिलीपसिंह ने इसमें शामिल होने से इन्कार कर दिया। क्योंकि वे देशी राजा-महाराजाओं से अपने को अलग ही रखने की इच्छा रखते थे। डेरे पर पहुँच कर दिलीपसिंह ने गवर्नर जनरल से भेंट की।

सन् १८५२ ई० के आरम्भ में दिलीपसिंह ने भारतवर्ष के मुख्य-मुख्य स्थानों के देखने की इच्छा प्रगट की और इस यात्रा का इन्तिजाम भी हो गया। परन्तु किसी प्रकार की विशेष धूम-धाम नहीं की गई। यात्रा में दिलीपसिंह, डाक्टर लेगिन, लेडी लेगिन, सहदेवसिंह तथा कुछ नौकर-चाकर साथ थे। सहदेवसिंह की माता पीहर पहुँच गई थी। रास्ते में जहाँ कहीं भी सिखों को पता लगता वहीं देखने के लिए इकट्ठे हो जाते। उन्होंने इस भ्रमण में कुछ रुपये ग़रीबों को भी बाँटे थे। राजधानी देहली में कुछ क़ीमती आभूषण भी ख़रीदे थे। आगरे में उन्होंने लाल क़िला और प्रसिद्ध इमारत ताजमहल को देखा। यहाँ पर अंग्रेजों ने उन्हें दावत दी। आगरे में वे प्रेस और तारों को देख कर बड़े प्रसन्न हुए। अन्य स्थानों को देखते हुए उन्हें हरिद्वार देखने की भी लालसा हुई। बृटिश गवर्नमेण्ट ने गुप्त रीति से हरिद्वार दिखाने की तजवीज की। इसका सबब यह था कि उस समय पंजाब तथा और आस-पास के गाँवों के लोग भी मेले में आए हुए थे। इसीलिए उन्हें खुल्लम-खुल्ला चौड़े में हरिद्वार दिखाना भय का काम समझा गया। इतना सब कुछ होने पर भी कुछ सिखों को पता लग ही गया कि हाथी पर हमारे महाराज पंजाब-केसरी रणजीतसिंह के पुत्र दिलीपसिंह हैं। वे लोग हाथी को घेर कर खड़े होगये और महाराज दिलीपसिंह की शुभ कामना के नारे लगाने लगे। आख़िरकार किसी तरह दिलीपसिंह डेरे पर आगये तब कहीं

अङ्गरेज़ कर्मचारियों के जी में जी आया। वर्षा ऋतु आजाने के कारण यह काफ़ला मंसूरी चला गया। मंसूरी पर्वत-श्रेणियों को देखकर दिलीपसिंह बड़े प्रसन्न हुए। यहां आने पर अङ्गरेज़ बालकों के साथ-साथ भ्रमण करने लगे और इन लोगों से अधिक व्यवहार रहने के कारण अँग्रेज़ी में कुछ अच्छी योग्यता भी प्राप्त करली। दिलीपसिंह पाश्चात्य सभ्यता में तो फतेहगढ़ रहते हुए ही फंस गए थे पर यहाँ आकर विशेष अनुकरण करने लगे। पर हाँ उन्होंने मद्यपान नहीं किया क्योंकि वे अपने चचा जवाहरसिंह की शराब के कारण हुई बुरी दशा को देख चुके थे। वर्षा ऋतु बीतने पर वे लोग फतेहगढ़ चले आये।

फतेहगढ़ पहुँचने पर दिलीपसिंह की इच्छा ईसाई हो जाने की हुई। डाक्टर लेगिन ने इसके लिए गवर्नर जनरल से आज्ञा माँगी। और गवर्नर जनरल की स्वीकृति आ जाने पर १८५३ ई० ८ वीं मार्च को दिलीपसिंह ने अपने पवित्र धर्म को छोड़कर ईसाई धर्म की दीक्षा ली। जिस धर्म पर गुरु गोबिन्दसिंह के बच्चों ने हंसते-हंसते बलिदान किया शरीर छोड़ा पर धर्म न छोड़ा। जिस पवित्र धर्म की बलिवेदी पर सिख-युद्ध में हज़ारों की तादाद में सिखों ने प्राण दिये वही विधर्मी दिलीपसिंह ने छोड़कर क्रिश्चियन धर्म में प्रवेश किया! ईसाई बन जाने पर बहुत से देश-विदेश के सभी ईसाई मत वालों ने बधाई के पत्र भेजे। लार्ड डलहौजी ने बाइबिल की एक सुन्दर प्रति उपहार में भेजी और उसमें लिखा था:—

"To His Highness Maharaja Duleepsingh, this Holy Book in which he has been led by god's grace to find an inheritance Riches by far than all earthly kingdoms, is presented with sincere respect and regard, by his faithful friend. Dalhousie, April 5, 1854."

अर्थात्—"महाराज दिलीपसिंह की सेवा में महाराज के विश्वस्त मित्र डलहौजी ने इस पवित्र पुस्तक को जिसे ईश्वर की कृपा से महाराज संसार के समस्त राज्यों से बढ़कर समझने लगे हैं सादर समर्पित किया। ५ अप्रेल १८५४।" गजब की भेंट है! और साथ ही त्याग भी समस्त संसार के राज्यों के समान! और वह भी धर्म त्याग! लार्ड डलहौजी की मित्रता भी खूब थी। भैंस के बदले बांसुरी पकड़ा दी।

वैसे तो दिलीपसिंह की विलायत जाने की पहिले ही इच्छा थी परन्तु ईसाई हो जाने के बाद तो उनकी मंशा को और भी सहायता मिली। विलायत जाने के पहिले डलहौजी ने निम्न-पत्र दिलीपसिंह को लिखा:—"मेरे प्यारे महाराज, आपके हिन्दुस्तान से जाने के पहिले, मैं आपको बिदाई के उपलक्ष में वह वस्तु भेंट करना चाहता हूँ जो भविष्य में मेरा स्मरण कराती रहेगी। जब आप छोटे बच्चे थे और सार्वजनिक घटनाओं ने आपको मेरे अधीन कर दिया था तब से मैं आपको कुछ अंशों में अपने पुत्र के समान समझता रहा हूँ। इसलिए मैं आप से उस पुस्तक के

ीकार करने के लिए प्रार्थना करता हूँ जो मैंने अपने लड़के को दी होती। क्योंकि ह सब उपहारों से उत्तम उपहार है। इस संसार के अथवा भविष्य के संसार के मस्त सुखों की कुंजी अकेली इसी पुस्तक में मिलेगी। प्यारे महाराज, मैं आपको न्तिम प्रणाम करता हूँ और सदैव मेरा विश्वास कीजिए यह आपसे प्रार्थना करता हूँ। विश्वस्त मित्र डलहौज़ी ८ अप्रेल १८५४।" क्या खूब! बाइबिल की भेंट किए बिना भला दिलीपसिंह कभी डलहौज़ी को कैसे याद रखते! क्योंकि लाहौर को छोड़ कर फ़तेहगढ़ आने पर भी जब लेगिन साहब बगीचा लगाने का प्रबन्ध कर रहे थे तो डलहौज़ी साहब उसे रोक कर अन्तिम बार तक दिलीपसिंह को ही नहीं हिन्दुस्तान-वासियों को भी हमेशा याद रखने का सुयश बटोरते रहे थे। तब भी पता नहीं क्या भय हो गया कि दिलीपसिंह को याद रखने के लिए बाइबिल भेजी?

३१ मार्च सन् १८५४ ई० को लार्ड डलहौज़ी ने महाराज दिलीपसिंह को विलायत जाने के लिए बोर्ड आफ़ डाइरेकृर्स की मंजूरी की खबर दी और कुछ दिन बाद ही लेगिन को यह भी लिखा कि अगर महाराज की इच्छा हो तो वे अपने साथ सहदेवसिंह को भी ले जा सकते हैं। दिलीपसिंह तो जाने के लिए तैयार था ही परन्तु सहदेवसिंह को उसकी माता भेजने के लिए राजी न थी। उसे दिलीपसिंह के ही इङ्गलेण्ड जाने के समाचार को सुनकर भारी दुख हुआ। उसने गवर्नर जनरल के पास प्रार्थना-पत्र भेजा कि—सहदेवसिंह को विलायत न भेजा जाय और उसको फ़तेहगढ़ छोड़ कर हरिद्वार रहने की इजाज़त मिल जाय। गवर्नर जनरल लार्ड डलहोज़ी ने सहदेवसिंह के इङ्गलेण्ड न भेजने की बात तो स्वीकार करली परन्तु उनके हरिद्वार रहने की आज्ञा नहीं दी। इसका कारण यही था कि हरिद्वार में पंजाबी गंगा-स्नान करने के लिए बहुतायत से आते थे।

सन् १८५४ ई० की गर्मियों में लखनऊ, काशी होकर दिलीपसिंह कलकत्ता पहुँचे। काशी में एक मदरासी ब्राह्मण नेमीगोरा से जो कि हिन्दू-धर्म से ईसाई धर्म में आगया था, दिलीपसिंह की जान-पहचान हुई। इससे दिलोपसिंह का बहुत कुछ प्रेम हो गया था। यहाँ तक कि यह सज्जन विलायत तक साथ गया। १९ अप्रेल १८५४ ई० को महाराज दिलीपसिंह अपनी जन्म-भूमि को छोड़ जहाज़ में सवार हुए। दिलीपसिंह के देशी नौकरों ने अन्तिम नमस्कार की और लौट आये। लेगिन और काशी में भेंट हुए पण्डित नेमीगोरा भी साथ ही इङ्गलेण्ड के लिए रवाना हुए।

दिलीपसिंह को सैर का बड़ा शौक़ था। वे भारत के विभिन्न स्थानों की सैर गत वर्ष कर चुके थे। विलायत जाते हुए रास्ते में उन्होंने मिश्र के पिरमिडों को देखा और वहाँ की राजधानी कैरो की सैर की। कैरो में उन्हें मार्किन के देशी अनाथालय को देख कर बड़ी प्रसन्नता हुई। जून मास में वे इंगलैण्ड की राजधानी लण्डन शहर में पहुँच गए। उनके ठहरने का प्रबन्ध क्लेरिज होटल (Cleridges Hotel) में किया गया। कोर्ट आफ़ डाइरेक्टर्स ने उनके मकान बनाने के व्यय को स्वीकार किया था। जब तक दिलीपसिंह के रहने का स्थान न बना वे होटल में ही

रहे। कोर्ट आफ डाइरेक्टर्स के सदस्यों को दिलीपसिंह के सज्जनता पूर्ण को देख कर अत्यन्त विस्मय हुआ। महारानी विक्टोरिया और उनके महाराज दिलीपसिंह को राजमहल में बुला कर भेंट की। दिलीपसिंह के से महारानी विक्टोरिया अत्यन्त सन्तुष्ट हुई।

विलायत पहुँच कर दिलीपसिंह स्वदेश-प्रेमी अँगरेजों को देख कर में बहुत कुछ पलट गए। वहाँ पर वे अधिक तर पंजाबी पोशाक धारण काश्मीरी कुरता और काम किया हुआ मखमल का अङ्गरखा, सिर पर पगड़ी रखते थे जिसमें एक रत्नजटित सरपेच रहता था। कोर्ट आफ वार्डस ये इसी पोशाक में जाते थे। महारानी विक्टोरिया के राजमहलों में भी लेडी लेगिन के साथ दिलीपसिंह जाते रहते थे। महारानी के पति प्रिंस इनकी वाक् चातुरी से अत्यन्त प्रसन्न होते थे। इसलिए ये भी महाराज सिंह को प्रायः महलों में बुला लिया करते थे। एक दिन महारानी ने लेडी से पूछा कि—"क्या दिलीपसिंह कभी कोहनूर की चर्चा करते हैं? वे कोहनूर दुखी तो नहीं हैं?" लेडी लेगिन ने कहा—भारतवर्ष में तो इस सम्बन्ध में ताछ करते थे परन्तु इङ्गलैण्ड आये पीछे उन्होंने कोहनूर का कोई किया। इसके बाद महारानी विक्टोरिया ने लेडी लेगिन से कहा कि दिलीपसिंह राजमहल में आवें तो उनकी हार्दिक इच्छा देखना कि वे लिए उत्सुक हैं कि नहीं? लेडी लेगिन ने दूसरी बार राजमहल में आने के पूर्व घूमते हुए दिलीपसिंह से पूछा कि—क्या आप कोहनूर देखना चाहते हैं? सिंह ने कहा—हाँ। लेडी लेगिन ने फिर पूछा—उसको देखकर क्या करेंगे? दिलीपसिंह सोच विचार में पड़ गया। थोड़ी देर सोचने के उपरान्त कहा: बार मैं उसे फिर अपने हाथ में देखना चाहता हूँ। लेडी साहब ने पूछा: अब आप उसको अपने हाथ में लेकर क्या करेंगे। दिलीपसिंह ने जवाब "इस बार मैं अपने हाथ से महारानी विक्टोरिया को कोहनूर भेंट देना हूँ। क्योंकि जिस समय सन्धि हुई थी उस समय मैं कम उम्र का था बातों के सोचने की सुझ में सामर्थ नहीं थी।" दूसरे दिन जब लेडी साथ दिलीपसिंह राजभवन में पहुँचे तब लेडी लेगिन ने महारानी विक्टोरिया कोहनूर के सम्बन्ध में हुई बातें सुनाईं।

थोड़ी देर में राज-भवन के सदर फाटक से कई पहरेवालों के बीच महल में पहुँचा। दिलीपसिंह को इसकी कोई खबर न थी। महलों में रक्षकों को देख कर वह उठने ही लगे थे कि महारानी विक्टोरिया ने हाथ पर रख कर पूछा कि क्या आप इसे पहँचानते हैं? दिलीपसिंह ने उत्तर हाँ, यह कोहनूर है। महारानी ने फिर पूछा—क्या आपको यह पहिले से जान पड़ता है? दिलीपसिंह ने हाथ में लेकर कहा—पहिले से इसका तोल परन्तु ज्योति कुछ अधिक हो गई है। इसके बाद उन्होंने महारानी
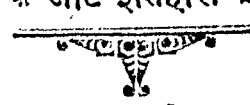
प्रकार धैर्य-पूर्वक लौटा दिया। इस वक्त दिलीपसिंह ने बड़ी धीरता का परिचय । जिस कोहनूर को वे भुजा पर धारण करते थे, आज उन्होंने कई दिनों बाद कर संयम के साथ कुछ मलीन मन किये विना लौटा दिया। काल-चक्र का जो कुछ न करे थोड़ा है।

महारानी विक्टोरिया दिलीपसिंह के अद्भुत गुणों को देख कर अतीव हुईं। लेगिन द्वारा उन्होंने महाराज का संक्षिप्त इतिहास लिखवाया और र लेगिन को नाइट की पदवी प्रदान की। इङ्गलैंड में रहते हुए दिलीपसिंह परिवार से बहुत हिल-मिल गये थे। राजकुमारों से उन्हें विशेष प्रेम था। बार महारानी विक्टोरिया ने उन्हें आसर्व नामक राज-भवन में भी आमन्त्रित । दिलीपसिंह की जन्म-गाँठ पर भी महारानी उपहार भेजा करतीं और राज दिलीपसिंह भी महारानी के पुत्रों के जन्म-दिन पर कुछ भेंट भेजा करते। आने पर उन्हें विद्याध्ययन का बड़ा शौक हो गया था। उनकी इच्छा यूनी-टी की परीक्षा में भी बैठने का थी; परन्तु उन्हें इसके लिये आज्ञा नहीं मिली। तेरी गति कौन जानता है? जिन परीक्षाओं में साधारण स्थिति का प्रत्येक क बैठ सकता है, उसके लिए पंजाब के अधिपति के पुत्र दिलीपसिंह को आज्ञा पड़ती है और वह भी मिलती नहीं? इङ्गलैंड में रहते हुए लार्ड हार्डिञ्ज के यहाँ महाराज दिलीपसिंह निमन्त्रित होकर गये और वह एक सप्ताह तक ठहरे। पि दिलीपसिंह की वयस १६ साल की हो गई थी और भैरवाल-सन्धि तथा -धर्म और भारतवर्ष के नियमानुसार दिलीपसिंह वालिग़ हो चुके थे, पर इस भी वही लार्ड डलहौजी जिन्होंने भारत से आने के पहिले दिलीपसिंह को पुत्र समान लिखा था, उन्हें इतना भी उदार होना कठिन हो गया कि दिलीपसिंह ने गृह का भार स्वयं संभाल लें। सन् १८५७ ई० के दिसम्बर महीने में जब लीपसिंह १६ वर्ष का हो गया, तब कोर्ट ऑफ़ वार्डस में अत्यन्त वाद-विवाद बाद यह आज्ञा मिली। इङ्गलैण्ड में जाकर महाराज ने जर्मन, फ्रैंच, ली आदि कई भाषाओं को सीख लिया था। पंजाब के कुछ स्कूलों और लैण्ड की कई संस्थाओं में वार्षिक दान का भी उन्होंने प्रबन्ध किया था।

इङ्गलैण्ड में दो वर्ष रहने के पश्चात् दिलीपसिंह की इच्छा भारत आने की । हिन्दुस्तान में रहते ही उनकी इटली सैर की इच्छा थी। अतएव लेटी लेगिन र उसके पति के साथ वे फ्रांस और इटली की सैर को गये। इङ्गलैण्ड में ख़बार पढ़ने का शौक वैसे तो सभी को है पर दिलीपसिंह का इस ओर बहुत ान था। ये भारत-सम्बन्धी समाचार ख़ासकर ध्यान-पूर्वक पढ़ा करते। उन्होंने ह भी पढ़ा कि अवध-राज अँगरेज़ी राज्य में मिल गया है और वहाँ के नवाब जिदअलीशाह को पचास लाख रुपया वार्षिक व्यय के लिए मिलेगा और वाब के परिवार के अन्य व्यक्तियों का भी गवर्नमेण्ट कुछ प्रबन्ध करेगी। इन समाचारों को पढ़कर दिलीपसिंह के भी स्वभाविक विचार जो कि ऐसी परिस्थिति

में किसी भी व्यक्ति के होते, हुए। उन्हें ख़याल हुआ बृटिश गवर्नमेण्ट अवध के नवाब के आमोद-प्रमोद के लिए पचास लाख रुपया देती है तब भला पंजाब-राज्य-अधिपति के परिवार और पुत्र के लिए केवल पांच लाख रुपया! सम्भव है ध्यान दिलाने पर कुछ प्रबन्ध हो जाय। इस तरह के भावों से प्रेरित होकर दस दिसम्बर सन् १८५६ ई० को उन्होंने कोर्ट आफ़ वार्डस को एक पत्र लिखा जिसमें निम्नाशय की बातें थीं:—"जब मैं दस वर्ष का था उस समय मैंने अपना राज्य अँगरेज अभिभावक और मन्त्रियों के कहने से गवर्नमेण्ट को सौंप दिया था। मंत्रियों और अभिभावकों ने मुझे सन्धि के नियमों को उत्तम और उदार बतलाकर मुझे स्वीकार करने के लिए कहा था। अब मैं विश्वास करता हूँ कि मेरे पूर्व के पद, मान मर्यादा तथा वर्तमान अवस्था का विचार कर मेरे लिए कोई अच्छा प्रबन्ध किया जायगा।" डेढ़ मास पीछे उक्त पत्र का उत्तर मिला कि—"इँगलैण्ड में रहते हुए महाराज का जो व्यवहार रहा है उससे कोर्ट आफ़ डाइरेक्टर्स प्रसन्न हैं और निवास-स्थान की कड़ाई से मुक्त करने को तैयार हैं। भारत में महाराज के परिवार में किसको कितनी वृत्ति मिलती है और भविष्य में किसको कितना मिला करेगा इसका उत्तर भारत से आने पर भेजा जावेगा।" इसी पत्र में निवास-स्थान के प्रति-बन्ध के हटा लेने का निश्चय भी लिख दिया था कि इससे वे मुक्त हो गये हैं। महाराज और लिखा-पढ़ी करना ही चाहते थे कि सन् १८५७ के ग़दर के समाचार पहुँच गये। इससे महाराज ने और लिखने का विचार स्थगित कर दिया।

इस वर्ष फ्रांस के तीसरे नेपोलियन और उनकी रानी इऊजिन इँगलैण्ड आये तो महारानी विक्टोरिया ने उनसे दिलीपसिंह का परिचय कराया। सम्राज्ञी इऊजिन (नेपोलियन की स्त्री) दिलीपसिंह के व्यवहार से बहुत प्रसन्न हुईं। महाराज दिलीपसिंह में मिलनसारी और वार्तालाप का ऐसा ढंग था कि एक बार भेंट होने पर हरेक व्यक्ति मोहित होजाता। इस गुण के कारण उन्होंने बड़े-बड़े व्यक्तियों को अपनी ओर आकर्षित कर लिया था।

सन् १८५६ ई० में महाराज दिलीपसिंह के प्रति एक षड्यंत्र रचा गया। महाराज के नाम का एक ऐसा पत्र बनाया गया जिससे यह प्रगट होता था कि महाराज दिलीपसिंह अपनी माता को इँगलैण्ड बुलाने का पत्र-व्यवहार कर रहे हैं। जिन छलियों ने यह जाल रचा था उनकी मंशा थी कि इससे महारानी जिन्दा से कुछ रुपया मिल जायगा। यह नक़ली पत्र महाराणा जंगबहादुर के हाथ आ गया और उन्होंने रेज़ीडेण्ट के ज़रिए भारत सरकार के पास भेज दिया। भारत सरकार से यह पत्र इँगलैण्ड में कोर्ट ऑफ डाइरैक्टर्स में पहुँचा। कोर्ट ऑफ डाइरैक्टर्स ने इसकी जांच का भार सर डाक्टर लेगिन को सौंपा। डाक्टर लेगिन की जांच के बाद दिलीपसिंह निर्दोष पाए गए।

महाराज दिलीपसिंह को अपनी माता की कुशल मंगल जानने की भी ...ई। पं० नेमीगारा जो काशी से कलकत्ता होते हुए महाराज के साथ

ही आए थे इँगलैण्ड से भारत आते समय दिलीपसिंह से जब मिले तो उनसे महाराज ने अपनी माता से मिलने का अनुरोध किया और उसके हाथ एक पत्र भी उन्होंने अपनी माता के पास भेजा। हिन्दुस्तान में आने के पीछे लार्ड केनिङ्ग की आज्ञा से नेमीगोरा नैपाल न जाकर नैपाल की राजधानी काठमण्डू स्थित रेजीडेण्ट के पास दिलीपसिंह का पत्र महारानी जिन्दा के पास पहुँचाने के लिए भेजा। रेजीडेण्ट ने उक्त पत्र मनीराम नामक व्यक्ति के हाथ महारानी जिन्दा के पास पहुँचा दिया। इस पत्र में महाराज दिलीपसिंह ने अपनी माता को नैपाल में ही शान्ति के साथ रहने की सलाह लिखी थी। विलायत जाते वक्त दिलीपसिंह आवश्यक वस्तुओं के अतिरिक्त अन्य सामान फतेहगढ़ के मकान में छोड़ गए थे। ग़दर में विद्रोहियों ने उक्त सामान को भी न छोड़ा। इस तरह पंजाब खालसा होने के बाद जो कुछ वस्तुयें पंजाब-राज्य की याद के बतौर थीं, वह भी इस विद्रोह की भेट हो गईं। यह समाचार सुन कर महाराज दिलीपसिंह को बड़ा कष्ट हुआ। शिक्षा-काल समाप्त होने से सरकार जो वेतन लेगिन को देती थी उसे भी बन्द कर दिया। महाराज ने देखा इससे डाक्टर लेगिन को कष्ट होगा और इसके लिए उन्होंने ईस्ट इण्डिया कम्पनी को लिखा कि उनकी वृत्ति में से चारसौ पैंतीस रुपया पांच आना चार पाई लेगिन को दिया जाया करे। परन्तु यह प्रार्थना अस्वीकृत हो गई। महाराज रणजीतसिंह के पौत्र सहदेवसिंह ने जो फतेहगढ़ में दिलीपसिंह के साथ ही रहते थे, महाराज दिलीपसिंह से अपने और अपनी माता के लिए वृत्ति दिलाने की प्रार्थना की। दिलीपसिंह बड़ी लिखा-पढ़ी के बाद बड़ी मुश्किल से ५०००) मासिक वृत्ति के लिए गवर्नमेण्ट से स्वीकृत कराने में सफल हुए। महाराज दिलीपसिंह अब सब बातों को समझने लगे थे। उन्हें अपनी पराधीनता का कष्ट अब अनुभव हुआ जब कि सहदेवसिंह के लिए वृत्ति निश्चित कराने में उन्हें कठिनाइयों का सामना करना पड़ा।

महाराज दिलीपसिंह को अब तक खाने-पीने और सैर करने के सिवा चिन्ता का सामना नहीं करना पड़ा था। इसी में महाराज ने अपना धर्म परिवर्तन भी किया परन्तु आगे जाकर क्या-क्या होना है इसका उन्हें स्वप्न में भी ख्याल नहीं था। पाठक धैर्य पूर्वक इस दुखद परिवर्तन को पढ़ते जांय, देखें महाराज दिलीपसिंह के भविष्य का काल कितना कारुण मय हुआ जाता है। सन् १८५६ ई० २० मई को महाराज दिलीपसिंह को लार्ड स्टेनली का एक पत्र मिला जिसमें लिखा था "अँग्रेजी क़ानून के अनुसार आप बालिग़ हो गए हैं। अब आपको २५००० पौंड वार्षिक वृत्ति मिला करेगी।" महाराज दिलीपसिंह ने ३ जून को पूछा—"यह वृत्ति जीवनभर मेरे लिए ही रहेगी या मेरे उत्तराधिकारी को भी वंशपरागत मिलेगी।" इसका उत्तर सर चार्लसवुड ने २४ जून को यों दिया "पच्चीस हज़ार पौंड में से उनके जीवन काल के लिए पन्द्रह हजार पौंड दिए जायेंगे। बाकी दस हजार पौंड में से उनकी स्त्री के लिए तीन हज़ार पौंड वार्षिक की व्यवस्था की जायगी और

इंगलेएड के कानून के अनुसार बाकी धन में से उनके उत्तराधिकारियों को बाँट दिया जावेगा। यदि महाराज के कोई उत्तराधिकारी न हुआ तो असल मुद्रा और व्याज मिलकर जो होगा उसमें से दस हजार पौंड वार्षिक महाराज को दिया जावेगा।" इसके बाद महाराज ने पहिली नवम्बर को गवर्नमेण्ट को फिर लिखा "उत्तराधिकारी के अभाव में जो धन इकट्ठा हो, उसको पंजाब में शिक्षा-प्रचार के लिए व्यय किया जाय और उसकी व्यवस्था का भार गवर्नमेण्ट द्वारा निर्वाचित व्यक्तियों पर सौंपा जाय।" कितना ही क्यों न हो पर देश-प्रेम की चाह कितनी होती है इस पत्र से जाना जा सकता है कि कैसी दशा में होते हुए भी महाराज ने पंजाब-शिक्षा-प्रचार का स्मरण किया। धर्म छोड़ दिया, देश छोड़ दिया, राज्य चला गया, माँ-बन्धु सभी बिछुड़ चुके पर हृदय तू भी क्या वस्तु है, देश के लिए तेरे अन्दर कितना स्थान है!

जो सामान सिपाही-विद्रोह में फतहगढ़ के मकान से जा चुका था उसकी क्षति-पूर्ति के लिए भी गवर्नमेण्ट से महाराज ने लिखा-पढ़ी की। परन्तु सन्तोषजनक उत्तर न मिला। इससे महाराज बहुत दुखी हुए। नवम्बर के महीने में उन्होंने डाक्टर लॉगिन से कहा "मैं अब सम्पूर्ण धैर्य खो चुका। कृपा कर इसकी चेष्टा कीजिए कि सरकार मेरे लिए कुछ प्रबन्ध करे और मेरा बाकी रुपया दे। मुझे ऐसा ठीक मालूम हो रहा है कि गवर्नमेण्ट को इसे निबटाने में जल्दी करते-करते भी एक वर्ष लग जायगा। मुझे ऋण-ग्रस्त होने की आशंका है। अतः आप पर ही गवर्नमेण्ट से इसके निर्णय कराने का भार है। दो महीने समाप्त हो गए पर इसका कुछ भी उत्तर नहीं मिला है।" इस वक्त दिलीपसिंह की हालत बड़ी नाजुक हो गई थी। वे आर्थिक कष्ट से ऊब रहे थे और बहुत अंशों में ऋण-ग्रस्त हो चुके थे। उन्होंने इस सम्बन्ध में तय करने के लिए सर चार्लस वुड से भेट की और कोर्ट आफ डाइरेक्टर्स को सब बातों के जाँच कराने के लिए निवेदन किया। सर चार्ल्सवुड ने दिलीपसिंह से एक पत्र यों लिखा लिया, कि महाराज अपने खर्च के लिए पचीस हजार पौण्ड वार्षिक चाहते हैं और मृत्यु के बाद अपने उत्तराधिकारियों के लिए बीस हजार पौण्ड की प्रार्थना करते हैं। उत्तराधिकारी के अभाव में इस धन को भारत-हित के लिए खरच करने का अधिकार चाहते हैं। इससे उनका फिर भारत-गवर्नमेंट पर कुछ दावा नहीं है। (जनवरी २० सन् १८६०, दिलीपसिंह)।

३० मार्च को सर चार्ल्स द्वारा लिखित पत्र का उत्तर कोर्ट आफ डाइरेक्टर्स ने दिया। उसमें लिखा था कि—"१८४६ ई० की की गई संधि के अनुसार वृत्ति में महाराज को कितना पावना है यह जानने का महाराज को कोई अधिकार नहीं है। इस पत्र में यह भी स्वीकार किया था कि निश्चित वृत्ति में से रुपया प्रतिवर्ष बचा ही सम्भव है डेढ़सौ हजार पौण्ड से दोसौ हजार पौण्ड तक बच रहा हो। जिस लिए जो वृत्ति नियत की गई है उसको और किसी काम में व्यय करने का उ सरकार का नहीं है। ३ अप्रेल सन् १८६० को दिलीपसिंह ने इसका प्रत्युत्तर

प्रकार दिया—"सर चार्ल्स वुड से भेट करके मैंने जो पत्र लिखा है उसके लिए मुझे अत्यन्त दुख है। सन् १८४६ ई० की संधि के अनुसार किस-किस वृत्ति पाने वाले की मृत्यु हो गई है और उनमें से कितनी रक़म जमा है जब तक मुझे इसका पूरा-पूरा वृत्तान्त नहीं मिलेगा तब तक मैं अपना दावा नहीं छोड़ सकता।" इस पत्र का किसी प्रकार का उत्तर डेढ़ वर्ष तक नहीं आया। आजकल या तब की भी यह राजनीति (!) है।

इङ्गलेण्ड में रह कर महाराज का यह खास गुण था कि वे चरित्र भ्रष्ट नहीं हुए। भारतवर्ष से इङ्गलेण्ड जाने के समय जैसे दिलीपसिंह के विचार थे उनसे तो अच्छे लक्षण नहीं दीखते थे परन्तु वहाँ (इङ्गलेण्ड) पहुँच कर एक दम परिवर्त्तन हो गया। हम पहिले भी लिख आये हैं कि अधिकतर महाराज पंजाबी पोशाक धारण करते थे और उसी पोशाक में कोर्ट आफ़ वार्डस में जाते थे। महारानी विक्टोरिया के राज-भवनों में भी बहुधा पंजाबी वेश से ही पधारते थे। इँगलैंड में स्त्री-मर्दों के साथ-साथ मिलकर नाचने की आम-प्रथा है। इसको वहाँ वाले बुरा नहीं मानते बल्कि अच्छे-अच्छे सज्जनों के यहाँ नाच होता है। दिलीपसिंह भी प्रायः अँगरेज़-महिलाओं और सज्जनों के नाच-उत्सव में सम्मिलित होते पर उस समय तक उनके परित्र पर कुछ भी असर नहीं पड़ा। जहां आजकल इँगलैण्ड पहुँचते ही राजा लोग इस रंग में रंग जाते हैं तहाँ अँग्रेज़ युवतियों से रात-दिन मिलने-जुलने वाले महाराज दिलीपसिंह की ओर देखिये जो पूर्ण योवनावस्था होने पर भी विचलित नहीं हुये! वे किसी गौरांग सुन्दरी के फन्दे में न फँसे। महाराज का पंजाब-प्रेम तो उन पत्रों से साफ़ प्रगट हो जाता है जिनमें बाकी बचे रुपये को पंजाब में शिक्षा-प्रचार के लिए व्यय करने की चर्चा की है।

स्वदेश की ओर

महारानी जिन्दा इस समय नैपाल में महाराज जंगबहादुर के आश्रय में समय काट रही थीं। यद्यपि महाराज के दरबार से बीस हज़ार रुपया वार्षिक वृत्ति बँधी हुई थी, पर तो भी महारानी को इस तरह के रुपये लेना अखरता था। इसमें कारण यह था कि दरबार नैपाल को भी यह बीस हज़ार रुपया देना न रुचता था और कई कारणों से वे रानी जिन्दा के नैपाल में रहने के पक्ष में न थे।

इङ्गलैण्ड पहुँच जाने के बाद महाराज दिलीपसिंह को अपनी माता के सम्बन्ध की बातें जानने की उत्कण्ठा हुई। वहाँ पहुँच कर वे भूल नहीं गये। उनके समाचार कोर्ट ऑफ़ वार्डस से जानने की इच्छा करते रहते। सन् १८६० ई० के दिसम्बर में जब दिलीपसिंह की भारत आने की इच्छा हुई, इसमें एक कारण यह भी था कि वे अपनी माता के रहने आदि का प्रबन्ध करना चाहते थे। दूसरे उन्हें शेर का शिकार खेलने की भी बड़ी इच्छा थी। महारानी जिन्दा ने जब एक अपरि-

चित व्यक्ति द्वारा वृटिश गवर्नमेण्ट से अपने प्रबन्ध के लिए प्रार्थना की और शेरसिंह को यह मालूम हुआ तो उन्हें बड़ा दुःख हुआ। उन्हें यह बहुत बुरा लगा कि एक अपरिचित व्यक्ति द्वारा भारत-सरकार से निवेदन किया। इस प्रार्थना-पत्र की बातें जब नैपाल-दरबार ने सुनीं तो उन्होंने यहाँ तक कह दिया कि महारानी जिन्दा ने यदि वृटिश-भारत में पैर भी रख लिया तो वे नैपाल से तो सदा के लिए गई हीं, साथ ही एक पाई भी वृत्ति की उन्हें नहीं दी जायगी। इन सब बातों को जान कर दिलीपसिंह को और भी अधिक दुख हुआ और उन्होंने डाक्टर लेगिन द्वारा भारतवर्ष लौटने की प्रार्थना की। इसके प्रत्युत्तर में जवाब मिला कि महाराज दिलीपसिंह के हिन्दुस्तान आने से गवर्नर जनरल को कोई आपत्ति नहीं; परन्तु वे पंजाब में नहीं जा सकते। दिलीपसिंह की माता के वृटिश भारत में रहने में भी गवर्नर जनरल कुछ आपत्ति नहीं करते।

महाराज दिलीपसिंह ने अपनी वृत्ति और ग़दर में नष्ट हुई सम्पत्ति का भार लेगिन को सौंपा और सन् १८६१ के जनवरी मास में वे भारतवर्ष आगये। कलकत्ते में वे स्पेन्सेस होटल में ठहरे। यहीं पर वे अपने भतीजे सहदेवसिंह से मिले और अपनी माता को नैपाल से बुलाने का इन्तजाम किया। उन्होंने अपना आदमी रानीगंज में ही महारानी जिन्दा के पास भेज दिया। इस समय ही महाराज दिलीपसिंह को मालूम हुआ कि वृटिश गवर्नमेण्ट ने उनकी माता महारानी जिन्दा के लिए सिर्फ कम से कम २ हजार और अधिक से अधिक ३ हजार रुपया वार्षिक वृत्ति तय की है। यह जान कर उन्हें अत्यन्त क्षोभ और दुख हुआ।

बारह वर्ष के बाद पुत्र और माता की भेट हुई। जिस तरह १२ वर्ष के वनो-बास के बाद कौशल्या से रामचन्द्र जी मिले थे उसी प्रकार दिलीपसिंह और रानी जिन्दा का मिलन हुआ। इतने दिनों के बाद रानी ने पुत्र से मिल कर अपने भाग्य को धन्य समझा। दिलीपसिंह ने भी माता के चरणों में शिर टेक दिया। अपनी माता की दशा देख कर दिलीपसिंह की आत्मा रोने लगी। रानी जिन्दा के सौन्दर्य और स्वास्थ्य दोनों ने साथ छोड़ दिया था। आंखें कमजोर हो गई थीं, जिससे उन्हें दीखता भी कम था। अस्वस्थता के कारण महारानी जिन्दा की हालत ऐसी न थी कि वे अब पुनः पुत्र-वियोग सह सकें।

दिलीपसिंह के कलकत्ते में रहते हुए भी बहुत से सिख उनसे मिलने को आते। चीन से बहुत से सिक्ख सैनिक उस समय कलकत्ता आये हुए थे। जब उन्हें यह ज्ञात हुआ कि महाराज रणजीतसिंह के पुत्र दिलीपसिंह यहाँ आए हैं तो वे बड़ी खुशी से होटल को घेर कर अपनी रीति के अनुसार अभिवादन प्रगट करने लगे। हिन्दुस्तान भर में यह खबर बिजली की तरह फैल गई और खास-कर सिख-सरदारों में तो बहुत श्रद्धा हुई। वे दूर-दूर से दिलीपसिंह से भेट करने आने लगे। कलकत्ते में लार्ड केनिंग ने कई बार दिलीपसिंह से भेट की। उन्हें

यह पता न था कि महाराज दिलीपसिंह के ईसाई हो जाने और समुद्र यात्रा कर लेने पर भी सिख लोगों की इतनी भक्ति होगी। वे इन सब को देख कर सचेत हो गए और दिलीपसिंह से अनुराध पूर्वक भारत छोड़ देने की सलाह दी। दिलीपसिंह इँगलैण्ड जाने के लिए तैयार हो गये। कहते तो यहाँ तक हैं कि उन्होंने स्वयं इँगलैण्ड जाने की चेष्टा की। पर वे अगर अपनी इच्छा से ही जाते तो शेर का शिकार जरूर खेल कर जाते जिसका निश्चय वे इँगलैण्ड से ही करके आये थे।

जब दिलीपसिंह के इँगलैण्ड जाने का निश्चय हो गया और महारानी जिन्दा को इसका पता लगा तो वे अत्यन्त दुखी हुईं। हम पहिले ही कह आये हैं कि महारानी की ऐसी अवस्था न थी कि वे इतने दिन से मिले बाद पुत्र का विछोह सह सकें। अतः वे भी इँगलैण्ड जाने को राजी हो गईं। सरकार भला इसमें क्यों रुकावट डालने लगी? महारानी के भी जाने की आज्ञा देदी। क्योंकि गवर्नमेंट का तो इरादा ही था कि वे लङ्का में रखी जायँ। सरकार ने सोचा कि अपने आप क्लेश कटा। चुनार के किले से भागते वक्त महारानी के कुछ गहने आदि वस्तुएं छूट गईं थीं वह भी महारानी को दे दीं। इस तरह महारानी जिन्दा और दिलीपसिंह जुलाई मास में इँगलैण्ड पहुँच गये। भारत में पहुँच कर शेर को शिकार का अरमान दिल का दिल में ही रह गया। जिस शिकार के लिए इँगलैण्ड से विशेष तौर से हथियार खरीद भारतवर्ष पहुँचे थे वे हथियार यथावत् इँगलेण्ड पहुँच गए। ठीक ही है "विधिगति टारी नाहिं टरे।"

विलायत पहुँचकर महारानी को बड़ा आश्चर्य हुआ। उनके लिए अंग्रेजों के रहन-सहन और ढंग सब कौतूहल प्रद थे। दिलीपसिंह ने इंगलेण्ड पहुँच कर नागरिक अधिकार की प्रार्थना की और वह स्वीकार भी कर ली गई। महारानी जिन्दा के आ जाने से दिलीपसिंह के गिर्जे में जाने आदि ईसाई-धर्म की भावना में कुछ कमी आ गई थी। ईसामसीह के उपासकों में इस बात की विशेष चिन्ता हुई। उन्होंने यह जान लिया कि उनकी माता के आने के कारण ही ऐसा हुआ है। फल स्वरूप महारानी जिन्दा को भारत लौटाने तक की बात सोच ली गई। परन्तु महाराज दिलीपसिंह भी अपनी माता के साथ भारतवर्ष लौटना चाहते थे, इसलिए बहुत बाद-विवाह के बाद दिलीपसिंह की माता का उनसे दूर रहने का प्रबन्ध किया गया। इन सब बातों से महारानी जिन्दा को हार्दिक वेदना हुई। वे अस्वस्थ तो सदा ही रहती थीं। सन् १८६३ ई० के अगस्त महीने में वे स्वर्ग सिधार गईं। जन्म-भूमि से हजारों मील की दूरी पर अज्ञात, अपरिचित, कुटुम्बियों से शून्य स्थान में सिखों की हृदयेश्वरी, खालसा की माँ, महाराज रणजीतसिंह की रानी, दिलीपसिंह की माता सदा के लिए इस दुखद जीवन से निबट कर वहाँ पहुँच गईं जहाँ राजा-रंक सब एक श्रेणी के हैं।

मरते समय महारानी ने दाहसंस्कार (अन्त्येष्टि) भारत में करने की इच्छा प्रगट की थी। किन्तु कई एक कठिनाइयों के कारण उस समय दिलीपसिंह भारत

किया था। जब तक दिलीप...

न आ सके। कई एक मसालों के साथ शव सम्हाल कर इंगलेण्ड में ही रखा गया। सन् १८६४ ई० में दिलीपसिंह ने बम्बई से नर्मदा नदी के तट पर पहुँचकर अपनी माता के शव का दाह संस्कार किया और फिर इंगलेण्ड लौट गया।

इस बीच में डाकृर लेगिन की भी मृत्यु हो गई थी। इससे दिलीपसिंह को माता के विछोह-दुख के साथ ही डाकृर साहब के मरने का भी बहुत दुख हुआ। क्योंकि डाकृर लेगिन भारतवर्ष से ही इनके साथ थे और उनका उनसे बड़ा प्रेम हो गया था। महाराज दिलीपसिंह अपनी वृत्ति के सम्बन्ध में जो लिखा-पढ़ी करते थे उसमें डाकृर साहब से बहुत परामर्श मिलता था। लेगिन की समाधि पर दिलीपसिंह ने पत्थर का एक स्तंभ भी बनवा दिया था। अपनी माता और डाकृर साहब की मृत्यु से उन्हें इतना अधिक कष्ट हुआ था कि उस समय लेडी लेगिन से कहा—"अब मेरा जीवन सुख-प्रद न रहेगा। मेरा विचार अब किसी उच्च वंश की रमणी से विवाह न करके किसी अनाथ, सुशील बालिका से करने का है। मैं स्वयं उसे शिक्षा देकर अपनी चिरसङ्गिनी बना लूँगा। संभव है इससे मुझे शान्ति मिले।"

सन् १८६२ ई० में दिलीपसिंह को 'सितारे-हिन्द' की उपाधि मिली थी। पता नहीं इस उपाधि से उन्हें कितनी प्रसन्नता हुई जब कि उनके पत्रों का उत्तर ही डेढ़-डेढ़ बरस तक नहीं मिलता था। उससे अनुमान किया जा सकता है कि कोरी उपाधियाँ उस व्यक्ति को कितनी शान्ति पहुँचा सकती हैं जिसकी कि उचित माँग की पूर्ति क्या उस प्रार्थना का उत्तर भी न दिया जाय। भारत से लौटते समय मिश्र की राजधानी ईजिप्ट में दिलीपसिंह एक महिला पर आसक्त हो गए थे। उससे विवाह का प्रस्ताव किया, वह भी राजी हो गई। अतएव दिलीपसिंह ने उससे शादी करली। उस स्त्री का नाम बम्बूला था और उस समय उसकी उम्र १६ वर्ष की थी। दिलीपसिंह इस शादी से अत्यन्त प्रसन्न हुए थे। इँगलैण्ड में महारानी बम्बा के पढ़ाने का प्रबन्ध भी महाराज ने कर दिया था जिससे उनका पारस्परिक प्रेम भी बढ़ गया था।

विद्रोही दिलीप

बृटिश गवर्नमेण्ट से महाराज दिलीपसिंह के वृत्ति सम्बन्धी पत्र-व्यवहार का हाल पहिले लिखा जा चुका है। महाराज जब भारतवर्ष गए तब इसका भार लेगिन पर छोड़ गए थे। परन्तु कोई सन्तोष-जनक व्यवस्था नहीं हुई थी। दिलीपसिंह चाहते थे कि सन्धि के अनुसार कम से कम चार हजार और अधिक से अधिक वृत्ति उन्हें मिलनी चाहिए। चूंकि वह बालिग हो गए हैं और महाराज रणजीतसिंह के राज्याधिकारी हैं इसलिए वह वृत्ति जो महाराज रणजीतसिंह के कुटुम्ब वालों को दी जाती हैं उनके द्वारा ही दी जायें और जो व्यक्ति वृत्ति लेते-लेते मर गया है उनके बाद का जमा हुआ रुपया भी उन्हें मिले। पर गवर्नमेण्ट

इससे सहमत न थी। सर चार्ल्स वुड ने दिलीपसिंह को सूचित किया कि—सन् १८४९ ई० की सन्धि के अनुसार कम से कम चार लाख और अधिक से अधिक पाँच लाख रुपया दिलीपसिंह एवं उनके कुटुम्बियों के लिए तय हुआ था। उसमें से महाराज के लिये जितना रुपया निश्चित हुआ था वही उन्हें मिलेगा और यह भी जब तक महाराज जीवित रहेंगे मिलेगा और अन्य व्यक्तियों के लिए भी जो वृत्ति तय हुई है उनके जीने तक ही मिलेगी। वृत्ति-भोगियों के मरने पर जो रुपया बचेगा वह महाराज को न दिया जाकर गवर्नमेण्ट के खजाने में जमा रक्खा जावेगा। इस प्रकार जितना रुपया अब तक बचा है उसका कुछ हिसाब नहीं है। वह करीब डेढ़ लाख से दो लाख पौंड होगा। दिलीपसिंह को इस उत्तर से बड़ा कष्ट हुआ। उन्होंने इसके प्रतिवाद करने के लिए बहुत लिखा-पढ़ी की परन्तु कुछ परिणाम न निकला। सर जान लारेन्स आदि कई अंग्रेजों को इसका निबटारा कराने के लिए कहा पर सफल न हुए।

महाराज दिलीपसिंह ने सन् १८८२ के अगस्त मास की ३१ वीं तारीख के 'टाइम्स' में अपनी एक दुख-भरी कथा छपवाई और इङ्गलैंड की जनता से अपने दुखों को दूर कराने एवं न्याय कराने की अपील की; परन्तु इसका किसी सज्जन पर कुछ प्रभाव न पड़ा। यहाँ तक कि किसी ने उनके साथ समवेदना भी प्रगट न की। दिलीपसिंह को स्वप्न में भी आशा न थी कि उनके साथ ऐसा अन्याय किया जायगा। वे हमेशा के लिए भारतवर्ष आकर रहना चाहते थे; परन्तु लेडी लेगिन ने उन्हें इङ्गलैंड में ही महारानी विक्टोरिया की कृपा पर अवलम्बित रहने की राय दी। इसके बाद महाराज तीन साल तक इङ्गलैंड में रहे। उन्हें रूखा जवाब मिल गया कि उनकी सन्तान के लिए कुछ प्रबन्ध नहीं किया जायगा। तब उनका हृदय इङ्गलैंड-वास से ऊब गया। उन्होंने अपनी जो ज़मींदारी थी उसे बेच कर भारतवर्ष आने का इरादा किया। यह देख कर सरकार को भय हुआ कि दिलीपसिंह के पहुँचते ही भारत में क्रान्ति खड़ी हो जायगी। सर वेलबर्न ने सरकार की ओर से महाराज दिलीपसिंह को सन्देश दिया कि अगर आप इङ्गलैंड में रहें तो सरकार आपके दावे के लिए पचास हजार पौंड देगी। दिलीपसिंह ने यह बात अस्वीकार कर दी। भारत आने का पास पोर्ट भी प्राप्त हो गया और सरकारी आज्ञा हुई कि वे पंजाब नहीं जा सकेंगे और भारत पहुँचने पर उन्हें नजरबन्दी की हालत में रहना होगा। यह सब होने पर भी दिलीपसिंह ने भारतवर्ष के लिए यात्रा कर दी। रवाना होने के पहिले अपनी जन्म-भूमि पंजाब के नाम एक पत्र भेजा जिसे 'पंजाब-हरण' के लेखक ने 'भारत कीर्त्ति' से उद्धृत कर अपनी पुस्तक में प्रकाशित किया है। वह यों है:—

लण्डन २५ मार्च सन् १८८६ ई०।

"मेरे प्यारे देशवासियो !

भारत में आकर रहने और बसने की मेरी इच्छा कभी नहीं थी; परन्तु सद्गुरु सब के विधाता हैं। वह हम सब से अधिक शक्तिमान हैं। मैं उनका भ्रान्त

जीव हूँ। मेरी इच्छा न होने पर भी मैं उनकी इच्छा से इङ्गलैंड को छोड़ भारतवर्ष में जाकर साधारण रूप से बसूँगा। मैं सद्‌गुरु की इच्छा के सामने मस्तक नवाता हूँ। जो इच्छा है वही होगा।

खालसाओ ! मैं अपने पूर्व पुरुषाओं के धर्म को त्याग कर, पर-धर्म ग्रहण करने के लिए, आप लोगों से क्षमा माँगता हूँ; परन्तु जिस समय मैंने क्रिश्चियन धर्म की दीक्षा ली थी, उस समय मेरी अवस्था छोटी थी।

मैं बम्बई पहुँच कर फिर सिक्ख-धर्म को ग्रहण करूँगा। बाबा नानक की आज्ञानुसार चलूँगा और गुरु गोविन्दसिंह की आज्ञा का पालन करूँगा।

मेरी अधिक इच्छा होने पर भी मैं पंजाब आकर आप लोगों से नहीं मिल सकूँगा। इस कारण आप लोगों को यह पत्र लिखने में लाचार हुआ हूँ।

भारत-साम्राज्य की अधीश्वरी में जो मेरी परम भक्ति है उसका उचित पुरस्कार पालिया है। सद्‌गुरु की इच्छा पूर्ण हो। वाह गुरूजी की फ़तेह। वाह गुरूजी का खालसा—

प्रिय देश-वासियो !

"मैं आपका अपना मांस और रक्त—दिलीपसिंह हूँ"।

उपरोक्त पत्र के प्रकाशित होते ही समस्त भारतवर्ष में सनसनी फैल गई। पंजाब में तो इसके कारण सिक्खों के आनन्द का ठिकाना न रहा। कितने ही वर्षों के बाद उनका महाराज आ रहा है यह सुनकर प्रफुल्लित हो उठे। दिलीपसिंह को किसी पंजाबी द्वारा एक पत्र भी भेजा गया। सिक्ख-युद्ध-इतिहास से अनुवाद कर उस पत्र को 'पंजाब-केसरी' के लेखक ने अपनी पुस्तक में छापा है। हम भी उसे उद्‌धृत करते हैं। वह पत्र यों है—

"प्यारे महाराज !

यद्यपि मैं आपके देश-वासियों में से अज्ञात-व्यक्ति हूँ आपके इङ्गलेण्ड परित्याग करने और सिख-धर्म को ग्रहण करने के लिए दृढ़-प्रतिज्ञ देखकर जो आनन्द हुआ है, उसको प्रगट करना असम्भव है। पंजाब ही क्यों समस्त भारत, वृटिश गवर्नमेंट ने जो आप के ऊपर अत्याचार किया है, उसके लिए रो रहा है।

प्यारे महाराज ! इस समय ऐसा कोई आदमी नहीं है, जिसको आपके प्रति सहानुभूति न हो। पर खाली सहानुभूति से हम आपकी क्या भलाई कर सकते हैं? आप को हम अपने बीच में पाकर अत्यन्त प्रसन्न होंगे। जब गवर्नमेंट आपको सब सुखों से वंचित करने को तैयार है तब आपको अपने देशवासियों की सहानुभूति और प्रीति से शान्ति होगी। आपने हम लोगों को अपना देशवासी और शुभ-चिन्तक कह कर सम्बोधित किया है, इससे बढ़ कर हम लोगों का क्या सौभाग्य

हो सकता है ? आपके अनेक देशवासी आपका स्वागत करने को उत्सुक हैं। पर जिस गवर्नमेंट ने आपको यहाँ तक आने के लिए मजबूर किया है, वह गवर्नमेंट और किसी तरह की बाधा न कर दे। यह भय हम लोगों को हो रहा है—

प्यारे महाराज !

"आपका सुविश्वस्त शुभचिन्तक और स्वदेशी—एक नम्र निवेदक पंजाबी।"

महाराज दिलीपसिंह के इङ्गलेण्ड से रवाना हो जाने पर गवर्नमेंट सचेत हो गई थी। पंजाब के समाचारों से भारत सरकार जानती थी कि दिलीपसिंह के आने के समाचार से सिख प्रसन्न हो रहे हैं। इन पत्रों के प्रकाशित होते ही और भी भय बढ़ गया कि पता नहीं दिलीपसिंह के आने पर कितना आन्दोलन खड़ा हो जाय। गवर्नमेंट ने दिलीपसिंह को एडिन पर पहुँचते ही भारतवर्ष आने से रोक, बन्दी कर लिया। महाराज गवर्नमेंट के इस बर्ताव से अत्यन्त निराश और दुखी हुए। उन्होंने प्रकाश्य रूप से जाँच कराने के लिए महारानी विक्टोरिया को तार दिया और एक तार गवर्नर जनरल भारतवर्ष को दिया कि मैं एडिन से अपना वकील कौन्सिल में भेजूँ तो मुझे खर्च मिलेगा या नहीं ? पर इन दोनों तारों का ही यथोचित उत्तर नहीं मिला।

वे बलपूर्वक विलायत लौटा दिए गए। इङ्गलेण्ड पहुँचने पर वे बहुत खिन्न रहने लगे। जिस दिलीप ने एक दिन शान्ति पूर्वक कोहनूर को हाथ में लेकर भी लौटा दिया था वही दिलीपसिंह अब एक दिन महारानी विक्टोरिया के हाथ में कोहनूर देख कर दृढ़ता पूर्वक बोला कि—"यह हीरा मेरे पिता का है, इस पर महारानी का कोई अधिकार नहीं है।" दिलीपसिंह बहुधा इस समय बड़बड़ाया करते—"मेरी बाल्यावस्था में मेरे अभिभावकों ने ज़बरदस्ती मेरे से सन्धि पर हस्ताक्षर करवा के पंजाब का राज्य ज़ब्त कर लिया था। अब वह सन्धि मुझे स्वीकार नहीं है।" गवर्नमेंट को इन सब बातों से दिलीपसिंह का विश्वास न रहा और उनकी कड़ी देख-रेख की जाने लगी। इस अवस्था में दिलीपसिंह ने सरकार से जो कुछ वृत्ति मिलती थी उसे भी अस्वीकृत कर दिया और किसी तरह प्रबन्ध कर फ्रांस चले गए।

फ्रांस पहुँच कर दिलीपसिंह ने वहाँ के शासक से सेना की सहायता के साथ अपने को पाण्डेचेरी भेजने की प्रार्थना की। पर उनकी प्रार्थना अस्वीकृत हुई। यहाँ से उन्होंने किसी तरह अपना जाली नाम रख कर रूस का पासपोर्ट भी लिया और अपने एक नौकर के साथ जर्मनी पहुँच गए। पर रास्ते में रूस का पासपोर्ट और सब रुपया चोरी हो गया। इस पर महाराज ने अपना असली नाम और परिचय 'मास्को गज़ट' के केटकफेक सज्जन के पास भेजा। सम्पादक महोदय ने ऐसा प्रबन्ध कर दिया कि महाराज सन् १८८७ ई० के अप्रेल में मास्को पहुँच गए। इस समय महाराज अपने को इङ्गलेण्ड का बैरी कहने में नहीं हिचकते थे। जून महीने

में मास्को के शासनकर्ता ने महाराज से भेंट की। मास्को के शासक द्वारा उन्होंने एक प्रार्थना-पत्र रूस-सम्राट् एलकजेण्ड्रो के पास भेजा। कुछ समय पीछे महाराज को अपनी रानी के स्वर्गवास का समाचार मिला जिससे महाराज को अत्यन्त दुःख हुआ और वे शोक से विह्वल हो गए।

सन् १८८७ ई० के अक्टूबर महीने में महाराज ने हिन्दोस्तान के मुख्य-मुख्य समाचार पत्रों में एक अपील प्रकाशित करवाई। जिसमें १८४६ में हुई सन्धि को अपने बाल्यावस्था में कराने का कारण बताते हुए सन्धि की घोषणा के साथ यह भी लिखा कि अब मैं रूस के शासक की सहायता से सेना लेकर भारतवर्ष में आने वाला हूँ। महाराज ने भारत वालों को आर्थिक सहायता देने की ओर भी आकर्षित किया। पर न तो किसी भारतवासी ने ही सुध ली और न रूस-सम्राट् ने ही कुछ ध्यान दिया। दिलीपसिंह किं कर्तव्य विमूढ़ की भाँति हताश हो रूस छोड़ फ्रांस चले गये।

फ्रांस की राजधानी पेरिस पहुँच कर कुछ दिन बाद महाराज दिलीपसिंह को संघातिक रोग हो गया। उनके पुत्र बीमारी का समाचार पाकर इंगलैण्ड से पेरिस आये। दिलीपसिंह के तीन पुत्र और ३ लड़कियाँ थीं। बड़े पुत्र विक्टर दिलीप ने पेरिस पहुँच दिलीपसिंह की भली भांति सेवा की। बीमारी की हालत में ही महाराज दिलीपसिंह का चित्त चञ्चल हो उठा था। उन्हें किसी ओर भी शान्ति नहीं दिखलाई पड़ती थी। उद्विग्न विचारों से प्रेरित हो दिलीपसिंह ने महारानी विक्टोरिया द्वारा आज्ञा प्राप्त की कि इँगलैण्ड में आने से उन पर कोई मुक़दमा न चलाया जायगा। स्वस्थ होने पर महाराज इँगलैण्ड गए भी पर वहाँ रहे नहीं। यहां यह बता देना आवश्यक है कि जब महाराज एडिन से लौटाए गए थे तब उन्होंने ईसाई मत छोड़ कर सिख-धर्म ग्रहण कर लिया था। इस बीच में उन्होंने एक फ्रेंच स्त्री से पाणिग्रहण कर लिया था। पर इससे कोई सन्तान न हुई।

सन् १८६३ ई० की २० अक्टूबर को पेरिस के एक होटल में दिलीपसिंह का स्वर्गवास हो गया। उनको तपेदिक़ के रोग ने घेर लिया था और इसी के कारण उनकी मृत्यु हुई। २६ अक्टूबर को एल भेडन प्रासाद के समाधिस्थल में उनको दफ़नाया गया। इस तरह से उस प्रबल प्रतापी रणजीतसिंह के जिसके कि सामने किसी समय अँगरेज संधि-भिक्षा को याचना के लिए दुम हिलाते हुए पीछे-पीछे फिरा करते थे, उसी के लाड़ले पुत्र को इन परिस्थितियों में डाल दिया जिन्हें कि भारतीय हमेशा बेईमानों की चालें समझते रहेंगे, और यह कभी नहीं कहा जायेगा कि बृटिश सिंह ने वीरता पूर्वक पंजाब का राज्य लिया!

लेकिन जब तक तेजसिंह और लालसिंह से जाति-द्रोही किसी देश के अन्दर पैदा होते रहेंगे तब तक अँगरेजों से भी अधिक पैंतरेबाज लोगों की पौ-बारह होती रहेगी।

पटियाला-राज्य

पटियाला की रियासत पंजाब में एक प्रसिद्ध रियासत है। यह उत्तर की ओर २९ अक्षांस १५ देशान्तर से ३० अक्षांस ४५ देशान्तर तक लम्बा और पश्चिम की ओर ७४ अक्षांस ४५ देशान्तर से ७६ अक्षांस ४५ देशांतर तक चौड़ाई में है। इसका क्षेत्रफल ५९३२ वर्गमील और जन संख्या १४९९७३९ है। सालना आमदनी १६३०००००) रु० बताई जाती है। यह राज्य तीन भागों में विभक्त है। जिनमें से सबसे बड़ा हिस्सा दक्षिणी किनारे पर है। दूसरा शिमला के पर्वतीय प्रदेश में, तीसरा नारनोल का परगना है जो राजधानी से १८० मील दूर है। इस राज्य की स्थापना १८ वीं शताब्दी में प्रसिद्ध जाट सरदार आलासिंहजी के द्वारा हुई थी।

जाटों की मनगढ़ंत के अनुसार कुछेक देशी-विदेशी इतिहासकारों ने इस राज्य-वंश के मूल पुरुष की उत्पत्ति जैसलमेर के राज्य-वंश से बताई है। वास्तव में बात यह है कि जैसलमेर के राजपूत भट्टी और पटियाला जाट भट्टी दोनों ही यादव हैं जो कि गजनी की तरफ़ से भटिण्ड भूमि में बसने के कारण भाटी कहलाये। एक समूह अपनी पुरानी रिवाजों को मानता रहा और दूसरा समूह मौजूदा कृत्रिम हिन्दू-धर्म के रिवाजों में दीक्षित होगया। वैदिक कालीन विधवा-विवाह, समानता का व्यवहार और बौद्ध-कालीन मांस-भक्षण-निषेध, स्त्री-स्वातन्त्र आदि रस्मों का पालन करने वाला समूह जाट-भट्टी और दूसरा पौराणिक धर्म की विधवा-विवाह-निषेध, संकुचित भेद-भाव, परदा-प्रथा, पशु-बलिदान-प्रणाली, स्त्री-दासत्व आदि रस्मों का दासत्व ग्रहण कर लेने के कारण राजपूत-भट्टी कहलाया; जिन्हें कि आज वे अपनी क़ौम के लिए ख़तरनाक भी समझते हैं।

पटियाले का ख़ानदान खिलकियां मलोई कहलाता है। क्योंकि इनके बुज़ुर्गों ने अपनी कठिनाई के दिन मालवा में गुज़ारे थे। 'सैरे पंजाब' का लेखक लिखता है कि—"मांझ के जाट इन लोगों को अपने से कुछ हेटा समझते थे। कुछ दिन तक तो वह इनकी लड़कियाँ ले लेते थे किन्तु देते नहीं थे। परन्तु जब से इन लोगों के हाथ राज-शक्ति आई है मांझ के जाट अपनी बेटी का रिश्ता इन लोगों से करने लग गए[१]।" परन्तु भाट तथा उनका अन्धानुसरण करने वाले लेखक कहते हैं कि राबखेवा ने नादूजी के जाट ज़मीदार की पुत्री के साथ विवाह कर लिया और यहाँ तक लिखते हैं कि उस ज़मीदार ने बड़ी प्रसन्नता के साथ राबखेवा, जो कि बे घरबार मारा-मारा भटकता था, के साथ बड़ी खुशी से अपनी लड़की की शादी करदी थी। यह कैसे सम्भव हो सकता है कि जाट राजपूत के साथ अपनी लड़की की शादी राजी से कर देता? जबकि हम इस बात का उदाहरण पाते हैं कि जाट होने की हालत में भी वह इनको अपने से निचले दर्जे का समझते थे—

१—किताब 'सैरे पंजाब'। दूसरा भाग। पे० ४१९।

उनके ऐसे समझने का एक कारण था और वह यह कि ये भट्टी जाट गजनी की तरफ रह चुके थे और मांझ के जाट सदैव से पंचनद-भूमि में निवास करते थे। इसलिए उनके पास जमीन-जायदाद सब कुछ थी और यह लोग निवास करते थे गैर उपजाऊ भूमि में। यही दो कारण थे कि वह इन्हें अपनी समानता का नहीं समझते थे।

भाटों की इस वेहूदी और निराधार गढंत ने कई शताब्दियों के वाद सचाई का रूप ग्रहण कर लिया। लेकिन जिनके तनिक भी बुद्धि हो वे सोचें कि रावखेवा की सन्तान के अब तक कितने मनुष्य हो सकते थे ? रावखेवा का समय संवत् १४२२ माना जाता है। इन ५०० वर्ष के अरसे में अर्थात् २० पीढ़ी एक मनुष्य की औलाद के कितने मनुष्य हो सकते थे और यह जानना कोई कठिन वात भी नहीं, पटियाला, फरीदकोट अथवा नाभा वाले सिजरा देख करके ठीक गिनती भी जान सकते हैं। बमुश्किल दो हजार आदमियों की औसत पहुँचेगी। लेकिन कुल भट्टी जाटों की जनगणना की जाय तो लाखों की संख्या में मिलेंगे। भाटों का सारा ऐतिहासिक वर्णन ही वच्चों की जैसी कहानियां है। हम कहते हैं सारे भाटी चाहे वे राजपूत हों चाहे जाट न तो अकेले भाटी राव की सन्तान हैं और न अकेले शालिवाहन की। वे गजनी से हजारों की संख्या में लौटे थे और गजनी भी भारत से हजारों की संख्या में गए थे।

रावखेवा आरम्भ से जाट थे और उस समय तक भटिंडा और हिसार के जाट जैसलमेर वाले राजपूतों को अपने से भिन्न इसलिए नहीं समझते थे कि शताब्दियों से वे एक ही नाम से पुकारे जाते रहे थे। यद्यपि अब कोई अन्तर हो गया था तो वह सम्प्रदायवाद का था। भाट लोग इन वातों को तो जाट और राजपूत भट्टियों के हृदय से निकाल नहीं सकते थे कि वे एक हैं। अनेक होने का सर्व कारण वताना उनकी निगाह में यही श्रेष्ठ जँचा कि संप्रदायवाद की बात को छिपाकर विवाह वाली वात का प्रचार किया जाय। इससे उनका यह भी मतलब सिद्ध होता था कि उनके प्रभु राजपूत लोग ऐसी ऊटपटांग वातों से प्रसन्न होते थे। इस सिद्धान्त की सर हेनरी एम० इलियट साहब ने भी खूब दिल्लगी उड़ाई है। वास्तव में है भी यह दिल्लगी की ही वात।

अब हम इस वात को यहीं समाप्त करते हुए पटियाला राज्य के मुख्य इतिहास पर आते हैं। इस राज्य-वंश में फूल एक प्रसिद्ध व्यक्ति थे। उन्हीं के नाम पर फुलकियाँ मिसल स्थापित हुई थी। नाभा, पटियाला आदि फूल के ही वंशज हैं। उनका वेटा रामू और रामू के सुपुत्र राजा आलासिंह थे और ये ही पटियाला राज्य के संस्थापक माने जाते हैं। उनका वर्णन इस प्रकार है।

सरदार आलासिंह

पटियाला जैसी प्रसिद्ध और सुविस्तृत रियासत के संस्थापक और फुलकियाँ खानदान को विश्व विदित होने योग्य वनाने वाले सरदार आलासिंह ही थे। आपका जन्म सन् १६६५ ई० में सरदार रामा के घर मौजा फूल में हुआ था। आपके नामी पिता की जिस

समय शत्रुओं के हाथों से मृत्यु हुई, उस समय आप २३ वर्ष के थे। दो वर्ष के बाद ही आपने अपने पिता की मृत्यु का बदला शत्रुओं से ले लिया। इस युद्ध में जहाँ आपके शत्रुओं में से कमला और वीरसिंह मारे गये वहाँ आपके चेहरे पर भी बर्छे का हल्का सा घाव आया। १७२२ ई० में अनहदगढ़ जो कि पहिले बरनाला कहा जाता था, को आबाद किया। लोगों की आपके साथ में कितनी सहानुभूति थी, इसका इस बात से पता चल जाता है कि मौजा सिंहगढ़ के जमींदारों ने अपने हाकिम के विरुद्ध भी आपका थाना अपने गाँव में बिठा लिया था। कुछ दिन के बाद राय कुल्हा रईस कोट और दिलेरखां हलवारा वाला, कुतुबुद्दीनखां मलसीहान वाला, सोदेखां और जमालखां रईस मालेर कोटला, अनहदगढ़ पर सैयद असअद अलीखां, फौजदार दुआबा जालन्धर को अपने साथ लेकर के युद्ध के लिये चढ़ आये। इस चढ़ाई का कारण यह था कि सरदार आलासिंह के पुत्र कुँ० शार्दूलसिंह ने सोनेखां के स्थान नीमा को अपने कब्जे में कर के उसे बेदखल कर दिया था। दूसरे रईस कुल्हा भी सरदार आलासिंह से इस कारण नाराज था कि उन्होंने उसकी रियासत के मौजे सिंहगढ़ को अपने राज्य में मिला लिया था। यही कारण थे जिससे कि इतने रईस सम्मिलित हो करके सरदार आलासिंह के ऊपर चढ़ आये। लेकिन इस लड़ाई में विजय-श्री सरदार आलासिंह को ही प्राप्त हुई। फौजदार शाही मारा गया। दुश्मनों का बहुत सा लड़ाई का सामान भी इनके हाथ आया। इस लड़ाई से दूर-दूर तक इनका रौब बैठ गया। इधर-उधर के बहुत से देहातों पर भी कब्ज़ा कर लिया।

इनकी इन विजयों और बहादुरियों का जिक्र दिल्ली के तत्कालीन बादशाह मुहम्मदशाह तक पहुँच गया। बादशाह में यह शक्ति तो थी ही नहीं कि वह उनके बढ़ते हुए प्रभाव को रोक सकता। उसने सरदार आलासिंह से बनाए रखना ही उचित समझा। इसलिए नवाब मीरमन्नूखाँ और समीयारखाँ के हाथ उनके पास यह पैग़ाम भेजा कि आप सरहिन्द में जाकर के प्रबन्ध करें। अच्छे प्रबन्ध होने की सूचना मिलने पर हमारी ओर से आपको राजा की उपाधि दी जायगी। इस शाही फ़रमान के आने के बाद सरदार आलासिंहजी ने अलादादखाँ बूहा वाला, इनायतखाँ, विलायतखाँ बूलाड़ा वाले और बाकिरखाँ हरियाऊ वालों पर जो कि मुहम्मद अमीनखाँ रईस भटनेर के भाई-बन्द थे—चढ़ाइयाँ कीं जो कि सन् १७४१ तक बराबर जारी रहीं।

सन् १७४१ ई० के अख़ीर में नवाब अलीमुहम्मदखाँ सरहिन्द का चकलेदार नियुक्त हो कर के बादशाह देहली की ओर से आया। कुछ दिनों तक सरदार आलासिंह और उसका मेल-जोल रहा। कोट और जगराय की लड़ाइयों में दोनों साथ-साथ ही रहे। लेकिन सरदार साहब चकलेदार के अधीन रहना पसन्द नहीं करते थे। वह उसके दरबार की हाजिरी से मुक्त होना चाहते थे। नवाब को जब उनकी इस मनोवृत्ति का पता चला तो उसने उन्हें धोखे से क़ैद कर लिया। लेकिन

महाराजाधिराज, मेजर जनरल सर भूपेन्द्रसिंह जी महेन्द्र
बहादुर G. C. I. E. G.C S. I. G.C. B. O.

महाराजा पटियाला

करमा नाम के एक व्यक्ति की चालाकी से जो कि सरदार साहब का नौकर था वे नवाब की क़ैद से निकल गए और उससे बदला लेने के लिए प्रबन्ध करने लगे। लेकिन इन्हीं दिनों काम की खराबी के कारण नवाब अलीमुहम्मद की बदली हो गई। इससे वे बदला लेने में कामयाब न हो सके और अपनी शक्ति को राज्य को बढ़ाने तथा रईस भटिंडा के सरदार जोधासिंह को सहायता देने में काम करने लगे। सन् १७४७ ई० में उन्होंने मौजा ढहुडान में एक क़िला बनाने की तैयार की। ढहुडान के क़रीब मौजा काकड़े में फरीदखाँ नामी एक नौमुस्लिम राजपूत थोड़े से इलाक़े को अपने कब्ज़े में दबाए बैठा था। उसने इस इच्छा से कि सरदार आलासिंह को यहाँ से उखाड़ दिया जाय—समाना के बादशाही हाक़िम से मदद मांगी। लेकिन शाही सहायता के मिलने के पहिले ही आलासिंहजी के अफ़सर अमरसिंह ने फरीदखाँ और उसके साथियों को मार कर उसके कुल इलाक़े पर कब्ज़ा कर लिया। सरदार आलासिंह के ऐसे बढ़ते हुए ऐश्वर्य और प्रताप को देख कर परगना सनौर के जमींदार जिन के ४८ गाँव थे उनकी शरण में आगए और उन्हें अपना सरदार मान लिया। इस परगने के इन्तिज़ाम के लिए सरदार आलासिंह ने अपने साले गुरुबख्शसिंह को नियुक्त किया और उस स्थान पर एक मजबूत क़िला बनाया। यही क़िला आज पटियाले के नाम से मशहूर है। "सैरे पंजाब" का लेखक लिखता है कि पहिले इस क़िले का नाम पट-आला था। सर्व साधारण की बोलचाल से अब वह पटियाला कहलाता है। जिस जोधासिंह रईस भटिण्डा की सरदार आलासिंह ने मदद की थी उसी के खिलाफ़ उन्हें लड़ना भी पड़ा—कारण यह कि उसने गुरुबख्शसिंह की मंगनी की हुई गैंडा चाहिल की लड़की के साथ में अपनी शादी करली थी। सिक्खों की सहायता से उसके कुल राज्य को इन्होंने अपने राज्य में मिला लिया। भटिण्डा के इलाक़ों को अपने राज्य में मिला लेने के बाद उन्होंने 'भोलाड़ा' और 'वूहा' के नव मुस्लिम राजपूतों की तरफ़ मुँह फेरा। थोड़ी सी लड़ाई के बाद ये उन पर विजयी हुए और उनके इलाक़े में से भोलेड़ा भाई गुरुबख्शसिंह को देकर बाक़ी पर अपना क़ब्ज़ा किया। १७०७ ई० तक उन्होंने अपने पुत्र कुँवर लालसिंह और अपनी भुजाओं के बल पर मूनक, टोहाना, जमालपुर, धारसूल और सिकरपुरा को अपने क़ब्ज़े में कर लिया जोकि नौमुस्लिम भट्टी राजपूतों के अधिकार में थे। मालेर कोटला के पठानों से भी मुठभेड़ हुई और उनके इलाक़े में से 'शेरपुर' और 'पहोड़' को छीन कर अपने क़ब्ज़े में कर लिया। आपके पोते कुँवर हिम्मत-सिंह ने मालेर कोटला के नवाब जमालखां के बेटे भीखम से इसी लड़ाई में एक बहुत बढ़िया विलायती तलवार छीनी थी जो पटियाला में आज तक सुरक्षित रखी हुई है।

यह वह ज़माना था जब कि भारत पर अहमदशाह दुर्रानी के आक्रमण हो रहे थे और जगह-जगह उसकी ओर से [illegible] व्यक्त किए जा रहे थे। पानीपत की लड़ाई से लौटते हुए उसने सरदा[illegible] [illegible] र भी चढ़ाई

कर दी। क्योंकि मालेर कोटला के पठानों ने उसे बताया था कि सरदार आलासिंह मरहठों से सम्बन्ध रखते हैं। उस समय क़िले में सिर्फ रानी साहिबा ही मौजूद थीं जिनका शुभ नाम 'फतेहकुँवरि' (फत्तो) कहा जाता है। रानी साहिबा ने अपने चार सरदारों को दुर्रानी के केम्प में इसलिए भेज दिया कि वह उससे सुलह की बातचीत करें और अपने पोते अमरसिंह के साथ मूनक की तरफ़ निकल गईं। सरदार आलासिंह और उसके साथियों ने परिस्थितिवश कुछ दे-लेकर सन्धि करली। अहमदशाह सरदार साहब से बहुत प्रसन्न हुआ और उनके अधिकृत समस्त इलाक़े को जो कि उन्होंने बाहुबल से अर्जित किया था का मालिक उन्हें स्वीकार कर लिया और साथ ही अपने वजीर नवाब शाहबलीखां की मुहर और दस्तखत से सूबेदार सरहिन्द के नाम इस आशय का आज्ञापत्र जारी कर दिया कि—"वह सरदार आलासिंह के अधिकृत प्रदेश को अपनी हुकूमत से अलग समझे।" 'तारीख़ पटियाला' के लेखक सय्यद मुहम्मदहुसैन ने लिखा है कि—उस समय ७२६ क़सबे व गाँव सरदार आलासिंह के अधिकार में थे। सरदार आलासिंह से अहमदशाह दुर्रानी के साथ मिलने पर सतलज पार के सिख सरदार बहुत नाराज़ हुए। उनका कहना था कि इसने विधर्मी से मिल कर सिख-धर्म पर बट्टा लगाया है; लेकिन जब सरदार आलासिंह ने अपनी स्थिति उनके सामने रख कर इस बात को सिद्ध कर दिया कि दुर्रानी के साथ सन्धि करना केवल राजनैतिक चाल है तब कहीं जाकर आपसी झगड़ा मिटा। साथ ही उन्हें दिसम्बर सन् १७६२ ई० में दल के सिख सरदारों के साथ मिल कर के सरहिन्द पर चढ़ाई करनी पड़ी। अहमदशाह का सूबेदार 'जीनखां' मारा गया। सिखों ने सरहिन्द की ईंट से ईंट बजा दी और सरहिन्द के इलाक़े को आपस में बाँट लिया। सरहिन्द और उसके क़रीब का इलाक़ा, शाही तोपखाना सरदार आलासिंह के हाथ लगा। इसी इलाक़े के महसूल और राहदारी की आमदनी से पटियाले के क़िले को पक्का कराने और शहर आबाद करने का काम आरम्भ किया। थोड़े ही दिनों में पटियाला शहर की आबादी और रौनक़ पहिले से कई गुनी बढ़ गई। सरहिन्द के सिखों के द्वारा लूटे जाने और जीनखां के मारे जाने का समाचार जब अहमदशाह के पास पहुँचा, वह अपनी भारी फ़ौज के साथ फिर हिन्दुस्तान की तरफ़ आया। छोटे-छोटे सिख सरदार जिन्होंने यह समझा कि सामने जाकर इससे लड़ाई नहीं लड़ सकते, पहाड़ और झाड़ियों में चले गये, लेकिन सरदार आलासिंह अहमदशाह के पास उपस्थित हुए और इस बात को उसके दिमाग़ में बैठा दिया कि सिखों की इस बढ़ती के ज़माने में कोई भी विदेशी व विधर्मी सूबेदार सरहिन्द में नहीं निभ सकता है और उसकी भी सिखों के हाथों से वही गति होगी जो जीनखां की हुई है। आख़िरकार अहमदशाह ने साढ़े तीन लाख सालाना के ख़िराज पर सरहिन्द का सारा मुल्क सरदार आलासिंह के नाम लिख दिया और साथ ही उन्हें राजा की उपाधि भी दी।

आपके (महाराज आलासिंहजी के) तीन पुत्र थे—१ कुँ० शार्दूलसिंह २ कुँ० भूमियानसिंह[१], ३ कुँ० लालसिंह और एक लड़की थी, जिसका नाम बहन प्रधान था। तीनों राजकुमार बड़े बहादुर और होनहार थे। अपने पिता के साथ लड़ाई में शामिल होने की उत्कट लालसा उन्हें बचपन से ही थी। इसमें कोई भी सन्देह नहीं कि यदि वे जीवित रहते तो पटियाले का राज्य आज से बहुत कुछ अधिक विस्तृत होता। लेकिन दुर्दैव से उनकी मृत्यु पिता से भी पहिले हो गई। इनमें से कुँ० शार्दूलसिंह ने दो पुत्र अमरसिंह और हिम्मतसिंह अपने पीछे छोड़े। शार्दूलसिंह जी के दो रानियाँ थीं—१ हुक्मा रानी जो विवाहिता थी, २ रेसां जो उनके चचेरे भाई जोधसिंह की बेवा थी और नाते द्वारा इन्होंने अपने घर में डाल ली थी। महाराज आलासिंहजी का ताप की बीमारी में जब कि उनकी अवस्था ७० बरस की हो चुकी थी, २२ वीं अगस्त सन् १७६५ ई० को स्वर्गवास हो गया।

महाराज आलासिंह ईश्वर-भक्त और धर्म-प्रिय व्यक्ति थे। उन्होंने एक बार भाई कपूरसिंहजी को मय जमात अपने यहाँ लेजा करके सिख-धर्म की दीक्षा ली थी। 'इतिहास गुरु खालसा' के लेखक ने उनका दीक्षा-गुरु भाई कपूरसिंह लिखा है। लेकिन 'सैरे पंजाब' का लेखक उनके गुरु का नाम दयालदास बतलाता है। वे आचरण के भी बड़े शुद्ध-पवित्र थे। बहुतसी रानियाँ तथा दासी रखना उन्हें पसन्द न था। एक जवान लड़की को भूल से नङ्गी नहाते हुए देखने के बाद उन्होंने भारी प्रायश्चित्त किया था। उन्होंने साधु-सन्तों के लिए लङ्गर (रसोवड़ा) खोल रखा था। इनके लिए जनता की तरफ़ से 'बन्दी छोड़' की उपाधि मिली हुई थी। क्योंकि जो बहुत से आदमी अहमदशाह के यहाँ कैद थे इन्होंने उन्हें छुड़ा दिया था। महाराज की रानी साहिबा फत्तो भी बड़ी योग्य और बुद्धिमान थीं। वह कालेक्यान जोकि उस तरफ एक बड़ा खानदान था की लड़की थीं।

अमरसिंह

महाराज आलासिंह के बाद उनके पौत्र अमरसिंह पटियाला की गद्दी पर बैठे। आप में योग्य शासक और बीर सिपाही के गुण विद्यमान थे। सर लेपिल ग्रेफिन ने लिखा है कि गद्दी पाने का अधिकारी हिम्मतसिंह था चूंकि वह अमरसिंह से बड़ा था। परन्तु तवारीख पटियाला का लेखक अमरसिंह को ही बड़ा बतलाता है। दोनों भाइयों में राज्य के लिए जो झगड़े-फ़िसाद हुए आगे के पृष्ठों में अंकित हैं।

अमरसिंह ने गद्दी पर बैठते ही सब से पहिले यह काम किया कि अपने सरदारों को देश की रक्षा के लिए सीमाओं पर नियुक्त किया जिससे कि सिक्खों के अन्य लुटेरे दलों की लूट-पाट से देश सुरक्षित रहे। दूसरे साल मालेर कोटला के पठानों से 'पायल' को छीन लिया। कुछ ही दिनों बाद अपने पितामह के

१—"सैरे पंजाब" के लेखक ने भूमियानसिंह के बजाय इसका नाम सुभानसिंह लिखा है।

दोस्त सरदार जस्सासिंह अहलूवालिया व सिक्ख दल की सहायता से कस्बा ईसरड़ू को भी मालेर कोटला के पठानों से छीन कर अपने कब्जे में कर लिया और उस की आमदनी का चौथा हिस्सा सिक्खों में बाँट दिया। १७६७ ई० के शुरू में अहमदशाह ने भारत की ओर फिर क़दम बढ़ाया तो महाराज ने कड़ा व बाना के मुक़ाम पर उसका स्वागत किया। अहमदशाह ने खुश हो कर के आपको "राजा राजगान" का ख़िताब और नक्क़ारा और निशान प्रदान किए। अपने नाम का सिक्का जारी करने की इजाज़त भी दी। अहमदशाह के हिन्दुस्तान से वापिस होते ही महाराज ने मालेर कोटला के पठानों पर फिर चढ़ाई की। लेकिन वहाँ के तत्कालीन शासक अताउल्लाखाँ ने महाराज की अधीनता स्वीकार कर ली। लखनाबख्शी के द्वारा गरीबदास के इलाक़े जब पटियाला की हुक़ूमत में मिला लिए गए तो सिरमौर के रईस कीर्तिप्रकाश ने महाराज अमरसिंह से आकर पगड़ी पलट दोस्ती कर ली। क्योंकि गरीबदास जो कि मनीमजुरुए का रईस और पंजोर के परगने का अधिकारी था कीर्ति प्रकाश को हमेशा तंग किया करता था।

इन बाहरी लड़ाई-झगड़ों से निवृत होने पर महाराज अमरसिंह ने कुँ० हिम्मतसिंह पर जो क़िला ढूंढान में रहते थे चढ़ाई करके उनके तमाम अधिकृत इलाक़ों पर अपना कब्जा कर लिया। कारण कि वह महाराज के खिलाफ बग़ावत कर रहा था। "सैरे पंजाब" में लिखा हुआ है कि हिम्मतसिंह के पास डहोढ़ा समेत २०० गाँव थे। रानी फत्तो साहिबा ने गृह-कलह को बढ़ने देना उचित न समझ कर दोनों भाइयों में सुलह करवादी और हिम्मतसिंह के गाँव वापिस करा दिये। "आइना विराड़ वंश" में लिखा है कि कोटकपूरा के रईस सरदार जोधसिंह ने गर्व में मत्त होकर अपने घोड़ा और घोड़ी का नाम आला और फत्तो रख छोड़ा था। महाराज अमरसिंह के कानों तक यह बात पहुँची तो उन्होंने जोधसिंह को सबक़ देने के लिए अपने सरदार झंडूसिंह को मय फ़ौज के कोटकपूरा भेजा। दुर्भाग्य से जोधसिंह शिकार खेलता हुआ झंडूसिंह के साथियों ने घेर लिया और मय उसके बड़े बेटे जीतसिंह के मार डाला। इसके बाद महाराज ने भट्टियों पर चढ़ाई की। 'अहरवां' और 'सिंहा' नाम के दो गांवों को अपने अधिकार में कर लिया। भट्टी यह देख कर बहुत क्रोधित हुए। रात के समय दस हजार आदमियों ने छापा मार कर महाराज की सेना को बहुत नुकसान पहुँचाया। विजय तो महाराज की ही रही। यहां से महाराज पटियाला को रोड़ी होकर लौट पड़े। किन्तु जब महाराज रोड़ी में थे गूजरसिंह और जैतसिंह ने आकर प्रार्थना की कि—भटिण्डा को विजय करने में हमारी मदद की जाय। क्योंकि भटिण्डा के रईस सुखचैनसिंह (सावू गोत के जाट) ने हमारी औरत गोरी का सिर कटवा लिया है। महाराज ने उनकी प्रार्थना पर कुछ सेना तो उसी समय भटिंडा की ओर भेज दी और फिर स्वयं सेना लेकर भटिण्डा पर जा चढ़े। एक साल तक

बराबर लड़ाई जारी ही रही किन्तु क़िला महाराज के हाथ न आया। सुखचैन-सिंह क़िले में घिरा हुआ था इसलिए रसद आदि के बीतने पर उसने अमरसिंहजी को यह कहला भेजा कि—यदि आप पटियाला को वापिस लौट जावें तो मैं किला खाली कर दूं। अमानत में महाराज उसके लड़के कपूरसिंह को साथ लेकर पटियाला को लौट गये। चार महीने बाद सुखचैनसिंह पटियाला पहुँचा। यहाँ महाराज ने उसे क़ैद कर लिया और उसके लड़के को भटिंडे इस वास्ते भेजा कि वह क़िले की चाबी हमारे सरदारों के सुपुर्द कर दे। पहिले तो कपूरसिंह ने भी प्रतिज्ञा भंग की लेकिन आख़िर में अपने पिता को क़ैद से छुड़ाने के लिये उसने क़िला खाली कर दिया। महाराज ने भटिंडा के इलाक़े को अपने राज में मिला लिया और सुखचैनसिंह की औलाद को केवल १२ गाँव गुजारे के लिये दिये। भटिंडा-युद्ध की घटना सन् १७७१ ई० की है।

भटिण्डा की विजय के बाद महाराज ने अपनी दादी फत्तोरानी का निज का ख़ज़ाना उनसे अलग करके इस क़िले में भेज दिया। महाराज तो कहते थे कि यह रुपया वहाँ सुरक्षित रहेगा लेकिन फत्तोरानी को यह बात बुरी लगी। इससे महाराज से वह रुष्ट रहने लगीं। इन्हीं दिनों महाराज के किसी व्यवहार से एक सेनानायक सुखदाससिंह भी उनसे नाराज होगया। जबकि महाराज भटिंडा में प्रवेश-मुहूर्त की बाट में पहुँचे हुए थे इधर पटियाला में सुखदाससिंह ने रानी फत्तो को अपनी ओर मिलाकर कुँवर हिम्मतसिंह को ढूड़ान से बुलाकर पटियाला का मालिक बना दिया। भटिण्डा में जब महाराज के पास यह खबर पहुँची तो वह पटियाले आये और घेरा डाल दिया। नाभा-झींद और सिरमौर के राजाओं से भी मदद ली। कुँवर हिम्मतसिंह की मदद को मांझ के सिख आगये थे जो राज्य में लूट-पाट करने लगे। महाराज अमरसिंह और उनके सरदारों ने मांझ के सिखों से लड़ाइयाँ भी कीं किन्तु उन्हें दबा न सके। आख़िर हिम्मतसिंह के वायदे की रक़म से भी अधिक देकर उन्हें विदा किया। मांझ के सिखों के चले जाने के चार मास बाद निरन्तर लड़ाइयों से कुँवर हिम्मतसिंह हिम्मत हार गये। महाराज ने उन्हें समाना का क़िला और परगना डहरवा के २५ गाँव देकर क़िले से बाहर कर दिया। इस तरह गृह-युद्ध समाप्त हुआ। किन्तु इस घटना के दो ही वर्ष बाद कुँवर हिम्मतसिंहजी का देहान्त हो गया। उनके देहान्त के बाद महाराज ने उनका इलाक़ा ख़ालसा में मिला लिया और उनकी स्त्री से चादर डालकर जाति के नियम के अनुसार करेवा कर लिया।

इस घटना के कुछ ही दिन बाद आपने अपने सरदार सुखदाससिंह को जिससे कि अब मेल हो गया था, झींद नरेश गजपतिसिंहजी की सहायता के लिए भेजा; चूंकि गजपतिसिंह पर सिमरू नाम के फ्रांसीसी सेनापति ने चढ़ाई की थी। समरू को पानीपत के मैदान में दोनों राज्यों की सेनाओं से मुक़ाबिला करना पड़ा और फिर वह यहाँ से दिल्ली की ओर लौट गया। इस तरह झींद द्वारा मिली

सहायता का बदला महाराज ने कुछ ही दिन में चुका दिया। दूसरे वर्ष फत्तोरानी साहिबा का भी स्वर्गवास हो गया। महाराज ने अपनी दादी के कारज में तथा दान-पुण्य में दो लाख रुपया खर्च किया। दादी के मरने का महाराज को जो शोक हुआ था, उसकी पूर्ति ईश्वर ने उन्हें पुत्र-रत्न देकर करदी। इस प्रसिद्ध राजकुमार का नाम साहबसिंह रक्खा गया। पटियाला के पास ही सैफाबाद नाम का क़स्बा था जो कि उस समय गुलबेग़ के अधिकार में था। राजा कीरतप्रकाश से महाराज ने उसे भी विजय कराके अपने राज्य में मिला लिया।

सन् १७७६ ई० में महाराज ने बड़ी धूम-धाम के साथ भटियाने की विजय के इरादे से कूच किया। वास्तव में यही मुस्लिम राजपूत उद्दण्ड और लूट-मार करने वाले लोगों में से थे। वे बड़ी तैयारी के साथ भगीड़ान नामक स्थान पर महाराज की सेना से भिड़ गए। कई दिन के घमासान युद्ध के बाद इनकी विजय हुई। इस लड़ाई में भट्टियों के १४०० आदमी मारे गये। इधर भी ४–५ सौ आदमियों की हानि हुई। इस विजय के बाद सरसा, फतेहाबाद भी इनके अधिकार में आ गए। विजित स्थानों का प्रबन्ध करने के बाद में 'रानिया' पर मोर्चा लगाया जहाँ भट्टियों का सरदार नवाब मुहम्मदअमीनखाँ भाग कर जा छिपा था। बीकानेर के राजा गजसिंह ने जब यह समाचार पाया कि पटियाला का जाट नरेश अमरसिंह उसके राज्य की ओर बढ़ रहा है तो गजसिंह ने रानिया पहुँच कर अमरसिंह से पगड़ी-पलट दोस्ती करली। रानिया अभी विजय नहीं हो पाया था कि झींद के राजा साहब गजपतिसिंह का जिनके कि देश पर हाँसी के हाकिम मुल्ला रहीमदादखाँ ने चढ़ाई कर रक्खी थी सहायता के लिए अमरसिंहजी के पास निमंत्रण भेजा। महाराज अमरसिंह ने रानिया के युद्ध का भार सुखदाससिंह के ऊपर छोड़ करके स्वयं फतेहाबाद पहुँच कर अपने दीवान नानूमल को ५००० सेना के साथ राजा साहब झींद की सहायता के लिए रवाना किया। झींद और पटियाले की दोनों सम्मिलित फ़ौजों के मुकाबिले में रहीमदादखाँ की सेना न ठहर सकी और रहीमदादखाँ लड़ाई में खेत रहा। उसका बहुत सा सामान हाथी-घोड़े आदि दीवान के हाथ आए। दीवान नानूमल ने महाराज झींद की रजामन्दी से रहीमदादखाँ के अधिकृत प्रदेश हांसी, हिसार, रोहतक, तोसाम और मोहिम पर अधिकार कर लिया। गोहाना और रोहतक का कुछ हिस्सा राजा साहब झींद के हिस्से में आया। यह घटना १७७८ ई० की है। इससे चार महीने बाद ही रानिया का क़िला भी विजय हो गया। भट्टी लोग रानिया को छोड़ करके सन्धि के अनुसार क़िला भटनेर में जा रहे और सरसा का कुल इलाक़ा महाराज अमरसिंह के अधिकार में आ गया।

रहीमदादखाँ के मारे जाने और उसके इलाक़े को पटियाला राज्य में मिला लेने की खबर देहली में जब वज़ीर नजफखाँ के पास पहुँची तो उसने अपने विश्वास-पात्र कलीखाँ को एक बड़ी सेना दे करके रहीमदादखाँ का बदला लेने तथा नानूमल

रा जीते हुए मुल्क को वापिस लेने के लिए भेजा। दीवान नानूमल ने इस समा-
ार को पाकर नवाव जाव्ताखाँ से जो कलीखाँ का दुश्मन था सहायता लेना
ुनासिव समझा। परन्तु संयोग वश लड़ाई न होकर संधि हो गई। नवाव कलीखाँ,
नवाव जाव्ताखाँ, राजा भगवन्तसिंह, राजा गजपतसिंह और महाराज अमरसिंह ने
सम्मिलित होकर यह फैसला किया कि भट्टियों का तमाम मुल्क और कसूहन, वाँगर
परगना वरवाला, परगना वालसमद पटियाले के कब्जे में रहें, गुहाना वगैरह सात
गाँवों पर राजा सा० जींद का अधिकार रहे और हाँसी, हिंसार, रोहतक तथा
मोहम बादशाह देहली को लौटा दिये जाँय। इस मौक़े से कलीखाँ और जाव्ताखाँ
का भी मनोमालिन्य दूर हो गया।

कुछ समय तक शान्त रहने और घरेलू धन्धे से निवट जाने के पश्चात्
महाराज ने गरीबदास और हरीसिंह को जिन्होंने कि तंजोर का इलाक़ा अपने कब्जे
में कर लिया था सजा देने के लिए महासिंह और पासरसिंह की अध्यक्षता में सेना
भेजी। गरीबदास तो थोड़ी सी लड़ाई के बाद ही महाराज की शरण में आ गया
पर हरीसिंह ने मांझ के सिख सरदार जस्सासिंह रामगढ़िया, फरमसिंह सहजाद
पुरिया, गुरुवख्शसिंह अम्वाला वाला आदि सरदारों की सहायता लेकर पटियाला
की फ़ौज का मुक़ाविला इस वीरता के साथ किया कि पटियाला के ३००० सैनिकों
के अतिरिक्त वख्शी लखना आदि अफ़सर मारे गए। दीवान नानूमल जख्मी हुआ,
झण्डूसिंह और महासिंह पकड़े गए। महाराज अमरसिंह अपनी सेना की इस
भाँति हानि का समाचार पा अत्यन्त चिन्तित हुए और अपने गए हुए प्रभाव को
पुनः प्राप्त करने के लिए धीरे-धीरे युद्ध की सामग्री जुटाने लगे। राजा गजपतसिंह
जींद, चौ० हमीरसिंह नाभा, भाई धन्नासिंह कैथल, सरदार चौरहटसिंह भदौड़,
सरदार दलेलसिंह मलोद, मियाँ किशनसिंह नाहन, सरदार तारासिंह, राहून वहिन
राजेन्द्र कौर, फगवाड़ा (ये राजा सा० अमरसिंह की वहिन थी जो ३००० फ़ौज
के साथ सहायता को आई थी) आदि अनेकों सरदार और रईस महाराज अमरसिंह
की सहायता को इकट्ठे हो गए। इन सब की सम्मिलित सेना क़रीब ४०००० चालीस
हज़ार के थी। मांझ के सिक्ख सरदारों से छोटी-छोटी कई लड़ाइयाँ हुईं। महाराज
अमरसिंह के साथियों ने कुछ समय के वाद मांझ के सिक्खों को कुछ ले-देकर
हटा दिया। हरीसिंह यह देख करके हक्का-वक्का रह गया और लाचार होकर के
अमरसिंह की शरण में भेंट का घोड़ा लेकर उपस्थित हुआ। महाराज ने उस समय
तो उसे क्षमा कर दिया परन्तु अन्त में उसके कुल इलाक़े को अपने राज्य में मिला
लिया। कारण कि इस वखेड़े में उनके दस लाख रुपये खरच हो चुके थे।

महाराज,ने जहाँ अपनी वीरता और राजनीतिमत्ता से राज्य की वृद्धि की
वहाँ कोष को भी मजबूत कर लिया। उनके खजाने में अटूट धन-राशि थी। पंजाब
की रीति के अनुसार उन्होंने अपने सरदारों से दंड एवं भेंट में भी वहुत सा रुपया
...नकी अपार धन-राशि का पता इस बात से चल जाता है कि वहिन

चन्द्रकौर, साहबकौर की शादियों में १२ लाख रुपये व्यय किए थे। इसके अलावा मांझ के लुटेरे सिक्खों को सन्तुष्ट करने में भी कई लाख रुपये दिए थे। आप में एक अवगुण था कि आप मद्य पान करते थे। अन्तिम दिनों में तो इतनी अधिकता से पीने लगे थे कि जिसके दुष्परिणाम से केवल ३४ वरस की अवस्था में देहावसान हो गया।

महाराज साहबसिंह

आपके बाद आपके बालक पुत्र साहबसिंह राज्य के उत्तराधिकारी हुए। उनकी उम्र इस समय केवल ७ वरस की थी। राज्यारोहण के समय अनेक राजा, जिलेदार और सरदारों ने नजरें भेंट कीं और देहली के बादशाह शाहआलम की ओर से सरोपाव एवं महेन्द्र की उपाधि प्राप्त हुई। दीवान नन्नूमल की देख-रेख में राज्य-कार्य्य चलने लगा। महाराज की नाबालिगी से लाभ उठाने के लिए सरदार महासिंह ने विद्रोह खड़ा कर दिया और मौजा ढूढान पर अपना क़ब्ज़ा कर लिया। सरदार तारासिंह रईस राहूँ भी तारासिंह का छिपे तौर से साथी हो गया। दीवान नन्नूमल ने अपनी बुद्धिमानी से ३ महीने के युद्ध के बाद महासिंह को दबाने में सफलता प्राप्त की। यह विद्रोह दबा ही था कि भटिण्डा के पुराने वारिसों में से बक्सूसिंह की रानी राजू ने विद्रोह करके कोट समेर पर अपना अधिकार कर लिया। दो महीने तक दीवान नन्नूमल उनसे लड़ते रहे और आखिर उस पर दृष्टि रखने के लिए कोट समेर के पास एक कच्ची गढ़ी बना कर अपनी फ़ौज रख दी। दीवान नानूमल को खास महाराज के पारिवारिक लोगों के साथ भी सख्त होना पड़ा। क्योंकि रानी खेमकुँवरि साहिबा के भाइयों ने भी विद्रोह खड़ा कर दिया था और इस विद्रोह में स्वयं रानी खेमकुँवरि का हाथ था। उन्होंने अपने पास का रुपया-जेवर जो लगभग दस लाख के क़रीब था अपनी निजी जागीर मूलेपुर के कार्यकर्त्ता शार्दूलसिंह के पास गुप्त रूप से इसलिए भेज दिया था, क्योंकि वह चाहती थी कि उनका निज का रुपया दीवान नानूमल सरकार में व्यय न करे। इस रुपये को पाकर शार्दूलसिंह की नीयत बिगड़ गई और वह बेईमानी कर बैठा। दीवान नानूमल ने बेईमानी का मजा चखाने के लिए शार्दूलसिंह पर चढ़ाई कर दी। लेकिन शार्दूलसिंह की चालाकी और षड्यन्त्र से दीवान नानूमल को जख्मी होना पड़ा और जब वह उसी दशा में पटियाला लाये गए तो रानी खेमकुँवरि साहिबा ने उनका इलाज कराने के बजाय उसे कैदखाने में पटक दिया और लाला कूमा को उनके स्थान पर ही दीवान बनाया, किन्तु राज्य में बढ़ती हुई बगावत के लिए दबाने में दीवान कूमा असफल रहा। राजेन्द्र साहिबा ने फगवाड़ा से आकर राज्य की बागडोर फिर से नानूमल के हाथ में दे दी। दीवान नानूमल ने विद्रोहियों को दबा कर राज्य में शान्ति स्थापित करने की भरपूर चेष्टा की और इसमें वह बहुत कुछ सफल भी हुआ। १७८७ ई० में अमृतसर के सरदार गुलाबसिंह की लड़की के साथ महाराज साहबसिंह का शुभविवाह बड़ी धूम-धाम के साथ हुआ।

नानूमल दीवान बुद्धिमान, वीर और परिश्रमी व्यक्ति था। पटियाला की हालत को उसने उन दिनों में संभाले रक्खा था, जब कि "घर को घर के चिराग़ से आग लगने वाली थी।" युद्धों में उसके बेटे और अन्य रिश्तेदारों से भी उसे बड़ी मदद मिलती थी। वास्तव में वह ड्यूटी का पाबन्द और नमकहलाल नौकर था। उसे खुशामद और चापलूसी करना न आता था। सारे राज्य का काम उसके हाथ में था। उसे अपनी योग्यता पर थोड़ा सा घमंड हो जाय तो कोई विशेष आश्चर्य की बात नहीं है; कहते हैं वह दरबार में भी हुक्का पीता रहता था और सिख सरदारों के प्रणाम का उत्तर हुक्के की नय से देता था। इस कारण से अथवा उसके बढ़े हुए प्रताप से दरबार के सिख सरदार उससे द्वेष रखते थे। द्वेष की मात्रा शनैः-शनैः यहाँ तक बढ़ गई कि उन लोगों ने महाराज से उसकी झूठी शिकायतें करना आरम्भ किया। महाराज को अभी अल्प वय के कारण संसार का अनुभव ही कितना था। वह सरदार लोगों की बातों में आ गये। एक दो घटना भी नानूमल के पुत्रों की ओर से ऐसी हो गईं जो महाराज को भड़काने के लिए पर्याप्त सिद्ध हुईं। नानूमल के लड़के ने कोई घोड़ा ख़रीदा था। महाराज को भी वह घोड़ा पसन्द आगया। महाराज उसे अपने लिये चाहते थे, लेकिन उस लड़के ने घोड़ा देने से साफ़ इनकार कर दिया। घटना बिल्कुल मामूली थी किन्तु यह भी महाराज के रंज का कारण हो गई। कुछ ही दिन के बाद मरहठे सरदारों का एक दल रानी रवां की मातहती में पंजाब में आ निकला। नानूमल ने बीबी सा० राजेन्द्र से जो कि उन दिनों पटियाला में ही ठहरी हुई थीं, कहा कि आप भटिंडा चले जावें वरना मरहठों को नजराना देने की फिकर करनी पड़ेगी। राजेन्द्र बीबी इस बात से नानूमल से नाराज़ हो गईं। मरहठों के पटियाला की सीमा में आने पर जब नानूमल उनके पास गया तो इधर राजेन्द्र बीबी ने उनके बेटे दत्तामल को इसलिए गिरफ़्तार कर लिया कि कहीं नन्नूमल मरहठों के साथ मिल कर कोई दग़ा न कर बैठे। इससे तनातनी और भी बढ़ गई। नानूमल मरहठों को पटियाला ले ही आया और निकट के गांव में डेरे डाल दिये। मरहठों के कहने से राजेन्द्र बीबी ने दत्तामल को तो छोड़ दिया किन्तु नजराना देने पर काफ़ी चख-चख होती रही। कई महीने बीत गये आख़िर में यह लक्षण दिखाई दिये कि युद्ध की नौबत आयेगी। किन्तु किसी कारण वश मरहठा-दल मथुरा की ओर चल दिया। नानूमल को भी जमानत के तौर पर अपने बेटे दत्तामल को मरहठों के साथ भेजना पड़ा। राजेन्द्र बीबी भी कुछ आदमियों के साथ मरहठों के साथ मथुरा को गईं।

मरहठों के देश से वापिस जाते ही महाराज ने दीवान नानूमल का कुल माल-असबाब, ऊँट, घोड़े जब्त कर लिए और उसके बड़े लड़के नन्दराय को जो जिला बरनाला का तहसीलदार था क़ैद कर लिया और उसके भी कुल माल को जो लाखों का था जब्त कर लिया। इसके बाद महाराज ने नानूमल के रिश्ते-

दारों और मिलने वालों सभी के साथ यही सलूक किया। जब सरहठों के पास से नानूमल पटियाला को लौट रहा था उसे यह कुसमाचार प्राप्त हुए। आखिर वह विवश होकर महाराज के विरुद्ध अन्य जागीरदारों और सिख सरदारों के पास घूम-घूम कर तयारी करने लगा। कुछ ही दिनों के बाद बीबी राजेन्द्र भी मथुरा से लौट आईं। रास्ते में ही नानूमल ने उनसे मिल कर पटियाला की स्थिति और सरदारों की चुगलखोरी का हाल सुनाया। साथ ही उसने बीबी सा० की इतनी खुशामद की कि वह उसके पक्ष में हो गईं। इधर महाराज के भी चापलूस सरदारों ने कान भर दिए। उन्होंने महाराज को बतलाया कि बीबी राजेन्द्र भी अपना दख़ल बनाये रखना चाहती हैं। इसलिए वह फिर से नानूमल को दीवान बनाने पर राजी हो गई हैं। महाराज चुगलों की बातों में ऐसे आये कि वह बीबी राजेन्द्र से उनके हजार कोशिश और इच्छा करने पर भी न मिले। बीबी राजेन्द्र अपने भतीजे की इस कठोरता पर इतनी रंज़ीदा हुईं कि कुछ ही दिनों में इस संसार से चल बसीं। वास्तव में राजेन्द्र बीबी बहादुर, बुद्धिमान और एक आदर्श महिला थीं। उस समय में पंजाब की राजकुमारियों में उनका पहिला स्थान था।

नानूमल ने थोड़े दिनों के बाद मालेर कोटला के रईस अताउल्ला को उभाड़ कर उसे पटियाला के विरुद्ध लड़ाई के लिए तैयार किया। कई छोटी-छोटी लड़ाइयाँ हुईं पर अताउल्लाखाँ को हर बार परास्त होना पड़ा। इसलिए लाचार होकर उसने मैदान छोड़ दिया। नानूमल कुछ दिन के बाद मानसिक कष्ट के कारण इस दुनियाँ से चल बसा और महाराज के खुशामदी सरदारों के घर घी के चिराग़ जलने का अवसर दे गया। नानूमल के देहान्त के बाद महाराज ने दीवान का पद लाला केसरमल को और मीरमुन्शी का ओहदा मुन्शी किशनचन्द को दिया। महाराज के सारे दरबारियों में सैयद इलाहीबख्श उनका सब से बड़ा प्रेम-पात्र था। सिख दरबारियों को यह बात खटकती थी। इसलिए जब कि महाराज पटियाले के बाहर थे सूखासिंह और दयालसिंह नाम के सिखों ने सारे दरबार में इलाहीबख्श को क़त्ल कर डाला। इस फ़िसाद में मुन्शी किशनचन्द भी जख्मी हुए। इस घटना के बाद महाराज स्वयं भयभीत रहने लगे और अपना अधिक समय सैर-सपाटे और शिकार में व्यय करने लगे। कहा जाता है कि उनकी छोटी बहिन साहबकुँवरि बड़ी बुद्धिमती और दूरदर्शी थीं। इसलिए महाराज ने उनको उनकी ससुराल से पटियाला बुला लिया कि समय-समय पर वे उन्हें मदद और सलाह देती रहें। बीबी साहिबा जब पटियाला आ गईं तो महाराज ने उन्हें रियासत का मुख्तारे आम बना दिया। दीवान नानूमल के भतीजे दीवानसिंह को दीवान नियुक्त किया। बीबी साहिबा को पटियाला में आये कुछ ही रोज हुए थे कि उनकी ससुराल से समाचार मिला कि उनके पति सरदार जयमलसिंह को उनके चचेरे भाई सरदार फ़तेहसिंह ने क़ैद कर लिया है। थोड़ी सी फ़ौज लेकर के बीबी साहिबा अपनी ससुराल गईं और अपने पति को जेल से मुक्त कराके तथा वहाँ का सुप्रबन्ध कराके वापिस पटियाला आ गईं।

१७६४ ई० के आरम्भ में महरठों की एक बड़ी भारी सेना लछमनराव और अंटाराव के साथ पंजाब की तरफ लूट-मार करने के लिए आ पहुँची। जींद और कैथल आदि के रईसों ने भेट देकर मरहठों की अधीनता स्वीकार करली लेकिन बीबी साहबकुँवरि को यह बात अपनी मान-मर्यादा के विरुद्ध जान पड़ी और उन्होंने मरहठों से युद्ध की तैयारी करदी। राजगढ़ के मैदान में युद्ध हुआ। क्योंकि मरहठों की सेना अधिक थी इसलिए पटियाले की सेना के पाँव न जम सके। बीबी साहिबा यह देख रथ से नीचे आ गईं और फ़ौज के सामन्तों को सम्बोधन कर कहा—"यदि आप लोग कायर हैं अथवा आपको प्राण प्यारे हैं और मान-मर्यादा का कुछ भी ख़याल नहीं तो आप भाग जा सकते हैं। पर मैं प्राण रहते समरक्षेत्र से हटने वाली नहीं। वीर क्षत्राणियों ने इसी दिन के लिए आपको जना था। आप चाहें तो उनके दूध के लिए लज्जित कर सकते हैं। अपमान की हजार वर्ष की जिन्दगी से मान की एक दिन की जिन्दगी कहीं अधिक अच्छी है। एक स्त्री को जोकि राजघराने, साथ ही आपके परिवार की भी है मैदान में अकेली छोड़कर संसार के सामने मुँह दिखाने की हिम्मत कर सकते हैं तो आप लोग अविलम्ब मैदान छोड़कर भाग जाँय!"

बीबी-साहिबा के उपरोक्त ओजस्वी भाषण ने सेना में और सेनापतियों में मर-मिटने की लगन पैदा कर दी—"न दैन्यं न पलायनम्" के सिद्धान्त के अनुसार उन्होंने मरहठों की सेना पर धावा कर दिया—"हिम्मते मर्दा मददे ख़ुदा" कहावत के अनुसार बीबी-साहिबा की विजय हुई और मरहठे मैदान छोड़कर भाग खड़े हुए!

बीबी-साहिबा जहाँ बुद्धिमान थीं वहाँ बहादुर भी खूब थीं, साथ ही राज्य प्रबन्ध की योग्यता भी रखती थीं। नाहन के राजा धर्मप्रकाश के मरने पर उसका छोटा भाई करमप्रकाश जब राज्य का अधिकारी हुआ तो उसके दरबारियों और कुछ प्रजा के लोगों ने उसके विरुद्ध बग़ावत खड़ी कर दी। लेकिन बीबी-साहिबा ने थोड़ी-सी फ़ौज के साथ नाहन पहुँचकर सारे विद्रोहियों को दबा लिया और राज्य का नये सिरे से ऐसा उत्तम प्रबन्ध कर दिया जिससे प्रसन्न होकर राजा करमप्रकाश ने बीबी-साहिबा को बहुत से उपहार भेट किए। इसके कुछ ही दिन बाद बीबी-साहिबा को जार्ज-टाम्स से लड़ना पड़ा। जार्ज-टाम्स का वृत्तान्त इस तरह बताया जाता है कि—जाति का यह अँग्रेज थाऔर किसी यूरोपियन जहाज पर सन् १७८१ में खल्लासी होकर हिन्दुस्तान में आया था। १७८७ ई० में ये समरू की बेग़म का नौकर होगया। १७६४ ई० में बेग़म ने जब इसे किसी कारण से निकाल दिया तो खांडेराव मरहठे के पास जो कि माधोजी सेंधिया की तरफ़ से झज्झर, दादरी, कानोड़ और नारनोल के हाकिम थे, नौकर होगया। इनकी नौकरियों से खांडेराव इतना प्रसन्न हुआ कि झज्झर का उसे जागीरदार बना दिया। उसने झज्झर के पास अपने नाम पर जार्जगढ़ किला बनाया जो आजकल जहाजगढ़ कहलाता है। खांडेराव के मरने के बाद इसने स्वतन्त्र होकर हांसी और हिसार पर अधिकार

जमा लिया। इसके पास करीब आठ हज़ार सैनिक और ५० तोपें थीं। मरहठे और सिखों की आपसी लड़ाई से फ़ायदा उठाने के लिए इसने सिखों को अपने साथ मिलाना चाहा। सिख भी महत्वाकांक्षी थे। उन दिनों प्रत्येक सिख के हृदय में यह लगन थी कि कुल भारतवर्ष की राज्य-शक्ति उनके हाथों में हो। इस सबब से जार्ज की चाल-बाजियों में वह न आये। इस चाल में विफल होने पर इस चालाक अँगरेज़ ने जींद पर चढ़ाई की। इसका ख़याल था कि शायद अन्य सिख-रियासतें जींद की सहायता न करेंगी परन्तु इसका ख़याल ग़लत निकला और नाभा, पटियाला, कैथल सभी रियासतों ने इसकी फ़ौजों को घेर लिया। पटियाला की ओर से बीबी-साहबकुँवरि मैदान में पधारी थीं और बड़ी बहादुरी और योग्यता के साथ इन्होंने सेना-संचालन किया।

बीबी-साहिबा के सुप्रबन्ध एवं युद्ध-कुशलता से बाहरी झगड़े शांत होगये थे और राज्य में भी पूर्णतः अमन-चैन था। अवसर पा करके खुशामदी मुसाहिबों ने बीबी-साहिबाके ख़िलाफ़ भी महाराज को उसी तरह उभाड़ना शुरू किया जिस तरह दीवान नानू-मल और बीबी राजेन्द्रकुँवरि के विरुद्ध किया था। मुसाहिब लोग चाहते थे कि बीबी साहबकुँवरि का प्रजा तथा दरबारियों पर जो रौब-दौब है वह हट जाना जाहिये, ताकि उन्हें मनमानी करने का अवसर मिले। महाराज साहब की महारानी साहिबा भी अब कुछ अपने को समझने लगी थीं, क्योंकि उनके पुत्र-रत्न हो चुका था और अब युवराज की मां कहलाती थीं। वह अपने से बढ़ करके बीबी सा० के आदर-मान को सहन नहीं कर सकती थीं। महाराज साहबसिंह के चारों तरफ़ से कान भरे जाने लगे। लोगों ने उनसे यह भी कहा कि राजा साहब नाहन ने जो हथिनी दी थी, बीबी साहिबा ने उसे निज की सम्पत्ति बना लिया है। वास्तव में उस पर अधिकार आपका है। सन् १७९५ ई० में बीबी साहिबा ने अपनी जागीर के एक गाँव बहरयान में कच्चा क़िला बना कर उसका नाम 'ऊभा बाल' रख दिया था। इस काम को उनका अनौचित्य तथा अनधिकार चेष्टा कह कर मुसाहिबों ने महाराज को भड़काया। बीबी साहिबा उन दिनों जींद में ठहरी हुई थीं। उनको जब यह पता चला कि उनका भाई साहबसिंह उनकी की हुई सेवाओं तथा बलिदानों की परवाह न करके दुष्ट लोगों की चालों में आ गया है तो उनके हृदय को बहुत कष्ट हुआ और वे भाई से अप्रसन्न होकर सीधी अपनी जागीर को चली गईं। लोगों ने इस बात से भी लाभ उठाया और बतलाया कि बीबी साहिबा आपकी कुछ भी इज़्ज़त और परवाह नहीं करती हैं। बात यहाँ तक बढ़ी कि महाराज ने उनको लिख भेजा कि—क़िला खाली करके अपनी ससुराल को चली जाओ। बीबी साहिबा अपनी ज़िद पर अड़ गईं और क़िला खाली करने से इनकार कर दिया। "तारीख पटियाला" का लेखक तो यहाँ तक लिखता है कि दोनों बहिन-भाइयों में युद्ध भी हुआ और महाराज ने उन्हें धोखे से पटियाला लाकर नज़रबन्द भी कर दिया। लेकिन यह विश्वास योग्य नहीं है, क्योंकि यदि ऐसी बात होती तो बीमारी के दिनों में वे भरियान से

जहाँ कि वह विल्कुल आजाद थीं, पटियाला न आतीं और इस लेखक ने यह भी लिखा है कि महाराज को बीबी साहिवा की मृत्यु से अत्यन्त दुख हुआ। यह बात भी हमारे पक्ष का समर्थन करती है।

जार्ज टामस ने पंजावी रियासतों में पुनः लूट-मार आरम्भ कर दी। नाभा, झींद, कैथल के साथ मिल कर महाराज ने उसको कई स्थानों पर परास्त किया। लेकिन जार्ज जम कर युद्ध नहीं करता था, वह तो सिर्फ लूट करना चाहता था। वह ऐसी चालाकी और सावधानी से लड़ता रहा कि इनको मराठी सेना के जनरल पीरू से सहायता लेनी पड़ी। लड़ाई का कुछ खर्च लेकर चन्द शर्तों के साथ पीरू ने जार्ज टामस के साथ युद्ध छेड़ दिया और कुछ दिन ही की लड़ाई के बाद उसके तमाम इलाक़े पर अधिकार कर लिया। जार्ज टामस ने लड़-भिड़ कर जो इलाक़े पंजावी रियासतों के अपने क़ब्ज़े में कर लिए थे, सेनापति पीरू ने उन स्थानों को उनके असली हक़दारों को वापिस कर दिया।

कुछ दिन वाद महाराज साहवसिंह और रानी आसकुँवरि में पारस्परिक कलह हो गया। इस झगड़े को मिटाने के लिए पंजाव-केसरी महाराज रणजीतसिंह को पटियाला आना पड़ा। महाराज रणजीतसिंह के पटियाला आने में साहवसिंह को भारी घाटा रहा। एक तोप और एक कंठा उन्हें महाराज साहव की भेट करना पड़ा, साथ ही रामपुर गूजरवाल के देहात भी दिये। पटियाले के सिवाय नाभा, झींद और कैथल के रईसों को भी नुक़सान उठाना पड़ा। क्योंकि महाराज ने आते हुए उनसे भी काफ़ी नजराने वसूल किए थे। उनकी इस चाल-ढाल से पंजाव के सभी रईसों के दिल में यह बात बैठ गई कि रणजीतसिंह का ऐसा ही एक और दौरा हुआ तो शायद ही हमारा अस्तित्व वच सके। इसलिए राजा जसवन्तसिंह, राजा भागसिंह, भाई लालसिंह, समाना के स्थान पर महाराज साहवसिंह से मिले और इस बात का विचार विनिमय किया कि महाराज रणजीतसिंह से किस भांति हमारे राज्यों की रक्षा हो सकती है। इन सब की दृष्टि अँग्रेज सरकार की ओर गई। यह ख़ूब जानते थे कि रणजीतसिंह की ही भाँति अंग्रेज भी अपना राज्य लेने में लगे हुए हैं। लेकिन एक अन्तर जो उनकी समझ में आया वह यह था कि रणजीतसिंह हैजा (कॉलरा) और अँग्रेजों को तपेदिक (थाइसिस) समझते थे। साथ ही उन्होंने यह भी सोचा था कि शायद रणजीतसिंह के तूफ़ान से इस समय हमारे राज्य वच जायँ तो भविष्य में अँग्रेजों के साथ परिस्थिति के अनुसार निपट लिया जायगा। अँग्रेजों की ओर से उस समय देहली में मिस्टर इस्टीन साहव रेजीडेण्ट थे। सन् १८०८ ई० में इनके प्रतिनिधि-मण्डल ने देहली जाकर रणजीतसिंह के विरुद्ध अँग्रेजों के साथ सम्बन्ध स्थापित कर लिया। अँग्रेज सरकार की तरफ़ से इनकी हिफ़ाजत के लिए कोई ख़ास वचन नहीं मिला था। इसलिए ये लोग महाराज रणजीतसिंह की सेवा में खुशामद और चापलूसी के लिए अपने प्रतिनिधि भेजते रहे। हमारी निज की राय में इन राजा लोगों ने

रणजीतसिंह के विरुद्ध, अँग्रेज़ों की शरण जाकर अपने आदर्श को ही नहीं गिराया बल्कि एक अक्षम्य अपराध किया था। वीरता इस बात का तक़ाज़ा करती है कि यदि वास्तव में रणजीतसिंह से ये छुटकारा पाना चाहते थे, तो सम्मिलित-शक्ति द्वारा वीरोचित ढंग से उससे मुक्त होते। अथवा स्वयं खप करके यशगति को प्राप्त होते। दूसरे यह भी हो सकता था कि महाराज रणजीतसिंह के साथ में कुछ नफ़ा-नुक़सान उठा कर संधि कर लेते। इन लोगों ने राजपूताने के उन राजाओं से कम पतित-कार्य्य नहीं किया जिन्होंने कि मुग़ल शाहंशाहों से सम्बन्ध स्थापित कर महा-राणा प्रताप, शिवाजी और सूरजमल के साथ मुग़लों के हित के लिए लड़ाइयाँ कीं।

जिस भांति पंजाब के यह राजा, रईस महाराज रणजीतसिंह से भयभीत हो रहे थे और किसी दूसरे का सहारा टटोलते फिरते थे उसी भांति उस समय अँग्रेज़ सरकार भी नेपोलियन वोनापार्ट और रूस के भय से बेचन थी और वह चाहती थी कि हिन्दुस्तान में बने रहने के लिए महाराज रणजीतसिंह उसके मित्र बन जावें। उस समय संसार में तीन ऐसे महा पुरुष थे कि जिनके भय से चारों तरफ़ हलचल मची हुई थी—१ नेपोलियन वोनापार्ट, २ महाराज रणजीतसिंह और ३ जसवन्त राव होल्कर। होल्कर का सितारा ढल चुका था। शेष दो में से एक की सहायता से दूसरे से चतुर अँग्रेज़ निश्चिन्त होना चाहते थे इसीलिए अंग्रेज़ों ने महाराज रणजीतसिंह के पास मि० मेटकाफ़ को मित्रता क़ायम करने के इरादे से भेजा! महाराज रणजीतसिंह ने स्वाभिमानी की भाँति मेटकाफ़ के सामने मित्रता के लिए ३ शर्तें पेश कीं--(१) काबुल और लाहौर में यदि कोई तनाजा हो तो अंग्रेज़ उसमें हस्तक्षेप न करें। (२) अंग्रेज़ सरकार और लाहौर सरकार की दोस्ती सदैव एकसी बनी रहे। (३) सिक्खों के कुल मुल्क के वही बादशाह गिने जायं।

जब इन पंजाबी राजाओं ने देखा कि अंग्रेज़ सरकार स्वयं महाराज रणजीतसिंह से मित्रता करने को उत्सुक है तब इन लोगों की आँखें खुलीं और महाराज रणजीतसिंह के साथ आख़िरकार वही किया जो उन्हें पहिले ही कर लेना चाहिए था। महाराज पटियाला ने जो सन्धि लाहौर दरबार से की वह बिल्कुल सम्मानपूर्ण थी और यदि यही सन्धि कुछ पहिले करली गई होती तो उसका आज अधिक महत्व होता।

अब रियासत पटियाला को किसी प्रकार के बाहरी झगड़ों का डर न रहा था, परन्तु गृह-कलह बराबर चला आ रहा था। यद्यपि रानी आसकौर साहिबा को मय उनके सुपुत्र युवराज करमसिंह के जागीर देकर अलग कर दिया था मगर उनको (रानी साहिबा को) यही ख़याल था कि किसी प्रकार राज्य-कार्य में उनका हाथ रहे। एक घटना और भी हुई कि फूलासिंह नाम के अकाली ने कप्तान बायद पर हमला कर दिया जो कि अंग्रेज़ सरकार की ओर से

सरहद की पैमायश के वास्ते नियत हुआ था। जनता ने फूलासिंह के इस कार्य को वीरता का काम समझा। इसलिए उसकी मदद के लिए १००० आदमी इकट्ठे हो गए। उन्होंने वायट साहब के ६ आदमियों को जान से मार दिया और १६ को घायल कर दिया। महाराज साहबसिंह ने जब यह समाचार सुना तो अपनी सेना भेज कर फूलासिंह को पकड़ लाने का हुक्म दिया। लेकिन फूलासिंह मय अपने साथियों को लेकर पटियाला की सरहद से बाहर हो गया और अमरसर की ओर चला गया। महाराज की इस कारगुजारी से अंग्रेज सरकार बहुत खुश हुई और उनकी उपाधि में "अधिराज राजेश्वर" का पद और बढ़ा दिया।

महाराज साहबसिंह में उन गुणों की कमी थी जो किसी योग्य शासक में होने चाहियें। उनको हर कोई भुलावे में डाल सकता था—यही कारण था कि उन्होंने राज्य का अधिकांश भाग खुशामदी लोगों को जागीर में दे डाला। खजाना भी खाली हो चुका था। आमदनी के जरिये नष्ट हो चुके थे। दिनों-दिन हालत बिगड़ती जा रही थी। राज्य की भलाई की दृष्टि से महाराज नाभा और झींद ने एजेण्ट अक्टरलोनी साहब से रियासत के कारबार को रानी आसकुँवरि के सुपुर्द करने की सलाह दी। शर्तों के अनुसार अंग्रेज सरकार पटियाला के भीतरी मामलों में हस्तक्षेप न कर सकती थी। इसलिए अक्टरलोनी ने सिर्फ सलाह के तौर पर महाराज साहबसिंह से रानी आसकुँवरि को राज्य प्रबन्ध सौंप देने की सम्मति प्रगट की और साथ ही यह भी कह दिया कि यह आपकी मर्जी पर निर्भर है। गवर्नमेण्ट किसी तरह का हस्तक्षेप नहीं कर सकती। महाराज की आन्तरिक अभिलाषा तो यह थी कि उनकी सौतेली माँ खेमकुँवरि साहिबा राज्य का प्रबन्ध करें परन्तु उन्होंने सोच समझ कर एजेण्ट महोदय की राय को स्वीकार किया। नये प्रबन्ध के अनुसार मिश्र नोधाराय, दीवान गुरदयाल, सरदार अलबेल महारानी सा० के सलाहकार और सहकारी नियुक्त हुए। एक वर्ष तक तो कार्य ऐसे ही चलता रहा लेकिन एजेण्ट साहब को यह पता लग चुका था कि महाराज भीतरी ढंग से महारानी साहिबा के प्रबन्ध में बाधा पहुँचाते हैं। इसलिए ६ अप्रेल सन् १८१२ ई० को उन्होंने पटियाला जाकर रानी सा० को कानूनन राज्य का मालिक बना दिया। चूंकि गवर्नमेण्ट ने पटियाले की परिस्थिति देखकर ऐसा हुक्म दे दिया था महारानी ने इस खूबी के साथ शासन-भार को संभाला कि एक ही वर्ष के अन्दर खजाने में १ लाख रुपया इकट्ठा हो गया और ३ हजार के करीब सेना पटियाले में रहने लगी। महारानी साहिबा के सुप्रबन्ध और शासन-योग्यता से स्वार्थी दरबारी मन ही मन कुढ़ने लगे। अलबेलसिंह खुद भी उनसे इसलिए नाराज़ हो गया कि महारानी ने उसकी जागीर पर ७००० रुपये साल की रक़म बाँध दी थी। अब महाराज को इन लोगों ने यह कहकर भड़काया कि अब कुछ दिनों में महारानी सा० आपको नजरबन्द कर लेंगी। महाराज ने इन लोगों की बातों में आकर महारानी सा०, युवराज और नोदाराय मिश्र को नजरबन्द कर

लिया। लेकिन कुछ ही दिन के बाद में उनको विवश होकर के राज्य-प्रबन्ध में असफल होने के कारण रानी साहिबा को मुक्त करना पड़ा। कुछ दिनों में नौबत यहाँ तक पहुँची कि अँग्रेज़ सरकार को भीतरी मामलों में हस्तक्षेप करना पड़ा और महाराज के लिए एक लाख रुपये की ज़ागीर देकर राज्य से अलग कर दिया और रानी सा० को परामर्श दिया गया कि खास जरूरत के समय में राज्य की चौथाई आमदनी महाराज के खर्च के लिए देदी जाय। महाराज को शराब पीने की आदत भी थी। फ़िजूलखर्ची तो पहिले ही से थे। इन कारणों से महाराज बीमार पड़ गए और मार्च सन् १८१३ ई० में इस संसार से विदा हो गए!

महाराज साहबसिंह की कमज़ोरियों से पटियाला की उन्नति तो रुक ही गई साथ ही राज्य की जड़ भी हिल गई। अगर रानी साहिबा ने कुशलता पूर्वक राज्य-कार्य न सँभाला होता तो इसमें सन्देह नहीं कि पटियाला स्टेट एक छोटी सी ज़ागीर के रूप में होती। स्वार्थी लोग रियासतों को किस प्रकार कर देते हैं यह इससे जाना जा सकता है जिन्होंने जिस राज्य से अपने को बनाया उन्हीं ने फिर राज्य के लिए कलह की आग तैयार की। फल स्वरूप महाराज को राज्य छोड़ एक जागीर का अधिपति होना पड़ा। नशेबाजी का परिणाम भी कैसा होता है महाराज साहब के जीवन से जाना जा सकता है कि जिसके कारण उनकी स्मरण शक्ति कितनी कम-ज़ोर हो गई थी कि रानी साहिबा को पृथक् तक कर दिया और जिधर मतलबी लोग कहते चलने लगते। विश्वसनीय व्यक्तियों द्वारा रानी साहिबा के पुनः नियुक्त होने पर भी नज़रकैद कर लिया। नशेबाजी उनकी मृत्यु होने में भी एक प्रधान कारण थी।

महाराज करमसिंह

सन् १८१३ की ३० जून को १५ वर्ष की अवस्था में महाराज करमसिंह बड़ी धूमधाम से गद्दी पर बैठे। सरदार लोगों ने भेंट वग़ैरह की रस्म अदा की। ऐसा मालूम होता था कि पहिले अधिकारियों का और रानी आसकौर का अख्तियार न रहेगा जिससे रियासत में गड़बड़ मच जायगी। अँग्रेज़ सरकार ने भी अपना सम्बन्ध त्याग दिया था परन्तु किसी प्रकार राज्य में बखेड़ा न हुआ और राज-कार्य्य पूर्ववत् होता रहा। गोरखों से अँग्रेज़ों की लड़ाई होने पर राज्य से भी सहायता दी गई। कुछ समय तक रियासत का काम महारानी आसकौर और मिश्र नोदाराय करते रहे और इस बीच में चड़तसिंह जागीरदार के आन्दोलनकारी होने से परगना खामानून का भाग भी अँग्रेज़ी सरकार ने ज़ब्त करके रियासत में मिला दिया। यह घटना सन् १८१५ ई० १६ मई की है। क्योंकि महाराज करमसिंह बालिग हो गए थे, इसलिए वे, रानी आसकौर और मिश्र नोदाराय से अधिकार छीनने की कोशिश करने लगे। मिश्र नोदाराय के साथ ऐसा बर्ताव किया गया कि जिससे उन्हें ऐसा मालूम हो गया कि अब रियासत में रहना असम्भव है। मिश्र नोदाराय ज्वालामुखी

लौट रहे थे कि रास्ते में ही वे मार डाले गए। मिश्र नोदाराय बड़े राज्य-भक्त थे और उनके रहते राज्य की बड़ी उन्नति हुई थी।

अब करमसिंह महारानी आसकौर का भी रियासत से हस्तक्षेप हटाना चाहते थे। अतः उन्होंने कप्तान जार्ज ब्रज असिस्टेण्ट एजेंट को पटियाला बुलाकर यह ऐलान करा दिया कि रियासत का कुल अधिकार महाराज को है इसलिए प्रजा को महाराज की आज्ञा शिरोधार्य्य करनी चाहिए और इसके विरुद्ध कोई कार्य्यवाही होगी तो महाराज उसको कड़ा दण्ड देंगे। महारानी आसकौर को भी आज्ञा हुई कि वे अपनी जागीर क़स्बा सनोर में रहें। पर करमसिंह तो कुछ मुसाहिबों द्वारा भरा हुआ था तब तो अपनी माता आसकौर से बड़ी सख्ती से पेश आ ही रहा था। चूंकि रानी साहिबा कप्तान जार्ज ब्रज की राय से रत्नागार को जिसकी कि क़ीमत पचास लाख बताई जाती है सुरक्षित रखने के लिए अपने साथ जागीर में ले गई थीं। इसी से महाराज करमसिंह की ओर से फिर झगड़ा उठाया गया और रानी आसकौर की जागीर घटाने तथा रत्नागार लौटाने का सवाल उठाया। इसकी बृटिश गवर्नमेंट तक सिफ़ारिश की गई और सरकार की ओर से कप्तान मरे साहब इसके फ़ैसले के लिए नियुक्त किए गए। कप्तान मरे साहब ने पहुँच कर रानी साहिबा को समझाया कि आप पटियाला चल कर रहें और वहाँ ५००००) हजार रुपया सालाना ख़र्च करने के लिए ले लिया करें। परन्तु महारानी ने इसका जवाब दिया कि अगर इस तौर जागीर छोड़ने का सवाल उठाया गया तो मैं गंगाजी के किनारे जा बैठूँगी। इसके लिए मैं अपने पुत्र करमसिंह से कुछ नहीं चाहूँगी। महारानी को बहुत समझाया गया पर उन्होंने एक न मानी। लाचार रानी आसकौर को सनोर की ५०००) हज़ार की जागीर पर ही राजी कर लिया गया और वे वहीं रहने लगी। पर महाराज करमसिंह के जब महाराज नरेन्द्रसिंह पैदा हुए तब से वे पटियाला आकर ही रहने लगीं।

महाराज करमसिंह के भाई अजीतसिंह को भी कुछ लोगों ने उभाड़ा और उन को रियासत का आधा भाग दिलाने की लालसा दिलाकर दावा करा दिया। बहुत दिनों तक यह रगड़ा चलता रहा पर यह अन-होनी बात रियासत के क़ानून के मुताबिक़ कैसे हो सकती थी कि अजीतसिंह को रियासत का आधा भाग मिल जाता। क्योंकि इस तरह राज्य के टुकड़े-टुकड़े कुछ ही समय में हो जाते हैं। अतः अजीतसिंह जब कुछ समझने भी लग गया और उभाड़ने वालों का असर भी जाता रहा तथा कई दिनों तक देहली पड़े रहने पर भी कुछ न हुआ तो अपने भाई से सन्धि करली और ये पटियाला आकर ही रहने लगे। अजीतसिंह के लिए १५०००) की जागीर और ३ हज़ार रुपये हाथ खर्च प्रतिवर्ष का प्रबन्ध किया गया और महाराज करमसिंह ने ही बड़ी धूमधाम से विवाह किया।

इन झगड़ों से निपट कर महाराज करमसिंह ने राज्य-प्रबन्ध की ओर ध्यान

]

क़ायम हुआ था आवश्यक समझकर ही किया गया था। क्योंकि उस
य के चारों ओर उपद्रव हुआ करते थे इसलिए तहसीलदारों तक को
और दीवानी दोनों मामलों के निबटारे का पूरा अधिकार था। कोई
मुक़द्दमा दीवान तक पहुँचता था। इसी तरह छोटे-छोटे थानेदारों को भी
अधिकार थे जिसके कारण प्रजा में खल-बली मच गई थी। रियासत के
र्च, लगान के प्रबन्ध का भी ऐसा ही हाल था। नौकरों को वेतन के
गीर देने का अधिक रिवाज़ था। सेना की क़वाइद, हथियार-तोप आदि
ज़माने के ही आधार पर थीं। मुक़द्दमों के फैसले प्रान्तीय हाक़िम जबानी
थे जिससे घूँस का बाजार भी अधिक गर्म था। प्रान्तीय हाक़िम
बहुत कम रखते थे परन्तु पूरे सैनिकों का वेतन हड़प जाते थे। जब कोई
सर उनके यहाँ पहुँच जाता तो सिपाहियों के काम पर जाने का बहाना
टरका देते थे। इन तमाम कमियों को महाराज करमसिंह ने समझ लिया
होंने इसका प्रबन्ध करने में पूरी चेष्टा की।

ये प्रबन्ध के मुताबिक़ चार पदाधिकारी अलग-अलग कामों की देख-भाल
ले के लिए नियुक्त हुए। इन्हें हुक्म था कि तमाम बड़े-बड़े मुक़द्दमे महाराज
र्श से तय किए जायँ। नौकरों को जागीर के बजाय वेतन दिया जाय।
ास सरदारों की जागीरें क़ायम रहें। फ़ौजों और सिपाहियों का भी नये ढंग
ाम हुआ। एक-एक हज़ार सैनिकों की कई टुकड़ियाँ बनाई गईं और
त प्रचलित फ्रान्सीसी क़वाइद आरम्भ की गई। रुपया बाक़ायदा सीधा ख़जाने
और ख़र्च की रसीदें कट कर जाने का इन्तजाम किया। इस तरह महाराज
ह ने कई नवीन इन्तज़ाम करके शान्ति स्थापित की।

प्रजा से कर और लगान लेने में भी नया इन्तजाम हुआ। अच्छी-बुरी ज़मीन
ाफ़िक़ लगान क़ायम किया गया। जिससे तमाम ज़मीन में खेती की जाने
महाराज करमसिंह ने पुराने क़िलों, मकानों की भी मरम्मत करवाई।
ा का क़िला और अन्य कई नई-नई इमारतें बनवाई गईं। भरतपुर के
ुद्ध के समय रियासत से २० लाख रुपया अँगरेज़ सरकार को दिया, जिसका
देने के अतिरिक्त सरकार ने मित्रता का भाव भी प्रगट किया।

रियासत कैथल, नाभा, झींद आदि के पास आपसी झगड़े चलते रहते थे,
कारण कभी-कभी युद्ध के ठनने की भी नौबत आ जाती थी। महाराज
सिंह के राज्य-काल में इन चारों स्थानों के शासकों ने विक्रम सम्वत् १८६०
सुदी १३ को सन्धि कर ली। यह सन्धि ढूढान नामक स्थान पर हुई। इस
के मुआफ़िक सन् १८०८ से जिस रियासत की जहाँ तक सरहद थी, वहीं
ायम हुई और किसी रियासत का क़र्ज़दार, बाक़ीदार अगर दूसरी रियासत
चे तो उसे फ़ौरन उस रियासत को सौंप दिया जाय, या उससे नियमानुसार

की रक़म दिला दी जावे और किसी रियासत का आदमी दूसरी
री वग़ैरः द्वारा माल ले आवे तो उचित सज़ा दी जावे और सीमाओं
ाड़े न खड़े किये जायँ। अगर किसी कर्मचारी द्वारा ऐसा हो तो उसे
ाय। इसी तरह की और भी कई एक आवश्यक शर्तों पर नाभा,
ौर पटियाला के शासकों ने हस्ताक्षर कर दिये, परन्तु इन शर्तों के
ढिलाई से काम लिया गया। फल स्वरूप कैथल और पटियाले
भी हो गई और एजेण्ट गवर्नर जनरल अम्बाला ने बीच-बचाव
करवाया।

ाज करमसिंह अच्छी बातों से घृणा नहीं करते थे। उस समय
ा बुरा समझा जाता था, परन्तु लिखा-पढ़ी का सभी काम उस
ी में होता था, इसलिए महाराज ने अपने पुत्र नरेन्द्रसिंह को
ने का प्रबन्ध किया। चूँकि इनकी माता के रहते पटियाले में ही
ना मुश्किल था क्योंकि पुराने विचारों के कारण वे इसका विरोध
लिए नरेन्द्रसिंह के पढ़ने का इन्तज़ाम बहादुरगढ़ में किया और जब
कुँवरि का फागुन वदी एकम विक्रम सम्वत् १८६१ में स्वर्गवास हो
ारणरूप से पटियाले में पढ़वाने लगे।

ंजी सरकार ने जब रियासत झींद के शासक के मर जाने पर देखा कि
रानियाँ और कई रिश्तेदार-कुटुम्बी राज्य के पाने का दावा करते हैं
ी हक़दार का पता ही नहीं चलता, इसलिए उसने सन् १८३७ ई० दस
ा यह क़ानून इश्तिहार किया कि—"नाभा, पटियाला, झींद और कैथल
र्म-शास्त्र की रू से जो कुटुम्बी समीप हो वह कुल जायदाद का मालिक
ा और स्त्रियों को कोई हक़ न दिया जाया करेगा।"

ाराज बृटिश सरकार के प्रति अपनी भक्ति समय-समय पर प्रगट करते
ासत से अफ़ग़ानिस्तान के युद्ध में २५०००००) करज़े के बतौर दिए गए।
अंग्रेज़ सरकार से हुई प्रथम सिक्खों की लड़ाई में महाराज ने दो
वार, दो हज़ार पैदल और बहुत से लड़ाई के सामान रसद के साथ ६
भी दी थीं। महाराज स्वयं युद्ध में सम्मिलित होते परन्तु बीमार होने के
जा सके। पंजाब-युद्ध के समाप्त होने पर सरकार ने इन्हें शिमले के आस-
सोलह परगने दिये।

ेईसवीं दिसम्बर सन् १८४५ ई० को महाराज रोग-ग्रसित हो परलोक
। महाराज करमसिंह बड़े बुद्धिमान शासक थे। इन्होंने नये विधान बना
य का बड़ा उत्तम प्रबन्ध किया। पटियाला खान्दान के यह पहिले राजा
ने पहिली बार गवर्नर जनरल से भेंटी की। राज्य में शान्ति रखने के लिए
ा ने बड़ी दूरन्देशी से काम लिया। अपनी प्रजा-मात्र को—क्या हिन्दू क्या

यह प्रबन्ध क़ायम हुआ था आवश्यक समझकर ही किया गया था। क्योंकि उस समय राज्य के चारों ओर उपद्रव हुआ करते थे इसलिए तहसीलदारों तक को फ़ौज़दारी और दीवानी दोनों मामलों के निवटारे का पूरा अधिकार था। कोई विरला ही मुक़द्दमा दीवान तक पहुँचता था। इसी तरह छोटे-छोटे थानेदारों को भी वहुत से अधिकार थे जिसके कारण प्रजा में खल-वली मच गई थी। रियासत के आमद-खरच, लगान के प्रवन्ध का भी ऐसा ही हाल था। नौकरों को वेतन के वदले जागीर देने का अधिक रिवाज़ था। सेना की क़वाइद, हथियार-तोप आदि भी पुराने जमाने के ही आधार पर थीं। मुक़दमों के फ़ैसले प्रान्तीय हाक़िम जवानी ही करते थे जिससे घूँस का वाजार भी अधिक गर्म था। प्रान्तीय हाक़िम सिपाही वहुत कम रखते थे परन्तु पूरे सैनिकों का वेतन हड़प जाते थे। जव कोई वड़ा अफ़सर उनके यहाँ पहुँच जाता तो सिपाहियों के काम पर जाने का वहाना वनाकर टरका देते थे। इन तमाम कमियों को महाराज करमसिंह ने समझ लिया और उन्होंने इसका प्रवन्ध करने में पूरी चेष्टा की।

नये प्रवन्ध के मुताविक़ चार पदाधिकारी अलग-अलग कामों की देख-भाल एवं फ़ैसले के लिए नियुक्त हुए। इन्हें हुक्म था कि तमाम वड़े-वड़े मुक़दमे महाराज के परामर्श से तय किए जायँ। नौकरों को जागीर के वजाय वेतन दिया जाय। ख़ास-ख़ास सरदारों की जागीरें क़ायम रहें। फ़ौजों और सिपाहियों का भी नये ढंग से इन्तज़ाम हुआ। एक-एक हज़ार सैनिकों की कई टुकड़ियाँ वनाई गई और तत्कालीन प्रचलित फ्रान्सीसी क़वाइद आरम्भ की गई। रुपया वाक़ायदा सीधा खज़ाने में आने और ख़र्च की रसीदें कट कर जाने का इन्तजाम किया। इस तरह महाराज करमसिंह ने कई नवीन इन्तज़ाम करके शान्ति स्थापित की।

प्रजा से कर और लगान लेने में भी नया इन्तज़ाम हुआ। अच्छी-वुरी ज़मीन के मुआफ़िक़ लगान क़ायम किया गया। जिससे तमाम ज़मीन में खेती की जाने लगी। महाराज करमसिंह ने पुराने क़िलों, मकानों की भी मरम्मत करवाई। पटियाला का क़िला और अन्य कई नई-नई इमारतें वनवाई गई। भरतपुर के दूसरे युद्ध के समय रियासत से २० लाख रुपया अँगरेज़ सरकार को दिया, जिसका व्याज देने के अतिरिक्त सरकार ने मित्रता का भाव भी प्रगट किया।

रियासत कैथल, नाभा, झींद आदि के पास आपसी झगड़े चलते रहते थे, जिसके कारण कभी-कभी युद्ध के ठनने की भी नौवत आ जाती थी। महाराज करमसिंह के राज्य-काल में इन चारों स्थानों के शासकों ने विक्रम सम्वत् १८९० ज्येष्ठ सुदी १३ को सन्धि कर ली। यह सन्धि ढूढान नामक स्थान पर हुई। इस सन्धि के मुआफ़िक सन् १८०८ से जिस रियासत की जहाँ तक सरहद थी, वहीं तक क़ायम हुई और किसी रियासत का क़र्ज़दार, वाक़ीदार अगर दूसरी रियासत में पहुँचे तो उसे फ़ौरन उस रियासत को सौंप दिया जाय, या उससे नियमानुसार

बाक़ी और क़र्ज़ की रक़म दिला दी जावे और किसी रियासत का आदमी दूसरी रियासत से चोरी वग़ैरः द्वारा माल ले आवे तो उचित सज़ा दी जावे और सीमाओं पर फ़िज़ूल झगड़े न खड़े किये जायँ। अगर किसी कर्मचारी द्वारा ऐसा हो तो उसे पूरी सज़ा दी जाय। इसी तरह की और भी कई एक आवश्यक शर्तों पर नाभा, कैथल, झींद और पटियाला के शासकों ने हस्ताक्षर कर दिये, परन्तु इन शर्तों के मानने में कुछ ढिलाई से काम लिया गया। फल स्वरूप कैथल और पटियाले के बीच लड़ाई भी हो गई और एजेण्ट गवर्नर जनरल अम्बाला ने बीच-बचाव करके शान्त करवाया।

महाराज करमसिंह अच्छी बातों से घृणा नहीं करते थे। उस समय फ़ारसी पढ़ाना बुरा समझा जाता था, परन्तु लिखा-पढ़ी का सभी काम उस समय फ़ारसी में होता था, इसलिए महाराज ने अपने पुत्र नरेन्द्रसिंह को फ़ारसी पढ़ाने का प्रबन्ध किया। चूँकि इनकी माता के रहते पटियाले में ही फ़ारसी पढ़ाना मुश्किल था क्योंकि पुराने विचारों के कारण वे इसका विरोध करतीं। इसलिए नरेन्द्रसिंह के पढ़ने का इन्तजाम बहादुरगढ़ में किया और जब रानी आसकुँवरि का फागुन बदी एकम विक्रम सम्वत् १८६१ में स्वर्गवास हो गया तब प्रकाश्यरूप से पटियाले में पढ़वाने लगे।

अंग्रेज़ी सरकार ने जब रियासत झींद के शासक के मर जाने पर देखा कि उनकी कई रानियाँ और कई रिश्तेदार-कुटुम्बी राज्य के पाने का दावा करते हैं और असली हक़दार का पता ही नहीं चलता, इसलिए उसने सन् १८३७ ई० दस जनवरी को यह क़ानून इश्तिहार किया कि—"नाभा, पटियाला, झींद और कैथल के वास्ते धर्म-शास्त्र की रू से जो कुटुम्बी समीप हो वह कुल जायदाद का मालिक हुआ करेगा और स्त्रियों को कोई हक़ न दिया जाया करेगा।"

महाराज बृटिश सरकार के प्रति अपनी भक्ति समय-समय पर प्रगट करते रहे। रियासत से अफ़ग़ानिस्तान के युद्ध में २५०००००) करज़े के बतौर दिए गए। पंजाब की अंग्रेज़ सरकार से हुई प्रथम सिक्खों की लड़ाई में महाराज ने दो हज़ार सवार, दो हज़ार पैदल और बहुत से लड़ाई के सामान रसद के साथ ६ बड़ी तोपें भी दी थीं। महाराज स्वयं युद्ध में सम्मिलित होते परन्तु बीमार होने के कारण न जा सके। पंजाब-युद्ध के समाप्त होने पर सरकार ने इन्हें शिमले के आस-पास के सोलह परगने दिये।

तेईसवीं दिसम्बर सन् १८४५ ई० को महाराज रोग-ग्रसित हो परलोक सिधारे। महाराज करमसिंह बड़े बुद्धिमान शासक थे। इन्होंने नये विधान बना कर राज्य का बड़ा उत्तम प्रबन्ध किया। पटियाला ख़ान्दान के यह पहिले राजा थे जिसने पहिली बार गवर्नर जनरल से भेंटी की। राज्य में शान्ति रखने के लिए महाराज ने बड़ी दूरन्देशी से काम लिया। अपनी प्रजा-मात्र को—क्या हिन्दू क्या

ईसोई सब को एक निगाह से देखते थे। बहादुरगढ़ का क़िला भी इन्हीं ने बनाया था। महाराज की सर्वप्रियता इसीसे प्रगट हो जाती है कि उनका कोई शत्रु न था।

महाराज नरेन्द्रसिंह

सन् १६४६ ई० १८ जनवरी को २१ वर्ष की अवस्था में महाराज नरेन्द्रसिंह अपने पिता की गद्दी के अधिकारी हुए। उक्त अवसर पर जिस तरह की रिवाज़ होती हैं सभी हुईं। रियासत के ओहदे के अनुसार १०१ अशर्फ़ी जो गवर्नर जनरल को महाराज की ओर से दी जाती थीं, महाराज नरेन्द्रसिंह के लिए गवर्नर जनरल की ओर से क्षमा करदी गईं।

उस समय पंजाब में अँगरेज़ों के प्रति अत्यन्त असन्तोष फैला हुआ था। पर सिक्ख सरदार सभी अँगरेज़ सरकार की ओर थे। सरदार लोगों का भी अपनी पलटनों पर विश्वास न था। पर महाराज करमसिंह बड़े अग्र-सोची थे। उन्होंने ऐसे अधिकारियों को भरती किया था कि जिससे नरेन्द्रसिंह को अधिक कष्ट न उठाना पड़ा। फिर भी कुछ सैनिकों ने बग़ावत करने वालों का कुछ साथ दिया, पर वे बड़ी होशियारी से दबा दिए गए। उस समय रियासत से पूरी सहायता की गई थी। अँगरेज़ सरकार को सन्देह हुआ कि अवश्य ही इस विद्रोह में सरदारों का भी कुछ हाथ अवश्य है। इसलिए नाभा, पटियाला, झींद फरीदकोट, कलसिया, रायकोट, दयालगढ़ और ममदूट रियासतों को छोड़ सब सरदारों से फ़ौजदारी और पुलिस के हथियार छीन लिए और राहदारी का महसूल उठवा दिया गया और नाभा को छोड़ कर इन रियासतों के लिए भी यही तय हुआ कि महसूल राहदारी छोड़ दिया जावे। उसके लिए उन्हें कुछ मिलेगा अवश्य और नाभा शहर के सिवा नाभा स्टेट में भी महसूल राहदारी हटा दिया जावे।

जब पटियाला के शासक महाराज नरेन्द्रसिंह को पता लगा कि अँगरेज़ सरकार का यह निश्चय हुआ है तो उन्होंने यह रक़म जो कि ६०००) प्रति वर्ष आय की थी एकदम छोड़ दिया और गवर्नर जनरल को लिखा—क्योंकि गवर्नमेण्ट की यह इच्छा है कि देश में आमतौर से महसूल न रहे और यह इच्छा प्रजा के फ़ायदेमन्द है इसलिए हम कुछ भी न लेकर यह महसूल माफ़ करते हैं। यह जान कर गवर्नर जनरल को अत्यन्त प्रसन्नता हुई और बतौर मुआवज़े के दस हज़ार रुपए का इलाक़ा अनुरोध पूर्वक दिया। तोपों की सलामी निश्चित करार दी। इस समय सरकार हर एक सरदार के अधिकार संकचित कर देना चाहती थी क्योंकि भय था कि कहीं विद्रोहियों में सम्मिलित न हों। इसलिए महाराज को भी एक सूचना दी गई जिसके अनुसार उनकी स्वतन्त्रता और अधिकारों में कमी आ गई।

इस नवीन सन्धि अथवा परामर्श से नरेन्द्रसिंह सहमत हो गए क्योंकि उन्हें भय था कि कहीं मुझ पर कृपा (!) दृष्टि न हो जाय। क्योंकि उस समय

कई सरदारों के उदाहरण उनके सामने थे। सन् १८४७ ई० में जब पंजाब में फिर झगड़ा हुआ और सिखों के दल के दल इकट्ठे होकर अँगरेज़ों से लड़ने के लिए तैयारी करने लगे उस समय इसी रियासत से तीन लाख रुपया दिया गया था। इस प्रकार अँगरेज़ी सरकार से दोस्ती ज़ाहिर की जिससे सरकार अँगरेज़ को विश्वास हो गया कि यह रियासत सरकार की ख़ैरख़्वाह है।

सन् १८५० ई० में महामाया ज्वालामुखी के दर्शन करने गए और वहाँ पचास लाख के करीब चढ़ावा चढ़ाया। इससे जाना जाता है कि नरेन्द्रकुमारसिंह कितना मातृभक्त था। क्योंकि हिन्दू पुराणों की आज्ञानुसार ज्वालामुखी शक्ति है, देवि है और इस बात का पता भी चल जाता है कि कितने धर्मानुयायी थे कि जिसके सबब शक्तिपूजा करने गए।

जब पंजाब के छोटे-छोटे सरदारों को सरकार ने बेअख्तियार कर दिया—उनके अधिकार छीन लिये तब रियासत के चहारमी लोगों ने आन्दोलन शुरू कर दिया। उनको इसके लिए सरकार अँग्रेज़ी की ओर से सहारा मिला। चतुर्थांश के भागी तो रियासत की ओर से इन लोगों को समझा जाता था और बाकी तीन भाग रियासत के माने जाते थे। पर इनकी तरफ से इसका अर्थ यों था कि चतुर्थांश तो रियासत का और तीन हिस्से हमारे रहें। इन लोगों ने रियासत के मातहत रहने से इन्कार कर दिया। सरकार अँगरेज़ तो उस समय अपनी सीमा के बढ़ाने की ओर अग्रसर बैठी ही थी। चट से कर्नल मेकन साहब एजेण्ट गवर्नर जनरल और कमिश्नर अम्बाला ने गवर्नमेण्ट को रिपोर्ट करदी कि इनका रियासत पटियाला से कुछ सम्बन्ध नहीं। अगर यह सम्बन्ध-विच्छेद चाहें तो इन्हें रियासत से अलग कर दिया जाय। फलस्वरूप कई कारणों को दिखाते हुए इनको सरकार अँगरेज़ी ने अधीनस्थ कर लिया और इनकी ओर से भी किसी प्रकार अड़चन न डाली गई और इन्होंने रियासत से सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया।

अप्रेल सन् १८५२ में महाराज ने बाई बसन्तकौर का विवाह राजा धौलपुर के कुँवरसाहब के साथ बड़ी धूमधाम से किया जिसमें लाखों रुपये व्यय किये गए। अंग्रेज़ सरकार की ओर से भी इसमें ५०००) रुपया दहेज में दिया गया था। ११ मई १८५२ में विवाह करने के बाद महाराज गङ्गा-स्नान को गये। हरिद्वार से गङ्गा-स्नान के पश्चात् हृषीकेश और बद्रीनरायण के दर्शन को प्रस्थान किया। इस यात्रा में ६४०००) रुपया दान वग़ैरह में व्यय हुआ और बद्रीनरायण पर एक हजार रुपया सदाबरत का निश्चय किया। इसी वर्ष सितम्बर की १६ वीं तारीख को कुँवर महेन्द्रसिंह का जन्म हुआ। क्योंकि महाराज के सन्तान पैदा होकर जिन्दा न रहती थी इसलिए इस ख़ुशी के समाचार को गुप्त रक्खा गया। पर आख़िर कितने समय तक छुपा रह सकता। १४ जनवरी सन् १८५३ में राजकुमार के पैदा होने का समाचार सुनाया गया जिससे रियासत भर में ख़ुशी के जलसे मनाए गए।

झींद रियासत के पैमायश पर सन् १८५४ के आरम्भ में एक गाँव पलट गया। कुँवरसेन तहसीलदार को मार कर गाँव के लोगों ने काग़ज़ात नष्ट कर दिए और वे गिरोह बना कर रियासत से वग़ावत करने को तुल गए। झींद के शासक के महाराज द्वारा सहायता माँगने पर महाराज ने दो पलटन, दो हज़ार सवार और चार भारी तोपों के साथ चौधरी इमामबख़्श को सहायता के लिए भेजा परन्तु अंग्रेज़ सरकार की ओर से आज्ञा हुई कि—हद से बाहर न जावें। पर बारनश कमिश्नर साहब की स्कीम फेल हुई और फिर चीफ़ कमिश्नर पंजाब सर जान लारेंस की ओर से महाराज साहब को दंगा शान्त करने की तजवीज करने को लिखा गया। रियासत की फ़ौज ने गाँव में पहुँच कुछ लड़ाई के पश्चात् शान्ति स्थापित की। बाग़ी गाँव छोड़ कर भाग गए और १७ मरे तथा ८० घायल हुए।

विलायत की राजनैतिक समृद्धि को देखने के लिए महाराज ने लन्दन यात्रा का विचार किया और २८ अगस्त सन् १८५४ ईस्वी को प्रस्थान किया। रास्ते में काशी-दर्शन की इच्छा से बनारस में उतर पड़े। राजा ईश्वरीप्रशाद नरायणसिंह काशी-नरेश के यहाँ ठहरे। स्थानीय अँग्रेज़ हाकिमों ने भी काफ़ी स्वागत किया। विश्वेश्वरनाथ की पूजा तथा अन्य धार्मिक स्थानों को देखने के बाद गुरुद्वारा आदि में धार्मिक कृत्य किए। अपनी तरफ़ से गुरुद्वारे में सदाबरत जारी कर दिया और भी हज़ारों रुपए का दान किया गया। यहाँ 'सैसर फेडरिक केरी' नामक एक छोटे जहाज़ द्वारा जल के रास्ते से पटना तथा गया को देखते हुए कलकत्ते पहुँचे। कलकत्ते में आपका अँग्रेज़ सरकार की ओर से काफ़ी स्वागत हुआ। १३००) रुपया नक़द और बहुतसी मेवा-मिठाई महाराज की मेहमानदारी के लिए आई। २१ तारीख़ को गवर्नर जनरल डलहौजी साहब ने गवर्नमेण्ट हाऊस में दरबार में महाराज का स्वागत किया। फ़ारेन सेक्रेटरी और गवर्नर जनरल ने आगे बढ़ करके महाराज के प्रति सम्मान प्रगट किया। जितने समय तक दरबार हुआ अँग्रेज़ी बाजा बजता रहा और जाते-आते वक्त १७ तोपों से सलामी दी गई और गवर्नर जनरल ने महाराज के लिए बहुत से तोहफ़ें प्रदान किए। नियमानुसार महाराज ने भी अपने यहाँ बुला करके स्वागत तथा भेंट की। उस समय १६,१६ तोपों की सलामी हुई। विलायत जाने के लिए निश्चय हुआ कि काँगड़ा के असिस्टेंट कमिश्नर मि० फोर साइथ महाराज के साथ विलायत जावें। विलायत जाने की बिल्कुल तैयारी थी किन्तु कुछ कारण ऐसे पैदा हो गए कि विलायत-यात्रा स्थगित कर दी गई और पटियाला लौट आये।

सन् १८५७ के विद्रोह में पलटनों में बाग़ी होने का एक दम से दौर-दौरा हो गया था। डिप्टी कमिश्नर अम्बाला ने जब रियासत के वकील के ज़रिए सूचना दी कि अम्बाला की पलटन भी बाग़ी होने वाली है इसलिए सहायता के लिए आइए। इस खबर को पाकर महाराज नरेन्द्रसिंह ने बहुत से ऊँट-हाथियों को भेजा कि पहाड़ी छावनियों से आने वाले सिपाही सुविधा पूर्वक आ सकें और अपनी

कुल फ़ौज लेकर गवर्नमेण्ट की मदद के लिए अम्बाला पहुँच गए। पटियाला के महाराज के आने का समाचार सुनकर जो सैनिक विद्रोह में शामिल होने का इरादा रखते थे शान्त हो गए। महाराज फ़ौज को वहीं छोड़कर डिप्टी कमिश्नर साहब की सलाह से थाने पर गए क्योंकि वह जिले का सदर मुक़ाम था और देहली १ के पास होने से ही विद्रोहियों का घर था। वहाँ जाकर कप्तान विलियममेकनेल साहब के परामर्श से प्रबन्ध किया। फ़ौजों को विद्रोह-स्थानों में भेजकर वापिस पटियाला लौट आए। विद्रोह में २१५६ सवार, २८४६ पैदल, १५६ अधिकारी, आठ तोपें, देहली, पानीपत, थानेसर, करनाल, अम्बाला, जगाधरी, सहारनपुर, फीरोजपुर, सिरसा, हिसार, रोहतक, बङ्गाल स्थानों में सहायता पहुँचाते थे। जब देहली में लड़ाई छिड़ रही थी तब रास्ते में रसद का इन्तजाम पटियाला के सैनिकों ने ही किया था।

ग़दर में पटियाला रियासत से सिर्फ़ फ़ौजी सहायता ही नहीं दी गई। जब सरकार अँगरेज़ ने पाँच लाख रुपया ऋण माँगा तो उसी समय भेज दिया और कहा गया—आवश्यकता हो तो दस लाख लीजिये। और भी रसद वगैरः की जैसी भी समय-समय पर जैसी सहायता माँगी गई, तत्काल दी। सिरसा, रोहतक, एवं हिसार से जब अँगरेज़ और मेमें-बच्चे जब पटियाला रक्षा की पुकार करते हुए पहुँचे तो उन्हें बड़ी ख़ातिर से रक्खा गया और उन्हें यथा समय सुरक्षित स्थानों पर भेज दिया और समय-समय फ़ौजें इकट्ठी करके भेजी गईं।

ग़दर में की गई सहायता और सरकार-भक्ति के पुरस्कार में बृटिश गवर्नमेण्ट ने नारनोल का इलाक़ा जो झज्झर का था और सरकार द्वारा ज़ब्त कर लिया गया था, दिया। भदोड़ का इलाक़ा तथा जनतमहल आदि कई स्थान दिये गये। इस समय पर महाराज के अधिकारों में वृद्धि की गई और "महाराजाधिराज" की उपाधि प्रधान की गई।

इस तरह चर्बी लगे हुए कारतूसों के कारण उठे हुए झगड़े और विद्रोहियों की ओर से कही गई स्वतन्त्रता की भड़की हुई आग को दबा कर महाराज ने अपना रुतबा और रियासत बढ़ाई। इसका नाम भारतियों की दृष्टि से देश-द्रोह एवं अँगरेज़ सरकार की नज़र में राज-भक्ति है।

कुछ समय के बाद अम्बाला में एक दरबार हुआ, जिसमें गवर्नर जनरल ने महाराज के गले में माला डालते हुए, उनकी तरफ़ से ग़दर में की गई सहायता का वर्णन किया और महाराज की बुद्धिमानी, बहादुरी की, राज-भक्ति की तारीफ़ की। इसके साथ ही यह इनायत भी की कि पटियाला स्टेट के कुटुम्ब में संतान न होने पर गोद लिया हुआ व्यक्ति भी उत्तराधिकारी समझा जायगा जो कि अब तक किसी अन्य स्टेट में न था और इसके कारण कई स्टेट अँगरेज़ी इलाक़े में मिला ली गईं थीं।

१—क्योंकि उस समय देहली में विद्रोहियों ने पूरी तरह सफलता प्राप्त करली थी।

जब इलाक़ा नारनौल रियासत पटियाला को दिया गया था, उस समय की आय २ लाख १० हज़ार बताई गई थी, परन्तु जब देखा गया कि इसकी कुल आमद एक लाख सत्तर हज़ार से कुछ भी अधिक नहीं होती है, तो सरकार से लिखा-पढ़ी की गई। मि० बार्नेस साहब ने इसकी जाँच की तो उन्हें भी कमी पाई गई और उन्होंने इस पूर्त्ति की ओर ध्यान दिलाते हुए परगना कानोड़ जिसकी कि आमदनी करीब एक लाख थी, पटियाला स्टेट को इस शर्त्त पर देने के लिए लिखा कि इसकी बीस बरस की आमदनी नज़राना के बतौर ले ली जाय और वह रक़म ग़दर में दिए गए ऋण में से काट ली जाय। सरकार की ओर से यह मंजूर हो गया और कानौड़ का परगना जिसमें कि १११० गाँव थे, मय शहर और क़िला कानौड़ के पटियाला के अधिकार में आ गए और जो अख्तियार स्टेट में हैं उन्हीं अधिकारों के साथ इस इलाक़े को भी करार पाया।

कुछ काल बाद इलाक़ा खमानोन भी बाकी ऋण की पूर्ति के लिए स्टेट को दे दिया गया तथा बचे हुए और रुपये नक़द दे दिये गए। परन्तु यह नया मिला इलाक़ा एक सनद के अनुसार अधिकार में तो पटियाले के ही रहे परन्तु देख-भाल अँग्रेज़ी सरकार करे और इसके लिए दो आना फ़ी रुपया सरकार ले यह निश्चय हुआ।

महाराज-साहब ने नाभा और झींद से सलाह कर अपने राज्य की सनद बृटिश गवर्नमेण्ट की मुहर से प्राप्त कर लेने का इरादा किया और एक प्रार्थनापत्र भी भेजा गया कि इङ्गलैंड की मुहर से हमारे राज्य के लिए पट्टे लिख दिए जायँ, परन्तु गवर्नर जनरल ने सूचित किया कि इस तरह सभी रईस पट्टों के लिए इङ्गलैंड की मुहर सहित लेने का उद्योग करेंगे, जब कि वाइसराय का हिन्द पर पूरा अधिकार है। उनके हस्ताक्षर से सनद दी जा सकती है, इसलिए महाराज नरेन्द्रसिंह ने स्वयं शिमला जाकर वाइसराय के हस्ताक्षरों से राज्य के पीढ़ी दर पीढ़ी अधिकार रहने की सनद प्राप्त की, जिसमें मोटे तौर से निम्न बातें थीं—जो प्रदेश बृटिश सरकार द्वारा दिया गया है अथवा महाराज साहब तथा उनके बुज़ुर्गों ने स्वयं प्राप्त किया है उस सारे प्रदेश को गवर्नमेण्ट महाराज साहब तथा उनकी पीढ़ी दर पीढ़ी मौरूसी हक़ स्वीकार करती है और वह अपने राज्य के खुदमुख्तार मालिक होंगे और जो उपाधियाँ महाराज को इस समय हैं, यह भी पीढ़ी दर पीढ़ी क़ायम रहेंगी। सरकार की मंजूरी और फूल खान्दान से गोद लेने की शर्त्तों के साथ सरकार गोद लेने के अधिकार को स्वीकार करती है और महाराज साहब अपनी रियासत से सती की प्रथा; कन्या-वध आदि की बुरी रिवाजें हटा देंगे और महाराज साहब और सरकार आवश्यकता के समय एक दूसरे की मदद करेंगे और रियासत के भीतरी मामलों में सरकार किसी प्रकार का हस्तक्षेप न करेगी आदि-आदि।

इलाक़ा झज्झर से जो परगने रियासत को मिले थे, उनमें मुआफ़ीदार भी थे और नवाबी के जमाने में सरकार की तरफ़ से यह अधिकार नहीं था कि

मुआफियाँ ज़ब्त कर सके, या इन मुआफीदारों के मामले में हस्तक्षेप कर सके, परन्तु यह शर्त्त नवाब से थी। पटियाला रियासत को दिये जाने के समय किसी तरह की कोई शर्त्त नहीं हुई। रियासत के आधीन हो जाने पर माफीदारों द्वारा इस बात का आन्दोलन हुआ कि हम पूरी तरह स्वाधीन रहें, जिस तरह कि पटियाला की रियासत है और रियासत हमारे अधिकार में किसी तरह का हस्तक्षेप न करे। पर राजा नरेन्द्रसिंह इस तरह के शासक होना कैसे स्वीकार कर सकते। मुआफीदारों की ओर बड़े-बड़े अफसरों द्वारा सिफारिश करवाई गई पर फल कुछ न हुआ और आखिर पटियाला स्टेट को इसके अधिकार सौंप दिये गए।

सन् १८५८ के नवम्बर मास में जब भारतवर्ष में अँग्रेज़ सरकार की ओर से उपाधियों का पहिले-पहल जन्म हुआ तब महाराज पटियाला को भी सितारे हिन्द की उपाधि मिली और जब हिन्दुस्तान का प्रबन्ध एक कौंसिल बनाकर वाइसराय की अध्यक्षता में करने का निश्चय हुआ तब उस कौंसिल के एक मेम्बर महाराज नरेन्द्रसिंह पटियाला भी नियत हुए। महाराज पटियाला की कुर्सी बङ्गाल गवर्नर की तरह थी और जैसा कि उनके साथ एक अहलकार आता उसी तरह महाराज के साथ भी एक अहलाकार के आने का प्रबन्ध हुआ था। इस तरह महाराज के मान का पूरा ख़याल रखा गया। सन् १८६२ ई० १८ जनवरी को महाराज पहिले-पहल कौंसिल में गए और कौंसिल की कार्यवाही में भाग लिया। कौंसिल में सम्मिलित होते रहने से महाराज को बहुत लाभ हुआ और वे अपनी रियासत के सुधार की ओर भी ध्यान देने लगे। क्योंकि भारतवर्ष में अँग्रेज़ों द्वारा राज्य करने को यह पहिली संस्था कायम हुई थी इसलिए इसके प्रारम्भ के अधिवेशन बड़े महत्व के थे। क्योंकि उस समय हर एक डिपार्टमेंट नये बनाने पड़ते थे और रियासतों अथवा अन्य देशों और हर एक प्रबन्ध की नई नीम डाली जाती थी।

लार्ड कैनिङ्ग महाशय के सामने ही महाराज नरेन्द्रसिंह ने पटियाला आने की मंजूरी प्राप्त करली थी। पर कैनिङ्ग साहब विलायत जा रहे थे और उनके स्थान पर लार्ड एलगिन साहब वाइसराय नियुक्त होकर आ रहे थे इसलिए महाराज कुछ दिन कलकत्ते की ओर ठहर गए और मार्च में पटियाला आ गए। यहाँ आने पर महेन्द्रसिंह की शादी की तैयारी में लग गए। महाराज की इच्छा थी कि महेन्द्रसिंह की शादी खूब धूमधाम से की जाए। परन्तु होना कुछ और ही था और बीमार होकर १३ वीं नम्बवर १८५८ ई० को मर गए जिसके कारण रियासत भर में शोक छा गया। गवर्नर पंजाब की ओर से समवेदना का तार भेजा गया और कई स्थानों से महाराज की मृत्यु पर शोक प्रकट किया गया और राज्य परिवार के लिए सहानुभूति ज़ाहिर की गई। महाराज की मृत्यु से सरकार अँग्रेजी की भी हानि हुई क्योंकि महाराज भी सरकार के ख़ैरख़्वाहों में से थे।

महाराज नरेन्द्रसिंह के शासन-काल में रियासत की उन्नति हुई और वृद्धि भी। हालांकि इनके समय में ऐसा भी वक्त था कि कई एक जागीरें सदा के लिए

नष्ट हो गई, और तो और पंजाब के महाराज रणजीतसिंह का भी विशाल राज्य अंग्रेजों के हाथ में चला गया। परन्तु महाराज नरेन्द्रसिंह पूरे राज-भक्त थे और लोगों की कितनी ही आलोचनायें होते हुए भी वे अपने कार्य में संलग्न रहे। कहते हैं वे हिन्दू-मुसलमान के लिए एक भाव रखते थे। एक बार दौरा करते हुए अम्बाला के कमिश्नर उधर आ गए और महाराज के साथ हाथी पर घूमने निकले तब कमिश्नर साहब ने कहा कि औरङ्गजेब ने तो कितने ही मन्दिर फुड़वाये थे पर आपके तो महल के पास ही मसजिद बनी हुई है? इस पर महाराज ने कहा कि—मैं औरङ्गजेब की तरह अपना नाम नहीं चाहता।

ये आस-पास की रियासतों तथा अंग्रेज़ सरकार से मिले रहना चाहते थे। इनका इरादा किसी से भी द्वेष बढ़ाने का नहीं था। इसीलिए नाभा, झींद आदि स्टेटों से इन्होंने कई सन्धियाँ कीं और अंग्रेज़ सरकार से भी बराबर परामर्श लेते रहे। राजकर्मचारी भी इन्होंने नम्र विचार के रक्खे थे जो बराबर रियासत की भलाई का ख़याल रखते हुए व्यर्थ झगड़ा मोल न लेते थे। मकान बनवाने का भी बड़ा शौक़ था, जिससे मोती बाग़ और दीवानखाना बड़ी-बड़ी इमारतें निहायत कारीगरी के साथ तैयार कराई थीं। सन् १८६० और १८६१ ई० के पड़े अकाल में भी महाराज ने कई लाख का अन्न बटवाया था। इनकी धर्मपरायणता इसीसे जानी जाती है कि ये गंगा, हरिद्वार, बद्रीनाथ, काशी आदि तीर्थ कर चुके थे।

राज्य बढ़ाने के साथ ही इन्होंने प्रबन्ध भी भली प्रकार किया। डाक में बहुत से सुधार किए गए। पहाड़ी परगनों में कई बार दौरा करके फैले हुए असन्तोष एवं अधिकारियों की उदासीनता को देख कर उसका इन्तजाम किया। इसी तरह कारखानों, अधिकारियों की नियुक्ति और वेतन देने के तरीक़ों में कई तरह की तब्दीली हुई। भूमि-कर में बहुधा अन्न का हिस्सा दिया जाता था। परन्तु इन्होंने रुपये का चलन जारी किया और जहाँ-तहाँ अनाज का रिवाज़ भी जारी रहा। अनाज ख़राब हो जाने पर निरख के मुताबिक ज़मींदारों को दिया जाता। रियासत के क़ानूनों में भी परिवर्द्धन और संशोधन हुए। हफ़्ते में एक बार अर्जी पेश करने की रिवाज़ थी। पहिले पहल महाराज २ अगस्त सन् १८४६ को अपने किए गए नये प्रबन्ध के मुताबिक अदालत में आए। जिसमें ८२ अर्जियाँ गुजरीं। पहिले स्टेट में फ़ैसले के बाद अपील का क़ायदा न था। परन्तु महाराज ने अपील करने का क़ानून बना दिया। इसी तरह सज़ा देने में भी परिवर्तन हुए। महाराज के शासन में घूस व चोरी बहुत कम होती थी। महाराज नरेन्द्रसिंह मिलनसार भी खूब थे इस कारण उनकी काशी नरेश, प्रान्तीय हाकिमों वग़ैरह से खूब बनी रहती थी। यात्रा का शौक़ भी उन्हें काफ़ी था जिसके लिए विलायत तक की तैयारी में लग गए थे और कलकत्ता जा पहुँचे थे, परन्तु कई कारणों से वापिस आगए। गवर्नर जनरल बहादुर से भी उन्होंने कई बार भेंट की और कौंसिल के मेम्बर भी हो गये थे।

महाराज महेन्द्रसिंह

सन् १८६२ ई० २६ जनवरी को महाराज महेन्द्रसिंह १० वर्ष चार महीने बारह दिन की अवस्था में गद्दी पर बैठे। गद्दी पर बैठने की रस्म अत्यन्त धूमधाम से मनाई गई जैसी कि पहिले कभी न हुई थी। इस उत्सव पर बड़े-बड़े ओहदेदार अँग्रेजों में से तथा कई एक अँग्रेज और कपूरथला, अलवर, जींद, नाभा, बनारस, बर्दवान आदि कई रियासतों के अधिकारी तथा कई जागीरों के जागीरदार पधारे थे, चूंकि महाराज की नाबालिगी में शासन-प्रबन्ध का विषय चिन्त्य एवं विचारणीय था। सन् १८५६ ई० में गवरनर से हुई संधि के (सनद के) अनुसार तो सतलज के प्रदेश के लेफ्टीनेण्ट साहब, महाराज झींद, महाराज पटियाला इन तीनों के परस्पर परामर्श से तीन आफ़िसर मुक़र्रर होकर रियासत का इन्तज़ाम करते थे। परन्तु सन् १८६० में मिली सनद के मुताबिक़ इस सम्बन्ध में कुछ न लिखा गया था। महाराज की ओर से यह उज्र पेश किया गया कि सन् १८६० की सनद के अनुसार जो गवर्नमेंट की ओर से ही प्राप्त हुई है रियासत के इन्तिज़ाम में किसी तरह की सरकार की ओर से बाधा न दी जावेगा और महाराज नरेन्द्रसिंह बहादुर ने मरते समय तक फ़रमाया है कि—जिस तरह हम बृटिश गवर्नमेंट के ख़ैरख़्वाह रहे हैं उसी तरह आयन्दा भी हमारी रियासत की सरकार के प्रति प्रगाढ़ भक्ति एवं मित्रता का बर्ताव रहे और हमारे उत्तराधिकारी को इसकी शिक्षा दी जावे और जिस तरह से रियासत का इस समय प्रबन्ध है उसी तरह क़ायम रहे। इसलिए दरबार अपना अधिकार समझता है कि इस इन्तिज़ाम में हस्तक्षेप न किया जावे और तीन अधिकारियों की नियुक्ति करा नया इन्तिज़ाम न करके जैसा इस समय प्रबन्ध हो रहा है उसी प्रकार रहने दे। इस पर एजेंट महोदय ने नाभा और झींद के शासकों की उपरोक्त बातों के लिए राय ली और उन्होंने इसका समर्थन किया कि इस तरह शासन होने में हमें कोई एतराज नहीं। पर गवर्नमेण्ट की ओर से एतराज किया गया कि सन् १८५६ में हुई सनद सन् १८६० में हुई सनद के हो जाने से इस नियम को भंग नहीं करती है। इस पर दरबार की ओर से पुनः कहा गया कि इस समय राज्य के मुख्य प्रबन्धक ५ हैं, इसलिए उन तीन की संख्या भी इसमें आ जाती है। परन्तु गवर्नमेण्ट ने इससे इन्कार कर दिया और तीन नये अधिकारी बनाये जाकर ही शासन-प्रबन्ध होने की हिदायत की। इस पर महाराज झींद, नाभा और गवर्नमेण्ट की सलाह एवं मंजूरी से सरदार जगदीशसिंह नाज़िम नारनौल, सरदार रहीमबख्श नाज़िम ज़िला करमगढ़, सरदार उदैसिंह नियुक्त हुए जोकि पूर्ण विश्वासी थे।

इस समय रियासत का कार्य पूर्णतः शान्ति के साथ चल रहा था। न कहीं लड़ाई-झगड़े की आशंका थी और न असन्तोष। परन्तु शासन-सूत्र चलाने के लिए कौंसिल से एक तजवीज जोकि सरकार ने दरियाफ़्त की थी सरकार को भेजी गई।

जिस समय १८६४ ई० में लार्ड लारेन्स साहब लाहौर आए और उस दरबार में पंजाब के सब महाराजे बुलाये गए तो उसमें महाराज शेरसिंह काश्मीर नरेश भी

कि उनकी बहिन की मृत्यु का समाचार पहुँचा। यह महाराज की बड़ी बहिन थीं और भरतपुर से कई दिनों से पटियाला ही आई हुई थीं।

कुछ दिन बाद रियासत के अधिकारियों में वैमनस्य पैदा होगया और महाराज के कान भर कर एक ऐसा अधिकारी निकलवा दिया गया जोकि कानून और कार्य्य को देखते हुए रहना चाहिए था। इससे दो पार्टियां बन गईं। क्योंकि कुछ लोगों को यह भय होगया कि हम भी इसी तरह निकाल दिये जायेंगे। महाराज इस समय १२ वर्ष की उम्र में थे। अतः स्वार्थी लोगों ने एजैण्ट के जरिये यह चाहा कि महाराज को शीघ्र अधिकार मिल जाय जिससे वे लोग रियासत में मनमानी कर सकें। परन्तु एजैण्ट के सिफ़ारिश करने पर भी सरकार की ओर से महाराज के नाबालिग होने के कारण यह स्वीकार न किया और जो कौंसिल के ३ मेम्बरों में से दो मेम्बर मर गये थे उनके स्थान पर दूसरे क़ायम कर दिए गए और कौंसिल से पूर्ववत् रियासत का शासन होने लगा। फिर भी रियासत में बहुत सी साजिशें चल रही थीं जो कि महाराज को खतरे में डालने वाली थीं। कुछ लोग महाराज को गलत रास्ते पर ले जाते थे तो कुछ लोग महाराज के खिलाफ थे। इन हालतों को देखकर नये एजैण्ट साहब भी महाराज की तरफ़ से कुछ उदासीन से होगये। आखिरकार साजिशों सम्बन्धी एक मुकद्दमा भी चला जिसे नाभा-पटियाला-केश कह सकते हैं। चूंकि महाराज तरुण हो चुके थे इसलिए १८७० ई० में कौंसिल को तोड़ कर महाराज को राज्याधिकार दे दिया गया।

महाराज ने अधिकार प्राप्त होते ही वेतन की कमी से फ़ौज में फैले हुए असन्तोष को दूर किया और जाँच के बाद यथोचित वेतन बढ़ा दिया। उसी समय लाहौर कॉलेज को उन बीस हजार के अतिरिक्त जो कि राजकुमार इँगलैंड के आने पर स्कॉलरशिप के लिए दिया था, ५६ हजार रुपये और प्रदान किए और इस समय ही सरकार अँगरेज़ की ओर से महाराज को 'सितारे हिन्द' की उपाधि मिली और वे कृतज्ञता प्रकट करने के लिए शिमला गए। शिमले से लौटते ही महाराज के बहनोई की मृत्यु का समाचार धौलपुर से मिला और महाराज धौलपुर गए। लौटते वक्त लेफ़्टीनेण्ट गवर्नर पंजाब जो कि विलायत जा रहे थे, उनसे भेंट की और उनकी यादगार के लिए उनके नाम से पंजाब यूनीवर्सिटी में १५०००) रुपए देकर स्कॉलरशिप देने का आयोजन किया।

चूँकि दरिया सतलज का पुल बन कर तैयार हो गया था, इसलिए उसके उद्घाटन के लिए वायसराय महोदय से प्रार्थना की गई थी, परन्तु वे कार्यवशात् न आ सकते थे और न गरमी के मौसम की वजह से पंजाब गवर्नर ही पहुँच सकते थे, इसलिए इस कार्य के लिए महाराज नरेन्द्रसिंह को लिखा गया और महाराज साहब ने लुधियाना पहुँच कर रेलवे पुल का उद्घाटन किया। उक्त अवसर पर रेलवे एजेण्ट महोदय ने महाराज की सेवा में मान पत्र दिया।

जब कि महाराज को राज्य-अधिकार मिला, उस समय उनकी उम्र बालिग़ होने में सात महीने कम थी, इसलिए सरकार की ओर से आदेश था कि सात महीने बाद ही खुशी वगैरः के जलसे किए जायँ। चूँकि सरकार को भय था कि कहीं रियासत में किसी तरह का झगड़ा-बखेड़ा न खड़ा हो जाय, क्योंकि महाराज ने अधिकार प्राप्त होने पर भली प्रकार काम सँभाल लिया था और जो कुछ भी बखेड़े थे, उस समय दूर कर दिए थे और सात महीने भी पूरे हो गए थे। गवर्नमेण्ट की ओर से आज्ञा भी मिल गई, इसलिए महाराज के अधिकार प्राप्त होने की प्रसन्नता में दरबार किया गया, जिसमें बड़े-बड़े अफसर और राज्य के अधिकारी मौजूद थे। इस समय कई अधिकारियों को इनाम, जागीर भी इनायत फ़रमाई।

नवम्बर आख़ीर सन् १८८० ई० में महाराज ने नारनोल, कानौड़ आदि के परगनों में दौरा किया, क्योंकि उस समय वहाँ अकाल पड़ा हुआ था। महाराज रियासत के हालात यात्रा में जानते जा रहे थे। नाज़िम की रिपोर्ट से ६००००) रु० तक़ावी देना मंजूर किया और लगान के एक लाख साढ़े इकसठ हज़ार रुपया जो ज़मींदारों पर बकाया था मुल्तवी कर दिया जब तक कि उनकी हालत ठीक न हो जावे। नारनौल पहुँच कर और भी पन्द्रह-सोलह हज़ार रुपये महाराज ने जो रियासत को कष्ट पहुँचाने वाले थे माफ कर दिये और इस तरह प्रजा की हालत का निरीक्षण कर वे एक महीने के करीब की यात्रा कर पटियाला वापिस पहुँचे। पटियाला पहुँच कर महाराज ने राज्य-प्रबन्ध में सुधार किए। लगान और परगनों के प्रबन्ध के लिए कई रद्दोबदल तथा और भी कई सुधार किए।

क्योंकि कलकत्ते में उपाधि वितरणोत्सव होने वाला था और महाराज सैर को भी जाने वाले थे इसलिए २० जनवरी सन् १८७१ ई० को कलकत्ता के लिए रवाना हुए। रास्ते में कानपुर में कपड़े के कारखाने देखे और पटना में गुरुद्वारा की पूजा में शामिल होते हुए कलकत्ते पहुँचे। क्योंकि कारण वश दरबार होना कुछ दिन के लिए स्थगित हो गया था इसलिए महाराज बीच में गया का तीर्थ भी करने गए और फिर कलकत्ता पहुँच कर २७ फर्वरी के दरबार में शामिल हो गए। दरबार में महाराज को स्टार ऑफ इण्डिया, का तमगा प्रदान किया गया। महाराज कितने ही दिनों तक कलकत्ते में अंग्रेजों की दावतों में शामिल होते रहे और शिकार वग़ैरह में भी सम्मिलित हुए और लौटते वक्त इलाहाबाद आदि स्थानों पर ठहरते हुए १८ तारीख़ को पटियाला पहुँच गए।

सितम्बर सन् १८७१ ई० में महाराज गवर्नर जनरल से मिलने शिमले गए और वहाँ पर एक क्रिश्चियन अनाथालय को १२००) रुपया प्रति वर्ष देने की स्वीकृति दी और भी कई मुफ़्त, औषधालयों तथा स्कूलों को करीब सवा पांच हज़ार रुपये दान किए।

महाराज ने महेन्द्र-कौलेज पटियाला की अँगरेज़ी ढंग से उन्नति करने के लिए सम्वत् १८२८ के अषाढ़ महीने में एक दरबार किया और इसके लिए २७०००) रुपया व्यय के लिए मंजूर किए। शिक्षा-विभाग पटियाला में पहिले जहाँ २७ हज़ार खर्च का बजट मंजूर होता था, अब ६० हज़ार का बजट मंजूर होने की आज्ञा दी जिसमें १५ हज़ार रुपये सरकारी खज़ाने से तथा १५ हज़ार लगान में ज़मींदारों द्वारा वसूल करने की तजवीज की। जब कौलेज को डेढ़ बरस होगया और वार्षिक परीक्षा समाप्त हुई तो तारीख़ २० अक्टूबर १८७१ को महाराज ने एक दरबार किया जिसमें शिक्षा-विभाग के सभी अधिकारी सम्मिलित थे। महाराज ने स्वयं इस समय इनाम बांटे और अध्यापकों व प्रोफेसर आदि के कार्य्य की सराहना की। महाराज महेन्द्रसिंह के ज़माने में ही 'पटियाला गजट' का जन्म हुआ। कौलेज के निमित्त हुए दरबार का कुछ समाचार पटियाला के अखबार में प्रकाशित हुआ।

सन् १८७१ ई० को शहर पटियाला में नये इन्तज़ाम किए गए। दीवानी मुक़द्दमों के वास्ते एक जज मुकर्रर हुआ। पुलिस के लिए वरदियाँ नये ढंग की बनाई गईं और जिस तरह अँग्रेज़ी शहरों में दिन में भी चौराहों पर सिपाही खड़े रहते हैं शहर में भी इसी तरह के इन्तज़ाम का निश्चय हुआ। परगना नारनोल और कानोड़ में महसूल राहदारी के कारण व्यापार में एक बड़ी रुकावट थी, उसे हटा दिया गया और उसके बदले सिर्फ़ बकरियों पर कर लगाया गया। इस मद में २०००) रुपया प्रति वर्ष आमद थी। उस समय फ़ौज में भरती होने वाले की उम्र का कुछ नियम न था, इस से छोटी-छोटी उम्र के लड़के भी उस में शामिल कर लिए जाते थे, इसलिए फ़ौज में भर्ती होने की वयस १६ साल मुकर्रर हुई।

पंजाब में जब सिखों का विद्रोह हुआ तो महाराज से भी सहायता माँगी गई थी। हर तरह सिख-युद्ध के समय रियासत की ओर से सरकार अँगरेज़ को खूब सहायता दी गई थी—रसद, सिपाही, घोड़ा, हाथी, ऊँट, जैसी भी जिस रूप में सहायता की आवश्यकता हुई, रियासत की ओर पूरी की गई। जब लार्ड मेयो एक कैदी द्वारा अंडमान में मार दिए गए थे और जब लार्ड मेयो के देहान्त का समाचार महाराज ने पाया, तो सारे शहर में मातम मनाया गया और लार्ड महोदय की स्मृति के लिए पंजाब यूनीवर्सिटी के लिए 'स्कॉलरशिप' या फेलोशिप अथवा 'पटियाला-मेयो-स्कॉलरशिप' के नाम से दिए जाने के लिए प्रदान किया। यह स्कॉलर-शिप उस अध्ययनकर्ता को दी जानी तय पाई कि जो अँगरेज़ी और संस्कृत व अँगरेज़ी और अरबी, में अनुभव प्राप्त करे।

पटियाला में तारबर्की का प्रबन्ध महाराज महेन्द्रसिंह के शासनकाल में ही क़ायम हुआ। पहिले-पहल सन् १८७२ शुरू मार्च में दफ़्तर खोला गया। महाराज ने सबसे बड़ा काम सर-हिन्द की नहर निकालने का किया जिसमें एक करोड़ तेईस-लाख रुपये व्यय किए। बंगाल में जब अकाल पड़ा तो आपने अकाल-पीड़ितों की

सहायता के लिए दस लाख रुपए दिये। १८७३ में महाराज ने एक सफाखाना भी स्थापित किया जिसमें एक अनुभवी अँगरेज डाक्टर रखे गये। रियासत में सफाखाना स्थापित होने का भी यह पहिला मौक़ा था। महाराज सन् १८७४ ई० में दिवाली के अवसर पर अमृतसर स्नान करने गए और १८ हज़ार रुपया चढ़ावे का चढ़ाया तथा ५१ हज़ार रुपया इसलिए दरबार साहब की भेट किया गया कि इस से एक सर्व साधारण भोजन-भंडार स्थापित किया जावे। इस दौरे में ही महाराज ने मुल्तान की भी सैर की।

सन् १८७५ ई० को जब सप्तम् एडवर्ड विलायत से भारतवर्ष सैर के लिए आए, तब महाराज कलकत्ते गए और महाराज की वहाँ पर भी भेट हुई। फिर जब राजपुरा में महाराज के अतिथि हुए, इस स्मृति को स्थायी बनाने के लिए महाराज ने अलबर्ट-महेन्द्र गंज बसाया।

वैसे तो महाराज तीन साल से ही कुछ बीमार चले आते थे, परन्तु अब आकर वे कुछ शराब का ज्यादा व्यवहार करने लग गये थे, जिस से स्वास्थ्य और भी गिरता ही चला गया। डाकृर, वैद्य, हकीम, सब की दवा करवाई गई, पर कोई फ़ायदा न हुआ। आख़िरकार २५ बरस की ही कम अवस्था में महाराज का देहान्त हो गया, जिस से शोक छा गया।

महाराज ने अपने थोड़े से काल में ही रियासत की बहुत उन्नति की। तार, डाक, स्कूल, शफ़ाखाना आदि सार्वजनिक-हित के साधन जुटाए। महेन्द्र कालिज बनवाया। समय-समय पर सार्वजनिक संस्थाओं को भी दान दिए। कई स्कॉलर शिप दिए। अँगरेज़ सरकार को भी कूका विद्रोह में मदद दी। सरकार ने भी महाराज के लिए जी० एस० आई० की पदवी दी थी और १७ तोपों की सलामी के बजाय १९ तोपों की सलामी कर दी थी। महाराज के समय में रियासत के लिए कई सनदें भी हुईं, जिन में जयपुर-पटियाला सनद भी एक राज्य के प्रबन्ध के लिए अत्यन्त हितकारी हुई, क्योंकि जयपुर वालों की ओर से मीने वग़ैरः पटियाले स्टेट के स्थानों को तंग करते थे। इस सन्धि के कारण उसमें शिथिलता आ गई। महाराज गवर्नर जनरल हिन्द से भी कई बार मिले। पंजाब गवर्नर से भी उनकी काफ़ी मित्रता रही और कई रियासतों के रईसों, उच्च अधिकारियों और बहुत सों से महाराज की जान-पहँचान थी। अतः महाराज की मृत्यु के समाचार इन सब जगह दुख के साथ सुने गये।

महाराज राजेन्द्रसिंह

महाराज महेन्द्रसिंह की मृत्यु के बाद उनके पुत्र राजेन्द्रसिंह की उम्र केवल क़रीब चार बरस की थी, इसलिए सन् १८५९ की सनद के मुताबिक कौंसिल मुकर्रिर हो कर राज्य-प्रबन्ध करना जाइज़ था। कुछ दिन पंजाब सरकार के सैक्रेटरी ने एक तजवीज़ कर दी थी, उसके अनुसार रियासत का काम होता रहा और फिर मि० ग्रेफ़न साहब सैक्रेटरी

गवर्नर जनरल पटियाला तशरीफ़ लाए और महाराज जींद, नाभा के परामर्श से एक कौंसिल रियासत के इन्तज़ाम के लिए मुकर्रर कर दी और उनके लिए रियासत के प्रबन्ध को भली प्रकार करने की ताक़ीद की और एक रिपोर्टर इस के लिए पटियाले में छोड़ दिया कि वह कौंसिल की कार्रवाही और अन्य राज्य-सम्बन्धी हालात गवर्नमेण्ट को दिया करे।

सन् १८७७ ई० में गवर्नर जनरल स्वयं पटियाला आये और खास दरबार हुआ जिसमें नाभा, फरीदकोट, झींद आदि के शासक भी मौजूद थे। महाराज राजेन्द्रसिंह को गद्दी नशीन किया परन्तु कुल अधिकार आपको १८६० ई० में प्राप्त हुए।

पटियाला राज्य में निज की टकसाल भी थी। उसमें जो सिक्के ढाले जाते थे उनकी कीमत सन् १८२५ के लगभग गवर्नमेण्ट ने पन्द्रह आने रखी थी और अब भारतवर्ष में चारों तरफ़ गिन्नी के लिए पौंड-शिलिङ्ग और भी कई प्रकार के बृटिश सिक्कों का चलन हो चुका था। इसलिए अन्य स्थानों की तरह पटियाले से भी उनका चलन बन्द होने लग गया।

पहिले की अपेक्षा इन महाराज के आगे खेती का प्रबन्ध कुछ सुव्यवस्थित रूप में आ गया था। अँगरेज़ी ढंग पर बन्दोबस्त हो जाने के कारण लगान उगाही बटाई की अपेक्षा नक़द रुपयों में लिया जाने लगा था। पहिले लोग नक़द रुपया देने में दिक़्क़तें समझते थे लेकिन इनके समय में नक़द रुपया देने में सुविधा समझने लगे।

१८८७ ई० में पटियाला की सेना ने उत्तरी-पश्चिमी युद्ध में शामिल होकर अँगरेज़ों की मदद की थी। चीन के युद्ध में भी महाराज ने अपनी सेना में जाकर अँगरेज़ सरकार से मित्रता का सम्बन्ध निभाया। जिस समय अँगरेज़ों का दक्षिण अफ्रिका में युद्ध हुआ महाराज ने भी कुछ घोड़े सहायता को भेजे। भटिण्डा, राजपुरा के बीच इनके समय में ही १०० मील लम्बी लाइन तैयार हुई। सार्वजनिक संस्थाओं को दान देने में आप बड़े उदार थे। आपने पंजाब विश्व-विद्यालय को ५५०००), अमृतसर खालसा कॉलेज को १६२०००), इम्पीरियल इन्स्टीट्यूट लन्दन को ३००००) रुपये प्रदान किए थे। १६०७ ईस्वी में जब तक आपके पुत्र भूपेन्द्रसिंह बिल्कुल नाबालिग़ थे इस संसार से कूंच कर गए।

महाराज राजेन्द्रसिंहजी की मृत्यु के पश्चात् महाराज भूपेन्द्रसिंहजी गद्दी पर बैठे। यही पटियाले के वर्तमान शासक हैं। इनका जन्म १८६१ ई० में हुआ है। नाबालिग़ी के समय राज-कार्य एजेंसी-कौंसिल द्वारा होता रहा।

आपने एटकिंसन चीफ़ कॉलेज लाहौर में शिक्षा पाई है। सन् १६०३ में जब कि कारोनेशन दरबार हुआ था मेण्डरिव्यू दिखलाने के लिए आप स्वयं अपनी फ़ौज को अपने संचालन में ले गए थे। तत्कालीन गवर्नर कर्जन के साथ आपकी मुलाक़ात भी उसी समय हुई थी। सम्राट् जार्जपंचम से जबकि वह लाहौर पधारे थे

आपने भेट की। यह घटना सन् १६०५ की है। इसी समय आपने अमृतसर खालसा कौलिज को एक लाख रुपए का दान इसलिए दिया कि उक्त कौलिज के विद्यार्थी इस रकम से विदेशों में शिक्षा प्राप्त करें। सन् १६०८ ई० में झींद के सेनापति की सुपुत्री के साथ आपका विवाह हुआ और ३० सितम्बर सन् १६०६ को जबकि आपकी अवस्था १८ वर्ष की थी सरकार ने आपको शासनाधिकार प्रदान किए। उसी समय से आप शासन-सूत्र को सम्भाले हुए हैं। आप क्रिकेट के खेल के बड़े प्रेमी हैं। सन् १६११ ई० में भारतीय क्रिकेट टीम के आप केप्टिन बन लन्दन गये थे। पहलवानों की कुश्तियाँ देखने में आप अच्छी दिलचस्पी रखते हैं। प्रसिद्ध-प्रसिद्ध पहलवानों को समय-समय पर आपने प्रोत्साहन दिया है। जिस समय सम्राट् पंचमजार्ज का अभिषेक हुआ तो उसमें आप भी पधारे। देहली के दरबार में भी सम्मिलित हुए। सम्राट् की ओर से इसी दरबार में आपको जी० सी० एस० आई० की उपाधि मिली। इसी दरबार में आपकी परम विदुषी महारानी-साहिबा ने साम्राज्ञी मेरी को अभिनन्दन-पत्र दिया। जिस समय जर्मनी-युद्ध छिड़ा तो आप इम्पीरियल युद्ध कोन्फ्रेंस में भारत की ओर से प्रतिनिधि मनोनीत किये गये। इस युद्ध में सारी सेना आपने सरकार के सुपुर्द करदी। युद्ध के दिनों में आपने पुर्तगाल, इटली, फ्रांस जहाँ-जहाँ युद्ध-क्षेत्र थे भ्रमण किया तथा वहाँ की सरकारों से सम्मानित हुये। आपकी इन महान् सेवाओं के उपहार में सम्राट् की सरकार ने आपको सी० ओ० बी० ई० की उच्च पदवी से विभूषित किया। पहिले आपके बुजुर्गों को शाही-दरबार में नजर देनी पड़ती थी किन्तु इन सेवाओं के कारण नज़र लेना सदैव के लिए सरकार ने बन्द कर दिया। मेजर जनरल की रेंक का सन्मान भी आपको प्राप्त हो चुका है। पहिले आपके पूर्वजों के लिए १७ तोपों की सलामी थी। आपको १६ की करदी गई। गत अफ़गान-युद्ध में भी आपने बृटिश सरकार की पूरी सहायता की। पटियाला नगर में आपने गर्ल-स्कूल, लेडी हार्डिङ्ग नर्स पाठशाला, और विक्टोरिया मेमोरियल पूअर-हाउस आदि संस्थायें स्थापित की हैं। विक्टोरिया मेमोरियल, पूअरहाउस में ८०००) रुपये व्यय किये हैं। शहर की सफ़ाई के लिए भी महकमा-सफ़ाई स्थापित कर दिया है।

राज्य में ५ निज़ामतें हैं—करमगढ़, अमरगढ़, अनहदगढ़, महेन्द्रगढ़ और मिजोर। राज संचालन के लिए चार विभाग हैं—अर्थ विभाग, वैदेशिक विभाग, न्याय विभाग और सेना विभाग। राज्य की आमदनी मालगुजारी के सिवा रेलवे, स्टाम्प, एक्साइज ड्यूटी, इर्रीगेशन वर्क आदि से होती है। पटियाले के प्रधान न्यायालय का नाम सदर कोर्ट है। फाँसी के सिवाय दीवानी-फ़ौजदारी के उसे कुल अधिकार प्राप्त हैं, फाँसी का हुक्म महाराज देते हैं। पटियाला में बहुत से ज़मींदार हैं; जो भादोड़ के सरदार कहलाते हैं। इन ज़मींदारों की वार्षिक आय लग-भग ७० हज़ार है। सामान्य गाँवों के ज़मींदारों को भी राज्य से ६००००) प्रति वर्ष दिए जाते हैं।

महाराज ने अब तक निम्न भाँति संस्थाओं को दान दिया है—मिंटो मेमोरियल फंड ५०००), विक्टोरिया मेमोरियल हाल १०००००), कांगड़ा रिलीफ़ फंड १००००), किंग एडवर्ड मेमोरियल २०००००), खालसा कौलेज अमृतसर एण्डोमेण्ट फंड ६०००००), लेडी हार्डिङ्ग मेमोरियल १२५०००), लेडी हार्डिङ्ग मेडिकल कौलेज २०००००), सिख-कन्या महाविद्यालय फीरोजपुर १००००), सिख धर्मशाला लन्दन १२००००), तिब्बिया कौलेज देहली २५०००), हिन्दू यूनीवर्सिटी बनारस ५०००००) रुपया एक मुश्त और २००००) रुपया प्रति वर्ष, युद्ध सम्बन्धी सहायता १५००००००) और प्रजा से संग्रह करके युद्ध ऋण में ३५००००)।

महाराज का उपाधि सहित नाम इस तरह से है:—मेजर जनरल सर भूपेन्द्रसिंह महेन्द्र बहादुर G. C. I. E. G. C. S. I. G. C. B. O. महाराजाधिराज। आप पिछले कई वर्षों से नरेन्द्र मण्डल के चान्सलर रहे हैं। पिछली गोलमेज कौन्फ्रेन्स में भी आप पधारे थे। संघ-शासन में राजाओं के अधिकार दिलाने के लिए आपने कई स्कीमें पेश की हैं। इससे चार पांच वर्ष पहिले भी बटलर कमीशन बिठवाने में आपने पूरी कोशिश की थी। भारत के राजनीतिज्ञों में आपका बहुत ऊँचा स्थान है।

सन् १९२७ ई० में कुछ कुचक्री लोगों के परामर्श से आपने जाट से राजपूत होने का नाटक भी किया था। कोई हाथी भाई नाम का पंडित है उसने आपका संस्कार किया था। इतने चतुर महाराज ने इस अपमान को न मालूम किस कारण से सम्मान समझा कि उनका एक तरह का शुद्धि संस्कार अथवा प्रायश्चित् कराया गया। वह राजपूत हो गए हैं अथवा जाट हैं इस बहस को छोड़ दिया जाय तो भी सन् १९२७ ई० तक वे जाट थे इसलिए तब तक तो जाट इतिहास का और उनका घनिष्ट सम्बन्ध है ही। भविष्य में जाट सन्तान उन्हें भूतपूर्व जाट के नाम से ही स्मरण करेगी और अभी तो राजपूत जगत की चख-चख भी उन्हें त्रिशंकु बनाए हुए है। देखें ऊँट किस करवट बैठता है? कुछ लोग इस जाति परिवर्तन को रहस्य और कुछ लोग महाराज की भावुकता के नाम से याद करते हैं। बहुत संभव है महाराज राजपूत बनके यह समझते होंगे कि मैं जाटों से अलग हो गया किन्तु जाटों में ऐसा कोई भी आदमी नहीं है जो उन्हें अलग समझता हो और समझें भी कैसे जब कि उन्होंने पटियाला राज्य स्थापन के लिए, तथा महाराज के बुजुर्गों की मान रक्षा के लिए, अपने रक्त की नदियाँ बहाई थीं। जिन भट्टी राजपूतों में वे मिले हैं उनसे फ़रीदकोट और पटियाला की रक्षा के लिये न मालूम कितनी बार जाटों को युद्ध करना पड़ा था। यह तो सिर्फ भ्रम है कि भट्टी जाट भट्टी राजपूतों में से निकले हैं। इसका विवेचन हम पहिले बहुत कर चुके हैं इसलिए यहाँ उल्लेखमात्र कर दिया है।

फरीदकोट

इसका विस्तार ६४३ वर्ग मील और जन संख्या १५०६६१ है और वार्षिक आमदनी १८ लाख से ऊपर है। अकबर के समय में जाटों ने इसकी स्थापना की थी। उस समय यह एक बड़ा राज्य बन गया था, किन्तु बाद में पड़ौसी राज्यों से छेड़-छाड़ होते रहने के कारण इसका विस्तार घट गया है।

यहाँ के राजा बराड़ वंशी जाट सिख हैं। पटियाला और नाभा की तरह से इसका भी आदि पुरुष रावखेवा है। 'आइना बराड़ वंश' के मुसलमान लेखक ने भाटों की कथित बेसिर पैर की बातों के आधार पर ही यहाँ का इतिहास लिखा है। रावखेवा के सम्बन्ध में जैसी बात कही जाती है, उसका स्पष्टीकरण हम ने पटियाला के इतिहास में कर दिया है। अतः उस पर अब यहाँ प्रकाश डालने की आवश्यकता नहीं। हाँ, इतना बता देने में कोई पुनरुक्ति नहीं कि जिन जैसलमेर के भट्टी राजपूतों से भट्टी जाट अपना निकास बतलाते हैं एक समय वे जैसलमेर के भट्टी भी उन्हीं रिवाजों के पावन्द थे जिनके कि जाट हैं। यह संभव हो सकता है कि जाट से कोई भी समूह राजपूत हो गया हो, लेकिन यह बिल्कुल असंभव है कि राजपूतों में से जाटों का कोई समूह हुआ हो, क्योंकि कोई भी वस्तु उस में से ही हुआ करती है जो कि पहिले विद्यमान होती है। जाटों का अस्तित्व राजपूतों से लगभग १५०० वर्ष पहिले पाया जाता है।

इस राज्य को सुव्यवस्थित रूप में लानेवाले सरदार कपूरसिंहजी थे और इनकी पूर्व राजधानी कोट कपूरा थी। इस में सन्देह नहीं कि भट्टी राजपूतों ने इस राज्य को बड़ी मुश्किलों से पनपने दिया है। उन से भी भयंकर भट्टी मुसलमान इसके अस्तित्व मिटाने के लिए साबित हुए हैं। यदि गृह-कलह से भी यह राज्य बचा रहता तो भी पंजाब में पहिले नम्बर पर नहीं तो दूसरे नम्बर पर अवश्य यह रियासत होती। सामाजिक मान अब भी इस राज्य का बहुत ऊँचा है। प्रजा-रञ्जन आरम्भ से लेकर अब तक यहाँ के नरेशों का कर्त्तव्य रहा है।

पंजाब के जाट सिखों, इस सर्व प्रिय राज्य के संस्थापकों और महावीरों का इतिहास रावसिद्धजी से आरम्भ करके वर्तमान महाराज फरजन्दई—सजालाकिशांइ-जरात-ई—क़ैसरे हिन्द बराड़ वंशी राजा सर इन्द्रसिंह बहादुर तक का संक्षिप्त रूप से आगे के पृष्ठों में वर्णन किया जाता है।

रावसिद्ध

रावसिद्ध ईश्वर भक्त आदमी थे और तत्कालीन सल्तनत के साथ वफ़ादारी का बर्ताव करते थे। उस समय मध्यभारत में बहमनी-वंश का शमसुद्दीन बादशाह राज करता था। उसने फ़ीरोज़शाह और अहमदखान को दुश्मनों से बचाने की ग़रज़ से जब सागर भेजा था तो वहां उस समय सिद्ध-शासक था जिसने कि इन दोनों शहज़ादों को शरण दी थी, जैसा कि शमसुद्दीन बहमनी के किस्सों में लिखा है—

"चनी गुफ्त सिद्ध वह फ़ीरोजखां। नदारंम दरेग़ अज़तूमाले व जान॥
चकूशम कि औरंग के खुशखी। वह फ़र कलाह तू गिरद वक़्वी॥"

मालूम ऐसा होता है कि आपत्ति के दिनों में सिद्ध और उसके खानदान के लोग मध्य-भारत में चले गये। कहा जाता है कि सिद्धू के छः लड़के थे। १—भूरा जिसने अपने बाप की जगह प्राप्त की। २—डाहड़ जिसकी औलाद महरवी ज़र्मींदार कहलाती है। ३—सूरा जिसकी औलाद में से कुछ मुसलमान होगये जो भटिण्डा और फ़ीरोजपुर के गिर्द मौजूद हैं। सिद्ध के नाम पर पंजाब के जाटों में एक बड़ा गोत है। अखीरी उम्र में सब सिद्ध तत्कालीन वीर-पुरुषों के समान लूट-पाट, डकैती करने लग गये थे। शेष तीन लड़के रूपाज़ महां, वप्या थे।

रावभूर

अपने बाप सिद्धू के बाद ये भी वही धन्धा करते रहे। लेकिन इन्हें भट्टियों से सामना करने में अधिक समय बरबाद करना पड़ा। इनके लड़के का नाम भय्यासिंह अथवा वीरसिंह था। भय्यासिंह बहुत दिन तक जिन्दा रहा लेकिन थोड़े ही अरसे में वीर का लक़ब हासिल कर लिया। इनके दो लड़के थे—(१) तिलकराव। (२) सतराज या सतीरसिंह। तिलकराव ने दुनियाँ से विरक्तता धारण करली और वैरागी होगया। सतराज ने बाप की जगह सम्भाली और जंगली कौमों को इकट्ठा करके भट्टी राजपूतों के ऊपर चढ़ाइयाँ कीं। एक लड़ाई में भट्टियों के द्वारा मारे गये। सतराज के मारे जाने के बाद भट्टी राजपूतों ने सिद्धू जाटों के लिए बहुत तंग किया। यहाँ तक कि जो तिलकराज जंगल में पूजा करता था उसको भी क़त्ल कर डाला। कहते हैं कि तिलकराज का धड़ हाथ में तलवार लेकर दुश्मनों को बहुत देर तक काटता रहा। फ़रीदकोट राज्य में महमां-राज के गाँवों में तिलकराज की समाधि बनी है जिस पर सालाना मेला लगता है। सतराज के बड़े लड़के का नाम गोलसिंह अथवा चड़हटाता था। भट्टी राजपूतों से भी इनकी लड़ाइयाँ जारी रहीं, कभी चैन से बैठना न हुआ। गोलसिंह के लड़के का नाम महाचे या माह था। माह के अनेक लड़कों में से बड़ा लड़का हमीरसिंह था। हमीरसिंह के लड़के का ही नाम बड़ार था। खानदान फ़रीदकोट राववराड़-वंशी कहलाता है। राववराड़ को अनेक लड़ाइयाँ लड़नी पड़ीं। फक्करसर, थहडी, कोट लदूधू आदि स्थानों की लड़ाइयों में अखीरी लड़ाई कोट लदूधू की थी। इन लड़ाइयों से बराड़ की नामवरी बहुत दूर-दूर तक फैल गई। इनके पैत्रिक शत्रु भट्टी राजपूत ही लोहा माने गये थे। लेखकों ने राव बराड़ के दो लड़के बयान किये हैं—(१) राव दुल-संस्थापक खान्दान फ़रीदकोट (२) राव पौड़-संस्थापक पटियाला, नाभा, झींद।

राव दुलसिंह

ने अपने बाप की रियासत पर कब्जा किया। राव पौड़ जिसे कि ग़लती से सर लेपिल ग्रिफ़िन ने राव दुल से बड़ा माना है अपने भाई से बग़ावत कर दी, लेकिन सफल न हुआ। दक्षिण-पश्चिम की ओर चला गया। उसकी औलाद में पुश्तों तक तंगी रही, मगर सोलहवीं

सदी में चौधरी संघहर और उसके लड़के डेरम ने मुसलमान सल्तनत की ख़िदमत करके अपनी हालत यहाँ तक सँभाल ली थी कि आज उसकी सन्तान के हाथ में पटियाला, नाभा, झींद जैसी रियासतें हैं।

राव दुलसिंह अगरचः भाई की वग़ावत और गृह-युद्ध से कमज़ोर हो गये थे, मगर फिर भी उन्होंने भट्टी राजपूतों के साथ युद्ध करने से मुँह न मोड़ा और कई मैदान जीते। इनके चार लड़के थे—(१) विनयपाल (२) सहनपाल (३) लखनपाल (४) रतनपाल। यह रियासत विनयपाल को मिली। विनयपाल ने भटिण्डा पर भी क़ब्ज़ा किया, लेकिन यह क़ब्ज़ा स्थायी नहीं रहा। इनके वाद इनके इकलौते लड़के अजितसिंह को अपनी तमाम ज़िन्दगी वग़ावतों के दमन करने में वितानी पड़ी। अजितसिंह के चार लड़के थे—(१) मानिकसिंह जो वलीअहद वने। (२) दूधा (३) कूंलों (४) हिन्दू। मानिकसिंह के समय में इनकी रियासत घाघर नदी से सतलज के वीच के इलाक़ों पर अवस्थित थी, लेकिन उसका पूरा इन्तज़ाम नहीं हो सका। इनके सात लड़के थे—(१) टेंडासिंह युवराज। (२) फूखर इसकी औलाद वाले खूखर कहलाते हैं। (३) खंखी, इसकी औलाद क़सवा वरनाला इलाक़ा पटियाला में है। (४) पक्खू, इसकी औलाद मौजा पक्खू इलाक़ा भटिण्डा में है। (५) सल्लू, इसकी औलाद का कुछ पता नहीं है। (६) वाहिना, इसकी औलाद पूरव में गंगा किनारे आवाद है। (७) कन्हैया, इसकी औलाद इलाक़ा माझ में रहती है। मानिकसिंह के स्वर्गवास होने के वाद टेंडासिंह गद्दीनसीन हुआ। इनके पाँच लड़के हुए—(१) आसीसिंह युवराज। (२) वासीसिंह, इसकी औलाद जमुना किनारे चली गई। (३) हिन्द (४) मुद, कहा जाता है कि क़सवा मुदकी इसी के नाम पर आवाद हुआ था। (५) कृपाला, इसकी औलाद धौलपुर की तरफ़ रहती थी। टेंडासिंह के मरने के वाद उनके वड़े लड़के आसीसिंह ने अपने मौरूसी मुल्क पर क़ब्ज़ा किया। इनके ज़माने में भी लड़ाई-झगड़े होते रहे और इन्हें टिक कर वैठने तक का मौक़ा नहीं मिला। इनके स्वर्गवास होने पर इनका लड़का धीरसिंह गद्दीनसीन हुआ। वाहर से आने वाले लोगों की भी तरफ़दारी की। इनके तीन लड़के हुए—(१) फत्तू (२) काला (३) मुल्क। फत्तू ने जब अपने वाप का राज्य पाया तो हमेशा पठानों का साथ देता रहा। इस तरह से अपने राज्य की रक्षा भट्टी आदि लोगों से करता रहा। इनके चार वेटे हुए—(१) संगर (२) लंगर (३) सहनू (४) लहनू। संगरसिंह जिस समय गद्दी पर वैठे थे उस वक्त वादशाह वावर का ज़माना था। संगरसिंह का क़ायम मुकाम चक्कर या चक्कार के कोट कपूरा में था। संगरसिंह वहुत से मवेशी रखते थे, जिनकी तादाद कई हज़ार थी और इस मवेशी के कई गिरोह थे।

वादशाह वावर भी एक वार इस चक्कार के जंगल में शिकार खेलने आया। संगरसिंह के नौकरों ने वादशाह का जब कि वह धूप से वहुत प्यासा था सत्कार किया। वस इसी कारण सरदार संगर और वादशाह से मुलाक़ात हो गई। इस शाही

मुलाक़ात से संगरसिंह और उसकी औलाद ने काफ़ी लाभ उठाया। जब हिमायूं और शूरी बादशाहों में लड़ाई हुई उस समय संगरसिंह ने हिमायूं की सहायता की। इनके ज़माने में जितनी भी जमीन इनके क़ब्ज़े में थी उस पर बहुत ही कम महसूल लिया जाता था जो कि नहीं के बराबर था। सारी प्रजा के लोग लड़ाई के वक़्त में सारी सेना में भर्ती हो जाते थे। जंगली क़ौमों का गिरोह जो इनकी हिमायत में आता वह हरतरह तसल्ली पाता था। संगरसिंह के दो रानियाँ थीं एक विवाहिता दूसरी करेवा की हुई। विवाहिता रानी के आठ बेटे थे—(१) मुल्लन, (२) लालसिंह, (३) जोधासिंह, (४) चोधासिंह, (५) घूतीसिंह, (६) औगरसिंह, (७) ज्ञानसिंह, (८) दैवसिंह। दूसरी रानी जो कि इनके छोटे भाई की विधवा थी और इन्होंने भाई के लड़ाई में मारे जाने के बाद उसे अपने घर में डाल लिया था उसके छः लड़के हुए—(१) सूरतसिंह, (२) रजादसिंह, (३) यक्खू, (४) पीरू, (५) रावल (६) नन्द। इनमें से अधिकांश हिमायूं के साथ लड़ाई में मारे गये। संगर के बाद इनके लड़के मुल्लनसिंह राज्य के मालिक हुए। उस समय अकबर का ज़माना था। भट्टी लोग धीरे-धीरे इनके राज्य को दबा रहे थे। एक भट्टी राजपूत ने अपनी लड़की अकबर को व्याह दी थी और यह मुसलमानी हो चुकी थी। इस भट्टी सरदार का नाम मंसूरखां था। यह जब लड़ाई में मुल्लन से फ़तहयाब न हुए तो इसने आगरे जाकर बादशाह अकबर से सहायता चाही। इस ख़बर को सुनकर भी कुछ थोड़ी सी फ़ौज लेकर आगरे पहुँचे। दोनों ने अपने राज्य के सरहदबंदी के दावे अकबर के सामने पेश किये। लेकिन अकबर ने कोई फ़ैसला न करके विश्वास दिलाया कि तुम्हारे राज्यों की फिर सरहद बांध दी जावेंगी। अकबर ने दोनों को खिलअत और खस्ताने अता किये। इस समय मंसूखां ने मुल्लन को नीचा दिखाने की गरज से खिलत में पगड़ी उठाकर अपने सिर पर बांधनी शुरू करदी। सरदार मुल्लनसिंह ने भी उठकर पगड़ी का दूसरा सिरा अपने सिर पर बांधना शुरू कर दिया। अकबर ने कहा—बस तुम्हारा राज्य सम्बन्धी फैसला हो गया। तुम दोनों अपने राज्य को उसी तरह बाँट लो कि जिस तरह तुम्हारे सिर पर पगड़ी मौजूद है। कहा जाता है कि पगड़ी दोनों के सिर पर बराबर निकली, इस फैसले के बाद दोनों सरदार अपने अपने देश को चले आए। आगे से समय समय पर शाही सेवाएँ करते रहे।

भट्टियों और वराड़ों की लड़ाइयों का कारण यह था कि देहली से चल कर घंघर नदी के बीच का प्रदेश भट्टियों ने दबा रक्खा था। वराड़ उसे अपनी पैत्रिक सम्पत्ति समझते हैं इस वजह से वराड़ और भट्टियों में हमेशा तकरार रहती थी और कोई समय लड़ाई झगड़े से खाली नहीं जाता था। राजपूत भट्टियों का एक बड़ा हिस्सा मुसलमान हो चुका था जिनका नायक मंसूर भट्टी ज़ोरों पर था। उसने जाटों के इलाक़ों पर भी हाथ मारना शुरू कर दिया था। इस पर वराड़ जाटों ने पूरी ताक़त के साथ मंसूरखाँ पर हमला किया। मौजा वलूआना (स्टेट

पटियाला) मौज़ा दयून (स्टेट फ़रीदकोट) पर लड़ाइयाँ हुईं। ये लड़ाई बहुत दिन तक हुई। फतहखाँ, आलमखाँ जो कि मंसूरखाँ के लड़के थे इन लड़ाइयों में काम आए। बराड़ों के दो सरदार हेवतसिंह, जल्ला लड़ाई में मारे गए। दोनों ओर से हज़ारों आदमियों का नुक़सान हुआ। विजय बराड़ जाटों के हाथ रही। बराड़ों ने भट्टियों की वस्तियों को उजाड़ डाला और मंसूरखाँ भाग कर रानिया को चला गया।

मंसूरखाँ के साले का नाम वाजा था। इसके पास लाखों ऊँट और मवेशी थीं। तीन चीजें और मशहूर थीं—(१) वेम्व या टमक (२) नकरा रंग की घोड़ी (३) सहीनी सांग। एक समय जब कि वाजा नमाज़ पढ़ रहा था तो बराड़ जाटों ने उसके गाँव पर हमला करके इन तीनों चीज़ों को छीन लिया। मंसूरखाँ भी चुप नहीं वैठा हुआ था, वह जब मौक़ा पाता बराड़ों के इलाक़ों पर हमला कर देता और चट भाग जाता। एक समय वह मौज़ा मदरसे से जो कि फ़ीरोजपुर में है रानिया जा रहा था तो खतराना के मुक़ाम पर बराड़ों ने उसे घेर लिया। दोनों ओर से लड़ाई हुई। मंसूरखाँ मारा गया। मंसूरखाँ के मारे जाने की ख़बर अकवर के यहाँ पहुँची तो उसने कोई ध्यान नहीं दिया क्योंकि ज्यादती मंसूरखाँ की ओर से थी। दूसरे बराड़ लोग अकवरी सेना की सहायता किया करते थे।

लूटमार करने और राज्य बढ़ाने में बराड़ ख़ूब ज़ोरों पर थे। कहा जाता है कि एक बार उनका एक दल जिसमें नौ सौ वहादुर सिपाही थे मुहीम से लौटता हुआ मौज़ा धनौर पहुँचा जो इस वक्त मौज़ा बीकानेर में है। वहाँ इस दल को मालूम हुआ कि मौज़ा पूगल के रक़वा से एक खेत के दरम्यान राठौर राजपूतों की नौजवान लड़की हज़ारों रुपये का ज़ेवर पहिने हुई तन तनहा एक टाएट बनाए दिन रात वैठी रहती है। राठौर इनके शत्रु थे, ख्याल हुआ कि रास्ते में इस औरत को लूटते जावें। सब के सब इस खेत की तरफ़ हुए। जब औरत के पास पहुँचे तो कहा—"तुम लोग तो वहादुर और जवान मर्द कहलाते हो। घोड़े, मवेशी लूटते हो न कि आदमी। मैं औरत ज़ात हूँ। वेवजह मुझ पर हमला करना मर्दानिगी नहीं है। तुम मेरे साथ दो बातें कर लो, फिर चाहो जो करना।" सारे वहादुर उसकी तरफ़ ध्यान देकर सुनने लगे तो उसने कहा कि—तुम नौ सौ वहादुर हो और मेरे गोपिये के ग्यारह सौ गुलीले इस समय मौजूद हैं। मेरी निशानावाज़ी की आज़माइश कर लें। यदि इसमें तुम्हें मेरा कमाल दिखाई दे तो मुझे अपनी शरण में ले लो। दल के लोगों ने उसकी बात की जांच के लिये नौ सरदारों को चुनकर उसके सामने खड़ा किया और कहा कि—इनके नेत्रों के ठीक बीच में निशाना लगाओ। उसने निशाने ठीक लगाये। बराड़ सरदारों ने उसके कमाल को मान लिया और उसे शरण में ले लिया। उससे पूछा कि तुम नौजवान सुन्दरी हो फिर इस तरह जंगल में क्यों वैठी रहती हो? उस सुन्दरी ने कहा कि मैं विवाह होते ही विधवा

होगई हूँ, जिन्दगी का लुत्फ़ तनक भी नहीं मिला। मेरे ससुराल और मायके वाले क़ौमी रस्म के लिहाज़ से करेवा नहीं करते और मेरी इच्छा करेवा (पुनर्विवाह) करने की है क्योंकि छिपकर पाप करना मैं बुरा समझती हूँ। मैं इस जगह अपने पल्ले का मर्द ढूँढने की इच्छा से बैठी रहती हूँ। सरदारों ने उससे कहा कि—हम में से तुझे जो भी मंजूर हो उसी के साथ करेवा करले। सुन्दरी ने स्वीकार करते हुये कहा कि—आप लोग एक-एक करके मेरे आगे से निकलिये जिसे मैं पसन्द करूँगी अपना पति बना लूँगी। सरदार एक एक करके उसके आगे से गुज़रे। उसने उनमें से रावदुल के लड़के रतनपाल को पसन्द किया। साथ ही उससे वचन लिया कि सरदार जी! यदि मेरे वारिश तुम्हारा पीछा करें और तुम कदाचित उन्हें जीत न सको तो मुझे मार डालना क्योंकि मैं उनका मुँह नहीं देखना चाहती हूँ। सरदार रतनपाल ने स्वीकार करके उसको अपने पीछे घोड़े पर बिठा लिया। राठौरों को खबर लगी तो मुकाबिले को आये किन्तु वराड़-वंशी जाट वीरों ने उन्हें मार कर भगा दिया। मौज़ा अबलू में पहुँचने पर समय पाकर इस सरदारिनी के एक लड़का पैदा हुआ जिसका नाम हरीसिंह रक्खा गया। फिर सरदारिनी मय-बच्चा के पंजगराई में आ रही। हरीसिंह सदैव अपनी क़ौम के—जाट सरदारों के साथ युद्ध में शत्रुओं से लड़ने के लिए जाया करता था१।

भुल्लनसिंह की सरदारी के दिनों में इतनी जमीन आगई थी, जो आज इलाक़ा कोटकपूरा, इलाक़ा फरीदकोट, इलाक़ा माड़ी, इलाक़ा मुदकी और इलाक़ा मुक्तेश्वर के नाम से मशहूर है। इतने बड़े खुद मुख्त्यार सरदार तत्कालीन बादशाह को भेट व कर स्वरूप कुछ रुपया दिया करते थे। लक़ब चौधरी के नाम से प्रायः ऐसे सरदार पुकारे जाते थे। सरदार भुल्लन ने अकबर के समय से लगाकर शाहजहाँ के समय तक के जमाने को देखा था। वे शाही इमदाद में अपने सैनिकों समेत आते थे। आख़िर शाहजहाँ की सहायता में जब कि बुन्देलखण्ड में युद्ध हुआ अपने भाई लालसिंह समेत मारे गये। भुल्लन के कोई संतान न थी। उनके छोटे भाई के एक लड़का था जिसकी उम्र उस समय केवल ६ या ७ वर्ष की थी, नाम उसका कपूरसिंह था। यह छोटा रईस अपने बाप-दादों की जागीर की क्या रक्षा कर सकता था? पारिवारिक जनों ने भी इस बात के साथ कोई सहानुभूति का व्यवहार न किया। जिसके मन में जहाँ आया इलाक़े में लूटमार करके गुज़ारा करने लगा। शाही टैक्स का जो देना होता था वह भी शेष रहने लगा। पटियाला वाले भी इलाक़ा में हाथ मारने लगे। इस बच्चा का कोई अपना न था, किन्तु उसकी दाई और मां उसका बड़ी सावधानी से लालन-पालन कर रही थीं। मवेशी और नौकर काफ़ी रख छोड़े थे, इनके सहारे खान-पान चलता था। जब बच्चा नौजवान हुआ तो जङ्गल में शिकार खेलने लगा। सैनिक बनने के सारे साधन उसे प्राप्त थे। साधु-सन्तों की भी ख़ूब सेवा करते थे। एक समय गुरु

१—'आइना बराड़-बंश'। जिल्द ३। पेज १६, १७, १८।

हरराय पंजगराई में पधारे। अन्य लोगों ने भी उनका सत्कार करना चाहा पर वह सरदार कपूरसिंह के घर पर ही ठहरे और कपूरसिंह की मिहमानदारी से बहुत खुश हुए तथा दुआ भी दी।

कई वर्षों का जब शाही टैक्स न चुका तो सूबेदारों ने उन लोगों पर तक़ाज़े किये। जगह-जगह सरदार बनने की कोशिश कर रहे थे तो उन्हें होश हुआ और उन्होंने यही उचित समझा कि "हमारा सरदार तो कपूरसिंह है वही सरकारी कर को चुकायेगा, वही किसानों से वसूल करेगा।" पहिली बार जब कपूरसिंह के पास तक़ाज़ा शाही टैक्स के चुकाने का आया तो उन्होंने नाबालिगी के कारण बताकर मुहलत लेली। दूसरी बार तकाज़ा आने पर शाही मदद से उन्होंने चौधरायत सँभाल ली। शाही टैक्स के चुकाने के बाद जहाँ-तहाँ रहने को गढ़ियाँ बनवाई१। कुछ दिनों के बाद कोट ईसाखाँ के हाकिमों की तथा सूबेदार की शिफ़ारिशों के होने के कारण बादशाह ने इनको कुल इलाक़े की चौधरायत की सनद दे दी और खिलअत भी दिया।

इस वक्त की सल्तनत ने जो चौधरायत का मंसब मुकर्रर कर रक्खा था वह अपने शाही टैक्स वसूल करने में आसानी का एक ज़रिया था। वरना अपने इलाक़ों में शाही अख्त्यार वाले हाकिम थे उनकी हुकूमत के अन्दरूनी मामलातों में दख़ल नहीं देते थे। जो इलाक़े सल्तनत उनके अधिकार में स्वीकार करती थीं उनकी बाबत कोई टैक्स मुकर्रर कर दिया जाता था जिसका नियत समय में सरकारी ख़जाने में दाख़िल होना जरूरी था। ये हिस्सेदारी शाहजहाँ के अहद से हुई थी। इसके पहिले की सल्तनत लड़ाई के समय में मदद लेती थीं।

जब कपूरसिंह को इधर-उधर के झंझटों से फ़ुरसत हुई तो उन्होंने अपनी राजधानी बनाने की फिक्र की। भाई भगत की सलाह से कोट कपूरा को आबाद किया और आसपास के मुकामातों से लोगों को बुला करके बसाया। धर्मकोट, पसूर, पटियाला, लाहौर, जगराम से हर एक पेशे के कारीगरों को वहाँ बुलाकर आबाद किया। कोट कपूरा में बहुत जल्द रौनक़ बढ़ गई। इर्द-गिर्द जो क़ौमें थीं कपूरसिंह ने उनसे मेल जोल बढ़ाया और अपनी रिआया के साथ में नेकी का बर्ताव करने लगे। इन दिनों में इनके यहाँ गुरु गोविन्दसिंह पधारे। सरदार कपूर- ने उनकी ख़ूब खातिर की। गुरु गोविन्दसिंह उन दिनों औरङ्गजेब के छेड़-छाड़ में लगे थे। उन्होंने कोटकपूरा को अपने सिक्खों की रक्षा के लिए मांगा। क़पूरसिंह ने यह कर के मना कर दिया कि मेरा अहद

१—घघर ... रों ने अत्याचारी भट्टियों के मुकाबिले पर मर मिटने से पहिले अपनी ... के यहाँ अमानत में रखदी थी जो कि घघरों के भट्टियों द्वारा ... के जन-हितकारी कामों में खर्च आई। "आइना बराड़ बंश"। पे... २०।

सल्तनत के साथ हो चुका है, इसलिए आपको नहीं दे सकता हूँ। इस पर गुरु साहब ने कपूरसिंह को समझाया कि जिन लोगों की मदद करते हो, उन्हीं के हाथों से मारे जाओगे। कपूरसिंह को घोड़े लड़ाने का बड़ा शौक़ था। घड़ियाला के स्थान पर उन्होंने घोड़ों की छावनी बनाई थी। ईसाखां का हाकिम घोड़ों की बढ़ती को देख कर कपूरसिंह से भीतर ही भीतर जलने लगा। फिर वह जलन यहाँ तक बढ़ती गई कि जिस समय मुग़ल सल्तनत की अवनति के दिन आये—औरंगजेब इस मुल्क से चल बसा—उस समय ईसाखां और कपूरसिंह के सम्बन्ध क़तई टूट गए। आखिरकार कपूरसिंह के मारने के लिए ईसाखां ने एक जाल रचा। यह समझता था कि कपूरसिंह साधुओं पर अन्ध-भक्ति रखता है, इसलिए उसने कुरहान नाम के फ़क़ीर को दावत देने के लिए भेजा। फ़क़ीर ने विश्वास दिलाया कि आपके साथ किसी प्रकार का छल-कपट न होगा। कपूरसिंह फ़क़ीर के दम-दिलासों में आकर कोट ईसाखां में आ गया। वहाँ उनकी बड़ी आवभगत की गई। कई दिन की मेहमानदारी के बाद ईसाखां ने इन्द्रिया नामक मौज़े में मुलाक़ात के बहाने बुलवा कर जब कि वह और डूड दो ही जीव थे, पकड़वा कर बबूल के पेड़ पर लटकवा दिये और दूसरे दिन फाँसी से उतरवा कर संस्कार कर दिया गया। यह दुःखदाई समाचार जब कोटकपूर में पहुँचा तो सरदार के ख़ान्दान में भारी अशान्ति छा गई। इनके तीनों लड़के—(१) शेखासिंह (२) मेखासिंह (३) सेनासिंह बदला लेने पर उतारू हो गए। इनमें सेनासिंह ज्यादा दिलावर था। ये आए दिन फ़ौज इकट्ठी करते और ईसाखां पर हमला बोलते। बदला लेने की इन्हें ऐसी धुन सवार हुई कि रियासत के इन्तजाम की भी सुध भूल गए। यहाँ तक कि बाप की जगह जांनसीनी और राजतिलक की रस्म की भी सुध न रही। दिन-रात उसी धुन में रहते कि ईसाखां की कमर तोड़ कर, उसका चुल्लू भर ख़ून पीकर उसके दिल के अरमान निकालें। बारह, तेरह वर्ष तक बराबर लड़ाई होती रही। इस लम्बे अरसे में शेखासिंह ने हिसार के सूबेदार से दोस्ती पैदा कर ली और उसको ईसाखां के खिलाफ़ भड़का कर अपने पक्ष में कर लिया। हिसार के सरदार ने जिसका नाम सद्दादखां था दिल्ली के बादशाह से इस बात का अह्द प्राप्त कर लिया कि ईसाखां को दण्ड दिया जाय। लाहौर के सूबेदार ने भी अपनी फ़ौज सद्दादखां के पास सहायता के लिए भेज दी। सद्दादखां ने सेनासिंह की मारफ़त ईसाखां को ललकारा। ईसाखां के पास लड़ाई के लिए काफ़ी फ़ौज थी। सद्दादखां और ईसाखां की फ़ौजें प्रदाद में पहुँच गईं। खडियाल को जीतने के बाद कोट ईसाखां पर हमला किया गया। दोनों तरफ़ बराबर फ़ौजें थीं। दोनों ओर से घमासान लड़ाई हुई। कहते हैं कि जोधा की औलाद के कुछ लोग मैदान छोड़ कर घरों को भाग गए, लेकिन उनकी औरतों ने उनको बड़ा शर्मिन्दा किया और धिक्कारा। कहते हैं कि एक नौजवान सरदार अपना मुकलावा करके लाया। उसकी माँ को उदास देखकर पूछा। माँ ने कुल हाल अपनी उदासी का कहा कि ऐसे मर्दों से तो औरत अच्छी हैं। इस नौजवान का नाम पदारथसिंह

था। माँ की ऐसी बातें सुन कर उसका खून खौल उठा। वह मुकलावा की सारी खुशी भूल गया। हाथयार बांध, घोड़े पर सवार हो सीधा युद्धक्षेत्र की ओर चल दिया। वहाँ जाकर बड़ी भारी बहादुरी दिखलाई। ये लड़ाई तीन दिन तक होती रही। हजारों आदमियों की लोथों से ज़मीन पट गई। ईसाखां हाथी पर सवार होकर सेनासिंह के सामने हाथी की तरफ़ बढ़ा। सेनासिंह की बगल में सहदादखां था और ईसाखां का मददगार था। जुमलेखां को सहदादखां ने बढ़कर मार डाला। सरदार सेनासिंह ने हाथी को बढ़ा कर आगे किया और खुद फ़ुरती से कूद कर ईसाखां के ओहदे में जा पहुँचा। तलवार के एक ही हाथ में ईसाखां का सर काट लिया। दाहिने हाथ से चुल्लू भर लोहू पीने लगा लेकिन साथियों ने कहके बंद कर दिया। ईसाखां की फ़ौज भाग निकली। क़िले शहर पर बराड़ का क़ब्ज़ा हो गया। कुछ इतिहासकारों ने ईसाखां की यह लड़ाई सन् १७१५ ई० बअहद फ़रोखशियर बादशाह के लिखी है। इन तमाम लड़ाई-झगड़ों के बाद सेखासिंह को राज-गद्दी हुई। जिन दिनों सेखासिंह ने अपनी हुक़ूमत संभाली उन दिनों दिल्ली के तख्त पर मुहम्मदशाह रंगीला बादशाह था। सरदार सेखासिंह ने सब से पहिला काम यह किया कि जो इलाक़े उनके दुर्भाग्य के दिनों में दुर्बल हो गये थे उनको ठिकाने पर लाये। इसके बाद उन्होंने आबादियाँ बसानी आरम्भ कीं। एक गाँव का नाम अपने ही नाम पर कोटसिखा रक्खा।

आपके दो रानियाँ बताई जाती हैं। बड़ी से जोधासिंह जी और छोटी से हमीरसिंह व बीरसिंह जी का जन्म हुआ। नियम के अनुसार कोट कपूरा स्टेट की राजगद्दी जोधासिंह जी को मिली। जोधासिंह जी भाइयों के साथ प्रेम का व्यवहार करते थे किन्तु दरबारी लोगों ने भाइयों में फूट का बीज बो दिया। इस फूट की बेल को सींचने का दरबारियों को एक और भी मौक़ा मिल गया। ईसाखां के शाही कार्य्यकर्ताओं ने सरदार जोधासिंह जी को बुलावा भेजा था। उन्होंने बीरसिंह जी को ईसाखां भेज दिया। बीरसिंह सैलानी-मिजाज़ के आदमी थे। शाही कर्मचारियों से मुलाक़ात करके इधर-उधर घूमते रहे। उन्होंने एक दिन नदी में ज़र्द रंग का मेंढक देखा। उसकी विचित्रता पर मुग्ध होकर बीरसिंह ने उसे हँडिया में बन्द कर लिया और जब राजधानी में वापिस आये तो ईसाखां के समाचार सुनाने के बाद जोधासिंह जी से कहा कि मैं आपके लिये एक बढ़िया सौगात लाया हूँ। हँडिया खोल कर रखी गई। उसमें से मेंढक निकला। सरदार जोधासिंह ने बीरसिंह को फटकारा—पागल यह क्या सौगात है। बस दरबारियों को बीरसिंह के लिए भड़काने का साधन मिल गया। बीरसिंह नालायक दरबारियों की बहक में इतना आया कि खुल्लम-खुल्ला जोधसिंह को मारने की धमकियां देने लगा। इस पर जोधासिंह ने भाई बीरसिंह को क़ैद में डाल दिया और दरबारियों की राय से हमीरसिंह को आज्ञा दी कि वह दिन भर दरबार में रहा करें और रात को मौज़ा हरी में चले जाया करें। भाइयों को इस

महाराजा ब्रजेन्द्रसिंह साहब,
फरीदकोट।

महाराजा विक्रमसिंह साहब बहादुर,
फरीदकोट।

तरह दमन करने के बाद जोधासिंह निश्चिन्त अवश्य हो गये किन्तु उन्हें अभिमान ने आ घेरा। वह अभिमान इस अनुचित तरीक़े तक बढ़ा कि पटियाला के राजा आलासिंह को भी वह हेय समझने लगे। अपने घोड़े का नाम आलासिंह और घोड़ी का नाम फत्तो (धर्मपत्नी आलासिंह) रख लिया। आलासिंह इस अनुचित अपमान का शीघ्र ही बदला लेने की चेष्टा करते किन्तु उनके यहाँ भी बाप-बेटों में चल रही थी।

सरदार जोधसिंह यहाँ तक राज-धर्म से च्युत हुए कि उनके प्रजा के लोग भी उनसे बिगड़ गये। उनके मुँह जोधासिंह नाम का सरदार लगा हुआ था। वह सर्वेसर्वा था। अन्य लोगों की बढ़ती को देखना वह कभी पसन्द नहीं करता था न यह चाहता था कि सरदार के पास अन्य किसी की पहुँच हो। सैनिक विभाग में मुहरा नाम का सरदार भी अपनी पहुँच मालिक तक रखता था। नियम उन दिनों ऐसा था कि राजा को सरदार लोग किसी ख़ास अवसर पर भेंट में घोड़ा दिया करते थे। मुहरा ने एक बछेड़ा भेंट के लिए पाल-पोश कर तैयार किया किन्तु जोन्दा ने मुहरा की अनुपस्थिति में बछेड़े को जोधासिंहजी के वास्ते मंगा लिया। दरबार में जब मुहरा ने इस तरह घोड़ा मँगाने की शिकायत की तो जोन्दा ने मुहरा का और भी अपमान किया। करमां नाम का जाट सरदार भी मुहरा का साथी बन गया। प्रजाजन तंग आकर कोट कपूरा को छोड़ कर भागने लगे। निदान करमां की सलाह से जोधासिंह को नेस्तनाबूद करने का षड्यन्त्र रचा गया। निर्णय यह हुआ कि हमीरसिंह को साथ मिलाया जावे, और उन्हें ही राज का मालिक बनाया जावे। हमीरसिंह भी इन लोगों के साथ विचार विमर्श के बाद शामिल होगये। निश्चय हुआ कि फ़रीदकोट के किले पर क़ब्ज़ा कर लिया जाय। क़ब्ज़ा किस प्रकार हो इसके साधनों को खोज निकालने का काम मुहरा के जिम्मे छोड़ा गया। फ़रीदकोट में उस समय एक थानेदार और कुछ सिपाही रहते थे। वहाँ प्रत्येक वृहस्पति को मेला लगता था। थानेदार मेले में आकर क़िले से बाहर चौसर खेला करता है। इस तरह उस दिन क़िला ख़ाली रह जाता है। यह बातें मुहरा को चैला फ़क़ीर से मालूम हो गईं। इतनी बातें मालूम करने के बाद मुहरा ने हमीरसिंहजी को सलाह दी कि आप शिकार की तैयारी करके फ़रीदकोट पहुँचे और हमारे साथी सवार होकर क़िले के आस-पास जा पहुँचें। निदान ऐसा ही हुआ। मेले में थानेदार को क़िला दिखाने पर राजी करके हमीरसिंह मय साथियों के क़िले में घुस गए और अधिकार जमा लिया। लाचार थानेदार ने कोट कपूरा ख़बर पहुँचाई कि हमीरसिंह ने धोखा देकर क़िले पर क़ब्ज़ा कर लिया है। पहिले तो जोधासिंह ने कुछ सेना क़िला ख़ाली कराने को भेजी किन्तु यह सेना कामयाब न हुई तो यह कह कर सन्तोष कर लिया—हमीरसिंह भाई है यह ऐंठ बैठा है तो ऐसा ही करने दो। आख़िर एक दिन ख़र्च-पानी से तंग आकर ठीक हो जायेगा। इधर हमीरसिंह

निश्चिन्त होकर अपनी शक्ति बढ़ाने में लगे रहे। साथ ही अलग रियासत बनाने की सनद भी सूबा सरहिन्द से प्राप्त करली। इस तरह हमीरसिंह ने फ़रीदकोट की[१] रियासत जोधासिंह से अलग क़ायम करली। कुछ दिन के बाद जोधासिंह को पता चला कि हमीरसिंह बिना झगड़े-रट्टे के काबू में न आवेगा इसलिये ख़ुद सेना लेकर फ़रीदकोट पर चढ़ाई की। कई महीने तक लड़ाई होती रही। इधर पटियालावाले राज्य पर छापा मार के लूट-मार कर रहे थे इसलिए जोधासिंह को वापिस लौटना पड़ा। किन्तु लौटते ही उन लोगों के स्त्री-बच्चों को क़ैद कर दिया जो कि हमीरसिंह के साथ फ़रीदकोट चले गये थे और उसके साथी बन गए थे।

इस खबर को सुन कर हमीरसिंह व उनके साथी बड़े चिन्तित हुए। सलाह-मशविरा हुआ तो तय पाया कि जेल के अफसर मिट्ठा चूहड़ा से मिल-मिला कर क़ैदियों को छुड़ाया जावे, क्योंकि दिल से मिट्ठा जोधासिंहजी का साथी नहीं है। कुछ आदमी मिट्ठासिंह के पास पहुँचे और उसे एक अँधेरी रात में हमीरसिंह के पास ले आए। हमीरसिंह ने प्रलोभन देकर मिट्ठा को इस बात पर राज़ी कर लिया कि वह अमुक दिन रात के समय क़ैदी स्त्री-बच्चों को बाहर निकाल देगा। उसने किया भी यही, जेल के पीछे की दीवार के सहारे सिड्ढी लगा कर उन क़ैदी स्त्री-बच्चों को बाहर निकाल दिया जिनकी हमीरसिंह को ज़रूरत थी। किन्तु कुछ अभाग्यवश भूल से निकालने से रह भी गए। उनमें से कुछ को फाँसी पर लटका कर, कुछ को भूखा-प्यासा रख कर जोधासिंह ने मरवा डाला। उधर हमीरसिंह भी चुप नहीं बैठे थे। इधर-उधर पेंठ-गोठ मिलाने में कोई कसर बाक़ी न रख रहे थे। उन दिनों उनके नज़दीक में निशान वालिया मिसल का ज़ोर था। उसका एक सरदार मुक़ाम ज़ीरा में रहता था। हमीरसिंह ने एक लाख रुपया देने का पैग़ाम सरदार मुहरसिंह ज़ीरा के पास इस आशय से भेजा कि मिसल के लोग उसकी सहायता जोधासिंह के विरुद्ध करें। मुहरसिंह ने हमीरसिंह के साथियों को कन्हैया, भंगी और फैज़ुल्ला पुरिया मिसल के सरदारों से मिलाया और उनका उद्देश्य भी बता दिया। मिसल वालों ने सहायता देना स्वीकार कर लिया। बहुत से सवार, पैदल तथा तोपखाना मुहरसिंह की कमान में देकर फ़रीदकोट को रवाना कर दिया। इस ज़बरदस्त सहायता को पाकर हमीरसिंह ने सरदार जोधासिंह पर चढ़ाई कर दी। उधर जोधासिंह भी अपनी सेना लेकर क़िले कोट कपूरा से बाहर निकल आया। दोनों भाइयों की फ़ौजों में घमासान लड़ाई हुई। दिन भर हथियार खटकते रहे, दोनों ओर से हजारों आदमी मारे गए। यह युद्ध मौजा सिन्धुवां में हुआ। शाम के समय जोधासिंह की फ़ौज पीछे को हट गई और क़िले में घुस गई। हमीरसिंह के साथियों

१—कहते हैं कि इस क़िले को राजा मोकलहर ने बनवाया था। फ़रीद नाम के फ़क़ीर के नाम से इसका नाम फ़रीदकोट रक्खा था।

ने मौजा सिन्धुवां को जो कि उन्नत बस्ती थी, खूब जी भर कर लूटा तथा बरबाद किया।

सरदार वीरसिंह भाई की जेल से रिहाई पाकर मुक़ाम माड़ी को चला गया। जोधासिंह बड़ी घबराहट में था, कारण कि वह जानता था कि हमीरसिंह के सहायक मिसल वाले लोग बड़े कट्टर व बहादुर हैं। उनसे विजय पाना कठिन है। इसलिए जोधसिंह फिर क़िले से लड़ने को न निकला। इधर हमीरसिंह भी फ़रीदकोट को वापिस लौट आये और मिसल वालों को काफ़ी धन देकर विदा किया और अपने राज्य के बढ़ाने तथा शक्ति संपन्न करने में जुट पड़े। वीरसिंह के साथियों ने उधर उसे समझाया कि माड़ी के इलाक़े को वह अपना मुल्क समझें और भाई उसके साथ छेड़-छाड़ करें तो मिसल वालों से मदद ली जावे। इस तरह से सरदार जोधासिंह तीन ओर की आफ़तों में फँस गये। पटियाला से शत्रुता, इधर दोनों भाई हमीरसिंह और वीरसिंह का घरू युद्ध। लेकिन यह अपनी ग़ल्ती पर पछताने के बजाय हिम्मत के साथ आपत्तियों का मुक़ाबिला करता रहा। हर ओर कसम-कश थी। हमीरसिंह अधिक उन्नति पर थे। उन्होंने अपने क़िलों की मरम्मत कराई। जगह-जगह की पुरानी ख़तरनाक गढ़ियों को मिसमार कराया। कोट करोड़ को क़ब्ज़े में करके उसके गढ़ को तुड़वा-फुड़वा डाला। कहा जाता है कि उसमें ३५ तोपें और बहुत सा खजाना मिला, जो फ़रीदकोट में लाये गये। बहुत से इलाक़े झोक, भक, धर्मकोट आदि अपने राज्य में मिला लिये। आबादी बढ़ाने की भी कोशिश की।

कुछ ही दिनों में सरदार जोधासिंह की शक्ति बहुत कम हो गई उसके पास कोटकपूरा के अलावा केवल पाँच ही गाँव रह गये और राज्य तीन हिस्सों में बट गया जिसमें से अधिकांश हमीरसिंह यानी फ़रीदकोट के पास रहा। सर लेपिल ग्रिफ़िन इसका कारण इस तरह से लिखते हैं कि—मिस्ल के जाट सिखों ने आकर हमीरसिंह और वीरसिंह का पक्ष लिया और रियासत को वह तीन हिस्सों में बाँट गये, मांडी के आस-पास के गाँवों का सरदार वीरसिंह को बना दिया। तीनों भाइयों को सिख-धर्म की दीक्षा (पोहिल) देकर मिस्ल वाले चले गये। "आइना बराड़ वंश" का लेखक लिखता है कि—हमीरसिंह ने खुद अपने बाहुबल से फ़रीदकोट के राज्य को बढ़ाया, जाट सिखों (मिस्लों) के बल पर नहीं बढ़ा। बात इतनी अवश्य सही है कि हमीरसिंह को मिस्ल वालों से सहायता अवश्य लेनी पड़ी।

इतना हो चुकने पर भी लड़ाई-झगड़े मिटे नहीं थे। मौजा कोट सेखा पर दोनों भाइयों में फिर लड़ाई हुई किन्तु जोधासिंह को हार कर लौटना पड़ा। इन्हीं दिनों उसका सरदार जोन्दासिंह फ़रीदकोट वालों ने मार डाला और उसका शिर फ़रीदकोट में घुमाया गया। कुछ ही दिनों बाद अमरसिंह रईस पटियाला ने हमीरसिंह और वीरसिंह को अपने साथ मिलाकर कोट कपूरा पर चढ़ाई की।

दुर्भाग्य से उस समय जोधासिंह अपने पुत्र रणजीतसिंह या चेतसिंह[१] के साथ हवा-खोरी के लिए निकला हुआ था। दुश्मनों ने मौक़ा पाकर उन्हें घेर लिया। सरदार जोधासिंह ने बड़ा डटकर मुक़ाबिला किया; बहुतों का टिकट काट दिया। अन्त में अपने लड़के समेत युद्ध-भूमि में सदैव के लिए सो गया। अमरसिंह इस जीत के बाद पटियाला को लौट गया। सरदार जोधासिंह का कोट कपूरा में संस्कार हुआ, समाधि बनाई गई जो अब तक "जोधा बाबा की समाधि" के नाम से मशहूर है।

सरदार जोधासिंह के और भी दो पुत्र थे—(१) टेकसिंह (२) अमरीक-सिंह। बाप के मारे जाने पर टेकसिंह कोट कपूरा का मालिक हुआ। टेकसिंह ने अपने बाप का बदला लेने के लिए जरूरी यही समझा कि अपने चचा हमीरसिंह से तो मेल रक्खा जावे और पटियाले के नौकर मुस्लिम राजपूतों को दण्ड दिया जावे जिन्होंने कि उनके पिता को घेरकर मार डाला था। वे लोग जलाल-कियाँ के मौजों में रहते थे। दोनों चचा-भतीजों ने उनके गाँवों पर हमला करके उन्हें बहुत नुक़सान पहुँचाया। इसके बाद चचा-भतीजे बड़े प्रेम से रहने लगे। टेकसिंह हफ़्तों फ़रीदकोट में रहता और अपने चचा के साथ पासा खेला करता। मालूम यह होता था मानों इनके दिलो में पिछली बातों का कोई रंज नहीं है। किन्तु हमीरसिंह के दरबारियों को यह मेल-मुहब्बत खटका और उन्होंने हमीरसिंह को सुझाया कि—आपने जिसके बाप के साथ दुश्मनी की उसी से मेल बढ़ाते हो। याद रखिये आपको टेकसिंह कभी भारी नुकसान पहुँचा-येगा। चाहिए तो यह कि उसे कमज़ोर कर दिया जाय। हमीरसिंह को यह बातें पसन्द आईं। दूसरे दिन उसने पाशा खेलते समय भतीजे को गिरफ़तार करा लिया। जब यह खबर कोट कपूरा पहुँची तो भाई की गिरफ़तारी से अमरीकसिंह बड़ा नाराज़ हुआ। उसने क़िले की मरम्मत कराई और लड़ाई की भी तैयारी करने लगा। इधर हमीरसिंह ने मौक़े से पहिले ही कोट कपूरा पर चढ़ाई कर दी किन्तु सफलता न मिली और उसे वापिस लौटना पड़ा। कुछ दिनों के बाद फुलकियां सरदारों के कहने-सुनने से हमीरसिंह ने टेकसिंह को छोड़ दिया। इन घरू झगड़ों से प्रजा में बेचैनी और बदअमनी भी फैली जैसा कि होना स्वाभाविक है। टेकसिंह बेचारे के भाग्य में सुख कुछ भी न बदा था। उसके इलाक़े में दुश्मन आकर लूटमार करते थे, प्रजा लगान देने से इनकार करती थी और सब से बड़ी घटना जो हुई वह यह थी कि टेकसिंह को उसी के लड़के जगतसिंह ने उसके रहने के मकान में आग लगवा कर जिन्दा जला दिया। यह घटना सन् १८०६ ई० की है।

१—'बराड़ वंश' का लेखक—इस लड़के को मुसलमान औरत के उदर से उत्पन्न लिखता है।

इस तरह पितृ-हत्या कारी जगतसिंह कोट कपूरा की रियासत पर काबिज़ हुआ। जगतसिंह के और भी तीन भाई थे। कर्मसिंह जो कि इसका हक़ीक़ी भाई था वह इस घृणित कृत्य से बड़ा नाराज़ हुआ। उसने थोड़े ही दिन के बाद महाराज रणजीतसिंह से लाहौर के पास जाकर सहायता की याचना की। महाराज रणजीतसिंह ने दीवान मुहकमचन्द को कोट कपूरा के फ़ैसले के लिए करमसिंह के साथ भेजा। बड़ी लड़ाई के बाद विजय महाराज रणजीतसिंहजी की हुई। कोट कपूरा ख़ास अपने राज्य में मिला लिया। जलालकियाँ के मौजे रईस नाभा के सुपुर्द कर दिए। सरदार जगतसिंह ने एक बार जोर लगा कर अपने इलाक़े से महाराज रणजीतसिंह के आदमियों को निकाल दिया, किन्तु सँभालना कठिन हुआ और सुलह करनी पड़ी। जगतसिंह ने अपनी लड़की की शादी महाराज रणजीतसिंह के लड़के शेरसिंह के साथ कर दी। इस शादी के बाद जगतसिंह अधिक दिन न जिये। सन् १८२५ ई० में उसकी मृत्यु हो गई। निःसन्तान मरने के कारण जोधासिंह-ख़ान्दान की हुक़ूमत का अन्त हुआ।

वीरसिंह की हुक़ूमत माड़ी भी जोधासिंह के इलाक़े की भाँति जाट सरदारों के हाथ से निकल गई। जोधासिंह की हुक़ूमत फिर भी अपने घर में ही थी यानी महाराज रणजीतसिंह के राज्य में मिल गई, लेकिन वीरसिंह की हुक़ूमत उसके लावलद मरने पर अँगरेज़ी राज्य में शामिल कर ली गई जो कि इलाक़ा फीरोज़-पुर में थी।

हमीरसिंह ने जहाँ अपने राज्य को बढ़ाया वहाँ प्रजा को भी अमन से रक्खा, किन्तु गृह-युद्ध में फँसे रहने के कारण वह राज्य की वृद्धि इतनी न कर सके जितनी कि उस समय के इतने बड़े रईस को मुग़लों के बिगड़े दिनों में कर लेनी कुछ मुश्किल बात न थी। हमीरसिंहजी के दो लड़के थे—(१) मुहरसिंह और (२) दिलसिंह। दिलसिंह कुछ चपल स्वभाव के थे। वैसे थे बड़े वीर और निशाने बाज़। एक समय उन्होंने निशाने का कमाल दिखाने के लिये बाप की चारपाई के पाये को गोली से बींध दिया था। मुहरसिंह ने निशाना लगाने से यह कह कर इनकार कर दिया कि निशाना दुश्मन पर लगाया जाता है। अपने पोषक और श्रद्धेय पारवारिकों पर नहीं। हमीरसिंह इस बात से मुहरसिंह से बहुत ख़ुश हुए। उन्होंने दिलसिंह को आज्ञा दी कि वह मौज़ा ढोढ़ी में निवास रक्खें। मुहरसिंह युवराज बना दिये गए। मुहरसिंह ने आज्ञा-पूर्वक युवराज-पद के कार्यों को किया। पिता की सेवा-सुश्रूषा भी ख़ूब की। संवत् १८३६ विक्रमी में हमीरसिंह का देहान्त हो गया और मुहर राजा हुए।

मुहरसिंह फरीदकोट के राजा तो हुए किन्तु दिलसिंह उनसे ख़ूब जलता था। वह पिता के आगे से ही अपने भाई से ईर्षा-द्वेष रखता था। उसने बाप के मरने पर कई बार फरीदकोट पर चढ़ाई करने की तैयारी की, किन्तु विफल रहा।

मुहरसिंह .खूब चाहते थे कि भाई पर कब्ज़ा करके उसे वश में रक्खें। आख़िरकार उन्हें मौज़ा ढोढ़ी पर चढ़ाई करनी पड़ी। .खूब लड़ाई हुई किन्तु मुहरसिंहजी को विजय प्राप्त न हुई। इसका कारण यह था कि दिलसिंह ने पहिले से ही मिसल वालों की सेना सहायता के लिए बुला रक्खी थी। इससे सरदार मुहरसिंहजी को ढोढ़ी को विना ही परास्त किए फरीदकोट लौटना पड़ा। इन्होंने अपनी शादी मांसाहिया सरदारों के घर में की थी। रानी से जो कुँवर पैदा हुआ था उसका नाम चड़हतसिंह रक्खा गया था। चड़हतसिंह की मां उसके बचपन में ही स्वर्ग सिधार गई। इसलिए मुहरसिंहजी ने दूसरी शादी करली और यह शादी जानी गोत के जाट घराने में हुई। किन्तु इससे कोई औलाद नहीं हुई।

तवारीख लेखक कहते हैं कि मुहरसिंह आराम-पसन्द तथा ऐश-पसन्द आदमी थे। उन्होंने प्रजा की देख-भाल भी छोड़ दी थी। राज बढ़ाना तो एक ओर रहा उनकी लापरवाही से राज के अबोहर, कडमे, भक और बोद इलाक़े हाथ से निकल कर दूसरों के नीचे पहुँच गए। कहा जाता है कि रावल राजपूतों की पंजी नाम की औरत को सरदार मुहरसिंहजी ने उसके पति से अलग करके अपने महल में रख लिया था। इस औरत ने महाराज को उसी भांति अपने वश में कर लिया जैसे संयुक्ता ने पृथ्वीराज को कर लिया था। एक बढ़ कर बात इसमें यह भी थीं कि राज-काज में भी हाथ रखती थी। इसके उदर से एक लड़का हुआ था जिसका नाम भूपसिंह रक्खा गया था। बड़ा होने पर भूपसिंह भी राज-काज में दस्तन्दाज़ी करने लगा था और राज का मालिक युवराज चड़हतसिंह बेचारा इधर-उधर मारा-मारा फिरता था। पंजी कचहरी में बैठती, मुक़द्दमे करती, राज्य के सब काम को हाथ में लिये हुये थी। उसने अपने भाई-बन्धुओं को भी राज के अच्छे-अच्छे उहदों पर नौकर रख लिया था। दरबार में उसका ऐसा रौब था कि दरबारी उसके सामने दिल खोलकर बातें नहीं कर सकते थे। सरदार मुहरसिंह ने भूपसिंह की शादी जाटों में ही करादी थी। वह एक जगह नहीं किन्तु तीन जगह। इस कारण से युवराज चड़हतसिंह को वहम होगया था कि कहीं भूपसिंह ही राज का मालिक न बना दिया जाय। कुछ घटनायें भी ऐसी घट चुकी थीं जिससे चड़हतसिंह का सन्देह पक्का होता था। वह अपनी ननिहाल चला गया। राज्य के कुछ कार्य-कर्ता मंत्री से बड़े तंग व नाराज़ थे। वह युवराज चड़हतसिंह को उभाड़ते भी थे। लेकिन चड़हतसिंह मौक़े की तलाश में थे। जबकि चड़हतसिंह अपनी ननिहाल में थे मंत्री को भ्रम हुआ कि कहीं चड़हतसिंह अपने चचा दिलसिंह की मदद से क़िले पर चढ़ाई न कर दे। इसलिए दिलसिंह को या तो क़ैद कर लेना चाहिये या रियासत से भगा देना चाहिये। इस इरादे से ढोढी पर उसने चढ़ाई कर दी। किन्तु दिल की सहायता के लिए मिसलों की सेना आगई इससे मन्त्री को लाचार फरीदकोट लौटना पड़ा।

पंजी का सलूक प्रजाजनों के साथ भी अच्छा न था। जिन क़बीलों पर वह ज़रा भी सन्देह करती उन पर सैनिक लेकर जा टूटती और उन्हें तंग करती। इस तरह प्रजा-जनों के हृदय में उसने थोड़े ही समय में विद्वेष के भाव पैदा कर दिये। इससे हुक़ूमत भी कमज़ोर होने लगी। नौबत यहाँ तक आगई कि पंजी चाहती थी कि अगर चड़हतसिंह फ़रीदकोट रहे तो उसे कोई इल्ज़ाम लगा कर राजा से तंग कराया जावे या उसको मरवा डाला जावे और दरबारी लोग चाहते थे कि सरदार मुहरसिंह किसी काम के लिए दो-चार दिन को भी बाहर चले जावें तो पंजी का काम तमाम कर दिया जावे और राजगद्दी पर चड़हतसिंह को बिठाकर सरदारों को भी छुट्टी देदी जावे। दोनों दल अपनी-अपनी घात में थे। दैवयोग से सर्दी के दिनों में सरदार मुहरसिंह माहिलो व मलोर गाँव के झगड़े निपटाने को वहाँ चले गए। दरबारियों ने चड़हतसिंह को ननसाल से बुलाकर अपना उद्देश्य पूरा करने की ठानी। कुछ दरबारी लोगों (दीवानसिंह, शोभासिंह व दाऊसिंह आदि) के साथ चड़हतसिंह महल में घुस गए। साथियों ने पंजी को मार डाला। उसके भाई व बेटे वहाँ से भाग खड़े हुए। राजगद्दी पर चड़हतसिंह ने क़ब्ज़ा कर लिया। उधर मुहरसिंह के पास जब यह ख़बर पहुँची तो बड़े घबराए। फ़ौज इकट्ठी करके कुछ ही दिनों बाद क़िले पर चढ़ाई कर दी। इधर चड़हतसिंह ने भी काफ़ी तैयारी कर ली थी। बाप-बेटों में युद्ध छिड़ गया। सरदार मुहरसिंह को पहिली बार में सफलता न मिली तो फिर चढ़ाई की। इसी तरह कई दफ़ा चढ़ाई करते रहे।

जब बाप बेटे पर विजयी न हुआ तो अन्य अनुचित तरीकों से राज्य-प्राप्त करने की सूझी। कुछ भेदियों को लोभ देकर पता लगाया कि मोरी दर्वाज़ा खुला रहता है। एक दिन कुछ आदमी लेकर उसी दरवाज़े से क़िले में घुस गए। ख़ूब ख़ून ख़राबी हुई, लाचार वापिस लौटना पड़ा। पक्का नाम के मौजे में जाकर आबाद हो गये और वहीं से बैठे-बैठे तैयारियाँ करने लगे। चड़हतसिंह ने लाचार होकर दिल भर कर लड़ाई लड़ने की तैयारी की। इधर-उधर से फ़ौज इकट्ठी की। नाभा से बहुत कुछ रक़म देनी करके सैनिक सहायता मँगाई और बेमुरव्वत होकर बाप के आदमियों के ऊपर हमला बोल दिया। मुहरसिंह हार कर पक्का से बाहर निकल आये और रियासत भी छोड़नी पड़ी। उन्हें मुदकी की ओर जाना पड़ा।

बाप के लड़ाई-झगड़ों से फ़ुरसत पाने पर चड़हतसिंह ने उन लोगों को सज़ा दी जो साजिश में शामिल थे। कहा जाता है कि पंजाब में सिख-धर्म के बढ़ते हुए प्रवाह को देख कर सरदार चड़हतसिंह भी पायिल (दीक्षा) लेकर सिख-धर्म के अनुयायी हो गये और सिख होने की ख़ुशी में गुरु के आदेश से राज-बन्दियों को भी मुक्त कर दिया। मुहरसिंह ने मुदकी के सरदार की सहायता से फिर एक बार फ़रीदकोट पर हमला किया, किन्तु विफल रहा। अख़ीर दिनों में सरदार चड़हतसिंह ने उसे अपने ससुर की देख-रेख में मौजा शेरसिंहवाल में नज़रबन्द कर दिया और

वहाँ उसका देहान्त सन् १७६८ में हो गया। सरदार मुहरसिंह के देहान्त के वाद भी चड़हतसिंह को युद्ध करने पड़े। पंजी का लड़का भूपसिंह मुदकी के सरदार महांसिंह से मिल गया। और भी राजवन्दी जो कि फरीदकोट से निकाले गये थे, महांसिंह के यहाँ जा वसे। इन्हीं लोगों की प्रेरणा से महांसिंह ने फरीदकोट पर चढ़ाई करने की तैयारी कर दी। इधर चड़हतसिंह भी फ़ौज लेकर मुदकी की ओर वढ़ा। मौजा चक्रबाजा में दोनों दलों की मुठभेड़ हो गई। दिन भर की लड़ाई और ख़ून ख़रावी के वाद दोनों दलों के दिल टूट गए। दोनों दल अपने-अपने स्थान को वापिस लौट गये। भूपा इतने पर भी निराश न हुआ। कोट कपूरा के सरदार से सहायता लेकर फरीदकोट पर चढ़ आया। जव कि घमासान लड़ाई हो रही थी और भूपा घोड़े पर वैठ कर सेना-संचालन कर रहा था फरीदकोट के सैनिक प्रसिद्ध निशानेवाज करमसिंह ने गोली से भूपसिंह को घोड़े की पीठ से गिरा दिया। भूपसिंह मारा गया। इस तरह चड़हतसिंह का ख़ास घरू दुश्मनों से पीछा छूटा। वाहर भागे हुए व निकले हुए लोगों को वुला कर वस्तियाँ आवाद कराईं तथा प्रजारंजन के अन्य कामों में दिलचस्पी लेने लगे। यद्यपि प्रजा में धन-जन की वृद्धि हो रही थी, किन्तु कुछ महाजन अव भी षडयन्त्र रचने में लगे हुए थे। पहिले तो उन्होंने कुछ जाट परिवारों की निन्दा की। इसमें भी जव वे सफल न हुए तो उन्होंने दिलसिंह को उकसाया। दिलसिंह ने अपने पिछले समय में काफ़ी झगड़े-फ़िसाद किये थे। इस समय वह शान्ति के साथ जीवन-यापन कर रहा था। किन्तु कान भरने वालों ने एक वार फिर ख़ूंरेजी करने पर उसे तयार किया। उन लोगों ने जो मंत्रणा वताई उसका मौक़ा आया और वह मंत्रणा सफल हुई। उचित अवसर पाकर जव कि चड़हतसिंह की तीन रानियाँ और उनके बच्चे फरीदकोट में न थे और सरदार अपनी चौथी रानी के साथ महलों में अकेले थे दिलसिंह ने षडयंत्र के अनुसार क़िले में और फिर महलों में घुस कर वर्छे से अपने भतीजे चड़हतसिंह का काम तमाम कर दिया। भेदियों तथा नीच षडयन्त्र कारियों को सफलता मिली। वेचारे चड़हतसिंह मारे गये।

दिलसिंह फरीदकोट के मालिक तो हो गये, किन्तु चड़हतसिंह की महरवानियाँ लोगों के दिलों में घर किए वैठी थीं। इसलिए वह दरवारियों के हृदय पर कब्जा न कर सके। दरवारी हृदय में इस धोखे-धड़ाके के क़त्ल और परिवर्तन से दुखी थे। किन्तु प्रकट में उन्होंने कोई विरोध नहीं किया और मौक़े की तलाश में लगे रहे। वह दिलसिंह को इस धोखे की सजा देने के लिए भीतर ही भीतर उधेड़-वुन में लगे रहते थे। उन्हें भी मौक़ा मिला। दिलसिंह ने पहिले प्रतिज्ञा की थी कि अगर फरीदकोट लेने में सफल हुआ तो डोरली के गुरुद्वारे में खुद जाकर चढ़ावा चढ़ाऊँगा। चूंकि सफलता उसे मिल चुकी थी इसलिए उसने वैसाखी के मेले में डोरली जाने का इरादा किया। हालांकि फरीदकोट पर काविज़ हुए उसे अभी दो ही हफ़्ते हुए थे, फरवरी १८०४ ई० मुताविक़ फागुन

संवत् १८६१ में चड़हतसिंह का वध हुआ था। किन्तु उसे विश्वास यह हो गया था कि फरीदकोट के दरबारियों में उसका विरोधी कोई नहीं है। यह उसकी प्रत्यक्ष भूल थी। जब उसके विपक्षियों को इस इरादे का पता लगा तो उन्होंने चड़हतसिंह जी की बड़ी रानी के पास जोकि अपने बच्चों समेत मौजा शेरसिंह वाला (अपने मायके) में थी खबर भेजी कि आप युवराज समेत वैसाखी से एक दिन पहिले चुप के से इधर आ जावें। हम दिलसिंह से इस समय राज्य छीनकर असली मालिक को दे देंगे१।

चैत का महीना था दिलसिंह के कुल साथी वैसाखी के लिए भंग पी-पीकर दरोली को चल दिये। दिलसिंह भी तयारी में था। महल खास में पगड़ी बाँध रहा था कि विपक्षियों के निर्वाचित दरबारी मुहरसिंह ने जाकर दिलसिंह को मारने की चेष्टा की और आखिर मुहरसिंह और योगासिंह ने दिलसिंह को कत्ल कर दिया और गुलाबसिंह के नाम का नक्कारा बजा दिया। महाजन जोकि दिलसिंह के हामी थे घरों में जा छिपे। सर लेपिल ग्रिफिन दिलसिंह के कत्ल की घटना यों लिखते हैं कि—फौजासिंह दरबारी ने एक जत्थे के साथ सोते हुए को क़त्ल किया था। बात कुछ भी हो दिलसिंह दरबारियों के हाथ से क़त्ल हुआ। इन घटनाओं से इस बात पर स्पष्ट प्रकाश पड़ता है कि फरीदकोट के मालिकों की रक्षा व मृत्यु दरबारियों के हाथ थी। दिलसिंह के मारे जाने के पश्चात युवराज गुलाबसिंह को जो कि मौजा कमियाना में एक दिन पहिले अपनी मा और भाइयों समेत आ चुके थे, सवार भेज कर बुलाया गया और उन्हें राज्य का मालिक बना दिया गया। दिलसिंह की हुकूमत केवल २६ दिन रही। उसके परिवार के लोग जो कि मौजा डरोली के गुरुद्वारे में दिलसिंह के आने की बाट देख रहे थे यह सुन कर बड़े भयभीत हुए कि दिलसिंह का क़त्ल हो गया। उसकी स्त्रियाँ मौजा ढूढी में पहुँचाई गई। वहीं दिल की ल्हास आगई जिसका परिवार वालों ने संस्कार किया।

गुलाबसिंह

गुलाबसिंह जिस समय सन् १८०४ में राज के शासक हुए उस समय उनकी उम्र केवल ७ वर्ष की थी। इसलिए राज की तथा राज-परिवार की देख-भाल और सँभाल का काम उनके मामा फौजासिंह के हाथ में रहा। फौजासिंह योग्य था इसलिए प्रजा और दरबारी उनसे प्रसन्न थे और गुलाबसिंह जी का सगा मामा था इसलिए रानी भी

१—कहा जाता है कि चड़हतसिंह के चार रानियाँ थीं। पहिली सिन्धू जाटों की मौजा शेरसिंह वाला की जिनसे (१) गुलाबसिंह (२) पहाड़सिंह (३) साहबसिंह, तीन पुत्र हुए। दूसरी मौजे गोले वाला के मान्शाहिया जाट सरदारों की लड़की थीं। इनसे महताबसिंह सिर्फ एक ही लड़का हुआ। तीसरी मौजा कोट करोड़ के गूला जाट सरदारों की लड़की थीं। चौथी पक्का-पपराला मौजा की थीं। तीसरी-चौथी रानी की कोई औलाद न थी।

इस भय से निश्चिन्त थीं कि कहीं वालक राजा के साथ कोई दग़ा न हो जावे। यह समय ऐसा था कि पढ़ने-लिखने का रिवाज़ वहुत कम था। गुरु साहिवान के प्रचार से लोग गुरु-मुखी भाषा पढ़ने के शौकीन हो रहे थे। गुलावसिंहजी भी गुरुमुखी पढ़ने लगे। पढ़ने के साथ ही वालक सरदार गुलावसिंह घोड़े पर चढ़ने, तलवार, वर्छी, तेगा चलाने का भी अभ्यास करते थे। थोड़े दिन में वे इस विद्या में निपुण भी हो गए।

यह समय इन्क़लाव का था, वड़े-वड़े हेर-फेर हो रहे थे। मुग़ल-शासन उखड़ चुका था, मरहठों का भी दम फूल रहा था और एक नई विदेशी व्यापारी जाति जोवन पर थी। वह दक्षिण से उत्तर को वढ़ रही थी। जव देश में इस प्रकार का परिवर्तन हो रहा था, उस समय पंजाव में भी रणजीतसिंह जैसे महा-पुरुष जाट अथवा सिख साम्राज्य स्थापन के लिए खूव प्रयत्न कर रहे थे। पंजाव इस समय वहुत ही छोटे सरदारों, नवावों और राजाओं में वटा हुआ था। इस समय चार-चार गाँव के मालिक भी राजा वने वैठे थे। जहाँ जिसके दिल में आता अपनी सरदारी क़ायम कर लेता। साम्राज्य-वादिता और अराजकता दोनों घुड़ दौड़ लगा रही थीं। ये छोटे-छोटे सरदार आपस में ख़ूव झगड़ते थे। कभी-कभी कोई किसी के गाँवों पर अधिकार कर लेता कभी कोई। किसकी जागीर अथवा राज्य की सीमां कहाँ तक है यह वहुत कम निश्चय हुआ था। फरीदकोट की भी यही दशा थी। उसके राज्य की भी अव तक कोई निश्चित सीमा नहीं थी। फौजूसिंह ने सीमा वाँधने का प्रयत्न करना आरम्भ किया। सीमा के गाँवों में गढ़ियाँ वना कर थाने निश्चित करने का उस समय रिवाज़ था यही फौजूसिंह ने किया। इस सीमा-वन्दी में लड़ाई-झगड़े भी ख़ूव होते थे। इस समय फीरोजपुर के क़िले पर सरदारनी लक्ष्मनकुँवरि का कव्जा था। इलाक़ा सुल्तानखांन वाला फरीदकोट के अधिकार में था इसलिए सुल्तानखांन वाला में फरीदकोट का थाना था और पास ही कुल गढ़ी में रानी साहिवा का। इससे दक्षिण-पूर्व की ओर मलवाल पठानों के इलाक़े थे, पच्छिम की ओर खुड़ियां वाले पठान थे। किन्तु क़ायदे की कोई हद-वन्दी न थी। एक दूसरा दूसरे की ज़मींन दवाने के लिए तैयार वैठा रहता था। एक वार कुलगढ़ी के ज़मींदारों ने सुल्तानखांन वाला मौजे की कुछ वीघे ज़मीन दवा ली। रानी साहिवा के पास शिकायत इसलिए गई कि वह अपने ज़मींदारों को समझा कर ज़मीन वापिस दिलादें। रानी साहिवा चुप लगा गईं। फरीदकोट से फौजूसिंह ने लड़ाई की तैयारी की। रानी साहिवा भी तैयार हुईं। तनक से मामले पर ख़ून ख़रावी हो गई। इसी तरह खुड़ियां वाले पठानों ने मौजा नथलवाला दवा लिया। उन्हें ठिकाने पर लाने के लिए भी फरीदकोट को फ़ौज-कशी करनी पड़ी। फौजूसिंह वड़ी योग्यता से काम चला रहा था, किन्तु परिस्थितियों का सामना करना उसके लिए भी कठिन था। इस समय सुकरचकिया मिसल उन्नति पर थी। सारी मिसलें उसकी छाया दव हो गईं थीं। कुछेक तो उसी के राज्य

में अपनी ज़मीन को मिला चुकी थीं। इस मिसल के सरदार का ख़िताब अब महाराजा था और वह महाराज था शेरे-पंजाब महाराज रणजीतसिंह।

महाराज रणजीतसिंह जी के दीवान मुहकमचन्द ने ज़ीरा, चूड़ा, मुदकी, कोट कपूरा, मुक्तेसर और माड़ी को लगातार हमलों के बाद जीत कर उनके राज्य में मिला दिया। सन् १८०७ में उसने फ़रीदकोट को भी घेर लिया किन्तु पानी की कठिनाई के कारण उसने घेरा उठा लिया। फ़रीदकोट से एक घोड़ा मुलाक़ात में फौजूसिंह व पहाड़सिंह ने मुहकमचन्द को भेंट किया। सर लेपिलग्रिफिन का कहना है कि—ख़िराज में सात हज़ार रुपये भी मुहकमचन्द ने वसूल किये। बराड़वंश का लेखक लिखता है कि—जिस समय मुहकमचन्द ने घेरा डाला तो बाहर के जोहड़ और तालाबों में ज़हरीली बेल व पत्तियाँ फ़रीदकोट वालों ने लगा दीं, इससे उसकी फ़ौज को बहुत कष्ट हुआ और इसी कारण उसने सन्धि की चर्चा की। किन्तु यह बात सही नहीं जान पड़ती। हाँ यह हो सकता है कि पर्याप्त तादाद में उसकी फ़ौज को पानी व रसद न मिल सकी हो। मुहकमचन्द वापिस लाहौर लौट गया, किन्तु महाराज रणजीतसिंह का इरादा न बदला। वह सतलज पार के कुल इलाक़ा को अपने राज्य में मिला लेना चाहते थे। यूरोप में जिस भांति नैपोलियन बोनापार्ट की बहादुरी प्रसिद्ध थी उसी भांति भारत में महाराज रणजीतसिंह का नाम था। भारत के भीतर अँगरेज़ी राज भी ज़ोर पकड़ रहा था। इन्हीं दिनों अँगरेज़ी राज-दूत सर चार्लस मेटकाफ़ महाराज के पास अँगरेज़ी मित्रता का सन्देश लेकर पहुँचा। वे अँगरेज़ों से मित्रता करने के पहिले अपने राज को अधिक से अधिक बढ़ा लेना चाहते थे। इसलिए वे तथा अन्य सरदार अँगरेज़ अतिथि को अमृतसर में छोड़ कर विजय के लिए निकल पड़े। फ़रीदकोट को जीतने के लिए उन्होंने कर्मसिंह की अध्यक्षता में सेना भेजी। फौजूसिंह तथा अन्य दरबारियों ने इस आशा पर क़िला कर्मसिंह के हवाले कर दिया कि शायद बालक रईस पर कृपा करके महाराज रणजीतसिंह क़िला वापिस करदें। कर्मसिंह ने महाराज रणजीतसिंह के पास फ़ीरोजपुर में ख़बर भेज दी कि फ़रीदकोट उसके हाथ आ गया है। महाराज रणजीतसिंह ने फ़रीदकोट पहुँच कर ख़जाने पर कब्ज़ा किया और अपने सरदार दीवानचन्द तथा मुहकमचन्द को फ़रीदकोट का हाकिम बनाया। फ़रीदकोट के रईस के गुज़ारे के लिये कुछ गाँव नियत कर दिये। फ़रीदकोट से चलकर मालेर कोटला के नवाब से सत्ताईस हज़ार नज़राना लिया। पटियाला के भटिण्डा आदि इलाक़ों को विजय किया तथा लूटा। झींद से भी नज़राना वसूल किया। अनेक स्थानों को विजय करने के बाद महाराज रणजीतसिंह लाहौर पहुँच गए। उनके वापिस लौटते ही पटियाला, फ़रीदकोट, नाभा, झींद आदि इलाक़ों के सभी राजा-रईसों ने देहली में जाकर अँग्रेज़ी रेज़ीडेण्ट से अपनी रक्षा की प्रार्थना की। अँग्रेज़ ऐसे मौक़ों की तलाश में रहने वाले सदा से हैं। उन्होंने इस मौक़े से लाभ उठाया। दूसरे नैपोलियन

का खटका भी दूर हो चुका था। इसलिए इन रईसों से संधि और इकरार नामे करके अपनी फौज का एक बड़ा दल लुधियाने में भेज दिया। साथ ही गवर्नर जनरल ने अपने दूत सर चार्लस को लिखा कि महाराज रणजीतसिंहजी से कह दिया जाय कि सतलज पार के तमाम रईस ब्रटिश सरकार की शरण में आ गए हैं। इसलिए अब मित्र के नाते न तो महाराज उन पर चढ़ाई करें और न उनसे खिराज मांगें और अब पिछले दिनों फरीदकोट, नारायनगढ़ आदि जो विजय कर लिये हैं उन्हें उनके असली मालिकों को लौटा दें। महाराज रणजीतसिंह उस समय अँग्रेज़ों से छेड़-छाड़ न करना चाहते थे। वह किसी अवसर की तलाश में थे। दूसरे उन्हें पेशावर और काबुल की ओर के इलाक़ों की रक्षा में भारी शक्ति खर्च करनी थी। इसलिए दूरंदेशी से उन्होंने अंग्रेजों की बात को मान लिया और सतलज को अपनी हद मानकर सतलज पार के इलाक़ों से अपनी फ़ौज वापिस बुलाली। फरीदकोट के सम्बन्ध में महाराज ने अधिक सोच-विचार किया। अँग्रेजों की उस समय की महाराज की इज़्ज़त तथा क़दर ने महाराज के हृदय में यह भाव पैदा कर दिये थे कि योग्य-मित्र को थोड़ी सी बात पर दुश्मन बनाना ठीक नहीं। साथ ही वे अपने देश-वासियों की कुवृत्तियों को भी देख रहे थे कि विदेशी लोगों को अपना मालिक बनाने को तैयार थे। किन्तु अपने ही भाई के खिलाफ़ साजिश रचने में बहादुरी समझते थे। ३ अप्रेल सन् १८०९ ई० को उन्होंने फरीदकोट भी वापिस कर दिया।

महाराज रणजीतसिंह से रियासत फरीदकोट के वापिस आने पर प्रबन्ध पूर्ववत् फौजूसिंह के हाथ ही रहा। अँगरेजों की ओर से अम्बाले में पोलीटिकल एजेण्ट मुकर्रिर किया गया। सभी रियासतों की ओर से वहाँ वकील मुकर्रिर किये गये। फौजूसिंह ने भी फरीदकोट की ओर से हाकिमसिंह को राज का वकील बना कर अम्बाले में पोलीटिकल एजेण्ट के पास भेज दिया। अब रियासत अँगरेजों की संरक्षा में आ चुकी थी। इसलिए दुश्मनों की आशंका तो बहुत कुछ मिट ही चुकी थी। अतः फौजूसिंह ने रियासत की हदबन्दी बाँधना शुरू किया। जहाँ दिक़्क़त आई पोलीटिकल एजेण्ट ने उसको सुलझा दिया। कुल गढ़ी, मुदकी मलवाल की ओर हदबन्दी करते समय कुछ कठिनाइयाँ पेश आईं जिसका निर्णय अँगरेज़ एजेण्ट ने बीच में पड़ कर कर दिया। हदबन्दी के काम से फ़ुरसत पाने पर फौजूसिंह ने राज्यकोष को बढ़ाने की चेष्टा की। किन्तु राज्य में न तो भारी संख्या में कुयें थे न नहर-नाले। भूमि सारी वीरानी थी। इसलिए लगान से बहुत कम आमदनी होती थी। कुछ कस्टम की भी आमदनी हो जाती थी। इस थोड़ी सी आमदनी से भी फौजूसिंह ने राज्य का अच्छा काम चलाया। प्रजा के साथ अच्छा बर्ताव करने की फौजूसिंह की आदत थी।

एक अर्से से हुकूमत उसके हाथ में रही थी इसलिए उससे उसे खास मोह हो गया था। जब सरदार गुलाबसिंह जवान हुए और राजकाज में

इस्तक्षेप करने लगे तथा उन के निर्णयों में त्रुटियाँ निकालने लगे तो
उसे नागवार मालूम होने लगा। वह नहीं चाहता था कि अधिकार उसके हाथ से
निकल जावें। अधिकारों का लोभ बड़ा बुरा होता है। अधिकारों के बनाये रखने के
लिए उसने भाइयों में खट-पट मचाने की नौबत डाली। कहा जाता है सरदार
गुलाबसिंहजी को घोड़ी और भैंसों से बड़ी मुहब्बत थी। वे इनकी नसल सुधारने
की भी चेष्टा करते थे (एक समय एक जमीदार उनके छोटे भाई साहबसिंह को
एक भैंस जो कि प्रसिद्ध थी भेट में दे गया। गुलाबसिंह ने फौजूसिंह की मार्फत
साहबसिंह से यह भैंस माँग ली। किन्तु फौजूसिंह ने साहबसिंह को इसी बात का
रंग देकर भाई से विरुद्ध कर दिया। दोनों भाइयों के हृदय में अन्तर पैदा
कर दिया। सरदार गुलाबसिंह के दो रानियाँ थीं। बड़ी के एक पुत्र भी पैदा
हो गया था)।

गृह-कलह बड़ा बुरा होता है। उसका फल, बीज से कई गुना भयंकर होता है।
इसी गृह-कलह के कारण नवम्बर सन् १८२६ ई० में सरदार गुलाबसिंह जबकि वे
सैर करके वापिस लौट रहे थे अकेले पाकर किसी ने क़त्ल कर डाले। चाहे साहब-
सिंह और पहाड़सिंह जो कि उनके भाई थे इस साजिश में शामिल न रहे हों किन्तु
यह कदापि नहीं माना जा सकता कि फौजूसिंह की राय से यह काम नहीं हुआ।
अम्बाले में इस समय पोलीटिकल एजेण्ट मरी साहब थे। उनके पास सूचना
दी गई। वे तीन साल पहिले इधर का दौरा कर चुके थे। वह फरीदकोट के
पास घरेलू झगड़ों की तवारीख से भली-भांति परिचित हो चुके थे कि
इस खान्दान में भाई ने भाई को, बाप ने बेटे को, चचा ने भतीजे को क़त्ल करके
अपने हाथ खून से रँगे हैं। इस समाचार के सुनते ही एजेण्ट साहब फरीदकोट
पहुँचे और वहाँ जाकर खून की जाँच की। गुलाबसिंह की रानी के तथा अन्य
लोगों के बयानों से साहबसिंह और फौजूसिंह अपराधी प्रमाणित सिद्ध हुए। किन्तु
फौजूसिंह बड़ा चालाक आदमी था। उसने अपनी पुरानी सेवायें जो कि गुलाब-
सिंह की नाबालिगी में की थीं, याद दिला कर सफाई कर ली। एजेण्ट को भी
यकीन हो गया। एजेण्ट को भी पता चल गया कि सिंह और बहादुर नाम के
आदमियों द्वारा गुलाबसिंह का क़त्ल कराया गया है। फरीदकोट से चलते समय
एजेण्ट ने साहबसिंह को साथ लिया और अम्बाला पहुँच कर दोनों क़ातिलों के
वारन्ट काट दिए। किन्तु क़ातिलों का कहीं पता न चला। इधर पहाड़सिंह तथा
फौजूसिंह ने एजेण्ट साहब को यकीन दिलाया कि हम साहबसिंह को आप जब
चाहेंगे तभी हाजिर कर देंगे। उन्हें नजरबन्दी से फरीदकोट भेज दीजिये। एजेण्ट
साहब ने सबूत की कमी देख कर साहबसिंह को फरीदकोट वापिस भेज दिया।

गुलाबसिंहजी के बाद फरीदकोट की गद्दीनशीनी का सवाल उठा। साहबसिंह
और पहाड़सिंह चाहते थे कि वे राज के मालिक बनें। फौजूसिंह
चाहता था कि उसका अधिकार व रौब-दौब पूर्ववत् बना रहे।

प्रकट में वह दोनों को दिलासा देता रहा कि वह उनके ही लिए कोशिश करेगा, किन्तु छिपे-छिपे वकील के द्वारा एजेण्ट साहब से यह हुक्म मगवा लिया कि गद्दी के मालिक स्वर्गवासी सरदार गुलाबसिंह के नाबालिग़ पुत्र अतरसिंह हैं। साहबसिंह और पहाड़सिंह चाहें तो अपने गुज़ारे के लिए अलग जागीर छटवा सकते हैं। चाहें वह नाबालिग़ रईस के भरोसे रहें। ऐलान के दिन तक दोनों राजकुमार धोखे में थे। अतरसिंह रईस फरीदकोट बना दिए गए और फौजूसिंह मुख्तार आम। वह नाबालिग़ रईस को दरबार में बिठा लेता था और कुल कामकाज ख़ुद करता था। दोनों भाई कुढ़ते थे। लेकिन बृटिश सरकार के फ़ैसले के विरुद्ध कर क्या सकते थे ? फौजूसिंह अपनी सफलता पर फूला न समाता था, लेकिन दैवयोग से उसकी खुशी रंज में परिणित हो गई। राजकुमार अतरसिंह का माह अगस्त सन् १८२७ में अचानक देहान्त हो गया। एक साल भी न हुआ था कि गुलाबसिंह का पौधा विनष्ट हो गया। फौजूसिंह की सारी उमंगें खाक में मिल गईं। उसने एजेण्ट साहब को कहला भेजा कि अतरसिंह की अचानक मृत्यु में उसके दोनों चाचाओं का हाथ है। उन्होंने कोई जादू-टोना कराया है। साहबसिंह ने वकील घूटासिंह के द्वारा एजेण्ट के पास ख़बर भेजी कि फौजूसिंह ने बेकसूर गन्हैयासिंह को काठ में देकर कोठे में बन्द कर दिया। फौजूसिंह अधिक आपत्ति आती देख कर फरीदकोट को छोड़ कर दूसरी जगह चला गया। फ़िक्र इस बात की हुई कि राज किस के हाथ पड़े। रानी साहिबा चाहती थीं कि वह राज की मालिक बनें और दोनों कुँवर अपनी फ़िक्र में थे। कुछ ही दिनों में एजेण्ट का बुलावा भी उन्हें अम्बाला आने के लिए मिला। वे पहिले से ही तैयार थे। रानी साहिबा भी पधारीं। महताबसिंह ने भी साहब के पास उजरदारी की कि मैं भी साहबसिंह और पहाड़सिंह की तरह राज पाने का अधिकारी हूँ। फ़र्क इतना है कि मैं दूसरी रानी की औलाद हूँ। एजेण्ट ने सब लोगों की अलग बातें सुनीं और सारे हालात तथा अपनी राय रेज़ीडेण्ट साहब देहली को लिख भेजीं। वैसे एजेण्ट साहब ने पहाड़सिंह को यक़ीन भी दिलाया था कि उनके ही ऊपर ईश्वर की कृपा होगी। फौजूसिंह मय अपने साथियों के वापिस लौट आया। पहाड़सिंह इस बीच तीर्थ-यात्रा के लिए चले गए। जब यात्रा से लौटे तब तक रेज़ीडेण्ट का हुक्म भी आ चुका था। एजेण्ट ने कुँवर पहाड़सिंह के सिर पर दस्तार रक्खा और कहा कि सरकार तुम पर बहुत महरबान है। आप ही फरीदकोट के मालिक मान लिए गए हैं। भविष्य में आपको सरकार की सेवा का मौक़ा मिलने वाला है। आशा है आप मौक़ा न चूकेंगे।

पहाड़सिंह

पहाड़सिंह सन् १८२७ में फरीदकोट की गद्दी पर बैठे। उन्होंने अपनी बेवा भाभी तथा भाई साहबसिंह और महताबसिंह के गुजारे के लिए प्रबन्ध कर दिया था। लेकिन फौजूसिंह प्रजा तथा भाइयों में अशांति के बीजे बोने लगा। सरदार पहाड़सिंह ने

फौजूसिंह को हुक्म दे रक्खा था कि दिन को वह फरीदकोट रहे और रात को मौजा-नूआँ क़िला अपने घर चला जाया करे। हाँ उसे क़तई अलग न किया था। लेकिन फौजूसिंह राज-काज में दखल चाहता था। पहाड़सिंह उसकी चालाकियों को तो समझ रहे थे लेकिन वह चाहते थे कि पहिले रियासत का प्रबन्ध ठीक करलें, तब इसे और इसके साथियों को बाहर निकालने की चेष्टा करेंगे। फौजूसिंह बड़ा घाघ था। उसने साहबसिंह को भड़का दिया और साहबसिंह यहाँ तक बहके कि एक दिन पहाड़सिंह के सामने रियासत को आधी बाँट देने का दावा पेश कर दिया। पहाड़सिंह ने समझाया भी कि आज कल रियासतें बँटती नहीं हैं जमाना अँग्रेजी इक़बाल का है। लेकिन साहबसिंह किसी भी भाँति न समझे। लाचार पहाड़सिंह ने अपने वकील बूटासिंह के द्वारा सारे समाचार पोलीटिकल एजेन्ट मि० मरे के पास भेजे। मि० मरे ने साहबसिंह को अम्बाला बुलाकर उसकी सारी शिकायतें सुनीं। साथ ही समझाया कि रियासत का बटवारा न हो सकेगा। तुम फरीदकोट जाकर अपने भाई के साथ मेल से रहो। फरीदकोट आकर साहबसिंह ने बग़ावत की तयारी की। भाई की बग़ावत को दबाने के लिए पहाड़सिंह ने एजेण्ट साहब से सैनिक सहायता माँगी। किन्तु एजेण्ट ने "मौका नहीं है" कह कर सहायता देने से विवशता प्रकट की, किन्तु भींद से सहायता मिल जाने पर साहबसिंह की बग़ावत दबा दी गई। इतने पर साहबसिंह नाउम्मेद न हुआ। अम्बाले में एजेण्ट के पास जाकर अपना दावा फिर पेश किया और कहा कि पंचायत द्वारा मेरा फ़ैसला होना चाहिए। एजेण्ट ने पंचायत बिठाने से तो मना कर दिया, किन्तु एक पत्र पहाड़सिंह को लिखा कि किस भाँति साहबसिंह से तुम्हारा सलूक हो सकता है। इसी बीच साहबसिंह अचानक बीमार हो गया। उसके बचने की कोई आशा न रही। एजेण्ट ने उसे फरीदकोट को वापिस किया। जब कि वह राह में पटियाले के राज्य को पार कर रहा था, बीमारी की भयंकरता मे मर गया। उसकी लाश फरीदकोट लाई गई और बाक़ायदे संस्कार हुआ। राजा, प्रजा सभी ने साहबसिंह की मृत्यु पर शोक प्रकट किया, किन्तु साहबसिंह के मरने से फरीदकोट के निजी झगड़े भी मिट गये।

लार्ड एमहर्स्ट ने एक घोषणा-पत्र निकाल कर अपने अधीनस्थ तथा मित्र राजा-रईसों को चेतावनी दे दी थी कि वे आपस में झगड़ा-फिसाद न करें और न एक दूसरे की जमीन पर कब्ज़ा करें। इसी घोषणा-पत्र के अनुसार अम्बाला स्थित एजेण्ट ने पंजाब के राजा और जागीरदारों की रियासतों की सीमा नियत कराने में रईसों को सहयोग दिया था। सरदार पहाड़सिंहजी ने भी एजेण्ट साहब के परामर्श से सीमा-बन्दी का पक्का कार्य कर लिया। फौजूसिंह जो कि लम्बे अरसे से राज्य का काम सम्भाल रहा था, अब उसकी हरकतें यहाँ तक पहुँच गई थीं कि सरदार पहाड़सिंह को यह चिन्ता हुई कि इसे किसी भाँति निकाल देना चाहिये। उसका निकालना कोई बड़ी बात न थी। हिसाबात के मामले में

उसकी ओर भारी गड़बड़ी थी। उसने काफी गबन किया था। इसलिए उसकी इस धोखेबाजी के लिए जांच आरम्भ हुई। पर चूंकि उस समय राज्यों के बाक़ायदा हिसाब नहीं रक्खे जाते थे, हिसाबों के कागज़ात भी न रक्खे जाते थे, तलाशी में उसके घर कुछ निकला नहीं। आखिर सरदार पहाड़सिंह ने पोलीटिकल एजेण्ट से सलाह ली। उस समय एजेण्ट मि० रसल क्लार्क थे। एजेण्ट साहब के आदेशानुसार सन् १८३६ ई० में उसे राजकाज से अलग कर दिया किन्तु कष्ट इसलिये नहीं दिया गया कि हिसाब-गबन का कोई लिखित सबूत नहीं था।

इनके सरदारों व दरबारियों में सरदार महासिंह, सैयदअली, अकबरशाह, सरदार कूमांसिंह आदि बड़े योग्य और नेक आदमी थे। राज्य के बड़े-बड़े काम इन्हीं के सुपुर्द थे। एजेण्ट साहब के पास राज्य की ओर से भी खास मौक़ों पर यही सरदार भेजे जाते थे! इनकी संतान के कुछ लोग तो अब तक फ़रीदकोट सरकार के मुलाजिम हैं। उन दिनों माल का महकमा दीवान के मातहत रहता था। वास्तव में दीवान ही महकमा था और उसका घर ही माल का दफ़्तर। वसूली का जो रुपया आता वह नगर के प्रसिद्ध महाजन के यहाँ जमा होता था। ज़मींदार को दीवान के दस्तखत का पर्चा मिलता था। वह उसी पर्चे के आधार पर महाजन के यहाँ जमा करा देते थे। महाजन अपनी वहियों में जमा कर लेता था। जब खर्च की जरूरत होती राजा के हुक्म से दीवान महाजन के यहाँ से मँगाकर खर्च करता था। उस समय न तो बजट बनाये जाते थे और न सिलसिलेवार और सही हिसाब रक्खा जाता था। यह फ़रीदकोट ही नहीं सारे भारत के रजवाड़ों का हाल था। हाँ! महाराज रणजीतसिंह के यहाँ अवश्य कुछ नियम इस सम्बन्ध में थे। मालगुज़ारी अधिकांश में बटाई के नियम पर उगाही जाती थी। उगाही में जो नाज आता वह कोठे और खत्तियों में जमा किया जाता था। ऐसे कोठे और खत्ती राजधानी और देहात दोनों ही में होते थे। इसी गल्ले से राज-परिवार और फ़ौज का खर्च चलता था और आवश्यकता पड़ने पर बेच भी दिया जाता था। अधिकांश भाग अनाज के लिये सुरक्षित रक्खा जाता था। अकाल के समय में इसी में से प्रजा को भी सहायता दी जाती थी।

फ़ौजदारी के मामलात में जो जुर्माने होते वह वर्षों तक उधार भी चले जाते थे। माफ़ भी हो जाते थे। न्याय के लिये अदालतें तो थीं किन्तु दीवानी, फ़ौजदारी के सारे मामले ज़बानी फ़ैसल होते थे। मिस्ल या फ़ायल न रक्खी जाती थी। कोर्ट-फ़ीस लेने का भी क़ायदा न था। अपील होती थी और अन्तिम निर्णय महाराज के हाथ रहता था। न्याय के समय पक्षपात करना पाप समझा जाता था। क़ैदखाने भी थे किन्तु खास क़ैदियों को उसमें रक्खा जाता था। न्याय जुर्म की तौल पर न्याय के अनुपात से ही होता था। क़ानून के अनुसार उस समय न्याय न था। क़ानून और न्याय का घनिष्ट सम्बन्ध वास्तव में है भी नहीं। मनुस्मृति और पुरानी स्मृतियों के आधार पर दण्ड देने की प्रथा थी जो कि अँग्रेज़ी शासन में बहुत

महाराजा बलवीरसिंह साहब बहादुर,
फरीदकोट।
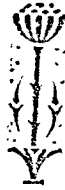
महाराजा वजीरसिंह जी बहादुर,
फरीदकोट ।

हल्की की जा रही थी। सारांश यह है कि सरदार पहाड़सिंह जी के राज्य में वही नियम-विधान पाए जाते थे जो अन्य हिन्दू राज्यों में।

१८ अक्टूबर सन् १८३८ ई० में जब आकलैण्ड गवर्नर साहब ने अफ़ग़ानिस्तान पर चढ़ाई की तो फरीदकोट की ओर से भरसक सहायता अँगरेज सरकार को दी गई। ऊँट, छकड़े, खलासी, गल्ला, बैल-गाड़ियाँ जो भी कुछ एजेण्ट ने माँगा पहाड़सिंहजी ने दिया। यही क्यों जब आज़ादी के मतवाले खालसा वीरों की सन् १८४५ ई० में अँगरेजों से लड़ाई हुई और खालसा सेना ने लिटलर साहब को फीरोजपुर के क़िले में घेर लिया तो अपनी अक्ल पहाड़सिंह ने अँगरेजों के पक्ष में खर्च की। अपने दो सरदार एजेण्ट मि० बराडफुट की सेवा में इसलिए दे दिये कि जब राज्य से किसी भांति की सहायता की जरूरत पड़े तो एजेण्ट साहब इनके द्वारा फ़रमायश करें। मुल्तान वाला स्थान पर अँगरेजी फ़ौज के लिए काफ़ी सामान रसद का जमा कर लिया था और भी जो बन पड़ा अँगरेजी सहायता की। अपने बड़े लड़के वजीरसिंह की मातहती में फ़ौज का दस्ता भी अँगरेजी सहायता के लिए भेजा था। इन्हीं जबर्दस्त सेवाओं से खुश होकर मुदकी के मुकाम पर गवर्नर जनरल ने सरदार पहाड़सिंह को राजा का खिताब देने की घोषणा की और साथ ही यह भी कहा कि जो इलाक़े कोट कपूरा आदि पहिले फरीदकोट के हाथ से निकल गये हैं और अब सरकार अँगरेज के कब्जे में आगये हैं बाद लड़ाई के उन्हें फरीदकोट को वापिस करने का विचार किया जावेगा। मि० बराडफुट ने उन तमाम सेवाओं को नोट किया था जो कि फ़रीदकोट की ओर से लड़ाई में की गई थीं। किन्तु वे लड़ाई में मारे गये। फिर लड़ाई के बाद अँगरेज सरकार ने राजगी की सनद और खिलअत अपने वायदे के अनुसार फरीदकोट के रईस को दिए जिसकी नक़ल नीचे दी जाती है—

नक़ल

सनद राजगी मुहरी व दस्तख़ती जनाब नवाब मुअले अल्काब लार्ड सर हेनरी हार्डिङ्ग साहब बहादुर गवर्नर जनरल मुमालिक हिंदुस्तान मुवर्रिख़ २४ मार्च सन् १८४६ ई०।

रफ़अत पनाह, सदाक़त दस्तगाह, राजा पहाड़सिंह वालिये फरीदकोट की ख़ालिश अक़ीदत व फर्मांबर्दारी सची इरादत और वफ़ाशआरी उम्दः खैरख्वाही और अच्छी ख़िदमत गुजारी सरकार दौलत मन्द कम्पनी अंग्रेज बहादुर की निस्वत पाना सबूत को पहुँच चुकी हैं। इसलिए उनके इक़बाल के चमनिस्तान की तरफ़ महरबानियों की नीम इस अच्छे वक्त में पहुँची है और निहायत महरबानी से राजगी का खिताब मय फाखिरा ख़िलअत के इस सनद के साथ अता होता है। मुनासिब है कि इस अताये शाही के मुक़ाबिले में आइन्दः दौलत ख्वाही और खैरन्देशी में जियादः मुस्तैदी और सरगर्मी दिखा कर अपना फ़ख़र व अग़राज और हमसरों में इज़्ज़त व इम्तयाज बढ़ायेंगे।

यह सनद, ख़िलअत और ख़िताब लुधियाने के दरबार में फरीदकोट के रईस को दिये गए और अब से फरीदकोट के रईस राजा कहलाने लगे। इनके चार रानियाँ थीं। जिनमें से दो के सन्तान हुई थीं। पहिली रानी के उदर से वजीरसिंह पैदा हुए थे और दूसरी रानी साहिबा के दीपसिंह और अनोखसिंह दो कुँवर पैदा हुए थे। अपने समय में राज्य की उन्नति राजा पहाड़सिंह ने इस दर्जे तक करली थी कि राज की आमदनी अब दुगुनी हो गई थी। कुछ ख़िराज पर अँगरेज़ सरकार ने इलाक़ा मुक्तेसर भी इन्हें दे दिया था। ऊजड़ देश को हरा-भरा बनाने तथा सती और कन्या-वध की बुरी प्रथाओं के दूर करने में राजा साहब ने खूब प्रयत्न किया। फरीदकोट के समस्त सरदारों में आप ही ऐसे थे जिन्हें गृह-कलह के पश्चात् अँगरेज़ों की मदद तथा अपनी बुद्धिमानी से राज बढ़ाने और शासन-सुधार करने का मौक़ा मिला। खालसा के विरुद्ध अँगरेज़ों को मदद देने के इनके कार्य को आज के समय में चाहे प्रशंसनीय न समझा जावे, किन्तु जब हम देखते हैं कि राजपूताने के कुल राजपूत राज्य केवल उदयपुर को छोड़ कर मुसलमान बादशाहों के साथ मित्रता, रक्त-सम्बन्ध कायम करने तथा समय-समय पर स्थापित होने वाले साम्राज्यों की सेवा के कारण ही बने हुए हैं तो फरीदकोट के उस ज़रा से काम पर हम इस गर्व को नहीं भूल सकते कि वह बहादुर जाटों की बाइज़्ज़त रियासत है और उसके होने से जाटों का सिर ऊँचा होता है। फरीदकोट को इस उन्नत अवस्था में पहुँचाने वाले महाराज पहाड़सिंह का सन् १८४९ ई० के अप्रैल महीने में स्वर्गवास हो गया।

महाराज वजीरसिंह

योग्य पिता के मरने के बाद उनके योग्य पुत्र युवराज वजीरसिंह उनके स्थान पर फरीदकोट के महाराज बनाए गए। उन्होंने आरम्भ से ही अपनी रियासत के सुधार तथा खेती-बाड़ी की तरक़्क़ी के साधनों में अपना समय ख़र्च किया। अंग्रेज़ों के साथ पिता की भांति ही मित्रता और स्नेह का बर्ताव रखते थे। कुछ दिनों बाद दूसरा सिख युद्ध आरम्भ हुआ तो इन्होंने अंग्रेज़ों को मदद दी। पचीस हज़ार रुपया एजेण्ट के माँगने पर तुरन्त फीरोजपुर पहुँचा दिया। यहाँ यह बात बता देनी है कि पिछले सिख युद्ध में फरीदकोट के एक दरबारी घमंडसिंह ने जो कि राजा पहाड़सिंह ने मि० बराडफुट की सेवाओं में भेज दिया था, बड़ी नामवरी हासिल की। उसे एजेण्ट साहब ने बख़शी का ख़िताब दिया था और युद्ध की समाप्ति पर घमंडसिंह को फरीदकोट का बख़शी बना भी दिया था। राजा पहाड़सिंह के मरने के बाद भी घमंडसिंह फरीदकोट का बख़शी था। बख़शी होने के कारण नाम के अनुसार इसका मिजाज़ भी घमंड पर आगया। लुटेरों का जमघट भी रखने लगा। इलाक़े अंग्रेज़ी से शिकायत आई कि घमंडसिंह का एक कृपा पात्र इधर लूटमार करता है। महाराज वजीरसिंह ने जाँच की तो बात सच निकलीं तो इसे हिरासत में ले लिया। किन्तु कुछ ही दिन बाद हिरासत से मुक्त कर दिया।

जिस तरह इसने तरक्क़ी पाई थी उसी तरह इसका तनज़्ज़ुल भी हुआ। मौजा चाहिल में इसे रहने का हुक्म मिला किन्तु वहाँ से कुछ दिन के बाद भाग गया। वास्तव में महाराज और उनके राजकुमार की भी यही इच्छा थी कि इसके वख्शीपने से पीछा छूटे। उनके इरादे में ईश्वर सहायक हुआ।

सिख युद्ध के बाद महाराज अपने राजकाज के सुधार में चिपट गये। वे चाहते थे कि रियासत की आबादी खूब बढ़े ताकि खजाने में रुपया अधिक आवे। किसी भी राज्य अथवा संस्था को चलाने के लिए रुपए की जरूरत हुआ करती है। किन्तु रुपया सदैव नेक नीयती से इकट्ठा करना चाहिए। राज के चलाने के लिए जो राजा लोग प्रजा को लूट खसोट करके धन इकट्ठा करते हैं वास्तव में वह प्रजा को विद्रोही बनाने के सामान पैदा करते हैं। महाराज वजीरसिंह प्रजा को खुश रख कर राज चलाना चाहते थे। इसीलिए वह आबादी बढ़ाने और खेती के कामों में तरक्क़ी देने की कोशिशों में संलग्न हुए। किन्तु सिख युद्ध के छः-सात ही साल बाद देश में ग़दर खड़ा हो गया। यह ग़दर सेना की ओर से विदेशी शासक अँगरेजों के विरुद्ध था। ग़दर के कारण और घटनाओं से भारत का बच्चा-बच्चा जानकार है, इसलिए उस पर विशेष प्रकाश डालने की आवश्यकता नहीं। पंजाब की ओर इसकी लपट पहुँचते ही डिप्टी-कमिश्नर, तथा कमिश्नर ने महाराज वजीरसिंह को खबरदार रहने तथा अँगरेज़ सरकार की सहायता करने को प्रार्थना-पत्र भेजे। महाराज ने सेनापति सहित खुद जाकर अँगरेजों की विद्रोहियों से रक्षा की तथा विद्रोह को दबाया। नाभा के प्रसिद्ध विद्रोही सामदास का दमन करके पंजाब के अँगरेजों को सुरक्षित किया। रियासत से गल्ला-दाना देकर अँगरेजी सैनिकों के प्राण बचाये। इस तरह लगातार एक साल तक जब तक कि ग़दर शान्त हुआ महाराज, अँगरेजों की मदद करते रहे।

ग़दर के शान्त हो जाने पर जब अँगरेजों की जान में जान आई तो उन्होंने कृतज्ञता प्रकट करने का अवसर पाया। इस अवसर पर महाराज फरीदकोट को भी याद किया गया। उनकी जिम्मे की "दस सवारों की सेना" माफ़ की गई। खिलअत सात पारचा के बजाय ग्यारह पारचा किया गया और खिताब में अल्फ़ाज़ "बराड़ वंश बहादुर राजा साहब फरीदकोट" बढ़ाया गया। यह खिताब और खिलअत (चिट्ठी नं० २०६४) तारीख १२ जौलाई सन् १८५८ ई० को दिए गए थे। इसके दो वर्ष बाद गवर्नर जनरल के हुक्म से सेक्रेटरी गवर्नमेण्ट पंजाब ने ११ मई सन् १८६० ई० को ग्यारह तोप की सलामी का अधिकार महाराज फरीदकोट और उनकी सन्तान को दिया। सर्व प्रकार के झंझटों से मुक्त होने पर सरकार ने पंजाब के राजा-रईसों को सलाह दी कि लगान बटाई के बजाय नक़दी में लिया जाय और भूमि की माप कर ली जावे। चोरी-डकैतियों के बन्द करने के लिए महकमा पुलिस स्थापित किया जावे। इन सलाहों के अनुसार महाराज फरीदकोट ने अपने यहाँ सन् १८६१ ई० में बन्दोबस्त कराकर

नक़दी में लगान बाँध दिया। लेकिन ज़मीन का मालिक किसान ही रहा। किसान अपनी ज़मीन को दूसरे के हाथ बेच सकता है। राज के नियत किये हुए लगान से अधिक पर उठा सकता है। गिरवीं रख सकता है। अपनी ज़मीन में से चाहे जितनी बोये-जोते चाहे जितनी पड़ी रहने दे। चाहे जहाँ कुआँ, धर्मशाला, मकान बनवा सकते हैं। राज को उनकी ज़मीन को न छीनने का अधिकार है न ज़ब्त करने का। वह अपनी नियत की हुई मालगुजारी पाने का अधिकारी है। हाँ माल-गुज़ारी न मिलने पर ज़ाब्ते की कार्रवाही की जाती है। किसानों के लिए यह सहूलियतें फरीदकोट के नरेशों की ओर से दी हुई हैं। यह उनकी उदारता का परिचय है। समस्त जाट राज्यों में ज़मीन के प्रायः ऐसे ही नियम हैं।

ज़मींदारी का सब से बुरा सिस्टम राजपूताने की राजपूत रियासतों में है। बृटिश-भारत की जागीरदारी में किसानों के लिए जो तकलीफ़ें हैं, वही राजपूताने में हैं। फरीदकोट, नाभा आदि जाट राज्यों में ज़मीन का बन्दोबस्त होने पर भी प्रजा की रक्षा की गई थी और अब तक है। बन्दोबस्त के हो जाने पर राज्य ने धीरे-धीरे अँगरेज़ी शासन के ढंगों को अपनाया। सन् १८६५ ई० में कोर्ट-फ़ीस और दस्तावेज़ का रिवाज़ जारी कर दिया। सन् १८५९ में पुलिस भी अँगरेज़ी ढंग पर रक्खी जा चुकी थी। मालगुज़ारी वसूल करने के लिए तहसीलें क़ायम हुईं। पहिले रियासत में कस्टम का रिवाज़ था, किन्तु व्यापार को तरक्क़ी देने के लिए कस्टम का रिवाज़ भी उठा दिया।

चूँकि पंजाब में कई छोटी-छोटी जागीरें व रियासतें लावलदी में अँगरेज़ सरकार ने ज़ब्त कर ली थीं, इसलिए शेष रियासतों ने लावलदी के भय से सरकार के पास गोदनशीनी के अधिकार प्राप्त करने की प्रार्थना की। सरकार ने पंजाब के सभी रईसों को जातीय रिवाज़ के अनुसार सन् १८६२ में गोद लेने का अधिकार दे दिया। महाराज वजीरसिंहजी भी इस अधिकार को पाकर बड़े प्रसन्न हुए। महाराज ने यह भी उचित समझा कि सरकार से अब तक मिली हुई अतायतों की सनद हासिल हो जानी चाहिए। उनके वकील ने इस बात को सरकार के सामने रक्खा। अतः सरकार की ओर से निम्न सनद मिली:—

तर्जुमा सनद तमलीक मुल्क अज़ पेशगाह नवाब मुस्तताब मुअल्ले अल-क़ाब वायसराय व गवर्नर जनरल बहादुर किशोर हिन्द मुवर्रिख़ २१ अप्रेल सन् १८६३ ई०।

जब से सरकार अँग्रेज़ी का अधिकार भारत में हुआ राजा वजीरसिंह सा० बहादुर और उनके पूर्वजों की तरफ़ से सरकार मम्दूह की ख़ैरख़्वाही जाहिर होती रही और उसके औज़ में उनकी इज़्ज़त और मरतिब और मुमलिकत नये सिरे से स्वीकार की जाती रही। अभी-अभी सन् १८५७ व १८५८ के ग़दर में रईसहाल ने सरकारी अमूर में दिलचस्पी ज़ाहिर करके अपनी अक़ीदतमंदी पाया सबूत
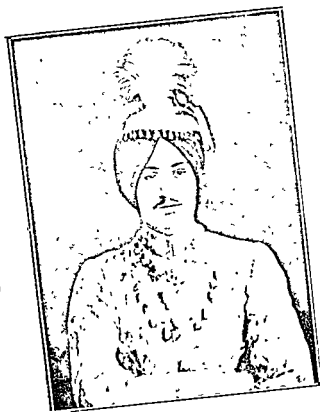
श्री हरिन्द्रसिंह साहब, फरीदकोट

को पहुँचाई और इसलिए सरकार अँग्रेज़ी ने निहायत महरबानी और शाहनशाही इनायत से जो ख़िदमत दस सवारों की अब तक चली आती थी रियासत को माफ़ फर्मादी। रईस के अलक़ाब ख़िलअत में तरक़्क़ी की और अलावा इसके ग्यारह तोप की सलामी की ख़सूसियत बख़्शी और उनकी इच्छा पर इन कृपाओं की मुस्तमिल सनद जिससे इनके क़दीमी मौरूमी मुल्क का दख़ल भी जाहिर हो और यह भी साबित हो कि सिवाय इसके और मुल्क उन्होंने हासिल किया और सरकार अँग्रेज़ी ने अजरुये अतिया-शाही या तबादिला इनको बख़्श देनी मंजूर हुई। बाये तफ़सील कि रईस हाल और उनके वारिसों का मिल्क और दख़ल हमेशा के लिये जायज़ व क़बूल है। शरायत यह हैं:—

दफ़ा (१) रईस हाल और उनकी भावी संतान को जो मनकूहा रानी के पेट से हो हमेशा के लिए यह तमाम अधिकार और स्वत्व दीवानी-फ़ौजदारी और माल के जो कि इनको हासिल हैं इनके मौरूमी अधिकृत देश पर और निज उस मुल्क पर जो प्रदान किए अथवा परिवर्तन किए हुए हैं और जिसकी फ़हरिस्त सनद हाज़ा के साथ शामिल है, बराबर बहाल और मक़बूल रहेंगे।

दफ़ा (२) बास्तशनायेज़ा अराज़ी माफ़ी मुफ़स्सिला ज़ल इलाक़ा कोट-कपूरा के जो अब तक बसूल नहीं हुआ। सरकार अँग्रेज़ रईस मौसूफ़ से और उनके किसी जांनशीन से और उनके मातहत ज़मींदार और जिलेदारों से और उनके ख़वीसों से क़रीबों या मुतवसीलों से कोई ख़िराज या बाज़ किसी तरह की ख़िदमत की बाबत हर्गिज बसूल नहीं करेगी। अराज़ियात लाख़िराज इलाक़ा कोट कपूरा की बाबत जो कि सरकार अँग्रेज़ी के क़ब्ज़े में आ गई हैं या आइन्दः बाज़ गरत करें मुबलिग चार हजार दो सौ अड़तीस रुपया मुकर्रिर हैं इनमें ख़िसारह का मुआविज़ा जो बवजह माफ़ करने महसूल शायर के सरकार रियासत को मुजरा दिया गया है। दो हजार रुपया सालाना बाक़ी या फ़ितनी सरकार अज़ जुमला चार हजार दो सौ अड़तीस रुपया दो हजार दो सौ अड़तीस रुपया है।

दफ़ा (३) राजासाहब मौसूफ़ ने ज़र तबादिला सिखिसारा सरकार अंग्रेज़ी से मिल जाने के सबब अपनी तरफ़ से और अपने जांनशीनों की तरफ़ से हक़ तहसील एक्साइज (खाने-पीने की वस्तु का महसूल) का कस्टम हमेशा के लिए छोड़ दिया है।

दफ़ा (४) जबकि सरकार अँगरेज़ी की मंशा है कि राजासाहब फरीदकोट का ख़ानदान हमेशा क़ायम व बरक़रार रहे इसलिए साहब मौसूफ़ और उनके जांनशीनों को औलाद जेना मनकूहा औरत के पेट से न होने की सूरत में उनके ख़ानदान के दस्तूर के मुताबिक़ अपना जानशीन मुकर्रर कर देने का हमेशा के लिए दिया गया है।

दफ़ा (५) सरकार अँगरेज़ी की रिआया जो राजासाहब के मुलक में इरतकाब जुर्म करके माखूद हो, उस पर अख़्तियारात मुन्दर्जे चिट्ठी साहिबानज़ीशान कोर्ट आफ़ डाइरेक्टरस् इस्मी गवर्नमेण्ट मद्रास नम्बर १३ मुवर्रिख़ा यकम जून सन् १८३६ ई० राजा साहब मौसूफ़ और उनके जांनशीनों को हासिल होंगे। राजा साहब मौसूफ़ और उनके जांनशीन अपनी रियासत के इंसाफ़ देने और आराम बहबूदी बढ़ाने में साथी रहेंगे और पहिले इक़रार नामे की शर्तों के मुताबिक सती होने, बुर्दा फ़रोशी, दुख़तर कुशी की रस्मों को अपने मुल्क में से बिल्कुल मौक़ूफ़ और बंद करेंगे और जो लोग कि इन जुर्मों में से किसी अपराध के अपराधी होंगे उनको दूसरों की भलाई के लिए कठिन दण्ड देंगे।

दफ़ा (६) राजा साहब बहादुर मौसूफ़ और उनके जांनशीन अँग्रेज़ सरकार की ख़ैरख़्वाही फ़र्माबरदारी और अक़ीदतमंदी से मुनहरफ़ नहीं होंगे।

दफ़ा (७) अगर कभी सरकार अँगरेज़ी के दुश्मनों की फौज उधर सर उठावें तो राजासाहब मौसूफ़ सरकार अँगरेज़ी की रफ़ाक़त में उस दुश्मन का मुक़ाबिला करेंगे। और अपने मक़दूर भर गडों और रसद का सामान बहम पहुंचाने में अफ़सरान सरकारी की ख़्वाहिश पर कोशिश करेंगे।

दफ़ा (८) राजासाहब मौसूफ़ अपने मुलाज़िमों की मारफ़त रेल की सड़कों, फ़रुद गाहों, शाही सड़कों, और पुलों की तामीर के मौक़े पर हस्ब दस्तूर ज़रूरी चीज़ें बक़ीमत मरुजा बहम पहुँचावेंगे और रेल की सड़कों और शाही सड़कों के ज़ेर आमद ज़मीन बिला किसी क़ीमत और मुआविज़ा के छोड़ देंगे।

दफ़ा (९) राजासाहब मौसूफ़ और उनके जांनशीन हमेशा सरकार अँग्रेज़ी की वफ़ादारी और इरादतमन्दी पर साबित क़दम रहेंगे। और सरकार मम्दूह भी हमेशा राजासाहब मौसूफ़ और उनके ख़ानदान की इज़्ज़त और मर्तबा क़ायम रखने की ताक़ मुतवजह रहेगी।

फ़हरिस्त मुमालिक ममलूका राजासाहब फरीदकोट

मुल्कमौरूसीः—		मुल्क हासिल किरदः राजा सा० बहादुरः—
परगना फरीदकोट	देहात परगना	देहात परगना कोट कपूरा भगता
परगना दीपसिंहवाला	काटकपूरा व औज़	अतिया सरकार अंग्रेज़ी सिवाये मौज़ा
मौज़ा महमूआना	सुल्तानख़ान वाला	सबिमाना जो बमूजिब तहरीर साहब
	अनामत हुये	चीफ़ कमिश्नर बहादुर पंजाब ४ मई १८५८ ई० अंगरेज़ी क़लमरू में शामिल हुआ।

खजाने का पहिला ढंग भी महाराज ने बदल दिया, क़िले में ही रुपया रखने का प्रबन्ध किया गया। पहिले महाजनों के यहाँ रुपया जमा हुआ करता था। अब क़िले में सरकारी आदमियों की देख-रेख में रुपया रखने का प्रबन्ध हुआ। हिसाब के काग़ज़ात रखने का हुक्म दिया गया। खजाने का अध्यक्ष महाजनों की राय से चुना जाने लगा। कहा जाता है कि यह महाराज बड़े प्रजा-प्रिय थे। प्रजा के लोग दुःख और बीमारी के समय भी इनके नाम को याद करते थे। पिछले समय में जब आप थानेश्वर की तीर्थ यात्रा से लौटे तो सन् १८७४ ई० के अप्रैल महीने में आपका स्वर्गवास हो गया।

विक्रमसिंह

पिता के स्वर्गवास के बाद अपने राज के मालिक हुए। गद्दी नशीनी के समय बड़ी धूम-धाम रही। सरकार के मिलिट्री व सिविल विभाग के बड़े-बड़े अफ़सरों के अलावा पटियाला के महाराज बहादुर श्री महेन्द्रसिंहजी भी फरीदकोट पधारे। अंग्रेज अतिथियों में कर्नल आरनेग साहब पोलीटिकल एजेण्ट, कप्तान गिरे साहब के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। गद्दी नशीनी के समय महाराज विक्रमसिंह की अवस्था २० वर्ष की थी। आपको फ़ार्सी-उर्दू की शिक्षा मिली हुई थी। उन दिनों अंग्रेजी भाषा का भी शनैः-शनैः प्रचार हो रहा था, इसलिए महाराज ने अंग्रेजी भाषा का भी ज्ञान प्राप्त कर लिया था। राज का कार्य सँभालते ही आपने सब से पहिले खजाने के हिसाबात की पड़ताल करनी चाही। क्योंकि बख्शी वीरसिंह जिसके कि चार्ज में खजाना था, महाराज को उस पर विश्वास कम था। खजाने और तोसाखाने की जांच के बाद बन्दोबस्त जमींन को दुरुस्त किया। अंग्रेजी ढंग पर मालगुजारी वसूल करने के क़ायदे बनाए। ऐसे लोगों को नौकर किया जो इलाक़ा अँगरेज़ी में काम कर चुके थे। अदालतों का ढांचा भी अँगरेज़ी ढंग पर बनाने की कोशिश की। दीवानी-फ़ौजदारी की अदालतें बनाईं और अपील के नियम निर्धारित किये। अपराधों की जाँच और अपराधियों की गिरफ़्तारी के लिए पुलिस-विभाग के लिए नियम बनाये। सैनिक विभाग भी नये ढँग का बनाया। शासन-संचालन के मामले में महाराज इतने चतुर थे कि पंजाब के लेफ्टीनेण्ट मि० सर हेनरी डेविस भी इन से मदद लेते रहते थे।

जिस समय पंजाब को सरकार ने मद्रास की भाँति अहाता बनाने की तयारी की उस समय रुपए की आवश्यकता पड़ने पर महाराज फरीदकोट ने सभी रियासतों से ज्यादा कर्जा अँगरेज़ सरकार को बिना व्याज के दिया। अर्थात् जहाँ कश्मीर ने सरकार को तीन लाख कर्ज दिया था महाराज फरीदकोट ने छः लाख दिया था। अफ़ग़ानिस्तान पर सन् १८७८ ई० में जब अँगरेज़ सरकार ने चढ़ाई की तो फ़ौज रिसाले और तोपों से महाराज ने सहायता दी। इन बातों से पता

चलता है कि महाराज ने थोड़े ही समय में राज्य की आर्थिक व सैनिक दोनों शक्तियाँ ठीक करली थीं।

अँगरेजी सरकार ने इस सहायता से प्रसन्न होकर पहिली जनवरी सन् १८७६ ई० को गवर्नर जनरल की ओर से महाराज फरीदकोट और उनके जां नशीनों को "फ़रजन्द सआदत निशान हज़रत कैसरे हिन्द" का अलक़ाव प्रदान किया, जिसे महाराज ने एक बड़े दरबार में स्वीकार किया। महाराज की जो फ़ौज अफ़गानिस्तान गई थी, उसकी सच्चाई, नेकचलनी, बहादुरी और सैनिकता की सभी अँगरेज़ अफ़सरों ने महाराज को चिट्ठियाँ लिख कर ख़ुशी जाहिर की थी। महाराज अँगरेज़ों की सहायता करने से कभी नहीं चूके। काहिरा की लड़ाई के समय तथा चीन के झगड़े के समय उन्होंने सरकार को सब तरह की मदद देने की इच्छा प्रकट की थी। अफ़गानिस्तान में मारे गए सैनिकों के परिवार की सहायता के लिए जब सरकार ने फण्ड खोला तो महाराज ने दिल खोल कर रुपये से सहायता की। इन सहायताओं से अँगरेज़ सरकार महाराज फरीदकोट की काहिल हो चुकी थी। यहाँ तक कि सन् १८७८ ई० में प्रिन्स ऑफ वेल्स सप्तम एडवर्ड पंजाब में पधारे और पंजाबी राजाओं से मुलाक़ात की तो फरीदकोट के टीका साहब कुँवर बलवीरसिंह को अपनी गोद में बिठा लिया और बड़ा प्रेम प्रकट किया। साथ ही यह भी इच्छा प्रकट की हम युवराज फरीदकोट की सवारी देखना चाहते हैं। लेकिन महारानी साहिबा के बीमार हो जाने के कारण महाराज व युवराज फरीदकोट लौट आए और प्रिन्स ऑफ वेल्स के साथ अधिक दिन रहने का संयोग प्राप्त न रहा।

महाराज ने मुल्की व राजनैतिक उन्नतियों के सिवा धार्मिक तथा क़ौमी कामों में भी ख़ूब दिलचस्पी ली थी। सिख-धर्म के मुख्य ग्रन्थ—ग्रन्थ-साहब की सरल और संक्षिप्त टीका कराई, और टीका कराने में जो ख़र्च हुआ, कुल अपनी ओर से किया। टीका कराने में २० वर्ष तक ज्ञानी लोग काम करते रहे थे और एक लाख रुपया ख़र्च हुआ था। फिर टीका के छपाने का कार्य आरम्भ किया, जो महाराज बलवीरसिंह के समय में जाकर ख़तम हुआ। दूसरे महाराज ने अमृतसर के गुरुद्वारे के ऊपर बिजली का प्रबन्ध करा दिया जो रात के समय कई मील से तारा सा जान पड़ती है। उस समय इस काम में अब से कई गुना ख़र्च होता था। प्रजा के अन्य मज़हबी लोगों के अमन-अमान का भी महाराज ख़ूब ध्यान रखते थे। एक समय मुसलमानों के दो सम्प्रदायों में मज़हबी झगड़ा चला। महाराज ने दोनों फ़िरक़ों के विद्वानों को बुला कर सत्य बात के जानने के लिए मुबाहिसा कराया। लेकिन मुबाहिसे में कोई बात तय नहीं हुई, इसलिए फिर अपने ही विचारों के माफ़िक उनके झगड़ों का निबटारा कर दिया।

देश में सब तरह का अमन था। अँगरेजों के क़ानूनी-राज्य ने जहाँ विद्रोही लोगों को दबाया था, वहाँ रईसों के घरू झगड़ों को भी अपने रौब से सदा के लिए मिटा दिया था। जहाँ आए दिन भगवती लपलपाया करती थी, वहाँ अब बिल्कुल सन्नाटा था। इस समय को शान्ति का समय कहा जाता है। शान्ति के समय लोग अपनी माली हालत सुधारने, व्यापार बढ़ाने, की धुनि में लगते हैं। राजा-रईस भी यही करते हैं। खजाने में रुपया तो था ही, महाराज ने भी फरीदकोट शहर को नए सिरे से बसाने की नींव डाली। पहिले महाजन लोग गढ़ के भीतर रहते थे, अब गढ़ केवल राजमहल बनाने के लिए सुरक्षित रक्खा गया। गढ़ के बाहर शहर आबाद किया गया। नए ढंग के बाज़ार, हाट, गली, कूचे और मकान बने। इस तरह फ़रीदकोट पहिले से अधिक रौनक़ का शहर हो गया। बाग़-बग़ीचे और कोठियों ने जहाँ उसकी शोभा को बढ़ाया; मन्दिर, स्कूल और शफ़ाखानों ने उसे ख्याति दी। महाराज ने मुसाफ़िरों के आराम के लिए शहर में धर्मशाला और सराय भी बनवाईं। नए ढंग के शहर में मंडी के बनवाने से व्यापारिक उन्नति हुई। शहर के चारों ओर सड़क बनवाई। इनके अलावा जो सड़क फीरोजपुर राज्य की सीमा तक आती थी, उसे कोट कपूरा तक महाराज ने पूरा कर दिया, जिससे यात्रियों को बड़ी सुविधा हो गई।

इन्हीं महाराज के समय में राज्य में होकर रेल निकली जो सरकार अँगरेजी की है। वह कोट कपूरा, भटिण्डा, सिरसा और हिसार से होती हुई रेवाड़ी जंकशन से देहली और बम्बई को चली गई है। रेलवे के सिवा राज्य में नहर का प्रबन्ध महाराज के आगे हो गया जिसमें बहुत से भू-भाग की सिंचाई हो जाती है।

महाराज के तीन औलाद हुईं—दो पुत्र और एक पुत्री। संवत् १९२६ में भादों बदी अष्टमी को राजकुमार बलबीरसिंहजी का जन्म हुआ और संवत् १९४२ फ़ागुन में रियासत मनी (अम्बाला जिले में है) के राजा भगवानसिंहजी की सुपुत्री के साथ राजकुमार साहब की शादी हुई।

पौष संवत् १९३३ ई० में राजकुमारी पैदा हुईं जिनकी शादी १९४५ विक्रमी में मुरसान (अलीगढ़) के राजकुमार के साथ हुई। सावन सं० १९३६ विक्रमी में कुँवर गजेन्द्रसिंहजी पैदा हुए जिनकी शादी संवत् १९५१ में बूड़िया (अम्बाला) में हुई। यह शादियाँ महाराज ने बड़ी धूमधाम के साथ कीं; बड़ा ही धन खर्च किया। राजा प्रजा दोनों ने इन शादियों में भारी खुशियाँ मनाईं। महाराज ने सदावर्त भी क़ायम किये। थानेसर में तथा फरीदकोट में ग़रीब और अभ्यागत लोगों को बना हुआ भोजन देने का प्रबन्ध हुआ जो अब तक बराबर चला जा रहा है।

महाराज के समय में सभी बातें अच्छी हुईं; प्रजा और सरदार सभी महाराज से खुश रहे। किन्तु खेद इतना है कि युवराज साहब और महाराज में किन्हीं कारणों से अनबन हो गई। यह अनबन यहाँ तक बढ़ी कि अँगरेजी

पोलीटिकल डिपार्टमेण्ट तक यह बात पहुँच गई और महाराज के अन्तिम काल तक अनबन न मिटी। ऐसे योग्य महाराज का सन् १८६८ ई० के अगस्त महीने में स्वर्गवास हो गया। उस समय युवराज साहब पहाड़ पर थे, तार देकर उनको राजधानी में बुलाया गया। स्वर्गवासी महाराज का शोक राज्य और राज्य के बाहर सब जगह मनाया गया।

महाराज बलवीरसिंह

मि० सिलकाक कमिश्नर जालन्धर ने फरीदकोट आकर बलवीरसिंहजी को राज्याधिकार देने की रस्म अदा की। राजतिलक की रस्म पहिले ही अदा हो चुकी थी। अच्छे मुहूर्त के समय में संवत् १६५५ के पूष में राजगद्दी पर बैठने के कुल रस्म अदा हुए। राजगद्दी के बाद महाराज ने खुशी में देशी-विदेशी मेहमानों को भोज दिया जिसमें मि० इण्डरसन कमिश्नर जालंधर, मि० सी० एम० किंग डिप्टी फीरोजपुर अंगरेज़ सरकार की ओर से पधारे और सर राजेन्द्रसिंह महाराज पटियाला, लोकेन्द्र महाराज राना निहालसिंह धौलपुर, जातीय नरेशों में से शामिल हुए। इन बड़े-बड़े मेहमानों के आने से फरीदकोट में बड़ी खुशी और चहल-पहल रही। कमिश्नर साहब ने महाराज साहब की कमर में अपने हाथ से किरच बाँधी और एक स्वीच भी दी। महाराज धौलपुर और पटियाला की ओर से तोहफ़े दिए गए। अन्य रियासतों से भी तोहफ़े भेजे हुए आये थे।

युवावस्था में आपने शिक्षा-क्षेत्र में प्रवेश किया। गुरुमुखी तो पहिले से ही जानते थे, फ़ारसी अँगरेज़ी की शिक्षा पं० स्वरूप नारायनजी से पाई। फिर चार साल मेयो कौलेज अजमेर में रह कर योग्यता प्राप्त की। इन दिनों बाबू अमरनाथजी बी० ए० भी आपके साथ रहे। जिस समय आप पढ़ रहे थे उसी समय आपकी शादी हुई। आपने अपने छोटे भाई गजेन्द्रसिंह की शिक्षा का प्रबन्ध एक प्राइवेट अँगरेज़ मास्टर रख कर किया जिसे सालाना छः हज़ार रुपया और सवारी आदि मुफ़्त दी जाती थीं। भाई के गुजारे के लिए अलग जायदाद और रहने के लिए उम्दः कोठियाँ भी बनवायी थीं। किन्तु शोक के साथ कहना पड़ता है कि २१ साल की उम्र में भरी जवानी में देहान्त हो गया। इस तरह दो भाइयों में से सिर्फ़ अकेले महाराज ही रह गए। कुछ ही दिन बाद बीबीजी साहिबा का भी जो कि मुड़सान व्याही थीं, स्वर्गवास हो गया। वह फरीदकोट में बुलाई गईं थीं। यहीं उनके पुत्र-रत्न हुआ। इसी समय बीमारी ने धर दबाया और मासूम बच्चे को छोड़ कर चल वसीं।

इन आघात और शोक-रंज से जब दिल बेचैनी से सुलझा तो राज्य की भलाई के लिए उन लोगों को नियुक्त किया जो पहिले से राज-भक्त साबित हुए थे, अथवा जिन्होंने नये ज़माने के माफ़िक योग्यता प्राप्त करली थी। किन्हीं कारणों वश राज के बिछुड़े हुए लोगों को भी इकट्ठा किया। उन्हें नौकरियाँ और भूमि

देकर राज्य में आबाद किया। बिरादरी के सम्बन्ध जो कि कुछ कबीलों में अविच्छिन्न हो गये थे, स्थिर किये।

आपके शासन-काल में सन् १८६६ ई० में अँगरेजों और दक्षिणी अफ्रीका के लोगों में युद्ध छिड़ा। इस समय अँगरेज़ सरकार की प्रार्थना पर आपने घोड़े भेज कर सहायता की जिसके लिए युद्ध की समाप्ति पर सरकार ने महाराज को धन्यवाद दिया। प्रजा के फ़ायदे के लिए तालाब, बावड़ी बनवाये। क़हत के समय जो कि लगातार पाँच वर्ष तक रहा, महाराज ने जहाँ लगान में माफ़ी की वहाँ अपने खर्चों में से ग़ल्ला देकर भी प्रजा के ग़रीब लोगों की मदद की। बिना ब्याज और म्याद के क़र्ज़ा बाँटा गया। जो बिल्कुल तंग हाल थे उन्हें अनाज मुफ़्त दिया। ३० अक्टूबर सन् १६०० ई० में आपने प्रजा का एक दरबार भी किया, जिसमें सभी श्रेणी के प्रजा-जनों ने शामिल होकर महाराज को आशीर्वाद दिया। इस दरबार में निम्न घोषणा की:—

(१) स्कूल मिडिल से बढ़ा कर एन्ट्रेंस तक का कर दिया जावेगा।

(२) मेला व मवेशी फ़रीदकोट की भाँति कोट कपूरा में भी हुआ करेगा।

(३) अदालतों के ज़ाब्ते और क़ायदों में सुधार किये जावेंगे तथा महकमों के लिए मकानात भी बनाये जावेंगे।

(४) मुसाफ़िरों के लाभ के लिए रेलवे के सामने एक वेटिंग रूम बनाया जावेगा।

इस दरबार में प्रजा के लोगों ने महाराज से रियासत का दौरा करने की प्रार्थना की। उसे स्वीकार करके कुल राज्य में दौरा किया और प्रजा की हालत को देखा। साथ ही अनुभव किया कि प्रजा को किन सुविधाओं की आवश्यकता है।

महाराज चित्रकारी के कार्य में भी निपुण थे। वह मकानात के चित्र स्वयम् तयार करके कारीगरों को देकर इमारत बनवाते थे। फ़रीदकोट में उनके समय में उनके ही बनाये मकानों के आधार पर कई इमारतें हैं।

म० ब्रजेन्द्रसिंहजी

महाराज बलबीरसिंह जी की मृत्यु के बाद राज-सिंहासन पर उनके भाई गजेन्द्रसिंहजी के सुपुत्र श्री ब्रजेन्द्रसिंह जी बैठे। क्योंकि ब्रजेन्द्रसिंहजी बालिग़ नहीं थे, इसलिए राज्य-प्रबन्ध कौंसिल के हाथ रहा। महाराज को चीफ़स् कालेज में शिक्षा दी जाने लगी। जब वह युवा हो गये तो सरकार अँगरेज़ ने २४ नवम्बर सन् १६१६ ई० को उन्हें राज्याधिकार दे दिये। उस समय महाराज की अवस्था २० साल की थी। उन दिनों अँगरेज़ों और जर्मनों में घोर युद्ध हो रहा था। महाराज ने अँगरेज़ सरकार को सब प्रकार से सहायता दी। इसलिए बदले में सरकार ने आपको 'मेजर' की

उपाधि से विभूषित किया। महाराज की इच्छा थी कि राज्य में नवीन सुधार हों, इसलिए आपने "ब्रजेन्द्र हाईस्कूल", ज़नाना अस्पताल, कृषि विभाग, सदर अस्पताल, वाटर वर्क्स, टेलीफून, और बिजली के प्रकाश से शहर को व राज को उन्नत बनाने का आयोजन किया। प्रजा की भलाई के लिए और भी सुधार करना चाहते थे। उनकी बहुत कुछ इच्छा थी परन्तु दो ही वर्ष के भीतर उनका स्वर्गवास हो गया। २३ दिसम्बर १६१८ को २२ वर्ष की अवस्था में प्रजा से वे सदा के लिए प्रथक हो गये। प्रजा को आपके वियोग से अपार कष्ट हुआ।

महाराज हीरेन्द्रसिंह

महाराज ब्रजेन्द्रसिंहजी के स्वर्गवास के पश्चात् उनके पुत्र श्री हीरेन्द्रसिंहजी गद्दी पर बिठाये गये। उस समय आपकी अवस्था केवल तीन बरस की थी। आपका जन्म २८ जनवरी सन् १६१५ ई० को हुआ था। राज्य का प्रबन्ध कौंसिल आफ़ एडमिनिस्ट्रेशन के सुपुर्द है। दस वर्ष की अवस्था में अपने छोटे भाई कुँवर मनजीत-इन्द्रसिंह के समेत चीफ़ कालेज में भर्ती हो गये। सन् १९३२ ई० में महाराजा साहब ने डिप्लोमा की परीक्षा बड़ी सफलता से उत्तीर्ण करली है। अँगरेज़ी के मज़मून में सर्व श्रेष्ठ रहने के कारण आपको गाडले मैडिल मिला है। इतिहास और भूगोल के निबन्ध में आप प्रथम रहे हैं। ख़याल किया जाता है, महाराजा उदार और राज्य-प्रबन्ध में योग्य सिद्ध होंगे। आप नरेन्द्र मण्डल के मेम्बर भी हैं। भरतपुर की स्वर्गीय माजी साहिबा श्री राजेन्द्र कुमारी के आप भतीजे होते हैं।

झींद-राज्य

झींद-राज्य का वंश-वृक्ष निम्न प्रकार है:—

आलमसिंह (मृत्यु १७६४) — राजा गजपतसिंह (मृत्यु १७८६) — बुलाकीसिंह (जिनसे कि दयालपुरिया सरदारों का निकास हुआ)

राजा गजपतसिंह के पुत्र:
मेहरासिंह (मृत्यु १७७१) — राजा बाघसिंह (मृत्यु १८१९) — भूपसिंह (मृत्यु १८१५)

मेहरासिंह → हरीसिंह (मृत्यु १७८१)

हरीसिंह / राजा बाघसिंह → राजा फतेहसिंह (मृत्यु १८२२) — प्रतापसिंह (मृत्यु १८१६) — महताबसिंह (मृत्यु १८१६)

राजा फतेहसिंह → राजा संगतसिंह

भूपसिंह → करमसिंह (मृत्यु १८१८) — बासवसिंह (मृत्यु १८३०) (वर्तमान नाभा वंश का पुरुपा)

करमसिंह → राजा सरूपसिंह जी० सी० ऐस० आई० (मृत्यु १८६४)

राजा सरूपसिंह → रनधीरसिंह (मृत्यु १८४८) — राजा रघुवीरसिंह (मृत्यु १८८७) जी० सी० एस० आई०

राजा रघुवीरसिंह → बलवीरसिंह (मृत्यु १८८३)

बलवीरसिंह → राजा सर रनवीरसिंह[१] के० सी० एस० आई० (जन्म १८७६)

जींद स्टेट के राजवंश का पुरखा चौधरी फूल है। इसलिए पटियाला स्टेट एवं जींद-स्टेट दोनों का पूर्व इतिहास एक ही है। चौधरी फूल के बड़े लड़के तिलोका के दो पुत्र हुए—गुरदत्तसिंह और सुखचैन। बड़े भाई गुरदत्तसिंह के वंशज नाभा-स्टेट और छोटे भाई सुखचैन के रियासत जींद, सरदार बडरूखाँ व बाजेदपुर हैं।

१—यह शिजरा ग्रिफिन के समय तक का है।

अपने पिता के पश्चात् तिलोका को चौधरायत मिली परन्तु वह इतना होशियार न था कि रियासत की उन्नति कर सके। तिलोका का दूसरा बेटा सुखचैन जिसके वंशज जींद स्टेट के राजगान हैं, एक जमींदार की हैसियत से था। इसकी शादी मंडी गाँव के एक जाट के यहाँ हुई थी। इसने अपने नाम पर एक गाँव भी बसाया था जो अपने छोटे बेटे बुलाकीसिंह को दिया था और एक दूसरा गाँव अपने दूसरे लड़के आलमसिंह को दिया था। इस तरह के बटवारे के पश्चात् वह अपने बेटे गजपतसिंह के साथ गाँव फूल में रहा करता था और सन् १७५८ में ७५ वर्ष की उम्र में देहान्त हो गया।

सुखचैन का विशेष इतिहास नहीं मिलता। इसके तीन लड़के थे—आलमसिंह; गजपतसिंह और बुलाकीसिंह। आलमसिंह से इस स्टेट का इतिहास पूरा मिलता है।

आलमसिंह व बुलाकीसिंह

आलमसिंह सुखचैन का बड़ा बेटा था और यह बड़ा बहादुर था। शाही फ़ौजों से लोहा लेने में इसका नाम मशहूर था। सन् १७६३ तक उसने एक बड़ा इलाका अपने कब्जे में कर लिया था। पर कराल काल ने दूसरे ही वर्ष आलमसिंह को सदा के लिए उठा लिया। इसके तीन रानी थी परन्तु सन्तान किसी से न हुई थी। बुलाकीसिंह सरदार दयालपुर का पुरखा है जो फुलकियां खान्दान की मशहूर जागीर है।

गजपतिसिंह

सन् १८३८ के करीब हुआ था। यह अत्यन्त खूबसूरत और सुडौल जवान था, अपने पिता के साथ गाँव फूल में रहता था। इसने अपने पिता के साथ गुरुदत्तसिंह (गजपतसिंह के चचा व नाभा के पुरखा) से मुक़ाबिला करने में पूरी सहायता की। यह वह समय था जब कि नाभा और जींद दोनों के आपसी झगड़े की नींव पड़ी और जिसके कारण दोनों स्टेटों को ही समय-समय पर काफ़ी नुकसान उठाना पड़ा है। इस झगड़े से उत्पन्न फूट पापिनी का ही परिणाम था कि सन् १७४३ में जब कि गजपतसिंह की उम्र सिर्फ ५ वर्ष की थी अपनी माता के साथ शाही फ़ौज द्वारा गिरफ़्तार होकर देहली जाना पड़ा था। देहली से फ़ौज तो सुखचैन को गिरफ़्तार करने आई थी परन्तु वह हाथ न आये। दैवयोग से अधिक समय तक क़ैद में न रहना पड़ा।

सन् १७५४ में गजपतसिंह ने आलमसिंह की विधवा से नाता किया और रियासत बालानवाली का मालिक हुआ। इससे एक लड़की पैदा हुई। इसके अलावा उसने किशनसिंह मानसिंह की लड़की से शादी की थी, जिससे चार सन्तान पैदा हुई थीं। मेहरसिंह, बाघसिंह, और भूपसिंह तीन पुत्र तथा एक पुत्री राजकुँवरि जिसकी शादी सरदार महानसिंह सुकरचकिया से हुई थी और जिसकी कोख से पंजाब शेर महाराज रणजीतसिंह उत्पन्न हुए।

सन् १७६३ तक गजपतसिंह ने अपने राज्य की हद बहुत बढ़ा ली थी यहाँ तक कि पानीपत व करनाल तक उसका हाथ पहुँच गया था। वह बड़ा राजनीतिज्ञ भी था क्योंकि वह जानता था कि इतने इलाक़े की वह शीघ्र ही अपने प्रति प्रीति उत्पन्न न कर सकेगा इसलिए उसने बराबर बादशाह देहली से सम्बन्ध रखा और ख़िराज भेजता रहा। सन् १७६७ के करीब उस पर माल-गुजारी का डेढ़ लाख रुपया हो गया था इसलिए वह देहली गिरफ्तार कर लिया गया। वहाँ पर वह करीब ३ वर्ष तक रहा परन्तु फिर अपने लड़के मेहरसिंह को जब तक रुपया न दे देहली छोड़ जींद लौट आया और वहाँ से ३ लाख रुपया जमा करके देहली गया। इस पर उसके और मेहरसिंह के जींद आने की सहूलियत ही नहीं हुई बल्कि उसे राजा का ख़िताब भी मिला एवं अब से वह ख़ुद मुख्तार रईस माना जाने लगा तथा उसने अपना सिक्का भी जारी किया। सन् १७७४ में राजकुँवरि की शादी सरदार महांसिंह सुकरचकिया से हुई। इस समय में बड़रूखाँ रियासत जींद की राजधानी थी। वहीं पर तमाम फूल के रईस तथा और भी कई सरदार इकट्ठे हुए और शादी का समारोह बड़ा धूम-धाम से समाप्त हुआ। परन्तु इस शादी में एक बड़ा भारी तनाजा भी पैदा हुआ वह यह कि नाभा की हद का एक बीहड़ बड़रूखाँ के पास ही था जिसमें बरातियों को अपने घोड़ों के वास्ते घास काट लेने की आज्ञा दी गई थी। लेकिन जब उन्होंने घास काटनी शुरू की तो हमीरसिंह (जो उस समय नाभा का शासक था) के हाकिम याक़ूबखाँ ने मेहमानों का कुछ भी खयाल न करके उन पर हमला कर दिया। थोड़ी सी छेड़-छाड़ के बाद उस वक्त तो यह मामला शान्त हो गया पर गजपतसिंह इसे भूल न सका और इससे उसने अपनी तौहीन समझी। इसका बदला लेने के लिए उसने एक निन्दनीय नीति ग्रहण की। अर्थात् उसने अपना स्वास्थ्य संदेहात्मक बतला कर मृत्यु से पहिले हमीरसिंह से मिल जाने के लिए आने को कहला भेजा। हमीरसिंह को क्या पता था कि तेरे साथ यह चाल चली जा रही है! उसने याक़ूबखाँ के साथ बिना किसी अभिमान के सादे ढंग से ही मिलने के लिए प्रस्थान कर दिया। वहाँ पहुँचते ही याक़ूब को मार दिया गया और हमीरसिंह को क़ैद कर लिया। अमलोह व भादसों पर जो नाभा के इलाक़े में हैं चढ़ाई की और संगरूर पर हमला किया। हमीरसिंह की रानी ने चार महीने तक अच्छी तरह सामना किया और जब स्वयं बचाव न कर सकी तो राजा साहब पटियाला से सहायता के लिए प्रार्थना की। राजा साहब पटियाला से जितनी आशा थी रानी साहिबा को हासिल न हुई अतः संगरूर जींद के कब्जे में हो ही गया। परन्तु अमलोह और भादसों वापिस करने, राजा हमीरसिंह के रिहा कर देने पर गजपतसिंह महाराज पटियाला और कुछ सिख सरदारों द्वारा मजबूर किये गए।

दूसरे वर्ष ही रहीमदादखाँ हाकिम हांसी को सूबेदार देहली ने जींद के मुक़ाबिले के लिए भेजा। राजा गजपतसिंह ने फुलकियां सरदारों से सहायता माँगी। राजा अमरसिंह पटियाला ने एक सेना दीवान नानूमल के सेनापतित्व में भेजी।

नाभा से हमीरसिंह स्वयं कैथल के भाई-चन्दों के साथ जींद की सहायता के लिए चढ़ आया। इन सब ने रहीमदादखाँ को मैदान में लड़ाई लड़ने के लिए आने को बाध्य किया। रहीमदादखाँ ने बुरी तरह से हार खाई और खुद मारा गया। इस विजय के चिह्न अब तक जींद में मौजूद हैं और रहीमदादखाँ की कबर दरवाजा खास के भीतर दृष्टि गोचर होती है। इसके बाद गजपतसिंह ने पटियाला की फ़ौज के साथ ही लालपुर जिला रोहतक पर हमला किया। इस हमले में जिला गोहाना इनके कब्ज़े में आया। पर जब जाब्तांखाँ ने जमैयत इकट्ठा कर लड़ाई के लिए कूँच किया तो इन्होंने मुक़ाबिला करना ठीक न समझा और जींद में एक मुलाकात के समय एक हिस्सा गोहाना का राजा साहब को छोड़ना पड़ा। पटियाला को भी हिसार, रोहतक और करनाल में से एक बड़ा हिस्सा छोड़ देना पड़ा।

राजा गजपतसिंह और पटियाला के राजा अमरसिंह में मित्रता का व्यवहार था। जब अमरसिंह से हिम्मतसिंह ने बग़ावत की थी तो राजा साहब ने सहायता की थी और सन् १७८० में पटियाला और जींद की फ़ौजों के साथ मेरठ की तरफ़ कूच किया, जहाँ पर सिखों को मिर्ज़ा शफ़ीबेग के साथ लड़ने पर विजय-श्री ने साथ न दिया था और गजपतसिंह क़ैद भी हो गया था, पर बाद में समझौते पर रिहा हुए। साहबसिंह के पटियाला में उसके नाम के बाद अधिकारी होने में गजपतसिंह ने बड़ी कोशिश की और सरदार महांसिंह की बग़ावत दूर करने में अत्यन्त तत्परता से सहायता की। और भी राजा साहब समय-समय पर पटियाला की सहायता देने में विमुख न हुए। इससे जाना जा सकता है कि पटियाले के साथ राजा साहब का दोस्ताना सम्बन्ध था।

राजा गजपतसिंह का बड़ा पुत्र सन् १७८० में मर गया१। इसके एक बेटा हरीसिंह था जिसको गजपतसिंह ने सफेदों का इलाक़ा दे दिया था। हरीसिंह बड़ा नशेबाज़ था और एक दिन नशे की हालत में ही अपने मकान की छत पर से गिर पड़ा और मर गया। यह बात सन् १७६१ की है। इस वक्त इसकी उम्र १८ वर्ष की थी। हरीसिंह के एक लड़की थी जिस का नाम चन्द्रकुँवरि था। इसकी शादी फतेहसिंह के साथ जो भंगी सरदार था हुई थी। पति के मर जाने के बाद चन्द्रकुँवरि उसके साथ और एक दूसरी विधवा रानी रियासत की मालिक हुई। सन् १७४४ में रियासत बिल्कुल उसके अधिकार में आ गई और मरने तक उसका अधिकार रहा। सन् १८५० में उसकी मृत्यु हो गई और रियासत बतौर लावारिस होने के गवर्नमैण्ट अँग्रेजी ने बृटिश भारत में शामिल कर ली। हरीसिंह की विधवा का इलाक़ा भी उसकी मृत्यु के पश्चात् गवर्नमैण्ट अँग्रेज़ी के अधिकार में हो गया।

१—"पंजाब राजगान", "दी राजाज़ आफ़ दी पंजाब" के तर्जुमे में इस की मृत्यु शज़रा-खान्दान में १८८१ में लिखा है। ले०।

सन् १७८६ में राजा गजपतसिंह का भी स्वर्गवास हो गया। राजा साहब बड़े साहसी और बुद्धिमान शासक थे। इन्होंने रियासत का इन्तजाम भी समयानुसार उचित रीति से किया था और राज्य-विस्तार बढ़ाने में भी समयानुकूल कार्य करते ही रहे। शहर जींद की शोभा बढ़ाने की ओर भी आप का ध्यान था, इसीलिये आप ने एक पक्का किला भी तैयार कराया था।

राजा भागसिंह

राजा गजपतसिंह के बाद रियासत भागसिंह और भूपसिंह दोनों भाइयों में बँट गई। भूपसिंह को बड़रूखां का इलाका मिला और भागसिंह को इलाका जींद व सफेदों का। चूँकि भागसिंह बड़ा लड़का था, इसलिए अधिक प्रदेश और 'राजा' के खिताब का वही अधिकारी हुआ। इसकी उम्र इस समय २१ वर्ष की थी।

राजा भागसिंह का इतिहास पटियाले के इतिहास से बहुत ताल्लुक रखता है, क्योंकि वह लड़ाइयों में शामिल हुआ था जो वहीं से सन्बन्ध रखती हैं और हुई। सन् १७८६ में गोहाना और खरखोदा बादशाह शाहआलम ने बतौर जागीर उसको दिए थे और सन् १७६४ में पटियाला से जो फौज रानी साहबकुँवरि के आधिपत्य में अम्बाराव व लछमनराव मरहठों से स्थान राजगढ़ पर हमला करने के लिए गई थी, उस में भी भागसिंह शामिल था। इसमें कामयाबी भी अच्छी तरह मिली थी। दूसरी साल में करनाल राजा के हाथ से निकल गया, जिसको मरहठों ने विजय करके टामसन को सौंप दिया। इसने सिखों को पीछे हटाने में बड़ा उम्दा काम दिया था। जार्ज टामसन से सन् १७६७ और सन् १७६६ ई० में जींद और सफेदों के मुक़ाबिले में भी भागसिंह ने अपने साथियों की सहायता से सफलता प्राप्त की। पंजाब से टामसन साहब पर हुई चढ़ाई जिस में भागसिंह का पूरा हाथ था और वह स्वयं शामिल था उसमें बड़ी कामयाबी मिली और साहब बहादुर ने हार खा कर हांसी से अँग्रेजी इलाक़े में आकर विश्राम किया।

सतलज के पास के बड़े सरदारों में भागसिंह पहिला सरदार था, जिस ने गवर्नमेण्ट अँग्रेजी से सब से प्रथम सम्बन्ध स्थापित किया था। सन् १८०३ की विजय के पश्चात् ही भागसिंह ने अँग्रेजी जनरल से लिखा-पढ़ी आरम्भ कर दी थी और उन्हें विश्वास हो जाने पर अँग्रेजी कैम्प में जाकर उपस्थित हो गया। इस समय जनरल लेक साहब को भागसिंह के मित्र और सहायक होने का पूरा विश्वास हुआ। जनरल लेक साहब ने भागसिंह को मित्र और सहायक के नाम से लिखा है और उस वक्त ही साहब बहादुर ने इलाक़ा गोहान और खरखोदा राजा साहब के अधिकार में ही रहने का इज़हार किया। लालसिंह कैथल वाले ने भी जो राजा साहब जींद का पक्का मित्र था, देखा कि भागसिंह ने अँग्रेजों से दोस्ताना सम्बन्ध स्थापित कर लिया है, जान गया, क्योंकि वह बड़ा बुद्धिमान था; उसने पहँचान लिया था कि किस दल को कामयाबी होगी। इसलिए जब सन् १८०५ ई०

में कर्नल ब्रन साहब से सिख लड़ाई में असफल रहे तो भागसिंह और लालसिंह अँग्रेजी सरकार का प्रीति-भाजन बनने के लिए प्यौन के दस्तों के साथ अँग्रेजी सेना में आ मिले। कुछ महीने तक ये वहाँ रहे और कोई विशेष मदद नहीं की। अथवा यों कहना चाहिये कि इनका इम्तहान होता रहा। पर इसके ये मानी नहीं कि इनके वहाँ रहने से सरकार को कुछ फ़ायदा न हुआ हो। जब आक्टरलोनी साहब मरहठों से निपटने में लगे थे, इन्होंने ही सहारनपुर को थामे रक्खा था।

लार्ड लेक जब सन् १८०५ में जसवन्तराव होल्कर को सब तरह से पंगु बनाकर विवश कर देने के लिए पीछे लगे थे, भागसिंह भी साहब बहादुर से आ मिला था और दरिया-व्यास तक साथ गया था और यहीं से वह महाराज रणजीतसिंह के पास लाहौर को इसलिए भेजा गया था कि रणजीतसिंह को वह यह समझाये कि अङ्गरेज़ी जनरल आ गये हैं इसलिए जसवन्तराव की सहायता न करे। बाघसिंह को इस काम के लिए भेजा जाना यों भी उचित समझा गया था कि रणजीतसिंह उस नाते से भानजा लगता था। इसका फल भी जैसी आशा करके भेजा था हो गया और जसवन्तराव से किसी तरह की सहायता मिलने की गुंजायश थी वह भी न रही। भागसिंह के समझाने का ही फल था कि जसवन्तराव पंजाब से चले जाने पर बाध्य हुआ। क्योंकि पंजाब में अगर कोई ऐसी शक्ति थी जो कि अँगरेज़ों के दुश्मन को ठहरा सके व सहायता कर सके तो वह महाराज रणजीतसिंह की ही हस्ती थी और वह शक्ति ही भागसिंह के ज़रिये से जसवन्तराव के लिए अनुकूल न रही। लाचार होकर होल्कर को पंजाब से खाली हाथ लौटना पड़ा। भागसिंह लार्ड लेक के साथ देहली आया और इस सहायता के बदले उन्हें परगना बुवाना जो पानीपत की तरफ़ है मिला।

पटियाला, जींद, नाभा के आपसी झगड़े तथा राजा-रानी पटियाला के मामले का फैसला करने को जब महाराज रणजीतसिंह पधारे थे उस समय भागसिंह भी शामिल हुआ था और इस अवसर पर अपने भानजे रणजीतसिंह से उसे इलाक़ा भी मिला था और पुनः सन् १८०६ में उसे इलाक़ा लुधियाना जिसमें १५३७०) रुपया की आमदनी के चौबीस गाँव और परगना जंडियाला के २४ गाँव और दो जगरानू के जिनकी आमदनी क़रीब २०००) थी और २३७०) के और दो गाँव कोट के मिले। दूसरे वर्ष महाराज ने तीन देहात जो गूजरसिंह रायपुर वाले से लिए गये थे और २७ देहात जो धरमसिंह के बेटे से लिए गए थे और इनकी कुल आमदनी १६२५५) थी दिए।

सन् १८०७ में लेफ्टीनेण्ट एफ़० वायफ साहब से अपने प्रदेश की पैमायश को राजा साहब भागसिंह ने अत्यन्त लगन से करने में मदद की और पूरी दिलचस्पी ली।

सन् १८०८ में महाराज ने हरिद्वार मेले और गंगा स्नान करने की इच्छा की और इसलिए उसने सरदार महासिंह लम्बा और सरदार बिशनसिंह को देहली

में रेजीडेण्ट से आज्ञा लेने के लिए भेजा। महाराज के लिए हरद्वार में निहायत उम्दा इन्तजाम किया गया था। ३००० आदमी उनकी खिदमत के लिए नियत किए गए थे। पर ठीक वक्त पर महाराज साहब को किसी से यह ज्ञात हुआ अथवा किसी ने कान भरे कि महासिंह, बाघसिंह उसको धोका दे रहे हैं और अपने समस्त रुपया को देहली में हुण्डियों और अंग्रेजी नोटों में बदलवा रहे हैं और उनकी यह सूचना है कि महाराज का हरिद्वार जाना किसी क़िस्म से हानिकर नहीं है, विश्वसनीय नहीं है। महाराज को यह राय भी दी गई कि तमाम फ़ौज के साथ यात्रा न की जाय; उनका यात्रा करना सन्देह से खाली नहीं है। इस बात में कोई सचाई न हो यह बात कहना भी मुश्किल है। दो वर्ष बाद सरदार महासिंह महाराज की बिना आज्ञा के पंजाब से बनारस चला गया।

राजा भागसिंह स्वयं मेला हरिद्वार को गए और बाद मेला के लाहौर को रवाना हो गए जहाँ वह महाराज रणजीतसिंह के पास ठहरे, और सन् १८०८ में महाराज रणजीतसिंह के सतलज पार आते वक्त साथ थे और मिस्टर मेटकाफ़ भी लश्कर-सिख के साथ थे। सन् १८०८ के आरम्भ में राजा भागसिंह के भाई लालसिंह और राजा नाभा तथा एक दस्ता फ़ौज पटियाला को लेकर घोंगराना क़िले पर हमला किया और कुछ दिन तक यह झगड़ा होते रहने के बाद रणजीतसिंह के बीच में पड़ने से इरादा छोड़ देना पड़ा। परन्तु यह काम क़िले के मालिक गूजरसिंह की भलाई के लिये न था। उसके बारे के लिए तो जैसे साँपराज वैसे नागराज। महाराज रणजीतसिंह ने बिना किसी लड़ाई के फ़ौज भेज कर क़िला ले लिया और एक व्यक्ति करमसिंह को जिस पर उनकी महरबानी थी दे दिया।

कहावत सच है कि—"लालच बुरी बला है"। करमसिंह की इच्छा कुछ गाँव जो भागसिंह के क़ब्जे में थे अपने अधिकार में लेने की हुई। इस सम्बन्ध में उसने राजा साहब से भी कहा पर उन्होंने अपने मामा को दिये हुए गाँव वापिस कराना उचित न समझा क्योंकि यह तो लूट का माल था और रणजीतसिंह इतने संकुचित विचार का व्यक्ति न था। इसका फल यह हुआ कि भागसिंह और करमसिंह दोनों में मन-मुटाव व झगड़े की नींव पड़ी और इसके कारण बराबर तक़रार होती रही। कई बार लड़ाई भी छिड़ी और कितने ही सैनिकों का ख़ून करमसिंह के लालच के लिए बहा।

राजा भागसिंह उन सरदारों की तरह ही थे जिन्होंने रियासत मालेर कोटला की जिससे कि महाराज रणजीतसिंह ने सन् १८०८ ई० में एक लाख रुपया भेंट का तलब किया था, जमानत की थी। (२५०००) रुपया केवल एक मुश्त दिया गया था और शेष के लिए पटियाला, नाभा, जींद और कैथल ज़ामिन थे और इसके लिए मालेर कोटला से इन्होंने कई इलाक़े और जमालपुरा ले लिया था। परन्तु पीछे कई कारणों से किसी क़दर महाराजा जींद व दूसरे राजगान

महाराजा रणजीतसिंह से वातचीत व खतो-किताबत से रक़म जमानत देने से वरी हो गए।

रियासत मालेर कोटला के साथ रणजीतसिंह के हुए व्यवहार से भागसिंह का हृदय कांप गया कि पता नहीं मुझसे भी कब रणजीतसिंह नाराज़ हो जाय तब अपना इलाक़ा रहना कठिन ही नहीं असम्भव है। ऐसी हालत में जब कि रणजीतसिंह से न पटे तो अङ्गरेजों के सिवा दूसरा कौन था जो उसकी मदद कर सके। इस तरह के विचारों से प्रेरित होकर भागसिंह ने अङ्गरेजों से मित्रता का सम्बन्ध तो कर लिया था पर उसे दृढ़ बनाने के लिए सचेत हुए। २१ वीं नवम्बर को साहब रेजीडेण्ट देहली ने राजा को इस तरह लिखा कि सरकार अँगरेजी स्पष्टतः हस्तक्षेप करने को तैयार नहीं है। परन्तु गवर्नर जनरल साहब ने एक पत्र द्वारा महाराजा रणजीतसिंह से यह आशा की है कि ये सतलज के पास के सरदारों के साथ किसी प्रकार की सख्ती न करेगा तथा उनका व्यवहार शिष्ट होगा। इसके उत्तर में राजा साहब ने अपने विश्वास-पात्र होने और मित्रता का व्यवहार हो जाने के साथ लिखा कि गवर्नमेण्ट की छत्र-छाया में ही उसका राज्य एवं अधिकार सुरक्षित रहेगा। इसके पश्चात् साहब रेजीडेण्ट देहली ने आम तौर से साफ़ लिखा कि गवर्नमेण्ट अँगरेजी को सिवा इसके कि सिख-सरदारों की हुकूमत हमेशा क़ायम रहे और कोई ख्वाहिश नहीं है और सरदारों की नेक-नीयती और मित्रता पर पूरा विश्वास है।

भागसिंह बराबर पत्र-व्यवहार करता रहा और अपनी परिस्थिति का दिग्दर्शन हमेशा कराता रहा। राजा साहब रणजीतसिंह से भेंट करने के पश्चात् भी एक पत्र लिखा था जिसमें यह साफ़ जाहिर कर दिया था कि यद्यपि हम चारों सिख सरदारों की (राजा साहबसिंह, भाई लालसिंह, सरदार जसवंतसिंह और स्वयं भागसिंह) मुलाकात हुई है और नियमानुसार मित्रता प्रगट करने के अनुसार महाराजा साहब रणजीतसिंह और साहबसिंह ने पगड़ी भी बदली परन्तु हम चारों रईस वैसे ही हैं जैसे कि पहिले थे। अर्थात् अँग्रेज़ सरकार के हम पूर्ववत् खैर-ख्वाह हैं। इसके अलावा और भी कई बातें इस पत्र से सूचित की गई हैं। कुछ दिन बाद भागसिंह रेजीडेण्ट देहली से मुलाक़ात करने देहली की तरफ़ रवाना भी हुआ पर रास्ते में से ही भागसिंह को जनरल अक्टरलोनी की फ़ौज में शामिल होना आवश्यक समझा गया। अतः वे जनरल अक्टरलोनी साहब की फ़ौज में जा मिले।

ता० १६ फर्वरी को फ़ौज लुधियाने पहुँच गई। यह स्थान पंजाब को अधिकार में करने को अँग्रेजों के लिए आवश्यक था। चूंकि यहाँ पर दो वर्ष से भागसिंह का अधिकार था परन्तु भागसिंह अँग्रेजों से हुई अपनी मित्रता की खातिर यह स्थान देने के लिए तैयार था बशर्ते कि उसे उसके बदले में परगना करनाल व परगना पानीपत दिया जाय। इस आशय का एक पत्र भी उसने लिखा और जनरल

अक्टरलोनी ने इसका समर्थन भी किया। परन्तु गवर्नर जनरल ने इस प्रार्थना को अस्वीकार कर दिया। सरकार की ओर से इसके बदले में करनाल को न पाने के कारण भागसिंह को मानसिक कष्ट हुआ। सरकार का जो कुछ समय के लिए ही छावनी रहने का इरादा जान पड़ता था पर वह आज तक क़ायम है।

राजा भागसिंह को शराब खोरी की बुरी लत थी। इस दुर्व्यसन ने ऐसी जड़ जमा ली थी कि इसका छोड़ना दुर्लभ था। यद्यपि महाराज ने इसे छोड़ने की कोशिश भी की परन्तु सब व्यर्थ हुई। इसका फल यही हुआ कि राजा साहब बीमार रहने लगे; उन्हें जिन्दगी दूभर मालूम पड़ने लगी और निराश होकर उन्होंने सा० पोलिटिकल एजेण्ट को एक वसीयत भी तैयार करके दी कि छोटा कुँ० प्रताप सिंह परगना और क़िला जींद की गद्दी का मालिक हो और बड़े लड़के फतेहसिंह को संगरूर और बसियान मिले तथा जो जागीरें सरकार से उसे समय-समय पर मिली हैं उन पर भी फतेहसिंह का अधिकार रहे। छोटे लड़के को गद्दी का अधिकार देने का सबब यह था कि वह उससे निहायत प्रेम करते थे।

गवर्नर जनरल ने इस वसीयत को नामंजूर कर दिया और बताया कि यह कोई क़ायदा नहीं है कि बड़े बेटे को छोड़ कर छोटे को गद्दी का अधिकारी माना जावे और न यह राजासाहब भागसिंह के खानदान के रस्म-रिवाज के मुताबिक़ ही है। गवर्नर साहब की ओर से यह भी राय दी गई थी कि यह वसीयतनामा तबदील कर दिया जावे। पर राजा भागसिंह किसी क़दर भी इसके लिए राज़ी न हुये। वे फतेहसिंह पर और भी चिढ़ गये और प्रतापसिंह की तरफ़ अधिक झुक गए। इस वक्त उनका होश-हवाश ठिकाने न था इसलिए रियासत के प्रबन्ध में त्रुटियाँ आ जानी सम्भव ही थीं। पर सवाल यह था कि अब रियासत का इन्तज़ाम करे कौन? फतेहसिंह पर तो राजासाहब बेहद नाराज थे ही वह अलग ही रहता था और प्रतापसिंह की जिसे वह रियासत का मालिक बनाना चाहते थे सरकार ने छोटा पुत्र होने से इन्कार कर दिया था और इनके तीसरे पुत्र महताबसिंह नाबालिग़ थे।

इस वक्त महताबसिंह की माता ही एक ऐसी व्यक्ति थी जिसके इन्तजाम से राजासाहब भी सहमत हो सकते थे और सरकार भी। इसलिए रानी शुभराय सन् १८१४ ई० में सरकार की मंजूरी से रियासत की मालिक हुई। परन्तु कुँ० प्रतापसिंह इस प्रबन्ध से प्रसन्न न हुए। उन्हें विश्वास हो गया कि अब तू रियासत का मालिक न रहेगा। इसलिए वह षड्यंत्र रचने लगा। यहाँ तक कि सन् १८१४ जून में रानी ने लिखा था कि "इसमें अब कोई सन्देह नहीं कि कुँ० प्रतापसिंह बग़ावत और लड़ाई के लिए तैयार है इसीलिए मेरी (रानी की) जान खतरे में है।" इसका फल यह हुआ कि प्रतापसिंह को सूचना दी गई कि "बग़ावत का फल यह होगा कि जो प्रबन्ध उसके लिए होने वाला है वह उससे भी वंचित रह

जावेगा और वह इसमें सफल भी नहीं हो सकता जब कि गवर्नमेण्ट ने स्वयं ऐसा इरादा कर लिया है।"

प्रतापसिंह पर इसका कुछ भी प्रभाव न पड़ा और उसने २७ वीं अगस्त को हमला करके रानी और उनके खास मुन्शी जैशिवराम तथा और भी कितने ही व्यक्तियों को मार कर जींद पर कब्ज़ा कर लिया।

सरकार अँग्रेज़ी को जब यह समाचार मिला तो उसने शीघ्र ही इसके प्रबन्ध करने के लिए फ़ौज का इन्तज़ाम किया। इस सम्बन्ध में सर चार्लस मेटकाफ़ साहब रेज़ीडेण्ट ने एक लम्बी घोषणा की जिसमें फतेहसिंह को रियासत का मालिक करार दिए जाने और प्रतापसिंह तथा उसके साथियों को गिरफ़्तार कर देहली हाज़िर करने को लिखा गया था।

कुँ० प्रतापसिंह को जब यह समाचार मिला कि अँग्रेज़ी फ़ौज उसकी तरफ़ बढ़ी आ रही है तो वह जींद को छोड़कर क़िला बालानवाली जो भटिंडे की ओर जंगल में था भाग गया। परन्तु अँग्रेज़ी फ़ौज के कुछ दस्ते उधर भी जा निकले। प्रतापसिंह ने देखा कि यहाँ रहने में ख़ैर नहीं है तो एक दिन के विश्राम के बाद ही वहाँ से कूंच कर दिया और वहाँ पर जो मालमता था वह भी साथ ले गया और बड़ी दौड़-धूप के पश्चात् सिर्फ ४० साथियों के साथ फूलासिंह अकाली के जमात में जा मिला। फूलासिंह वह व्यक्ति था जिसने रणजीतसिंह से विरोध करके नन्दपुर माखूवाल पर कब्ज़ा कर लिया था और समय-समय पर लूटमार करके गुजर कर रहा था। इसके पास ५०० सवार और दो तोपें थीं। प्रतापसिंह इसके पास २ मास रहा और यहाँ तक कि सतलज पार करके फूलासिंह मदद करने को भी तत्पर हो गया। इधर जब फूलासिंह का सतलज पार उतरना मालूम हुआ तो साहब रेज़ीडेण्ट लुधियाना ने जसवन्तसिंह राजा साहब नाभा और मालेर कोटला के सरदार को हिदायत की कि उस पर हमला करें। पर इधर यह लोग पशोपेश में ही थे। प्रतापसिंह कुछ सवारों के साथ क़िले में पहुँच गया। इधर फ़ौज पटियाला और नाभा, मालेर कोटला आदि की फ़ौज के सामने भला प्रतापसिंह कर ही क्या सकता था और जब कि उसका मददगार फूलासिंह भी उसके पास न था? हार कर २७ वीं जनवरी को क़िले वालों ने अपने आपको आत्म-समर्पण कर दिया। मगर यह आत्म-समर्पण एक चाल थी। उसने कहा कि वह अपने भले के लिए देहली स्वयं जायगा। इधर उसके मददगार फूलासिंह पर सरदार निहालसिंह अटारी वाले ने लड़कर विजय पाई। प्रतापसिंह इस बीच में लाहौर को भाग गया। परन्तु महाराज रणजीतसिंह ने भी उसे शरण न दी बल्कि उसे सरकार अँग्रेज़ी को सौंप दिया। सरकार ने उसे देहली में नज़रबन्द कर दिया। वहीं उसका सन् १८१६ में देहान्त हो गया। इलाक़ा बावना जो उसके लिए मुक़र्रिर हुआ था सरकार के क़ब्ज़े में हुआ। प्रतापसिंह के दो रानी थीं पर सन्तान किसी से न हुई थी। प्रतापसिंह का छोटा

भाई कुँ० महताबसिंह भी उससे कुछ मास पहिले ही १६ वर्ष की अवस्था में मर गया था।

इधर राजा भागसिंह के नाम से ही रियासत का इन्तजाम था पर प्रबन्ध कुँ० फतेहसिंह ही करते थे। अब राजा सा० के ३ पुत्रों में से सिर्फ फतेहसिंह ही रह गया था। तब कोई कारण नहीं था कि फतेहसिंह के लिए राजा सा० होने में कोई दखल होता।

राजा भागसिंह की सन् १८१९ में मृत्यु हो गई। इनके तीन रानियाँ थीं। पहिली रानी से कुँवर फतेहसिंह और दूसरी से प्रतापसिंह और तीसरी रानी से कुँवर महताबसिंह उत्पन्न हुए थे। फतेहसिंह की माँ का पहिले ही देहान्त हो गया था और महताबसिंह की माँ का कुँवर प्रतापसिंह द्वारा क़त्ल हो ही गया था। इस समय तक महताबसिंह और प्रतापसिंह भी संसार को छोड़ प्रस्थान कर चुके थे। इसलिए राजा भागसिंह के पश्चात् फतेहसिंह गद्दी के अधिकारी हुए।

राजा फतेहसिंह

राजा फतेहसिंह ने बड़ी बुद्धिमानी से रियासत का कार्य सम्हाला। उनके काल में विशेष उल्लेखनीय घटना नहीं हुई। राजा फतेहसिंह की तारीख ३ फर्वरी सन् १८२२ को संगरूर में ३० वर्ष की अवस्था में मृत्यु हो गई। राजा साहब के दो रानियाँ थीं। पहिली रानी से कोई सन्तान न हुई। दूसरी रानी साहिबा से कुँवर संगतसिंह पैदा हुए थे जिनकी उम्र इस समय ११ वर्ष की थी। अँगरेजी सरकार ने कोई विशेष प्रबन्ध नहीं किया बल्कि हिदायत दी कि मामूली तौर से रियासत का प्रबन्ध होता रहे।

राजा संगतसिंह

सन् १८२२ की तीसवीं जौलाई को जींद में फूल खान्दान के सरदारों और कप्तान रास साहब डिप्टी सुपरिण्टेण्डेंट की उपस्थिति में राजा संगतसिंह गद्दी नशीं हुए। सन् १८२४ में इनका विवाह शाहबाद के रईस सरदार रणजीतसिंह की पुत्री शोभाकुँवरि के साथ बड़ी धूम-धाम से हुआ। इस समय राजा साहब तो नाबालिग़ थे ही साथ ही अँगरेजी सरकार ने भी उदासीनता धारण कर ली। इसका फल यह हुआ कि रियासत में निहायत बद इन्तजामी फैल गई। प्रजा में असन्तोष छा गया।

सन् १८२६ ई० में राजा संगतसिंह महाराज रणजीतसिंह की मुलाक़ात के लिए गए। कई सरदारों के साथ दरबार लाहौर ने अमृतसर में भेंट की और आदर-सम्मान के साथ उन्हें लाहौर लिवा ले गए। वहाँ पर होली के त्यौहार पर अपने मुलाज़िमों से राजा साहब को नज़रें दिलवाईं। महाराज रणजीतसिंह ने राजा साहब से अपने साथ ज्वालामुखी तीर्थ-स्थान तक चलने के लिए भी कहा। राजा साहब ने दीनानगर तक साथ जाना स्वीकार किया और वहाँ से महाराज रणजीतसिंह के लौटने पर वापिस आए। रणजीतसिंह ने इन्हें एक जागीर भी वापिस आने पर दी।

सन् १८२७ में राजा साहब फिर लाहौर रणजीतसिंह से मुलाक़ात के लिए गए। राजा साहब और उनमें विशेष प्रेम हो गया था। इस समय सरकार अँगरेज़ी को भी राजा साहब के बारे में कुछ सन्देह हुआ। क्योंकि मौज़ा अनियाना जो सरदार रामसिंह के कब्ज़े में था१, राजा साहब ने हमला करके छीन लिया था। उसने एजेण्ट गवर्नर जनरल अँगरेज़ी से इसकी फ़रियाद की। राजा साहब से इसका जवाब तलब किया गया। उसने दो और गाँवों के साथ महाराजा रणजीतसिंह के मज़मून से उनको मिला हुआ बताया। सरकार ने इस पर ज़ोर दिया कि, जब कि महाराज रणजीतसिंह की मिलकियत में वे गाँव ही नहीं हैं तब राजा साहब का उस पर अधिकार जमा लेना ठीक नहीं है। आख़िरकार राजा साहब ने अनियाना रामसिंह को लौटा दिया। ऐसी हालत में वे दो गाँव उनके पास ही रहे। राजा साहब को सन् २६-२७ में रणजीतसिंह से अपने दौरे में हासिल हुई जागीरों की आमदनी करीब साढ़े पचीस हजार थी जो महाराजा साहब रणजीतसिंह ने भी समय-समय पर जागीरदारों से ही छीनी थी। इस मौक़े पर गवर्नमेंट ने मिली हुई जागीर छुड़ाना तो आवश्यक न समझा परन्तु यह एलान जरूर किया कि किसी रियासत, सल्तनत व रईसों से महज़ रस्म के तौर के अलावा बिना सरकार की इज़ाजत के सम्बन्ध स्थापित न किया जावे।

राज़ा साहब रियासत के ख़ास मुकाम (राजधानी) को छोड़ करीब ६०-७० मील की दूरी पर एक गाँव में रहते थे। यही कारण था कि रियासत का इन्तज़ाम भली प्रकार न हो सकता था। सरहदी इलाकों से प्रायः रोज़ लूटमार का समाचार आता था। यहाँ रहते उन्होंने कई इन्तज़ाम भी किए। परन्तु लाभदायक न हुए। इस बीच सरकार के लिए एक गुञ्जायश और मिली। सन् १८३३ में कप्तान लेफ्टीनेंट रालबट साहब की आठवीं पैदल हिन्दुस्तानी रमजट पर इलाके जींद में लुटेरों ने हमला किया। इसमें कई सिपाही घायल हुए और माली नुक़सान भी काफ़ी उठाना पड़ा। राजा साहब की ओर से माली नुक़सान तो पूरा कर दिया गया पर लुटेरों को वाजिब सज़ा देने में कामयाबी हासिल न हुई।

इधर राजा साहब पर एक इल्जाम यह भी लग गया था कि वे रणजीतसिंह से नाजायज पत्र-व्यवहार करते हैं और उधर दशहरे के उत्सव पर रणजीतसिंह ने राजा को उत्सव में शामिल होने के लिए बुला भेजा। संगतसिंह ने उत्सव पर पहुँच शामिल होने की तैयारी भी कर दी। अतः अब सरकार को कोई सन्देह न रह गया कि राजा संगतसिंह का बार-बार लाहौर जाना षड्यंत्र से खाली नहीं है।

१—संभवतः इसमें महाराजा रणजीतसिंह का बहुत कुछ हाथ था। क्योंकि रणजीतसिंह के लिए पहिले चेष्टा कर चुका था—लेखक।

दैव संयोग से दूसरी नवम्बर को तो राजा साहब बड़ी अच्छी तरह शराब पीकर मजे से सोये, पर दूसरे दिन ही उन्होंने इलालत की शिकायत की और जब शनैः-शनैः हालत गिरती गई तो साथियों ने उन्हें वापिस संगरूर चलने की राय दी। इसलिए वे पालकी में सवार कराके संगरूर लाये जा रहे थे और बसियान के दरवाजे से निकलने भी न पाये थे कि प्राण पखेरू पिंजरा छोड़ उड़ गया।

राजा संगतसिंह की मृत्यु के समय उम्र केवल २३ वर्ष की थी। इन्होंने तीन विवाह किए थे, पर सन्तान किसी से न हुई थी। जैसा कि सरदारों में और रईसों में होता है संगतसिंह में भी दुर्व्यसनों की कमी न थी। मद्यपान की बुरी आदत ने उन्हें बुरी तरह जकड़ रक्खा था। साथ ही उनके चाल-चलन भी अच्छे न थे। ऐयाशी के कारण रियासत के प्रबन्ध में भी वह विशेष ध्यान न दे सके और उनके गद्दीनशीन होने पर जो खजाना द्रव्य ही से भरा हुआ था, सब फूँक बैठे। चूँकि इनकी नाबालिगी में ही इनके पिता का देहान्त हो गया था, अतः राज के कर्मचारियों ने भी अपने स्वार्थ के सामने रियासत की भलाई को तर्क कर दिया था। इन्हीं कारणों से न तो इस समय खजाने में द्रव्य ही था और न रियासत का उचित प्रबन्ध। सर लेपिल ग्रिफिन ने "पंजाब-राजाज" में राजनैतिक कारणों को लेकर उनके कई बार लाहौर की की गई यात्राओं को ही विशेष तौर से फिजूल खर्च (धन का अप-व्यय) बताया है। पर हमारे मत से इन यात्राओं का कोई ऐसा विशेष खर्च नहीं था, जिसके कारण ही रियासत की आर्थिक-हालत गिरी हो। राजा साहब ने यात्रायें अपनी रियासत बढ़ाने की मन्शा से की थीं, जैसा कि उन्हें रणजीतसिंह से जागीर मिलने पर हुआ भी था। भला यह कौन रईस नहीं चाहता कि मेरी जागीर बढ़ जाय ? इस तरह संगतसिंह की इन यात्राओं के खर्च को फिजूल खर्च कहना अनौचित्य है। फिर उन्हें तो इसका फल स्वरूप मिली हुई जागीर में साढ़े पचीस हजार रुपया सालाना आमदनी भी हो रही थी। इस हालत में यात्रा-व्यय किसी रूप में खजाने में भी आ रहा था। तब सरीहन ही यह कहना ठीक नहीं कि उनका लाहौर जाने का सफर-खर्च फिजूल खर्च था और इसमें उन्होंने बहुत ज्यादा व्यय किया था।

हम ऊपर कह आये हैं कि संगतसिंह के कोई संतान न थी जो गद्दी की मालिक हो। हाँ, उनके खान्दानी तीन शख्स जरूर थे जो उनके दादा के भाई के पोते थे जिनका नाम स्वरूपसिंह, सुखासिंह और भगवानसिंह था। सरदारान बुडरूखां जो काफी समय से इस खान्दान की शाख जींद से अलग हो गए थे, परन्तु कुछ समय तक उन्होंने किसी से कुछ भी कार्रवाही न की और न गवर्नमेण्ट ने ही कुछ ध्यान दिया। इस अरसे में माई साहबकुँवरि (संगतसिंह की माता) रियासत के काम को देखती रहीं।

जींद ऐसी लम्बी-चौड़ी रियासत पर अधिक समय माई साहबकुँविर का कौन अधिकार देख सकता था। चारों ओर से दावेदार खड़े हो गये, अजीब हालत थी। इधर पहिले तो सरकार ही खालसे कर लेने के लिए तैयार बैठी थी और उधर फतेहसिंह की दूसरी विधवा आधे हक़ के लिए दावा पेश करती थीं तो कहीं संगतसिंह की तीनों रानियां इनका (फतेहसिंह की दोनों विधवा रानियों का) कुछ हक़ न बताती थीं और सिख-धर्म के अनुसार अपने पति की जायदाद के मालिक होने का इज़हार करती थीं। राजासाहब नाभा ने भी अपने को रियासत का हक़दार होने का दावा पेश किया। पर यह कह कर कि जींद के क़ायम हो जाने के पहिले ही इस खानदान से अलग हो गये थे राजासाहब के लिए इन्कार कर दिया गया। संगतसिंह की रानियों को नाबालिग़ करार दिया गया और कहा गया कि इतनी बड़ी रियासत को नव-उम्र विधवाओं को सौंप देना ख़तरे का काम होगा।

सरदारान बाजेदपुर और बुडरूखां अर्थात् सरदार सरूपसिंह व सुखासिंह क्योंकि यह व्यक्ति रियासत के नज़दीकी खानदान थे इसलिए इनके पूर्व इतिहास पर कुछ प्रकाश डाल लेना असंगत न होगा।

सरदार भूपसिंह राजा गजपतसिंह जींद का तीसरा बेटा था। वह एक बहादुर व्यक्ति था परन्तु राजनैतिक चालों का उसमें अभाव था। इसी कारण उसने रियासत के प्रबन्ध के बदले उसे बढ़ाया। राजा भागसिंह को अपने पिता के पश्चात् रियासत जींद मिली और भूपसिंह को परगना तालेदपुर और बुडरूखां मिला। भूपसिंह के दो पुत्र थे—करमसिंह और बसावासिंह।

करमसिंह ने अपने पिता से ही लड़कर बडरूखां को अपने क़ब्ज़े में कर लिया था परन्तु राजा भूपसिंह ने दूसरे फूल के सरदारों की सहायता से फिर ले लिया और उसे गुजर कर लेने भर के लिए मौज़ा महमूदपुर दे दिया। परन्तु करमसिंह को भला कहाँ सबर मिल सकता था और उसने बाजेदपुर पर ज़बरदस्ती से क़ब्ज़ा कर लिया। पर जब उसका यह अधिकार न टिक सका तो वह रणजीतसिंह के पास लाहौर जाकर रहने लगा और जब भूपसिंह की मृत्यु हो गई तो फुलकियां सरदारों ने मिलकर जागीर आपस में बाँट दी। करमसिंह को बग़ावत करने की सज़ा में कम हैसियत का हिस्सा दिया और बसावासिंह को बड़ा उम्दा परगना बडरूखां दिया गया।

करमसिंह अपने पिता की मृत्यु के पश्चात् जो इलाक़ा उसके हिस्से में आया था अर्थात् बाजेदपुर में आया जहाँ पर वह सन् १८१८ ई० में मर गया उसके एक बेटा सरूपसिंह था जो रियासत जींद की गद्दी का दावेदार हुआ।

क्योंकि सरूपसिंह करमसिंह का बेटा था जो कि भूपसिंह का बड़ा बेटा था, इसलिए इसका दावा करना उचित था। पर सरदार सुखासिंह ने यह बताते हुए

अपना हक़ बताया कि करमसिंह को उसके पिता ने ही जायदाद से अलग कर दिया था इसलिए वह रियासत का अधिकारी नहीं हो सकता। पर यह दलील ध्यान देने योग्य थी और बजाय इसके उल्टे सरूपसिंह का दावा कहीं मजबूत था।

इस समय रियासत जींद के तीन भाग हो सकते थे अर्थात् परगना जींद और सफेदों जो पुरानी जागीर थी दूसरे सन् १८०६ में हुए अहदनामे के मुताबिक महाराजा रणजीतसिंह लाहौर से मिले परगना लुधियाना, बस्तीयान वग़ैरा शामिल थे और तीसरे वह जागीरें जो समय-समय पर महाराजा रणजीतसिंह द्वारा मिली थीं। जब सरूपसिंह के दावे को गवर्नमेण्ट ने उचित समझा तो उसने सब भागों के हक़दार होने का दावा किया।

महाराजा रणजीतसिंह से हुए सन् १८०६ के अहदनामे के अनुसार जो इलाक़े मिले थे तथा और जो बाद में उनके द्वारा दिए गए थे महाराजा साहब ने वापिस अपनी जायदाद में मिलाने के लिए लिखा-पढ़ी शुरू की। यहाँ तक कि उन्होंने रियासत का हक़दार भी अपने को बताया।

जींद की गद्दी के लिए इस तरह बहुत समय तक झगड़ा चलता रहा। आखिरकार यह फैसला तय पाया था कि सन १८०६ के हुए अहदनामे के बाद की दी हुई जागीर महाराजा रणजीतसिंह को वापिस मिलनी चाहिए और इलाक़ा लुधियाना सरकार अँग्रेजी के पास वापिस आ जाना चाहिए और नए राजा को सिर्फ़ राजा गजपतसिंह के क़ब्जे वाले स्थान ही मिलें। यह फ़ैसला राजा सरूपसिंह और महाराजा लाहौर एवं सरकार तीनों को ही लाभकारी था। क्योंकि राजा सरूपसिंह को तो इतने दावेदारों को हटाकर रियासत का सम्पूर्ण हिस्सा नहीं तो कुछ भाग तो मिल रहा है इसलिए खुशी थी और रणजीतसिंह को भी एक हिस्सा जो कुछ समय से उससे अलग हो गया था, मिल रहा था तो उधर सरकार को भी लुधियाना पर फिर क़ब्जा होने का लाभ स्पष्ट था। इसकी किसको चिन्ता और कष्ट होता कि एक स्टेट की सीमा घट कर संकुचित हो रही है, और जिसकी सीमा सुखचैन से लेकर अब तक के राजाओं द्वारा बढ़ी थी पुराने नक़शे पर आ रही है।

गवर्नर जनरल के हुक्म से यह फ़ैसला ता० १० जनवरी सन् १८३७ को लिखा गया जिसमें राजा सरूपसिंह को रियासत का अधिकारी माना गया और बताया गया कि सरूपसिंह उतने ही परगने का अधिकारी हो सकता है जितने पर उसके परदादा गजपतसिंह का क़ब्जा था। क्योंकि इसी बुनियाद पर वह रियासत का दावेदार होना क़ायम हो सका है। इसके साथ ही उन परगनों की लिस्ट भी लिखी गई जो परगने महाराज रणजीतसिंह को वापिस मिले और जिन पर सरूपसिंह का हक़ माना गया था जो सरकार के अधिकार में हों।

नवम्बर सन् १८३७ में साहब कोर्ट आफ डाइरेक्टर ने जिनके पास जींद प्रबन्ध के अंतिम निर्णय के साथ उपरोक्त फ़ैसला भेजा गया था यह हुक्म दिया— वह कुल इलाक़े ज़ात जो न रणजीतसिंह की तरफ से और न गवर्नमेण्ट अँग्रेजी की तरफ़ से बतौर जागीर मिली थी वल्कि गजपतसिंह के जमाने से हासिल हुई हैं न्याय से नये राजा की मिलकियत हो सकती हैं। पर इसका उसके फ़ैसले पर कोई असर न हुआ।

इस फ़ैसले से फतेहसिंह की माताओं और रानियों में सख्त नाराजगी फैली। उन्होंने बहुत से अभियोगों के साथ कि उनके साथ अत्याचार किया जा रहा है दरख्वास्त की परन्तु कुछ सुनाई न हुई।

अप्रेल सन् १८३७ में सरूपसिंह तमाम रईस फूल खानदान और अँगरेजी एजेण्ट की उपस्थिति में गद्दी पर बैठाया गया। सरूपसिंह इतने दावेदारों के झगड़े में से एक रियासत के मालिक हुए थे इसलिए परिणाम जाहिर था। इलाक़ा वालानवाली जहाँ के निवासी बग़ावत करने पर प्रतापसिंह के भी साथी हुए थे और बाद में भी एक बार बाग़ी बन गए थे फिर बाग़ी हो गए। इस फ़िसाद में एक ख़ास व्यक्ति गुलाबसिंह था जिसके कारण बग़ावत ने जोर पकड़ा था। यह वालानवाली का रहने वाला था और जींद की फ़ौज में रिसालदार था। जींद के बहुत से सिपाही बाग़ियों से जा मिले थे। इस बग़ावत में कुँ० प्रतापसिंह की विधवा रानी भी मदद को गई थी। परन्तु यह बग़ावत शीघ्र ही शान्त कर दी गई क्योंकि विद्रोहियों के हाथ में कोई खास स्थान न आया था। क़िला वालानवाली भी इतना मजबूत न था जो उनकी मदद कर सके। १७ मार्च रात को बाग़ियों ने उस पर और थाना पर एक बार ही कब्ज़ा कर लिया मगर एक फ़ौज ने जो उनके मुक़ाबले के वास्ते भेजी गई थी उन्हें प्रथम ही हरा दिया जिसमें दिलसिंह, लखासिंह और प्रतापसिंह की विधवा तो क़ैद हो गई और गुलाबसिंह मारा गया और देवसिंह ने जो कब्जे में होने वाला ही था कि आत्महत्या करली और शेष बहुत से लोगों को क़ैद कर के तहक़ीकात के वास्ते अम्बाला भेज दिया गया और एक दस्ता फ़ौज का वालानवाली में रखा गया जो शान्ति क़ायम होने तक वहीं रहा।

मार्च सन् १८४३ में कैथल के लावारिश हो जाने पर सरकार के प्रबन्ध करने पर राजा साहब जींद को एक परगना माहलान धाबदान बमुआवजा एक हिस्सा इलाक़ा सफेदों के दिया गया। माहलान धाबदान में २३ गाँव जमा २३०४२) रुपए सालाना और हिस्सा सफेदों में ३८ गाँव जमा ३३३८०) रुपया सालाना के थे। मगर खास मौजा सफेदों जींद में ही शामिल रखा गया था। क्योंकि वहाँ पर राजा साहब का शिकारगाह था और अब तक के राजाओं की समाधि थी।

नवम्बर सन् १८४५ में सरूपसिंह से डेढ़ सौ १५० ऊँट फ़ौज छावनी अम्बाला के लिए तलब किए गए। राजा साहब समय पर न दे सके। इसलिए

मेजर ब्राडफुट साहब रेजीडेण्ट ने उस पर दस हजार रुपया जुर्माना यह अपराध बता कर किया कि समय पर ऊँटों के न मिलने से फ़ौज को बड़ी तकलीफ़ बरदाश्त करनी पड़ी है जिससे भारी नुकसान पहुँचा है। इसके बाद राजा साहब के आदमियों ने रसद और सामान बड़ी मुस्तैदी से समय पर दिया। उसकी फ़ौज ने अँगरेजी फ़ौज के साथ काम दिया। कुछ समय बाद एक दस्ता फ़ौज काश्मीर भी गया था जहाँ राजा गुलाबसिंह से यहाँ के हाकिम इमामुद्दीन ने बग़ावत कर दी थी।

इस सहायता से प्रसन्न होकर गवर्नर जनरल ने दस हजार का जुर्माना माफ़ कर दिया और एक जागीर जो करीब ३०००) रुपया की थी देने और उस फ़ौज को जिसने काश्मीर में काम दिया था दुचन्द वेतन देने का इज़हार किया।

लड़ाई के बाद व्यापार की वस्तुओं का कर अर्थात् सायर, जकात महसूल रियासत जींद से हटाया गया और गवर्नमेंट अँगरेजी ने वादा किया कि राजा और उसके वारिशों से किसी तरह का खिराज, मुआवजा व खिदमत फ़ौज वग़ैरह कभी तलब न की जायगी और राजा साहब ने सरकार को लड़ाई के वक्त में अपनी तमाम फ़ौज से मदद देने, जंगी रास्तों की मरम्मत रखने आदि और भी जिस प्रकार की सहायता आवश्यक जान पड़े देने की जिम्मेदारी ली। सरकार ने महसूल हटा देने के बदले में १०००) रुपया सालाना की जागीर और दी तथा दूसरे फूल खानदान सरदारों की भाँति लड़ाई के पश्चात् एक सनद दी जिसमें उसकी मौरूसी रियासत बहाल रखी गई और यह वायदा किया गया कि जब तक वह सरकार का खैरख्वाह रहेगा उसकी रक्षा की जावेगा। जब सिखों की दूसरी लड़ाई हुई राजा स्वरूपसिंह ने सरकार को अपनी सेवायें स्वीकार करने को लिखा। सरकार ने इसे स्वीकार न किया और महाराज को इसके लिए धन्यवाद दिया गया।

पंजाब की ज़ब्ती के पश्चात् राजा जींद और उन .खुद मुख्तार रईसों को फाँसी देने तक के अधिकार दिए गये थे। स्वरूपसिंह को यह अधिकार सन् १८५७ के ग़दर के बाद दिया गया था। उन्होंने अपने अधिकारों का दुरुपयोग नहीं किया और स्टेट का प्रबन्ध नये तरीक़े से अँगरेज़ी नमूने पर किया। नये ढङ्ग के प्रबन्ध से कुछ लोग रुष्ट भी हुए और लजवाना गाँव के किसान जो रोहतक की सरहद पर है विद्रोही बन गय और जब एक तहसीलदार गाँव की पैमायश के लिए उधर गया तो क़त्ल कर डाला गया।

राजा ने जब यह समाचार सुना तो मौजूदा कुल फ़ौज लेकर बाग़ियों की तरफ़ रवाना हुआ और इससे पहिले कि मारकाट हो, सरकार की सलाह से एक इश्तिहार जारी किया कि उन लोगों को कुछ दण्ड न दिया जायगा जो बग़ावत में शामिल हुए हैं बशर्ते कि वह अपने-अपने घरों को लौट जायँ। फ़ौज और

इस इश्तिहार से वागियों पर काफ़ी असर पड़ा और वे अपने स्थानों पर वापिस लौट गये। इस तरह विद्रोहियों को आरम्भ में ही दवा दिया गया १।

जब मई सन् १८५७ का विद्रोह आरम्भ हुआ तो महाराज स्वरूपसिंह पटियाला राजासाहब से सहायता करने में कम न रहे और जब उनको संगरूर में देहली के विद्रोह की खबर मिली उन्होंने अपनी सब फ़ौज को इकट्ठा किया और तारीख १८ को कर्नाल जा पहुँचे। वहाँ पर पहुँच उन्होंने शहर और छावनी की रक्षा का भार अपने ऊपर ले लिया। यद्यपि उसके पास के सैनिकों की संख्या ८०० से अधिक न थी परन्तु नये ढङ्ग से क़वायद वग़ैरह की शिक्षा में निपुण थी। कर्नाल में उसके पहुँचने से शान्ति होगई और शहर लूट होने से बच गया। उन्होंने एक दस्ता फ़ौज बागपत के पुल की रक्षा के लिए भी भेजा। यह पुल देहली से २० मील की दूरी पर था और किश्तियों का बना हुआ था। इसकी रक्षा से ही मेरठ छावनी की फ़ौज जमना को पार सकी थी और बनार्ड-साहब की फ़ौज से मिल जाने पर शहर पानीपत में जहाँ विद्रोह की आग धधक चुकी थी इन्तज़ाम कर सके और सबसे बड़ी जींद की फ़ौज के लिए इज्ज़त की बात यह थी कि उसने अँगरेज़ी फ़ौज के आगे-आगे रवाना होकर सम्हालका और रार को छीन लिया, सड़क पर क़ब्ज़ा कर लिया और फ़ौज के वास्ते रसद जमा की।

सातवीं जून को सरूपसिंह अलीपुर में अँग्रेज़ी फ़ौज में आ मिला और दूसरे ही दिन जींद की फ़ौज ने वाह-वाही पाई। कमाण्डर-इन-चीफ़ ने उनकी बहादुरी से प्रसन्न हो कर उन तोपों में से जो लड़ाई में उन्हें हाथ आई थीं, एक तोप राजा साहब को दी। १९ वीं जून को फिर जींद की फ़ौज ने नसीराबाद की विद्रोही सेना पर जिसने अँग्रेज़ी लश्कर पर हमला किया था, दबाने में मदद की और २१ वीं तारीख को बागपत भेजने पर जहाँ का पुल तोड़ दिया गया था, तीन दिन में ही फिर तैयार कर दिया। परन्तु उसे फिर तोड़ देना पड़ा, क्योंकि विद्रोहियों ने राजा पर हमला कर दिया था, इसलिए विवश हो हटाना पड़ा। इधर जब राजा को यह समाचार मिला कि उसके इलाक़े में हाँसी, हिसार और रोहतक में विद्रोहियों की मदद की है तो वह रियासत में लौट आये और यहाँ से जो झगड़ा खड़ा होने वाला था, महाराज ने बड़ी होशियारी से दूर किया। यहाँ पहुँच कर भी राजा ने जो फ़ौज देहली पर चढ़ाई करने के लिए अँग्रेज़ों की ओर से तैयार हो रही थी, फ़ौज की भर्त्ती और घोड़ों की ख़रीद कर मदद की और नवीं सितम्बर को वह फिर अँग्रेज़ी फ़ौज से जा मिला और देहली की चढ़ाई में वह स्वयं शामिल हुआ।

१—"पंजाब राजाज़" के उर्दू तर्जुमाकार ख़ल्लीफ़ा सैयद मुहम्मदहुसैन नोट देते हैं कि इस बग़ावत के दबाने में फ़ौज पटियाला भी शामिल थी और ८० सिपाहियों के क़रीब घायल हुए थे और १७ मारे गये थे—"लेखक"।

सरकार की ओर से ज़िला रोहतक का प्रबन्ध राजा सरूपसिंह को सौंपा गया था और देहात के मुखियाओं, जमींदारों को हिदायत कर दी गई थी कि अपना-अपना हासिल उन्हें दे दें और रसीद भी उन्हीं से ले लें। देहली के अधिकार में आ जाने के पश्चात् सरूपसिंह सफेदों लौट आया। उन्होंने २५ आदमी तहसील लरसोली में काम के वास्ते छोड़े और इसी प्रकार आदमी देहली में रहने को दिए और ५०० आदमियों को जनरल वान कोर्टलेण्ट के लिए हांसी को भेजा। ११० आदमी कान्हासिंह की अध्यक्षता में झज्झर को रवाना किए और इसके सिवा २५० आदमी जींद की फ़ौज के रोहतक में रहे और ५० गोहाना में।

इन सेवाओं के बारे में कर्नल टामसन ने लिखा था कि—"अगर राजा की रसद ऐन मौक़े पर न पहुँचती तो बहुत दिक़्क़त पेश होती। यही नहीं कि राजा ने रसद के प्रबन्ध का ही कठिन काम किया हो बल्कि देहली के हमले में उन्होंने खुद शामिल होकर सहायता की।" गवर्नर जनरल ने ५ नवम्बर सन् १८५७ के इश्तहार में लिखा था कि—"राजा साहब जींद की की गई सेवाओं के लिए गवर्नमेण्ट हृदय से कृतज्ञ है।" यह नहीं कि राजा साहब को इस तरह धन्यवाद और कृतज्ञता प्रकाश करके ही सरकार भूल गई हो, बलिक अन्य सरदारों की भाँति जागीर भी दी। अर्थात् इलाक़ा दादरी जो नवाब दादरी से जब्त किया गया था, राजा साहब को दिया गया। ज़िला कुलारान के १३ गाँव जो संगरूर के पास ही थे और जिन की आमदनी १३८१३) रु० थी, राजा साहब को दिए गये और उनकी देहली में की गई सहायता की याददास्त के लिए शहज़ादा मिर्ज़ा बूबकर का जब्त मकान जो ६०००) रुपया के क़रीब की क़ीमत का था राजा साहब को दिया गया। सलामी की तोपों की तादाद ग्यारह कर दी गई और खिलअत की किश्तें भी ग्यारह से १५ तक कर दी गईं। इस मौक़े पर राजा साहब को बहादुरी का खिताब भी मिला। राजा साहब ने मौज़ा बडरूखाँ वग़ैरह जिनकी उन्हें बहुत ख्वाहिश थी १८६८ में १२८७० रुपया आठ आना एक मुश्त दे कर जींद के अधीन कर लिया और इस तरह सरदारान बडरूखाँ जींद के ज़ेल्दार मातहत हो गए।

मई सन् १८६० में राजा साहब को एक सनद भी दी गई थी जिसकी रू से उन्हें कुल अख्तियार और जो इलाक़े उन्हें मिले थे उसके हक़, गद्दी के अख्तियारात और जो इलाक़ा मिलकियत से था वह उसमें दर्ज थे। इसके सिवा एक ख़ास सनद उन्हें और भी दी गई थी जिसकी रू से उनके बाद या उनकी गैर हाज़िरी में उनके वारिस इसके अधिकारी माने जाँय।

पटियाला और नाभा की भाँति छोटे-छोटे जागीरदारों के रियासतों के अधिकार में रहने का झगड़ा जींद में भी चला था। इसी तरह राजा नाभा और जींद का जो पुराना झगड़ा चल रहा था वह भी बढ़ रहा था। इन रियासतों में "किस का रुतबा बड़ा है ?" इस पर ही बड़ा तूल खड़ा हो रहा था। यह बहस हद

दर्जे को पहुँच गई थी और उस दरबार में जो स्थान पंजोर में लार्ड डलहौजी ने किया था मि० एडमिन्स्टन साहब कमिश्नर रियासत ने पटियाला को प्रथम, नाभा को द्वितीय और जींद को तीसरा नम्बर दिया था। यह सही है कि राजा साहब जींद को इससे रंज हुआ। पर उस समय जींद की आमदनी भी उतनी न थी जितनी कि नाभा की। परन्तु जब १८५७ के विद्रोह में राजा साहब जींद की सेवायें राजा साहब नाभा से अधिक मूल्यवान समझी गई तो उन्हें इलाका भी अधिक मिला जिससे रियासत की आमदनी बढ़ गई और भी ऐसे ही कारण दिखला कर सन् १८६० के दरबार में राजा साहब जींद को विशेषता दी। पर साथ ही यह भी कहा गया कि सरकार दोनों रईसों को बराबर ख़याल करती है और एक ही नज़र से दोनों को देखती है। इससे राजा साहब नाभा को बहुत ख़याल हुआ और इसकी दरख्वास्त सैक्रेटरी आफ़ स्टेट के पास भेजी पर इस बीच में राजा साहब की मृत्यु हो गई। उनके बाद भी यह मामला उठाया गया पर फिर कुछ हुआ नहीं।

सरूपसिंह को इधर कई दिनों से पेचिश हो गई थी और इसीसे उनके कई रोग खड़े हो गए और वे २६ जनवरी सन् १८६४ को स्वर्ग सिधारे। मृत्यु के समय वह बाजेदपुर में रहते थे। यहाँ एक बाग़ में रहने के लिए बंगला बना हुआ था। उन्होंने अँग्रेज़ी डाकृरों के इलाज भी करवाए पर फ़ायदेमन्द न हुए। यह भी कहा जाता है कि एक फ़क़ीर ने तांबे का जोश किया हुआ पानी उन्हें पिला दिया जिससे वे शीघ्र ही मर गए। मृत्यु के समय इनकी अवस्था ५१ वर्ष की थी।

सरूपसिंह समयानुसार अच्छे चालचलन का राजा था। उसने यह देख लिया था कि बिना गवर्नमेण्ट की सहायता किए अस्तित्व क़ायम नहीं रह सकता और जब सहायता करने को उद्यत ही हुए तो दिल से की। लेपिल ग्रिफ़िन लिखता है कि—जिस समय वह ज़िरहबख्तर पहन कर सिपाही वेश में फ़ौज के आगे खड़ा होता था तो उसकी सानी का कोई दूसरा रईस न दिखाई देता था[१]। सरकार की ओर से उन्हें "स्टार आफ़ इण्डिया" का तमग़ा मिलना भी निश्चित हुआ था पर वह अम्बाला पहुँच कर इसके हासिल करने के सौभाग्य से वंचित रह गए।

राजा रघुवीरसिंह—स्वरूपसिंह का पुत्र रघुवीरसिंह बड़ा योग्य और प्रतिभाशाली था। उसकी उम्र इस समय क़रीब ३० वर्ष की थी और उससे रिआया भी बेहद प्रसन्न थी। ये ३१ मार्च सन् १८६४ को सर हर्बर्ट एडवार्डिस साहब एजेण्ट लेफ़्टीनेण्ट गवर्नर व महाराजा पटियाला, नाभा, नवाब मालेर कोटला और अन्य कई सरदारों की उपस्थिति में गद्दी पर बैठे।

रघुवीरसिंह को गद्दी पर बैठे अधिक समय न हुआ था कि दादरी में विद्रोह खड़ा हो गया। बाग़ी लोगों ने समझा था कि नया राजा इतना योग्य नहीं

१—"पंजाब राजाज़" के उर्दू तर्जुमाकार ख़लीफ़ा सैयद मुहम्मद हुसैन ने बताया है।

है कि बग़ावत दबा सकेगा। परन्तु इसका समाचार पाते ही रघुवीरसिंह मय फ़ौज और तोपों के साथ ८ वीं मई को पहुँच गया और १४ वीं मई को चरखी पर जहाँ दो-डेढ़ हज़ार के क़रीब बाग़ी इकट्ठे हो रहे थे हमला कर दिया। राजा साहब ने मुस्तैदी से मौजा मरूं, मानिकवास पर जो बाग़ियों के हाथ में थे दो दिन में ही क़ब्ज़ा कर लिया। दोनों ओर से ही लड़ाई में आदमी मारे गए। विद्रोह शान्त होने पर राजा साहब ने दयालुता का वर्ताव किया जिससे पहिले की भाँति शान्ति स्थापित हो गई।

सरकार की ओर से आपको जी० सी० एस० आई० की उपाधि मिली। इनकी दो शादियां हुई थीं। पहिली शादी चौधरी जवाहरसिंह दादरी के यहाँ हुई थी जिससे एक बेटा और बेटी पैदा हुए। राजकुमार बलवीरसिंह की मृत्यु सन् १८८३ ई० में इनके आगे ही हो गई।

राजकुमार की मृत्यु के ४ वर्ष बाद ही अर्थात् सन् १८८७ ई० में इनकी भी मृत्यु हो गई। राजा साहब संगरूर में रहते हुए भी राज्य का प्रबन्ध बड़ी अच्छी तरह से करते थे। कहा जाता है कि यह शिकार खेलने में भी बड़े निपुण थे।

महाराज रघुवीरसिंहजी के पश्चात् उनके पौत्र रनवीरसिंहजी गद्दी पर बैठे। इनका जन्म १८७६ ई० में हुआ था और गद्दी पर बैठने के समय ८ वर्ष की अवस्था थी। इसलिए राज्य का प्रबन्ध एजेण्ट की देखरेख में कौंसिल द्वारा होता रहा। तरुण होने पर जब राज्य के अधिकार प्राप्त हुए तो आपने बड़ी उत्तमता के साथ राज्य कार्य को संभाला है। आपने प्रजा के स्वास्थ्य और शिक्षा के लिए उचित प्रबन्ध किया। सरकार की ओर से आपको सर, जी० सी० आई० ई०, के० सी० एस० आई० की उपाधि मिली है। आपके दो राजकुमार हुए। श्री० राजवीरसिंह, जगतवीरसिंह इनके शुभ नाम हैं। श्री राजवीरसिंह का १६१८ ई० में और जगतवीरसिंह का १६२५ ई० में जन्म हुआ है। आपने प्रजा की हालत देखने के लिए कई दौरे किए हैं। शिकार खेलने के भी बड़े प्रेमी हैं। जींद राज्य के संगरूर, जींद और चरखी दादरी मुख्य शहर हैं और इन्हीं में रियासत के सुप्रबन्ध के लिए चार-चार मास वर्ष भर में निवास करते हैं।

राजा रनवीरसिंह

आपको पन्द्रह तोपों की सलामी है। राज्य का क्षेत्रफल १२५६ वर्ग मील है। जन संख्या ३२४००० और आय लगभग तीस लाख रुपया वार्षिक है।

नाभा स्टेट

स्टेट-नाभा का राजवंश फूल की बड़ी शाख की सन्तान है। इसलिए फूल-कियां खानदान में सबसे बड़े होने का दावा रखते हैं। चौधरी फूल के बड़े बेटे तिलोका के दो पुत्र थे जिनमें बड़े गुरुदत्ता थे और उसी की सन्तान नाभा का राजवंश है। राजवंश-नाभा का वंश-वृक्ष इस प्रकार है:—

- चौधरी फूल
  - तख़्तमल
  - झण्डू
  - चुनू
  - रुघु
  - रामा
  - तिलोका
    - सुखचैन
    - गुरुदत्ता
      - सूरत
        - हमीरसिंह
          - बीबी सदाकुँवरि
          - बीबी सुखाकुँवरि
          - राजा जसवन्तसिंह
            - राजा देवेन्द्रसिंह
              - राजा भगवानसिंह
                - हीरासिंह (गोद आये)
                  - महाराज रिपुदमनसिंह (जो अधिकार च्युत हैं)
                    - प्रतापसिंह (जो अभी नाबालिग़ हैं)
              - राजा भरपूरसिंह
            - रनजीतसिंह
        - कपूरसिंह
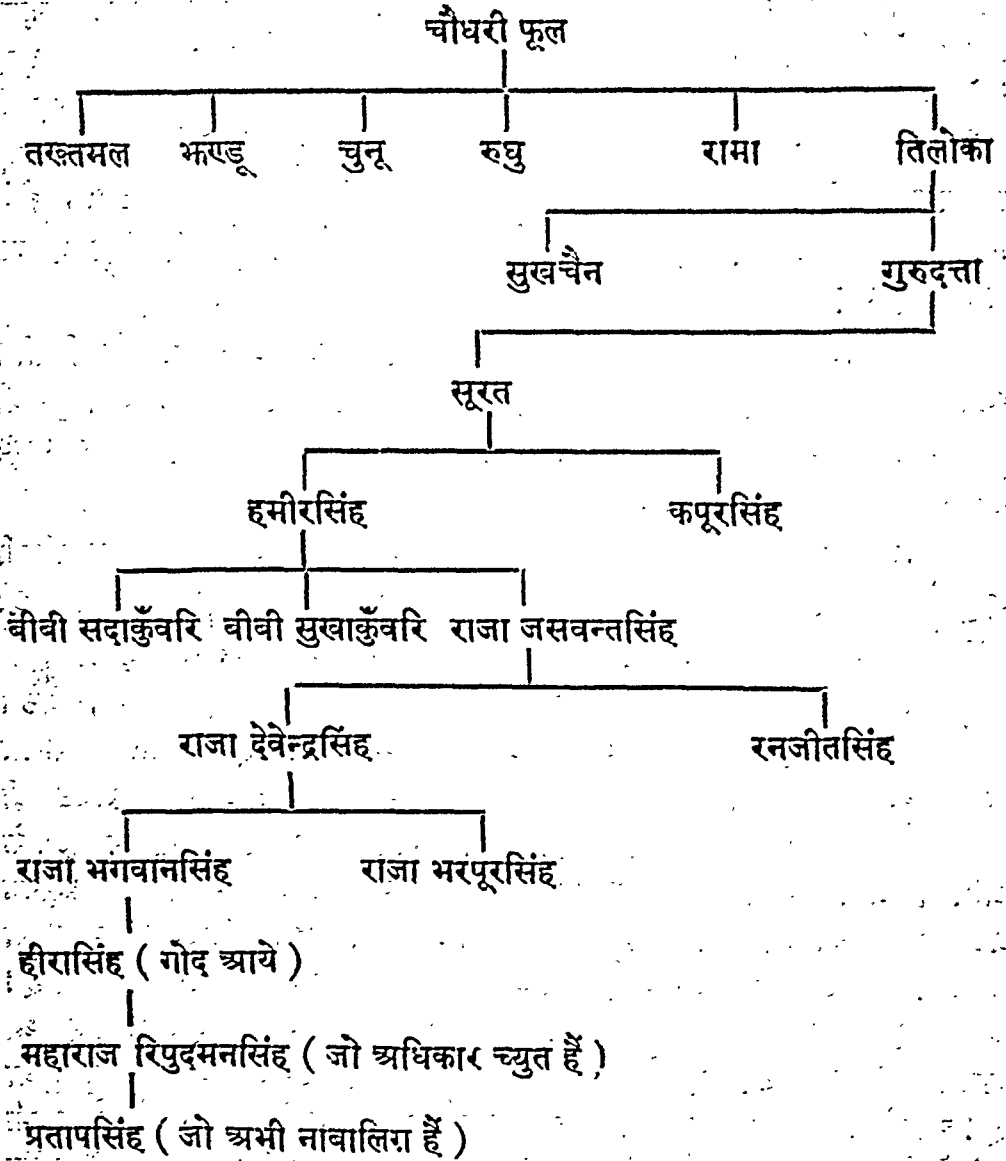
इनका विवाह शादूलसिंह मामूड़ानवाला की लड़की के साथ हुआ था। इस औरत से इसके एक बेटा सूरत हुआ जिसने गाँव धनौला

चाधरी गुरुदत्ता

बसाया और फिर संगरूर आबाद किया और काफ़ी समय तक नाभा के कब्ज़े में ही रहा। पर राजा साहब जींद ने चालाकी से ले लिया। गुरुदत्ता ने बहुत से स्थान अपने पड़ौसियों से छीन लिए थे। परन्तु उसकी अपने छोटे भाई सुखचैन से पटती न थी। यहाँ तक कि कई बार ख़ून ख़च्चर का भी वाक़ा हुआ। इनके इकलौते पुत्र सूरतसिंह सन् १७४२ में दो पुत्र छोड़ कर मर गये और उसके दो वर्ष बाद ही वह भी सन् १७४४ में इस संसार से सदा के लिए उठ गये।

गुरुदत्तसिंह की मृत्यु के पश्चात् उसका पोता हमीरसिंह उसकी जागीर का अधिकारी हुआ। उसके दूसरे भाई का नाम कपूरसिंह था। उसकी शादी सुजानकुँवर मानसिंहिया की लड़की राजकुँवरि के साथ हुई थी। कपूरसिंह के मर जाने पर इसकी विधवा से हमीरसिंह ने चादर डाल कर सम्बन्ध स्थापित कर लिया था और उसके इलाक़े कपूरगढ़ संगरूर में पक्खू और बुडयाला पर अधिकार कर लिया था। हमीरसिंह के राजकुँवरि के पेट से ही एक पुत्र सन् १७७५ में पैदा हुआ, जिसका नाम जसवन्तसिंह था। हमीरसिंह ने तीन शादी और भी की थीं। एक तो नत्थासिंह वनगरिया की लड़की के साथ दूसरी लक्खनसिंह रोड़ीवाला की लड़की के साथ जिससे शोभाकुँवार और सदाकुँवरि दो लड़कियाँ पैदा हुईं। तीसरी शादी धन्नासिंह कुरहानावाला की लड़की के साथ हुई थी, पर इस से भी कोई सन्तान न थी।

चौधरी हमीरसिंह

चौधरी हमीरसिंह बड़ा बलवान और बुद्धिमान व्यक्ति था। इस ने अपने इलाक़े को बहुत बढ़ाया। यों कहना भी ठीक होगा कि चौधरी हमीरसिंह ही राज्य की जड़ जमानेवाला और बढ़ानेवाला था। सन् १७५५ में इसने शहर नाभा की नींव डाली और चार बरस बाद ही भादसों पर अधिकार कर लिया और सरहिन्द की हुई लड़ाई में जो मुसलमान सूबेदार जीनखां से हुई थी, अन्य सिख-सरदारों के साथ हमीरसिंह भी शामिल था। विजय होने के पश्चात् परगना अमलोहा उनके हिस्से में आया और रहीमदादखां से सन् १७७६ में रोड़ी को विजय कर लिया। हमीरसिंह के काल में ही टकसाल स्थापित हुई जो खुद मुख्तार रईस होने का प्रमाण है।

राजा हमीरसिंह से ही जींद के राजा गजपतसिंह ने दगाबाजी से संगरूर छीना था और उन्हें क़ैद कर लिया था। उनके क़ैद हो जाने के बाद उनकी रानी देसो ने बड़ी बहादुरी से राजा साहब जींद का मुक़ाबिला किया और उसके अधिकार में गया हुआ बहुत सा इलाक़ा वापिस कर लिया।

सन् १७८३ में जब हमीरसिंह की मृत्यु हो गई तब उसके पुत्र जसवन्तसिंह की उम्र केवल ८ बरस की थी। यह बात आवश्यक थी कि नाबालिगी में रियासत के प्रबन्ध के लिए कोई व्यक्ति मुक़र्रर किया जावे। अतः इस अवसर पर भी रानी देसो ही इस योग्य समझी गई और उसने बड़ी योग्यता से रियासत का प्रबन्ध किया। रानी पहिले ही राज्य-कार्य संभालने का अनुभव कर चुकी थीं, इसलिए उन्हें किसी तरह की दिक्क़त पेश न हुई।

सन् १७९० तक रानी ने रियासत का प्रबन्ध खूबी के साथ किया। इसी साल में रानी देसो की मृत्यु हो गई। इससे एक वर्ष पहिले जींद के राजा गजपतसिंह—रानी के दुश्मन भी स्थान जींद में मर चुके थे।

राजा जसवन्तसिंह

अपनी माता के देहान्त के पश्चात् जसवन्तसिंह ने रियासत का भार सम्हाला। रानी का प्रबन्ध ऐसा था कि कुछ दिन तक रियासत में उसी तरह शान्ति—अमन-चैन रहा। जसवन्तसिंह अन्य रईसों की भाँति अँग्रेजों से मित्रता करने का अधिक इच्छुक न था। पर जब लार्ड लेक साहब ने स्थान टमकलोटा पर अन्य रईसों से मित्रता का श्रीगणेश किया इसने भी समर्थन कर दिया था और जब होल्कर लाहौर जाते समय नाभा में ठहरा, तो जसवन्तसिंह ने स्पष्ट कह दिया कि "हम अँग्रेजों से मित्रता कर चुके हैं इसलिए तुम्हारी कोई सहायता नहीं कर सकते।" लार्ड लेक साहब ने राजा साहब जसवन्तसिंह को विश्वास दिलाया था कि जब तक तुम गवर्नमेण्ट के शुभचिन्तक रहोगे तुम्हारे इलाक़ों में कमी न की जायगी और न किसी तरह का खिराज लिया जायगा।

राजा रणजीतसिंह से भी जसवन्तसिंह को २६ गाँव जमा २६६६०) और सात गाँव परगना घोंगरना में से जमा ३३५०) के प्राप्त हुए थे। महाराज रणजीत-सिंह जिस प्रकार प्रदेशों को विजय करता उसी तरह वह अपने दोस्तों को दे भी दिया करता था। यह बात जींद के इतिहास और नाभा के इतिहास से अच्छी तरह प्रगट हो जाती है कि इन स्टेट की सीमा और आमदनी में महाराजा रणजीत-सिंह के दिए परगनों से काफ़ी वृद्धि हुई थी। हालांकि जसवन्तसिंह का व्यवहार रणजीतसिंह से भी था और सरकार से भी। इसलिए वह दोनों तरफ़ से ही अनुकूल वातावरण रखने की चेष्टा करता रहा। वह सरकार अँग्रेजी की ओर से उदासीन न रहा और जब कर्नल अक्टरलोनी नाभा पधारे तो उनकी अच्छी तरह आव भगत की।

इस वक्त राजा जसवंतसिंह का दरजा सतलज निकट की रियासतों में तीसरे नम्बर पर था। पहिला नम्बर महाराजा पटियाला का था जिनकी आय ६ लाख से अधिक थी और दूसरा नम्बर भाई साहब कैथल का जिनकी आय सवा दो लाख रुपया थी और तीसरा दर्जा नाभा का था जिसकी आमदनी डेढ़ लाख रुपया थी। यद्यपि कलसिया वग़ैरह की आमदनी भी इसी क़दर थी बल्कि सिपाही इससे अधिक थे, लेकिन तीसरा दर्जा नाभा का ही माना जाता था।

रियासत के इन्तजाम और राजा साहब की बुद्धिमानी का पता सर डेविड अक्टरलोनी की इस तहरीर से अच्छी तरह जाने जा सकते हैं जो उन्होंने गवर्नमेण्ट को अपनी रिपोर्ट में लिखी थी। अर्थात् "जसवंतसिंह उन बड़े रईसों में से हैं जो हमारे शुभ चिन्तक हैं और उनके इन्तजाम और समझ उन रईसों की निस्बत जिनसे मैं अब तक भेंट कर चुका हूँ अत्यन्त उत्तम है। इस रईस के बहुत से प्रदेश को मैंने देखा है, उसमें खेती बहुत होती है और इस प्रदेश की हालत देखने से ज्ञात होता है कि यह रईस अपनी प्रजा के साथ सख्ती करने वाला नहीं है और प्रजा पर नम्रता-पूर्वक शासन करता है।" जसवंतसिंह ने गवर्नर-जनरल से पत्र-

श्री महाराजा प्रतापसिंहजी,
हिज़हाइनेस नाभा ।

व्यवहार करके एक सनद इस आशय की भी प्राप्त करली थी कि वह अपने अधिकृत प्रदेश पर बदस्तूर क़ायम रहेगा।

तत्कालीन राजा साहबसिंह पटियाला भोले थे इसलिए रियासत का कारबार रानी आसकौर को इस शर्त पर हवाले किया गया था कि ख़ास मौक़ों पर साहब एजेण्ट, राजा सा० जींद, कैथल व नाभा से सलाह ले लिया करें। पर कहा जाता है कि जसवंतसिंह के हृदय में पटियाला स्टेट के लिए शुभ कामना न थी और वह रियासत की अवनति का इच्छुक था। सर लेपिल ग्रिफ़िन ने तो पटियाले के बारे में गजपतसिंह की मन्शा के बारे में यहाँ तक लिखा है कि "उसकी यह इच्छा थी कि रियासत पटियाला टूट जाये क्योंकि इस रियासत के टूटने से उसको यह उम्मेद थी मेरे हाथ भी कुछ न कुछ हिस्सा आयेगा। इस तरह पर मेरा इलाक़ा-रियासत ज्यादा हो जायेगा।" यह बात लिखना कि उनकी इच्छा पटियाले को एक दम नष्ट-भ्रष्ट हो जाने की थी कहना चिन्त्य है। पर हाँ कई एक कारण ऐसे हैं जिनसे ज्ञात होता है कि वे नष्ट करना नहीं तो उन्नत होना भी नहीं चाहते थे।

पटियाला और नाभा के बीच जो मनमुटाव और तकरार थी उसके कई कारण थे अर्थात् एक तो यह कि नाभा के राजा साहब अपने को चौधरी फूल के बड़े लड़के की औलाद होने से और पटियाला के छोटे बेटे के होने से जसवन्तसिंह अपने को बड़ा समझते थे और उधर पटियाला की आय और जागीर अधिक होने से पटियाला वाले अपने को बड़ा समझते थे। इसके अलावा गाँव लुधी, अलीक ऐसे मौजे थे जिनके कारण भी ये तकरार बढ़ी थी। रियासत की हदों के क़ायम होने में भी एक दूसरे रईस का मत न मिलता था अर्थात् कई स्थान ऐसे थे जिन पर दोनों रियासतें अपना अपना हक़ बतलाती थीं।

इन हक़ हक़ूकों के झगड़ों में कई ऐसे दावे थे जिनमें राजा साहब नाभा का दावा न्याय्य था और जब मौजा कोसलहेड़ी इलाक़ा पटियाला, फूलारोरी इलाक़ा नाम के तनाज़ा के फ़ैसले के लिए पंच मुकर्रर किए गए थे राजा साहब नाभा की तरफ़ ही फैसला दिया था और एक दूसरा झगड़ा क़सबा भदोड़ और कांगड़ गाँव की सरहद का था। भदोड़ सरदार दिलीपसिंह और वीरसिंह के अधिकार में था जो पटियाला के रिश्तेदार थे और कांगड़ नाभा के इलाक़े में था। इस मामले में भी नाभा का पक्ष सही था।

जसवन्तसिंह के सामने पटियाले के झगड़ों की दिक़्क़तें ही न थीं उसके यहाँ गृह-युद्ध की आग भी सुलग चुकी थी अर्थात् उनका बड़ा लड़का कुँवर रणजीतसिंह कुछ कुचक्रियों के बहकावे में आकर सन् १८१९ में ऐलानिया बागी हो गया। वह अपने विद्रोह-विचार से तब हटा जब कि पोलिटिकल एजेण्ट ने रौबदाब से काम लिया। जब उसने विश्वास दिलाया कि आइन्दा ऐसा न होगा तो उसकी जागीर जो ज़ब्त कर ली थी लौटा दी। परन्तु पिता-पुत्रों का यह व्यवहार कुछ दिन

तक ही रहा और फिर सन् १८२२ में राजा साहब ने इस अपराध से कि रणजीतसिंह मेरे विरोध में षड्यंत्र रच रहा है जो गाँव उसके गुजारे के लिए थे ज़ब्त कर लिए।

सन् १८२४ ई० में जसवन्तसिंह ने स्पष्ट प्रगट किया कि मेरा बड़ा लड़का रणजीतसिंह मेरे मारने का षड्यंत्र कर रहा है इसलिए इसकी सन्तान और यह मेरे राज्य के अधिकारी नहीं। इस अपराध के सम्बन्ध के कई सबूत भी पेश किए। परन्तु जब यह मुक़दमा गवर्नर जनरल के सामने पेश हुआ था उन्हें इसके समर्थन का कोई विशेष सबूत न मिला कि रणजीतसिंह कोई षड्यंत्र राजा साहब की मृत्यु के लिए कर रहा है। इसलिए उन्होंने आज्ञा दी कि कुँवर रणजीतसिंह पर नज़रबन्दी व रोक-टोक न की जाये। इस आज्ञा से राजा साहब जसवन्तसिंह को सन्तोष न हुआ।

यह बिल्कुल सही है कि कुँवर रणजीतसिंह का चाल-चलन ठीक न था। उसका दिमाग़ ठिकाने न था। वह बहुत अपव्ययी था। पर उस पर राजा साहब के मारने के षड्यन्त्र का अपराध सिवाय भ्रम के कुछ न था। इसीलिए इसकी जाँच करने पर यह एक दम मिथ्या साबित हुआ। लेकिन इसके मुक़दमे के पश्चात् अधिक समय तक वह जिन्दा न रहा और १७ जून १७३२ को कोपतरेड़ी में जहाँ सरदार गुलाबसिंह शहीद, जिसकी साली से इसका विवाह हुआ था रहा करता था मर गया। रणजीतसिंह ने तीन शादियाँ की थीं। उसकी मृत्यु के पश्चात् इस आधार पर कि बाप और उसमें कई दिन से मनोमालिन्य चला आ रहा था उसकी रानियों ने राजा साहब जसवन्तसिंह पर आरोप लगाया। इसी तरह का इलज़ाम दो वर्ष पहिले जब रणजीतसिंह का एकलौता बेटा सन्तोखसिंह मर गया था, लगाया गया था कि उसके दादा ने उसे मरवा दिया है। परन्तु ये आरोप कोई खास सबूत न रखते थे। इसलिए यह मुक़दमा डिसमिस हो गया।

सन् १८२७ में लधरान और सोन्ती के सरदारों ने जो रियासत नाभा की देख-रेख में जागीरदार थे एजेण्ट गवर्नर जनरल देहली से राजा साहब नाभा की जुल्म करने की बड़ी शिकायत की और बतलाया कि हमसे अपने जेलदारों की तरह बर्ताव करता है। लधरान से ५० और सोन्ती से ७० सवार हमेशा के वास्ते तलब करता है और ऐसी आज्ञायें देता है जो हमको बिलकुल पसन्द नहीं। क्योंकि हम कोई जेलदार नहीं हैं जो राजा साहब इस तरह का व्यवहार करें। पोलीटिकल एजेण्ट अम्बाला ने इस मुक़दमे में राय दी कि "यह बात आवश्यक और न्याय की है कि यह सिख सरदार राजा साहब नाभा की ख़िदमत के वास्ते बदस्तूर सवार देते रहें। परन्तु जब राजा साहब उन पर सख़्ती करें तो उससे भी बचाना चाहिए ....।" मगर साहब रेजीडेण्ट देहली ने इस राय को उचित न समझा और इस तरह फ़रमाया कि लधरान और सोन्ती के सिख

नाभा के अधीनस्थ समझे जायें और गवर्नमेंट का इसमें हस्तक्षेप न होना चाहिए क्योंकि इससे राजा साहब के रुतबे में फ़रक आता है। पर यह सिख सरदार रियासत नाभा का अपने ऊपर कुछ हक़ न मानते थे और जिन दस्तावेजों से यह हक़ साबित होता था जाली बतलाते थे।

यह भी पता चलता है कि यह सिख-सरदार पहिले नाभा की मातहती में न थे, बाद में आये थे। इसलिए इनका यह झगड़ा चलता ही रहा कि जिन दस्तावेज़ों से राजासाहब पटियाला इन्हें मातहत साबित करते थे यद्यपि ये उन्हें जाली बतलाते थे पर इस समय ऐसा कोई उनके पास खास सबूत न था कि वे उससे बिल्कुल बरी हो सकें। सन् १८३६ में सर जार्ज क्लार्कलोनी ने इस मुक़दमे की छानबीन कर अपनी रिपोर्ट पेश की जिससे यह जाना गया कि यह सरदार पहिले से नाभा के मातहती में तो नहीं हैं पर सरकार के सामने स्पष्ट सबूत था कि वे राजासाहब नाभा को सिपाह देते आ रहे हैं। इसलिए ऐसा रास्ता सोचा गया कि दोनों पक्ष स्वीकार कर सकें क्योंकि सरकार यह भी न चाहती थी कि सिख-सरदार सताये जायँ; इसका सबब यह था कि उन्होंने (सिख-सरदारों ने) बहुत शिकायत की थी। फलस्वरूप सरकार ने निर्णय किया कि—"जब राजासाहब नाभा के यहाँ कुँवर उत्पन्न हो या किसी लड़के या लड़की की शादी हो अथवा किसी रईस की मृत्यु का अवसर हो या इत्तफ़ाक से कोई लड़ाई पेश आये उस वक्त इन सरदारों से सेवायें ली जावें और हमेशा न ली जावें।"

इधर कितने ही समय से राजासाहब बीमार रहने लगे थे और आखिर रोग बढ़ता ही गया जिससे २२ वीं मई सन् १८४० को ६६ वर्ष की उम्र में देहावसान हो गया। राजा जसवन्तसिंह का शासन अत्यन्त उत्तम था। प्रजा उनसे बहुत प्रसन्न रहती थी। इनका पुलिस का प्रबन्ध भी बड़ा अच्छा था। राजासाहब के पाँच रानियाँ थीं जिनमें एक रानी से तो रणजीतसिंह जिसका हाल पहिले आ चुका है और रानी हरकुँवरि से देवेन्द्रसिंह पैदा हुए। राजा की मृत्यु के समय इसकी उम्र १८ वर्ष की थी और उनके बाद यही स्टेट के अधिकारी हुए।

राजा देवेन्द्रसिंह

५ अक्टूबर सन् १८४० को देवेन्द्रसिंह गद्दी पर बैठे। इस उत्सव पर साहब एजेण्ट गवर्नर अम्बाला भी उपस्थित थे। इस मौक़े पर सरकार की ओर से राजासाहब को खिलअत प्रदान की गई थी। क्योंकि देवेन्द्रसिंह रणजीतसिंह की मृत्यु के बाद से ही रियासत का मालिक समझ लिया गया था इसलिए इसका लालन-पालन बड़े चाव से हुआ था। परन्तु यह खुशामदी और चापलूसों की सुहबत से भी न बच पाया था।

यह पहिले लिखा जा चुका है कि नाभा के राजा अपने को चौधरी फूल के बड़े बेटे के वंशज होने से सब से बड़ा समझते थे और जब पटियाले के राजा को महाराज का खिताब मिला तो यह उसका अधिकारी अपने को ही समझते थे।

इसलिए पटियाले और नाभा का मन-मुटाव जारी था और जींद से भी जब राजा गजपतसिंह निःसन्तान मर गये तो एक बखेड़ा खड़ा हो गया अर्थात् राजासाहब पटियाला और नाभा भी अपना-अपना हक़ पेश करते थे। परन्तु पटियाला की तो सिर्फ़ यही इच्छा थी कि नया अधिकारी हमारी अधिक तावेदारी किया करे और रियासत नाभा की यह इच्छा थी कि इलाक़ा संगरूर जो राजा गजपतसिंह ने सन् १७७४ में धोखे से ले लिया था, वापिस मिल जावे। कहते हैं कि सरूपसिंह ने इस शर्त्त पर कि मेरा अधिकार हो जाने पर इलाक़ा संगरूर दे दूँगा, एक सनद भी लिख दी। लेकिन जब सरकार ने उसका पक्ष समर्थन किया तो वह उससे मुकर गया।

राजा साहब इसका प्रत्यक्ष विरोध तो न कर सके पर उन्होंने अपने दरबार में सरूपसिंह के जींद के राजा हो जाने पर भी उनके नाम को सिर्फ़ सरूपसिंह से उच्चारण करते और महाराजा पटियाला को भी सिर्फ़ राजा पटियाला कहते थे। उन्होंने अपने यहाँ मुसलमानी लफ्ज़ "आदाब" को हटा कर दण्डवत् कर दिया था। कहते हैं उनके यहाँ संस्कृत के पण्डितों की भरमार रहती थी और वे नित्य सायंकाल उनके पास उपस्थित होकर अतिशयोक्तियों से भरे संस्कृत के श्लोक सुनाते थे।

सरकार ने जब रियासत कैथल का एक बहुत बड़ा हिस्सा ज़ब्त कर लिया, तो पटियाला, जींद के साथ नाभा भी उसके विरोध में था। यह चाहते थे कि किसी नज़दीकी ख़ान्दान को यह रियासत मिले। इन्हें यह भी भय था कि कहीं इसी प्रकार ऐसे समय पर हमारी भी रियासतें ज़ब्त न कर ली जावें। पर सरकार तो निश्चय कर चुकी थी। उसका निश्चय बदलना कठिन था। इससे राजा साहब की दृष्टि में अँग्रेज़ सरकार के लिए उतना मान व मित्रता के प्रति प्रेम न रहा।

लाहौर की सल्तनत से भी राजा साहब का मोड़ान गाँव का एक झगड़ा था। बात यह थी कि महाराजा रणजीतसिंह ने यह गाँव एक सरदार धन्नासिंह को राजा जसवन्तसिंह से दबाव से दिलवा दिया था। चूँकि महाराजा रणजीतसिंह जिस पर प्रसन्न हो जाते उसे जागीर देने में बिल्कुल न हिचकते थे और धन्नासिंह ने मोड़ान गाँव जो नाभा स्टेट में था, के लिए प्रार्थना की थी। बस महाराजा साहब ने राजा जसवन्तसिंह को इसकी सूचना भेज दी। राजा जसवन्तसिंह की यह इच्छा न थी कि मोड़ान धन्नासिंह को दिया जाय, पर उस समय किसी दूसरे रईस में इतनी ताक़त कहाँ जो रणजीतसिंह का विरोध कर सके। पर जब धन्नासिंह की मृत्यु सन् १८४३ में हो गई और लाहौर का रौब भी महाराजा रणजीतसिंह के मर जाने से उतना न रहा तो राजा देवेन्द्रसिंह ने उसके बेटा हुक्मसिंह को कहला भेजा कि इस गाँव से अपना कब्ज़ा उठा लो, पर हुक्मसिंह ने ऐसा करने से साफ़ इनकार कर दिया। देवेन्द्रसिंह ने फिर इस सम्बन्ध में न तो उससे पूछा और न

सल्तनत लाहौर से और सन् १८४३ के अगस्त में एक फ़ौज रवाना कर दी। फ़ौज ने पहुँचते ही अग्नि-वर्षा कर क़िले पर अधिकार कर लिया।

इस घटना की ख़बर जब लाहौर पहुँची तो शेरसिंह जो उस समय लाहौर का शासक था अत्यन्त नाराज़ हुआ और इसके लिए उसने गवर्नमेंएट अँग्रेज़ी को लिखा। पर सरकार इसका उत्तर दे भी न पाई थी कि शेरसिंह मारा गया। इस तरह यह मामला कुछ दिन के लिए तो शान्त हो गया पर सन् १८४४ में यह फिर उठा और दिलीपसिंह ने सरकार अँग्रेज़ी को एक पत्र लिखा। उसमें लिखा था कि मोड़ान पर राज्य लाहौर का हक़ है और राजा साहब नाभा का कोई हक़ नहीं है। मोड़ान पर चढ़ाई व क़ब्ज़ा से राजा नाभा ने बहुत नुक़सान पहुँचाया है। इसलिए उनसे जो हानि हुई है वह दिलाई जाय और जिन शख़्सों की ओर से ज्यादती हुई हैं उन्हें उचित दण्ड दिया जाय।

सरकार अँग्रेज़ी ने इसकी तहक़ीकात की और "बन्दरबांट" न्याय से अपने राज्य में मिला लिया। इस फ़ैसले से महाराजा दिलीपसिंह को बहुत अफ़सोस हुआ और वह सरकार के इस फ़ैसले को एक चाल समझने लगे। लाहौर के सिख सरदारों में तहलका मच गया कि सरकार ने ख़ालसा से हुई सन्धि को भंग किया है। इस प्रकार अँग्रेज़ों से सरकार लाहौर के युद्ध होने की सामग्री इकट्ठी होने लगी।

जब सरकार लाहौर और अँग्रेज़ों की लड़ाई हुई तो महाराज किसी ओर होने के बजाय तटस्थ रहना पसन्द करते मालूम हो रहे थे। यह विषय विवादास्पद है कि वह लाहौर से गुप्तरूप से पत्र-व्यवहार करते थे क्योंकि इसका कोई प्रबल सबूत नहीं है। हाँ, लाहौर के एक सेनापति रामसिंह के नाभा आने से सरकार को बड़ा सन्देह हुआ पर राजा साहब नाभा का कहना था कि वह सिर्फ इसलिए मौक़ा देखने वहाँ आया था कि लाहौर से अनबन हुई तो वह वहाँ रह सके और राजा साहब से शिष्टाचार के बतौर मुलाक़ात हुई थी। रामसिंह के नाभा आने से ही सरकार को सन्देह तो हो ही गया था और इसके लिए उनके वकील को सूचना भी की गई थीं पर साथ ही लड़ाई होने पर राजा साहब को जो सहायता करने के लिए हिदायतें की गई थीं समय पर न कर सके जिससे १३ दिसम्बर सन् १८४५ को परगना ढरड़ू और अमलोह ज़ब्त कर लिए गए।

इस घटना के दो दिन पश्चात् ही मेजर ब्राडफुट साहब ने नाभा के वकील को एक पत्र लिखा जिसमें दी हुई सूचना के अनुसार प्रबन्ध न करने के कारण हुई हानि की सख़्त नाराज़ी ज़ाहिर की गई और बताया गया कि राजा साहब को ग़लती सुझाने के लिए हमने आपको पहिले भी सूचित किया था। अगर राजा साहब आज या कल शाम तक लश्कर अँग्रेज़ी में उपस्थित न हो जायेंगे तो वे सरकार अँग्रेज़ी के दुश्मन समझे जायँगे। रसद के लिए जो पहिले लिखा गया था, वह

भी हाज़िर की जाय और वह थानेदार को जो असिस्टेंट एजेण्ट के साथ निष्ठुरता से पेश आया था, कड़ा दण्ड दिया जावे। मौलवी जहूरुलहक़ को उसकी जगह नियुक्त किया जावे।

राजा देवेंद्रसिंह ने इसके उत्तर में लिखा था कि रसद का प्रबन्ध हो रहा है पर वह स्वयं उपस्थित न हुए और रसद वगैरह भी ठीक समय पर न पहुँची। अर्थात् युद्ध समाप्त होने के समय कहीं रसद न पहुँचा पाये। इस कारण से वे गवर्नर द्वारा हुए लुधियाने के दरबार में भी सम्मिलित न किए गए। राजा साहब ने अपनी सफ़ाई में बहुत सी युक्तियाँ उपस्थित कीं पर सरकार के सन्देह को दूर न कर सके।

सरकार ने निश्चय करके राजा देवेन्द्रसिंह को गद्दी से उतार दिया और उनका बड़ा बेटा जिसकी उम्र इस समय ८ वर्ष की थी रियासत का अधिकारी माना गया एवं राज्य का चौथा हिस्सा ज़ब्त कर लिया गया। राजकुमार की शिक्षा-दीक्षा का उचित प्रबन्ध राज्य के ३ अधिकारियों के साथ उसकी सौतेली दादी चन्दकुँवरि को सौंपा गया। राज्य में महसूल जरूरत राहदारी वगैरह सब माफ़ किया गया। राजा साहब के लिए ५८०००) रुपया सालाना निश्चित हुए और तय हुआ कि वह देहली और मेरठ से दक्षिण में किसी स्थान पर शान्ति के साथ रहें।

इस निश्चय के पश्चात् राजा देवेन्द्रसिंह स्वयं मथुरा को चले आये और यहीं पर स्थायी रहने लगे। पचास हजार से उनका ख़र्च न चलता था क्योंकि वह खुद मुख्तार रईस रह चुके थे इसलिए उन्होंने कर्ज़ा भी बहुत बढ़ा लिया था। सरकार ने उनका यहाँ रहना भी उचित न समझा और वे आठवीं दिसम्बर १८५५ को लाहौर भेजे गए। वहाँ वह राजा खड़गसिंह की हवेली पर ठहरे।

राजा देवेन्द्रसिंह अपने साथ हुए बर्ताव से बहुत दुखी हुए थे, जिससे दिल पर हार्दिक वेदना से वह बीमार रहने लगे। सन् १८६५ नवम्बर में राजा साहब ने लाहौर में सदा के लिए मानसिक कष्ट से छुटकारा पाया। राजा साहब ने ४ शादियाँ की थीं। रानी मानकौर से दो पुत्र उत्पन्न हुए—भरपूरसिंह और भगवानसिंह।

राजा देवेन्द्रसिंह के अधिकार च्युत होते ही सन् १८४७ जनवरी में भरपूरसिंह गद्दी पर बैठे। इनकी दादी रानी चन्दकौर बड़ी होशियार थीं। उन्हीं पर इनकी देखरेख का भार था। यह शासन प्रबन्ध में भी सहयोग रखती थीं। तीन और सज्जन राज्य के पुराने कार्यकर्त्ता सरदार गुरुबख्शसिंह, फतेहसिंह और बहालीमल कौंसिल के सदस्य चुने गए जिनमें से कर्नल मेकसन साहब ने सरदार गुरुबख्शसिंह को कौंसिल का अध्यक्ष नियुक्त किया।

राजा भरपूरसिंह

गुरुबख्शसिंह ने अपने पद का दुरुपयोग किया। कहते हैं उसने थोड़े समय में अपने को धनाढ्य बना लेना चाहा और अधिकतर वह सफल भी हुआ।

बड़े बड़े पदों पर उसने अपने कुटुम्बी-सम्बन्धी नियत किए। इस का फल यह हुआ कि योग्य अयोग्य का कोई खयाल न किया जिससे प्रजा में असन्तोष फैला और गुरुबख्शसिंह की शिकायतें होने लगीं। जाँच होने पर उस पर लगाए हुए दोषों का समर्थन हुआ, जिससे वह अध्यक्ष पद से पृथक् कर दिया गया और उसके स्थान पर मुन्शी साहबसिंह को नियुक्त किया गया।

सन् १८५७ के गदर में भरपूरसिंह ने भी सरकार की भरपूर सहायता की। वे गदर आरम्भ होने के कुछ काल बाद स्वयं सनावलोग गए थे। वहाँ उन्होंने बड़ी बहादुरी का काम किया था और जब राजा साहब को लुधियाना की रक्षा का भार सौंपा गया था तो वहाँ भी साढ़े तीन सौ सवार और चार सौ पैदल व दो तोपों के साथ ६ महीने तक अधिकार किए हुए उपस्थित रहे। अगर बीच में उन्हें कहीं जाने की आवश्यकता भी हुई तो अपने भाई को अपने स्थान पर छोड़ कर जाते। कमाण्डर-इन-चीफ के साथ जो फ़ौज देहली जानी निश्चित हुई थी उसके इन्कार कर देने पर नाभा की ही फौज के एक सौ सवार उनके साथ गए और उन्होंने बड़ी बहादुरी के हाथ दिखाये। राजासाहब ने इस बात की भी इच्छा की थी कि वह स्वयं देहली पहुँच जायँ परन्तु सरकार ने नाभा की एक दस्ता फौज को ही वहाँ पहुँचना स्वीकार किया और राजासाहब की इच्छा के लिए उन्हें धन्यवाद दिया। नाभा की फौज ने वहाँ पहुँचकर भी बहुत काम दिया। राजासाहब ने सैनिक भर्ती करने और रसद भेजने की सहायता पहुँचाई और ढाई लाख रुपया बतौर ऋण भी दिया।

गदर के पश्चात् सरकार ने राजासाहब नाभा को अन्य राजाओं की तरह इनाम व दिए। परगना झज्झर में से ज़िला बावल एवं कांटी जिनकी वार्षिक आय क़रीब एक लाख छै हजार की है इस शर्त पर दिए कि वह गदर वगैरः के जमाने में सरकार की सहायता (खैरख्वाही) करें। राजासाहब की खिलअतों की संख्या सात से पन्द्रह और तोपों की बढ़ाकर ग्यारह करदी गई। इनके अलावा उन अधिकारों की स्वीकारी भी हुई जो जींद, पटियाला रियासतों को मिल चुके थे अर्थात् फाँसी की सजा तक के अधिकार व उनके निजी मामलों में सरकार किसी तरह का हस्तक्षेप न करे। मई सन् १८६० में सरकार ने एक सनद भी दी जैसी कि जींद, पटियाला सभी को प्राप्त हुई थी, जिसकी रू से उनके मौरूसी हक़ हमेशा के लिए स्थिर रखने का विश्वास दिलाया गया था।

जनवरी सन् १८६० ई० को वाइसराय लार्ड रीडिंग ने अम्बाला में जो दरबार किया था उसमें राजा साहब भी उपस्थित हुए। वायसराय साहब ने राजा साहब नाभा और उनकी फौज द्वारा सेवाओं की बड़ी तारीफ की और बतलाया कि सरकार की दृष्टि में अन्य सरदारों द्वारा हुई सहायता से आपकी सहायता किसी क़दर भी कम नहीं है। आपको जो इलाक़ा दिया गया है उस पर आपकी सन्तान का हमेशा अधिकार रहेगा और किसी राजा को निःसन्तान मृत्यु

हो जाने पर खान्दान फूल में से रियासत का अधिकारी मान लिया जावेगा। सरकार की हार्दिक इच्छा है कि आपकी रियासत उन्नति शील हो।

राजा भरपूरसिंह ने भी इसके बदले में कृतज्ञता प्रगट की और एक लिखित भाषण दिया जिसमें सरकार के प्रति अपनी मित्रता और उन्नति की मनोकामना प्रगट की थी।

राजा साहब ने २॥ लाख रुपया तो ग़दर पर ही ऋण दिया था और इसके सिवा सात लाख रुपया सन् १८४८ में ५ रुपया सैकड़ा सूद पर सरकार ने नाभा से लिए थे। इस तरह कुल असल रुपया ६॥ लाख होता था। जब महाराज देवेन्द्रसिंह को ज्ञात हुआ कि सरकार कानोड व बुडवाना नहीं रखना चाहती है तो उन्होंने उसके लिए प्रार्थना की कि २० वर्ष के लिए कर्ज़े के बदले कानोड उन्हें दे दी जाये। सरकार ने इसे स्वीकार कर लिया और जो रुपया हिसाब से अधिक होता था वह पहिले ऋण के सूद में जमा समझ लेने के लिए तय कर दिया गया।

अब राजा साहब ने अपनी रियासत के प्रबन्ध की तरफ़ बहुत ध्यान दिया। सन् १८५६ ई० के आरम्भ में साहब एजेण्ट गवर्नर बहादुर ने तहक़ीकात की थी जिसका फल यह हुआ कि कई अहलकार निकाले गए। इसके पश्चात राजा साहब महाराज पटियाला व कमिश्नर अम्बाला की सलाह लेते रहे।

राजा साहब भरपूरसिंह का चाल-चलन आदर्श था। अन्य ख़ुदमुख़्तार रईसों की भाँति वे ऐयाशी से बहुत दूर रहते थे। वे बड़े बुद्धिमान और उपजाऊ दिमाग़ के व्यक्ति थे। यही कारण था कि वह बुरे व्यक्तियों की संगति व सलाह से बचे रहे। कई राज के कार्य-कर्त्ताओं की इच्छा थी कि राजा साहब पटियाला और उनमें मनोमालिन्य हो जावे जिससे वे उसका भरपूर लाभ उठा सकें। चूंकि वह समझते थे कि राजा साहब पटियाला से उन्हें उचित सलाहें मिलतीं हैं जिससे उनके मनसूबे पनपना असम्भव है। पर राजा भरपूरसिंह यह सब समझते थे। उनके जैसे बुद्धिमान को डिगा लेना आसान न था। वे देशी भाषाओं में तो निपुण थे ही पर समय निकाल कर ३-४ घण्टे अँगरेज़ी का अभ्यास किया करते थे।

जून सन् १८६३ में राजा साहब सख्त बीमार हुए। उन्हें बड़े ज़ोर से बुख़ार आना शुरू हुआ जो क़रीब २ महीने तक उपचार करने से दूर हुआ। पर महाराज ने धार्मिक भाव से गुरुद्वारा तक जो ४०० गज है अस्वस्थता की हालत ही में पैदल यात्रा की थी और कुछ समय बाद ज़ोर पकड़ लिया, जिससे नवीं नवम्बर को उनकी मृत्यु हो गई।

राजा भरपूरसिंह के कोई सन्तान न थी, इसलिए सरकार ने राजा साहब जींद और पटियाला से राज्याधिकारी के सम्बन्ध में राय माँगी। दोनों रईसों ने वास्तविक राय जो हो सकती थी, भेजी। उन्होंने लिखा था कि यह बात सभी को ख़ास है कि राजा साहब हमेशा अपने भाई कुँवर भगवानसिंह को बतौर वारिस

मानते थे और उनका बड़ा आदर करते थे। उनके बर्त्ताव और मृत्यु के समय उनकी मौखिक वसीयत के अनुसार भी कुँवर भगवानसिंह का वारिस होना न्याय है। राजा साहब ने मृत्यु के थोड़े समय पहिले ही भगवानसिंह को आदेश किया था—रियासत का प्रबन्ध उत्तमता से नम्रता-पूर्वक करना और सरकार अँग्रेजी का खैरख्वाह बने रहना। रियासत के अहलकारों को राजा साहब ने फ़रमाया था कि—जिस तरह मेरे साथ तुम लोगों ने ईमानदारी और प्रेम-पूर्ण बर्त्ताव किया है, मेरे भाई के साथ भी वैसे ही पेश आना।

इस आशय की राय पाकर भी सरकार ने इसे स्वीकार न किया। भरपूरसिंह अपने भाई को अपना वारिस बना गये, यह बात कहानी की तरह गढ़ी हुई कही गई।

१७ फ़रवरी सन् १८६४ को राजा भगवानसिंह गद्दी पर बैठे। इस अवसर पर राजा साहब पटियाला, जींद, नवाब मालेर कोटला एवं और बहुत से रईस उपस्थित थे। सर एडवर्ड हरबर्टस साहब बहादुर के जनरल लार्ड जार्ज मेजर साहब सी० बी० कमान अफ़सर फ़ौज अम्बाला आदि बहुत से अँग्रेज भी सम्मिलित हुए थे। इस मौक़े पर सरकार की ओर से १५ खिलअत, एक घोड़ा और एक हाथी दिया गया। इस प्रकार गद्दी-नशीनी का उत्सव अत्यन्त धूम-धाम से सम्पन्न हुआ।

राजा भगवानसिंह

राजा भगवानसिंह के राज्याधिकारी होते ही उन्हें कई आफ़तों का सामना करना पड़ा। इधर रियासत के कार्य-कर्त्ताओं में फूट हो गई उधर कुछ समय बाद यह समाचार फैला कि राजा भरपूरसिंह को जहर देकर मार दिया गया। पहिले तो यह बात छिपी रही पर फिर बड़े जोर से सर्व साधारण में फैल गई।

भरपूरसिंह के जहर देकर मार देने की बात जांच होने पर बिलकुल निराधार साबित हुई। यह बात सभी लोग जानते थे कि राजा साहब कई महीनों से अस्वस्थ्य थे पर तोभी कुचक्रियों द्वारा गढ़ी हुई यह बात निर्मूल हुई। प्रायः रियासतों में जो जब कोई मर जाता है तो ऐसा ही तूल खड़ा हो जाता है और इसकी एक दलील जो होती है वह यही कि भावी अधिकारी ने स्वार्थान्धता से ऐसा कराया, पर सचाई छुप नहीं सकती।

सोन्ती और लढरान के मुक़दमे की बाबत पहिले भी लिखा जा चुका है। सरकार ने यहाँ के सिख सरदारों के लिए फ़ैसला भी कर दिया था जो करीब-करीब उन्हीं के पक्ष में था। पर यह झगड़ा राजा भगवानसिंह के जमाने में फिर खड़ा हुआ। साहब कमिश्नर ने महाराज पटियाला और जींद की राय से यह फ़ैसला दिया कि सोन्ती के सिखों को रियासत नाभा उसके बदले में ५००००) रुपया सालाना देता रहे। इस फ़ैसले को सरकार ने भी मंजूर कर लिया था परन्तु सिख सरदारों ने स्वीकार न किया। उन्होंने विलायत तक इसकी अपील की। आखिरकार कमिश्नर साहब सतलज पर इस मुक़दमे की एक अंतिम रिपोर्ट पेश की और उसको गवर्नमेण्ट हिन्द ने स्वीकार किया।

राजा भगवानसिंह का भी सन् १८७१ माह मई में देहान्त हो गया। यद्यपि आप जब गद्दी पर बैठे तो काफ़ी झगड़े-बखेड़े थे पर आपने बुद्धिमानी पूर्वक सब से सामना किया। आपके कोई सन्तान न थी अतः बड़रूखाँ खानदान फूल से सरदार हीरासिंहजी राजा रियासत के अधिकारी हुए।

राजा हीरासिंह

ता० १० माह अगस्त सन् १८७१ ई० को राजा हीरासिंह राज्याधिकारी हुए। राजा साहब की गद्दी नशीनी का उत्सव अत्यन्त समारोह से समाप्त हुआ। आपने रियासत की सभी प्रकार उन्नति की और सरकार अँग्रेज़ी के भी मित्र बने रहे। रियासत की इम्पीरियल सर्विस ने समय-समय बहुत सी सेवायें कीं। प्रजा के लिए आप ने बहुत से मकान तैयार कराये। महाराज साहब का स्टेट का प्रबन्ध बड़ा उत्तम था जिससे प्रसन्न होकर टामकेन साहब ने लेफ़्टीनेण्ट गवर्नर साहब सूबा पंजाब को लिखा था कि "जब इलाक़ा जींद और पटियाला में लुटेरों का आतंक था नाभा को ऐसी वारदातों से दूर रहने का सौभाग्य हासिल था। इसका कारण राजा हीरासिंह जी० सी० एस० आई० के सुप्रबन्ध का फल है।" आपने ४० वर्ष तक राज्य किया और २५ दिसम्बर सन् १६११ ई० में आपका स्वर्गवास हो गया जिससे सरकार का एक ख़ैरख़्वाह रईस और प्रजा का शुभ चिन्तक: प्यारा राजा सदा के लिए छिन गया। अतः महाराज हीरासिंह की मृत्यु से सभी को महान् दुख हुआ।

राजा साहब हीरासिंह बड़े अच्छे चाल-चलन और पवित्र विचार के शासक थे। दयालुता के तो आप अवतार थे। आपके ४० वर्ष के शासन-काल में स्टेट की बहुत उन्नति हुई। औषधालय, शिक्षणालय आदि का इन्तज़ाम भी आपने किया था। सरकार की ओर से जी० सी० एस० आई०, जी० सी० आई० ई० की उपाधि मिली थी। इनके एक राजकुमार थे, जिनका जन्म सन् १८८३ ई० में हुआ था।

महाराज
रिपुदमनसिंह

राजा साहब हीरासिंह की मृत्यु के पश्चात् कुँवर रिपुदमनसिंह गद्दी पर बैठे। आपकी उम्र इस वक्त २६ वर्ष की थी। महाराज रिपुदमनसिंह के योरुप से लौटने पर अर्थात् २४ जनवरी सन् १६१२ को सिंहासनारूढ़ होने का समारोह हुआ। महाराज पटियाला और इनमें आपसी मनोमालिन्य के बढ़ने और रियासत के ऋण-ग्रस्त होने के कारण ऐसी स्थिति उत्पन्न हुई कि गद्दी से पृथक हो जाना पड़ा। जिस समय आप गद्दी से अलग हुए थे, कुछ अख़बारों ने लिखा था कि स्वाभिमान की मात्रा और न झुकने की नीति ने आज महाराज रिपुदमनसिंहजी को ऐसी परिस्थिति में डाला है। बहुत समय तक आपने यह कोशिश की कि सरकार उन्हें नाभा के प्रबन्ध करने का एक बार अवसर दे। कुछ दिन से आपने अपना नाम रिपुदमनसिंह की बजाय श्रीगुरुचरणसिंहजी रख लिया है। इस समय आप दक्षिण-भारत के एक क़िले में निवास कर रहे हैं।

महाराजा प्रतापसिंह

महाराज रिपुदमनसिंहजी के अधिकारच्युत होने के पश्चात् उनके पुत्र प्रतापसिंहजी गद्दी पर बैठाए गए। आपका जन्म सन् १६२६ ई० में हुआ है। आप बड़े होनहार हैं और नाभा की प्रजा को आप से बहुत सी आशाएँ हैं।

नाभा स्टेट का क्षेत्रफल ६२८ वर्ग मील है। रियासत की जन-संख्या २,८७,००० है। शिक्षा के लिए नाभा में हाई स्कूल हैं, जहाँ एण्ट्रेन्स तक की शिक्षा का प्रबन्ध है। बाहरी छात्रों के सुभीते के लिए बोर्डिङ्ग और होनहार और गरीब विद्यार्थियों के लिए वजीफे भी दिए जाते हैं। स्टेट में गर्ल्स स्कूल भी है, जहाँ मिडिल तक शिक्षा दी जाती है। खास-खास स्थानों पर अस्पताल भी हैं। खास शहर नाभा में २ अस्पताल हैं।

हिज हाईनेस महाराजा टीका प्रतापसिंहजी को १३ तोपों की सलामी है।

कैथल का भाई ख़ानदान

आरम्भिक बातें और वंश वर्णन

जिस समय सिख-धर्म के प्रवर्तक गुरु नानक इस संसार से विदा हो गये तो उनके बाद अंगदजा गुरु हुए। अंगदजी के पश्चात् अमरदास और फिर रामदास गुरु की श्रेष्ठ पदवी से विभूषित हुए। जिस समय गुरु रामदासजी को गद्दी दी गई थी उस समय गद्दी देते हुए अमरदासजी ने रामदासजी से एक कार्य करने के लिए कहा था। वह कार्य यह था कि तुंग, सुल्तान पिंड और गुमटाला नामक गाँवों के बीच में कई कोस का एक जंगल था। उस जंगल में एक बहुत पुराना तालाब था किन्तु वह मिट्टी से भरा हुआ था। गुरुजी उसे खुदवाकर फिर से जलाशय बनाना चाहते थे। बस यही कार्य था जिसे पूरा करने के लिए गुरु अमरदासजी ने गुरु रामदासजी से कहा था। गुरु अमरदासजी रामदासजी को लेकर उस स्थान पर पहुँचे भी। चूंकि वह जगह जाटों की सम्मिलित भूमि थी इसलिए गुरुजी ने आस-पास के मुख्य-मुख्य जाटों को बुलाकर उस भूमि को मांगा। जाटों ने जब सुना कि गुरुजी इस स्थान पर निरन्तर पानी रखने वाला तालाब खुदवाना चाहते हैं तो उन्होंने वह जमीन गुरुजी को दे दी। जगह मिलने पर संवत् १६२६ वि० आषाढ़ के महीने में उस स्थान पर गुरु रामदासजी के हाथ से एक नगर और सरोवर की बुनियाद डलवाई।

उस समय गुरु लोगों की कोई भारी शक्ति न थी। वे अपने उपदेशों से अपना सम्प्रदाय बढ़ाया करते थे। रामदासजी के भी आस-पास अनेकों हिन्दू और विशेषतया जाट शिष्य हो गये। इन्हीं जाट शिष्यों में एक भाई भगतू थे। यह विदार-वंशी जाट थे। इनके पिता का नाम श्रोम् था। भगतूजी इतने ईश्वर-भक्त और गुरु-भक्त थे कि लोग उनके असली नाम को भूल गये और वे भगतू के नाम

से ही मशहूर हो गये। रामदासजी इस चिन्ता में थे कि तालाब किस भांति खुदे। उनके पास कोई साधन न था। ओम् गुरूजी की इस चिन्ता से दुखी हुए किन्तु वह भी कोई वैभव सम्पन्न व्यक्ति न थे। हां उनके पास साहस था इसलिए वह स्वयं तालाव खोदने में लग गये। और भी कुछ मनुष्य तालाव की खुदाई करते थे किन्तु वे मजदूरी लेते थे। ओम् धार्मिक कृत्य समझकर खोदते थे। गुरु रामदासजी ओम् की इस भक्ति से बहुत प्रसन्न हुए और आशीर्वाद दिया कि तेरा पुत्र वड़ा प्रतापी होगा। दैवयोग से वात ऐसी ही हुई। ओम् के सुपुत्र भगतू के नाम से आज सारा पंजाव परिचित है।

गुरु रामदासजी की मृत्यु के पश्चात् गुरु अर्जुन गद्दी पर विराजे। भगतू ने सिख-धर्म की और गुरूजी की वहुत सेवायें कीं। समस्त सिख भगतू को श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं। भगतू के सम्बन्ध में एक वड़ी विचित्र वात कही जाती है। गुरु हरिराम ने इनसे कहा कि तुम मेरे ही सामने शरीर छोड़ दो। भगतू ने यह वात मान ली और करतारपुर में जो कि इलाक़ा जालन्धर में है पृथ्वी में समा गया। कुछ काल वाद गुरु हरीराम उधर से फिर गुजरे। भगतू की समाधि के पास आकर कहने लगे ऐ! सिख वीर भगतू हमें दर्शन दे। भगतू गुरु की इस वात को सुन कर समाधि में से जिन्दा निकल आए। गुरुजी से वार्त्तालाप करने के वाद फिर समाधि में समा गये। गुरु ने आशीर्वाद दिया कि तुम्हारी संतान के लोग वैभवशाली और राजा होंगे।

भगतू का खानदान भाई के नाम से भी मशहूर है। इसका कारण यह वताया जाता है कि गुरु अर्जुन ने भगतू की भक्ति से प्रसन्न हो कर भाई की उपाधि दी। भगतू के दो वेटे हुए। संतदास और गोरा उनका नाम था। संतदास, जिसका कि दूसरा नाम जीवनसिंह भी था की औलाद के लोग भटिंडा की ओर चले गये और वहाँ जाकर उन्होंने राज्य स्थापित कर लिया। गोरा की संतान के लोगों ने कैथल और दूनोली के परगने को अपने कब्जे में कर लिया और राजा वन वैठे। गोरा के महासिंह, किशनसिंह, माईदास और दयालसिंह नाम के चार पुत्र हुए। जिनमें किशनसिंह, महासिंह|की संतान के लोग भटिंडा की ओर चले गये और माईदास निःसंतान मर गये। भाई दयालसिंह के छः पुत्र हुए। उनके सुक्खासिंह, धनसिंह, गुरुदाससिंह, देसूसिंह, वुद्धासिंह और वख्तसिंह नाम रक्खे गये थे। सुक्खासिंह के दो पुत्र हुए—विसावासिंह और गुरुदत्तसिंह। उनसे छोटे भाई धनसिंह के कर्मसिंह और चड़तसिंह नामक पुत्र हुए। लालसिंह और सुजानसिंह नाम के दो पुत्र देसूसिंह के हुए। वुद्धासिंह के कोई संतान न थी। वख्तसिंह के दालसिंह नाम का एक ही पुत्र हुआ।

कैथल पर अधिकार देसूसिंह की संतान का था। लालसिंह उनका वड़ा पुत्र कैथल का राजा था। उसके राज्य की आमदनी चार लाख थी। सुक्खासिंह के पुत्र विसावासिंह के पास भी वीस गाँव थे। लालसिंह के दो पुत्र हुए—उदैसिंह

और प्रतापसिंह। दोनों ही निःसंतान मर गये। लालसिंह की मृत्यु संवत् १९०१ विक्रमी अर्थात् १८४६ ई० सन् में हो गई। इस समय तक महाराज रणजीतसिंह पंजाब केशरी का स्वर्गवास हो चुका था और लाहौर की गद्दी पर नाटक हो रहा था। उदैसिंह के पश्चात् उसकी रानी महताबकुँवरि राज्य की मालिक बनीं। वह बड़ी वीर प्रकृति की थीं। सरकार अँगरेज से भी लड़ बैठीं। अँगरेजों की शक्ति के मुकाबिले में बेचारी क्या कर सकती थीं। हार निश्चित थी। सेना तितर-बितर हो गई। फिर भी आपके दिल में आशा थी, अतः आप मैदान से निकल भागीं। सेना इकट्ठी करने लगीं। किन्तु अँगरेजी सेना ने आपको पकड़ लिया। उनका कैथल राज्य ज़ब्त कर लिया गया। उदैसिंह जी ने भाई बिसावासिंह को गोद लिया पुत्र बना लिया था। सरकार ने उसको चौबीस हज़ार सालाना का इलाका देदिया और रानी महताबकुँवरि की बीस हज़ार वार्षिक की पेन्शन करदी। इसी बीस हज़ार में से उदैसिंह के भानजे चूहड़सिंह को भी रानी साहिबा को देना पड़ता था। पोदा नाम के गाँव में आपके रहने के लिए स्थान नियुक्त हुआ। इस स्थान में उदैसिंहजी की बनवाई एक कोठी थी जिसमें पत्थर का बहुत ही अच्छा काम किया गया था। पीछे से यह स्थान अँगरेज़ी इलाक़े में मिला लिया गया। बिसावासिंह और उसके पुत्र अरनोली में रहने लगे। संगतसिंह और उनकी संतान के लोग इलाक़ा सिद्धूवाल के अधिकारी रहे।

'सैरे पंजाब' के लेखक ने कैथल के राज-वंश का अपने समय तक का कुर्सी नामा इस प्रकार दिया था।

- ओम्
  - भाई भगतु
    - जीवनसिंह
      - भाई संगतसिंह
    - गोरासिंह
      - महासिंह
        - दयालसिंह
        - मुहरसिंह
      - किशनसिंह
        - अमरसिंह
      - माइदास (लावल्द)
      - दयालसिंह
        - गुरुबक्ससिंह
          - सुक्खासिंह
          - धनासिंह
            - कर्मसिंह
            - चढ़तसिंह
          - गुरुदाससिंह
          - देसूसिंह
            - लालसिंह
            - सुजानसिंह
          - बुद्धासिंह
          - बखतसिंह
            - दालसिंह

अमरदास (लावल्द)
उदैसिंह (लावल्द)
प्रतापसिंह (लावल्द)

बहादुरसिंह (इनके दो रानी थीं) — (१) सदाकौर (२) देसूरानी
गुलाबसिंह — जसमीरसिंह, नौनिहालसिंह
पंजाबसिंह
संगतसिंह — अलवानसिंह

ज़ब्तियाँ
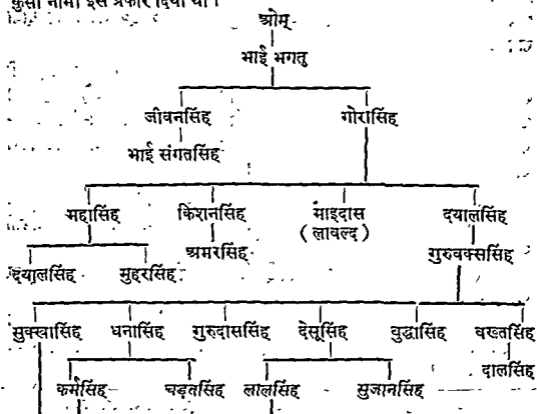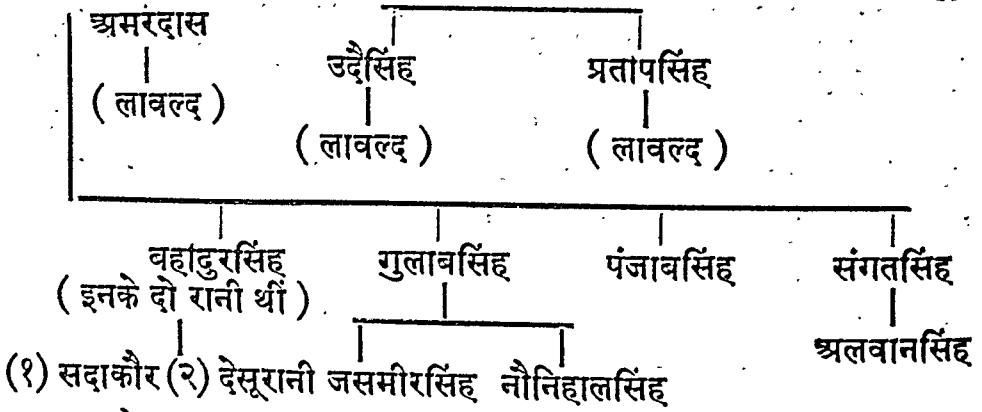
कैथल की भांति जाटों की और भी कई छोटी-छोटी रियासतें सरकार अँग्रेज द्वारा ज़ब्त कर ली गईं। 'सैरे पंजाब' के लेखक ने उन रियासतों का उल्लेख किया है, जो सन् १८४५-४६ ई० तक ज़ब्त कर ली गईं। ये सारी रियासतें उन लोगों की थीं, जो महाराजा रणजीतसिंहजी के विरुद्ध अँग्रेज़ सरकार ने अपने मित्र तथा मांडलिक राज्यों को गोद लेने का अधिकार नहीं दिया था, इसलिए अधिकांश राज्य लावल्दी में ज़ब्त किए गए। उनमें से कुछ एक जाट-राज्यों का वर्णन हम भी उद्धृत करते हैं।

(१) जिला अम्बाला में बिलासपुर में जाट-राज्य था। रानी दयाकुँवरि के निःसन्तान मरने के कारण इस राज्य को सरकार ने अपने अधिकार में कर लिया। यह घटना सन् १८१६ ई० की है। कलसिया के महाराज शोभासिंहजी ने अपने अधिकार का दावा पेश किया, किन्तु सन् १८२० ई० में उनका दावा ख़ारिज़ हो गया।

(२) अम्बाला ख़ास में भी रानी दयाकुँवरि का राज था। यह रानी साहिबा सरदार गुरुबख़्शसिंह की रानी थीं। सरदार साहब बड़े योद्धा थे। उन्होंने अपने बाहुबल से मुसलमान हाकिमों को निकाल कर इन स्थानों पर अधिकार किया था। रानी साहिबा के मरने पर सन् १८२३ ई० में अँग्रेज़ सरकार ने अम्बाले को भी अपने राज्य में मिला लिया।

(३) जगाधड़ी—यह इलाक़ा सन् १८३२ ई० में रानी दयाकुँवरि के मरने पर सरकार ने ज़ब्त कर लिया था। यह रानी सरदार भगवानसिंह की धर्मपत्नी थीं। यह रियासत सब तरह से धन-धान्य से पूर्ण थी।

(४) मुबारिकपुर—सन् १८३३ ई० में सरदार शोभासिंह की रानी रूपकुँवरि की मृत्यु के पश्चात् ज़ब्त कर लिया गया।

(५) मोरंडा—यह इलाक़ा जींद ख़ान्दान के लोगों के अधिकार में था। सन् १८३४ ई० में लुधियाने के साथ ही राजा गजपतिसिंह के पश्चात् ज़ब्त किया गया था।

नोट—सदाकुँवरि की संतान के जाट अरनोली के इलाक़े के मालिक बने।

(६) कोटरा—जवाहरसिंह का इस पर अधिकार था। १५ सितम्बर सन् १८४२ ई० में लावल्दी में जब्त हो गया।

इन प्रदेशों के अधिकारियों ने सन् १८०८-६ में अँग्रेज़ सरकार से अपनी रक्षा के लिए मित्रता की थी। इनके अलावा और भी अनेकों छोटे-छोटे राजा, रईस और सरदार थे, जिन्होंने अँग्रेजों से शरण माँगी थी। उनमें से सन् १८४५ और सन् १८४६ के बाद तक जो बच रहे, उनमें से अब भी बहुत से बाकी हैं, क्योंकि इस समय के बाद सरकार ने गोद लेने का अधिकार दे दिया था।

शासन-व्यवस्था

इन राज्यों में शासन का ढंग आज का जैसा न था। राज्य कर भी आज की भांति नक़द रुपयों में न लिया जाता था। उसके भी ढङ्ग ऐसे थे जैसे कि राजस्थान के जागीरदार और ठिकानेदारों के हैं। लगान पैदावार के हिसाब से लिया जाता था जिसे बटाई कहते थे। बटाई का काम चौधरी के सुपुर्द रहता था। सरदार या राज के हिस्से का अन्न या तो राजधानी में भेज दिया जाता था या गांव में ही रक्खा रहता था। राज को जब जरूरत पड़ती थी ले लेता था। गांव में एक पटेल होता था जो गांव के झगड़े को भी निबटाता था। अकाल के समय सरदारों की ओर से प्रजा को नाज बांट भी दिया जाता था। सरदार अपने इलाक़े के लोगों को विश्वास दिलाता था कि वह उनकी अन्य लुटेरों से रक्षा करेगा। इन सरदारों अथवा इलाक़ेदारों की कई क़िस्में थीं। वे सरदार, जेलदार, पत्तीदार, तावेदार, जागीरदार और माफ़ीदार के नाम से मशहूर थे। सरदार के अधीन एक पूरा दल रहता था; वह अपने बाहुबल से सरदारी प्राप्त करता था। जेलदार के अधीन सेना तो रहती थी किन्तु वह एक छोटे से परगने का हाकिम समझा जाता था। पत्तीदार उसे कहते थे जो अपनी बहादुरी के बदले में किसी सरदार से उस माल अथवा भूमि का हिस्सा पाता था जिसके प्राप्त करने में उसने सहयोग दिया है। इन्हें सरदार को आवश्यकता पड़ने पर सहायता देनी पड़ती थी। तावेदार को किसी सरदार के साथ रहने से पहिले प्रतिज्ञा करनी पड़ती थी कि वह किसी दूसरे सरदार के साथ उसे छोड़ कर सम्मिलित न होगा।

जाट राज्यों के सिक्के

पंजाब के बड़े-बड़े जाट राजाओं ने अपने यहाँ टकसालें स्थापित की थीं। उनके राज्य में उनके ही सिक्के चलते थे। पंजाब केसरी महाराज रणजीतसिंहजी के सिक्कों की बात तो सभी लोग जानते हैं। किताब 'सैरे पंजाब' के लेखक को कुछ सिक्के पंजाब के सिख जाटों के मिले थे। उसने लिखा है—*और जब यह सरदारान सिख इस मुल्क में फैल गए हरेक ताइफ़उल्मुल्क हो गया और दारुलजरब अपनी-अपनी रियासतों का बतौर ख़ुद जारी करके रुपया सिक्का जुदागाना जारी कर दिया। चुनांचे*

बहुत किस्म के सिक्का रुपया इस दुआवा सतलज व जमुना में हमने जारी पाये। उनकी जिस कदर तफ़सील मालूम हुई व कैद मरुजा कीमत हाल जैल हैं। इन सिक्कों के अक्षर पढ़ने में नहीं आते हैं[१] । जगाधड़ी ।॥–), संगतसिंह ।॥), जीन्द स्वरूपसिंह ।।=), कैथली ।॥–), राजशाही पटियाला ।॥≡), नाभाशाही ।॥=).

इन सिक्कों की यह क़ीमत उस समय मौजूदा सरकार ने स्थिर की थी। कैथली सिक्के के पाये जाने से हमारी समझ में यह बात भली भाँति आ जाती है कि कैथल एक अच्छा राज्य था और आज भी शेष रहा होता तो उसका भी मान जींद, नाभा अथवा फ़रीदकोट के लगभग बराबर ही होता। इसीलिए हमने उसके इस समय न होने पर भी उसका संक्षिप्त इतिहास आवश्यक ही समझा। अब आगे कलसिया राज्य का तथा अन्य ठिकानों का इतिहास दिया जाता है।

१—'किताब सैरे पंजाब' के दो भाग हैं जो उर्दू में लिखी हुई है। दूसरे भाग के लेखक मुंशी तुलसीराम सुपरिन्टेंडेण्ट बन्दोबस्त पंजाब हैं। यह किताब सन् १८७२ ई० में लिखी गई थी।

कलसिया

लाहौर जिला की कसूर तहसील में मंझा ग्राम है, कलसिया उसी में से बसा हुआ है जिसमें कि रईस अब भी कुछ भाग पर अधिकृत हैं भले ही बहुत वर्षों से वे सतलज के दक्षिण में बस गए हैं। इस वंश के प्रवर्तक सरदार गुरबख्शसिंह करोरासिंघिया मिसिल के एक प्रसिद्ध व्यक्ति तथा चलौदी के मशहूर सरदार बघेलसिंह के साथी सिन्धू जाट थे। होशियारपुर के मुसलमान गवर्नर अदीनाबेग पर धावा करके जब सन् १७६० में मांझा के सिखों ने बम्बेली को छुड़ाया था तब यह भी उस धावे में मंझा सिखों के साथ गए थे। बघेलसिंह के मरने के बाद उनका पुत्र जोधसिंह मिसिल का प्रधान बना। इसने अपनी चतुराई तथा व्यक्तिगत साहस से अम्बाला के उत्तरी भाग पर अधिकार कर लिया जोकि आज कल कलसिया रियासत में सम्मिलित है। इसके अतिरिक्त बसी, छछरौली और चिराकू के इलाक़े भी तथा और प्रदेश भी जो पीछे प्रथक हो गए इन्होंने अपने अधिकार में कर लिए थे। जोधसिंह के राज्य की सालाना आमदनी उसके यौवन-काल में पाँच लाख से भी अधिक थी। फुलकियाँ मिसिल के प्रधान के बराबर ही यह अपना रुतबा समझते थे और बहुधा नाभा, पटियाला से युद्ध भी करते रहते थे। पटियाला के राजा साहबसिंह ने इनके द्वितीय पुत्र हरीसिंह को अपनी पुत्री का पाणिग्रहण कराके इनको अपना मित्र बना लिया। सन् १८०७ में जब महाराज रणजीतसिंह ने अम्बाला के निकटस्थ नरायनगढ़ पर धावा किया था तो सरदार जोधसिंह भी महाराज के साथ युद्ध में गए। महाराज ने इनको बदाला, खेरी और शामचपल की जागीर इनको इनाम में दी थीं। सन् १८१८ के मुलतान के घेरे में जब यह फ़ौज के कमाण्डर थे उसी स्थान पर इनका देहान्त हो गया। इनका अधिकारी पुत्र शोभासिंह इनके रिश्तेदार पटियाला के राजा करमसिंह की देखरेख में कुछ वर्षों रहा था। इन्होंने पचास साल तक राज्य किया और इनका देहान्त ग़दर के बाद ही हो गया। सन् १८५७ में इन्होंने तथा इनके पुत्र लेहनासिंह ने सरकार अँग्रेज़ की अच्छी सेवा की थी। इन्होंने सौ आदमियों की टुकड़ी सहायता को भेजी थी जो अवध को भेजे गए थे। देहली से ऊपर जमुना में कुछ नावों को सुरक्षित रखने में भी इन्होंने सहायता की और दादूपुर में इसने एक पुलिस का थाना भी नियुक्त किया था और कालका, अम्बाला और फीरोजपुर की मुख्य-मुख्य सड़कों पर अँगरेजों की रक्षा करने के लिए भी इन्होंने प्रबन्ध कर दिया था। सरदार लेहनासिंह का देहान्त सन् १८६६ में हो गया। इनके बाद सरदार बिशनसिंह गद्दी पर बैठे जो नाबालिग़ थे। बिशनसिंह को झींद के महाराज की लड़की ब्याही गई थी। बिशनसिंह की मृत्यु के बाद उनके बड़े पुत्र जगजीतसिंह के मर जाने के कारण जगजीतसिंह के छोटे भाई रनजीतसिंह गद्दी पर बैठे। जगजीतसिंह सन् १८८६ में सात साल की उम्र में ही मृत्यु को प्राप्त हो गया था। रनजीतसिंह की नाबालिग़ी से समय में देहली के कमिश्नर की देख-रेख में रियासत के तीन अफसरों की कौंसिल द्वारा रियासत का प्रबन्ध होता था। यह

रियासत सन् १८६१ में वातरतीव स्थापित हुई क्योंकि भारी टैक्सों के कारण इसकी स्थिति बिगड़ गई थी और रिआया वहुत ही गरीब होगई थी। रियासत के नशीली वस्तु के महकमे का प्रवन्ध ६०००) रु० सालाना पर अँगरेज़ सरकार को ठेके में दे दिया गया। सन् १६०६ में सरदार को वालिग़ होने पर पूर्ण अधिकार प्राप्त होगए। सन् १६०८ की जुलाई में सरदार रनजीतसिंह का देहान्त होगया। इनके वाद इनके वालक पुत्र सरदार रविशेरसिंह गद्दी पर बैठे। इनकी नावालिग़ी के ज़माने में इनके पिता के समय के समान ही रियासत का प्रवन्ध देहली के कमिश्नर की देख-रेख में एक कौन्सिल द्वारा संचालित होता रहा है। सतलज के दोनों ओर के मुख्य-मुख्य सिख-घरानों में इस वंश के विवाह सम्बन्ध होते रहे हैं।

कलसिया के सरदार को शासन में फाँसी की सजाओं के अतिरिक्त पूर्ण अधिकार प्राप्त हैं। फाँसी की सज़ा के लिए देहली के कमिश्नर की मंजूरी लेनी आवश्यक होती है। सरदार जोधसिंह ने १८०६ के आम प्रवन्ध को मंजूर कर लिया था जिसके कि अनुसार सतलज के सरदार अँगरेज़ सरकार के संरक्षत्व में माने गये थे। सरदार सोभासिंह ने सन् १८२१ में सतलज के उत्तर के कुछ प्रदेश लाहौर सरकार को कुछ रक़म देने के वोझ को हटाने के लिए उसी के लिए छोड़ दिये थे। इसने दोनों ही सिख-युद्धों में पूरी सहायता दी थी और वहुत से अन्य कार्यों में भी सरकार की ओर राजभक्ति प्रदर्शित की थी। राहदारी-कर इनके समय में उठा दिया गया था और इसके एवज़ रियासत को २८५१) रु० सालाना मिलने लगा। सन् १८६२ में उसके पुत्र लेहनासिंह को तथा उसके उत्तराधिकारियों के लिए असली वारिश न होने की सूरत में गोद लेने की सनद मिल गई।

पंजाव की देशी रियासतों में कलसिया का नम्बर सोलहवाँ है और इसके रईस को वायसराय द्वारा स्वागत किये जाने का हक़ है।

सर लैपिल ग्रिफिन साहब ने कलसिया का वंश-वृक्ष निम्न प्रकार दिया है:—
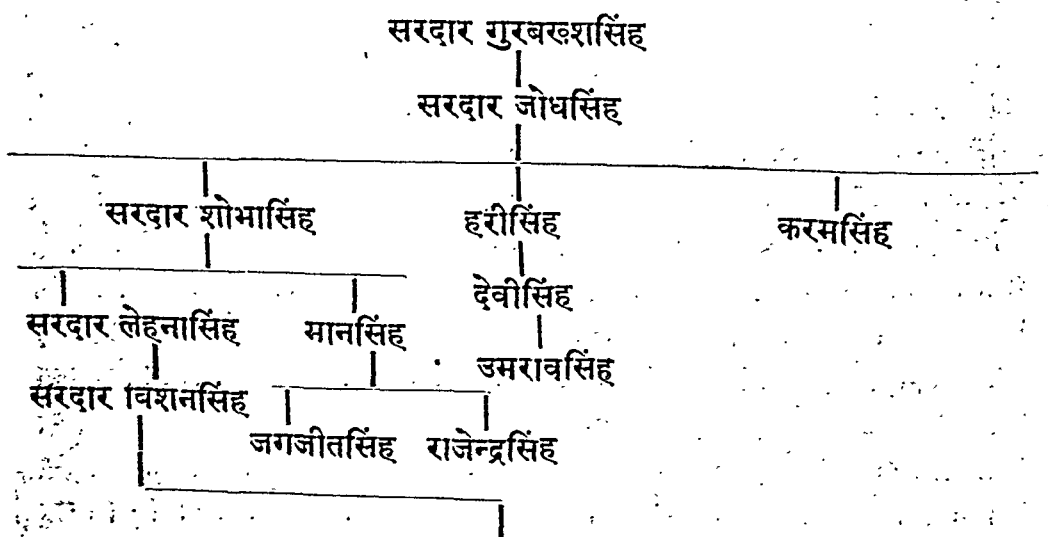
सरदार जगजीतसिंह   सरदार रनजीतसिंह
सरदार रावशेरसिंह

विशेष—इस रियासत का क्षेत्रफल १६८ वर्गमील है और जन-संख्या ६७१८१ है। इसकी उगाही १६६७२५) रु० है और १२१ फौजी जवान रहते हैं तथा २ तोपें भी हैं।

इनके अतिरिक्त पंजाब में जाटों की अनेक छोटी-छोटी रियासतें हैं जिन्हें जागीरदार अथवा ठिकानेदार कह सकते हैं। इनमें से अधिकांश ने अपना राज्य तलवार के जोर पर ही क़ायम किया था किन्तु पंजाब में अङ्गरेजी राज्य हो जाने पर तथा महाराज रणजीतसिंह के राज्य के अँगरेजी सरकार द्वारा जब्त होजाने के बाद इन रियासतों को मौजूदा रूप दे दिया गया। उनमें से कुछेक का वर्णन निम्न प्रकार है:—

भगोवाला

भगोवाला-खान्दान कहिलान जाट गोत्र में से है। इनके पूर्वज उज्जैन के शासक थे। कहिलान-खान्दान का संस्थापक इसी नाम का एक जाट सरदार था और इनकी ग्यारहवीं पीढ़ी में भगो पैदा हुए। यह पंजाब में चले आए और इन्होंने जिला गुरदासपुर में बटाला के समीप भगोवाला नामक ग्राम बसाया जिसके कि नाम पर जागीर का नाम भी भगोवाला ही पड़ गया है। सरदार मिहांसिंह के पिता रामसिंह सरदार बाघसिंह बाघ के साथी थे जिन्होंने कि इनको सन् १७६५ में भूगाथ और खालब नाम के दो गाँव दिए। भागसिंह की मृत्यु के पश्चात् उनके भाई सरदार बुधसिंह बाघ के साथ रामसिंह की सेवा करते रहे। सन् १८०६ में रणजीतसिंह ने भाग-रियासत के एक बड़े भाग पर अधिकार कर लिया और भगोवाला के अन्य स्थानों के साथ उन्होंने इसे सरदार देसासिंह मजीठिया को जागीर में दे दिया। रामसिंह सरदार देसासिंह की फौज के साथ सन् १८०६ में काँगड़ा महाराज रणजीतसिंह के पक्ष में गए। किन्तु गोरखों के साथ होने वाले प्रथम ही युद्ध में यह मारे गए। उस समय इनके पुत्र मिहांसिंह नाबालिग़ थे लेकिन देसासिंह उन्हें भूला नहीं और जब वे हथियार पकड़ने योग्य होगए तो उन्हें अपने पुत्र सरदार लेहनासिंह की संरक्षता में सैनिक-विद्या प्राप्त कराने लगे। जब यह सरदार पहाड़ी जिलों के गवर्नर बनाये गए तो मिहांसिंह के लिये मंडी, कुलू, सुकेत, काँगड़ा, बिलासपुर और नदौन के राज्य-कर में से २२००) वार्षिक देना स्वीकार किया गया। सन् १८२५ ई० में सरदार लेहनासिंह और जमादार खुशालसिंह के साथ चौकी कोटलेहड़ की चढ़ाई में गए। उस राज्य के साथ इनकी पुरानी मित्रता थी इस कारण उससे क़िले की चाबियाँ दिलाने में समर्थ हुए। क़िला बड़ा मजबूत था, तो भी बिना ख़ूंरेजी के यह क़िला इस प्रकार उनके हाथ में आ गया। जमादार खुशालसिंह ने

उस राजा की इस प्रार्थना को स्वीकार कर लिया कि उसके गुजारे के लिये कोई जागीर देदी जाय। सन् १८३२ ई० में देसासिंह की मृत्यु के पश्चात् उसके पुत्र ने मिहांसिंह को अपनी जागीर में रख लिया और वह पेशावर पर धावा करने के लिए गया तो इनको अमृतसर में थानेदार बना गया। लेहनासिंहजी ने इनको १५५०) की जागीर और बारहसौ की पेन्शन कर दी। मिहांसिंह के पुत्र गुलाबसिंह, लेहनासिंह मजीठिया के तोपखाने में तोपखाने के अफ़सर नियुक्त हुए। महाराज रणजीतसिंहजी की मृत्यु तक तो भगोवाला सरदार मजीठिया सरदारों के यहाँ केवल जीवन-निर्वाह करने वाले सरदार ही रहे, किन्तु महाराज शेरसिंह के गद्दी पर बैठते ही गुलाबसिंह फ़ौज के कर्नल हो गये। उनकी कमांड में ११ तोपें भी दी गईं। मासिक वेतन के सिवा २११६) की जागीर भी दी। राजा हीरासिंह जिन दिनों मंत्री हुआ उस समय गुलाबसिंह फ़ौज के जनरल थे। उस समय उनका वेतन ३४५८) था जिनमें से एक हज़ार रुपया नक़द मिलते थे और बाक़ी के लिये खाराबाद और लुहेका दो गाँव दिये गये जिनसे कि २४५८) वसूल होता था। जिस समय सिख साम्राज्य के मंत्री सरदार जवाहरसिंह हुए तो उनका वेतन तो इतना ही रहा किन्तु कमान में तोपों की संख्या बारह हो गई। जब सरदार लेहनासिंह मजीठिया दूसरे सिख-युद्ध से हट गये तो गुलाबसिंह ने भी हटना चाहा। किन्तु आज्ञा न मिली और वे गुगेरा के मजिस्ट्रेट बनाये गये जहाँ पर कि वे स्थायी रूप से रख दिए। कारण यह था कि मुल्तान युद्ध के समय उनकी नियुक्ति से उस नाजुक समय में सरकार को उनसे बहुत कुछ मदद मिली। सन् १८५३ ई० में गुलाबसिंहजी, सरदार लेहनासिंह मजीठिया के साथ काशी और दूसरे तीर्थों की यात्रा को गए। दूसरे ही साल उनके साथी की मृत्यु हो जाने के कारण घर को वापिस हुए। सन् १८६३ में यह सरदार लेहनासिंह के पुत्र दयालसिंह के संरक्षक नियुक्त हुए। इससे पहिले वे अमृतसर ज़िले के अन्तर्गत नौशेरा नंगल के सरदार जस्सासिंह के नाबालिग़ पुत्र रूरसिंह के संरक्षक थे। कुछ वर्षों के लिए वे सांसी के राजा सरदार शमशेरसिंह सिंधानवालिया के गोद लिये हुए पुत्र सरदार बख़्शीशसिंह के संरक्षक रहे। थोड़े समय के लिये सिखों के गुरुद्वारे अमृतसर के वे मैनेजर भी रहे थे। उनके पिता की मृत्यु के बाद सरदार मिहांसिंह ऑनरेरी मजिस्ट्रेट ने सन् १८७० में खान्दानी जागीर जिसकी कि क़ीमत तीन हज़ार रुपये थी ले ली। फिर भी सन् १८७७ ई० में सरदार गुलाबसिंहजी की सेवाओं के व राजभक्ति के कारण आधी उनके लिए दे दी गई। सन् १८८२ ई० में इनकी मृत्यु होगई। उनका उत्तराधिकारी उनका पुत्र सरदार रिछपालसिंह हुआ जो सन् १८७० में नाइब तहसीलदार नियुक्त हुआ। ये १८७५ में मुंसिफ हो गए। कुछ साल बाद ही इन्होंने यह पद परित्याग कर दिया और अपनी मृत्यु पर्यन्त भगोवाला ही में रहे। इनकी मृत्यु सन् १९०८ में हुई। इनका सरदार बदनसिंहजी से रिश्ता सम्बन्ध था जो भदाना के रहने वाले थे और प्रान्तीय दरबारी थे। उनके ज्येष्ठ पुत्र गोपालसिंह इस वंश के आजकल प्रधान हैं। ये भगोवाला के प्रधान लम्बरदार हैं और ये नवीं

के० ई० सी० लेन्सर्स में रिसालदार के पद पर नियुक्त हैं। सरदार गोपालसिंह ने अपने भतीजे के ज्येष्ठ पुत्र गुरुबख्शसिंह को गोद ले लिया है। रिछपालसिंह के द्वितीय पुत्र पृथ्वीपालसिंह के लिए डाइरेक्ट कमीशन का वचन दे दिया गया है।

रिछपालसिंह के छोटे भाई विशनसिंह नाइब तहसीलदार नियुक्त हो गए थे किन्तु उन्होंने अस्वस्थ होने के कारण पद-परित्याग कर दिया था। सन् १६०४ में उनकी मृत्यु हो गई। उनकी ३०० एकड़ जमीन की जायदाद पर उनके तीन पुत्रों का अधिकार है जिनमें से छोटे पुत्र शमशेरसिंह को पुलिस में नियुक्त किए जाने को चुन लिया गया था।

सरदार रिछपालसिंह को उनकी सेवाओं के उपलक्ष स्वरूप दस मुरब्बे जमीन जिला लायलपुर में दी गई और उन्होंने पटियाला रियासत में खेरी मनीया नामक गाँव भी खरीद लिया। इस वंश के पास जिला गुरदासपुर के पाँच गाँवों में ८५० एकड़ भूमि है और कांगड़ा के गाजीयाँ स्थान में एक छोटा चाय का बाग़ भी इनके अधिकार में है। उनके पास एक सम्मिलित मुआफ़ी जिला गुरदासपुर में भगोवान में २०० एकड़ भूमि की भी है। मुआफ़ी और जागीरों से लगभग ३६७६) रु० सालाना की आमद हो जाती है तथा रिछपालसिंह को ६२२) रु० सालाना की पेंशन भी मिलती थी। मि० ग्रिफ़िन साहब ने इस खान्दान का वंश-वृत्त निम्न प्रकार दिया है:—

- ध्यानसिंह
  - रामसिंह
    - अनोखासिंह
    - सरदार मिहांसिंह
      - सरदार गुलाबसिंह
        - कृपालसिंह
        - सरदार रिछपालसिंह
          - सर० गोपालसिंह
            - गुरुबचनसिंह
          - पृथ्वीपालसिंह
          - विक्रमाजीतसिंह
            - गुरुबचनसिंह
            - परशोत्तमसिंह
        - विशनसिंह
          - समीरसिंह
          - शमशेरसिंह
            - हरचरनसिंह
      - जैसिंह
      - हीरासिंह
    - खजानसिंह
    - काहनसिंह

रॉंगर
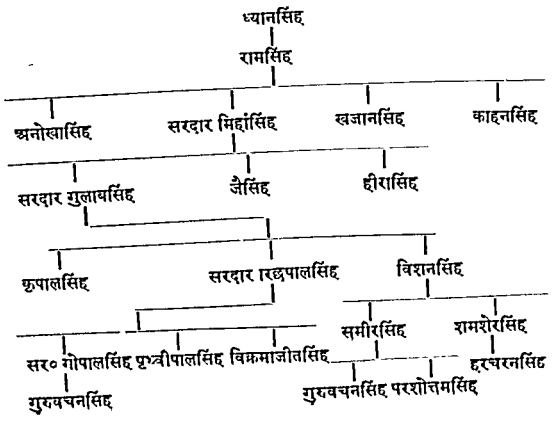
इस खान्दान का निकास बीकानेर (राजपूताना) से है और ये लोग गुरुदासपुर के उपजाऊ ज़िले में बस गये जहाँ कि इन्होंने बटाला के निकट 'राँगर नाँगल' नाम का गाँव बसा लिया। राँगर उस गोत का नाम है जिसमें से कि राजा जगत ने इस वंश की नींव डाली थी। नाँगल संस्कृत के मंगल शब्द का अपभ्रंश है जिससे कि यह प्रगट होता है कि ये लोग घूमते-घामते ऐसे अच्छे स्थान पर बस गये जहाँ कि इन्हें सन्तोष मिला।

बहुत वरसों के बाद रनदेव का बेटा नत्था सिख-धर्म में दीक्षित हो गया और कन्हैया मिसल में जैसिंह की कमान में सम्मिलित होकर राँगर नाँगल के इर्द-गिर्द के समस्त प्रदेश पर अपना अधिकार कर लिया और एक क़िला बना लिया। उनके बाद उनका बेटा करमसिंह उत्तराधिकारी हुआ और इन्होंने भी इस वंश की खूब उन्नति की। इन्होंने राँगर नाँगल के क़िले को फिर से बनवाया और मज़बूत किया और ये अमृतसर में रहने लग गये जहाँ कि इन्होंने एक कटरा बसाया जिसे कटरा करमसिंह अथवा कटरा राँगर नाँगल कहते हैं। जब रणजीतसिंह शक्ति-सम्पन्न हो गये और उन्होंने लाहौर तथा अमृतसर पर अपना अधिकार कर लिया तो करमसिंह ने उनकी आधीनता स्वीकार कर ली और सदैव को महाराज के आज्ञाकारी सेवक बने रहे। हाँ, केवल एक मौक़े पर ही इन्होंने महाराज से झगड़ा किया। यह घटना इस प्रकार से है कि करमसिंह महाराज रणजीतसिंह की फ़ौज के कप्तान थे और चूँकि उन प्राचीन समयों में सरदार के पास अधिक रुपया खर्च के लिए नहीं था अतः फ़ौजों की तनख्वाह बाक़ी रह गई। इस पर करमसिंह ने फ़ौज का पक्ष लिया और महाराज रणजीतसिंह से वेतन चुकाने के लिए कहा। महाराज ने यह ख़याल कर के कि कहीं बग़ावत न हो जाय रानी महताब कौर के ज़ेवर बेच कर फ़ौज का वेतन चुका दिया। किन्तु बाद में महाराज ने करमसिंह को इस प्रकार फ़ौज का पक्ष लेने के कारण दण्डित किया। उसके घर अमृतसर को लूट लिया और बरबाद कर दिया। किन्तु पीछे राजीनामा हो गया और करमसिंह महाराज के साथ अधिकतर युद्धों में साथ जाते रहे। पेशावर के धावा में उन्होंने बड़ी बहादुरी दिखाई जहाँ पर कि वे बहुत ही ज़ख़्मी हो गए थे और अपनी इस सेवा के उपलक्ष में जालन्धर-दोआब में इन्होंने एक नई जागीर प्राप्त कर ली। एक मौक़े पर उनके अधिकार में कई लाख रुपए की रियासत थी जो कि अधिकतर गुरुदासपुर ज़िले में ही अवस्थित थी। इनके बाद इनका पुत्र जमीअतसिंह अधिकारी हुआ जो कि अरसे से फ़ौज में था और महाराज उसे उसकी वीरता के कारण प्रिय मानते थे। इसके छोटे भाई वज़ीरसिंह को सन् १८२१ में भीमवार में एक जागीर मिली। सन् १८२० में दरबन्द-युद्ध के समय जमीअतसिंह तथा उनका भतीजा रामसिंह दोनों ही हज़ारा की लड़ाई में मारे गए और उनकी मृत्यु के बाद जागीरें आधी से भी अधिक कम कर दी गईं।

अर्जुनसिंह अभी तक एक बलवान सरदार बना हुआ था और जब तक रणजीतसिंह तथा नौनिहालसिंह जीवित रहे वह इसी प्रकार अपनी शक्ति स्थिर रख सका। फिर शेरसिंह के शासन ग्रहण करते ही उसकी जागीर पुनः कम कर दी गई और उसके लिए केवल २८०००) रु० ही शेष रह गये। जिनमें से १५०००) तो उनको व्यक्तिगत रूप से मिलते थे और १३०००) रु० तीस सवार राज्य की सेना में रखने पर ही दिए जाने की शर्त थी। अर्जुनसिंह की मा, खड्गसिंह की विधवा तथा नौनिहालसिंह की माता रानी चाँदकौर की चाची थीं और यही रिश्तेदारी महाराज शेरसिंह की रंजिश का कारण हुई। सतलज के धावे से पूर्व सन् १८४५ में राजा लालसिंह ने अर्जुनसिंह को चार रेजीमेण्टों का कमाण्डर बना दिया था जिनमें से एक रेजीमेण्ट पैदल सेना की थी और एक घुड़सवारों की थी और इस फ़ौज के साथ ही इन्होंने सोबराँव युद्ध में भाग लिया था। सन् १८४६ में इन्होंने काश्मीर-युद्ध में भाग लिया और अगस्त १८४७ में लाहौर के रेजीडेण्ट मेजर लारेन्स की सिफ़ारिस पर इन्हें इज़्ज़त का ईरानी खिताब भी मिला। सन् १८४८ में ये राजा शेरसिंह अटारी वाला के साथ मुल्तान गए और उनके साथ बग़ावत में शरीक़ हो गए। उनके कुटुम्बियों ने जब यह सुना तो वे भी उनका साथ देने आगे बढ़े और दरबार-फ़ौज की दो कम्पिनियों को हरा कर जो कि उनकी रियासत पर हमला करने भेजी गई थीं रॉगर नांगल के क़िले की रक्षा करने में सफल हुए। किन्तु १५ अक्टूबर को ब्रिगेडियर ह्वीलर ने इस पर चढ़ाई कर के जीत लिया। लड़ाई के बाद सन्धि होने पर अर्जुनसिंह की तमाम जायदाद ज़ब्त करली गई और रॉगर नॉगल की जागीर सरदार मंगलसिंह रामगढ़िया को दे दी गई क्योंकि उन्होंने हरीसिंह को जीतने में पूरी सहायता दी थी जो कि लड़ाई के समय बटाला के इर्द-गिर्द हल्ला-गुल्ला मचाता रहा था।

अर्जुनसिंह को १५००) रु० की पेंशन दी गई किन्तु यह वैयक्तिक थी अतः सन् १८५६ में इनकी मृत्यु हो जाने के बाद पेंशन बन्द कर दी गई। सरदार बलवन्तसिंह के द्वितीय भतीजे नाभा के राजा भगवानसिंह के सिफ़ारिश करने पर अँगरेज सरकार ने अर्जुनसिंह की दोनों विधवा रानियों को हर एक को १२०) रु० सालाना की पेंशन देना मंजूर किया। नाभा से भी कुछ सहायता इस वंश को मिली किन्तु अब बहुत ही संकुचित स्थिति में है।

अर्जुनसिंह ने दो बेटे अपने पाछे छोड़े थे जिनमें ज्येष्ठ पुत्र बलवन्तसिंह प्रान्तीय दरबारी और रॉगर नॉगल का जैलदार था। यह और इसका भाई सम्मिलित रूप से अमृतसर और गुरुदासपुर जिलों में लगभग १५०० एकड़ भूमि के मालिक थे। नाभा के राजा भरपूरसिंह ने इनको रोही और चूरा कलां मौज़ों के जागीरी स्वत्व दिये। किन्तु वर्तमान राजा ने इनको ले लिया और रोही की आमद केवल अतरसिंह के अधिकार में रहने दी। अतर का देहान्त सन् १६०३ में होगया और ये दो पोते छोड़ मरे जो अब भी नाबालिग़ी की सूरत में नाभा में रह रहे हैं। सरदार बलवन्त-

सिंह फरवरी १६०८ में मृत्यु को प्राप्त होगये और दो नाबालिग पुत्र छोड़ गये। अतः जागीर का प्रबन्ध कोर्ट आफ वार्डस के अधीन होता है। इस वंश को अँगरेज सरकार की ओर से कोई जागीर या भत्ता नहीं दिया गया है।

सर लेपिल ग्रिफिन साहब ने इस कुटुम्ब का वंश-वृत्त निम्न प्रकार दिया है:—

फतेहगढ़
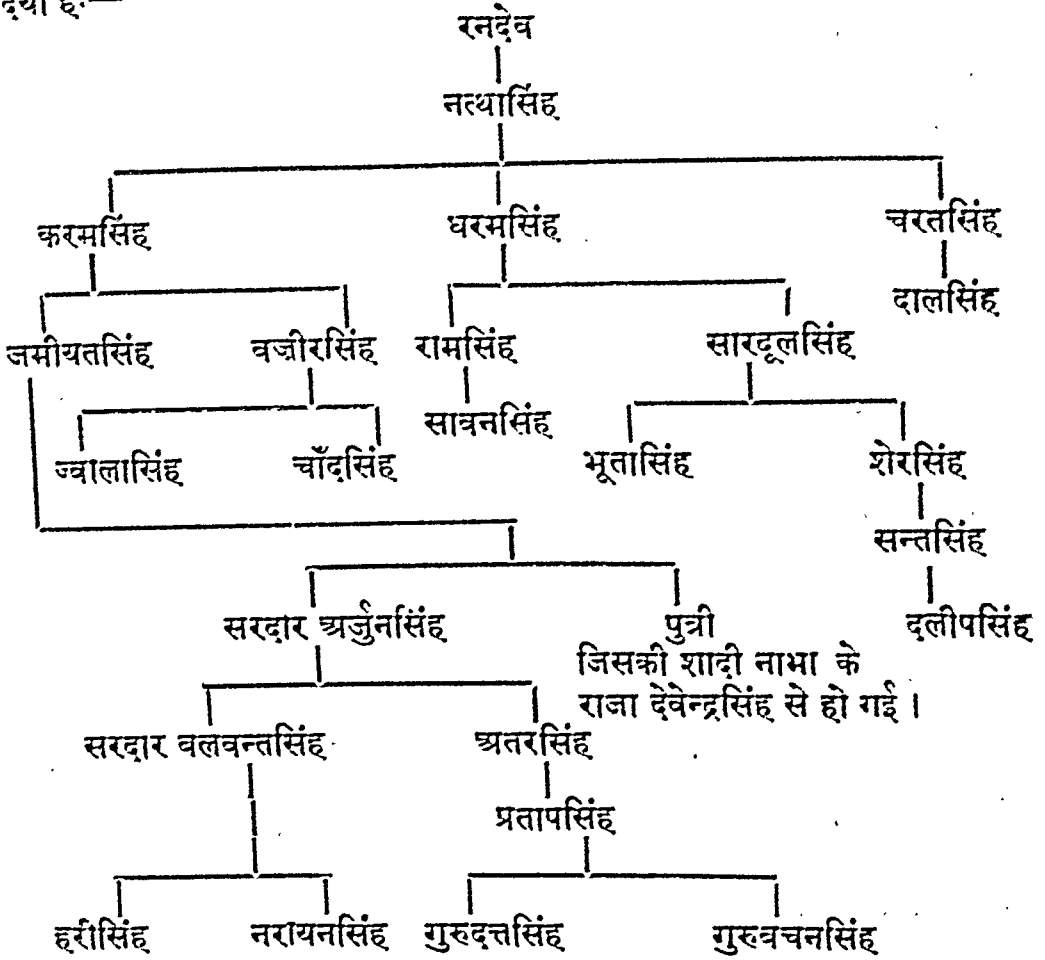
हकीक़तसिंह के पिता का नाम बघेलसिंह था जो जुल्का गाँव का सिन्धू जाट था जोकि कान से थोड़ी ही दूर पर है जहाँ कि जैसिंह कन्हैया पैदा हुए थे। जैसिंह और हकीक़तसिंह दोनों ही कपूरसिंह सिंघापुरिया के यहाँ रहते थे। कपूर की मृत्यु के बाद दोनों स्वतंत्र शासक बन बैठे। हकीक़तसिंह के अधिकार में कालानौर, बूर, दुल्वू, काहनगढ़, अदालतगढ़, पठानकोट, मतू और बहुत से गाँव आगए। इनकी कमान में संगतपुरिया सरदार तथा साहबसिंह नाविकी, दयालसिंह और सन्तसिंह दादूपुरिया, देसासिंह मोहल, चेतसिंह बनोद, साहबसिंह तारागढ़िया और बहुत से अन्य सरदार युद्ध-क्षेत्र में जाते थे। सन् १७६० में हकीक़तसिंह ने चुरीयानवाला को मिसमार कर दिया और उसके खंडहरों पर संगतपुरिया गाँव तथा फतेहगढ़ क़िले को स्थापित

किया। महताबसिंह ने जिसके अधिकार में कि अपने भाई की रियासत का बहुत सा भाग था एक मजबूत क़िला बनवाया जिसका कि नाम उसने चित्तौरगढ़ रखा।

सरदार हक़ीकतसिंह का सन् १७८२ में देहान्त हो गया और उनका इकलौता पुत्र जैमलसिंह जो कि ११ बरस का नाबालिग़ था रियासत का अधिकारी हुआ। इन्होंने न तो कन्हैया रियासत को बढ़ाया ही और न घटने ही दिया, बल्कि ज्यों का त्यों क़ायम रक्खा। सन् १८१२ में इनका भी देहान्त हो गया और रणजीतसिंह ने इस आशा पर कि फतेहगढ़ में धन राशि इकट्ठी होगी, क़िले पर अधिकार करने का विचार किया। उन्होंने विधवा से सहानुभूति प्रकट करने के बहाने रामसिंह को वहाँ भेजा। जैसे ही कि यह अफ़सर क़िले में घुसा कि इसने महाराज के नाम पर क़िले पर अधिकार कर लिया। तीन महीने के बाद जैमलसिंह की विधवा के एक लड़का पैदा हुआ जिसका नाम चाँदसिंह रक्खा गया। इस बच्चे के नाम पर महाराज ने १५०००) रु० की कीमत का हिस्सा उस रियासत में से छोड़ दिया। जैमलसिंह ने अपनी मृत्यु के कुछ ही महीने पहिले अपनी इकलौती पुत्री चाँदकौर का जिसकी कि उम्र केवल १० वर्ष की थी पाणिग्रहण-संस्कार महाराज रणजीतसिंह के पुत्र खड़गसिंह के साथ जो कि पंजाब राज्य का भावी शासक था, कर दिया। यह विवाह-संस्कार सन् १८१२ की छठी फरवरी को फ़तेहगढ़ में बड़ी ही शान-शौकत और धूम-धाम के साथ सम्पन्न हुआ था। इसमें कैथल, झींद, नाभा के सरदारों के अलावा गवर्नर जनरल का एजेण्ट अक्टरलोनी भी सम्मिलित हुआ था। सन् १८२१ की फ़रवरी में चाँदकौर के गर्भ से नौनिहालसिंह उत्पन्न हुए। महाराजाधिराज रणजीतसिंह की मृत्यु जून सन् १८३९ में हो गई और उनके बाद खड़गसिंह गद्दी पर बैठे। खड़गसिंह कड़े मिजाज के और कम समझ के आदमी थे। अपनी धार्मिक क्रियाओं के सम्पन्न करते हुए और भूत-प्रेत में विश्वास रखते हुए भी वे बहुत सी अयोग्य देवी-देवताओं की पूजा करते थे। उस समय के माने हुए किसी भी व्यक्ति के हाथों में वे कठपुतली की भाँति थे। राजा ध्यानसिंह के कारण ही वे शान्ति के साथ गद्दी पर बैठ सकते थे, क्योंकि उसने लोगों के सामने यह कहा था कि महाराज रणजीतसिंहजी मरते समय यह कह गये हैं कि—"राजगद्दी का अधिकारी खड़गसिंह होगा और ध्यानसिंह उनके मन्त्री होंगे।" रणजीतसिंह के जीवन के अन्तिम बरसों में ध्यानसिंह की काफ़ी इज्ज़त हो चुकी थी और यह विश्वास किया जाता था कि अब इसकी शक्ति क्षीण न होगी। अतः इसके लिए यह आवश्यक था कि गद्दी पर ऐसा राजकुँवर बैठे जो उसकी राय पर चल कर शासन करे और खुद शासन करने की कोई चेष्टा न करे। ध्यानसिंह का लक्ष्य इससे भी अधिक आकांक्षा का था। उसका ज्येष्ठ पुत्र महाराज रणजीतसिंह का बड़ा प्यारा था जिसका नाम हीरासिंह था। महाराज के सामने जब कि अन्य सभी दरबारी, दो या तीन अत्यन्त पवित्र 'भाईयों' को छोड़कर, खड़े रहने को बाध्य थे वहाँ पर भी हीरासिंह के बैठने को कुर्सी मिलती थी। बिना उसके महाराज न तो सोने को जाते थे और न टहलने को ही। इस प्रकार हीरासिंह

महाराज के राजकुमारों ही की भाँति पाला-पोपा गया था और ख़ालसा-सैन्य उसको मानती भी ऐसा ही थी। अतः क्या यह साहसिक लक्ष था कि किसी दिन वह पंजाब का राजा हो जायगा और उसका बाप उसका प्रधान मंत्री होगा जोकि राज्य में वास्तविक शक्ति रखेगा, और उसका एक चचा, बहादुर राजा सुचेतसिंह फ़ौज का कमाण्डर-इन-चीफ़ होगा तथा दूसरा गुलाबसिंह सारे पहाड़ी प्रदेश पर शासन करेगा ? तब काबुल के अमीर और नैपाल राज्य से गाढ़ी मित्रता स्थापित करके जम्मू का डोगरा ख़ान्दान भारत में सब से अधिक शक्ति-शाली हो सके और अपना वंश स्थापित कर सके। किन्तु जसा कि ध्यानसिंह समझे हुए थे खड़गसिंह उसकी आज्ञा में चलने वाले न निकले। वे ध्यानसिंह से नफ़रत करते थे और उन्होंने सरदार चेतसिंह बजवा को अपना विश्वासपात्र बना लिया। चेतसिंह यह भली-भाँति जानता था कि जब तक ध्यानसिंह जीवित है तब तक उसकी पोजीशन सुरक्षित नहीं है। अतः उसने फ्रान्स-जनरलों के साथ षड्यंत्र की बात-चीत की जोकि ध्यानसिंह के जीवन के कट्टर विरोधी थे। किन्तु ध्यानसिंह अपनी ही चाल में हार खा जाने वाला व्यक्ति नहीं था। उसने रानी चाँदकौर और नौनिहालसिंह को चेतसिंह के पृथक् किए जाने की आवश्यकता का विश्वास करा दिया। क्योंकि उसने कहा कि—यदि चेतसिंह का षड्यंत्र सफल हो गया तो राज्य की सारी शक्ति चेतसिंह और फरासीसियों के हाथ में चली जायगी। अतः उसी रात को चेतसिंह के क़त्ल किये जाने का पक्का विचार कर लिया गया। राजा ध्यानसिंह ने महल-रक्षकों को अपनी ओर कर लिया और तड़का होने के एक घन्टे पहिले कुँवर नौनिहालसिंह, गुलाबसिंह, सुचेतसिंह, अतरसिंह सिन्धानवालिया, फतेहसिंह मान तथा कुछ अन्य सरदारों के साथ भाजा दयालवाला गेट में होकर क़िले में घुस कर महाराज के ही महलों में चेतसिंह को क़त्ल कर डाला। यह घटना ९ अक्टूबर सन् १८३९ की है। इस क़त्ल के बाद से ही महाराज खड़गसिंह का शासन सच्चे रूप में समाप्त ही हो गया। क्योंकि उनके पुत्र और मंत्री (ध्यानसिंह) की अनुमति पर ही आज्ञाएँ मंजूर होने लगी थीं और यदि वे किसी आज्ञा की अनुमति दे देते थे तब तो वह कार्य रूप में परिणत होती थी और यदि वे अनुमति नहीं देते थे तो वह ख़ारिज कर दी जाती थी। वे तो केवल दिखाने मात्र को महाराज थे। महाराज खड़गसिंह बड़ी शान-शौकत के साथ ज़वाहिरातों से लदे हुए और प्रसिद्ध 'कोहनूर' हीरे को धारण किए हुए मई सन् १८४० में गवर्नर जनरल के एजेण्ट मि० क्लार्क से मिले भी थे। किन्तु वे पूर्णतया शक्तिहीन हो गए थे और अपने जीवन के अन्तिम चार महीनों में तो उनसे रियासत के किसी भी मामले में सलाह नहीं ली जाती थी और क़िले में सिवा नाम के क़ैदी जैसे ही रूप में रहते थे।

अब राजा ध्यानसिंह को अपनी शक्ति को क़ायम रखने में एक नया ख़तरा दिखाई दिया। वह ख़तरा था नौनिहालसिंह के कारण। क्योंकि ये बड़े ही साहसी

और उदारात्मा के व्यक्ति थे। चाहे सरदार इनसे खिलाफ ही थे परन्तु फौज इनको ही चाहती थी क्योंकि फौज आशा करती थी कि ये अपने बाबा के समान ही विजय-गौरव हस्तगत करेंगे। कुँवर नौनिहाल की भी यही आकांक्षा थी। राजा ध्यानसिंह का उनके ऊपर से प्रभाव दिन-दिन क्षीण होता गया और राजा को यह भय होने लगा कि जब ये गद्दी पर बैठेंगे ता कहीं दूसरा मन्त्री न चुन लें जिसका कि हटाना चेतसिंह से भी अधिक कठिन हो जाय। ३८ वर्षकी उम्र में ता० ४ नौम्बर को महाराज खड़गसिंह का देहान्त हो गया। कहा जाता है कि इनकी मृत्यु ध्यानसिंह के हुक्म से दिए गए जहर के कारण हो गई थी जिसका कि पता उसके पुत्र को भी था। मरते समय महाराज नौनिहालसिंह के पास खबर पर खबर भेजीं किन्तु नौनिहालसिंह उनके पास नहीं गये। क्योंकि ये यह चाहते थे कि पिता की मृत्यु के बाद वह स्वतंत्र रूप से रियासत के मालिक हो जायँगे। जब महाराज की मृत्यु के समाचार शाह बालावाल में शिकार खेलते हुए इनके पास पहुँचे तो ये महाराज के मरने की खुशी को छिपा भी न सके। दूसरे दिन ता० ५ नौम्बर को क़िले के रोशनीगेट के पीछे के मदान में महाराज के शव का दाह-संस्कार किया गया। इनके साथ ही इनकी सुन्दर रानी जो सरदार मंगलसिंह सिन्धू की बहिन थीं तीन बाँदियों के साथ सती हो गईं। ल्हास पूरी तरह से भस्म भी न होने पाई थी कि धूप की तेजी के कारण व्याकुल होकर नौनिहालसिंह रावी नदी की शाखा में स्नानादि से निवृत्त होकर पैदल ही महलों की ओर चल दिए। उनके साथ में सारे दरबारी थे और वे अपने अभिन्न हृदय मित्र ऊधमसिंह के हाथ में हाथ दिये हुए थे जो कि राजा गुलाबसिंह का सब से बड़ा बेटा था। जैसे ही क़िले के फाटक पर पहुँचे इन्होंने पीने को पानी माँगा। उस वक्त कोई नौकर न था और पवित्र गंगाजल की सभी बोतलें खाली थीं जो कि शव पर छिड़कने को मँगाई गई थीं। भूत प्रेतों में विश्वास करने वाले सरदार ने धीरे से उनके कान में कहा कि यह बुरा लक्षण है। किन्तु राजकुमार हँस दिये और आगे को चले। जैसे ही कि वे दरवाजे के नीचे पहुँचे कि ईंट-चूना बड़े जोर से गिर पड़ा। यह सारा कार्य लहमे में हो गया। मियां ऊधमसिंह की गर्दन टूट गई और वह मर गये और कुँवर नौनिहालसिंह का बांया हाथ टूट गया और उनकी हँसली भी टूट गई; वह भारी सांस लेने लगे। लेकिन न वह बोल सकते थे और न हिल सकते थे। राजा ध्यानसिंह ने जो उस मौक़े पर ठीक उनके पीछे मौजूद थे जिनके कि कुछ चोट भी आई थी एक पालकी मँगाई और राजकुमार को उसमें लिटाकर संगमर्मर के बाग़ वाले भवन में ले गये जहाँ कि रणजीतसिंह सवेरे का दर्बार किया करते थे और हजारीबाग़ के फाटक बंद कर दिये गये और ताले डाल दिये गये। सिवाय फ़क़ीर अजीजुदीन और नूरुदीन और भाई रामसिंह और गोविन्दराम के किसी को भी अन्दर नहीं आने दिया गया और १ घंटे के अन्दर ही राजकुमार की मृत्यु हो गई।

तो भी राजा ध्यानसिंह को कोई हानि न थी। उसने कुँवर शेरसिंह को बुलाने के लिए जो कि लाहौर से ८० मील की दूरी पर कन्हूवान नामक स्थान में

शिकार खेल रहे थे दूत भेज दिया और रास्ते में जगह-जगह पर तेज़ घोड़े खड़े कराये थे ताकि वह बहुत ही शीघ्र आ सकें। उसने मुल्तान, पेशावर, मंडी और दूसरी जगहों पर यह खबर भेज दी कि कुँवर साहब को बहुत ही थोड़ी चोट आई है और उसने गवर्नर जनरल के एजेण्ट के लिए कुँवर शेरसिंह के नाम से चिट्ठी लिख दी कि मुझे बहुत ज्यादा चोट आई है किन्तु आशा है कि ठीक हो जाऊँगा और तारीख ६ को राजा ने यह खबर फैलाने को एक सरदार अमृतसर भेजा कि कुँवर साहब बहुत कुछ अच्छे हो गये हैं। कुछ वक्त तक तो शव तम्बू में ही रखा रहा किन्तु रात के समय क़िले में पहुँचा दिया गया और अन्दर के एक कमरे में रख दिया गया। ध्यानसिंह ने लाहौर और गोविन्दगढ़ के क़िले लेने के लिए तमाम तैयारियाँ करलीं और ता० ७ को कुँवर शेरसिंह आ पहुँचे। अतः छिपाव की कोई आवश्यकता न थी इसलिए नौनिहालसिंह की मृत्यु का ऐलान कर दिया गया।

नौनिहालसिंह ने अपनी मृत्यु के पीछे दो हक़दार गद्दी के छोड़े इनमें से पहिला महाराज रणजीतसिंह का प्रसिद्ध पुत्र कुँवर शेरसिंह था। महाराज ने भी हमेशा शेरसिंह का समर्थन किया था और एक बहुत बड़ा दल उसका अनुमोदन करने को तैयार था। इस समय उनकी अवस्था ३२ साल की थी। यह खूबसूरत और शारीरिक-गठन के अच्छे थे और रणक्षेत्र में एक बहादुर और फ़ौज में प्रसिद्ध व्यक्ति थे। किन्तु आचरण के अच्छे न थे और सिख जैसी क़ौम पर शासन करने की योग्यता न रखते थे।

इस गद्दी के लिए दूसरा हक़दार महाराज खड्गसिंह की विधवा रानी माई चाँदकौर थीं। जिस समय उनके पुत्र की मौत हुई उस समय वे फ़तहगढ़ में अपने मायके में थीं। वह ता० ६ नवम्बर को लाहौर लौटीं और यहाँ उन्होंने देखा कि राजा ध्यानसिंह ने उनके खिलाफ़ कुँवर शेरसिंह के राजतिलक होने के लिए कुछ सरदारों को राज़ी कर लिया है। जब चाँदकौर ने इस प्रकार स्थिति को अपने खिलाफ़ पाया तो उन्होंने राज़ी-नामा का उद्योग किया। उन्होंने और उनके मन्त्री भाई रामसिंह ने जो पहिली तदबीर सोची वह यह थी कि वे (रानी चाँदकौर) ध्यानसिंह के पुत्र राजा हीरासिंह को गोद लें और उसे गद्दी पर बिठावें। दूसरी पार्टी ने इस बात का खण्डन किया और यह तदबीर पेश की कि रानी-साहिबा शेरसिंह से शादी करलें। किन्तु इन्होंने इस बात से साफ़ इनकार कर दिया और यह प्रस्ताव रखा कि उन्हें सरदार अतरसिंह सिन्धानवालिया को अपना वारिश बना लेने दिया जाय। किन्तु इस प्रस्ताव का पहिले प्रस्तावों से भी अधिक विरोध किया गया और तब रानी ने कहा कि उनके पुत्र नौनिहालसिंह की विधवा रानी साहिब कौर गिलवाली तीन महीने के हमल से हैं। इस ऐलान से स्थिति बिलकुल बदल गई। अब राज्य बनने का सवाल नहीं रहा किन्तु एक रेजीडेण्ट बनने का सवाल होगया और यह विवाद ग्रस्थ प्रश्न होगया कि आया रानी या कुँवरसाहब इस काम में सफल होंगे।

रानी चाँदकौर के पक्ष में भाई रामसिंह और गोविन्दसिंह, सरदार अतरसिंह, लहनासिंह और अजीतसिंह सिन्धानवालिया, फतहसिंह मान, जनरल गुलावसिंह पोविन्दिया, शेख गुलाम मुहीउद्दीन, जमादार खुशहालसिंह और जनरल तेजसिंह थे। कुँवर साहब के पक्ष में सरदार फतहसिंह अहलूवालिया, धनसिंह मालवाई, श्यामसिंह अटारी वाला, जम्बू के तीन राजा, ध्यानसिंह, गुलाबसिंह, सुचेतसिंह, भाई गुरमुखसिंह, फ़क़ीर अजीजुद्दीन और फ्रैंच जनरल वेन्तूरा आदि थे। दीनानाथ और सरदार लहनासिंह मौन थे। उपरोक्त सरदारों और उनके साथियों की पौलिसी स्थिर न थी। जम्बू के राजा चाहे उनकी पौलिसी और लक्ष्य एक ही था, किन्तु कभी एक का समर्थन करते थे कभी दूसरे का और खुशहालसिंह और तेजसिंह उसी पार्टी का समर्थन करने को तैयार हो जाते कि जिसमें उन्हें अपने लिए अधिक फ़ायदा पहुँचने की आशा होती। कुछ सरदारों को दोनों ही से सहानुभूति थी। माई चाँदकौर इतनी प्रसिद्ध न थीं जितना कि उनका प्रधान सलाहकार भाई रामसिंह था, जिसने कि नौनिहालसिंह के समय में बहुत से सरदारों की जागीरों को कम कर दिया था। जो लोग उनका समर्थन करते थे उन्हें यह आशा थी कि जनानी और कमजोर हुकूमत के समय में वे अपने स्वतन्त्र अधिकारों को स्थापित रख सकेंगे जो कि उन्होंने रणजीतसिंह के जीवन के समय में स्थिर रक्खे थे। सिंधान-वालिया सर्दार जो कि इनके सब से अधिक पक्षपाती थे नवम्बर के आदि में लाहौर में उपस्थित न थे। अजीतसिंह जो कि उनका प्रेमी कहा जाता था, कुलू और मण्डी के धावे में लगा हुआ था और अतरसिंह हरिद्वार में था। अतरसिंह जल्दी ही अपने भतीजे के साथ १२ नवम्बर के लगभग लाहौर आ गया। ठीक उसी समय रानी ने एक दूसरी योजना दोनों पारटियों के मिलाने की की थी। वह योजना यह थी कि वे शेरसिंह के ज्येष्ठ पुत्र परतापसिंह को गोद ले लेंगीं, और इस प्रकार अपनी हुकूमत में कुँवर साहब का हाथ रहने देंगीं। किन्तु दूसरी योजना के अनुसार यह योजना भी असफल रही और लाहौर में यह भावना जोर पकड़ गई कि कुँवर और रानी साहिबा की संयुक्त रीजेंसी ही विधवा रानी के बालक होने के समय तक एकता स्थापित रखने का केवल मार्ग है। रीजेंटों के कार्यों की देख-भाल जातिय सरदारों की कौंसिल करती रहे।

कुछ रूप में इस प्रबन्ध का संशोधन कर दिया था और ता० २० को यह निश्चय हो गया कि माई चाँदकौर रियासत की प्रधान बनाई जावें और शेरसिंह को सरदारों की कौंसिल का प्रेसीडेंट बनाया जावे और फौज पर भी इनका कमाँड हो तथा ध्यानसिंह मंत्री बनाये जावें। इस योजना के लिए हर एक आशा करता था कि यह टूट जावेगी लेकिन ध्यानसिंह ने इस हुकूमत की योजना को क़ायम रखने के लिए कुछ समय माँगा और पूरी शक्ति लगा दी। किसी तरह एक हफ्ता व्यतीत हो गया। अन्त में कार्य रूप में परिणित होने के लिए यह योजना असम्भव प्रतीत होने लगी और प्रतिदिन झगड़ा हो जाने का भय मालूम होने लगा। दोनों पारटियों

ने क़िले पर क़ब्ज़ा कर लिया—रानी साहिबा ने तो भीतर के महलों पर और कुँवर साहब ने हज़ारीबाग और बाहर के भाग पर क़ब्ज़ा कर लिया। कुँवर साहब कभी-कभी रियासत में क़िले से बाहर चले जाया करते थे और चाँदकौर ने कई बार उनके बाहर चले जाने पर क़िले के फाटक बन्द करने का विचार किया। कार्य करने की प्रणाली भी बातरतीब न थी। सवेरे का दरबार शेरसिंह की उपस्थिति में हज़ारी-बाग में होता था। इसके बाद मंत्री लोग शीशमहल में कॉनफ्रेन्स करते थे और अंत में समनबुर्ज में जाकर रानी साहिबा की उपस्थिति में जाते थे।

राजा ध्यानसिंह जब चाँदकौर की तरफ़ आ गये और राजा गुलाबसिंह इस बात को कहते थे जिनके कि लिये रानी साहिबा ने मानाबार लौटा देने के लिये पक्का वायदा कर लिया था लेकिन मंत्री ने दोनों पार्टियों को यह दिखलाने का विचार कर लिया था कि बिना उनकी सहायता के उनका स्थिर रहना हो ही नहीं सकता है। अन्त में निर्णय तारीख १७ को हो गया जिसके अनुसार शेरसिंह को ८ महीने के लिये अपने बेटे परतापसिंह को कौंसिल का मेम्बर छोड़ कर अपनी जागीर बटाला को वापिस जाना पड़ा। रानी चाँदकौर साहबकौर के बच्चा होने तक रीजेण्ट बना दी गई, जब कि दूसरे प्रबन्ध के किये जाने की योजना थी। इस योजना के इक़रारनामे पर राजा ध्यानसिंह और गुलाबसिंह, सरदार लहनासिंह मजीठिया, अतरसिंह सिन्धावालिया, फतेहसिंह मान, मंगलसिंह सिन्धू, तेजसिंह, श्यामसिंह अटारी वाला, धनासिंह मारवई, जमादार खुशहालसिंह, भाई रामसिंह गुरुमुखसिंह, फ़क़ीर अजीज़उद्दीन, दीवान दीनानाथ और शेख़ गुलाममुहीउद्दीन ने दस्तख़त कर दिये। राजा ध्यानसिंह के उद्योग से दोनों पार्टियाँ इस कार्य में पूर्ण रूप से उपस्थित थीं और कुँवर शेरसिंह विरोध करना फ़िज़ूल समझ कर तथा राजा ध्यानसिंह की पालिसी को न समझ कर बटाला को चले गये जहाँ पर कि अपने सुयोग के लिये इन्तज़ार करते रहे।

रानी साहिबा के मंत्रियों को भी थोड़े ही समय में अपनी कमज़ोरी मालूम होगई। राजा ध्यानसिंह मुश्किल से कभी-कभी दरबार में आते थे और अपना समय शिकार खेलने में गुज़ारते थे। इधर दिन पर दिन अशान्ति बढ़ती जाती थी। सड़कें खतरनाक़ हो गईं, जुर्म बहुत बढ़ गये और सीमा प्रान्त के ज़िले बग़ावत करने की तैयारी करने लगे थे। अब ध्यानसिंह को सूझ पड़ा कि बिना उसके शासन व्यवस्था नहीं चल सकती, लेकिन वह रानी साहिबा के मंत्रियों को भी यही सुझाना चाहता था। अतः वह दूसरी जनवरी १८४१ को जम्बू को रवाना हो गया। अब राज्य में शीघ्र ही बरबादी आने लगी। क्योंकि फ़ौज ने बग़ावत शुरू कर दी, जनरल आज्ञाओं की अवहेलना करने लगे। अतः राजा ध्यानसिंह के जम्बू चले जाने के एक हफ्ते ही बाद रानी चाँदकौर और भाई रामसिंह ने मिश्र लालसिंह, फ़तहसिंह मान और अन्य लोगों के हाथों शीघ्रता से यह खबर भेजी कि वह बिना देरी किये ही फ़ौरन जम्बू से वापिस आ जावे। ता० १३ जनवरी को अजीतसिंह सिन्धान-

वालिया ध्यानसिंह के आने के पहिले ही अपने गाँव यानी राजा साँसी गाँव को जाने का वहाना करके लाहौर को चल दिया। लेकिन बजाय इसके वह गवनर जनरल के एजेण्ट से मुलाक़ात करने के लिये रानी चाँदकौर की खबर लेकर लुधियाना चला गया। किन्तु मुलाकात करने में असफल रहा।

तारीख १४ को शेरसिंह ने लाहौर शहर से ६ मील की दूरी पर शालामार स्थान पर आकर यकायक ही लाहौर को अपने क़ब्जे में ले लिया। कुँवर साहब के कमान में फ़ौज थी जो कि पूरी तरह से उनके पक्ष में थी। फ्रेंच जनरलों ने भी उन्हें सहायता देने का वायदा कर लिया था और उन्होंने (शेरसिंह ने) राजा ध्यानसिंह की अनुपस्थिति में अपने भाग्य की परीक्षा करने की तय्यारी कर दी। उनके शालामार आने पर जनरल गुलाबसिंह की बटालियन का एक अफ़सर उनकी सेवा में आया और इनसे फ़ौज में चलने के लिये प्रार्थना करने लगा। कुँवर साहब ने निमंत्रण को स्वीकार कर लिया और वेगमपुर छावनी को कूच कर दिया जहाँ पर कि उन्होंने गुलाबसिंह पोविन्दिया के साथ अपने डेरे डाल दिये और इन्हें प्रधान माना गया।

क़िले की फ़ौज चुप चाप न थी। क़िले में रानी साहिबा के साथ गुलाब-सिंह, राजा हीरासिंह, सरदार अतरसिंह सिन्धानवालिया, मंगलसिंह सिन्धू और गुलाम मुहीउद्दीन थे। शीघ्र ही फ़ौज बुलाई गई, अमीरसिंह मान की तीन टुकड़ियाँ और लेहनासिंह की घुड़सवार फ़ौज आ गई। शहर के तमाम फाटकों के ऊपर तोपें रख दी गईं। राजा सुचेतसिंह की फ़ौजें और चरपारी-घुड़सवार फ़ौज शाहदरा से कूच कर के क़िले के सामने खड़ी हो गई और एक ऊँट-सवार पूरी रफ़्तार के साथ राजा ध्यानसिंह के पास भेजा गया।

तारीख १५ के दरम्यान फ़ौज का एक बड़ा हिस्सा कुँवर साहब के पास जमा हो गया और तारीख १६ को उनके पास २६००० पैदल और ८००० घुड़सवार फ़ौज तथा ४५ तोपें हो गई थीं। इसके बाद उन्होंने बड़ी शान के साथ जनरल वेन्तूरा, कोर्ट और बहुत से सिख सरदारों के साथ लाहौर को कूच किया और बिना किसी रुकावट के टकसाली फाटक से लाहौर शहर में प्रवेश किया। बादशाही मसजिद के पास करनल धोंकलसिंह ने वहाँ की मेगजीन को उन्हें दे दिया और थोड़े समय में ही सारे शहर पर उनका क़ब्ज़ा हो गया। फिर उन्होंने क़िले को आधीनता स्वीकार किये जाने के लिये खबर भेजी किन्तु गुलाबसिंह ने क़िले की रक्षा करने का पक्का विचार कर लिया। उसकी फ़ौज में इस समय ३००० आदमी थे जिनमें अधिकतर राजा के पहाड़ी सैनिक थे जिनके कि ऊपर रानी चाँदकौर का बहुत सा रुपया खर्च किया गया था। गुलाबसिंह ने हरएक स्थान पर घूमकर जाँच की और सैनिकों को इनाम दिए जाने के वायदे करके प्रोत्साहित किया। तोपों की गोलाबारी के साथ धावा किया गया और हज़ारी बाग़ पर क़िले से गोला बारी की जाने लगी। डोगरा सिपाही बड़े ही निशाने बाज थे और शेरसिंह के इतने

अधिक आदमी मारे गये कि वह १७ तारीख़ के सवेरे हज़ारी बाग़ से हटकर बादशाही मसजिद के पास पहुँच गये।

राजा गुलाबसिंह से अधीनता स्वीकार करने के लिए फिर कहा गया। उन्होंने अपने भाई के आ पहुँचने तक सुलह करने को कहा, लेकिन यह मंजूर नहीं किया गया। इस पर उन्होंने सौगन्ध खाई कि क्षात्र-धर्म की हैसियत से वह अन्त तक क़िले की रक्षा करते रहेंगे। फिर गोला वारी शुरू हुई और तमाम दिन होती रही। शाम को राजा ध्यानसिंह और सचेतसिंह जम्बू से आगये और शहर के बाहर डेरे डाल दिए। सुचेतसिंह, शेरसिंह के पास गये और उनसे कहा कि ध्यानसिंह दूसरे दिन आवेंगे। ता० १८ के सुवह को राजा ध्यानसिंह और कुँवरसाहब मिले। राजा ध्यानसिंह ने शेरसिंह के चपल स्वभाव पर खेद प्रकट किया और शीघ्र ही सन्धि करने के लिए राय दी। राजा गुलाबसिंह ने यह राय प्रसन्नता पूर्वक स्वीकार की और उनके भाई ने उनके मुआफ़िक़ ही शरतें मंजूर कीं। फौजें मय हथियारों के वापिस करदी गईं। रानी चाँदकौर रीजैन्सी से अलग होगई और जम्बू के पास कावियाली में एक बड़ी जागीर उनके लिए मंजूर की गई। इन शर्तों के बन जाने पर राजा गुलाबसिंह ने ता० १६ को क़िले से बाहर कूच कर दिया और सामने मैदान में डेरे डाल दिये। सरदार अतरसिंह सिन्धानवालिया भी क़िले से बाहर चले गये और शाह बिलावन में तम्बू डाल दिये। दूसरे दिन सवेरे कुँवरसाहब बड़े जलूस के साथ घुड़ सवार फौज़ का निरीक्षण करने गये और उनकी सेवाओं के लिए उन्हें धन्यवाद दिया और फिर क़िले को चल पड़े जहाँ कि वह गद्दी पर बैठे और तमाम फौज़ ने उन्हें सलामी दी। रानी चाँदकौर उस समय समन बुर्ज में थीं और उनके पास पुजारी विक्रमसिंह थे।

लाहौर शहर में अब अशान्ति खड़ी हो गई। सैनिकों ने दुश्मन और दोस्तों के घरों को एक ही तरह से लूटा। जमादार खुशहालसिंह की भी उन्होंने दुर्दशा कर दी और उनके अलावा राजा गुलाबसिंह, जनरल कोर्ट, सरदार मुहम्मद सुल्तानखां और लेहनासिंह मजीठिया पर भी धावा किया गया। लेहनासिंह मजीठिया की कैम्प लूट ली और सेना ने गुलाबसिंह पर भी धावा करना चाहा, लेकिन उन्होंने फ़ौज जमा कर ली और एक बड़ा खजाना लेकर जम्बू को प्रस्थान कर दिया। जमादार खुशहालसिंह भी उनके साथ गये। जनरल कोर्ट के डेरे पर उन्हीं के बटालियों की तीन रेजीमेण्टों ने हमला किया, लेकिन यह जनरल वेन्तूरा के पास रक्षा के लिये भाग गया जिसे कि अपनी और अपने मित्र की रक्षा के लिये घुड़सवार सैना से काम लेना पड़ा। फ़ौज ने मुंशी, लिखने वालों को चारों तरफ़ घूम कर मार डाला। कोई भी ऐसा मनुष्य जीवित न छोड़ा गया जिसने कि यह मंजूर कर लिया कि वह लिख सकता है या उनकी उँगलियों से यह मालूम हो गया कि वह लिख सकते हैं। उन भयानक दिनों में हर एक आदमी ने अपनी रंजिश का बदला लिया। अफ़सरों को उन्हीं के आदमियों ने मारा। दूकानदारों को उन्हीं के

क़र्ज़दारों ने क़त्ल किया। शहर में बड़ा ही भयंकर काण्ड हुआ। बहुत दिनों के बाद फ़ौज क़ाबू में आ सकी और जिन अधिकारों का उन्होंने उस समय उपयोग किया उन्हें वे कभी न भूले। उस समय से वे ज्यादा से ज्यादा विप्लवकारी होते गए, यहाँ तक कि कोई भी राजा या मन्त्री उन्हें न रोक सका।

ता० २७ तक शेरसिंह रियासत के महाराज न बन पाए। राज-तिलक उनके मस्तक पर बाबा विक्रमसिंह ने किया जिन्होंने कि कुँवर परतापसिंह को युवराज पद और राजा ध्यानासिंह को मंत्री पद दिया। तमाम सरदार और रईस मौजूद थे और उन्होंने नए महाराज के प्रति भक्ति प्रदर्शित की।

राजा ध्यानसिंह और राजा गुलाबसिंह इन मौक़ों के समय पृथक-पृथक मत प्रकट करते दिखलाई दिये किन्तु यह हर प्रकार से प्रमाणित है कि वे हमेशा मित्र भाव से रहे। एक भाई ने शेरसिंह का पक्ष लिया और दूसरे ने रानी का; कारण कि इनमें से किसी एक को भी सफलता मिलने पर उनकी अपनी शक्ति और धन की रक्षा हो सके। राजा ध्यानसिंह का स्वभाव ऐसा था कि उसके परम-भक्त भी कभी कभी इस शंसय में पड़ जाते थे कि वास्तव में वह किस पार्टी का समर्थक है। भले ही वह हर एक ज़रूरत के मौके के लिए तय्यार रहता था किन्तु उसकी एक ख़ास पॉलिसी ज़रूर थी। इस आशा से वह लाहौर से जम्मू चला गया कि उसकी अनुपस्थिति में कुँवर शेरसिंह गद्दी लेने की चेष्टा करेंगे। उसने अपनी सफलता ही न चाही किन्तु लाहौर से बाहर चले जाना भी चाहा ताकि कुँवर साहब की असफलता पर उससे राज़ी-नामा किया जा सके और रानी चाँदकौर का मंत्री होते हुए उनके साथ मिल जाना अयोग्य होतो। परन्तु शेरसिंह को बहुत भीरु और अपने उद्योग के उत्साह में बहुत उत्साही न पाकर ध्यानसिंह का लाहौर में न रहना उसके लिए और भी फ़ायदा मंद होता। और चाँदकौर की कमज़ोर हुकूमत के लिए भी यह अन्तिम रूप से प्रगट हो जाता कि उसकी मदद के लिए राजा साहब की सहायता ज़रूरी थी और उसे पूरे अधिकारों के साथ बुलाया जाता और इस तरह वह शेरसिंह को पृथक करने में समर्थ होता, चूंकि वह उसकी व्यक्तिगत इच्छा के लिए बिल्कुल आवश्यक नहीं थे। सेना का भी राजा ध्यानसिंह की तरफ रुख था जिसके कि बिना वह राज्य ही नहीं कर सकता था। लेकिन उसकी यह तदबीर शेरसिंह ने असफल कर दी। वह ध्यानसिंह से भय करते थे अतः उन्होंने उसकी बिना सहायता के ही शक्ति प्राप्त करने की इच्छा की इसी कारण से उन्होंने अपनी तरफ फ़ौज के आते ही फ़ौरन किले पर धावा कर दिया। जम्मू में राजा ध्यानसिंह को और क़िले में राजा गुलाबसिंह इस बात से बिल्कुल सहमत नहीं थे। दोनों ही इस बात को जानते थे कि अगर बिना उनकी सहायता के कुँवर साहब को सफलता मिलाई गई तो उनका रौब-दौब नष्ट हो जावेगा और इसी कारण से गुलाबसिंह ने अपने भाई के आ पहुँचने तक के लिये सन्धि किए जाने की चेष्टा की थी और जब इसके लिए मना कर दिया गया तो अन्त तक क़िले की रक्षा करने को

तैयार हो गया। वह भी खून देने के समय शेर की तरह बहादुर था और अगरचे वह हमेशा लड़ाई-झगड़े से बचता था तो भी झगड़ा हो जाने की सम्भावना पर उसके मुक़ाबिले का कोई होशियार और बहादुर योद्धा न था और उसने यह इरादा कर लिया था कि बिना युद्ध के क़िले को अधीन न करूँगा। एक और भी कारण था जिसने उसे क़िले की रक्षा करने को विवश किया वह यह था कि इस क़िले में बड़ा भारी धन था जिसके कि एक बहुत बड़े हिस्से को—रुपये और जवाहिरात को वे अपने साथ जम्बू ले गये, किन्तु गुलाबसिंह की पॉलिसी व बहादुरी एक तरफ़ रखते हुए ध्यानसिंह की रक्षा की गई न कि रानी चाँदकौर की। यह बात इससे साफ़ जाहिर हो जाती है कि इसमें राजा हीरासिंह मौजूद थे और इनकी सब से ज्यादा रक्षा करने वालों में सुलतान मुहम्मदखां बर्कजई था जो कि राजा का परम भक्त था।

राजा गुलाबसिंह ने रानी चाँदकौर और रानी साहबकौर को अपने साथ जम्बू ले जाने का विचार किया था, किन्तु शेरसिंह इस बात की आज्ञा नहीं देता था। वह हथियारों को दुश्मनों के हाथ में देना नहीं चाहता था। रानी चाँदकौर को समनबुर्ज छोड़ने तथा शहर में अपने घर रहने की आज्ञा दी गई और वहाँ से वे फ़ौज और सरदारों से गुप्त बातें करती रहीं। इन्होंने सरदार अजीतसिंह सिन्धानवालिया को गवर्नर जनरल के पास अपनी वकालत को कलकत्ते भेजा। उसके दूत सारे देश में लगन के साथ काम में लगे हुए थे। अक्टूबर सन् १८४१ ई० में सरदार अतरसिंह इनके निमन्त्रण पर थानेश्वर से फ़ीरोजपुर आये जहाँ पर कि उन्होंने पंजाब घुसने के एक अच्छे मौक़े का इन्तजार किया। इस समय रानी साहिबा के समर्थन में लगभग १२ हजार सेना और कुछ शक्तिशाली सरदार थे। किन्तु चूँकि शेरसिंह फ़ौज की आवश्यकताओं की पूर्त्ति करने की अयोग्यता के कारण मशहूर हो चुके थे अतः रानी साहिबा का प्रभाव बढ़ गया और अप्रैल सन् १८३२ ई० में आम तौर पर सारी फ़ौज इन्हीं के पक्ष में हो गई।

अब महाराज शेरसिंह ने देखा कि जब तक वह जिन्दा रहेंगीं तब तक वे सुरक्षित नहीं अतः उन्होंने इनके नाश करने का इरादा कर लिया। राजा ध्यानसिंह भी इसी प्रकार उनकी मृत्यु चाहते थे। यह सत्य है कि वे ऐसी पार्टी की प्रधान थीं कि वह किसी ही समय भयानक समय उपस्थित कर देतीं। अब महाराज ने यह भी मालूम किया कि वे मंत्री को चाहे जितना भी नहीं चाहते हैं लेकिन बिना उनके वह शासन व्यवस्था नहीं कर सकते। इस तरह वह रानी की मृत्यु को राजी हो गए जिससे कि उन्होंने यह विश्वास कर लिया कि उनका छुटकारा सिंधानवालियों से हो जावेगा।

जून सन् १८४२ ई० में शेरसिंह ने बहुत से सरदारों और एक बड़ी फ़ौज के साथ वजीराबाद को कूँच किया और राजा ध्यानसिंह पीछे लाहौर में रह गए। चाँदकौर के लिए फिर क़िले में रहने के लिए आज्ञा दी गई जोकि महांसिंह के

अधिकार में था १२ जून को इनकी आज्ञा पाकर रानी चाँदकौर की बांदियों ने इन्हें खाने की चीज़ में ज़हर देकर मार डालने की इच्छा की इन्होंने उसे चखा और उसे फेंक दिया। बाँदियों ने इस भय से कि उनका यह जाल खुल गया पत्थरों से उनके ऊपर हमला किया और उनके शरीर को घायल करके मरने के लिए छोड़कर भाग गईं। शीघ्र ही राजा ध्यानसिंह ने उनके जख्मों की मरहम पट्टी कराई। एक समय फ़कीर नूरउद्दीन ने सोचा कि उनकी जिन्दगी बच जायगी किन्तु उन्हें कभी भी होश न आया और दो दिन के अन्दर मर गईं। मारने वालों के ऊपर बहुत वजन का लोहा रख दिया गया और कहा जाता है कि जब उन्हें भय दिखाया गया तो उन्होंने ध्यानसिंह के सामने साफ़ साफ़ यह कह दिया कि उनसे कत्ल करने के लिए कहा गया था और इस काम के लिए उन्हें बड़े बड़े इनाम दिये जाने के वायदे किये गए थे।

रानी चाँदकौर के भाई चाँदसिंह ने शेरसिंह के गद्दी पर बैठने के समय तक कन्हैया मिसल पर अधिकार रखा। नौनिहालसिंह ने इस मिसिल की खूब उन्नति रखी क्योंकि उन्होंने फतेहगढ़ को अपना बहुतसा खजाना भेज दिया था जिसे शेरसिंह ने फर्वरी सन् १८४१ में ले लिया था केसरसिंह और उसकी माता को लाहौर से ले जाया गया था और चांदकौर के समय में उन्हें छोड़ा गया जिनसे कि शेरसिंह उस समय शादी करने की इच्छा करता था। चन्दासिंह के लिए ६० हज़ार की जागीर दी गई थी और रानी के मरने के बाद वह ४५ हज़ार रुपये की रहने दी गई।

इस कुटुम्ब के दुर्भाग्य का अभी अन्त न हुआ था। जब हीरासिंह शक्तिशाली हुआ तो उसने चन्दासिंह की शेष सारी जागीर जब्त करली और कारण यह बतलाया गया कि राजा ध्यानसिंह की मृत्यु की खबर सुनकर उन्होंने रोशनी की थी। चाहे यह बात ठीक हो या झूँठ हो इतना अवश्य ठीक है कि राजा ध्यानसिंह की मृत्यु पर चन्दासिंह को जरूर खुशी हुई।

जब सरदार जवाहरसिंह मन्त्री हुआ तो उसने इस कुटुम्ब को तलवन्दी और कोटली में ३०६०) रु० की क़ीमत की जागीर दे दी थी जिस पर केसरसिंह सन् १८७० ई० अपनी मृत्यु तक अधिकारी रहा। इस खानदान की जायदाद अब बहुत थोड़ी रह गई है, स्वरूपसिंह के पास बटाला तहसील में फतेहगढ़ में थोड़ी सी ज़मीन थी जहाँ पर कि इनके बुजुर्गों के बनाये हुये क़िले के खण्डहर अब तक खड़े हुये हैं। इनके पास अजनाला तहसील के कुछ गाँवों में माफी भी है और इसके अलावा ६२२) रु० सालाना की नक़द जागीर है और अजनाला तहसील में संगलपुर में जहाँ पर कि ये रहते हैं तीन सौ बीघा ज़मीन के मालिक हैं।

सर लैपिल ग्रिफिन ने इस खानदान का वंश-वृक्ष निम्न प्रकार दिया है:—

भागा
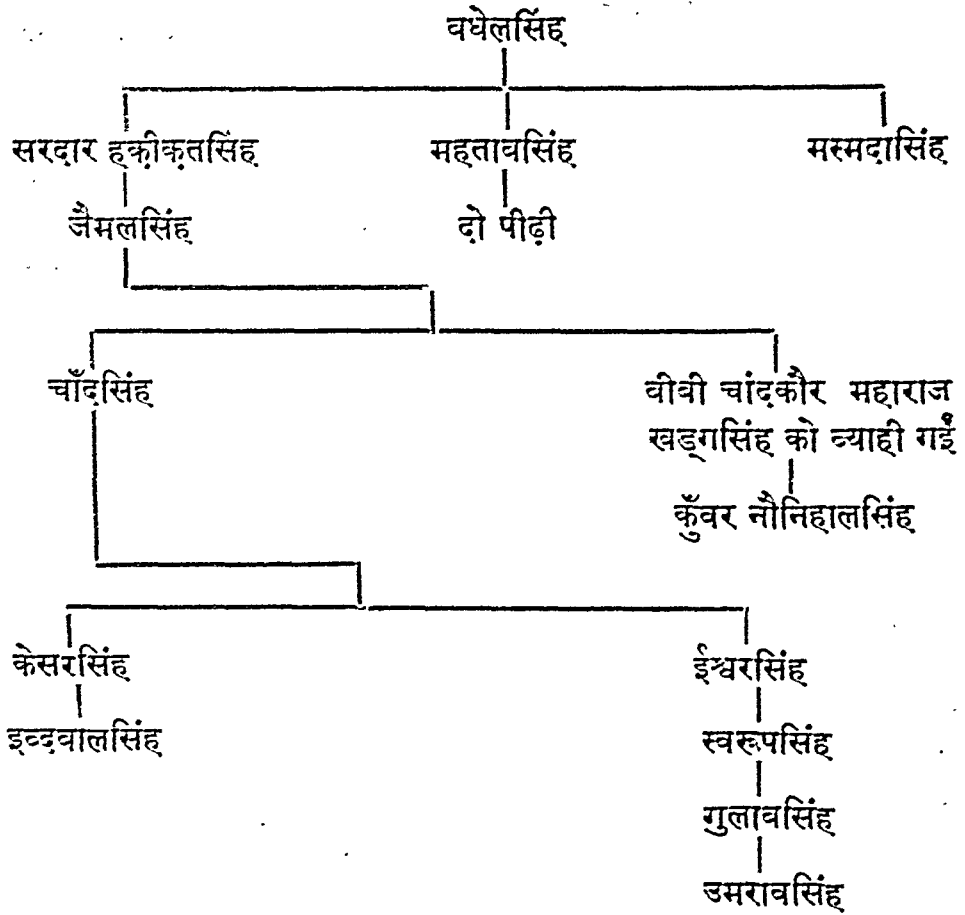
भागा खान्दान पहिले बहुत धनी और शक्तिशाली था। इसका संस्थापक अमरसिंह जाट था, जो कि अमृतसर जिले के भाग गाँव के मान जाट जमींदार का वेटा था। यह सिख धर्म में दीक्षित हो गये और कन्हैया मिसल में शामिल होकर लूटमार करने लगे। इस नये काम में उन्हें इतनी सफलता मिली कि इनके वहुत से नये साथी हो गये जिनका सरदार कर्मसिंह नाम का एक आदमी था। इन्होंने गुरुदासपुर के एक बड़े भाग को अपने अधिकार में कर लिया जिसमें सुजानपुर, सुकलगढ़, धर्मकोट और वहरामपुर शामिल थे। इन्होंने सुकल गढ़ में एक क़िला वन वाया जहाँ पर यह अधिक तर रहा करते थे और यहीं पर सन् १८०५ ई० में युद्ध में अपना जीवन व्यतीत करने के वाद मृत्यु को प्राप्त हो गये और उसका अधिकारी अपने वड़े पुत्र भागसिंह को वना गये। यह सरदार अपने पिता की भाँति युद्ध-प्रिय स्वभाव के न थे और न इन्होंने अपनी रियासत वढ़ाने की चेष्टा की। सिखों में वहुत ही कम ग्रन्थ साहव के एक भी पृष्ठ का उच्चारण कर सकते थे। किन्तु भागसिंह पारसी और संस्कृत के पंडित थे। वह वन्दूक़ ढालना भी जानते थे और एक प्रसिद्ध चित्रकार भी थे। वह केवल तीन साल ही अपने पिता के उत्तराधिकारी रहे और उनकी मृत्यु के वाद राजगद्दी के लिए झगड़ा खड़ा होगया।

अमरसिंह की बहिन का बेटा देशासिंह मजीठिया हमेशा भागसिंह का गहरा मित्र रहा था और अब उसने उनके पुत्र हरीसिंह के गद्दी पर बैठने का पक्ष लिया। किन्तु बहुमत ने उनके भाई बुद्धसिंह का पक्ष लिया। अतः बुद्धसिंह ही रियासत के अधिकारी रहे। किन्तु वे बहुत दिनों तक इस पर अधिकार न रख सके। सन् १८०६ ई० में रणजीतसिंह ने काँगड़ा युद्ध के लिए इनसे सहायता माँगी। भाग सरदार यह ख्याल करता था कि हम रणजीतसिंह के बराबर ही शक्तिशाली हैं। इसलिए एक भी आदमी या रुपए देने से मना कर दिया। रणजीतसिंह ने इन पर धावा कर दिया और घमासान लड़ाई के बाद इन्हे हरा दिया और भागा राज्य को ले लिया। इसमें देशासिंह मजीठिया ने ख़ूब दिलचस्पी ली क्योंकि उसने हरीसिंह के ऊपर विजय के कारण बुद्धासिंह को क्षमा नहीं किया और वह दुशमन के पास गया जहाँ पर कि भागा की स्थिति रखने के कारण उसका इतना मान किया गया कि इस मामले के बाद ही रणजीतसिंह ने इसे भगोवाल, सुकलगढ़ की भागा रियासत को जागीर में दे दिया। जिनमें से कि सुकलगढ़ सन् १८५६ तक मजीठिया ख़ान्दान के अधिकार में रहा और सरदार लेहनासिंह की मृत्यु के बाद सरकार गवर्नमेण्ट ने अपने राज्य में मिला लिया। रणजीतसिंह ने बुद्धासिंह के लिये धर्मकोट भागा की जागीर देदी। जिसकी क़ीमत २२ हजार थी। सन् १८४६ ई० में इनकी मृत्यु तक इनके अधिकार में रही। राजा लालसिंह ने इसे ले लिया किन्तु सरदार लेहनासिंह के कहने पर बुद्धासिंह के बेटे प्रतापसिंह और उनकी तीन बेवाओं की गुज़र के लिये ५ हजार की जायदाद देदी किन्तु अन्तिम आज्ञा की मंजूरी होने के पहिले ही प्रतापसिंह की मृत्यु होगई! उनके कोई औलाद न थी अतः दरबार ने हरीसिंह और इस ख़ान्दान की स्त्रियों के लिये ३८००) रु० मंजूर कर दिये। सन् १८५२ ई० में हरीसिंह की मृत्यु हो गई। इनके पुत्रों में से ईश्वरसिंह सन् १९०१ में और जीवनसिंह १९०५ में मर गये! ईश्वरसिंह दो पुत्र और जीवनसिंह ५ पुत्र छोड़ मरे, जिनमें से सबसे बड़ा हरनामसिंह सारे ख़ान्दान की जागीर का प्रधान बना। जो बटाला के पास बुर्ज आर्ययान गाँव में है जिसकी क़ीमत ६१६) रुपया है। इनके दो भाई मुसलमान हो गये और मुसलमान होने पर उनके नाम मुहम्मद इक़बाल और फ़ज़लहक़ रखे गये दोनों के पास धर्मकोट में ज़मीन थी और फ़ज़लहक़ के पास लायलपुर जिले में ६ मुरब्बे जमीन और भी थी एक और भाई जिसका नाम गुरुदयालसिंह था २५वीं केवेलरी में जमादार था और सबसे छोटे भाई बलवन्तसिंह था उसे १०) रुपया माहवार का भत्ता मिलता था जो कि जागीर में से दिये जाते थे। सर लैपिल ग्रिफ़िन साहब ने इस ख़ान्दान का वंश वृक्ष निम्न प्रकार दिया है:—

अकाल

|

अमरसिंह

भागसिंह — हरीसिंह

बुद्धसिंह — प्रतापसिंह, गुरुमुखसिंह, काकासिंह

भूपसिंह — गुलावसिंह

ईश्वरसिंह — करमसिंह, ऊधमासिंह, कृपासिंह, मेहरसिंह

जीवनसिंह — हरनामसिंह, सन्तसिंह, फ़ज़लहक़ (मुसलमान होगया), गुरदयालसिंह, मुहम्मदइकवाल (मुसलमान होगया), वलवन्तसिंह

खन्दा
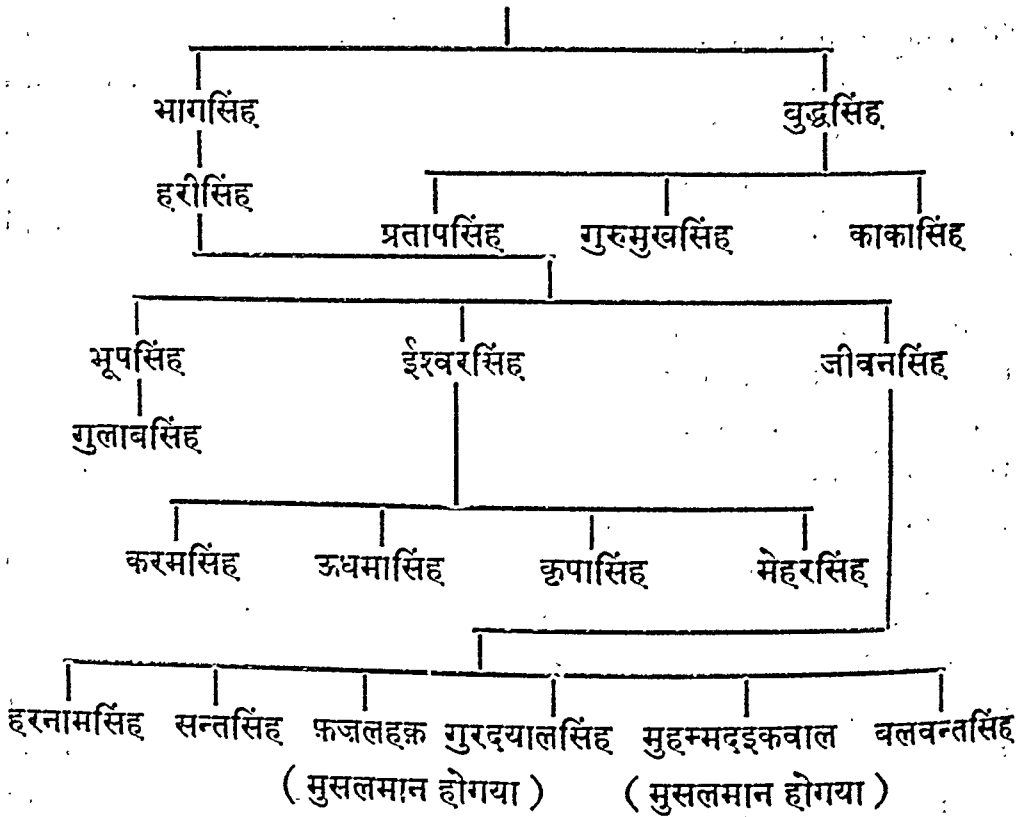
रन्धाना खान्दान का संस्थापक वीकानेर राज्य का रहने वाला था। लगभग ७०० वर्ष व्यतीत हुए होंगे कि इनसे पंजाव के इतिहास में सात वंश उत्पन्न हुए, जिनके ये नाम हैं:—१—धर्मकोट, २—धनियानली, ३—इमिचारी, ४—दोहा, ५—दोरंगा या तलवन्दी, ६—काठूनागल और ७—खन्दा। अन्तिम ५ वंशों का ही वर्णन यहाँ दिया जायगा। इनमें खन्दा सब से प्रसिद्ध है और काठूनागल, धर्मकोट और धनियानली आजकल वहुत ही कम प्रसिद्ध हैं।

रन्धाना की पाँचवीं पीढ़ी पर कजल हुए। ये पंजाव में आकर बटाला के नज़दीक वस गये। इन्होंने गुरुदासपुर ज़िले के क़ीमती प्रदेश पर अधिकार कर लिया, जिसमें कि नौशेरा, जफरवाल, खन्दा, शाहपुर और पड़ोसी गाँव भी शामिल थे। रन्धाना खान्दान की दूसरी शाखायें भी इसी समय में प्रसिद्धि को प्राप्त हुई। खन्दा वाला खान्दान कन्हैया मिसल में सम्मिलित था और सरदार जयसिंह कन्हैया की मृत्यु तक जो कि सन् १७९३ में मरे, उन्होंने अपनी रियासत पर पूर्ण अधिकार रक्खा, जिसकी कि आमद लगभग २००००) दो लाख रुपया थी। किन्तु जयसिंह की विधवा रानी सदाकौर ने जो कि बड़ी योग्य थीं, इस खान्दान के आपसी मनोमालिन्य से लाभ उठा कर नौशेरा कौर हयातनगर कलाँ को ले लिया और इससे आगे चल कर सरदार प्रेमसिंह के समय में महाराज रणजीतसिंह ने सारी रियासत पर अधिकार कर लिया। इस खान्दान के लिये ६०००) रुपए

की निकासी के केवल १० ही गाँव रहने दिए। प्रेमसिंह के पिता पंजाबसिंह ने ने लोधसिंह मजीठिया की पुत्री से विवाह किया था; जिनके पुत्र सरदार देशासिंह का महाराज रणजीतसिंह के साथ बड़ा रौब-दौब था। उन्होंने प्रेमसिंह को अपने दस सवारों के साथ अपने अधिकार में रक्खा। युवक सरदार ने महाराज रणजीतसिंह की फ़ौज के साथ बहुत से धावों में सेवायें की थीं जिनमें मुल्तान और पेशावर के धावे भी सम्मिलित हैं। सन् १८२४ की दूसरी नवम्बर को यह नदी में बह गये, जब कि यह महाराज की फ़ौज के साथ सिन्ध नदी के पार करने की चेष्टा कर रहे थे जो कि बरसात के पानी के कारण अधिक चढ़ी हुई थी। जागीर इनके चारों बेटों में इन्हीं शर्तों पर छोड़ दी गई।

सन् १८३६ ई० में सरदार जयमलसिंह अपने भाई जवाहरसिंह के साथ महाराज रणजीतसिंह की सेवा में आ गये। इन्हें रामगढ़िया ब्रिगेट का कमाण्डर सरदार लेहनासिंह ने, इनके श्वसुर फतेसिंह चाहल की जगह पर, जो कि कुछ अरसा हुआ मर चुके थे, नियुक्त कर दिए। दोनों भाई लेहनासिंह के साथ पेशावर गये, जब कि इसने अफ़ग़ानों से बदला लेने के लिए धावा किया था। क्योंकि सन् १८३७ में जमरूद स्थान पर उन्होंने परास्त दे दी थी। जवाहरसिंह ने लेहनासिंह के साथ रियासत मन्डी के पहाड़ी प्रदेश में सेवा की। खन्दा सरदार पंजाब के शामिल किये जाने तक मजीठिया सरदारों के जागीरदार रहे। जसवन्तसिंह सन १८४४ में मर गए।

सरदार जवाहरसिंह और हीरासिंह एक माँ के पुत्र थे, और सरदार जयमलसिंह तथा जसवन्तसिंह दूसरी माँ के थे। किन्तु इन सौतेले भाइयों में पूर्णतः हार्दिक प्रेम था। सरदार लेहनासिंह ने उनके जागीर पर झगड़ा करने पर जागीर को निम्न प्रकार से बाँट दिया—

जयमलसिंह के लिए खन्दा, खन्दी, सुजानपुर, भद्दीपुर, शाहपुर, माली समरार और हरसियान का आधा भाग, जफरवाल और बन्दीवाल जिनकी आमद ४०००) थी दो हजार रुपया नक़द भत्ता के मंजूर किये गए तथा उन्हें छः सवार तैयार रखना मंजूर किया गया। जवाहरसिंह के लिए जफरवाल, मलियान् और आधा हरसियान जिसकी कि निकासी २६००) थी तथा १२००) नक़द भत्ता मंजूर हुए तथा चार सवार तैयार रखना मंजूर किया गया। लेकिन जैसे ही लेहनासिंह दूसरी बार बनारस जाने वाले थे कि जायदाद के अधिकार पर इन भाइयों के अन्दर फिर झगड़ा होगया। ये झगड़ा खन्दा और शाहपुर के अधिकारों के ऊपर था, जो इनके पुरुषों के गाँव थे। लेहनासिंह ने इसके लिए एक पंचायत नियुक्त कर दी जिसने यह फैसला किया कि सरदार जयमलसिंह खन्दा, शाहपुर के प्रधान अधिकारी जाने जावें और सरदार जवाहरसिंह नौशेरा और झट्टपट्ट के प्रधान अधिकारी माने जावें। लेकिन अन्तिम दो गाँवों के प्रधानों ने जो कि कन्धावा वंश के थे, इस अधिकार का प्रतिवाद किया और सन् १८५४ में सैटि-

लमेण्ट कोर्ट से इनके पक्ष में निर्णय किया गया। तब जवाहरसिंह ने आधाख
और शाहपुर के लिए दावा पेश किया। किन्तु सैटिलमेण्ट आफिसर ने इ
विरुद्ध निर्णय दिया।

सरदार जवाहरसिंह ने कभी भी अँग्रेज सरकार की सेवा नहीं की।
१८५० ई० में ये बनारस जाकर सरदार लेहनासिंह से मिले लेकिन शीघ्र ही पंज
को वापिस आ गये। सन् १८४७ ई० में सरदार जयमलसिंह, सरदार लेहना
मजीठिया के मातहत नाइब अदालती (डिप्टी जज) मुक़र्रिर किये गये। जब
१८४८ में ग़दर हुआ तो ये मज़बूत बने रहे और अँग्रेज सरकार का पक्ष लिर
इन्होंने मंधा के बागियों के दबाने में पूरा हिस्सा लिया। उनके घर इन्होंने
कर लिए और अपनी राज-भक्ति, बुद्धिमानी और साहस के द्वारा अधिकारियों
ख़ूब प्रतिष्ठा पाई। पंजाब के क़िला लेने के बाद ये बटाला के तहसीलदार नियुक्त
और मुल्क में नये शासन का ख़ूब ही प्रचार किया। यद्यपि वे अँग्रेजी क़ानूनों
परचित न थे तो भी उन्होंने अपने कार्य को ऐसी योग्यता के साथ लिया कि वे महक
ठगी के अतिरिक्त सहायक कमिश्नर बना दिए गए। कर्नल स्लीमन, मेजर मैकेन्ड्र
मि० ब्रैरेटन साहब ने इनकी सेवाओं की खूब ही प्रशंसा की है। वे ठगों के गिरफ
करने में देदाव से खबरें इकट्ठा करने के लिए नियुक्त हुए थे और उनको सजा
थे और इसके पश्चात् वे जेल का चार्ज लेने और दस्तकारी स्कूल के अधिक
नियुक्त होने के योग्य समझे गये। इन्होंने सन् १८६० में अतिरिक्त सहायक कमि
के पद का त्यागपत्र दे दिया। सन् १८५७ ई० में इन्होंने बहुत ही अच्छी सेवा की
उसके उपलक्ष में राजभक्ति के स्वरूप १०००) रु० की खिलअत मिली। कई
तक आनरेरी मजिस्ट्रेट रहने के पश्चात् ये सन् १८७० में मृत्यु को प्राप्त हो ग
इनकी २२००) रु० सालाना की जागीर इनके पुत्र कृपालसिंह के अधिकार में र
इसका इन्हें चौथाई नजराना देना पड़ता था। कृपालसिंह भी बटाला में मजिस्ट्रेट
ये सन् १८७२ में मर गये और जागीर जब्त कर ली गई। उनकी विधवा स्त्री
जो कि सरदार गोपालसिंह मनोकी वाले की पुत्री थीं, से महेन्द्रसिंह नामक एक
था। इस वंश के लिए दरबार की ओर से न तो कोई जागीर ही है और न
स्थान ही इनके लिए दरबार में है।

सर लैपिल ग्रिफ़िन साहब ने इस खान्दान का वंश-वृक्ष निम्न प्र
दिया है:—

दयानतराय
|
लछीराम
|
माजासिंह — गजसिंह — तेजसिंह
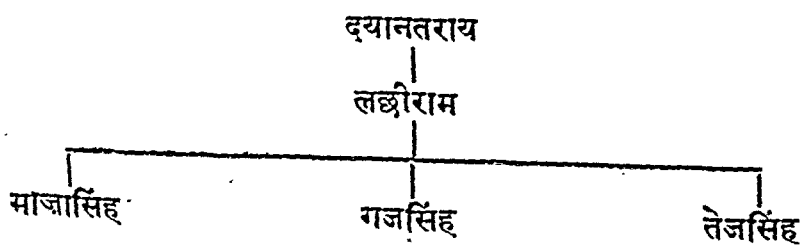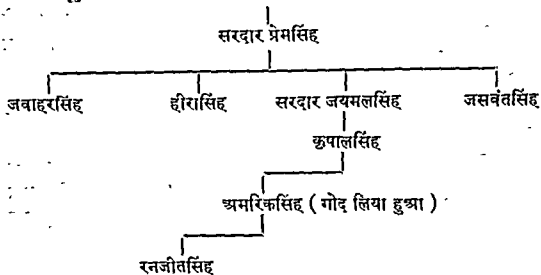
इस खान्दान के पुरुषा हुसैन नाम के एक सिन्धू जाट थे जिन्होंने लगभग सन् १५०० के गुजरानवाला जिले में हँसनवाला गाँव की नींव डाली थी। सिरानवाली नामक गाँव स्यालकोट जिले की पसरूर नामक तहसील में है। कहा जाता है कि इस गाँव को भी इन्होंने बसाया था जहाँ पर कि इन्होंने शक्तिशाली करिया वंश को परास्त किया था और वध किए हुए व्यक्तियों के सिर काट कर उनका एक ढेर इकट्ठा कर दिया और उन पर बैठ कर स्नान किया। इसी कारण से इस गाँव का नाम सिरानवाली (सिरों की जगह) रक्खा गया। किसी प्रकार सिरानवाली गाँव इस वंश के हाथों से निकल गया और इस वंश का दरगा नामक व्यक्ति जो सिक्ख हो गया था ग़रीबी के कारण स्यालकोट जिले को छोड़ कर जिला गुरुदासपुर में चला आया जहाँ पर कि वह जयमलसिंह फतेहगढ़िया की फ़ौज में घुड़ सवारों में भर्त्ती होगया। इसका पुत्र लालसिंह इसका उत्तराधिकारी हुआ जो अपनी योग्यता के कारण १०० घुड़ सवारों का मालिक हो गया।

सिरानवाली

लालसिंह की पुत्री ईश्वरकौर की सुन्दरता स्यालकोट जिले में प्रसिद्ध थी। सन् १८१५ में जब महाराज रणजीतसिंह इधर आए तो लालसिंह ने अपनी पुत्री को इनके महल में लाहौर भेज दिया। दो महीने के पश्चात् रणजीतसिंह ने उसे अपने पुत्र कुँवर खड़गसिंह के पास भेज दिया जिन्होंने कि अमृतसर में चादर डाल कर उससे शादी कर ली। इसके थोड़े ही दिन पश्चात् लालसिंह की तो मृत्यु हो गई, किन्तु उनके पुत्र मंगलसिंह ने इस सम्बन्ध से लाभ उठाया। जब ये पहिले ही पहल दरबार में आए तो ये केवल एक गँवार जाट किसान थे। कहा जाता है कि महाराज रणजीतसिंह ने अपने सेवकों से इनके देहाती वस्त्र बदलने को कहा और उन्हें दरबार के लायक़ वस्त्र पहनाने की आज्ञा दी। मंगलसिंह ने कभी पाजामा नहीं पहना था और इसी कारण से उसने पाजामे की एक ही टाँग को दोनों पैरों में चढ़ाने की चेष्टा की, इस पर दरबारियों को बड़ा ही अचरज हुआ।

यद्यपि मंगलसिंह दरबारी नहीं था किन्तु वह एक चतुर युवक था अतः उसने शीघ्र ही दरबार में मान प्राप्त कर लिया। कुँवर खड़गसिंह ने थालूर और खीटा की जागीर इसे दे दी जिसकी कि आमदनी ५०००) थी और साथ ही लाहौर जिले के चुनियान इलाक़े का चार्ज भी दे दिया। कुँवर साहब मंगलसिंह के इस पद की कार्य कुशलता से ऐसे प्रसन्न हुए कि उन्होंने सन् १८२० में महाराज रणजीतसिंह की मंजूरी से मंगलसिंह को अपने फौजदारी और दीवानी सभी मामलात का मैनेजर नियुक्त कर दिया और सरदार की उपाधि के साथ १६०००) की आमद की जागीर भी इसे दी। मंगलसिंह ने अपने कुटुम्ब के प्राचीन गाँव सिरानवाली को भी अपने अधिकार में कर लिया जो कि अब तक सरदार श्यामसिंह अटारीवाला के क़ब्जे में था। कई वर्षों तक मंगलसिंह उच्च-पद पर बने रहे और जागीर को बढ़ाते रहे तथा कुँवर खड़गसिंह के साथ उनके सभी युद्धों में जाते रहे। किन्तु सन् १८३४ में सरदार चेतसिंह बजुआ को मंगलसिंह के स्थान पर कुँवर साहब के सभी मामलात के प्रबन्ध के लिए नियुक्त कर दिया गया जिसके साथ कि सरदार मंगलसिंह की मौसी चाँदकौर व्याही गई थी और जिसे कि उसने स्वयं ही खड़गसिंह से परिचित कराया था। इस अदला-बदली से मंगलसिंह को कोई हानि न हुई क्योंकि खड़गसिंह ने पहिली जागीर के अलावा और भी नई जागीर दे दी थीं और अब कुल जागीर की आमद २६१२५०) हो गई थी जिसमें से कि ६२७५०) तो व्यक्तिगत थे और शेष रुपये ७८० सवार, ३० जम्बूरा और २ तोपें रखने की शर्त पर थे।

चेतसिंह की उन्नति ही उसके नाश का कारण हुई। रणजीतसिंह के शासन-काल में वह कुँवर साहब का प्रधान प्रीति-पात्र बना रहा और उसकी शक्ति भी बहुत अधिक थी क्योंकि खड़गसिंह तो कमज़ोर व्यक्ति था और उनका प्रीति-पात्र उन पर चाहे जैसा प्रभाव डाल सकता था। किन्तु रणजीतसिंह की मृत्यु के पश्चात् और कुँवर खड़गसिंह के गद्दी पर बैठते ही उन सर्दारों ने जिनकी कि ईर्ष्या चेतसिंह ने जाग्रत कर दी थी, इसे नष्ट करने का पक्का विचार कर लिया। राजा ध्यानसिंह और कुँवर नौनिहालसिंह षड्यंत्र के नेता थे और इन्होंने अभागे चेतसिंह को महाराज की उपस्थित में ही महल में प्रत्यक्ष रूप से क़त्ल कर दिया।

सन् १८३४ में जब कि चेतसिंह शुरू में ही महाराज के पास रक्खा गया था तब सरदार मंगलसिंह को ज़िला डेरागाज़ीखाँ में जंगली मजारी कौम को शान्ति रखने के लिए भेजा था किन्तु वह सीमा प्रान्त पर शांति स्थापित न कर सका। नवम्बर सन् १८४० में महाराज खड़गसिंह की मृत्यु होगई और रानी ईश्वरकौर उनके साथ सती होगई। उस समय यह निश्चय किया गया था और इसका विश्वास करने के लिए हर एक कारण भी है कि रानी ईश्वरकौर अपनी इच्छा से सती नहीं हुई थीं बल्कि उन्हें मजबूर किया गया था और यह वीभत्स कार्य राजा ध्यानसिंह का था। रानी ईश्वरकौर और रानी चाँदकौर में जोकि खड़गसिंह की

प्रधान रानी थीं सदैव ही बड़ी ईर्ष्या रहती थी और इस रानी के प्रभाव ने भी रानी ईश्वरकौर को सती होने के लिए अग्रसर किया।

मंगलसिंह ने यह आशा की थी कि इस समय उसे कुछ अधिकार प्राप्त हो जावेगा। स्वर्गीय महाराज का साला होने के कारण और कई वर्षों तक सर्विस करके बहुतसा धन इकट्ठा करने के कारण उसे कुछ विश्वास हो गया था कि कुँवर शेर-सिंह से भी वह कुछ जागीर प्राप्त कर सकेगा। किन्तु राजा ध्यानसिंह सरदार चेतसिंह से पिण्ड छुड़ा कर यह नहीं चाहता था कि दूसरे व्यक्ति को यह अधिकार मिले। अतः मंगलसिंह धीरे-धीरे अवनति को प्राप्त हो गए। कुछ समय के बाद महाराज शेरसिंह ने उसकी पहिली सभी जागीर को सिवाय ३७०००) के जब्त कर लिया। किन्तु उसे सहीवाला और बंकलचिमी में १२४५००) की आमद की नई जागीर दे दी। सन् १८४६ तक वह इसे अपने अधिकार में रक्खे रहा जब कि राजा लालसिंह ने इसे ले लिया और मंगलसिंह के लिए केवल ८६०००) की पुरानी जागीर रहने दी और ३६०००) की नई जागीर इस शर्त पर मंजूर की कि वह १२० घुड़ सवार तैयार रक्खे। यह कमी करना एक अन्याय की बात थी क्योंकि सरदार मंगलसिंह ने खड़गसिंह की मृत्यु के बाद किसी भी राजनैतिक मामले में भाग नहीं लिया था। किन्ही अंशों में इसकी कमी की पूर्त्ति के लिए रेजीडेंण्ट मेजर लारेन्स ने उसे रचना दुआब का अदालती मुकर्रिर कर दिया था। इस मुकर्रिरी से उसे संतोष न हुआ क्योंकि वह सिपाही स्वभाव का व्यक्ति था। अतः यह कार्य उन्हें रुचिकर प्रतीत न हुआ। जब सन् १८४८ में ग़दर शुरू हुआ तब यह वजीराबाद में थे। उस समय इनको नावों का चार्ज दिया गया। उन्हीं के लेख के अनुसार उन्हें राजा शेरसिंह ने जिस समय कि वह बाग़ी फ़ौज के रास्ते को रोक रहे थे क़ैद कर लिया और वे रामनगर युद्ध तक क़ैदी ही बने रहे। उस समय उन्हें छुटकारा मिला था और वे मैजर निकलसन के साथ में हो गये जिनकी कि कमान में इस युद्ध की समाप्ति तक रहे। सर्दार मंगलसिंह को सरकार अँग्रेज सन्देह की निगाह से देखने लगी और पंजाब मिला लेने के बाद उनके लिये केवल १२००) रु० की नक़द पेन्शन उनकी जिन्दगी के लिये मंजूर हुई। किन्तु यह याद रखना चाहिए कि इनके विरुद्ध राज-द्रोह कभी प्रमाणित नहीं हुआ था बल्कि वे नाजुक समय में अँग्रेजों के साथी हो गये थे और युद्ध के अन्त तक वे रसद पहुँचाने तथा अँग्रेजी फौज की दूसरी सेवाओं में लगे रहे थे। सर्दार मंगलसिंह का जून सन् १८६४ में देहान्त हो गया। इन्होंने अपने पीछे ४ विधवायें छोड़ीं जिनमें से कि हरएक के लिए २००) रु०-सालाना की पेंशन गवर्नमेण्ट से मुक़र्रर हुई थी। इनके रिछपालसिंह नाम का एक ही पुत्र था जिसे कि सर्दार का ख़िताब देकर प्रान्तीय दर्बार में स्थान दिया गया और सन् १६६८ तक जब तक कि वह बालिग़ हुआ उसे कोर्ट ऑफ़ वार्ड के अधिकार में रक्खा गया। सन् १८७० में इसने सर्दार करमीरासिंह की विधवा रानी भींदकौर की भतीजी से विवाह कर लिया। सन्

१८८४ में यह डिस्ट्रिक्ट बोर्ड के प्रधान चुने गए। गवर्नमेंट की सर्विस में न होते हुए इस प्रकार की मुक़र्ररी का एक भारतीय के लिये यह पहिला ही मौक़ा था। इसी साल में उनको दीवानी और फ़ौजदारी के अधिकारों के साथ आनरेरी मजिस्ट्रेट बनाया गया जिसमें कि ढाई सौ गाँव मुक़र्रिर किये गए और सिरानवाली में कचहरी बनाई गई। इस स्थान पर उन्होंने प्रसन्नता के साथ १८ साल तक काम किया और सन् १९०२ में इस पद से त्याग-पत्र दे दिया जब कि इनके स्थान पर उनका पुत्र सर्दार शिवदेवसिंह मुक़र्रिर किया गया। सन् १९०७ में शिवदेवसिंह को सर्दार का ख़िताब तथा प्रान्तीय दरबार में ख़ानदान का स्थान दे दिया गया।

सर लैपिल ग्रिफ़िन साहब ने इस ख़ानदान का वंश-वृत्त निम्न प्रकार दिया है:—

वडाला
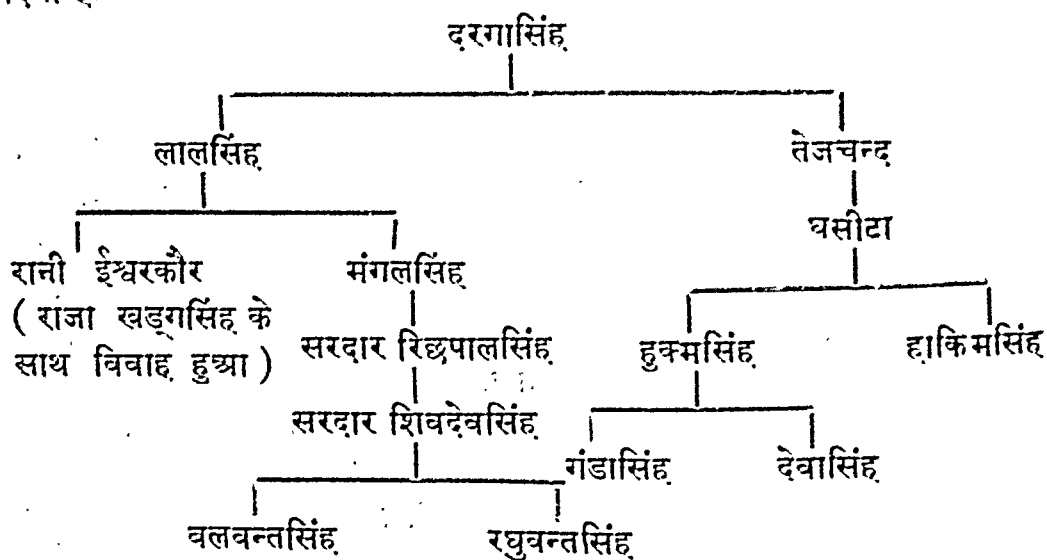
कहा जाता है कि इस वंश का संस्थापक ग़ज़नी से आया था। आजकल इस वंश के लोग मंझा में बसे हुए हैं। लाहौर, अमृतसर में भी बहुत से सिन्धू गाँव हैं और गुरुदासपुर में भी बहुत से हैं। गुजरानवाला में ९० गाँव हैं, स्यालकोट में ५० और थोड़े से गुजरात में हैं। इससे आगे उत्तर में यह वंश नहीं पाया जाता है। जिला अमृतसर के तरन तारन परगना में आकर सिन्धू पहिले बस गया। उसके मरने के कई वर्ष बाद उसका वंशज मोचल स्यालकोट को चला आया जहाँ पर कि डस्का के पास उसने एक गाँव अपने नाम से बसाया। कुछ पीढ़ियों के बाद उसके वंशजों में से एक ने जिसका कि नाम गजू था मोचल के पास ही एक दूसरा गाँव बसाया जिसका कि नाम उसने अपने ख़ान्दान में सब से बड़ा होने के कारण वडाला रक्खा (पंजाबी भाषा में वडा बड़े को कहते हैं)। मुग़ल शासन-काल में इस वंश का दुर्गामल नामक व्यक्ति पड़ौसी गाँवों का चौधरी नियुक्त हुआ। यह पद वंशानुगत था और कुछ समय के बाद इस पद का अधिकारी दुर्गामल का नाती हुआ जिसने कि सिख-धर्म स्वीकार कर

लिया था। दीवानसिंह ने अपने मरते समय तक मुग़ल राज्य से मित्रता रक्खी और अपनी सेवाओं के कारण उपहार स्वरूप अपने इलाक़ा के तीन गाँवों के प्रधान पद के अधिकार को प्राप्त किया।

इन्होंने अपने पीछे एक पुत्र छोड़ा जिसने कि इस वंश के इतिहास को नया रूप दे दिया। अपने पिता की मृत्यु के थोड़े ही दिन बाद सरदार महतावसिंह ने देखा कि मुग़ल-वंश का सितारा लुप्त होता जा रहा है; अतः इन्होंने अपने लिये एक नया मार्ग ग्रहण करने के लिये इरादा कर लिया। इन्होंने ५२ गाँवों की उगाही को अपने चार्ज में लेकर वडाला में अपनी स्थिति को शक्तिशाली करने का कार्य शुरू किया। उन्होंने शीघ्र ही मालूम किया कि वह अकेले ही इस कार्य को सम्पन्न नहीं: कर सकते। अतः उन्होंने भंगी मिसल के बड़े सरदार गंडासिंह और झंडासिंह के यहाँ स्वयं तथा अपने साथियों को लेकर नौकरी करली।

उन्हें अपने गाँवों की उगाही का तो अधिकार दे दिया गया किन्तु उन्हें इसके लिए अपने मालिकों को थोड़ी सी फ़ौजी मदद देना आवश्यक था। इसी समय में उनके तीसरे पुत्र सुलतानसिंह ने सरदार भागसिंह मलोदा के एक रिश्तेदार की पुत्री से शादी करली। इस रिश्तेदारी की ताक़त से वह शीघ्रता से अपनी शक्ति बढ़ाने लगे। यह देख कर महांसिंह उत्तेजित हो गये और उन्होंने इन्हें गुजरानवाला की घरू पंचायत में बुलाया। ये ५०० आदमियों को साथ में लेकर के बड़ी शान-शौकत से वहाँ गये। लेकिन दूसरे ही दिन उस समय की रिवाज के अनुसार वह गिरफ्तार कर लिए गए और क़ैद कर दिए गए। एक बड़ी फौज वडाला जीतने के लिए भेजी गई। किन्तु इनके चारों पुत्रों ने बड़ी बहादुरी से मुक़ाबिला किया और थोड़ा सा युद्ध होने के पश्चात् राजीनामा हो गया जिसके कि अनुसार १२५०००) जुर्माना देने पर वे अपने बाप को मुक्त करा सके। चूँकि कुल रुपया एक दम ही नहीं दिया जा सकता था अतः सुलतानसिंह को जिसकी कि शादी भी इस उपद्रव का एक कारण थी जमानत के लिए रक्खा गया। महांसिंह की मृत्यु के बाद शेष जुर्माना अदा न करने की चेष्टा की गई किन्तु सफलता न मिली। सुलतानसिंह को कुल जुर्माना ही वसूल हो जाने पर बरी किया गया।

इससे पहिले श्यामसिंह और नधनसिंह में कुछ मन मुटाव हो गया था और उनके पिता की मृत्यु के बाद उनकी शक्ति से दबा हुआ झगड़ा प्रत्यक्ष में शुरू हो गया। उनके पड़ौसियों ने इस से लाभ उठाया। नधनसिंह हतू और भागसिंह अहलवालियां ने वडाला रियासत को दबाना शुरू किया। उसी समय रणजीतसिंह ने इस जिले पर धावा किया और सन् १८०६ में डस्का के पास नधनसिंह को परास्त किया। उन्हें वडाला और मोचल दोनों ही नधनसिंह के अधिकार में मिले थे। नधनसिंह काश्मीर को भाग गया और श्यामसिंह का सब से बड़ा पुत्र टेकसिंह भी उसके साथ चला गया और वडाला खड़गसिंह को दे दिया गया।

दोनों चचा-भतीजे काश्मीर के गवर्नर अतामुहम्मदखाँ के यहाँ नौकर होगये। किन्तु पुराने खान्दानी झगड़े अभी तक बन्द नहीं हुए थे।

जब अतामुहम्मदखाँ ने दोस्त मुहम्मदखाँ के काबुल आने के निमंत्रण को अस्वीकार कर दिया और इस प्रकार काश्मीर पर अमीर का आधिपत्य मंजूर न किया तो अमीर काबुल ने सिक्खों की सहायता से उसे ठीक करने के लिए चढ़ाई की। सन् १८१३ में इन्हें सफलता मिल गई जब कि दीवान मोहकमचन्द और फतेहखाँ ने अतामुहम्मदखाँ को काश्मीर से भगा दिया था। इस पर टेकसिंह अपने खान्दान के उन लोगों के साथ जो कि इसके साथ यहाँ आये थे दीवान के पास गया और उसके साथ ही लाहौर लौट आया जहाँ पर कि उसे महाराज ने होशियारपुर जिले में ३ गाँवों के प्रधान पद के अधिकार दे दिये। उन्होंने अपने छोटे भाई को इस जागीर की देख-भाल के लिए मुकर्रर कर दिया और स्वयं अटक में काम करने चले गये। उस समय से अपनी मृत्यु सन् १८४४ तक वह लगातार खालसा की सेवा में रहे। टेकसिंह की सेवाओं के बदले में उसके चचाओं को पहिली खान्दानी रियासत के थोड़े से भाग का अधिकार दे दिया गया जहाँ पर कि वे स्यालकोट जिले में रणजीतसिंह का शासन स्थापित होने के थोड़े ही समय पश्चात् पहुँच गए। इनमें से न तो किसी आदमी ने ही और न उनके बच्चों ने ही लगातार के अशान्ति के समय में बागियों के साथ प्रत्यक्ष भाग लिया।

सन् १८३० में सर्दार फतेहसिंह होशियारपुर में मर गए और कोई सन्तान न छोड़ गए। अतः जागीर के गाँवों के प्रबन्ध के लिए किशनसिंह अधिकारी हुए। सन् १८६२ में उनकी मृत्यु हो जाने पर यह जागीर अँग्रेजी सरकार ने अपने राज्य में मिला ली। किन्तु इस कुटुम्ब के पास अब भी इस जिले में कुछ ज़मीन है।

सरदार साहबसिंह अपने ज्येष्ठ भ्राता के समान सिपाही थे और 'बांड़ा घुड़ चढ़ा' में नौकर थे। किन्तु इन्हें टेकसिंह के समान ख्याति प्राप्त न हुई। यह सन् १८८१ में मर गए। ज्वालासिंह और मोहनसिंह अपने बाप के पास थे और वहीं काश्मीर में मोहनसिंह का देहान्त हो गया।

जनरल मिहांसिंह ने जो फ़ौज के गवर्नर थे ज्वालासिंह के लिए प्रबन्ध कर दिया। जब गवर्नर को उन्हीं की फ़ौजों द्वारा क़त्ल कर दिया गया तो ज्वालासिंह मुश्किल से अपनी जान बचा कर भाग पाया। जो फ़ौज ग़दर को दबाने के लिए भेजी गई थी वह उसमें शामिल हो गया और जब शान्ति स्थापित हो गई तो इन्होंने अपने पद से त्याग-पत्र दे दिया और बडाला को लौट आए और वहाँ पर वे अपनी वंशानुगत निजी जायदाद की देख-भाल करते रहे। द्वितीय सिक्ख-युद्ध के समय ग़दर में शामिल हो जाने के कारण उनकी यह जायदाद ज़ब्त करली गई। सन् १८८३ में ज्वालासिंह मर गए और एक ५ वर्ष का लड़का छोड़ गए।

मोहनसिंह को १० साल की उम्र में ही शेर दिल रेजीमेण्ट में कमीशन मंजूर कर दिया गया। उसमें वे सन् १८५५ तक नौकरी करते रहे और फिर २०) माहवारी की पेन्शन पर रिटायर हो गए। मेरठ में ग़दर शुरू होने पर उन्होंने अँगरेज़ सरकार की सेवा की और ये सूबेदार तथा बन्दा मिलिट्री पुलिस के वर्दी मेजर बनाए गए। ग़दर के समय में बहादुरी दिखा कर इन्होंने ख्याति प्राप्त की और बागियों से स्वयं युद्ध करने में दो बार बहुत ही ज्यादा घायल हो गए थे। इसके उपलक्ष में उन्हें १२०) की पेन्शन और मोचल में दो कुओं का अधिकार मंजूर किया गया।

साहबसिंह के मर जाने पर गवर्नमेण्ट ने उनकी जागीर के $\frac{3}{4}$ हिस्से को जब्त कर लिया। शेष $\frac{1}{4}$ भाग उनके दो पुत्रों में बँट गया।

इनमें से मंगलसिंह ने सरकारी नौकरी करना तो मंजूर नहीं किया, किन्तु हमेशा जिले के अफ़सरों को सहायता देता रहा। सन् १८६२ में इसका देहान्त हो गया। इसके दोनों पुत्र फ़ौज में भर्त्ती हो गये। गोपालसिंह बारहवीं बंगाल कैविलरी का जमादार था और सुन्दरसिंह, रिसालदार तथा अठारहवीं तिवाना लैंसर्स में वर्दी मेजर था। सरदार का दूसरा पुत्र प्रसिद्ध व्यक्ति था। जब मई सन् १८५७ में ग़दर शुरू हुआ तो डिप्टी कमिश्नर के बुलाने पर यह २०० आदमी लेकर स्यालकोट आया और पुलिस का सूबेदार नियुक्त कर दिया गया और स्यालकोट में एक महीने तक अपने आदमियों को शिक्षा दिलाने के बाद और अधिकतर उनको देहली रवाना करने के पश्चात् वह और रंगरूट भर्त्ती करने के लिये वडाला लौट आया। जब उसने ६ जौलाई के छावनी के ग़दर का हाल सुना तो वह अकेला ही स्यालकोट को रवाना होगया और कुछ कठिनता के साथ क़िले में पहुँच गया। यह लैफ्टीनेण्ट मैक महोन के साथ भी कोचाक को गये और वहाँ अशान्त-गाँवों का निरीक्षण करने में बड़ी सहायता की। इसके एक साल बाद वह अवध मिलिट्री पुलिस में भर्त्ती हो गये और सन् १८६१ में इसके टूट जाने पर यह पंजाब में पुलिस के इन्सपेक्टर नियुक्त किए गये। सन् १८३७ में यह अन्दमान के लिये असिस्टेण्ट सुपरेण्टेण्डेण्ट की मुक़र्ररी के लिये चुने गये। सन् १८८४ में वह एक अच्छी पेन्शन पर वापिस आ गये और एक साल पहिले वाइसराय द्वारा उन्हें रायबहादुर का ख़िताब भी मिला। यह प्रान्तीय दरबारी भी थे, इन्हें २२० एकड़ की खान्दानी जागीर वडाला में और २८० एकड़ की लाहौर जिले में रखपैमार स्थान पर दी गई। १२००) माहवारी की पेन्शन तथा गुजरानवाला जिले में ५०० एकड़ की जागीर भी मिली। सन् १९०८ में इनका देहान्त हो गया।

सन् १८७४ में सरदार का बड़ा पुत्र ठाकुरसिंह अन्दमान में नौकरी पर नियुक्त हो गया और अपने बाप के लौट आने पर पुलिस का इन्सपेक्टर बना दिया गया। सन् १८८० में घोड़े से गिर कर इसका देहान्त हो गया। इसके दो बेटे थे जिनमें से बड़ा सोहनसिंह पाँचवीं पंजाब कैविलरी में रिसालदार था और अन्त में अतिरिक्त

सहायक कमिश्नर तथा पंजाब सरकार का मीर मुंशी हो गया। सन् १६०८ में इसका छोटा भाई तीस लैन्सर्स में रिसालदार था। राय बहादुर बघेलसिंह के पुत्र हाकिमसिंह को अठारहवीं बंगाल कैविलरी के लिये डाइरेक्ट कमीशन मंजूर किया गया और उसी फौज में अन्तिम अफग़ान-युद्ध तक काम करता रहा। बाद में वह बर्मा में पुलिस बटालियन के सूबेदार बना दिए गये और वहाँ से पेन्शन पर वापिस आ गये। वह आनरेरी मजिस्ट्रेट और सिविल जज थे और अपने बाप की मृत्यु के बाद इस खान्दान के प्रधान माने गये।

सर लैपिल ग्रिफिन साहब ने इस खान्दान का वंश-वृक्ष निम्न प्रकार दिया है:—

- गुरदत्तामल
  - सरदार दीवानसिंह
    - सरदार महताबसिंह
      - स० श्यामसिंह
        - सर० टेकसिंह
          - सर० ज्वालासिंह
            - शिवदेवसिंह
              - दिलीपसिंह
          - मोहनसिंह
            - शमशेरसिंह
              - हरिवंशसिंह
        - फतेसिंह
        - किशनसिंह
        - सरदार साहबसिंह
          - सर० मंगलसिंह
            - गोपालसिंह
              - एक पुत्र
            - सुन्दरसिंह
              - चार पुत्र
            - ईश्वरसिंह
              - तीन पुत्र
          - रायबहादुर सर० बघलसिंह
            - ठाकुरसिंह
              - सरदार सोहनसिंह
                - तीन पुत्र
              - सरदार हीरासिंह
                - दो पुत्र
            - हाकिमसिंह
              - तीन पुत्र
          - हरीसिंह
            - गुरदयालसिंह
      - निधानसिंह
        - मूलसिंह
      - सुल्तानसिंह
        - दो पीढ़ी
      - गुलाबसिंह
        - दो पीढ़ी
  - चार पीढ़ी
    - गुरुदत्तसिंह
      - करतारसिंह
        - तीन पुत्र
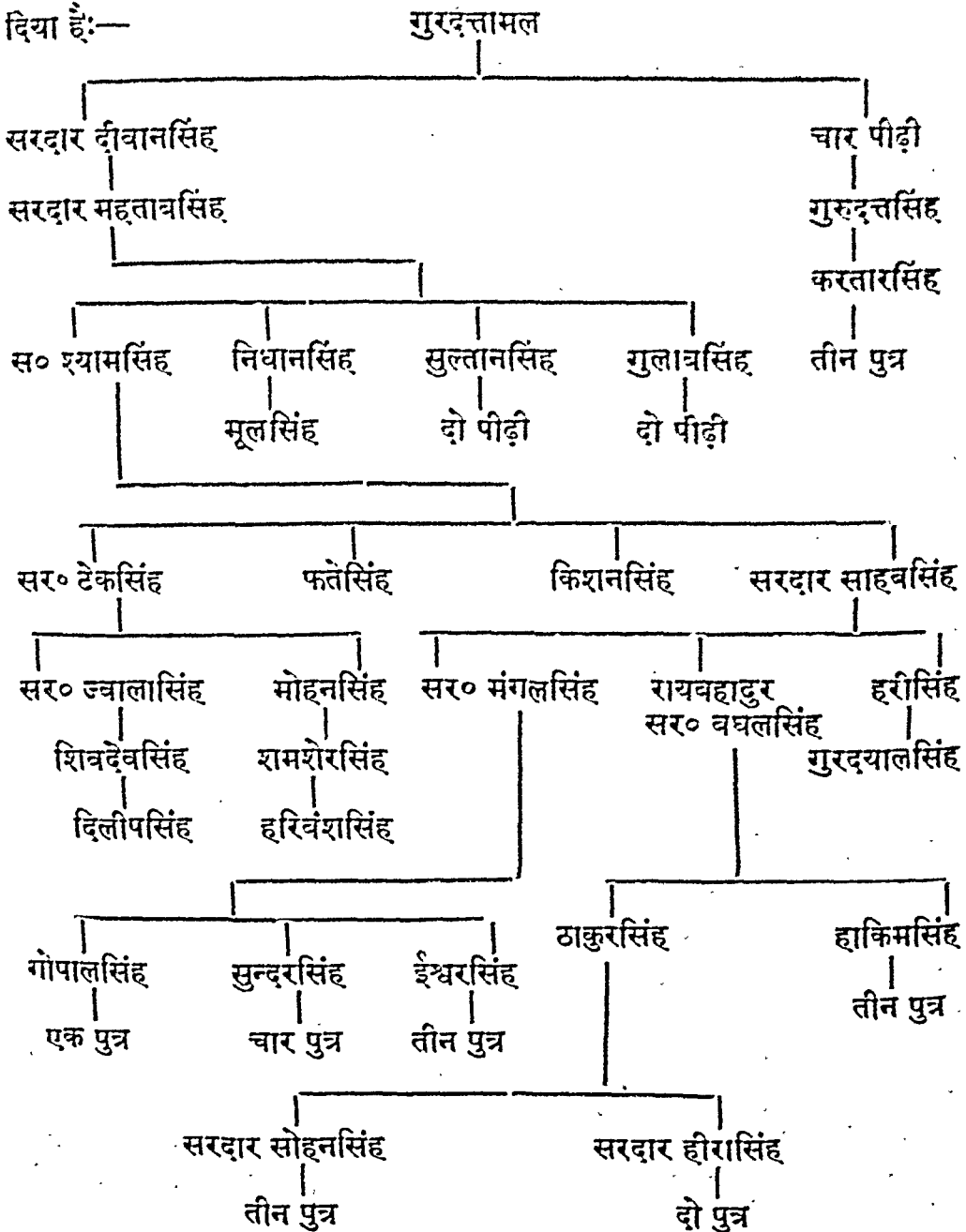
इस वंश का संस्थापक कलास वजवा जाट था। यह मंगा का पुत्र था जिसकी कि समाधि (मंजा का माड़ी) पसरूर में एक दर्शनीय स्थान है और वजवा गोत्र के दोनों हिन्दू और मुसलमानों के लिए वे पूज्य हैं। उन वजवा जाटों की विवाह शादी की रस्म जिनके कि घर यहाँ से बहुत दूर नहीं हैं इसी स्थान पर होते हैं। ऐसा मालूम हुआ है कि कलास ने स्वयं पसरूर को छोड़ दिया था और अपने नाम का एक गाँव बसाया था। आजकल यह गाँव कलालवाला नाम से प्रसिद्ध है जो पहिले नाम का अपभ्रंश है। कलास के अमीशाह और पत्ती नामक दो पुत्र थे।

कलास वजवा

भंगी सरदार हरीसिंह के कोई पुत्र नहीं था अतः उन्होंने दीवानसिंह को गोद ले लिया और सन् १७६० में उसे अपनी रियासत का मालिक छोड़कर मर गए। दीवानसिंह इस रियासत के आधे भाग को ही अपने अधिकार में रख सका और उसके मरने पर कुछ वर्षों के बाद खालसा ने धनासिंह को उसका उत्तराधिकारी घोषित किया। धनासिंह ने हरीसिंह के साथ भेरा के घेरे में और गुजरात के इर्द-गिर्द के सभी युद्धों में अपनी बहादुरी की ख्याति प्राप्त करली थी और उसके छोटे भाई मानसिंह ने सरदार हरीसिंह की सेवा में ही अपना जीवन अर्पण कर दिया था।

जब भंगी मिसल ने स्यालकोट को पठानों और राजपूतों से छुड़ा लिया था और अपनी अन्य रियासतों को विभक्त किया तो कलालवाला, पनवाना चूहरा और महाराजके स्थान धनासिंह के हिस्से में आए। सन् १७९३ में उसके मरने पर महाराज रणजीतसिंह ने उसके पुत्र जोधसिंह को उत्तराधिकारी सरदार मान लिया। वह उसके तीनों पुत्रों में अकेला ही ऐसा था कि जिसमें उसके बाप की तरह के लक्षण थे। इसके थोड़े ही दिन बाद महाराज रणजीतसिंह ने जोधसिंह पर धावा कर दिया। जोधसिंह लगभग ३ साल तक युद्ध करता रहा किन्तु अंत में उसे पूर्ण रूप से आधीनता स्वीकार करने के लिए विवश होना पड़ा। इस पर उसके लिए ६००००) की जागीर मंजूर की गई और वे ऐसे प्रसिद्ध दरबारी थे कि सन् १८१६ में महाराज रणजीतसिंह ने अपने पुत्र खड़गसिंह का विवाह इनकी पुत्री खेमकौर के साथ कर दिया। साहबसिंह ने इस सम्बन्ध के रोकने की पूरी चेष्टा की जिससे कि उसकी ही स्थिति कमजोर हो गई। जोधसिंह का इसी साल में देहान्त होगया। सिक्ख-दरबार में उसकी विधवा स्त्री का व्यक्तिगत प्रभाव इतना था कि उसके कारण इस कुटुम्ब की जायदाद और जागीर का मालिक सरदार चाँदसिंह होगया। चाँदसिंह का बाप, 'शाम सोहा' रेजीमेण्ट में सूबेदार था।

चाँदसिंह और उसका बड़ा भाई गुरुदत्तसिंह सन् १८४८ में उन्नतावस्था को प्राप्त हो गए और कलालवाला के किले में रह कर बग़ावत करने लगे। अतः एक अँगरेज़ी फ़ौज ने उन पर धावा किया और हरा दिया तथा किले को उड़ा दिया और गाँव को भस्म कर दिया। यद्यपि इसमें कोई संशय नहीं कि रानी

खेमकौर ने उनको बग़ावत के लिए उभाड़ा तो भी गवर्नमेण्ट ने रानी के लिए २४००) रुपए की पेन्शन मंजूर कर दी जिसे, कि वह सन् १८८६ तक अपनी मृत्यु समय तक लेती रही। गुरुदत्त और चाँदसिंह को कुछ नहीं दिया गया। पंजाब के अँगरेजी राज्य में मिला लेने के थोड़े ही समय पश्चात् गुरुदत्तसिंह की मौत हो गई। चन्दासिंह, धनसिंह की बची-खुची रियासत की देखभाल करता रहा। यह सन् १८६७ में मर गया और इसका इकलौता बेटा भगवानसिंह इस कुटुम्ब का प्रधान हो गया। उसने एक देहाती सज्जन की तरह से अपना जीवन व्यतीत किया और अपने मरने से पहिले कुछ वर्षों के लिए आनरेरी मजिस्ट्रेट रहा। चन्दासिंह ने अपनी पुत्री महताबकौर का विवाह सरदार तेजसिंह अटारीवाला के साथ कर दिया। वह अपने पति के साथ देश-निकाले में गईं और बरेली में रहने लगीं जहाँ पर कि उनके दूर के रिश्ते के दो भतीजे हीरासिंह और हाकिमसिंह उनके साथी होगए।

भगवानसिंह का एक मात्र पुत्र सरदार रघुवीरसिंह अपने बाप की जगह इस वंश का प्रधान हुआ। उसने ऐटचिसन कॉलेज में शिक्षा पाई थी और वह सन् १८६८ में मर गया। उसके बाद उसका बेटा रनधीरसिंह इस वंश का प्रधान हुआ।

इस कुटुम्ब में से केवल एक ही व्यक्ति सन्तसिंह फ़ौजी नौकरी को गया। वह तीन साल तक सैन्ट्रल इण्डिया होर्स की पहिली रेजीमेण्ट में रहा। यह सन् १८६७ में मृत्यु को प्राप्त होगया।

सर लेपिल ग्रिफिन साहब ने इस ख़ानदान का वंश-वृक्ष निम्न प्रकार दिया है:—

हरियाला
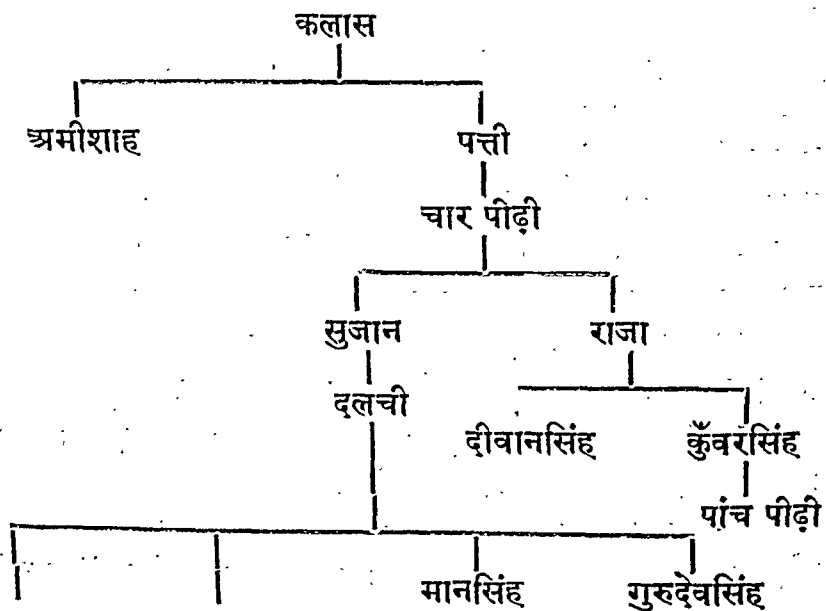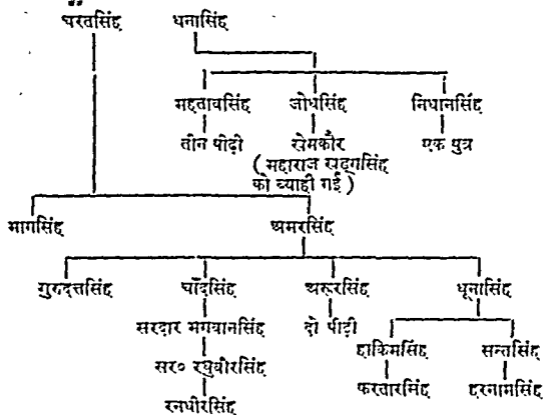
हरियाला गाँव जिला गुजरानवाला में है। कहा जाता है कि सरदार रणधीरसिंह के एक पुरखा चौधरी तेज ने इसकी नींव डाली थी। यह सच है कि यह वंश बहुत दिनों से इस गाँव में रहा है और कुछ समय के लिए इन्हें चौधरायत का पद भी प्राप्त रहा था। लगभग १७४९ ई० में भगतसिंह सिक्ख होगया और शक्तिशाली सरदार गुज्जरसिंह भंगी के लिए अपनी पुत्री देवी का विवाह करके उससे बिना किसी नौकरी के हरियाला गाँव जागीर में ले लिया। गुज्जरसिंह ने युवक मेवासिंह और देवासिंह को अपनी नौकरी में ले लिया और उन्हें गुजरात जिले में नौशेरा की जागीर दे दी जिसके कि स्वामी दोनों ही भाई सम्मिलित रूप से मेवासिंह की मृत्यु तक जो कि लड़ाई में मारा गया था रहे थे और फिर यह जागीर गुज्जरसिंह के बेटे साहबसिंह ने जो कि अपने बाप के पश्चात् भंगी मिसल का उत्तराधिकारी हुआ था ले ली, तो भी इस जागीर के दो गाँव और हरियाला गाँव देवासिंह के लिए छोड़ दिये गये। उसके पुत्र जोधसिंह ने पन्द्रह साल की उम्र में ही सरदार जोधसिंह कलालवाला की फौज में नौकरी करली। इसने सन् १८०५ तक सरदार के युद्ध धावों में नौकरी की। इसी समय सरदार [illegible] की मृत्यु हो जाने पर महाराज ने जागीर जब्त कराली और फौज को कुँवर खड़गसिंह के कमाण्ड में कर दिया।

सन् १८११ में जोधसिंह कुँवरसाहब के साथ भीमबर पहाड़ियों से युद्ध करने के समय गये थे जिसमें कि कुँवर साहब को परास्त होना पड़ा था। दो हजार सवार [illegible]

रखने की शर्त पर रूरियाला की जागीर १२०४३) रुपयों के साथ हमेशा उनके अधिकार में रही, सिर्फ़ एक साल के लिए ही सन् १८३५ में ज़ब्त कर ली गई थी। सन् १८४८ में ज़िला गुजरानवाला के कोटली गाँव में भी इन्हें जागीर मिल गई थी। सतलज के धावे के पश्चात् जोधसिंह अमृतसर में ३०००) पर मय अपनी जागीर के अदालती बनाए गए। सन् १८४६ में पंजाब के मिला लेने के पश्चात् यह उसी जगह पर अतिरिक्त सहायक कमिश्नर नियुक्त किये गए जहाँ पर वे सन् १८६२ तक रहे और रिटायर होगये।

सन् १८४८-४६ में अशांति के समय सरदार जोधसिंह राजभक्त रहे और अमृतसर शहर में शांति स्थापित रखने में पूर्ण उद्योग किया। पंजाब के अँगरेज़ी राज्य में मिल जाने के समय से सन् १८६२ के शुरू तक वे अमृतसर में सिक्खों के मन्दिर में दरबार साहिब के अधिकारी रहे। उन्हें स्वयं सिक्ख गुरुओं ने इस काम के लिए चुना था।

जोधसिंह का सब से छोटा भाई सरदार मानसिंह फ़ौज में एक प्रसिद्ध अफ़सर था। २५ साल की उम्र के लगभग वह राजा सुचेतसिंह की फ़ौज में भर्त्ती होगया था और पेशावर विजय प्राप्त करने के समय उसमें उपस्थित था। फिर वह राजा हीरासिंह की फ़ौज में भर्त्ती होगया जहाँ पर कि वो कैविलरी का एजूटेन्ट बना दिया गया। वह मुदकी, फीरोज़शाह और सोबरांव में अँग्रेज़ों से लड़ा था। जब युद्ध खतम होगया तो वह लाहौर में ५० घुड़सवार फ़ौज का कमाण्डर बना दिया गया। सन् १८४८ में वह अमृतसर भेज दिया गया और अपने भाई के साथ लड़ाई के समय बहुत अच्छी सेवा करता रहा। शांति हो जाने पर उसकी फ़ौज तोड़ दी गई और वह पेन्शन पर रिटायर होगए। किन्तु वे शान्ति से बैठने वाले पुरुष न थे अतः वह सन् १८५२ में पुलिस में भर्त्ती होगए और सन् १८५७ तक उसी में रहे। ग़दर शुरू होते ही ये एक बड़ी फ़ौज के कमाण्डर बनाकर मेजर हडसन के साथ देहली भी भेजे गए। मानसिंह ने देहली के घेरे और विजय में खूब सेवा की। ये सन् १८५८ के गर्मी के मौसिमों के धावे में लड़े और उनके नबाबगंज के युद्ध के साहस की सरकारी चिट्ठियों में इज्ज़त के साथ तारीफ़ की गई जहाँ पर कि उन्होंने लेफ्टीनेण्ट बुलर को जो कि दुश्मनों में घिरा हुआ था छुड़ाया। मानसिंह इस युद्ध में बहुत ही घायल हुआ और उसका घोड़ा तलवार से घायल होगया। इस कार्य के उपलक्ष्य में उसे आर्डर आफ़ मेरिट की उपाधि मिली। सरदार साहब सन् १८७७ में नौकरी से रिटायर होगए और अमृतसर में रहने लगे। वहाँ पर वे सम्मान का जीवन व्यतीत करते हुए सिक्ख-धर्म की सहायता में धन व्यय करते हुए समय व्यतीत करने लगे। सन् १८७९ में आनरेरी मजिस्ट्रेट बनाये गए और उसी साल दरबार-साहिब के मैनेजर नियुक्त किये गए। उन्हें C. O. I. E. का ख़िताब मिला और वे प्रान्तीय दरबारी बनाये गए तथा अमृतसर की चुंगी के मेम्बर भी बना दिए गए। उनकी आमदनी १२०००) सालाना अंदाजी गई थी।

सन् १८६२ में इन का देहान्त हो गया और इनकी निजी जायदाद इनके पुत्रों में बँट गई। इनका श्रेष्ठ पुत्र जवाहरसिंह इनके स्थान पर प्रान्तीय दरबारी बनाया गया तथा जिला गुजरानवाला में आनरेरी मजिस्ट्रेट और जैलदार भी बनाया गया। सन् १६०७ में इनका देहान्त हो गया और उनका ज्येष्ठ पुत्र सरदार रजबंत-सिंह जो कि रूरियाला का जैलदार था इस कुटुम्ब का प्रधान हुआ और उसे प्रान्तीय दरबार में स्थान दिया गया।

गंडासिंह का बेटा करमसिंह पुलिस में नौकर था। जिला गुजरानवाला में उसकी जमीन से १५०) रु० सालाना की आमदनी थी। काहनसिंह के पुत्रों में से सब से बड़ा पुत्र हीरासिंह चौबीसवीं पंजाब इनफैण्ट्री में सूबेदार मेजर था और सरदार बहादुर की उपाधि प्राप्त करके पेन्शन पर रिटायर हो गया। लाहौर और गुजरानवाला जिलों में उसके पास जमीन थी जिससे कि लगभग ३०००) रुपये सालाना की आमद हो जाती थी। सन् १६०५ में इसका देहान्त हो गया। काहन-सिंह का तीसरा पुत्र शेरसिंह २८ वीं माउण्टेन बैटरी में सूबेदार मेजर था और सन् १६०१ में उसे सरदार बहादुर की उपाधि मिल गई। सरदार हीरासिंह का ज्येष्ठ पुत्र शारदूलसिंह सैन्ट्रल इण्डिया हौर्स में दफैदार था, तथा द्वितीय पुत्र आशासिंह अपने पिता वाली रिजमेण्ट—चौबीसवीं पंजाब इनफैन्ट्री में सूबेदार मेजर था।

अप्रेल सन् १८६१ में परतापसिंह पुलिस में सूबेदार मुक़र्रर हो गया और दलसिंह १७ वीं बंगाल कैविलरी में रिसालदार था। सन् १८८५ में इसका देहान्त हो गया। जयसिंह का पुत्र ज्वालासिंह २६ वीं नेटिव इनफैण्ट्री में सूबेदार था। यह पेन्शन पर रिटायर हो गया और सन् १८८८ में इसका देहान्त हो गया। उसके रूरियाला गाँव के हिस्से की आमद २४०) रु० सालाना के लगभग थी। उसका पुत्र वीरसिंह सैण्ट्रल इण्डिया हौर्स में नौकर था।

जोधसिंह का द्वितीय पुत्र हर्ससिंह अपने चचा मानसिंह की तरह नवीं बंगाल कैविलरी में रिसालदार था। वह अवध, सुलतानपुर और फ़ैजाबाद के प्रधान युद्धों में बड़ी बहादुरी से लड़ा था। सन् १८६० में इसका देहान्त हो गया।

स्वर्गीय सरदार जोधसिंह के वंशजों के अधिकार में जिला गुजरानवाला के मौजा रामगढ़ में ६००) रु० की निकासी की वंशानुगत जागीर थी तथा उसी जिले के रूरियाला ग्राम में ७५) रु० की निकासी की मुआफ़ी भी थी। उनको अमृतसर की जमीन और घरों के किराये से १७००) रुपये सालाना की आमद भी हो जाती थी।

सर लैपिल ग्रिफ़िन साहब ने इस ख़ान्दान का वंश-वृक्ष निम्न प्रकार दिया है:—

- भगतसिंह
  - सेवासिंह
  - देवासिंह
    - सरदार जैसिंह
      - ज्वालासिंह
        - वीरसिंह
          - गुरदेवसिंह
        - चार अन्य पुत्र
    - सर० जोधसिंह
      - महताबसिंह
      - हंससिंह
        - तीन पीढ़ी
      - प्रतापसिंह
      - दलसिंह
      - गुलाबसिंह
        - एक पुत्र
      - मलसिंह
        - पाँच पुत्र
    - काहनसिंह
      - सरदार बहादुर हीरासिंह
        - सारदूलसिंह
          - फौजदारसिंह
        - आसासिंह
          - तीन पुत्र
        - बुद्धासिंह
          - बलबीरसिंह
        - सम्पूरनसिंह
      - वज़ीरसिंह
        - केसरसिंह
      - सरदार बहादुर शेरसिंह
    - गण्डासिंह
      - करमसिंह
        - दो पीढ़ी
      - सरमसिंह
    - सरदार बहादुर सर० मानसिंह सी० आई० ई०
      - प्यारासिंह
      - गुरुमुखसिंह
      - सरदार जवाहरसिंह
        - सरदार रजवन्तसिंह
        - हरिवंशसिंह
      - प्रेमसिंह
        - गुरदयालसिंह
      - बलवन्तसिंह
        - मकसूदनसिंह
        - नातासिंह
      - सुन्दरसिंह
        - राजेन्द्रसिंह
      - सुजानसिंह
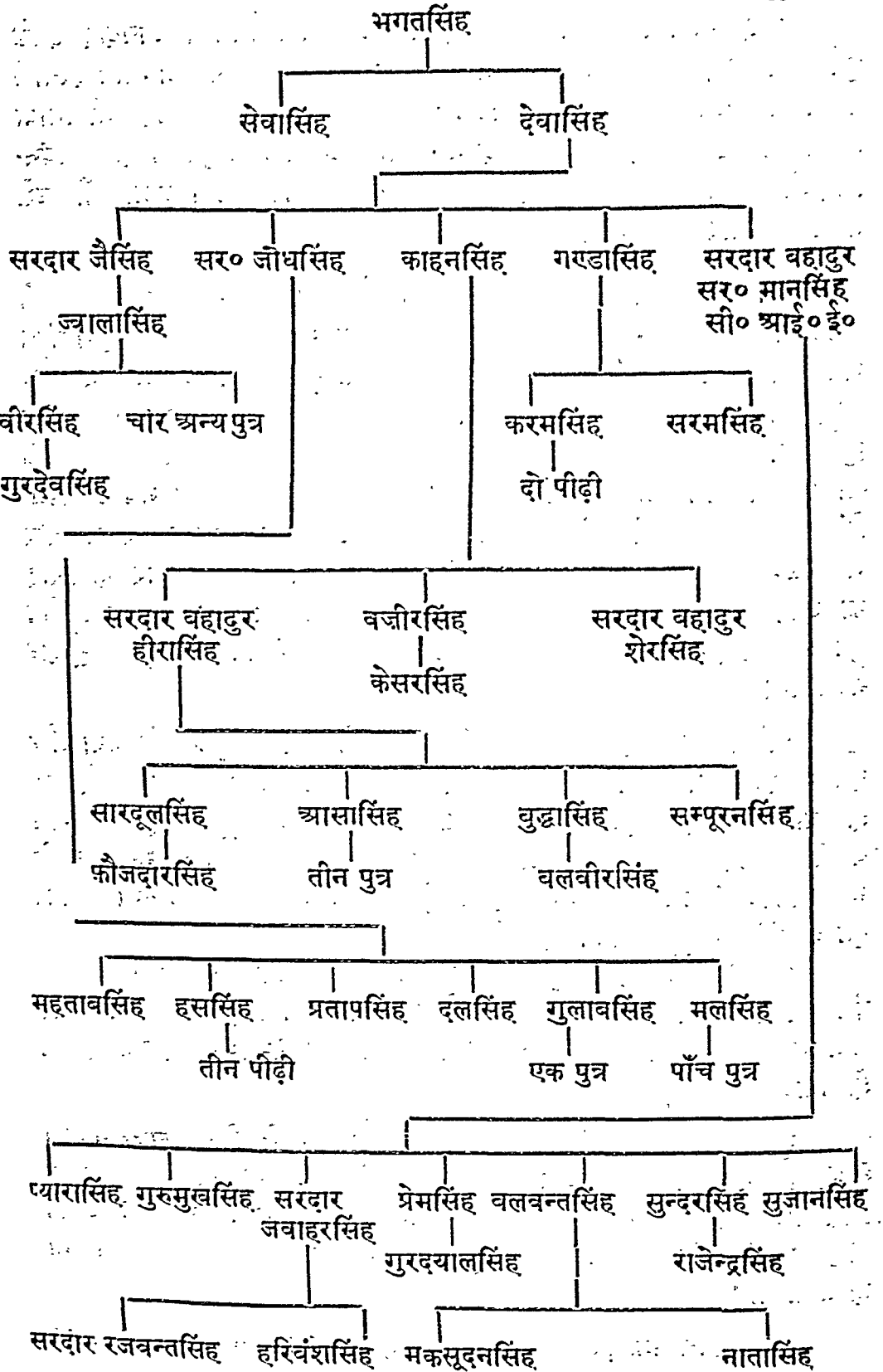
अष्टम अध्याय

संयुक्त-प्रान्त के जाट-राज्य

प्राचीन जनपद तथा अर्वाचीन स्टेटें

जिस प्रान्त को आज संयुक्त-प्रान्त के नाम से बोलते हैं, प्राचीन-काल में वह अनेक छोटे-छोटे राज्यों में बटा हुआ था, जो कि सूरसैन, व्रज, कान्यकुब्ज, कारयकार, पशव आदि अनेक नामों से प्रसिद्ध थे। ऐसे छोटे-छोटे राज्य जानपद कहे जा सकते हैं। कभी इन प्रान्तों पर एक राजा का राज्य रहता था तो कभी जन-समूह का। आज यह पता लगाना कठिन है कि किस स्थान पर किन लोगों का राज्य था और आज उनके वंश के लोग कौन हैं। पिछले पाँच हजार वर्ष की अनेक क्रान्तियों तथा हेर-फेरों ने खोज के काम को और भी चक्कर में डाल दिया है। किन्तु यह तो सही है कि जिन लोगों के राज रहे होंगे उनकी प्रलय तो हो नहीं गई। यह हो सकता है और हुआ भी है कि उनके हाथ से राज निकल गये और राज निकल जाने के बाद आज वह ऐसी दशा में होगये कि उनके सम्बन्ध में यह कल्पना भी नहीं हो सकती कि उनके पूर्वज राजाधिकारी रहे होंगे। हमें संयुक्त-प्रदेश में जिसका नाम अब सूब-ए-हिन्द भी रक्खा जा रहा है, कुछ ऐसे जाति-समूह मिलते हैं जो किसी समय गणतन्त्री अथवा एकतन्त्री शासक रह चुके हैं। ऐसे शासक-समूहों में से जाटों में जिनका अस्तित्व पाया जाता है, उनका यहाँ वर्णन करते हैं चूंकि हमारे इतिहास का सम्बन्ध जाटों तक ही है।

नव

यह लोग वर्तमान नोह के आस-पास के प्रदेश पर राज्य करते थे। महाभारत के पश्चात् यह भारत के उत्तर में जा पहुँचे थे; खोतानके पास नोह नामक झील के किनारे जाकर आवास किया था। सन् ईस्वी के प्रारम्भिक काल में अपनी पितृ-भूमि वापिस आगये और जलेसर के पास बस्तियाँ आबाद कीं। वहाँ से उठकर वर्तमान नोह में एक झील खोदी और उसमें दुर्ग निर्माण किया। ग़दर सन् १८५७ तक किसी न किसी रूप में ये वहां के शासक रहे हैं। "मथुरा मेमायर्स" के हवाले से इनका कुछ हाल हम पीछे भी लिख चुके हैं। अब यह नोहवार (झील के नाम से) मशहूर हैं।

अन्धक

भगवान् कृष्ण ने पहिले-पहल अन्धक और वृष्णि लोगों को सम्मिलित करके ही ज्ञाति राज्य की नींव डाली थी, जिसका कि हम पीछे के पृष्ठों में वर्णन कर चुके हैं। अन्धक लोग मथुरा से उत्तर की ओर आजकल के आंजई नामक स्थान के आस-पास गणतन्त्र प्रणाली से शासन करते थे। साम्राज्य-वादी जरासन्ध से तंग आकर यह वृष्णियों के साथ समुद्र-स्थिति द्वारिका में जा बसे थे। राजपूताने होकर यह किस समय संयुक्त-देश में वापिस आये, यह कुछ पता नहीं चलता। किन्तु आजकल यह औंध, अन्तल और अनलक नामों से पुकारे जाते हैं। अन्धक शब्द का औंध, अन्तल और अनलक बन जाना भाषा-शास्त्र से बिलकुल सम्भव है।

कोइल

प्राचीन समय में यह लोग कांपिल्य कहलाते थे। इसी नाम से इनका देश प्रसिद्ध था। कांपिल्य से उठ कर इन्होंने कंपिलगढ़ बसाया, जोकि गंगा के दक्षिण-पूर्व में था। यह कंपिलगढ़ ही भविष्य में कोइल नाम से मशहूर हुआ जो कि अब अलीगढ़ कहलाता है। "बंगला विश्व कोष" में श्री नगेन्द्रनाथ वसु लिखते हैं—*"सन् १७५७ ई० में जाट लोगों ने रामगढ़ पर अधिकार कर लिया और उसका नाम कोइल रक्खा*[१]। इनके हाथ से कोइल मराठों ने ले लिया और पीरन नाम के फ्रांसीसी को वहाँ का हाकिम नियुक्त किया था। हमें कोइल का इससे भी पहिले का वर्णन एक प्रचलित राग ढोला में मिलता है, यहाँ अर्थात् कंपिलगढ़ में फूलसिंह पंजाबी (जाट) राज करता था। उसने कछवाहे राजा प्रथम की स्त्री को छीन लिया था और उसे अपनी रिवाज के अनुसार स्त्री बनाना चाहा था। कुछ समय तक महाराजा सूर्यमलजी भरतपुर का भी कोइल पर अधिकार रहा था।

श्याम—यह लोग मथुरा से दक्षिण-पश्चिम गोवर्धन के आस-पास राज करते थे। वसुदेव के भाई श्यामक की संतान में से हैं। महाराज अजमीढ़ के दो रानियाँ थीं—एक क्षत्रियाणी, दूसरी वैश्याणी। क्षत्रियाणी रानी से दस पुत्र हुए, उन्हीं में एक श्यामक थे। यथा:—

वसुदेवं देवभागं देवश्रवस माऽनकम्।
सृंजयं श्यामकं कंकम् समीकम् वत्सकम्वृकम्[२] ॥

अर्थात्—(१) वसुदेव, (२) देवभाग, (३) देवश्रवा, (४) आनक, (५) सृंजय, (६) श्यामक (७) कंक, (८) समीक, (९) वत्सक और (१०) वृक। भगवान श्रीकृष्ण के पिता गोवर्धन में राज करते थे। निकट के सभी गणराज्यों में उन (वसुदेव) का प्रभाव था।

१—बंगला विश्वकोष। जिल्द ७। पे०७। २—'यदुकुल सर्वस्व'। पे० ६।

चौ० रिछपालसिंह जी बी० ए०
धमेड़ा (बुलन्दशहर)
भूतपूर्व उपसम्पादक 'जाटवीर'।
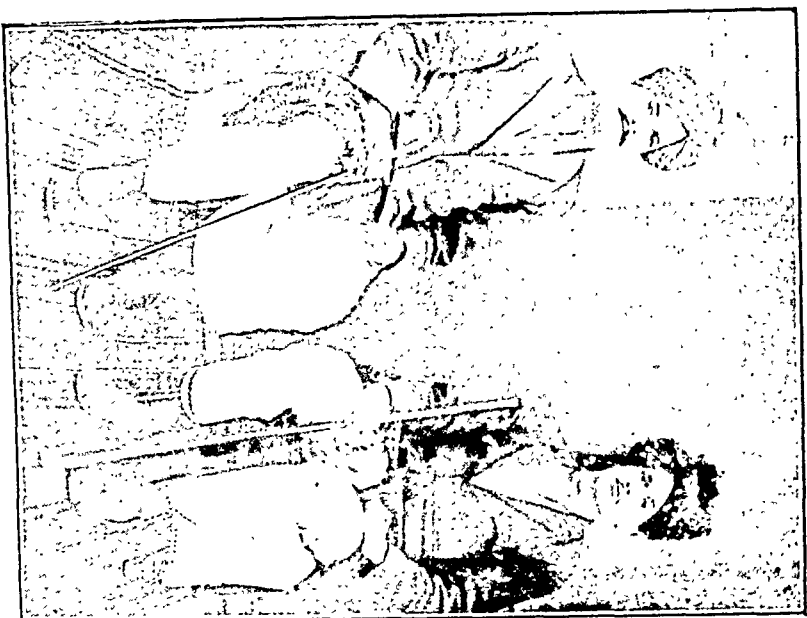
(बड़े) चौधरी नत्थासिंह जी वास कुलोठ (जैपुर)
चौधरी हरीरामसिंहजी म० फरटिया, लुहारू स्टेट।

कुं० नेतरामजी, कुं० वंशीधरजी, गं

वसुदेव के समय में उनके समीपवर्त्ती अनेक राज्यों के नाम गर्ग-संहिता में आते हैं। उनमें से कुछ एक के शासकों के नाम इस प्रकार हैं—वीरभान, चन्द्रभान, शचिभान, कीर्त्तिभान, वृषभान, नन्द, सुनन्द, सुप्रभानन्द, हरनन्द आदि[१]। इनमें से कुछ एक के लिये तो आज भी लोग जानते हैं कि वे कहाँ के राजा थे और उनके समुदाय के लोग किस जाति में पाये जाते हैं। जैसे वृषभान—वृज का बच्चा-बच्चा जानता है कि वे गूजर थे। नन्द के लिये कुछ विदेशी विद्वानों ने जाट लिखा है। अलबरूनी ने भी श्रीकृष्ण व उनके पालक पिता को जाट लिखा है। अहीरों का दावा है कि नन्द अहीर थे। हमारा भी यही ख्याल है कि नन्द के समूह के लोग अहीरों में शामिल हैं, किन्तु अहीर और जाट में कोई अन्तर नहीं, जाटों *में कुछ लोग अब तक अपना गोत अहेर वंशी बतलाते हैं। इसमें भी कोई सन्देह* नहीं है कि अहीरों का कुछ समूह जाट और राजपूतों में परिणत हो गया है। अहीर राजपूतों में परिवर्त्तित हो गये, ऐसा मि० भट्टाचार्य ने भी अपनी पुस्तक में लिखा है। उनका कहना है कि:—"It seems very probable that the Yadubansi-Rajputs are derived from the Yadubansi-Ahirs."2

अर्थात्—"यह संभव है कि यादववंशीय राजपूतों का (निकास) उत्पत्ति यादववंशीय अहीरों से है।"

यादव अहीर, जाट और राजपूत तीनों ही जातियों में पाये जाते हैं। उनके इस प्रकार विभक्त होने के कारण राजनैतिक व साम्प्रदायिक अनैक्यता है। रक्त में कोई अन्तर नहीं। अस्तु—

हमारा उद्देश्य इस स्थल पर यह नहीं कि हम जाट व अहीर यादवों की एकता सिद्ध करें। कहने का अभिप्राय यह है कि ऊपर लिखे राजाओं में कई जाट थे। यह सारे ही राजा अथवा जनपद थे बहुत छोटे-छोटे। कोई उनमें से दो-चार गाँवों के ही शासक थे।

शूर

बटेश्वर के आस-पास सूर लोगों का राज्य था। कुछ लोगों के मत से सिनसिनी के आस-पास शूर लोग राज्य करते थे। एक समय उनका इतना प्रचंड प्रताप था कि सारे देश का नाम ही सौरसैन होगया। समस्त यादव सौरसैनी कहलाने लगे। मध्यभारत की भाषा का नाम भी उनके नाम पर पड़ गया। आज वे युक्त प्रदेश और राजपूताने में सिहोरे (शूरे) सूकरे और सोगरवार कहे जाते हैं। शूरसैनी लोगों की एक शाखा पहिले सेवर (शिवर) भरतपुर के निकट आबाद थी। आस-पास के अनेक गाँवों पर उसका प्रभुत्व था। वंशावली रखने वाले भाटों ने सिनसिनवार और सोगरवारों को १०-१२ पीढ़ी पर ही एक कर दिया है। यह ग़लत है। हाँ वे दोनों ही यादव अथवा चन्द्रवंश

१—नन्द महोत्सव। पृष्ठ १४। 2—इण्डियन कास्ट्स एण्ड ट्राइब्स। (मि० भट्टाचार्य लिखित)।

संभूत हैं। सोगरवार लोगों में सुग्रीव नाम का एक बड़ा प्रसिद्ध योद्धा हुआ है। उसने वर्तमान सोगर को बसाया था। उस स्थान पर एक गढ़ बनाया था, जो सुग्रीव-गढ़ कहलाता था। सुग्रीव गढ़ ही आज-कल सोगर कहलाता है जो क्रमशः सुग्रीव-गढ़ से सुगढ़, सोगढ़ और सोगर होगया है। यहाँ पर सुग्रीव का एक मठ है। सारे सोगरवार पहिले उसके नाम पर फ़सल में से कुछ अन्न निकालते थे। अब भी व्याह शादियों में सुग्रीव के मठ पर एक रुपया अवश्य चढ़ाया जाता है। इसी वंश में खेमकरन नाम का एक प्रचंड वीर उत्पन्न हुआ था। वह महाराज सूरजमल से कुछ समय पहिले उत्पन्न हुआ था। औरंगजेब की सेना के उसने रास्ते बन्द कर दिये थे। अपने मित्र रामकी चाहर के साथ मिलकर आगरा, धौलपुर और गवालियर तक उसने अपना आतंक जमा दिया था। मुग़लों के सारे सरदार उसके भय से काँपते थे। कहा जाता है वर्तमान भरतपुर उसी के राज्य में शामिल था। दोपहर को धोंसा बजा कर भोजन करता था। आज्ञा थी कि धोंसे के बजने पर जो भी कोई भाई सहभोज में शामिल होना चाहे हो जाय। वीर के होने के सिवा खेमकरन दानी और उदार भी था। कहा जाता है कि उसके पास हथिनी बड़ी चतुर और स्वामि-भक्त थी। यह प्रसिद्ध बात है कि अर्डींग के तत्कालीन खूटेल शासक ने उसे भोजन में विष दे दिया था। जिस समय खेमकरन भोजन पर बैठा था उसे मालूम होगया था कि भोजन में विष है, किन्तु काँसे पर से उठना उसने पाप समझा। भोजन करते ही हथिनी पर सवार होकर अपने स्थान सुग्रीवगढ़ को चल दिया। कहा जाता है कि विष इतना तीक्ष्ण था कि वह हथिनी पर ही टुकड़े-टुकड़े हो गया। उसके मरने पर उसकी हथिनी भी मर गई। वह बलवान इतना था, कि कटार से ही एक साथ दो दिशाओं से छूटे हुए शेरों को मार दिया था। मुग़ल बादशाहों ने उसे फ़ौजदार का खिताब दिया था। सोगर का ध्वंश गढ़ उसके अतीत की स्मृति दिलाता है। यह स्थान संयुक्त-प्रदेश की सीमा के निकट राजस्थान में है।

गढ़वाल

आज़कल यह राजपूताने में पहुँच गये हैं। गढ़वाल इनकी उपाधि है। अनंगपाल के समय में गढ़मुक्तेश्वर में इनका राज्य था। राजपाल के वंशजों में कोई जाट सरदार मुक्तासिंह थे, उन्होंने गढ़मुक्तेश्वर को निर्माण कराया था। जब पृथ्वीराज दिल्ली का शासक हुआ तो इन्हें उसके सरदारों ने छेड़ा। युद्ध हुआ। अमित पराक्रम के साथ चौहानों के दल को इन्होंने हटा तो दिया; किन्तु स्थिति ऐसी हो गई कि इन्हें गढ़मुक्तेश्वर छोड़ना पड़ा और यह राजपूताने की ओर चले गये[१]। तलावड़ी के मैदान में जिस समय मुहम्मद ग़ोरी और पृथ्वीराज में लड़ाई हुई तो जाटों ने मुसलमानों पर आक्रमण किया, उन्हें तंग किया, किन्तु पृथ्वीराज से उन्हें कोई सहानुभूति इसलिये नहीं थी कि उसने उनके एक अच्छे खान्दान का राज हड़प लिया था। यही क्यों पूरनसिं

१—तहसीलदार कुरड़ारामजी, नवलगढ़ द्वारा प्राप्त।

नाम का एक जाट योद्धा मलखान की सेना का जनरल हो गया। उसने मलखान के साथ मिल कर अनेकों युद्ध किये। वास्तव में मलखान की इतनी प्रसिद्धि पूरनसिंह जाट सेनापति के कारण ही हुई थी१। गढ़वालों का शेष-वर्णन राजस्थानी जाटों के वर्णन में लिखा है।

जत्रि

इन लोगों को कहीं जतरान और कहीं जितरान बोलते हैं। अपने मध्य-काल में यह लोग चित्तौड़ के आस-पास थे। अलबरुनी ने चित्तौड़ का नाम जित्रोर लिखा है जो इन्हीं के कारण प्रसिद्ध रहा था। मेवाड़ का पहिला नाम मेदपाट था। यहाँ शिव लोगों का जो कि अब जाटों में शिवि गोत्र के नाम से मशहूर हैं एक जनपद था। मद्र और मेद लोग भी जाटों में पाये जाते हैं, सम्भवतया जाट मेदों के कारण ही इस देश का नाम मेदपाट था।

जत्रि अथवा जतरान जाट चित्तौड़ से चलकर अनेक स्थानों में चले गये। कुछ बिजनौर, कुछ गवालियर और कुछ जलेसर की ओर फैल गये। जिला अलीगढ़ में जरतौली नामक स्थान पर उन्होंने अपना राज्य क़ायम किया। पीछे यह स्थान नोहवारों के हाथ आ गया। राव रतीराम नामक सरदार के समय में इब्राहीम लोदी ने नोहवारों को भी जरतौली से निकाल दिया। राव रतीराम नरवर की ओर चला गया और उसके पुत्रों ने नोह को अपने पुरोहित को दे दिया। अपने लिए बाजना और भेनराय स्थानों पर गढ़ी बनाई२। जरतौली से जत्रि लोग इधर-उधर पहिले ही फैल चुके थे।

हाला

आन्ध्र-वंश में महाराज हाल (सातवाहन हाल) एक प्रसिद्ध नरेश होगये हैं। वे बड़े विद्या-प्रेमी थे। उनके समय में एक ग्रन्थ तैयार हुआ था जिसका नाम 'गाथा सप्तशती' था। इसमें सात सौ कथायें थीं। यह प्रतिष्टानपुर में राज्य करते थे। प्रतिष्टानपुर को कुछ लोग निजाम राज्य का पैठन और कुछ लोग इलाहाबाद के पास का बिटूर बतलाते हैं। इनके ग्रन्थ "गाथा सप्तशती" में राजा विक्रमादित्य की दान-शीलता का इस प्रकार वर्णन है:—

"संवाहन सुखरस तोपि तेन ददता तव करे लाक्षाम्।
चरणेन विक्रमादित्य चरित मनु शिक्षतं तस्याः॥"

राजा हाल का समय ईस्वी सन् ६६ के इधर-उधर का है३।

२—काशी नागरी-प्रचारिणी पत्रिका। भाग १२, अंक ३, पेज ३७४। २—"ट्राइब्स एण्ड कास्टस् आफ़ दी नदर्न प्राविंसेस एण्ड अवध"। लेखक डब्ल्यू. क्रुक साहब B. A.
३—सरस्वती। भाग ३३। संख्या ३।

कुछ क्षत्रिय-जातियों का पथ दक्षिण से उत्तर को है। हाल के वंशज तथा समुदाय के लोग भी इसी तरह दक्षिण-भारत से उत्तर-भारत में आगये और यू० पी० तथा राजस्थान में फैल गये। जाटों के दल में वे हाला नाम से पुकारे जाते हैं।

कुन्तल

महाभारत में कुन्ति-भोज और कौन्तेय लोगों का वर्णन आता है। कुन्ति-भोज तो वे लोग थे जिनके यहाँ कुन्ति गोद गई थीं। कौन्तेय वे लोग थे, जो पांडु के यहाँ महारानी कुन्ति के पैदा हुए थे। महाराज पांडु के दो रानी थीं--कुन्ति और माद्री। कुन्ति के पुत्र कौन्तेय और माद्री के माद्रेय नाम से कभी-कभी पुकारे जाते थे। ये कौन्तेय ही कुन्तल और आगे चल कर खूंटेल कहलाने लग गए। जिस भाँति अपढ़ लोग युधिष्ठिर को जुधिस्ठल पुकारते हैं उसी भाँति कुन्तल भी खूंटेल पुकारे जाने लगे। बीच में उर्दू भाषा ने कुन्तल को खूंटेल बनाने में और भी सुविधा पैदा करदी। खूंटेल अब तक बड़े अभिमान के साथ कहते हैं—"हम महारानी कौन्ता (कुन्ति) की औलाद के पांडव वंशी क्षत्रिय हैं।" भाट अथवा वंशावली वाले खूंटेला नाम पड़ने का एक विचित्र कारण बताते हैं—"इनका कोई पूर्वज लुटेरे लोगों का संरक्षक व हिस्सेदार था, ऐसे आदमी के लिये खूंटेल (केन्द्रीय) कहते हैं।" किन्तु बात ग़लत है। खूंटेल जाट बड़े ही ईमानदार और शान्ति-प्रिय होते हैं। वंशावली वाले इन्हें भी तोमरों से उसी भाँति अलग हुआ मानते हैं कि राजपूत तोमर ने जाटिनी से शादी करली, इस कारण यह राजपूत से जाट हो गए। हम कहते हैं कि तोमर राजपूत ही तोमर जाटों से निकले हुए हों तो क्या अचम्भा है?

'मथुरा मेमायर्स' के पढ़ने से पता चलता है कि हाथीसिंह नामक जाट (खूंटेल) ने सोंख पर अपना आधिपत्य जमाया था और फिर से सोंख के दुर्ग का निर्माण कराया था। हाथीसिंह महाराजा सूर्यमल्लजी का समकालीन था। सोंख का क़िला बहुत पुराना है। राजा अनंगपाल के समय में इसे बसाया गया था। गुसाईं लोग शंखासुर का बसाया हुआ मानते हैं। मि० ग्राऊस साहब लिखते हैं:—

"*जाट शासन-काल में (सोंख) स्थानीय विभाग का सर्व प्रधान नगर था*[१]। राजा हाथीसिंह के वंश में कई पीढ़ी पीछे प्रहलाद नाम का व्यक्ति हुआ। उसके समय तक इन लोगों के हाथ से बहुत सा प्रान्त निकल गया था। उसके पाँच पुत्र थे--(१) आसा (२) आजल (३) पूरन (४) तसिया (५) सहजना। इन्होंने अपनी भूमि को जो दस-बारह मील के क्षेत्रफल से अधिक न रह गई थी

१—मथुरा मेमायर्स, पे० ३७६। आज कल सोंख पाँच पट्टियों में बँटा हुआ है—लोरया, नेनूं, सींगा, एमल और सोंख। यह विभाजन गुलाबसिंह ने किया था।

स्वामी बालदासजी मढ़ा, जैपुर ।

ठेकेदार पोहकररामजी बीकानेर की पूज्य माता
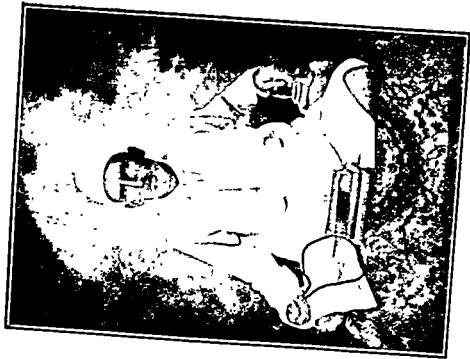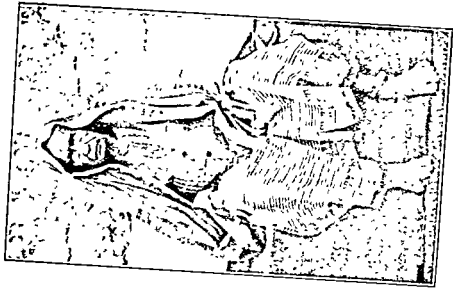
कुं० रनधीरसिंह जी, कठवारी आगरा ।

बन्दूक वाले ठाकर भूरीसिंह गोद में कुं० अर्जुनसिंह, कुर्सी पर ठा० छिद्दासिंह जी गोद में कुं० सरदारसिंह, बालिका-चम्पावती-बालक अमरसिंह, भरतसिंह कठवारी (आगरा)

ा में बाँट लिया और अपने-अपने नाम से अलग-अलग गाँव बसाये। ना गाँव में कई छतरियाँ बनी हुई हैं। तीन दिवालें अब तक खड़ी हैं। ग्राउस साहब 'मथुरा मेमायर्स' में लिखते हैं—'*इनसे सिद्ध होता है कि पूर्ण वैभवशाली और धन-सम्पन्न थे*'।

जाट-शासन-काल में मथुरा पाँच भागों में बटा हुआ था—अड़ींग, सौंसा, फ़रह और गोवर्धन १।

'मथुरा मेमायर्स' के पढ़ने से यह भी पता चलता है, कि मथुरा जिले के अनेक ों पर किरारों का अधिकार था। उनसे जाटों ने युद्ध द्वारा उन स्थानों को कार में किया। खूंटेला जाटों में पुष्करसिंह अथवा पाखरिया नाम का एक प्रसिद्ध शहीद हुआ है। कहते हैं, जिस समय महाराज जवाहरसिंह देहली पर ार गये थे अष्टधाती दरवाजे की पैनी सलाखों से वह इसलिये चिपट गया ; हाथी धक्का देने से कांपते थे। पाखरिया का बलिदान और महाराज ारसिंह की विजय का घनिष्ट सम्बन्ध है।

अड़ींग के क़िले पर महाराज सूर्य्यमल से कुछ ही पहिले फोंदासिंह नाम का ा सरदार राज करता था। उसने सिनसिनवारों की अधीनता स्वीकार कर ली कहा जाता है कि खेमकरन सोगर नरेश को फौन्दासिंह ने ही जहर दिया था। : पेंठा नामक स्थान में जो कि गोवर्धन के पास है, सीताराम (कुन्तल) ने निर्माण कराया था। कुन्तलों का एक क़िला सोनोट में भी था।

कुन्तल (खूंटेल) सिनसिनवार व सोगरवारों की भाँति डूंग कहलाते हैं। डूंग शब्द से बड़े भ्रम में पड़ते हैं। स्वयम् डूंग कहलाने वाले भी नहीं बता कि हम डूंग क्यों कहलाते हैं? वास्तव में बात यह है कि डूंग का अर्थ होता है। पंजाब में "जदू का डूंग" है। यह वही पहाड़ है जिसमें यादव लोग पाण्डव लोगों के साथ यादव विध्वंश के बाद जाकर बसे थे। बादशाहों की से खूंटेल सरदारों को भी फ़ौजदार (हाकिम-परगना) का खिताब मिला था।

यह शब्द पांचाल का अपभ्रंश है। राजा जगदेव उनमें एक प्रसिद्ध राजा हो गये ऐसा इनका अनुमान है। यह पंजाब से मालवा होकर रचहरे बृज में आए हैं। पहिले इन्होंने पचपुरी नामक स्थान में जो आजकल पीपरी कहलाता है, गढ़ निर्माण कराया था। सरदार अरि- की अध्यक्षता में अरिखेड़ा अथवा आयरखेड़ा की नींव डाली। ग़दर के समय ासिंह नाम के एक सरदार ने विद्रोह में भाग लिया था। मथुरा जिले में भारी संख्या है।

१—'मथुरा मेमायर्स'। पे० ३७६।

जूरैल — यह शब्द युवराजिक से बना है। जैन-ग्रन्थों में हम जुवरायिण लोगों का वर्णन पढ़ते हैं। जुवरायिण—वह लोग थे जिनके यहाँ शासन कार्य में राजा की अपेक्षा युवराज का हाथ अधिक रहता था। युवराजिक से जुवराजिक और फिर जुवरैल तथा जूरैल शब्द बन गया। इन लोगों का अस्तित्व जैन-काल में मालवा और मगध के आस-पास पाते हैं।

सिकरवार — आगरा ज़िले में सीकरी नामक स्थान को इन्हीं लोगों ने बसाया था और पहिले चंबल के किनारे पर आबाद थे। बाबर के आने से पहिले तक किसी न किसी रूपमें सीकरी के निकट के स्थान पर इनका आधिपत्य था। राजपूतों में भी सिकरवार गोत के लोग पाये जाते हैं। यह लोग अपने को सूर्य्य वंशी क्षत्रिय कहते हैं।

सोलंकी — जैसा कि हम पहिले कह चुके हैं चौल से चालुक्य और फिर सोलंकी शब्द बना है। आगरे सूबे में यह लोग सोहरौत भी कहे जाते हैं। सौर नाम के राजा के नाम पर सोलंकी से सोहरौत कहलाने लग गये। सौर का वर्णन कर्नल टाड ने भी किया है। दक्षिण भारत से उत्तर भारत में यह लोग ईस्वी सन् ७०० के इधर-उधर आए होंगे ऐसा अनुमान किया जाता है। सूरौठ में इनकी आरम्भिक गढ़ियाँ मेरठ जिले में सोहरौत की अपेक्षा सोलंकी नाम से ही मशहूर हैं। मुसलमान हाकिमों से मेरठ के सोलंकियों को कई वार युद्ध करना पड़ा था। भाट लोग कहते हैं गंगा किनारे का सोरों नामक स्थान सौर राजा का बसाया हुआ है।

राना — आगरे के पास बमरौली-कटारा स्थान है। यह स्थान इन लोगों द्वारा कटारे ब्राह्मणों को दिया गया था। कहा तो ऐसा जाता है कि राना वंश के एक पुरुष को यहाँ के ब्राह्मण ने अपना जामात्र बना कर रक्षा की थी। यह गोत्र उपाधि वाची है। यह लोग सूर्यवंशी जाट हैं। धौलपुर का प्रसिद्ध राज-वंश राना है।

माथुर — यह शब्द देशवाची है। माथुर का अपभ्रंश माहुर और माहुरे हो गया है। जिनका निकास मथुरा से है वह माहुरे कहलाते हैं। सूर्यवंशी क्षत्रियों का वह जत्था जिसने मधु-कैटभ से मथुरा छीनी थी पीछे से मथुरा से चन्द्रवंशियों द्वारा हटा दिया गया था, वही माथुर कहलाया। ब्राह्मण, वैश्य और जाट तीनों वर्णों में माथुर अथवा माहुरे मौजूद हैं। यह लोग शत्रुहन की संतान के हैं ऐसा माना जाता है।

[...]रा — आरम्भ में यह लोग पंजाब में आबाद थे और राठौर, राठी आदि की भाँति अरट्टों के उत्तराधिकारी हैं। युक्त-प्रदेश में कागारौल नामक स्थान के पास इनका राज्य था, जो कि इनके काक नाम के राजा के नाम

श्रीमन्त राजा वहादुर श्री किशोरीरमणसिंह जी, मुरसान राज्य ।

पर बसाया हुआ जान पड़ता है। कहा जाता है उसका क़िला एक मील के घेरे से भी अधिक था। जैगारे व कागारौल के बीच में उसके निशान अब तक बताये जाते हैं। रोर या रूर लोग अब से सात सौ वर्ष पूर्व वैभवशाली थे। लाखा बंजारे की और सोरठ की गाथा का इन रोर लोगों से ही सम्बन्ध है ऐसा भी अनुमान किया जाता है।

रावत

बड़रावत, घड़राइया, रावत एक ही हैं। मि० ग्राऊस साहब तो इनका प्रसिद्ध स्थान पुरा को ही बतलाते हैं, जो कि बहुत ही छोटी हालत में रहा होगा। यद्यपि इन्हें 'मथुरा मेमायर्स' में पूर्ण स्वतन्त्र बताया गया है, किन्तु इनका विशेष हाल नहीं मिलता। पुरा गाँव, मथुरा-भरतपुर सड़क के बारहवें मील के पास है। उसके पास ही एक गढ़ के निशान हैं। वह गढ़ कुन्तलों का था या रावतों का यह नहीं कहा जा सकता।

मुग़ल-काल से पहिले तक हमारे देश में बहुत से छोटे-छोटे राज्य होते थे। एक-एक राजा के पास केवल दस गाँव ही होते थे। कोई-कोई राज्य कुल-राज्य कहलाते थे। अर्थात् जितने गाँव एक कुल के होते थे उन पर उनका ही राजा राज करता था। ऐसे सभी छोटे-छोटे राज्यों के इतिहास के लिये काफ़ी समय और पृष्ठ चाहियें, किन्तु समयाभाव तथा स्थानाभाव के कारण हम अब यू० पी० के प्रसिद्ध राज-घरानों का वर्णन करते हैं।

ठेनुआँ राज-वंश

संयुक्तप्रांत के जाटों में इस समय यही राज-वंश अधिक वैभव-शाली है। सोलहवीं शताब्दी के अन्त में अपने नेता श्री० माखनसिंह जी की अध्यक्षता में राजपूताने से यह ब्रज में आये थे। जावरा के पास इन्होंने अपना कैम्प बनाया। उन दिनों जहाँगीर मुग़ल भारत का सम्राट् था। इन लोगों ने जावरा के चारों ओर बहुत से गाँवों को अपने अधिकार में कर लिया। इन लोगों की अधिकृत रियासत टप्पा (Tappa) जावरा के नाम से प्रसिद्ध हुई। खोखन गोत्र के जाट जिनका कि अधिकार राया के आसपास की भूमि पर था माखनसिंह जी ने उनकी लड़की के साथ अपनी शादी की। आस-पास के जाटों को संगठित करके राज्य बढ़ाना आरम्भ किया। अनेक स्थानों पर गढ़ों का निर्माण होना आरम्भ हो गया जिनमें से आज भी अनेक गढ़ों के चिह्न वर्तमान हैं। गौसना, सिन्दूरा आदि में हमने ऐसे गढ़ों को स्वयम् देखा है।

शाहजहाँ के अन्तिम काल में सादुल्लाखाँ ने जाटों के निमंत्रण के लिये इनके मध्य में आकर छावनी बनाई, जो सादाबाद के नाम से मशहूर हुई। उसने १६५२ ई० में जाटों का टप्पा, जावरा, कुछ भाग जलेसर का, खंदौली, के सात गाँव और महावन के ८० गाँवों पर क़ब्ज़ा करके सादाबाद के परगने में शामिल कर लिया। किन्तु जाट उसके आधीन होते हुए भी स्वतंत्र रहे। इन्होंने कभी सरकारी ख़ज़ाने के

लिये टैक्स नहीं दिया। रात-दिन युद्ध-आक्रमण और आघात-प्रत्याघात जारी रक्खे।

शाहजहाँ के बाद जिस समय उसके लालची लड़कों में राज्य-प्राप्ति के लिये गृह-युद्ध छिड़ा हुआ था माखनसिंह जी के प्रपौत्र श्री० नन्दराम जी ने जाटों की शक्ति को फिर संगठित किया, और दरियापुर के पोरच राजा की भी शक्ति अपने साथ मिला ली। अपनी बहादुरी, साहसिकता और बुद्धिमानी से नंदराम जी ने अपनी रियासत को बहुत बढ़ा लिया। जिसे अपने भुजबल पर विश्वास होता है, शत्रु भी उससे झुक जाता है। औरंगज़ेब ने गद्दी पर बैठते ही नन्दराम की बढ़ती हुई शक्ति की ओर देखा, किन्तु वह उस समय जाटों से भिड़ना बुद्धिमानी नहीं समझता था। इसलिये उसने नन्दराम जी को फ़ौजदार की उपाधि से विभूषित किया और तोछीगढ़ की तहसील उनके सुपुर्द कर दी। वास्तव में नन्दराम इस प्रान्त के खुद मुख्त्यार राजा हो चुके थे।

नंदरामजी ने ४० वर्ष तक राज किया। इन ४० वर्षों में उनकी तलवार की चमक, हृदय की गंभीरता, भुजाओं की दृढ़ता काफी प्रसिद्धि प्राप्त कर चुकी थीं। ऐसे योद्धा का सन् १६६५ ई० में स्वर्गवास होगया।

नंदरामजी के चौदह पुत्र थे जिनमें जलकरनसिंहजी सब से बड़े थे। दूसरे जैसिंहजी थे। सातवें योग्य पुत्र का नाम भोजसिंह था। आठवें चूरामन, नवें जसवन्तसिंह, दसवें अधिकरन, ग्यारहवें विजयसिंहजी थे। शेष पुत्रों के नाम हमें मालूम नहीं हो सके। चूरामन तोछीगढ़ के मालिक रहे। जसवन्तसिंह बहरामगढ़ी के अधिपति हुए। श्रीनगर और हरमपुर क्रमशः अधिकरन और विजयसिंहजी को मिले।

जलकरनसिंह अपने बाप के आगे ही स्वर्गवासी हो चुके थे। उनके सुयोग्य पुत्र खुशालसिंह अपने राज्य के मालिक हुए। उनके चाचा भोजसिंहजी से उन्हें राहतपुर और मकरौल गाँव मिले। खुशालसिंहजी ने सआदतउल्लाख़ाँ से दयालपुर, मुरसान, गोपी, पुतैनी, अहरी, और बारामई का ताल्लुक़ा भी प्राप्त कर लिया था। यह बड़े ही मिलनसार और समझदार रईस थे। मुरसान के प्रसिद्ध गढ़ का निर्माण इन्होंने बड़े हर्ष के साथ कराया था। इस समय इनके पास तोप और अच्छे-अच्छे घोड़े अच्छी संख्या में थे। राज्य-विस्तार शनैः-शनैः बढ़ रहा था। मथुरा, हाथरस और अलीगढ़ के बीच के प्रदेश पर इनका अधिकार प्रायः सर्वांश में हो चुका था।

इनके बाद इनके पुत्र पुहपसिंह राज्य के मालिक हुए। उस समय के प्रसिद्ध लड़ाके योद्धाओं में आपकी गिनती होती है। ग्राम्य-गीतों में भरतपुर के साथ इनके युद्ध होने के प्रमाण मिलते हैं। किन्तु वृद्ध ब्रजवासी जाट तो कहा करते हैं कि गद्दी मुरसान की बड़ी है और राज भरतपुर का बड़ा है। बड़ी से शायद उनका मतलब

(१) नं० चुन्नीलाल जी पालोता (२) कुं० किशनलाल जी सुपुत्र (३) किशनलाल जी भतीजा (४) बस्तीराम जी।

स्वर्गीय ठा० पीतमसिंह जी परिहार, ज़मींदार कठवारी, (आगरा) (ठा० रामबाबूसिंह जी "परिहार" के ज्येष्ठ भ्राता)
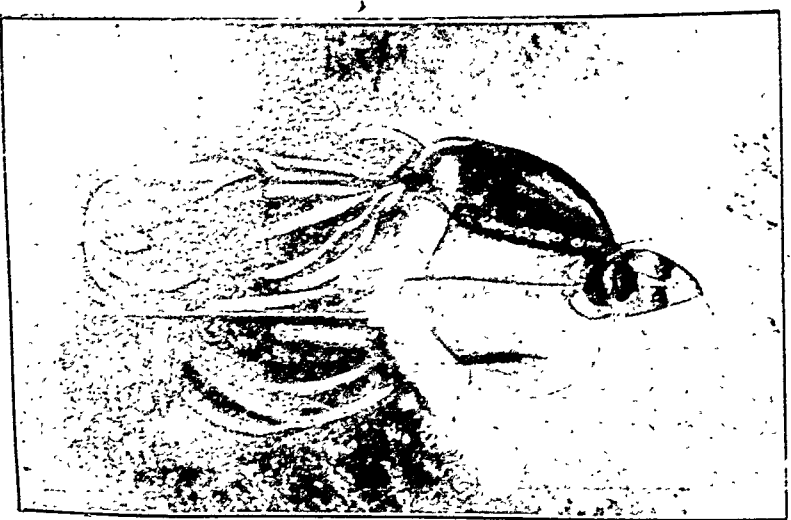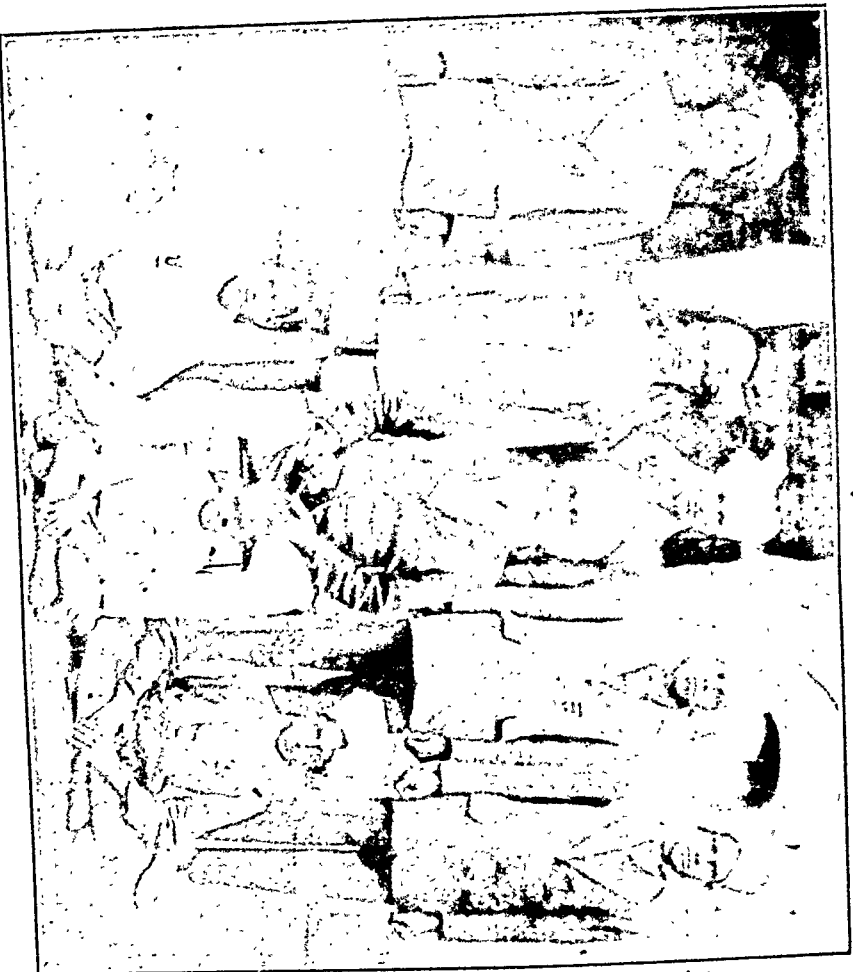
१—श्री सूबेदार मेजर भूरारामजी २—कुंवर हरदयाल सिंहजी ३—श्री मास्टर हेमराजसिंहजी प्रधान ४—कुंवर हरनारायणसिंह जी ५—कुंवर रामजीलाल ६—कुंवर नेतरामसिंह ७—कुंवर जगतसिंह ८—कुंवर महेन्द्रसिंह ९—कुंवर प्रतापसिंह कोहाडवास (जैपुर)

श्री० चौ० कन्हीसिंह जी, कागारौल।

प्राचीन से है। भरतपुर के साथ युद्ध में रणवांके सरदार पुहपसिंह हार गए क्योंकि सूर्यमल जैसे महारथी के सामने उनकी शक्ति इतनी न थी कि ठहर सकें। उन्हें मुरसान छोड़ना पड़ा। सासनी पर जाकर उन्होंने अधिकार जमा लिया। एक सुदृढ़ दुर्ग का निर्माण किया। सासनी का गढ़ आज भी जाटों के महान अतीत की याद दिलाता है। १७६१ ई० में महाराज जवाहरसिंहजी से अधीनता तथा मित्रता हो जाने के कारण पुहपसिंह फिर मुरसान के मालिक होगए। देहली-युद्ध में पहुपसिंहजी ने महाराज-जवाहरसिंह का साथ देकर अपने जातीय-धर्म का पालन किया था। यही कारण था कि सन् १७६६ ई० में देहली के शासक नजफ खां ने अपनी सेना मुरसान पर कब्जा करने को भेजी। वीर जाट बड़ी बहादुरी के साथ लड़े; किन्तु उन्हें सफलता न मिली और मुरसान छोड़ना पड़ा।

हमें कहना पड़ता है कि राजपूतों में जो स्थान दृढ़ता और वीरता के लिहाज से दुर्गादास का है, वही स्थान जाटों में रणवाँके राजा पहुपसिंह का है। उन्हें तनक भी चैन न था। व मुरसान को फिर से अपने हाथ में लेने की चेष्टा करते रहे, उत्तरोत्तर शक्ति-संचय करते रहे। वीर जाटों के दलों का संगठन किया। लगातार दस वर्ष तक तैयारी में लगे रहे और आखिर सन् १७८५ ई० में मुरसान से शत्रुओं को मारकर भगा दिया।

मुरसान हाथ आजाने से उनके हृदय को संतोष अवश्य हुआ किन्तु महत्वाकांक्षी वीर पहुपसिंह बराबर राज्य बढ़ाते रहे। वृद्धावस्था में भी उन्हें रण प्रिय था। वे जीवन भर लड़ते रहने वाले योद्धाओं में से थे। मृत्यु-सम्भव तक उन्होंने अपने राज्य का विस्तार किया। सन् १७९८ ई० में इस असार संसार से आप प्रस्थान कर गये।

मरने से पहिले ही आपने अपने राज्य की बागडोर अपने प्रिय पुत्र भगवन्तसिंहजी को सौंप दी थी। उस ठेनुआ राज-वंश के अधीनस्थ पाँच हजार सैनिक प्रतिक्षण तैयार रहते थे।

यह समय अँगरेज और मराठा संघर्ष का था। अलीगढ़ उस समय कभी जाटों के हाथ में रहता था तो कभी मराठों के हाथ में। मराठों ने उस समय अलीगढ़ पर फरासीसी जनरल मि० पैरन को नियुक्त कर रक्खा था। अँगरेज यह भी जानते थे कि जाट-मराठों में आपस में कभी-कभी छेड़-छाड़ भले ही हो जाती है किन्तु जाट मराठों को पिटता नहीं देख सकते, इसलिए अँगरेजों ने जाटों के बड़े घराने भरतपुर से सन्धि भी करली थी। फिर भी जाटों का अँगरेजों को भय था। लार्ड लेक ने सासनी पर जो कि उस समय पहुपसिंहजी के अधिकार में थी चढ़ाई करदी। सासनी के आस-पास के ग्रामीण कहते हैं कि बराबर छः महीने तक लड़ाई होने पर सासनी अँग्रेजों के हाथ आया था। चाहे इस कथन में अतिरंजिता हो, किन्तु यह सही बात है कि सासनी सरलता से अँगरेजों के हाथ नहीं आया था। इन्दौर

से प्रकाशित होने वाली 'वीणा' नामक मासिक पत्रिका के दूसरे वर्ष की सातवीं संख्या में मराठा लेखक श्रीयुत भास्कर रामचन्द्र भालेराव ने किसी केवलकिशन नाम के कवि का एक गीत दिया है। उस गीत से सासनी के बहादुर जाटों की वीरता पर अच्छा असर पड़ता है। उसका कुछ अंश हम भी यहाँ देते हैं:—

सुन्दर सभा ने गोद खिलाया है फिरंगी।
गुलबदन के रंग से सवाया है फिरंगी॥
आदम से आदमी को बनाया है फिरंगी।
लुकमान ले किताब पढ़ाया है फिरंगी॥
दोनों रुखों के बीच फिरंगी की बात है।
सल्तनत हिन्दुस्तान की फिरंगी के हाथ है॥
असबाब बादशाही का गोरों के साथ है।
दूल्हा तो फिरंगी कुल आलम बरात है॥
फिर आप जगन्नाथ को धाया है फिरंगी।
चंचल चतुर परी ने वो जाया है फिरंगी ॥१॥

अव्वल तो किया जाके विजयगढ़ पै भी डेरा।
फिर सासनी के नाईं आधी रात को घेरा॥
चकती जु लिखी लेक ने होते ही सवेरा।
गढ़ खाली करो जल्दी कहा मान लो मेरा॥
पत्री को देख बेटे पहुपसिंह के बोले।
तैयार हों रनिवास के मुरसान को डोले॥
नज़र किये उनने वहाँ पाँच भी गोले।
गढ़ देवेंगे मगर ज़रा जंग तो होले॥
क्या याद करेगा हमें धाया है फिरंगी।
चंचल चतुर परी ने जाया है वह फिरंगी ॥२॥

बोले जो कुँवर होवे ज़रा गढ़ की तयारी।
बुरजों पै तोप चढ़ने लगीं वे भी थीं भारी॥

तोपों के फेर-फेर से गोले लगे झड़ने ।
और बाढ़ तिलंगों की लगी आगे को बढ़ने ॥
दिन रात की अठपहरियाँ नौबत लगी झड़ने ।

× × × ×

क्या खूब टकोरों से रिझाया है फिरंगी ।
चंचल चतुर परी ने वो जाया है फिरंगी ॥३॥
गोले कई हज़ार वहाँ लेक ने मारे ।
और फँसि गये उस गढ़ के वे बुरजों से उसारे ॥
आखिर को कुँवर कम्पनी के दिल ही में हारे ।
गढ़ छोड़ सासनी का सुरसान को सिधारे ॥
कोयल और अलीगढ़ को धाया है फिरंगी ।
चंचल चतुर परी का जाया है फिरंगी ॥४॥

इस गीत काव्य से भी यही बात मालूम होती है कि सासनी घमासान युद्ध के बाद अँग्रेजों के हाथ लगा। पहुपसिंह के बेटों का स्वाभिमान भी देखिये—"*गढ़ देवेंगे जरा जंग तो होले*" यह है क्षत्रियोचित उत्तर लार्ड लेक की चिट्ठी का। वे जानते थे कि असंख्य अँग्रेजी सेना उनके दुर्ग को तहस-नहस कर देगी, परन्तु बनियापन से तो गढ़ खाली न करना चाहिये। आख़िर किया भी ऐसा ही।

यह पहिले लिखा जा चुका है कि नन्दरामसिंहजी के १४ पुत्र थे; जलकरनसिंह और जयसिंह उनमें अधिक प्रसिद्ध हुए हैं। भगवन्तसिंह जी, जलकरनसिंह जी के प्रपौत्र थे और सासनी तथा सुरसान के अधीश्वर थे। जयसिंह जी के प्रपौत्र राजा दयाराम जी थे जो कि हाथरस के मालिक थे। भगवन्तसिंह और दयाराम दोनों ही ने अपने राज्य का ख़ूब विस्तार किया था। भगवन्तसिंह जी ने पीछे लार्ड लेक की मदद भी की थी, जिससे उन्हें सोंख और मदन का इलाक़ा जागीर में मिला था।

मि० ग्राऊस साहब की लिखी 'मथुरा मेमायर्स' को पढ़ने से पता चलता है कि—"*मुरसान और हाथरस के राजा अपने लिये पूर्ण स्वतंत्र समझते थे।*" इसलिये यह आवश्यक समझा गया कि इन लोगों को इनके क़िलों से निकाल दिया जाय। लड़ने के लिये कुछ न कुछ बहाना मिल ही जाता है। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के चार आदमियों पर हत्या का अभियोग था। वे चारों आदमी ठाकुर दयाराम जी के राज्य में जा छिपे। अँग्रेजों ने दयाराम जी को लिखा कि उन्हें पकड़ कर हमारे सुपुर्द कर दो। स्वाभिमानी और शरणागतों की रक्षा करने वाले दयाराम जी ने

अँग्रेज़ों की इस माँग को अनुचित समझा। वस यही कारण था जिसके ऊपर कम्पनी के लोग उवल पड़े। जनरल मारशल के साथ एक बड़ी सेना मुरसान और हाथरस पर चढ़ाई करने के लिए भेजी। मुरसान के राजा साहब इस ओर से निश्चिन्त थे। उन्हे स्वप्न में भी ख्याल न था कि अचानक उनके ऊपर अँगरेज़ चढ़ाई कर देंगे। वहाँ लड़ाई की कोई तयारी ही न थी। शिर पर जब शत्रु आ गया तब तलवार सँभालनी ही पड़ी। यही कारण था कि तत्काल तयारी न होने से मुरसान अँगरेज़ों पर विजय न पा सका, और जनरल मारशल की विजय हुई।

मुरसान पर विजय प्राप्त करते ही अँगरेज़ी सेना हाथरस पहुँची। इस बीच में हाथरस वाले सँभल चुके थे। वैसे हाथरस का किला मुरसान के किले से अधिक मजबूत था। अलीगढ़ और मथुरा की ओर का हिस्सा तो और भी अधिक मजबूत था। हाथरस में रणचंडी का विकट तांडव हुआ। अँगरेज़ी सेना के दाँत खट्टे हो गये। यह युद्ध संवत् १८७४ विक्रम तदनुसार १८१७ ई० में हुआ था। लड़ाई कई दिन तक होती रही। हाथरस के वीर जाटों ने दांत पीस-पीस कर अँगरेज़ों पर हमले किए। प्राणों की बाज़ी लगा दी। किन्तु विजय लक्ष्मी उनसे रूठ गई थी। दयारामजी ने अब अँगरेज़ों से सन्धि करना ही उचित समझा। उन्होंने अँगरेज़ी कैम्प में जाकर सन्धि की बात तय करलीं। किन्तु उनका पुत्र नेकरामसिंह जो कि अहीर रानी के पेट से पैदा हुआ था सन्धि करने पर राज़ी न हुआ। यहाँ तक कि वह अपने पिता दयाराम का सन्धि के चर्चा करने के कारण प्राण लेने पर उतारू हो गया। दयाराम ने भी जब नेकरामसिंह की ऐसी प्रबल सामरिक रुचि देखी तो पुनः युद्ध ठान दिया।

जब अँगरेज़ों ने देखा अब सन्धि नहीं होगी तो पूर्ण बल के साथ हाथरस-दुर्ग के ऊपर हमला किया। जाट भी वन-केसरी की भाँति छाती फुलाकर अड़ गये। श्री दयारामसिंहजी बड़ी संलग्नता से दुर्ग की देखभाल में व्यस्त थे। राजा से लेकर सैनिक तक—सभी बड़े चाव से युद्ध कर रहे थे। वे आज अपना या शत्रु का फैसला कर लेना चाहते थे। वे थोड़े थे फिर भी बड़े उत्साह से लड़ रहे थे। किले पर से शत्रु के ऊपर वे अग्नि-वर्षा कर रहे थे। उन्हें पूरी आशा थी कि मैदान उनके हाथ रहेगा, किन्तु दैव रूठ गया। बारूद की मेगज़ीन में अकस्मात आग लग गई। बड़े जोर का धमाका हुआ, उनके असंख्य सैनिक भस्म होगए। अब क्या था, शत्रु को पता लगाने की देर थी; हाथरस स्वयं विजित हो गया। तड़के ही शत्रु उन्हें वन्दी बना लेगा। स्वाभिमानी दयाराम शिकारी टट्टू पर सवार होकर रातों रात क़िले से निकल भरतपुर पहुँचे। अब भरतपुर पहिले का भरतपुर न था। जहाँ १२–१३ वर्ष पहिले उसने दूसरे लोगों को शरण दी थी आज वह अपने ही भाई को शरण न दे सका! वहाँ से भी दयाराम जयपुर गए। किन्तु जब भरतपुर ही इस समय

राजा हरनारायणसिंह जी
हाथरस।

अँगरेजों के दर्प को मान चुका था तो भला राजपूताने में और किसकी हिम्मत होती कि दयाराम को शरण देकर अँगरेजों का कोप भाजन बनता ? आगे-आगे दयाराम थे और पीछे-पीछे अँगरेजी सेना। अन्त में दयाराम ने अँगरेजों से समझौता कर लिया। अँगरेज सरकार ने उन्हें एक हजार मासिक पेन्शन देना स्वीकार कर लिया। कोई-कोई कहते हैं पेन्शन दो हजार मासिक थी। उन्होंने जीवन के शेष दिन अलीगढ़ में अपने नाम की छावनी बसा कर उसमें पूरे कर दिये। आज भी हाथरस के तथा आस-पास के लोग दयारामजी का नाम बड़ी श्रद्धा और भक्ति के साथ याद करते हैं। वे बड़े उदार और दानी राजा थे। अभी तक उनकी दान की हुई जमीन कितने ही मनुष्य वंश परम्परागत से भोग रहे हैं। संवत् १८६८ विक्रमी अर्थात् सन् १८४१ ई० में उनका देहान्त हो गया। यही समय था जब पंजाब में महाराज रणजीतसिंह शासन कर रहे थे। यदि उस समय जाटों में कोई ऐसी शक्ति पैदा हो जाती जो पंजाब, भरतपुर और मुड़सान के जाट-नरेशों को संगठित कर देती तो आज भारत के एक बड़े भाग पर उनका आधिपत्य होता।

हाथरस-युद्ध के पश्चात् भी इस ठेनुआँ राज-वंश की शक्ति-वैभव बहुत कुछ शेष था। सन् १८७५ ई० में अलीगढ़ के तत्कालीन कलक्टर ने अपनी रिपोर्ट में इनके सम्बन्ध में लिखा है—"*मुड़सान के राजा का आधिपत्य समस्त सादाबाद और सोंख के ऊपर है और महावन, मांट, सनोई, राया, हसनगढ़, सहपऊ और खंदोली उनके भाई हाथरस वालों के हाथ में हैं।*" उक्त रिपोर्ट में आगे लिखा है कि लार्ड लेक की इन लोगों ने अच्छी सहायता की थी इसलिए अँगरेजी सरकार ने इन्हें यह परगने दिये थे। यह भी हो सकता है कि इन जाट-केसरियों को तत्कालीन-स्थिति के अनुसार प्रसन्न रखने में ही अँगरेज सरकार को शान्ति के चिह्न दिखाई पड़ते थे। इसमें सन्देह नहीं कोई जाट खान्दान बहादुर होने के साथ सरल हृदय भी होता है। वे किसी से शत्रुता करते हों तो सच्चे दिल से और मित्रता करते हैं तो सच्चे दिल से। इसी स्वभाव के कारण उन्होंने जहाँ अङ्गरेजों से डटकर युद्ध किया वहाँ समझौता होने पर सहायता भी की।

दयारामजी के पश्चात् उनके बेटे गोविन्दसिंहजी गद्दी पर बैठे। ये बड़े ही शान्ति-प्रिय थे। अँग्रेजों के साथ लड़कर अब शेष राज्य को नष्ट करने की भी उनकी इच्छा नहीं थी। अपने राज्य का बुद्धिमानी से प्रबन्ध करना ही उनका ध्येय था।

मुरसान के राजा भगवन्तसिंहजी का संवत् १८८० में स्वर्गवास होगया। सरकार ने राज्य की बागडोर अपने हाथ में लेली इससे प्रजा में बड़ा असंतोष फैला। सभी तरफ से प्रजा ने अँग्रेज सरकार तक आवाज पहुँचाई कि हमारे राजा से हमको अलग न किया जाय। इस आन्दोलन से प्रभावित होकर सरकार ने

बहुत सा राज टीकमसिंहजी को जोकि भगवन्तसिंहजी के पुत्र थे वापिस लौटा दिया१। बहुत से गाँव सरकारी राज्य में मिला लिए गए। इस तरह मुरसान के पास पहिले से तिहाई राज्य रह गया। राजा टीकमसिंहजी ने अपील भी की किन्तु फल कुछ नहीं निकला।

संवत् १६१४ अर्थात् सन् १८५७ ई० में भारत में बग़ावत हुई। आरंभ में इसका रूप धार्मिक था किन्तु पीछे यह राजनैतिक रूप धारण कर गई। इस क्रांति में अँग्रेजी राज्य ही खतरे में नहीं आया किन्तु भारत में रहने वाले अँग्रेजों की जान भी खतरे में थी। ऐसे समय पर अँग्रेजों से शत्रुता भी अनेक लोगों ने निकाली किन्तु हाथरस और मुरसान दोनों ही स्थानों के जाट रईसों ने दया-पूर्वक अँग्रेजों की रक्षा की।

अलीगढ़ के तत्कालीन कलकृर मि० ब्रामले ने स्पेशल कमिश्नर को १४ मई सन् १८५८ ई० को लिखा था—

"× × × *इन ठाकुर गोविन्दसिंह की राजभक्ति के कारण इनकी भारी आर्थिक हानि हुई है। २५ वीं सितम्बर को इनकी तीस हजार रुपये से ऊपर हानि हुई है। दिल्ली से लौटे हुए बाग़ियों ने इनका वृन्दावन वाला मकान लूट लिया है। जिससे इनकी पैतृक संपात्ति की इतनी हानि हुई है जो पूरी नहीं की जा सकती।*" इसी तरह से मुरसान वालों की सहायता भी थी। अङ्गरेज़ सरकार ने गोविन्दसिंह हाथरस वाले को पचास नक़द और मथुरा तथा बुलन्दशहर ज़िले में कुछ गाँव उस सहायता के उपलक्ष्य में दिये और मुरसान के टीकमसिंहजी को गोंडा और सेमरा के दो बड़े मौज़े दिये। दो पुस्त तक सात गाँवों का ख़िराज क़तई माफ़ कर दिया। साथ ही राजा बहादुर और सी० आई० ई० का ख़िताब भी दिया। २५ वीं जून सन् १८५८ ई० में लार्ड कैनिंग ने इन लोगों को राज-भक्ति की एक सनद भी दी।

संवत् १६३५ विक्रमी तदनुसार सन् १८७८ ई० में राजा बहादुर टीकमसिंहजी का स्वर्गवास होगया। उनके एक पुत्र किशनप्रसादसिंह उनके आगे ही मर चुके थे, इसलिए किशनप्रसादसिंह के सुपुत्र कुँवर घनश्यामसिंहजी मुरसान की गद्दी पर बैठे। राजा घनश्यामसिंहजी बड़े दानी और भक्त थे। उन्होंने जमुनाजी के किनारे वृन्दावन में एक आलीशान भवन अपने रहने के लिए बनवाया। राज का प्रबन्ध भी बहुत अच्छी तरह से करते थे। सम्वत् १९५६ अर्थात् सन् १६०२ ई० में राजा घनश्यामसिंहजी का स्वर्गवास होगया। यह राजासाहब महाराज जसवन्तसिंहजी भरतपुर के समकालीन थे।

१—'यू० पी० के जाट' नामक पुस्तक से।

घनश्यामसिंहजी के पश्चात् उनके सुपुत्र राजा दत्तप्रसादसिंहजी मुरसान के राजा हुये। राजासाहब बड़े ही सीधे और मिलनसार थे। जाट महासभा के कार्यों में भी दिलचस्पी लेते थे। अनेक कारणों से आपके आगे राज्य-कोष में बड़ी कमी आगई थी। रियासत कोर्ट आफ वार्डस के अधिकार में भी चली गई थी। इसमें कोई सन्देह नहीं कि राजाबहादुर सर्वप्रिय-व्यक्ति थे। संवत् १९९० विक्रमी के पूर्व भाग में आपका स्वर्गवास होगया।

इस समय मुरसान की राजगद्दी पर स्वनाम धन्य राजाबहादुर श्रीकिशोरी-रमनसिंहजी विराजमान हैं। इस समय भी मुरसान के अधीश्वर के पास केवल अलीगढ़ जिले में ही ८८ मौजे और २५ मुहाल हैं। इनके सिवा अन्य जिलों में भी उनकी सम्पत्ति है।

गोविन्दसिंह की शादी भरतपुर के प्रसिद्ध नरेश महाराज जसवन्तसिंहजी के मामा रतनसिंहजी की बहिन से हुई थी। उनसे एक बच्चा भी हुआ था जो मर गया। राजा गोविन्दसिंहजी का संवत् १९१८ में स्वर्गवास हो गया। पीछे विधवा रानी साहिबा ने जतोई के ठाकुर रूपसिंहजी के पुत्र हरनारायणसिंहजी को गोद ले लिया। जतोई का घराना भी ठेनुआं जाट सरदारों का ही है, किन्तु दयारामजी की अहीर-स्त्री के पुत्र नेकरामसिंह के लड़के केसरीसिंहजी ने हरनारायणसिंहजी के गोद लिये जाने का विरोध किया और हाथरस की गद्दी का अपने लिए हक़दार बताया। बहुत समय तक इस मामले में मुक़द्दमेबाजी होती रही। अन्त में दीवानी अदालत और हाईकोर्ट से राजा हरनारायणसिंहजी ही बहाल रहे। राजा हरनारायणसिंहजी का जन्म संवत् १९२० विक्रमी में हुआ था। संवत् १९३३ के देहली के दरबार में उनको राजा की उपाधि मिली थी। यह राजा साहब बड़े लोक-प्रिय थे। संवत् १९५२ में इनका स्वर्गवास हो गया। इनके कोई पुत्र न था इसलिये मुरसान से कुँवर महेन्द्रप्रतापजी को गोद लेकर इन्होंने उन्हें अपना उत्तराधिकारी बनाया। राजा महेन्द्रप्रतापजी इस समय विदेश में हैं। उनके सुयोग्य पुत्र श्री प्रेमप्रताप हाथरस की रियासत के मालिक हैं जो वृन्दावन के राजा भी कहलाते हैं। कुँवर साहब अभी नाबालिग़ हैं, इसलिये राज्य का कार्य कोर्ट ऑफ़ वार्डस के हाथ में है।

वंश-विस्तार—इस ठेनुआं राज-वंश के कई छोटे-छोटे हिस्से हैं। मुरसान और हाथरस का तो ऊपर वर्णन हो चुका है। यहाँ अन्य भागों का भी थोड़ा-सा हाल लिखते हैं।

पीछे हम लिख चुके हैं कि नन्दरामजी के सातवें पुत्र भोजसिंह थे। उन्नति में दूसरे भाइयों से यह कम नहीं रहे। फ़र्रुख़सियर बादशाह को दिल्ली का सिंहासन अब्दुल्ला और हुसैनअली दो सैयद भाइयों की बहादुरी से प्राप्त हुआ था। भोजसिंह ने सैयद अब्दुल्ला की मदद की थी, इसलिये उसने भोजसिंह को वही

अधिकार दे दिये जो उनके पिता नन्दराम ने हासिल किये थे। भोजसिंह ने जावरा-टप्पा के दो भाग कर डाले—एक बड़े भाई जैसिंह को और दूसरा स्वयम् ले लिया। सन् १७५० ई० में भोजसिंह मर गये। उनके तीन लड़के थे। जगतसिंह उनमें सब से बड़े थे। जगतसिंह से छोटे मोहनसिंह और उनसे छोटे कंचनसिंह थे। इन तीनों ने अपने बाप की जागीर को आपस में बाँट लिया। बाड़ा और टुकसान का ताल्लुक़ा जगतसिंह को, सिमधारी का ताल्लुक़ा मोहनसिंह को और छोटुआ और कोटापट्टा कंचनसिंह को मिला।

सन् १७६८ ई० में छोटुआ और कोटापट्टा हाथरस और मुरसान के बीच बट गए। जगतसिंह के पश्चात् बड़ा और टुकसान क्रमशः उनके पुत्र प्रतापसिंह और मुक्तावलसिंह के बीच बट गया। मोहनसिंह के भी दो पुत्र थे—सदनसिंह और सामन्तसिंह। सदनसिंह बड़े ही वीर और योग्य आदमी थे। उन्होंने १७५२ ई० में हाथरस और उसके आस-पास के गाँवों को आमिल से प्राप्त कर लिया। इन इलाक़ों पर पोरच राजपूत राज करते थे। सन् १७६० ई० में महाराज सूरजमलजी ने मेंडू के पोरच राजपूतों का ताल्लुक़ा छीन लिया और उस ताल्लुक़े की तहसील का काम सदनसिंह को सौंपा।

सन् १७६८ ई० में सदनसिंह का भी स्वर्गवास होगया। उनके दो पुत्र थे—भूरीसिंह और शक्तसिंह। भूरीसिंह अपने बाप की प्राप्त की हुई जागीर के मालिक हुए और शक्तसिंह को टप्पा जावरा मिला। शक्तसिंह के मरने के बाद यह जायदाद उनके दोनों पुत्र दुर्गासिंह और उदयसिंह में बट गई। भूरीसिंहजी के पुत्र नवलसिंह के हिस्से में वेसवाँ और दयारामसिंह के हिस्से में हाथरस के आस-पास का इलाक़ा आया। यह घटना सन् १७७५ ई० की है। दयारामजी की बहादुरी तथा हाथरस का आगे का इतिहास पिछले पृष्ठों में दिया जा चुका है।

हाथरस पर अँग्रेजों ने क़ब्जा करने के बाद राज्य के टुकड़े-टुकड़े कर दिए। हाथरस परगने के ३१ गाँव ठाकुर जीवाराम को अँगरेज़ सरकार ने दे दिए। जीवारामजी वेसवां के रईस नवलसिंह के पुत्र थे अर्थात् राजा दयारामजी के भतीजे थे। २० गाँव ठाकुर जयकिशनजी को दे दिये गए जोकि नवलसिंहजी के नाती (पौत्र) थे। स्वयं दयारामसिंहजी के लड़के गोविन्दसिंहजी के पास बहुत कम रियासत रह गई थी। किन्तु ग़दर के बाद उन्हें कई गाँव और कोइल की ज़मीदारी और मिल गई थी। मथुरा जिले में भी गोविन्दसिंह के पास काफ़ी जायदाद थी।

इस समय इन विभिन्न भागों के निम्न अधिपति हैं:—राजा बहादुर किशोरीरमनसिंहजी मुरसान राज्य, कुँ० बल्देवसिंहजी साहब (मुरसान नरेश के चाचा हैं) बल्देवगढ़ छोटुवा, कुँ० रोहनीरमनध्वजप्रसादसिंहजी वेसवां और कुँ० प्रेमप्रतापसिंहजी वृन्दावन एवं हाथरस और कुँवर नौनिहालसिंह जी बल्देवगढ़। करोल और जेराई में शक्तसिंह जी के वंशधर हैं किन्तु उनका वैभव इतना ऊँचा नहीं।
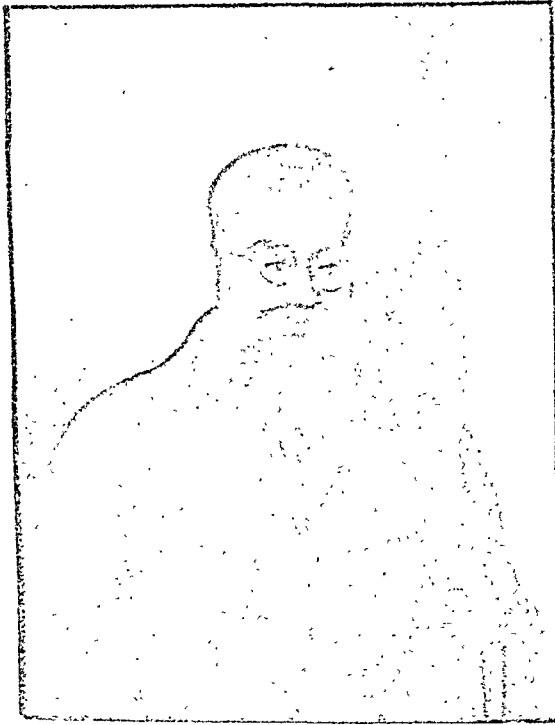
राजा महेन्द्रप्रताप जी।

राजा महेन्द्रप्रताप

राजा महेन्द्रप्रताप उन देश-भक्त तथा दानवीरों में से हैं जिनके ऊपर जाट-जाति ही नहीं किन्तु समस्त भारत को अभिमान है। राजा-रईसों में इतना प्रवल त्याग करने वालों में वे पहिले व्यक्ति हैं। उनका जन्म मुरसान के लोकसेवी राजा घनश्यामसिंह के यहाँ हुआ था और राजा हरनारायणसिंह जी के वे दत्तक पुत्र थे। राजा घनश्यामसिंहजी सार्वजनिक कामों में .खूब भाग लेते थे। पण्डित मदनमोहन मालवीय आदि देश सेवकों का एक डेपूटेशन प्रान्त के लाट की सेवा में इसलिये गया था कि अदालतों की भाषा हिन्दी हो। राजा घनश्यामसिंह जी भी उस डेपूटशन में शामिल थे। राजा महेन्द्रप्रतापसिंह जी के दो ज्येष्ठ भाई थे--राजा दत्तप्रसादसिंह, कुँवर बलदेव-सिंह। राजा साहब जब कि आठ बरस के ही थे राजा हरनारायणसिंह जी का स्वर्गवास हो गया इसलिये आपके बालिग होने तक राज्य का प्रबन्ध कोर्ट आफ वार्डस के हाथ में रहा। आपने अलीगढ़ में बी० ए० तक अँग्रेजी शिक्षा प्राप्त की थी।

संवत् १६५६ विक्रमी में १६ वर्ष की अवस्था में भींद की राजकुमारी के साथ आपका विवाह सम्बन्ध हुआ।

कालेज छोड़ने के बाद आपने अपनी रानी साहिबा सहित इङ्गलेण्ड की यात्रा की। वहाँ की रस्म-रिवाजों को तो आपने देखा ही किन्तु शिल्प और उद्योगिक शिक्षण-संस्थाओं का आपके दिल पर बड़ा असर पड़ा। विलायत से लौटने पर आपने नैनीताल में एक कोठी खरीदी। नैनीताल में रहने पर ग़रीब-अमीर का भेद आपको खटका। साम्यवाद का अंकुर आपके हृदय में उत्पन्न हो गया।

२४ मई सन् १६०६ को आपने अपने राज-महल में प्रेममहाविद्यालय नाम की संस्था स्थापित की। इस संस्था का ध्येय अक्षर-ज्ञान के साथ ही साथ शिल्प और उद्योग ज्ञान प्राप्त कराना है। खर्च काट कर ३३ हजार वार्षिक आमदनी का अपनी रियासत का आधा भाग भी राजा साहब ने सदैव के लिये प्रेममहाविद्यालय को दे दिया। भारतवर्ष में यह संस्था अपने ढंग की एक ही है। कुछ समय तक राजा साहब ने अपने तन और मन से भी इस संस्था की सेवा की। वे इसके मंत्री और मैनेजर भी रहे।

कुछ समय पश्चात् प्रेममहाविद्यालय के अधीनस्थ खेती करने वाले नव-युवकों को शिक्षा देने के लिए आपने जटवारी, सम्भोई, उभियानी और हुसैनी मथुरा जिले के गाँव तथा बराला और धमेड़ा बुलन्दशहर जिले के गाँवों में प्रेम-प्रताप व प्रेम-पाठशालायें खुलवाई। महाविद्यालय के साथ एक प्रेस भी है, 'प्रेम' नाम का एक पत्र भी निकाला जिसका सम्पादन स्वयं राजासाहब ने भी किया था।

संवत् १६६७ विक्रमी में इलाहाबाद में प्रदर्शनी के समय आपने शिक्षा-कान्फ्रेंस भी कराई थी। उसके सभापति झालरापाटन के महाराज भवानीसिंहजी बनाये गये थे।

आपने एक नाटक भी लिखा है, वह खेला भी गया था। समाज को उन्नत बनाने के लिए अच्छे नाटकों का आविष्कार भी आप आवश्यक समझते हैं।

एक समय गोठ (पिकनक) भी आपने कराई और वहाँ चील-झपट्टा नाम का खेल भी विद्यार्थी और अध्यापकों के साथ खेले।

संवत् १६६८ विक्रमी में राजासाहब ने संयुक्त-प्रान्तीय आर्य-प्रतिनिधि-सभा के तत्कालीन प्रधान कुँवर हुकमसिंहजी की इच्छा के अनुसार अपने बाग को वृन्दावन गुरुकुल के लिए दान कर दिया। इसके बाद आप दूसरी बार विलायत-यात्रा के लिए चले गये। प्रेममहाविद्यालय का कार्य एक कमेटी के सुपुर्द कर दिया था। कुँवर हुकमसिंह जी रईस आंगई बहुत दिन तक प्रेममहाविद्यालय के मैनेजर रहे। विलायत से जब आप लौटे तो आपको मान-पत्र दिया गया।

सम्वत् १६७० विक्रमी के श्रावण महीने में आपके रानी-साहिबा झींदवाली से पुत्र-रत्न हुआ जिनका शुभ नाम प्रेम-प्रताप रक्खा।

छूआछूत के प्रश्न को भी आप हल करनेके लिए सबसे पहिले अग्रसर हुए। जिन दिनों आप देहरादून में थे शायद सम्वत् १९७१ वि० में आपने वहाँ अछूत टमटों के घर पर जाकर भोजन कर लिया। आगरे में एक मेहतर के साथ बैठकर राजासाहब ने भोजन कर लिया था इससे बड़ी खलबली मची थी। यह बातें उस समय की हैं जबकि अछूतोद्धार का नाम भी न था।

राजा साहब ने पर्दे के विरुद्ध और स्त्री-समानता के पक्ष में तथा किसानों के हित के लिए 'निर्बल सेवक' द्वारा खूब प्रचार किया था।

'निर्बल सेवक' के निकलने के कुछ दिन पीछे यूरोप में महासंग्राम छिड़ गया। युद्ध को देखने के लिए संवत् १६७१ वि० में स्वामी श्रद्धानन्दजी के पुत्र श्री हरिश्चन्द्रजी के साथ विलायत को रवाना हो गए। जेनोवा में वे पादरी चेपलेन के यहाँ जाकर ठहरे। फिर आपका पता लगना मुश्किल हो गया। यहाँ से उनके नाम जो मनीआर्डर आदि भेजे गए वे वापिस लौट आए। बहुत से पत्र उनकी तलाश के लिए भेजे गए। अन्त में लाचार होकर कुँवर हुकमसिंहजी ने यूरोप के एक अखबार में इस आशय का विज्ञापन छपवाया कि—"जो राजा साहब का पता बतायेगा उसे इनाम दिया जायेगा"। उस समय इस बात का कोई पता नहीं चला कि वे कहाँ हैं।

बड़ी कौंसिल के प्रश्नोत्तर से यह स्पष्ट हो गया कि सरकार ने उन्हें बाग़ी मान लिया है। सरकार की ओर से कहा गया था कि मई सन् १६१६ ई० में सरकार को उनकी बाग़ियाना कार्रवाहियों का पता चल गया है इसलिए उनकी रियासत कुर्क की जाती है। यदि वे भारत में आयेंगे तो न्यायालय में विचार किया जावेगा। उनकी रानी साहिबा के लिए २००) माहवार और कुँवर साहब प्रेमप्रतापजी के लिए ४००) मय दाई के खर्च के दिए जावेंगे।

'इंडिपेण्डेण्ट' पत्र में राजा साहब ने जो पत्र छपवाया था उससे मालूम होता है कि युद्ध के दिनों में वे जर्मनी के क़ैसर, टर्की के सुल्तान, क़ाबुल के अमीर और चीन के दलाई लामा से भी मिले थे। किन्तु इस मिलने को वे धार्मिक उद्देश्य बतलाते हैं।

उन्होंने प्रेम-धर्म नामक एक पुस्तक भी लिखी है। इस समय वे चीन में हैं। इसमें सन्देह नहीं वे जो कुछ कर रहे हैं भारत के हित के लिए कर रहे हैं। उनका रास्ता ग़लत है अथवा सही यह समझ लेना हमारी बुद्धि से तो बाहर है। सन् १९३८ ई० के जाट महासभा के वार्षिक अधिवेशन में उनके भारत आ जाने देने के विषय में सरकार से प्रार्थना सम्बन्धी एक प्रस्ताव भी पास हुआ था। समय-समय पर राजा साहब भारत के राष्ट्रीय पत्रों में अपने विचार भी प्रकट करते रहते हैं। चीन से उन्होंने 'ग़दर' नाम का पत्र निकालने की भारतीय पत्रों में भी सूचना दी थी। यद्यपि वे राजनैतिक व्यक्ति भी हैं किन्तु वास्तव में धार्मिक अधिक हैं। उन्होंने अपना नाम पीटर + पीर + प्रताप रख लिया है। इससे मालूम होता है वह सभी धर्मों से प्रेम करते हैं। हम उन्हें केवल इसलिए प्यार नहीं करते कि वे देश-भक्त हैं। हमें तो वह इसलिए भी प्रिय हैं कि वे हमारी जाट-जाति की गोद के एक उज्ज्वल लाल हैं।

चावुक

चावुक शब्द किस शब्द का अपभ्रंश है। यह हमारी समझ में नहीं आता। मध्यकालीन राज्य-वंशों में चापोत्कट वंश का नाम आता है। संभव है चावुक गोत के जाट चापोत्कट ही हों। चापोत्कट राजपूत और गूजर दोनों में पाए जाते हैं। किन्तु वहाँ वे चावड़ा कहलाते हैं। अस्तु:—

चावुक लोग इस समय पिसावा के मालिक हैं। अलीगढ़ में मराठों की ओर से जिस समय जनरल पीरन हाकिम था इस गोत्र के सरदार मुखरामजी ने पिसावा और दूसरे कई गाँव परगना चँदौसी में पट्टे पर लिए थे। सन् १८०६ ई० में मि० इलियट ने पिसावा के ताल्लुक़े को छोड़ कर सारे गाँव इन से वापिस ले लिए। किन्तु सन १८३३ ई० में अलीगढ़ जिले के कलक्टर साहब स्टारलिंग ने मुखरामजी के सुपुत्र भरतसिंहजी को इस ताल्लुक़े का २० साल के लिए बन्दोबस्त कर लिया। सन् १८५७ ई० में विद्रोहियों से भयभीत हुए अँगरेजों की भरतसिंहजी के वंशजों ने पूरी सहायता की थी। तब से पिसावा उन्हीं के वंशजों के हाथ में है। राय साहब शिवध्यानसिंह और कुँ० विक्रमसिंह इस समय पिशावा के नामी सरदार हैं। किन्तु खेद है कि इस साल कुँ० विक्रमसिंह का देहान्त हो गया। आप राजा-प्रजा दोनों ही के प्रेम-भाजन थे। प्रान्तीय कौंसिल के मेम्बर भी थे। जातीय संस्थाओं से आपको खूब प्रेम था। शिवध्यानसिंहजी भी जाति हितैपी हैं। आप

इस समय प्रान्तिय कौंसिल के मेम्बर हैं। आप भी लोकप्रिय व्यक्ति हैं। मिलन-सारी आपका गुण है।

इस राज-वंश की वर्त्तमान राजधानी कुचेसर है जो ज़िला बुलन्दशहर में है। अब से लगभग २५० वर्ष पहिले से यह वंश यहाँ आवाद है। भुआल, जगराम, जटमल और गुरवा नामक चार भाई थे। उन्हीं चारों ने इस राज्य की नींव डाली थी। इस गोत्र का नाम दलाल कैसे पड़ा, इस सम्वन्ध में मि० क्रुक साहव अपनी "ट्राइव्स एण्ड कास्टस ऑफ़ दी नार्थ वेस्टर्न प्रॉविन्सेज़ एण्ड अवध" नामक पुस्तक में लिखते हैं:—

दलाल राज-वंश

देसवाल, दलाल और मान जाट निकट सम्वान्धित कहे जाते हैं, क्योंकि यह रोहतक के सिलौटी गाँव के धन्नाराय के वंशज हैं और एक वड़गूजर राजपूत स्त्री के रज से उत्पन्न हैं जिसके कि दल्ले, देसवाल और मान नाम के तीन लड़के थे। उन्होंने दलाल, देसवाल और मान नाम के तीन गोत्र अपने नाम से कायम किये।

भुआल, जगराम और जटमल ने चितसौना और अलीपुर में प्रथम वस्ती आवाद कीं। चौथे भाई गुरवा ने परगना चंदौसी (ज़िला मुरादावाद) पर अधिकार जमा लिया।

भुआल के पुत्र मौजीराम हुए। इनके रामसिंह और छतरसिंह नाम के दो लड़के थे। छतरसिंह वहादुरी में वढ़े-चढ़े थे। उन्होंने अपने लिये अपनी भुजाओं से वहुत सा इलाक़ा प्राप्त किया। इनके मगनीराम और रामधन नाम के दो सुपुत्र थे। जव महाराज जवाहरसिंह ने अपने पिता की मृत्यु का वदला लेने के लिये दिल्ली पर चढ़ाई की तो उस समय इन लोगों ने वड़ी मदद की। दिल्ली के नवाव नजीवुद्दौला ने उस समय एक चाल चली। छतरसिंहजी को अपने पक्ष में मिला लिया। उन्हें राव का ख़िताव दिया और साथ ही कुचेसर की जागीर और ६ परगने का 'चोर मार' का उहदा भी दिया। छतरसिंहजी ने अपने पुत्रों और सैनिकों को महाराज जवाहरसिंहजी की सहायता से अलग कर लिया।

दिल्ली की ओर से अलीगढ़ में उन दिनों असराफ़ियाखाँ हाकिम था। शाह दिल्ली और महाराज जवाहरसिंह के युद्ध के वाद उसने कुचेसर पर चढ़ाई कर दी। चढ़ाई का कारण यह था कि मनकरी के सौदागरों ने उसके कान भर दिए थे। उसे डर दिलाया था कि कुचेसर के लोग वढ़ते ही गए तो अलीगढ़ के हाकिम के लिये खतरनाक सिद्ध होंगे। एक चटपटी लड़ाई कुचेसर के गढ़ पर हुई, किन्तु दलाल जाट हार गये। राव मगनीराम और रामधनसिंह क़ैद कर लिये गए। कोयल के क़िले में उन्हें वन्द कर दिया गया, किन्तु समय पाकर वे दोनों भाई क़ैद से निकल गये। वड़ी खोज हुई, किन्तु वे हाथ आने वाले शख्स थोड़े ही थे।

पहिले ये लोग सिरसा पहुँचे और फिर वहाँ से मुरादाबाद पहुँचे। अब यही उचित था कि वे मरहठों से मिल जाते। मरहठा हाकिम ने इन्हें आमिल का ओहदा दिया।

सन् १७८२ ई० में दोनों भाइयों ने सेना लेकर कुचेसर के मुसलमान हाकिम पर चढ़ाई कर दी। शत्रु को परास्त करके कुचेसर पर अधिकार कर लिया। जब भी अवसर हाथ आता अपना राज्य बढ़ा लेने में वे न चूकते थे। कुचेसर की विजय के बाद मगनीरामजी का स्वर्गवास होगया। उनके दो स्त्री थीं। पहिली से सुखसिंह, रतीदौलत और बिशनसिंह नामक तीन पुत्र थे। चार पुत्र दूसरी स्त्री से भी थे। मगनीराम ने अपनी रानी भावना को एक बीजक दिया था, जिसमें बहादुरनगर के खजाने का जिकर था। जाट रिवाज के अनुसार रामधन ने उससे चादर डालकर शादी करली। इस तरह बहादुरनगर का खजाना रामधनसिंह को मिल गया। कहा जाता है इस शादी में भावना की भी मर्जी थी१। धन के मिलने पर रामधनसिंह ने अपने वचन-पालन में ढिलाई की। वह अपने बच्चों की अपेक्षा भतीजों के साथ अधिक अच्छा सलूक न करते थे। १७९० ई० तक रामधनसिंह ने कुल राज्य पर अपना अधिकार जमा लिया। उस समय दिल्ली में शाह आलम बादशाहत करता था। उससे पूठ, सियाना, थाना फरीदा, दतियाने और सैदपुर के परगने का इस्तमुरारी पट्टा प्राप्त कर लिया। इस तरह से रामधनसिंह राज्य बढ़ाने और अधिकृत करने में सतर्कता से काम लेने लगे। शाह आलम से प्राप्त किए हुए इलाक़े की ४०००) मालगुजारी उन्हें मुग़ल सरकार को देनी पड़ती थी। शाहआलम के युवराज मिर्जा अकबरशाह ने भी सन् १७९४ ई० में इस पट्टे पर अपनी स्वीकृत दे दी। राव रामधनसिंह का वर्ताव अपने भतीजों के प्रति अत्यंत बुरा और अत्याचार पूर्ण बताया जाता है। उनमें से कुछ तो मर गए कुछ भाग कर मरहटा हाकिम के पास मेरठ चले गए। मरहटा हाकिम दयाजी ने उनको छज्जूपुर और कुछ दूसरे मौजे जिला मेरठ में इस्तमुरारी पट्टे पर दे दिए। इनके वंश आगे के समय में मेरठ तथा जिले के अन्य स्थानों पर आबाद होगए। मरहटा हाकिम से मिलने के पूर्व राव रामधनसिंह के भतीजे ईदनगर में जाकर रहे थे। यहीं से उन्होंने मेरठ के मरहटा हाकिम से मेल-जोल बढ़ाया था। लगातार प्रयत्न के बाद भी वह इतने सफल नहीं हुए कि राव रामधनसिंह से अपने हिस्से की रियासत प्राप्त कर लेते।

मुग़ल सल्तनत के नष्ट होने पर जब बृटिश गवर्नमेण्ट ने भारत के शासन की बागडोर अपने हाथ में ली तो उसने भी सन् १८०३ ई० में मुग़लों द्वारा दिये हुए इलाक़े तथा निज के देश पर कुचेसर के अधीश्वर के वही हक़ मान लिये, जो मुग़ल-शासन में थे।

कुछ समय बाद राव रामधनसिंह ने उस मालगुजारी का देना भी बन्द कर दिया जो वह पहिले से दिया करते थे। इसलिए बृटिश सरकार ने उन्हें मेरठ में बन्द कर दिया। वहीं पर सन् १८१६ ई० में उनका स्वर्गवास हो गया।]

१—'यू० पी० के जाट' नामक पुस्तक से।

रामधनसिंह के मरने के वाद उनके लड़के फतहसिंह रियासत के मालिक हुए। फतहसिंह ने उदारता-पूर्वक अपने चाचा के लड़कों का खान-पान मुक़र्रर कर दिया। उन्हीं लड़कों में राव प्रतापसिंहजी भी थे। उन्होंने रियासत में भी कुछ हिस्सा हासिल कर लिया। राव फतहसिंह ने भी रियासत को बढ़ाया ही। सन् १८३६ ई० में राव फतहसिंह का स्वर्गवास हो गया। उनके पश्चात् उनके पुत्र वहादुरसिंहजी राज के मालिक हुए। राव फतहसिंह ने जहाँ एक बड़ी रियासत छोड़ी वहाँ उनके खज़ाने में भी लाखों रुपया नक़द एकत्रित था। राव वहादुरसिंह ने अपने पिता की भाँति रियासत को वढ़ाना ही उचित समझा और २६ गाँव ख़रीद कर रियासत में शामिल कर लिये। राव वहादुरसिंहजी ने एक राजपूत बाला से भी शादी की थी। जाट-विदुषी के पेट से उनके यहाँ लक्ष्मनसिंह और गुलाबसिंह नाम के दो पुत्र और राजपूत-वाला के पेट से उमरावसिंह पैदा हुए थे। लक्ष्मनसिंह का स्वर्गवास अपने पिता के ही आगे हो गया था। राव वहादुरसिंह के मरने पर राज्य का अधिकारी कौन वने इस वात पर काफी झगड़ा चला। यह भी कहा जाता है कि विरादरी के कुछ लोगों ने राजपूतनी के पेट से पैदा हुए वालक को दासी-पुत्र ठहरा दिया और राज्य का अधिकारी गुलाबसिंह को ठहराया। इसका फल यही हो सकता था कि दोनों भाई आपस में झगड़ते—लड़ाई बखेड़ा करते।

एक दुर्घटना यह हुई कि राव वहादुरसिंह अपने महल के अन्दर सन् १८४७ ई० में क़त्ल कर दिए गये। इस सम्बन्ध में अनेक तरह के मत हैं। क़त्ल करने वालों को सज़ा हुई।

उमरावसिंह ने रियासत में हिस्सा पाने के लिये बृटिश अदालत में दावा किया, किन्तु सदर दीवानी अदालत ने सन् १८५६ ई० में उनके दावे को खारिज कर दिया। सन् १८५७ ई० में अन्य राजा-रईसों की भाँति गुलावसिंहजी ने भी अँगरेज़ सरकार की खूब सहायता की। जिसके वदले में बृटिश सरकार ने उन्हें कई गाँव तथा राजा साहब का खिताब प्रदान किया। राजा गुलाबसिंहजी का सन् १८५६ ई० में स्वर्गवास होगया। राजा साहव के कोई पुत्र न था। एक पुत्री थी बीबी भूपकुमारी। मरते समय राजा साहव ने रानी साहिबा श्री जसवन्त-कुमारी को पुत्र गोद लेने की आज्ञा दे दी थी। किन्तु उन्होंने कोई पुत्र गोद नहीं लिया। रानी साहिवा के पश्चात् भूपकुमारी रियासत की अधिकारिणी बनीं। सन् १८६१ ई० में वह भी निःसंतान मर गईं। भूपकुमारी की शादी बल्लभगढ़ के राजा ताहर-सिंह के भतीजे खुशालसिंह से हुई थी। अपनी स्त्री के मरने पर वही कुचेसर रिया-सत के मालिक हुए। उमरावसिंह ने फिर अपने हक़ का दावा किया, किन्तु फल कुछ न निकला। राव प्रतापसिंहजी ने भी अपने हक़ का दावा किया जोकि मगनी-राम के पोते थे। सन् १८६८ ई० में अदालती पंचायत से प्रतापसिंहजी को राज्य का पाँच आना, उमरावसिंह को छः आना और शेष पाँच आना खुशालसिंह को

बाँट दिया गया। राव फतहसिंहजी का संचय किया हुआ धन इस मुक़द्दमे बाजी में स्वाहा होगया।

रियासत का इस तरह बटवारा होने पर कुछ शांति हुई। राव उमरावसिंह ने अपनी एक लड़की की शादी खुशालसिंह को कर दी 'खुशालसिंह सन् १८७६ ई० में इस संसार से चल बसे। उनके कोई पुत्र न था इसलिये दोनों हिस्सों का प्रबन्ध उनके ससुर उमरावसिंहजी के हाथ में आ गया। वे दोनों राज्यों का भली-भाँति प्रबन्ध करते रहे। सन् १८६८ ई० में उमरावसिंह का भी स्वर्गवास होगया। उनके तीन लड़के पहिली रानी से और एक लड़का दूसरी रानी से हैं। सब से बड़े राव गिरिराजसिंहजी हैं। उनके जाती खर्च के लिए अपने भाइयों से $\frac{1}{16}$ अधिक भाग मिला है। मुक़द्दमे-बाजी ने इस घराने को बरबाद कर रक्खा है। साहनपुर की रानी साहिबा श्रीमती रघुवीरकुँवरि ने राव गिरिराजसिंह जी तथा उनके भाइयों पर तीन लाख मुनाफे का (अपना हक़ बताकर) दावा किया था। पिछले बन्दोबस्त में पूरे ६० गाँव और १६ हिस्से इस रियासत के जिला बुलन्दशहर में थे। इसकी मालगुजारी सरकार को सन् १६०३ से पहिले ११८२६२) दी जाती थी। रियासत साहनपुर और कुचेसर का वर्णन प्रायः सम्मिलित है। श्रीमान् कुँवर ब्रज-राजसिंहजी रियासत साहनपुर के मालिक हैं। इन रियासतों का युक्त-प्रदेश के जाटों में अच्छा सम्मान है।

साहनपुर

बिजनौर जिले में चौधरी, पछांदे और देसवाली जाट अधिक प्रसिद्ध हैं। इन में सब से बड़ा घराना साहनपुर का है। साहनपुर के जाट सरदार झींद की ओर से इधर आये थे। इस खान्दान का जन्म-दाता नाहरसिंह जी को माना जाता है। नाहरसिंह के पुत्र बसरूसिंह झींद की ओर देहली के पास बहादुरगंज में आकर आबाद हुए थे। सन् १६०० ई० की यह घटना है। उस समय जहाँगीर भारत का शासक था। उसकी सेना में रह कर इन लोगों ने बड़ा सम्मान प्राप्त किया था। बसरूसिंह के छोटे लड़के तेगसिंह जी ने बादशाह जहाँगीर से जलालाबाद, कीरतपुर और मंडावर के परगने में ६६० मौजे प्राप्त किये थे। राय का खिताब भी इन्हें मिला था। यह खिताब आज तक इनके वंश में चला जाता है। आरम्भ में बिजनौर जिले में नगल के मौजे में इन्होंने आबादी की। दो वर्ष पश्चात् साहनपुर में क़िले की बुनियाद डाली। राय तेगसिंह जी का सन् १६३१ ई० में स्वर्गवास हो गया। उनके ५ लड़के थे। राय भीमसिंह जी जो कि दूसरे लड़के थे, रियासत के मालिक हुए। अपने समय में राय भीमसिंह ने यथाशक्ति रियासत की उन्नति में अपने को लगाया। वह झगड़ालू प्रकृति के मनुष्य न थे। भीमसिंह जी के कोई पुत्र न था इसलिये उनके देहावसान के पश्चात् उनके छोटे भाई पुत्र नत्थीसिंह जी राज के मालिक हुए। नत्थीसिंह के बाद उनके भाई सबलसिंह के हाथ रियासत की बाग-

डोर आई। सबलसिंह राजसी टाट-बाट और चमक-दमक को पसंद करते थे। वह अपने नाम को भूलने की चीज़ नहीं रहने देना चाहते थे। उन्होंने अपने नाम से सबलगढ़ नाम का एक मज़बूत क़िला बनवाया। सबलसिंह जी के ३ पुत्र थे जिनमें से दो उनके आगे ही मर चुके थे। इसलिये रियासत के मालिक तृतीय पुत्र रामबलसिंह जी हुए। इनके दो पुत्र थे—ताराचन्द और सब्बाचन्द। अपने पिता के बाद ताराचन्द ही अपनी पैतृक रियासत के अधीश्वर हुए। सन् १७५३ ई० में ताराचन्द जी का देवलोक हो गया। सब्बाचन्द जी ने अपने भाई के बाद राज्य की बागडोर अपने हाथ में ले ली। सब्बाचन्द जी ने रियासत को ख़ूब ही बढ़ाया। कहा जाता है कि उन्होंने गाँवों की संख्या १८८७ तक कर दी थी। राव सब्बाचन्द जी की सन् १७८४ ई० में मृत्यु हो गई। उनके भतीजे राय जसवंतसिंह जी गद्दी के अधिकारी हुए। किन्तु जसवन्तसिंह जी की गद्दी पर बैठने के एक ही वर्ष पश्चात् उनकी मृत्यु हो गई। चूंकि राय जसवन्तसिंहजी के कोई सन्तान न थी इसलिये उनके चाचा के पुत्र राव रामदासजी राज्य के स्वामी हुए। पठान लोग उस समय विशेष उपद्रव कर रहे थे। साहनपुर पर भी उनका दाँत था। उनसे लड़ते हुए ही राव रामदासजी वीरगति को प्राप्त हुए।

रामदासजी के पश्चात् रियासत उनके भाई राव बसूचन्दजी के हाथ आई। ग्यारह वर्ष तक इन्होंने बड़ी योग्यता से रियासत का प्रबन्ध किया। सन् १७९६ ई० में इनकी मृत्यु हो गई। इनके बड़े पुत्र खेमचन्दजी को २ वर्ष के बाद मारडाला गया था इसलिये छोटे लड़के तपराजसिंह गद्दी पर बैठे। सन् १८१७ ई० तक इन्होंने राज किया। इनकी मृत्यु के पश्चात् राव जहानसिंहजी रियासत के कर्ताधर्ता बने किन्तु वे सन् १८२८ ई० में डांकुओं से सामना करते हुए मारे गए। अतः उनके छोटे भाई राव हिम्मतसिंहजी मालिक हुए। ४५ वर्ष के लम्बे समय तक इन्होंने रियासत का प्रबन्ध किया। सन् १८७३ ई० में इनके स्वर्गवास के पश्चात् इनके बड़े पुत्र राव उमरावसिंहजी साहनपुर के राव नियुक्त हुए। नौ वर्ष तक इन्होंने राज किया। सन् १८८२ ई० में इनका देहान्त होने के समय इनके भाई डालचन्दजी नाबालिग़ थे इससे रियासत कोर्ट ऑफ़ वार्डस के अधीन हो गई। डालचन्दजी का असमय ही सन् १८९७ ई० में देहान्त हो गया, इसलिये रियासत राव प्रतापसिंह के क़ब्जे में आई। कोर्ट ऑफ़ वार्डस का प्रबन्ध हटा दिया गया। सन् १९०२ ई० में राव प्रतापसिंहजी भी मर गए। उनके एक नाबालिग़ पुत्र दत्तप्रसादसिंहजी थे। जिन्हें आफ़ताब जंग भी कहते थे। रियासत का इन्तजाम उनके चाचा कुँवर भारतसिंहजी के हाथ में आया। इस समय वही इस रियासत के मालिक हैं। भारतसिंहजी बड़े ही उच्च विचार के और समाज सेवी व्यक्ति हैं। शुद्धि-आन्दोलन से तो उनकी सहानुभूति है ही जाति-सेवक भी वे ऊँचे दर्जे के हैं। राजा भारतसिंहजी की सभी लोग प्रशंसा करते हैं। कुँवर चरतसिंहजी भी योग्य व्यक्तियों में से हैं।

यह सर्व साधारण के याद रखने की बात है। साहनपुर दो रियासतें हैं। दोनों ही जाटों की हैं। एक बुलन्दशहर जिले में है और दूसरी यह बिजनौर जिले में है।

नवाबी-शासन में इस जगह के मालिक राजा भागमल थे। फफूंद जिला इटावा में पूर्व की ओर है। सन् १७७४ से १८२१ ई० तक यह जिला अवध के नवाबों की मातहती में रहा है। महाराज सूरजमलजी ने एक समय इसे अपने अधिकार में कर लिया था। किन्तु उनके स्वर्गवास के पश्चात् यह अवध के नवाबों के हाथ में चला गया। नवाबों की ओर से इस जिले में तीन आमिल थे—इटावा, कुदरकोट और फफूंद। फफूंद में राजा भागमल जिनका कि दूसरा नाम बारामल्ल भी था, राज करते थे१। उन्होंने फफूंद में एक क़िला बनवाया था जिसके चिह्न अब तक शेष हैं। राजा भागमल हिन्दू-मुसलमान सभी को प्यार करते थे। उन्होंने वहाँ के ग़रीब मुसलमानों के लिए एक मसजिद भी बनवा दी थी। आज तक उस मसजिद पर जाट-नरेश राजा भागमलजी का नाम खुदा हुआ है। फफूंद को हमने स्वयं देखा है। राजा भागमल के समय में यह श्रेष्ठ व्यापारिक मण्डी थी। पुराने समय के अनेकों मकान अब तक अपनी शान बता रहे हैं। सन् १८०१ ई० में यह स्थान नवाब सआदतअली ने अङ्गरेज सरकार को दे दिया था। राजा भागमल शायद मीठे गोत के जाट थे। क्योंकि जसवन्त नगर के पास मौज़ा सिसहट में इसी गोत के जाट पाये जाते हैं।

फफूंद

कुँवर सरदारसिंहजी अब इस रियासत के मालिक हैं जो एम० एल० सी० भी हैं। जाट महासभा के कोषाध्यक्ष भी हैं। 'यू० पी० के जाट' नामक पुस्तिका में इस रियासत का वर्णन इस प्रकार है:—"अमरोहा के रहने वाले नैनसुख जाट थे। उनके लड़के नरपतिसिंह ने मुरादाबाद के शहर में एक बाजार बसाया। यह भाग्यवान् थे। इनके लड़के गुरुसहाय फलकृरी के नाज़िर थे। नवाब रामपुर की मातहती में यह मुरादाबाद के दक्खिनी हिस्से के नायब नाज़िम थे। सन १८५७ के ग़दर में इन्होंने बृटिश सरकार की बड़ी मदद की थी। इनको सरकार से राजा का ख़िताब मिला और १७ गाँव से कुछ ज्यादा ज़िला बुलन्दशहर में इनको सरकार ने प्रदान किये। सन् १८७४ में यह मर गये। उनकी विधवा रानी किशोरी मालिक हुईं। ६०००) रु० मालगुजारी की रियासत का इन्तज़ाम इस बुद्धिमान स्त्री ने १९०७ ई० तक बड़ी खूबी के साथ किया। इसी सन् में यह मर गईं।

मुरादाबाद

रानी किशोरी के मरने के बाद रियासत के दो भाग हो गये। बुलन्दशहर की जायदाद रानी साहिबा के नाती करनसिंह को मिली और बाक़ी कुँवर ललित-

१—'यू० पी० के जाट' नामक पुस्तक से।

सिंह को। गुरुसहाय के भाई ठाकुर पूरनसिंह के यह पाते हैं और सब रियासत के मालिक हैं।"

इस समय जैसा कि हम लिख चुके हैं श्री सरदारसिंहजी रियासत के मालिक हैं। रियासत की टुकड़े वन्दी रानी किशोरी के बाद किस तरह से हुई इसका कुछ मौखिक वर्णन हमें प्राप्त हुआ है। किन्तु कुछ ऐसी भी बातें हैं जो कि राज्य के प्राप्त करने के लिए सर्वत्र हुआ करती हैं। इसलिए उनके लिखने की आवश्यकता नहीं समझी। महाराजा श्री व्रजेन्द्रसिंहजी भरतपुर-नरेश की ज्येष्ठ भगिनीजी का विवाह ठाकुर करनसिंहजी के पौत्र कुँवर सुरेन्द्रसिंहजी के साथ पिछले वर्ष हुआ है।

जारखी

मुस्लिम काल में जारखी नाम से जाट-ताल्लुका प्रसिद्ध था। यह स्थान टूँडला स्टेशन से ४ मील पूर्वोत्तर है। जिस समय भरतपुर पर लार्ड लेक चढ़ कर आया था अर्थात् सन् १८०३ में जारखी के सुन्दरसिंह और दिलीपसिंहजी के पास ४१ गाँव थे। पहिले इनका सम्बन्ध भरतपुर और मराठों से रहा था। मुग़ल हाकिमों से भी इनका ताल्लुक़ रहा होगा। सन् १८१६ और १८२० के बीच डेहरीसिंह जो कि दलीपसिंह के पोते थे, इस रियासत के मालिक थे। उन्होंने सरकारी मालगुजारी बन्द कर दी। इसलिए रियासत हाथरस के राजा दयासिंहजी के पास चली गई। किन्तु जब अँगरेज़ों और दयारामसिंह में खटकी तो सरकार ने यह रियासत डेहरीसिंह के पुत्र जुगलकिशोरसिंह को वापिस कर दी। अब ठाकुर शिवकरनसिंह और भगवानसिंहजी इस खान्दान के मालिक हैं। कुँवर शिवपालसिंहजी ने अपना हिस्सा अलग करा लिया है। पंजाब की बेर रियासत के साथ जोकि सिख-जाटों की जिला लुधियाना में छोटी सी स्टेट है, इनके सम्बन्ध हैं।

इनके अलावा और कई छोटी-छोटी रियासत जाटों की संयुक्त-प्रदेश में हैं जैसे—मुहीउद्दीनपुर, सेहरा, सीही, सैदपुर और भटौना। मुहीउद्दीनपुर जिला मेरठ में है। कुँवर विश्वम्भरसिंह यहाँ के प्रसिद्ध मालिक, बड़े सज्जन पुरुष हैं। चौधरी मुख्तियारसिंहजी जिला बोर्ड के चेयरमैन और बड़ी कौंसिल के मेम्बर रह चुके हैं।

सेहरा, सैदपुर के जाटों की बुलन्दशहर में अच्छी इज़्ज़त है। सरदार रतनसिंह, ठाकुर शादीराम और ठाकुर झण्डासिंह ने ग़दर में सरकार को बड़ी सहायता दी थी। भटौना के ठाकुर खुशीराम ने भी पूर्णतः राज-भक्ति ग़दर के समय में प्रगट की थी। यह रियासतें राज-भक्ति के पुरष्कार हैं। संयुक्त-प्रान्त के जाटों का इतिहास इतना-सा हो, ऐसी बात नहीं है, किन्तु यह अवश्य है कि आज वह इतिहास अप्राप्त है। पाँडवों और भगवान् श्रीकृष्ण से लेकर अब तक उनका इतिहास प्राप्त हो सकेगा भी या नहीं इस सम्बन्ध में निश्चय-पूर्वक अभी कुछ नहीं कहा जा सकता। बहुत-सी

बातें ऐसी हैं जिनका कोई लिखित प्रमाण नहीं मिलता इसलिये उनके सम्बन्ध में उल्लेख करने से रुकना पड़ता है। जैसे बहराइच हमारे विचार से बहराइच गोत्र के जाटों की बस्ती व राजधानी थी और उरई के संस्थापक उरिया गोत के जाट थे। मैनपुरी को मैनी जाटों ने आबाद किया था। शायद अधिक खोज करने से इस बात के प्रमाण भी मिल सकें।

बटेश्वर में जाट-राज्य होने की इधर बहुत-सी दन्तकथायें हैं। राजा जगदेव मालवा से संयुक्त-प्रान्त में आये थे। वे कहाँ आबाद हुए, कहाँ तक उनका राज्य था, यह भी कुछ पता नहीं चलता है। अनेक जाट-गोत अपने को राजा जगदेव के वंशज मानते हैं। १०४६ ई० के आस-पास विक्रम ठाकुर अथवा ठकुरी ने संयुक्त-प्रदेश में अपने साथियों सहित प्रवेश किया था और जंघारा राजपूतों को मार भगा कर हसनगढ़ परगने के आस-पास अधिकार किया था। इस बात का उल्लेख मि० क्रुक साहब ने भी किया है, किन्तु इन लोगों ने कब तक स्वतन्त्र रूप से राज्य किया और कहाँ से यह आये थे? यह वर्णन नहीं प्राप्त होता है। यदि ठकुरेले ठकुरी वंश के लोग हैं जो कि नैपाल में शासक थे तो कहना पड़ेगा कि मौखरी लोग भी जाट हैं, क्योंकि उनके आपस में सम्बन्ध होते थे और फिर इस तरह सम्राट् हर्ष भी जो कि थानेश्वर के राजा थे, जाट मालूम देते हैं, क्योंकि ठकुरी, मौखरी और हर्ष के वंशवालों में वैवाहिक सम्बन्ध होते थे। जाटों में मौखरी गोत्र भी है।

डब्ल्यू क्रुक साहब की "उत्तरी-पश्चिमी प्रान्तों और अवध की जातियाँ" नामक पुस्तक में दशान्दसिंह जो कि बिजनौर का शासक था, उसके पूर्वजों के वर्णन में हम यह भी पढ़ते हैं कि मुहम्मद गोरी के चित्तौड़ जीत लेने पर राज-घराने के दो व्यक्ति एक नैपाल और दूसरा बिजनौर की ओर चले। तब क्या यह अनुमान लगाना ठीक नहीं कि नैपाल में गये हुए ही ठकुरी हैं और उनके ही कुछ साथी ठकुरेले हैं; बिजनौर के पास कारणों वश उनके गोत्र का दूसरा भी नाम हो गया हो। मि० क्रुक साहब ने महमूद गजनवी का समय बताया है। वह समय बहुत संभव है कि १०४६ ई० ही रहा हो अथवा संवत् १०४६ को ईसवी बता दिया गया हो। वह समय महमूद ग़ज़नवी के आक्रमणों का है। इस समय भी चित्तौड़ के आस-पास जाटों के छोटे-छोटे राज्य थे। खोज करने से बहुत संभव है, दशान्द-सिंह और उसके पूर्वजों तथा वंशजों का इतिहास मिल जाय। ऐसे ही इतिहास मिलने पर संयुक्त-प्रदेश की विशाल भूमि पर के कुल जाट-राज्यों का पता चल सकता है।

छोंकरे जाट जो अपने लिये लक्ष्मणजी का वंशज बतलाते हैं वे अपने अनेक राजाओं के नाम लेते हैं तथा स्थानों के भी। किन्तु आज न उन स्थानों का पता है और न मौजूदा इतिहासों में वे नाम मिलते हैं। जाटों में एक गोत्र परूका है

जो कि घटोत्कच (भीमसैन का पुत्र) के वंशज अपने को बतलाते हैं। घटोत्कच यमुना के किनारे जिस वन का राजा था वह आजकल का फ़रह है। किन्तु उनके राज के निशान कैसे ढूंढे जावें। पंजाब में झींद के पास फौगाट गोत्र का राजा झण्डूसिंह अथवा जुहाडूसिंह दादरी में राज करता था। उसके वंशज यू० पी० में आ गये। किस तरह और कहाँ-कहाँ वह बसे, उन्होंने यू० पी० में राज्य स्थापन की चेष्टा की या नहीं, यह कुछ पता नहीं चलता। बीकानेर के जाट फौगाट नरेश झण्डूसिंह के गीत गाया करते थे। एक गीत की कड़ी इस भाँति है:—

"फौगाटां की दादरी झण्डूजी सरदार[१]।"

सन् ८०० ई० और बारह सौ के बीच यू० पी० के अनेक स्थानों पर हमें किरार चत्रियों के राज्यों का वर्णन मिलता है। अनेक जिला गज़ेटियरों में किरारों से जाट चत्रियों के युद्धों का भी हाल मिलता है। उस समय किरारों को विजय करने के बाद जाटों के किन-किन सरदारों ने कहाँ-कहाँ कितने-कितने दिन राज किया इसका वर्णन करने में गज़ेटियर भी चुप हैं। मथुरा के पास कामरि, कोटमनि, जाववठैन, होडल, गोसना, लोहवन और कारव ये ऐसे चिह्न मिलते हैं जो वहाँ अति प्राचीन बस्तियाँ तथा गढ़ों के होने के प्रमाण देते हैं। इन स्थानों के जाट भी यह दावा करते हैं कि उनके पूर्वज इन स्थानों के शासक थे।

इनके अलावा सैकड़ों स्थानों और सैकड़ों गोत्रों के जाट अपने पूर्वजों की गाथायें जो उन्होंने परम्परागत याद रक्खी हैं सुनाते समय अपने उन पूर्वजों का वर्णन करते हैं जो राजा कहलाते थे। यदि यह सब प्रकार की सामिग्री एकत्रित करली जाय और एक लम्बे अर्से तक खोज की जाय तो इसमें कोई सन्देह नहीं कि यू० पी० के जाटों के प्राचीन राज्यों का इतना इतिहास प्राप्त हो जिसकी इस समय कल्पना भी नहीं की जा सकती।

यू० पी० जाट जन-संख्या

संयुक्त-प्रान्त में इस समय कितने जाट चत्रिय हैं और किस ज़िले में उनकी कितनी संख्या है यह भी बताना आवश्यक समझ कर सन् १९३१ ई० की मर्दुम शुमारी की रिपोर्ट के आंकड़े यहाँ उद्धृत करते हैं:—

कुल प्रान्त में ७५९८३० जाट हैं जिनमें ३३१९७१ स्त्रियाँ हैं। चूंकि भारतवर्ष में इस समय वैदिक-धर्म का पुनरुद्धार हो रहा है, वेदों की मुख्य प्रचारक संस्था—आर्य समाज ने यह आन्दोलन किया कि आर्य लोगों की हिन्दुओं से अलग गणना की जावे। इस तरह की गणना में औसतन जाट अधिक हैं। स्त्री-पुरुषों की संख्या में ४०१७२५ पुरुष और ३११०७८ स्त्री—जाटों ने अपने को

१—हमने इस गीत को पूरा लिखा था किन्तु खेद है कि इस समय वह कागज़ का टुकड़ा हमारे पास से खो गया। (लेखक)

हिन्दू और २६१३४ पुरुष और २०८६३ स्त्री—जाटों ने अपने लिये आर्य लिखाया है। यद्यपि हिन्दू लिखाने वाले जाट स्त्री-पुरुष सामाजिक नियमों में हिन्दू की अपेक्षा आर्य ही हैं, किन्तु मानसिक दासता और इतिहास-ज्ञान की कमी से वह अपने लिए आर्य की अपेक्षा हिन्दू कहलाने में गौरव समझते हैं। जिलेवार जाटों की संयुक्त-प्रान्त में जन-संख्या इस प्रकार है:—

देहरादून ७८७, सहारनपुर १०६०२, मुजफ्फरनगर ७५४६६, मेरठ १६६५२३, बुलन्दशहर ८२३८५, फर्रुखाबाद १५७, इटावा ७५७, कानपुर ५६६, फतहपुर ७८, इलाहाबाद ३०७, बनारस ३६०, मिर्जापुर १८, जौनपुर ६६, गाजीपुर ६५, बलिया ४४, गोरखपुर ५८, बस्ती २६२, आजमगढ़ ६, अलीगढ़ ६२४८६, मथुरा १२४२७७, आगरा ५३४४६, मैनपुरी ६६६, एटा २८०, बरेली ६०७४, बिजनौर ५२७८६, बदायूं ४०११, मुरादाबाद ३०१८४, शाहजहाँपुर २०५, पीलीभीत ५८६, झाँसी १०४७, जालौन ६१, हमीरपुर ३०, बांदा १८, नैनीताल ३५६, अलमोड़ा १५, गढ़वाल १८। इन सब के अलावा लगभग बीस हजार इस प्रान्त में जाट-मुसलमान हैं।

संयुक्त-प्रान्त में जाटों के अनेकों गोत हैं। एक अँगरेज ने लिखा है कि २१३ गोत के जाट तो जिला मेरठ में ही रहते हैं। हमें जिन गोत्रों का पता चला है वे यह हैं:—

अधरी, अहेरवंशी, अहलावत, अहलानियां, अजुरिया, अकी, अलबल, अलावलपुरी, अलामत, अनजिया, अनजल, अनतल, अनलक, अर्क, अरकोंची, असरोघ, अन्धक, अन्तल, औंध, बावन, बचिल, वत्स (बछड़ा) बछासई, बधान, बधावा, बघोनिया, बदिया, बदवर, बागरा, बधेत, बगरोइया, बेनस, बैसोरा, बजरी, बाखर, बकैया, बालवर, बाल, बतियान, बलारिया, बलोले, बनजार, बनवी, बनतरी, बांगरवार, बांगामार, बर गूजर, बरक, बरम, बरनवार, बरगाया, बरोजवार, बाढ़ह, बड़हवल, बरोदा, बारसिर, बसोली, भदवरिया, भंगीवाल, भाद, भगेल, भूले मुल्तान, भार, भानी, भरनगार, भरथद्वाज, भरगोते, भट, भट्टी, वैसवार, बारी, भोटा, भगोतर, भूरी, भरकौलिया, भिटवाना, भिटभार, भुइयां, भूलर, भेंढी, भूमिवा, बोदियां, बोरा, बीहन, बिरमा, बिसला, बूरा, बूधर, बरसिया, चामर, चन्देल, चंग, चंघारी, चौधरी, चौहान, चौकर, चुथन, चन्द्रवंशी, चन्देल, चन्दी, चन्दवाल, चनकर, चरानी, चरका, चौधरी, चितारिया, चोया, घुकरानी, चुसिया, चाहर, चाहिल, चरावी, चीलर, चिकारा, चिकटी, डगोर, दहिमा, दहुना, दहिया, डगिया, डगेर, देसाली, देसवाल, डकिया, धरना, धनोई, धौल्या, दीक्षत, दुसाध, दर्व (दावर) ऊजरवाल, डवगार, दनकी, दारावर, दशाह, दसपुरिया, धूरिया, दोवर, दार, डवास, दाहन, दहला, पहुना, दलाल, दलजी, दवाल, देहत, देलाई, देनविया, धन्धे, दून, दुन्दा, फौजदार, गावर, गदर, गदरवार, गहलौत, गन्दावल, गन्धार, गंगस, गन्धवारा, गौर, गोरा, गिल्लू, गोदारा, गोधी, गोरिया, गजरा, गलावी, गोहार, गाक, गाला, गौदल, गोंद, गूजर, गुरदिया, गुरहर,

गुरज, गुरु, गहलोर, गजरनियां, घटवाल, गिल, गोताला, हरीवार, हेला, हँगा, हुदाह, हूदी, हीनियां, हौमल, हुलका, इगिया, इनतर, इन्दौलिया, जदुवंशी, जगलान, जैसवार, जजारिया, जावाह, जाखड़, जत्रि, जतरान, जतराम, जतू, झोरा, जून, जवाली, झाला, झाजरा, झकार, जगौश्रा, जूरा, जूरैल, कछवाह, कंचु, कुन्द, कैरु, कनखंडी, कचेरिया, खोखर, खुवार, खुनखुनिया, खूटेल, किस्तवार, कोइल, कुन्थल, कवीरी, कचौड़िया, कदान, कगार, कहौनिया, काली, कलहार, केदवाल, कंगरी, कगोरिया, कंकरीला, करी, कुरमी, करमोरा, काशीवत, कथोरिया, खाण्डा, कोरी, कुरान, कालीरमभा, कुजल, करवार, कुसवान, कसवाँ, कदारिया, कुँरान, कादियान, कन्हैया, कौरवाला, कंवाला, लाहिरी, लाठोर, लुहाना, लाहौरिया, लाहौरा, लाहर, लामीना, लोश्रत, लथर, लोचव, लोनकास, माहुर, मैनी, माथुरिया, मौर्य, मीठे, महार, महोवर, मियाला, माछर, मालिकमान, मंडेर, मारे, मतसारा, मोखरी, मोर, मुंडलान, मुन्ड-तोर, नैन, नैनदल, ननौलिया, नरवल, नेहरा, नोहवाल, नागौरिया, नागरी, नागा, नामत, नारा, ओरा, अरोर, ओला, ओकम, पछांदे, प्रधान, पनवार, परिहार, फोखा, फौगाट, पुरवार, पुआर, पौरषवार, पुनरिया, पुरवार, पलवत, पंडवा, पंडोरिया, पोरोथ, पंजाबी, पंवार, पोहल, पूनियां, पोते, रैकवार, रजौरिया, राना, राठौर, राँगड, रथी, रावत, ऋषिवंशी, रोरा, राठी, रंगी, सैंगल, सिकरवार, सकेल सलाकलाइन, सोगरिया, सेंगरिया, सिनमार, सिनसिनवार, शूर, सरामत, सरा-वत, सिन्धु, सोलंकी, सोरोत, सोहरों, सगसैल, सगरी, संथ, सानी सरोही, सिरस-वार, सैन, सेवा, समेदा, सात्वत (सरदवत, सशेत, श्याम, सीधू) सिजवान, सिरे, शिवी, शिवाज, सैव, सुरदत, सुरियारा, ठकुरेल, ठेनुआँ, तोमर, तगार, तजार, तमार, तनकोर, तानक, तोरन, तोमी, संग, तेबतिया, ठाकुर, तोकस, तूर, उरिया, विरिया, वारस, वहरवाल, भगोतर, छोंकरे, छुहान, रावत, बडरावत, बडराया, बड, दहिया, धाकर, धींगर, हेला, हेन्या, रणधर, सहगल, नरवार, पचहरे, घेंआर, कालीधामन, सुराहे, खांडिया, गोरी, ठकुरेले, भरंगर, कठेरिया, हाला, घरूका, पोनिया आदि आदि—

इनमें से अनेकों गोत्र तो ऐसे हैं जो महाभारत और उससे पहिले से उसी रूप में बराबर अब तक चले आते हैं और जिनका संयुक्त-प्रदेश की पवित्र भूमि पर एक अर्से तक राज्य रहा था। कुछ इनमें ऐसे गोत्र हैं जो किसी राजवंश में से हैं और अब उनका नाम किसी विशेष कारण से बदल गया है। इनमें अधिकांश ऐसे गोत्र हैं जिनका एक बड़ा भाग बौद्ध-काल के बाद नये रस्म-रिवाज से दीक्षित व संस्कृत होगया है और अब राजपूत नाम से पुकारा जाता है। समय आयगा कि इन सभी गोत्रों और राजवंशों के ऊपर पूरा प्रकाश पड़ जायगा।
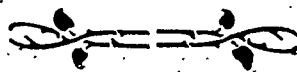
नवम अध्याय

राजस्थान के जाट-राज्य

प्राचीन जाट-राज्य और वर्तमान राज-घरानों का वर्णन

राजस्थान जिसे कि प्राय: राजपूताने के नाम से पुकारा जाता है प्राचीन समय में अनेक नामों से अनेक प्रदेशों में बँटा हुआ था। राजपूत जिनके नाम से यह प्रान्त आज कल मशहूर है सातवीं, आठवीं सदी से उनका राजपूताने में आना इतिहासों से सिद्ध होता है। सोलहवीं सदी से पहिले भी यह देश एक नाम राजपूताने की बजाय प्रदेश वार अनेक नामों से पुकारा जाता था। इस नाम की बुनियाद अकबर के जमाने में पड़ी किन्तु प्रचार नहीं हुआ। पूर्ण रूप से राजपूताना नाम का प्रचार टाड साहब के 'राजस्थान' के लिखे जाने के पश्चात् अँगरेज सरकार के राज्य-काल में प्रसिद्ध हुआ है। अभी पिछले दिनों राजपूताना या राजस्थान नाम पर एतराज करते हुए, कुँवर सूआलालजी "सैल" बी० ए० के विद्यार्थी ने यह भी इच्छा प्रकट की थी कि इसका नाम संख्या के अनुपात से 'जाटपूताना' या 'जाटस्थान' होना चाहिए। यह ठीक रहते हुए अस्तित्व आवरण में आ जाता है और उन जातियों को इस तरह अपना अपमान दिखाई देता है, किन्तु हम इस बात के भी पक्षपाती नहीं कि इसका नाम 'जाटपूताना' या 'जाट-स्थान' ही जाना चाहिए। उचित यह है कि इस प्रदेश का नाम 'वीरभूमि' रख दिया जाय। यह नाम केवल इसीलिए उचित नहीं है कि राजपूतों ने यहाँ देश की रक्षा के लिए .खून बहाया है किन्तु इसलिए भी उचित है कि यहाँ अधिकांश वीर जातियाँ ही आबाद हैं। उन्होंने अपने नियम-विधानों को सुरक्षित रखने के लिए बड़े-बड़े संकट और अपमान सहे हैं। साथ ही वे लाखों की संख्या में आन और मान की रक्षा के लिए बलिदान भी हुए हैं। भीलों के त्याग और वीरता भुलाने की चीज नहीं है। उदयपुर को "हिन्दुओं सूरज" की उपाधि दिलाने में भीलों का जो .खून व्यय हुआ था उसका मूल्य कौन चुका सकता है? जाटों ने आरम्भ से अन्त तक विदेशियों से लोहा लिया और गूजरों ने अपने को गाजर-मूली की भाँति भीनमाल और अजमेर के क्षेत्र में विदेशियों से लड़ कर कटवा दिया।

यह प्रदेश वीर जातियों से भरा पड़ा है। शत्रु से कभी न झुकने वाला चित्तौड़ इस प्रदेश में है तो वह रणवांका भरतपुर भी इसी प्रदेश में है, जिसके लिए वियोगी हरि ने 'वीर सतसई' में लिखा है—"वही भरतपुर दुर्ग है, अजय दीर्घ भयकारि। जहँ जट्टन के छोकरे, दिए सुभट्ट पछारि।" इस वीर भूमि पर इन सभी जातियों का एक लंबे अर्से तक राज्य रहा है। यह सभी जानते हैं कि एक समय कोटा-बूँदी की भूमि पर भीलों का राज्य था और अलवर, जोधपुर तथा अजमेर के बहुत से भूभाग पर गूजर सरदारी करते थे। जाटों के राज्य के सम्बन्ध में इतना ही कहना काफ़ी है कि वे अब भी इस वीर भूमि के एक बड़े भाग के शासक हैं। चूंकि भीलों और गूजरों तथा मैनाओं के इतिहास से हमारे इस इतिहास का कोई सम्बन्ध नहीं है इसलिये उनके सम्बन्ध में इतना ही बता देना काफी है कि वे भी एक समय इस वीर भूमि के अधिकांश भाग के शासक रह चुके हैं। अब इस अध्याय में जाटों के उन प्राचीन और अर्वाचीन राज्यों का वर्णन करते हैं, जो कि इस प्रदेश की भूमि पर पूर्व समय में अवस्थित थे; अथवा इस समय जाट-जाति का मस्तक ऊंचा कर रहे हैं।

इस समय वीर भूमि के जाटों की दशा को देख कर यह कल्पना भी नहीं की जा सकती कि कभी इन्होंने शासन किया होगा। कर्नल टाड ने इसी बात को इस भाँति लिखा है:—*"जिन जिट वीरों के प्रचण्ड पराक्रम से एक समय सारा संसार कांप गया था आज उनके वंशधर खेती करके अपना जीवन-निर्वाह करते हैं। उनके देखने से अब यह नहीं ज्ञात होता कि यह प्रचण्ड वीर जिटों के वंशधर हैं।"* किन्तु इतिहास बताता है वास्तव में वे महान् थे और उनके राज्य चाहे वे प्रजातंत्र ढंग के रहे हों चाहे एक तंत्र के इस राजस्थान की भूमि पर भी थे।

शिलालिपि

कर्नल टाड को जिट जाति सम्बन्धी, बूंदी राज्य के तीन कोस पूर्व में रामचन्द्रपुरा नामक स्थान में से कूआँ खोदते समय पाई गई एक खोदित लिपि मिली थी। टाड साहब ने उसे लंदन की 'एशियाटिक सुसायटी' की चित्रशाला में भेज दिया था। उसकी प्रतिलिपि उन्होंने अपने ग्रन्थ "टाड राजस्थान" में इस प्रकार दी है:—

"यूती वंश में राजा थ्योत ने जन्म लिया, उनकी यश-किरण समस्त पृथ्वी-मण्डल पर व्याप्त हुई।

राजा चन्द्रसेन पवित्र चित, अमित बलशाली और प्रजा-समूह के परम-प्रिय पात्र थे। [१] जिन्होंने अपने शत्रुओं को बिल्कुल दुर्बल कर दिया और

जिन्होंने युद्ध में तलवार चलाते समय ऐन्द्रजालिक की भांति विचित्र बाहुबल का परिचय दिया उसका विषय किस प्रकार कहा जा सकता है ? प्रजा के प्रति वह बड़ा उदार व्यवहार करते और उस कारण से वह शुभमय फल पाते थे। उन विख्यात चन्द्रसैन के औरस से कार्तिक ने जन्म लिया। उन कार्तिक का बाहुबल सर्वत्र विख्यात था। मनुष्य-समाज में उनकी बड़ी प्रशंसा थी। वह अपनी जिन रानी को प्राणों के सरिस चाहते थे उन रानी का विषय किस प्रकार वर्णन किया जाय ? जिस प्रकार अग्नि से शिखा को अलग नहीं किया जा सकता उसी प्रकार वह रानी अपने पति के साथ मिलित थी। वह सूर्य-किरण की समान थीं। उनका नाम गुणनिवास था। उनका आचरण उनके नाम के समान था। उन रानी के गर्भ से कार्तिक के माणिक्य के समान भुवनरंजन दो पुत्र उत्पन्न हुये। बड़े का नाम मुकन्द छोटे का नाम दारुक था। उनके सौभाग्य को देखकर शत्रुओं का हृदय विदीर्ण होता था और उनके अनुगामी लोग अनन्त सुख भोगते थे। देवताओं को जिस भांति कल्पवृक्ष प्यारा है वैसे ही यह दोनों भ्राता अपनी प्रजा के लिए प्रिय थे। वह प्रजा की प्रार्थना पूर्ण करके जिस वंश में जन्म लिया था, उस वंश की गौरव-गरिमा फैलाते थे। (कर्नल टाड ने यहाँ कई श्लोक निस्प्रयोजन समझकर उनका उल्था नहीं किया)।

दारुक के कुहल नाम का एक पुत्र उत्पन्न हुआ। कुहल के औरस से धुनक का जन्म हुआ, उन्होंने बड़े-बड़े कार्य सिद्ध किये। वह मनुष्य के हृदय का भाव अनुभव कर लेते थे। उनका चित्त समुद्र के समान गम्भीर था। उन्होंने पहाड़ी मीना जाति को विताड़ित, परास्त और सर्वथा विध्वंश कर दिया था। उनको फिर कहीं स्थान न मिला। वह अपने छोटे भ्राता दोक के सहित देवता और ब्राह्मणों की पूजा करते थे। उन्होंने अपने धन से अपनी प्राणप्यारी की प्रसन्नता के लिए सूर्य के उद्देश्य से यह मन्दिर स्थापन किया।

जब तक सुमेर सुवर्ण बालुका के ऊपर खड़ा है तब तक यह मन्दिर विराजमान रहेगा। जब तक जगद्धारिणी हथनियों के देह में प्राण रहेगा, जब तक लक्ष्मी धन दान करेंगी, तब तक उनका यश और मन्दिर अक्षय भाव से विराजमान रहेगा।

कुहल ने यह मन्दिर और इसके पूर्व पार्श्व में महेश्वर के मन्दिर की प्रतिष्ठा करी थी। महावली महाराज यशोवर्मा के पुत्र अचल के द्वारा इसकी प्रसिद्धि फैली है। (टाड परिशिष्ट १)

इस शिला-लेख के पढ़ने से कम से कम तीन बातें मालूम होती हैं—(१) जाट, (जिट या जट) वंश के राजा कार्त्तिक ने पहाड़ी मीनों से युद्ध किया तथा वहाँ से उन्हें निकाल दिया। (२) यशोवर्मा के पुत्र अचल ने इनकी प्रसिद्धि फैलाई। (३) इस वंश के थोत, चन्द्रसेन, कार्त्तिक, मुकन्द (मुकन्द के एक भाई दारुक) कुहुल (दारुक का पुत्र) धुनक आदि ने कई पीढ़ी तक राज्य किया।

पहाड़ी मीना जाति से इनका कब और कहाँ पर युद्ध हुआ, इसका पता चला लेना अवश्य टेढ़ा है। यदि हम यह कहें कि मिनएडर के साथी मीना लोगों से जाट नरेश कार्त्तिक का युद्ध हुआ तो मानना पड़ेगा कि वे ईसवी सन् से १५० वर्ष पहिले बूँदी के आस-पास के प्रदेश पर राज कर रहे थे। क्योंकि कई इतिहास-लेखकों ने भारत पर मिनएडर के इस आक्रमण का समय ईसवी पूर्व १५५ वर्ष माना है[१]। उसने चित्तौड़ तक धावा किया था। बहुत संभव है कि इसी आक्रमण के समय महाराज कार्त्तिक का उनसे युद्ध हुआ हो। इस तरह से उनके वंशज धुनक का समय पहिली शताब्दी का आरम्भिक भाग हो सकता है।

इन लोगों तथा इनके मन्दिर की प्रसिद्धि कराने वाले यशोवर्मा के पुत्र अचल के समय पर जब हम ध्यान देते हैं तो इन लोगों का समय ईसवी सन की तीसरी चौथी अथवा इससे भी पीछे की सदी मानना पड़ता है, क्योंकि यशोवर्मा नामक नरेश मोखरी वंश में संभूत आठवीं शताब्दी में कन्नौज का शासक था। उसने ७३१ ई० में चीन को एक दल भेजा था[२]। किन्तु उसके पुत्र का नाम अचल था, ऐसा लेख इस शिला-लिपि के सिवाय कोई दूसरा अब तक नहीं मिला है। यदि यशोवर्मा को यशोधर्मा मान लिया जाय तो इन महाराजाओं का समय उनके समय से कुछ ही समय पहिले का रहता है, क्योंकि महाराज यशोधर्मा का समय पाँचवीं, छठी सदी के बीच का है। यशोधर्मा मन्दसौर के जाट नरेश थे। निकटवर्ती तथा सजातीय होने से यशोधर्मा के पुत्र अचल ने उनकी प्रसिद्धि फैलाई हो यह संभव ही है, किन्तु सुदूरवर्ती (कन्नौज के) यशोवर्मा के पुत्र ने इनकी कीर्त्ति का प्रचार किया इसमें इनका उनका कोई खास सम्बन्ध होना चाहिये। मौखरी जाट इस समय जाटों में मौजूद हैं। सम्भव है मौखरी यशोवर्मा और कार्त्तिक के वंशजों में वैवाहिक सम्बन्ध हुआ हो। यदि यह पिछली बात सही है तो कार्त्तिक के वंशजों

१—बौद्ध-कालीन भारत (जनार्दन भट्ट कृत) पेज २७१। २—भारत के प्राचीन राज-वंश। भाग २।

का राज छोटे-मोटे रूप में बूँदी के निकटवर्ती प्रदेश पर ईसा की आठवीं सदी तक होना चाहिये। मैना जाति के साथ कार्त्तिक का जो युद्ध हुआ था उसे मिनेण्डर के साथियों के साथ न मान कर आगे कोई दूसरा युद्ध मानना पड़ेगा। दसवीं सदी तक जयपुर में हम मीनों के छोटे-छोटे राज्य पाते हैं, बहुत संभव है कि यही लोग उन पर चढ़ कर गये हों।

ऐतिहासिक सामग्री की कमी और छटी सदी के पहिले का इतिहास प्रायः अप्राप्त होने के कारण यह निश्चय करने में बाधा डालते हैं कि कार्त्तिक व उनके पूर्वज और वंशज किस समय में शासक थे। फिर भी हम कह सकते हैं कि उनका समय चौथी और छटी शताब्दी के बीच का है, क्योंकि यशोधर्मा अथवा यशोवर्मा के समय से कुछ पहिले उनका राज रहा होगा। तभी तो अचल के द्वारा उनकी प्रसिद्धि फैलाई गई थी।

गौर या गोरा

आरंभ में यह लोग अजमेर-मेरवाड़े और मेवाड़ तथा बून्दी-सिरोही के प्रदेश पर फैले हुए थे। अब तो किसी न किसी संख्या में सारे उत्तर भारत में पाये जाते हैं। प्राचीन भट्ट लोगों के काव्य-ग्रन्थों में इनको *"अजमेर के गोर" नाम से लिखा गया है।* इससे ज्ञात होता है चौहानों से पहिले ये उस देश में आबाद हुए थे १।

गौर लोगों का एक शिला लेख उदयपुर राज्य के गाँव छोटी सादड़ी से दो मील के फासले पर पहाड़ में भमर माता के मन्दिर में है। वह ब्राह्मीलिपि और संस्कृत भाषा में है। पंडित गौरीशंकर हीराचन्दजी ओझा ने उसे देखा है और उसके सम्बन्ध में नागरी प्रचारिणी पत्रिका भाग १३ अंक १ में "गौर नामक अज्ञात क्षत्रिय वंश" शीर्षक लेख भी लिखा है। उस घिसे हुए और पुराने शिला लेख की पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

तस्या प्रणम्य प्रकरोम्यहं मेव × × जस्रम
(कीर्त्तिशु) भ्रां गुणा गणौघम (पौन्टपाणाम) (३)
× × कुलो (द्भ) वच (ङ्श) गौरा
'ात्रेप (दे) सतत दीक्षित × शौंडाः।
× × × ×
धान्य सोम इति क्षत्र गणस्य मध्ये (४)
× × × ×
× × किल राज्य जित प्रतापो

१—'टाड राजस्थान'। छटा अध्याय।

यो राज्यवर्द्धण (न) गुणै कृत नाम धेयः
× × × (५)
जातः सुतो करि करायत दीर्घ वाहु ।
नाम्ना स राष्ट्र इति प्रोद्धत पुन्य (पद्य) कीर्ति (६)
सोयम यशो भरण भूषित सर्व गात्रः
प्रोत्फुल पद्मः······तायत चारु नेत्रः ।
दक्षो दयालु रिह शासित शत्रु पक्षः ।
क्ष्मां शासति······यश गुप्त इति क्षितीन्दुः (८)
तेनेयं भूतधात्री क्रतु मिरिहचिता (पूर्व) अङ्गेव भाति
प्रासादे रद्रि तुङ्गैः शशिकर वपुषैः स्थापितैः भूषिताद्य
नाना दानेन्दु शुभ्रै र्द्विजवर भवनैर्येन लक्ष्मीर्विभक्ता ।
× × × स्थित यश वपुशा श्री महाराज गौरः (११)
यातेषु पंचसु शतेष्वथ वत्सराणाम् ।
द्वे विंशतीसम धिकेषु स सप्तकेषु ॥
माघस्य शुक्ल दिवसे त्वगमत्प्रतिष्ठाम् ।
प्रोत्फुल्ल कुन्द धवलोज्वलिते दश स्याम् (१३)

(मूल लेख की छाप से)

इन श्लोकों में दो प्रार्थना सम्बन्धी श्लोक हैं। शेष में बताया गया है—महाराज धान्यसोम क्षत्रिय लोगों में प्रसिद्ध राजा थे। उनके पीछे राज्यवर्द्धन हुए। राज्यवर्द्धन के पुत्र राष्ट्रों में राष्ट्र नामक हुए। उनका पुत्र यशगुप्त हुआ। उन गोर नरेश ने संवत् ५४७ माघ सुदी दसमी (ई० स० ४९१) को अपने माता-पिता के पुण्य (स्मृति) के निमित्त देवी का मन्दिर बनवाया। इस लेख से स्पष्ट है कि छटी शताब्दी में गोरा लोग छोटी सादड़ी के आस-पास राज करते थे। महाराणा रायमल के समय तक वे पूरे शक्तिशाली थे। पं० गौरीशङ्कर 'नागरी प्रचारिणी' पत्रिका के उसी अङ्क में लिखते हैं कि—"*गोरा वादल जिनके सम्बन्ध में काव्य भी वन चुके हैं दो व्यक्ति नहीं थे किन्तु वादल ही गोरा था। उसके सम्बन्ध के काव्य २५०।३०० वर्ष पीछे वने हैं इसीसे ऐसा भ्रम हुआ होगा। गोरा वंश सूचक और वादल नाम है।*"

गयासुद्दीन (शाह) से राणा रायमल की सन् १४८८ ई० में जब लड़ाई हुई तो एक गोरा ने बड़ी बहादुरी दिखाई। वह कई-कई मुसलमानों को मारता था।

उस बुर्ज का ही नाम गोर-शृंग (गौर-बुर्ज) रख दिया गया। उदयपुर के एकलिङ्गजी के मन्दिर के दक्षिण द्वार के सामने की बड़ी प्रशस्ति में इस लड़ाई और गोरा वीर की वीरता का वर्णन है। चित्तौड़ के क़िले में गोरा बादल के महल नाम से दो गुम्बजदार मकान जो कि पद्मिनी के महलों से दक्षिण की ओर बने हुए हैं, पुकारे जाते हैं।

...श्री गौरीशङ्करजी ओझा अपने उपरोक्त लेख में लिखते हैं—"*गौर क्षत्रिय वंश का कोई लेख न मिलने और उस वंश का नाम अज्ञात होने के कारण महाराणा रायमल का वृत्तान्त लिखते समय, मुझे लाचार होकर गौर क्षत्रियों को गौड़ क्षत्रिय अनुमान करना पड़ा, जो मुझे अब पलटना पड़ता है।*" श्री ओझाजी की दृष्टि के सामने जाट क्षत्रिय राजवंशों की सूची होती तो उन्हें गोर लोगों को गौड़ लिखने को विवश न होना पड़ता। श्री ओझाजी ही क्या अन्य अनेकों देशी-विदेशी इतिहासकारों ने ऐसी भूलें की हैं। दक्षिण में मामूली स्थिति की एक जाति थी। एक अँग्रेज लेखक ने झट लिख दिया 'रेड्डी' लोग ही राठौर हैं। पंजाब में 'ओरेटुरी' जाति का पता लगा था। झट दूसरे महानुभाव ने लिख दिया वे अवश्य ही राठौर हैं। ख़ैर! हमारे लिखने का सारांश यह है कि गोर, गोरा अथवा गौर जाट क्षत्रिय समुदाय का एक अंग थे, और अब भी राजपूताने में वे इसी नाम से पुकारे जाते हैं। अजमेर के पास ही ब्यावर में प्रतापमलजी गोरा को आज भी ढूंढ सकते हैं। गांवों से जाकर उनसे पूछिये कि आपकी क्या जाति है? वे कहेंगे गोरा। ब्राह्मण, बनिये में से क्या हो? तब वे कहेंगे जाट। अजमेर-किशनगढ़, उदयपुर और मन्दसौर आदि के जिलों के जाटों से हमें मिलने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। पूछने पर वे अपनी जाति जाट के बजाय वंश (गोत्र) को बताते हैं। यही बात देहाती राजपूतों में भी बहुत अंश में पाई गई। वे भी अपने को राजपूत की अपेक्षा राठौर गहलौत आदि (वंश का नाम) बताते हैं। यही कारण था कि लोगों ने गोर या गौर को कुछ का कुछ समझने की गलती की।

रणस्तंभपुर

रणथम्भोर पर पहिले चौहानों का अधिकार था। किन्तु उससे लगभग दो सदी पहिले जाटों का अधिकार था। रणथम्भोर में चौहान राजपूत आठवीं सदी से पीछे पहुँचे थे। किन्तु उस समय भी जाटों का जोर कम नहीं हुआ था। भाटों के काव्यों पर यदि हम विश्वास करें तो कहा जाता है कि गौर और नागिल जाटों ने उस स्थान पर बीसियों पीढ़ी राज्य किया था। रणमल नामक एक जाट सरदार ने जिस स्थान पर रणखम्भ गाड़ा था तो आपके पास राजाओं ने लड़ने की चुनौती दी थी, उसी स्थान पर आज रणस्तंभपुर या रणथम्भोर है। भाग भट्ट चौहान की भी आस-पास के जाट सरदारों ने मुसलमानों के विरुद्ध सहायता की थी। मुस्लिम-काल में यहाँ का शासक जलालुद्दीन तूनियां जोकि रजिया के दल का था होना चाहता था।

रजिया भी रणथम्भोर पर चढ़कर आई। उसने जाटों से सहायता चाही। जब कि वह रणथम्भोर के पास पहुँचने ही वाली थी तूनियां गुलाम सरदार के साथ जाटों का एक बड़ा दल आ गया और वह लौट गई। रजिया ने लौटकर अपनी मर्जी-दान के साथ शादी कर ली। अलतूनियां ने बादशाही के जाट सरदारों की मदद लेकर दिल्ली पर चढ़ाई की१। जाट बड़ी वीरता के साथ लड़कर इस औरत के लिये काम आये२।

नागा और नागिल

यह अपना निकास पंजाब से बतलाते हैं। साथ ही कहते हैं उनके नौ राजाओं ने राजपूताने पर राज किया था। अभी यह निश्चय नहीं हुआ कि इनकी राजधानी कहाँ पर थी। इस समय इनका अस्तित्व जैपुर और यू० पी० के प्रान्तों में पाया जाता है। नागा और नागिलों की भाँति जाटों में एक गोत्र नागर भी है। स्याल-कोट में नागर जाट अब भी हैं३। नागरों का असल स्थान नगरकोट में था। जाट लोग आज तक भी नगरकोट की देवी की पूजा के लिए जाते हैं। वे उसे जाट कन्या के रूप में पूजते हैं। उनके नाम पर कुँवारे लड़के-लड़कियों को जोकि प्रायः जाट बालक ही होते हैं खिलाते हैं।

नवमी शताब्दी में मेदपाट की भूमि पर इनका नागावलोक नामका एक राजा राज करता था। इनका वह राजा अपना शासन राज-सभा द्वारा करता था। राजधानी उसकी बिजौलिया के आस-पास थी। वह राज पूर्ण उन्नति पर था। आजकल की सरकार की भाँति इनकी राजसभा उपाधि वितरण करती थी। उन्होंने गूयक नाम के चौहान सरदार को 'वीर' की उपाधि दी थी४।

नागौर पर भी एक लम्बे अर्से तक नाग लोगों का शासन रहा था जिसके कारण वह अहिछत्रपुर भी कहलाता था। नाग लोग आरम्भिक अवस्था में अरा-जकवादी और मध्यकाल में प्रजातन्त्री थे। उन्होंने अपने प्रजातन्त्रों की रक्षा के लिए बड़े-बड़े घाटे सहे थे। उनके समूह के समूह विरोधियों ने नष्ट कर डाले। वास्तव में नाग एक समाज था जिसके विद्वान आज नागर ब्राह्मण और योद्धा लोग जाटों में पाये जाते हैं। उनके मंत्रि-मण्डल का अधिकांश भाग कायस्थों में शामिल हो गया है। वृज के हिन्दू श्रीबलरामजी को शेषनाग का अवतार मान कर पूजते हैं।

जाखड़

यह गोत्र उन क्षत्रियों के एक दल के नाम पर प्रसिद्ध हुआ है, जो सूर्य-वंशी कहलाते थे। इस गोत्र को जागे (भाट) लोगों ने एक राजपूत के जाटिनी से शादी कर लेने वाली बेहूदी दलील के आधार पर राजपूत से जाट होना लिखा है। भाट लोगों की बहियों में कहीं

१—तारीख फरिश्ता। उर्दू (नवलकिशोर प्रेस का छपा) पे० १०५, १०६।
२—वाक़ए राजपूताना। जिल्द ३। ३—नागरी प्रचारिणी पत्रिका। भाग १३। अङ्क २। पे० २२६। ४—Epi. Indica. vol. Y11.P. 119-125.

इन्हें चौहानों में से, कहीं ऊधावतों में से और कहीं सरोहे राजपूतों में से निकला हुआ लिखा है। भाटों की ऐसी वेबुनियाद और वेहूदी गढ़न्तों के सम्वन्ध में पीछे के अध्यायों में काफ़ी लिखा जा चुका है। जाखड़ एक प्रसिद्ध गोत्र हैं। इस गोत के जाट पंजाब, राजपूताना और देहली प्रान्तों में पाये जाते हैं। मि० डब्ल्यू० क्रुक साहब ने—*"उत्तरी-पश्चिमी प्रान्त और अवध की जातियां"* नामक पुस्तक में लिखा है कि *"द्वारिका के राजा के पास एक वड़ा भारी धनुष और वाण था। उसने प्रतिज्ञा की थी कि इसे कोई तोड़ देगा, उसका दर्जा राजा से ऊंचा कर दिया जायगा। जाखर ने इस भारी कार्य की चेष्टा की और असफल रहा। इसी लाज के कारण उसने अपनी मातृ-भूमि को छोड़ दिया और बीकानेर में आ बसा।"* जाखर बीकानेर में कहाँ बसा इसका पता "जाट वर्ण मीमांसा" के लेखक पंडित अमीचन्द शर्मा ने दिया है। जाखड़ ने रेणी को अपनी राजधानी वनाया। भाट ग्रन्थों में लिखा है कि द्वारिका के राजा के एक परम रूपवती लड़की थी। उसने प्रतिज्ञा की थी कि जो कोई मनुष्य धनुष को तोड़ देगा उसी के साथ में लड़की की शादी कर दी जावेगी। साथ ही उसे राजाओं से बड़ा पद दिया जायगा। जाखड़ सफल न हुआ। जाखड़ एक नरेश था इस कहानी से यह मालूम होता है। जाखड़ लोगों का इससे भी पहिले अजमेर प्रान्त पर राज्य था, यह भी भाट ग्रन्थों से पता चलता है। हमें उनके राज्य के होने का पता मढौली पर भी चलता है। मढौली जैपुर राज्य में सम्भवतया मारवाड़ की सीमा के आस-पास कहीं था। उस समय फतहपुर के आस-पास मुसलमान राज्य करते थे। इन मुसलमानों और जाखड़ों में मढौली के पास युद्ध हुआ था। जिला रोहतक में लडान नामक स्थान पर जाखड़ों के सरदार लाडासिंह का राज्य था। एकबार पठानों ने उनसे लडान छीन लिया। जाखड़ लोगों ने इसे अपना अपमान समझा और सम्मिलित शक्ति से उन्होंने लडान को फिर से पठानों से ले लिया। इस तरह उनके कई सरदारों ने औरङ्गजेब के समय तक राजस्थान और पंजाब के अनेक स्थानों पर राज किया है। अन्तिम समय में उनके सरदारों के पास केवल चार-चार अथवा पाँच-पाँच गाँव के राज्य रह गये थे।

सांगवाण

कहा जाता है साँगू के नाम पर उसके साथी सांगवाण कहलाये। यह कश्यप गोत्री जाट हैं। आरम्भ में इनका राज्य मारवाड़ के अन्तर्गत सारसू जांगला प्रदेश पर था। इनके पुरुषा आदू अथवा आदि राजा से लेकर १३ पीढ़ी तक इनका राज्य सारसू जांगला पर रहा। जिन १३ सांगवाण राजाओं ने मारवाड़ के सारसू जांगला प्रदेश पर राज्य किया उनके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं:—(१) आदि राजा (२) युगादि राजा (३) महादत्त राजा (४) अतरसोम राजा (५) नन्द राजा (६) महानन्द राजा (७) अग्निकुमार राजा (८) मेर राजा (९) मारीच राजा (१०) कास्यप राजा (११)

सूर्य राजा (१२) सूर्य राजा (१३) शालिवाहन राजा। इन तेरह जाट राजाओं ने सारसू जांगला में राज किया और राजा की पदवी से भूषित भी रहे।

शालिवाहन के उत्तराधिकारी का नाम लैहर अथवा लहरी था। वह जांगला देश को छोड़ कर अपने साथियों समेत अजमेर में आ गया। यहाँ उसकी पदवी राणा की हो गई। इस समेत नौ पीढ़ी तक सांगवाण गोत के जाट नरेशों ने अजमेर की भूमि पर राज्य किया। हमारे मत से लैहर ने जिस स्थान को अपनी राजधानी बनाया था वह वर्त्तमान का लीड़ी ग्राम हो सकता है। लैहड ने अपने नाम से जो नगर बसाया होगा वह आरम्भ में लैहड़ी रहा होगा और वही वर्त्तमान में लीडी हो सकता है। इस कुल का अन्तिम राजा संग्रामसिंह अथवा सांगू था। साँगू और उसके साथी मेरवाड़े की भूमि को छोड़ कर चर्खी दादरी की ओर चले गये। भाट-ग्रन्थों में जो वंशावली दी गई है उससे साँगू का समय पन्द्रहवीं-सोलहवीं सदी के बीच का समय जान पड़ता है और वह शेरसाह सूरी का समय कहा जा सकता है। भाट-ग्रन्थों में साँगू को अब से २० पीढ़ी पहिले लिखा है। औसतन २० पीढ़ी के ४०० वर्ष माने जाते हैं। इसीलिये हमने साँगू को पन्द्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी के मध्य में बताया है। इनका प्रथम राजा जो कि मारवाड़ में सारसू जांगला पर राज करता था उसका समय आठवीं, दसवीं सदियों के बीच का हो सकता है, क्योंकि उसे अब से ५० पीढ़ी पहिले बताया गया है[१]।

शिवराण

राज्य भींद में इस वंश के २५ गाँव हैं और लुहारू स्टेट के ५२ गाँव पूरे शिवराण गोत्री जाट हैं। हिसार ज़िले में भी इनके अनेक गाँव हैं। भाट लोगों ने लिखा है कि शिवराव नामी राजपूत ने जो अब से २४ पीढ़ी पहिले हुआ था, जाटनी से शादी कर ली, इसलिए उसकी सन्तान के लोग शिवराण कहे जाते हैं। इससे भी बड़ा गपोड़ा और क्या होगा कि एक ही आदमी के सिर्फ चौबीसवीं पीढ़ी में सैकड़ों गाँव बस गए! हमारा मत है जो कि बिल्कुल सही है कि शिवराण जाट शिवि अथवा सिवोई समूह के जत्थे में से हैं, जो कि शिवि गोत्री अथवा शैव्य जाटों के भाई-बन्धु हैं। मालवा से हट कर जिस समय यह लोग राजपूताने में गए, उस समय इनका एक दल नीमराणे के आस-पास भी पहुँच गया और हुमायूं के समय तक उनका छोटा-मोटा राज इस स्थान पर रहा।

सुहाग

इस वंश के लोग पहिले मेवाड़ कोडखोखर नामक स्थान पर सरदारी करते थे। कुछ समय के पश्चात् मारवाड़ में पहुँच कर एक क़िला बनवाया उसका नाम अपने सरदार पहलू के नाम पर पहलूकोट (पल्लूकोट) रक्खा। पल्लूकोट और ददरेड़े के आस-पास कुल

१—जाट मीमांसा। पेज २२ (ले० अमीचन्द शर्मा)।

भूमि पर आधिपत्य जमा लिया। सरदार पहलू व पल्ल की राणा की उपाधि थी। उससे पहिले इसी वंश के वीर राणा और धीर राणाओं ने मेदपाट की भूमि पर राज किया था१।

भादू

इस वंश का कुछ वर्णन हम पहिले कर चुके हैं। यहाँ इतना ही बता देना पर्याप्त है कि जांगल देश का भादरा, भादू लोगों ने बसाया था जो आरम्भ में भादरा कहलाता था। समंतराज नाम का राजा बड़ा दानी हुआ है। वह भादू लोगों का एक प्रसिद्ध राजा हुआ है। भागोरे नामक लोगों से उसका युद्ध हुआ था। उस युद्ध के पश्चात् इन लोगों का एक दल मारवाड़ की ओर चला गया। अजमेर-मेरवाड़े में भी कई गाँवों पर इन्होंने अधिकार कर लिया जो कि अकबर के समय में इनके हाथ से निकल गये थे।

घटवाल

हाँसी के पास देपाल नामक स्थान में इनका गढ़ था। इन्होंने एक लम्बे अर्से तक देपाल पर राज किया था। कुतुबुद्दीन के समय में हाँसी के जाटों ने अपने को स्वतंत्र राजा होने की घोषणा कर दी थी जिससे उन्हें कुतुबुद्दीन से युद्ध करना पड़ा२। घटवालों को राजपूतों से भी लड़ाइयाँ लड़नी पड़ीं। उन्होंने मन्दहार राजपूतों के कान तो भली प्रकार ऐंठ दिये थे। यही कारण था कि उन्होंने मलिक की उपाधि प्राप्त की। कल्लानूर राजपूतों को भी मलिक घटवालों ने हरा दिया था। फलस्वरूप राजपूतों ने घटवालों को निमंत्रण दिया और उन्हें बारूद से उड़ा दिया३। दन्तकथा के अनुसार एक घटवाल स्त्री जो वहाँ उपस्थित नहीं थी बच गई और उसी की सन्तान ने देपाल पर अधिकार जमाया।

भूकर

आरम्भ में यह साँभर के निकट आबाद थे। इनके राज्य की शैली भोमिया चोर की थी, किन्तु आगे चल कर अन्य लोगों से यह जमीन का कर लेने लग गए। इससे इनका नाम भूमि-कर लेने से भूकर हुआ। चाहुमान के वंशजों का एक दल नवीं शताब्दी में जब साँभर की ओर आया तो इन्हें नये धर्म से दीक्षित चौहानों ने वहाँ से निकल जाने पर बाध्य कर दिया। कहा जाता है, भूकर और चौहान उस समय तक एक ही थे जब तक कि चौहान लोग आबू के यज्ञ में जाकर नवीन हिन्दू-धर्म में दीक्षित न हुए थे। भाट लोगों के हस्त-लिखित ग्रन्थों में लिखा हुआ है कि खेमसिंह और सोमसिंह दो भाई थे। इन्हीं की अध्यक्षता में भूकर लोगों ने साँभर प्रदेश को प्रस्थान कर दिया। हिरास नामक स्थान बसा कर खेमसिंह के साथी अपना प्रभाव बढ़ाने लगे। सोमसिंह ने जांगल देश में पहुँच कर भूकर नाम का नगर बसाया। कई पीढ़ियों के बाद इनमें से कुछ

१—"चौधरी गौरव" नामक हस्त लिखित पुस्तिका से। २—ग्राउस राजपूताना जिल्द १। ३—"ट्राइब्स एण्ड कास्टस् आफ दी नार्थ वेस्टर्न प्राविंसेज् एण्ड अवध।"

लोग पानीपत की ओर चले गए। जिस समय अजमेर और दिल्ली से चौहानों का राज नष्ट हो गया और देहली के तख्त पर बैठ कर गुलाम बादशाह शासन करने लगे उस समय भूकरों के एक लड़ाकू योद्धा उदयसिंह को बख्शी बनाया गया। उदयसिंह योद्धा होने के सिवाय भूमि-सम्बन्धी प्रबन्ध में बड़ा निपुण था। उदयसिंह का पुत्र कौलासिंह अजमेर का तहसीलदार बनाया गया।

उन दिनों सीकर के प्रदेश पर कालू नाग राज करता था। उसकी राजधानी गोठरा में थी। कालू नाग ने प्रजा की भलाई के लिए एक बड़ा किन्तु कच्चा तालाब भी खुदवाया था। वह देहली के बादशाह की ओर से अपने प्रदेश का माना हुआ मालिक था। उसे अपने राज्य की आय पर बादशाह को खिराज देना पड़ता था। खिराज देने के लिए वह देहली जाया करता था। उसने कौलासिंह को देखा और अपनी लड़की की सगाई उसके साथ कर दी। चूँकि कालू निःसन्तान था, इसलिए गोठरा का प्रदेश उसके धेवते (दौहित्र) कन्दरसिंह को जो कि कौलासिंह का पुत्र था, मिला। कन्दर के जो पुत्र हुआ उसका नाम डालूसिंह रक्खा। वह २५ गाँवों का सरदार था। बेटे उसके १२ थे। गोठरा गाँव में आज तक डालूसिंह की प्रस्तर मूर्त्ति मौजूद है। डालूसिंह के बड़े बेटे का नाम सायरसिंह था। उसके बड़े बेटे का नाम कौलासिंह द्वितीय रक्खा गया। उसके जो राजकुमार हुआ उसका नाम नरवद रक्खा गया। आरम्भ में नरवद अपनी ननसाल रौरू चला गया था। अपने बाप की मृत्यु के पश्चात् इसने गोठरा की सरदारी सँभाली। इस प्रदेश पर जब शेखावतों के आक्रमण हुए तो इनका भी छोटा-सा राज्य नष्ट कर दिया गया। किन्तु भविष्य में असन्तोष न बढ़े इसलिये शेखावतों ने **करग्राहक** (तहसील करने वाला अर्थात् लगान उगाहने वाला) इन्हीं को रक्खा। पीछे से इनका दर्जा केवल चौधरी का रह गया। चौधरी की हालत में भी पचोतरा नाम का हिस्सा इन्हें मिलता रहता था। चारागाह के लिये जमीन मुफ्त मिलती थी। जागे (भाट) लोगों के ग्रन्थ के देखने से पता चलता है नरवद अब से ११ पीढ़ी अर्थात् लगभग ३०० वर्ष पहिले पैदा हुए थे। चौधरी रामबक्स उसी के खान्दान में से हैं जो कि नरवद से दसवीं पीढ़ी पर हैं।

विजयराणिया

विजयराणिया सिकन्दर महान् के समय के वरेतति हैं, यह हम पहिले ही लिख चुके हैं। यूनानी लेखकों ने जो कि सिकन्दर के साथ भारत में आये थे विजयराणिया लोगों का हाल लिखते समय उनके नाम का अर्थ लिख डाला। विजयराणिया यह इनका उपाधिवाची नाम है। रण-क्षेत्र में विजय पाने से इनके योद्धाओं को विजयराणिया की उपाधि मिली थी। जागा (भाट) लोगों ने इन्हें तोमर जाटों में से बताया है। हम उन्हें पाँडुवंशी मानते हैं। कुछ लोगों का ऐसा मत भी है कि तोमर भी पाँडुवंशी हैं। भाट लोगों ने इनके सम्बन्ध में लिख

रक्खा है—*"सोमवंश, विश्वामित्र गोत्र, मारघुने की शाखा, ३ प्रवर"*। कहा जाता है संवत् ११३५ विक्रमी में नल्ह के बेटे वीरसिंह विजयराणिया ने बीजारणा खेड़ा बसाया। फिर संवत् १२३५ में लढाणां में गढ़ बनवाया। हमें बताया गया है कि लढाने में गढ़ के तथा घोड़ों की घुड़साल के चिह्न अब तक पाये जाते हैं। उस समय देहली में बादशाह अल्तमश राज्य करता था। अन्य देशी रजवाड़ों की भाँति विजयरणीय लोग भी विद्रोही हो गये। इस कारण अल्तमश को उनसे लड़ना पड़ा। इन्हीं लोगों में आगे जगसिंह नाम का योद्धा हुआ उसने पलसाना पर अधिकार कर लिया और कची गढ़ी बनाकर आस-पास के गाँवों पर प्रभुत्व कायम कर लिया। यह घटना संवत् १३१२ विक्रमी की है। संवत् १५७२ में इस वंश में देवराज नाम का सरदार हुआ। इस समय शेखावतों और कछवाहों के राज्य का विस्तार हो रहा था। जयपुर राज्य के कई स्थानों में यह लोग पाये जाते हैं। इस वंश के लोग बहादुर होते हैं, साथ ही जाति भक्त भी। यद्यपि इस समय उनके पास राज्य नहीं फिर भी वंश-गौरव अब तक उनके हृदय में है। उसके उदाहरण मा० भजनलाल अजमेर और चौ० लादूराम गोधनपुरा के हृदयों में टटोले जा सकते हैं।

गढ़वाल — इनका कुछ वर्णन संयुक्त-प्रदेश के जाटों के इतिहास में हम लिख चुके हैं। गढ़मुक्तेश्वर का राज्य जब इनके हाथ से निकल गया तो झुंझनू (झुंझनूं) के निकटवर्ती-प्रदेश में आकर केड़, भाटीवाड़, छावसरी पर अपना अधिकार जमाया। यह घटना तेरहवीं सदी की है। भाट लोग कहते हैं जिस समय केड़ और छावसरी में इन्होंने अधिकार जमाया था उस समय झुंझनूं में जोहिया, मोहिया जाट राज्य करते थे। जिस समय मुसलमान नवाबों का दौर-दौरा इधर बढ़ने लगा, उस समय इनकी उनसे लड़ाई हुई जिसके फल स्वरूप इनको इधर तितर-बितर होना पड़ा। इनमें से एक दल कुलोठ पहुँचा, जहाँ चौहानों का अधिकार था। लड़ाई के पश्चात् कुलोठ पर इन्होंने अपना अधिकार जमा लिया। सरदार कुरडाराम जोकि कुलोठ के गढ़वाल वंश संभूत हैं नवलगढ़ के तहसीलदार हैं। यह भी कहा जाता है कि गढ़ के अन्दर वीरता-पूर्वक लड़ने के कारण गढ़वाल नाम इनका पड़ा है। इसी भांति इनके साथियों में जो गढ़ के बाहर डटकर लड़े वे बाहरौला अथवा बरोला, जो दरवाजे पर लड़े वे फलसा (उधर दरवाजे को फलसा कहते हैं) कहलाये। इस कथन से मालूम होता है; यह गोत्र उपाधिवाची है बहुत सम्भव है इससे पहिले यह पांडुवंशी अथवा कुन्तल कहलाते हों। क्योंकि भाट ग्रन्थों में इन्हें तोमर लिखा है और तोमर भी पांडुवंशी बताये जाते हैं।

भाटी-भाट वंश — यह लोग आरम्भ के यादव हैं। व्रज और फिर गजनी-हिरात तथा पंजाब जैसी उपजाऊ भूमि से विताड़ित होकर जब यह समूह जांगल-प्रदेश में आया जहाँ न कोई मेवा और फल पैदा होते हैं और न

गेहूँ जैसा आवश्यक अन्न; जहाँ पानी के लिए यात्री भटक-भटक कर मर सकता है, तो भाटी नाम से दूसरे लोगों ने इन्हें पुकारा। भरतपुर और करोली के यादवों के लिये यह विल्कुल ग़ैर उपजाऊ अर्थात् भटण्ड मुल्क में बसे हुए दिखाई दिए। यही कारण था कि जांगल प्रदेश के यादव भाटी नाम से प्रसिद्ध हुए। इस भूमि पर यह उस समय में आ चुके थे जब कि बौद्ध-धर्म पूर्ण योवन पर था अर्थात् तीसरी-चौथी सदी से पूर्व ही। बौद्ध-धर्म के पश्चात् जब नवीन हिन्दू-धर्म बढ़ने लगा तो इस समुदाय के दो टुकड़े हो गये—एक जाट भट्टी दूसरे राजपूत भट्टी। यही क्यों इस्लाम की बाढ़ ने दो के स्थान पर भाटी क्षत्रियों को तीन भागों में बाँट दिया। तीसरा दल मुसलमान भट्टी कहाने लगा। जाट-भट्टी और राजपूत-भट्टी दो दलों में कैसे विभक्त हो गये, इसका उत्तर भाट लोगों ने उसी युक्ति से दिया है जो कि नितान्त निर्मूल है। एक जगह भाट लोगों की किताब में हम पढ़ते हैं:—'एक चौहान राजा कोड़खोखर के, मान, दल्ला और देसाल तीन पुत्र थे। वे तीनों जाटनियों के साथ शादी करने से जाट हो गये। उनके वंशज क्रमशः मान, दलाल और देसवाल गोतों से मशहूर हुए।' इस कथन का उल्लेख मि० डवल्यू० क्रुक साहव और पण्डित अमीचन्द शर्मा दोनों ही अपने लेखों में करते हैं। एक दूसरे भाट की किताब में इसी वर्णन को इस भांति लिखा है:—"*भाटी नेकपाल के तीन पुत्र हुए--नगराज, आलोजी, ऊदल। ऊदल का तो देसवाल, दलाल हुआ और आलोजी का गोत--कुंडो, मोंड, तोड़ हुआ।*" यह है भाट ग्रन्थों की उस सत्यता का नमूना जो उन्होंने अनेक जाट गोतों के सम्बन्ध में प्रकट की है। इस विषय पर हम पिछले अध्यायों में काफ़ी प्रकाश डाल चुके हैं। इसलिये यहाँ यह आवश्यकता नहीं कि उसी विषय की पुनरावृति की जावे।

भटनेर और भटिण्डा पर जाट भाटियों का और जैसलमेर के विशाल प्रदेश पर राजपूत भाटियों का राज रहा है। झाँसी और हिसार कभी जाट और कभी राजपूतों के क़ब्ज़े में एक लम्बे अरसे तक रहे हैं। "वाक़ए-राजपूताना" के लेखक ने भाटी जाटों के राज्य के विषय में इस प्रकार लिखा है:—

"*भटनेर जो अब रियासत बीकानेर का भाग है पुराने ज़माने में जाटों के दूसरे समूह की राजधानी था। यह जाट ऐसे प्रबल थे, कि उत्थान के समय में बादशाहों का मुक़ाबिला किया और जब आपात्ति आई हाथ संभाले। कहा जाता है कि भटनेर का नाम भाटियों से जो कि उसमें अवस्थित हुए थे, सम्बन्ध नहीं रखता है, किन्तु किसी प्रसिद्ध रईस के वरदाई अर्थात् भाट से निकला है। उसको यह मुल्क प्रदान हुआ और उसने कवियों के ख़ान्दान को प्रसिद्ध करने के अभिप्राय से बतौर संस्थापक के अपनी रियासत का पेशे के*

श्री भैरोंसिंह जी, जैपुर।

श्री० हरिश्चन्द्र जी
गांव ढाका, राज्य भावलपुर।

चौ० लालाराम बाघाजी पटेल।
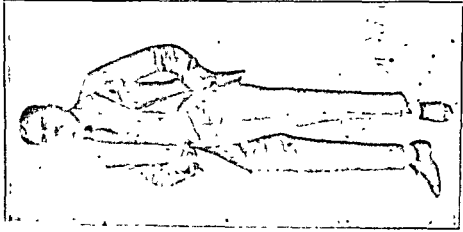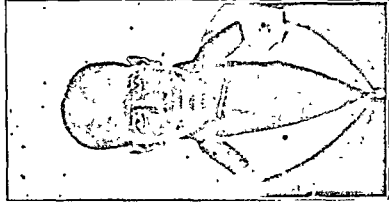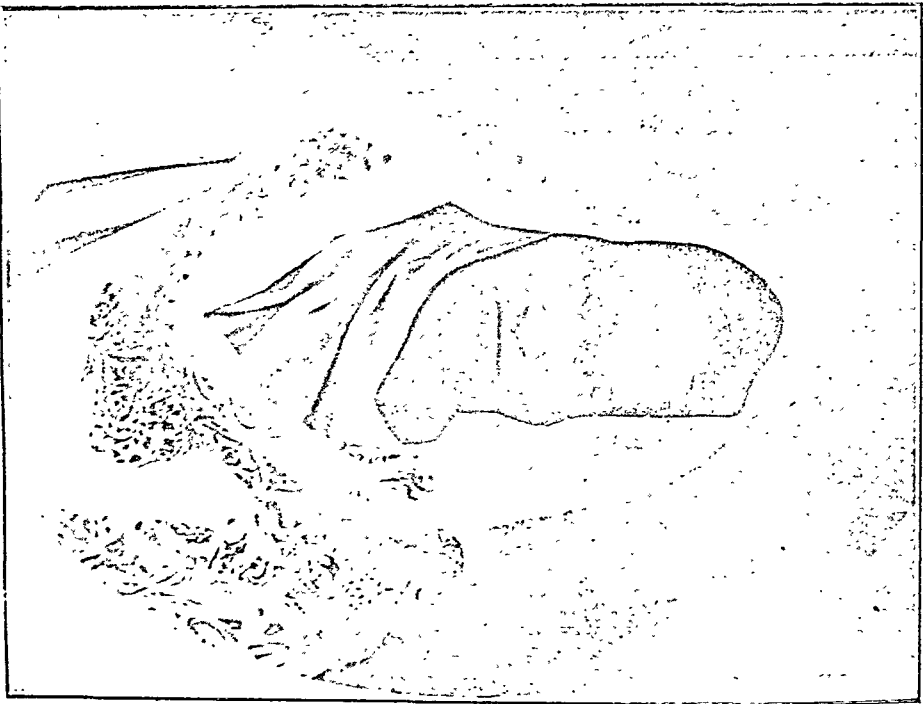
श्री० चौधरी लादूराम जी गोर्धनपुरा (जैपुर) वालों की

बैठे हुये—(वृद्ध) चौ० जालूराम जी, कुं० हरदेवसिंह जी
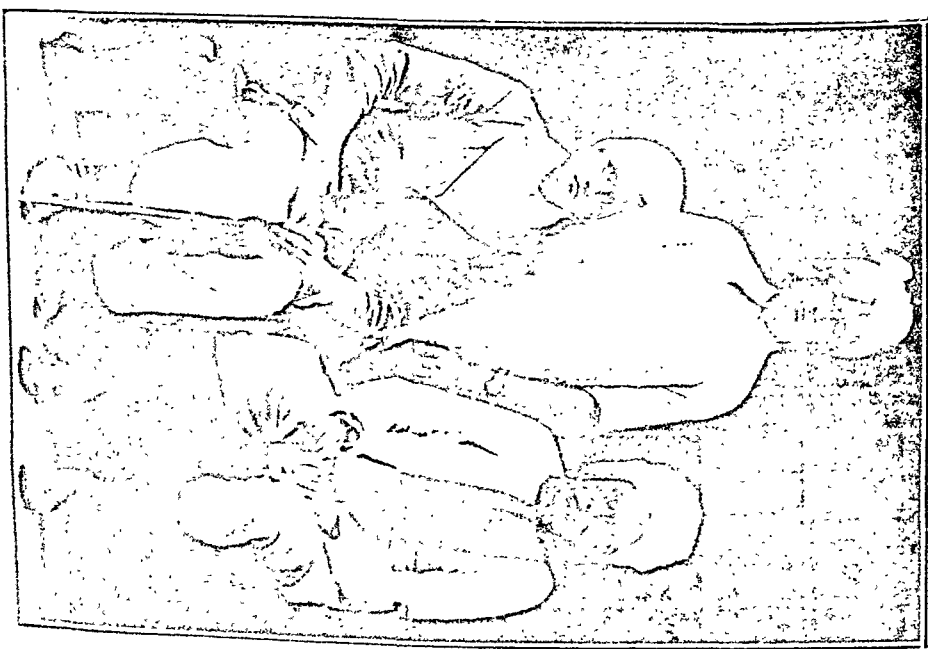
नाम से नामकरण किया। किन्तु "वाक़आत जैसलमेरी" में लिखा है कि भाटियों की आबादी की वजह से इस इलाके का नाम भटनेर हुआ है। 'भार सुथल' के प्राचीन भूगोल के आधार पर उत्तरी हिस्से का नाम नेर है, और जब भाटियों की चन्द शाखाओं ने इस्लाम-धर्म को स्वीकार किया तो अपने नाम से अकार को निकाल दिया, इस तरह भट और नेर मिल कर भटनेर हो गया। जो लोग मध्य एशिया से भारत पर आक्रमण करते थे, उनके मार्ग में स्थित होने से भटनेर ने इतिहास में भारी प्रसिद्धि प्राप्त की है। विश्वास है कि जाटों ने सिन्ध नदी की नाविक लड़ाई में महमूद गज़नवी से मुकाबिला होने से पहिले ही पंजाब के जंगलों में बस्तियाँ आबाद कर दी थीं। यह भी विश्वास है कि महमूद से सैकड़ों वर्ष पहिले जाट शासक थे। जिस समय शहाबुद्दीन ने भारत को विजय किया था उससे सिर्फ़ बारह वर्ष बाद सन् १२०५ में उसके उत्तराधिकारी कुतुब को मजबूरन उत्तरी जंगलों के जाटों से बजात खुद लड़ना पड़ा। अभागी रज़िया बेगम, फीरोज आजम के योग्य उत्तराधिकारी ने दुश्मन के खौफ़ से तख्त छोड़ के जाटों की शरण ली। उन्होंने संयोग से गकरों की कुल फ़ौज इकट्ठी करके उक्त मलिका की इम्दाद में शत्रु पर चढ़ाई की। उसके भाग्य में शत्रुओं पर विजय पाना था, किन्तु वे बैर लेने में नेकनामी से मारे गये। फिर १३९७ ई० में तैमूर ने भारत पर आक्रमण किया तब मुल्तान-युद्ध में अड़चन और कष्ट पहुँचाने के कारण उसने भटनेर पर हमला किया। कुल कौम को क़त्ल करके मुल्क को प्रकाश रहित कर दिया। सारांश यह है कि भट्टी और जाट ऐसे मिले-जुले हैं कि उनमें भिन्नता करना कठिन है[१]।"

तैमूर के हमले के थोड़े दिन बाद एक गिरोह ने अपनी हुकूमत को वापिस लेने के लिए मारोट और फूलरा से निकल कर भटनेर पर हमला किया। उस समय भटनेर में तैमूर या दिल्ली के बादशाह का हाकिम शासन करता था। भटनेर उनके हाथ में आगया। इस सरदार का नाम बीरसिंह या बरीसाल था जिसने कि फिर से भटनेर को अपने कब्जे में कर लिया था। बैरीसाल ने सत्ताईस वर्ष हुकूमत की और उसका बेटा भारू उसके बाद भटनेर का शासक हुआ। बैरीसाल के समय में चगताख़ाँ ने दिल्ली के बादशाह से मदद लेकर भटनेर पर चढ़ाई की। दो बार तो उन्हें हार कर लौटना पड़ा। तीसरी बार फिर चढ़ाई की।

१—याकूप राजपूताना। जिल्द २।

भटनेर के लोग हमलों से तंग आगये थे, इसलिए भारू ने सुलह के लिए प्रार्थना की। कहा जाता है कि आखिर में भारू और उसके साथी मुसलमान हो गये। जब राठौर प्रबल हुए तो उनके सरदार रायसिंह ने भटनेर को जीत लिया।

मुंशी ज्वालासहायजी "वाक़ए राजपूताना" के लेखक ने आगे लिखा है:—

"हाकरा नदी के आस-पास बहुत से खँडहर पाये जाते हैं। रंगमहल के मकानात जो दिखाई पड़ते हैं बहुत जमाने के हैं। धांधूसर जो कि भटनेर से दक्षिण २५ मील के फ़ासिले पर है उसके सम्बन्ध में एक भटनेर निवासी सज्जन ने बतलाया था कि यह कस्बा कभी सिकन्दर के आक्रमण के समय पूरा रईस था।

× × × × अगर कोई हांसी व हिसार की ओर से बीकानेर में प्रवेश करे तो इन मशहूर खँडहरों के सम्बन्ध की कहावतों की बाखूबी जानकारी हासिल कर सकता है, जो पुराने जमाने में परमार जोहिया अथवा जाट रईसों के महल की बुनियाद थी। इधर से यात्री को काफ़ी ऐतिहासिक सामिग्री मिल सकती है।

अमौर, बंजीर का नगर, रंगमहल, सोदल (सूरतगढ़) माचूताल, रातीबंग, बन्नी, मानिकखर, सूर सागर, काली बंग, कल्यान सर, फूलरा, मारोट, तिलवाड़ा, गिलवाड़ा, भामेनी, कोरीवाला, कुल ढेरनी, नवकोटि मासका यह ऐसे स्थान हैं जिनमें से कि अधिकांश के सम्बन्ध में काफ़ी ऐतिहासिक सामिग्री मिल सकती है।"

'वाक़ए-राजपूताना' के लेख से जहाँ यह बात प्रकट होती है कि जाटों का एक बड़े प्रदेश पर बड़े समय तक राज रहा है तथा उन्होंने प्रत्येक आक्रमणकारी मुसलमान विजेता से सामना किया है वहाँ जाट राज्यों के सम्बन्ध में यह बात भी इस लेख से मालूम हो जाती है कि ये जाट राज्य सब प्रकार से समृद्धि-शाली थे। उनके समय में कला-कौशल की भी वृद्धि हुई। यही तो कारण था कि सिकन्दर के आने के समय उनका धांधूसर नामक नगर पूरे वैभव पर पाया गया। उनकी राजधानियों में जहाँ सरदारों के रहने के लिए अच्छे-अच्छे राज-भवन थे, वहाँ प्रजा के सुख के लिये तालाब भी थे। पशुओं के लिये वे काफ़ी गौचर भूमि छोड़ते थे।

खास भटनेर से भाटी जाटों की हुकूमत यद्यपि अकबर के समय अर्थात् सत्रहवीं सदी में नष्ट हो गई थी किन्तु फिर भी वे जांगल तथा ढूंढार पंजाब के

बहुत से भू-भाग को विभिन्न स्थानों पर दबाये रहे। अठारहवीं सदी में कुहाड़वास और उसके प्रदेश पर कुहाड़सिंह और उसका पुत्र पन्नेसिंह शासक थे। हालांकि यह उनकी बहुत ही छोटी रियासत थी। आगे चलकर कुहाड़सर के भाटी कुहाड़ नाम से प्रसिद्ध हुए। शेखावाटी के लोक सेवक कुँवर पन्नेसिंहजी से कुहाड़ का शासक पन्नेसिंह १५ पीढ़ी पहिले हुआ था। कुहाड़ों की भाँति पंजाब से सरक कर दूलड़ भाटियों ने भी एक छोटासा राज्य स्थापित कर रक्खा था। मालवा में भी वे चुप नहीं बैठे रहे। भूमि पर कब्जा करके अपने प्रभुत्व को जमाने का अधिकार तो उन्होंने अब तक नहीं छोड़ा है। भाट लोगों की एक शाखा ने गोरीर और सिंधाना के निकट की भूमि पर प्रभुत्व स्थापित किया ऐसा भी भाट ग्रन्थों में वर्णन मिलता है।

चाहर

इस वंश के लोग संयुक्त-प्रदेश के आगरा जिले में बहुत हैं। सचाई और सीधेपन के लिये यह खूंटेल जाटों की भाँति प्रसिद्ध हैं। रंग के उजलेपन में खूंटेलों से कुछ हल्के और परिश्रम में श्रेष्ठ होते हैं। सिनसिनवार, खूंटेल तथा सोगरवारों की भाँति चाहर भी फौजदार कहलाते हैं। फौजदार का खिताब बादशाहों की ओर से उन लोगों को दिया जाता था जोकि किसी प्रदेश के किसी भाग की रक्षा का भार अपने ऊपर ले लेते थे। चाहर लोगों में रामकी चाहर बड़ा बहादुर हुआ है। इसने सुग्रीवगढ़ के राजा खेमकरन के साथ मुस्लिम सेनाओं को बड़ा तंग किया था। जांगल (बीकानेर) प्रदेश में सीधमुख नामक स्थान पर अब से क़रीब ५५० वर्ष पहिले मालदेव नाम का चाहर राज करता था। उस समय देहली में ग़ुलाम बादशाहों का राज्य था। जैसलमेर से लौटते हुए एक मुसलमानी सेनापति से मालदेव का युद्ध हुआ था। घटना इस प्रकार बताई जाती है कि मुसलमान सेनापति ने मालदेव के गढ़ से बाहर अपने डेरा डाले। कहते हैं कोई भैंसा सांड बिगड़ गया, स्त्री पुरुष और बच्चे हाय-हाय करने लगे। मुसलमान सैनिक भी सांड के सामने न आये। मालदेव की पुत्री ने जिसका नाम सोमादेवी था, भैंसे का सींग पकड़ कर रोक लिया; वह पूरा बल लगा कर भी न छुड़ा सका। मुसलमान सेनानायक जिसका नाम नहीं लिखा सोमादेवी को ले जाने के लिये अड़ गया। जाटों की ओर से उसे समझाया गया। आखिर सीधमुख की सीमा पर लड़ कर मालदेवजी काम आये और उनके परिवार के लोग उधर से निकल कर झूंझावाटी में आ गये।

चंदलाई

यह एक गाँव है, जो टोंक से मिला हुआ है। पहिले इस स्थान को चंदला नाम के जाट सरदार ने आबाद किया था। गाँव के निकट ही अपनी बेटी भाला के नाम पर तालाब खुदवाया था। तालाब के कीर्ति-स्तंभ में एक लेख है। उस पर वैसाख सुदी १५ संवत् १०२७

वि० खुदा हुआ है[१]। चंदला किस गोत्र के जाट सरदार थे यह तो कुछ पता लगाया नहीं गया है, किन्तु यह सही है कि वे उस गाँव के सिर्फ पटेल ही नहीं किन्तु उस इलाक़े के सरदार अर्थात् राजा थे। संवत् १०२७ वि० में, ईस्वी सन् ९७० होता है। उस समय राजस्थान की विशाल भूमि पर कोई भी एक बड़ा राज्य न था। सारा प्रदेश छोटे-छोटे राज्यों में बटा हुआ था। चौहानों की शक्ति प्रकाश में नहीं आई थी। वे भी उस समय साधारण स्थिति के ही थे। कछवाहे ग्वालियर के नरवर की भूमि पर चार छः कोस के इलाक़े पर राज कर रहे थे। परिहार मंडोवर से आगे २५। ३० मील भी नहीं बढ़े हुए थे। इसी भांति का सरदार चंदेल का राज्य था। किन्तु तालाव खुदवाने और शिलालेख लगवाने से पता चलता है उसका राज्य चंदलाई से कम से कम २०। २० मील चारों ओर तो अवश्य होगा। क्योंकि केवल वेटी की प्रसन्नता के लिये उसने इतना व्यय कर डाला उसके कोष में भी अवश्य ही अच्छी रक़म रहती होगी। चंदला के पीछे कितने दिनों तक उनका राज चला यह कुछ भी पता अभी नहीं लगा है। "काशी नागरी प्रचारिणी पत्रिका" में तथा अजमेर के अर्द्ध साप्ताहिक राष्ट्रीय पत्र "राजस्थान" सन्देश में टोंक राज्य के भूभाग पर के एक जाट राज्य का हाल छपा था। चौधरी रिछपालसिंहजी ने भी 'जाटवीर' में उस राज्य का परिचय दिया है।

टोंक

इससे ५ कोस उत्तर में पहाड़ के नीचे एक गाँव पिराणा है। उसमें जाटों का एक प्रजातंत्री ढंग का राज्य था[२]। यह राज्य वड़ा संगठित राज्य था। अपने अधीनस्थ प्रदेश में से गुजरने वाले व्यापारियों तथा मालदार राहगीरों से यह टैक्स वसूल करते थे। माल का चौथाई हिस्सा ये टैक्स में लेते थे। जितनी भूमि इनके अधिकार में थी उस पर सभी भाइयों और जातियों का इनके यहाँ समान अधिकार था। किन्तु वदले में ये युद्ध के समय प्रजा में से नौ जवान चुन लेते थे। अपने राज्य की रक्षा करने के लिये प्रत्येक बालक, युवा और वृद्ध प्राणों का उत्सर्ग करने को तैयार रहता था। एक वार उधर से होकर मुसलमान बादशाह जहाँगीर की वेगमें गुजरीं। पिराणा के जाट सरदारों ने उनको रोक लिया और तब जाने दिया ज़ब कि उन्होंने टैक्स अदा कर दिया। वेगमों ने जाकर बादशाह से शिकायत की। वादशाह ने मलूकखाँ नाम के मुसलमान सेनापति को पिराणा के अधीश्वर जाटों को दवाने के लिये भेजा। वह रणथम्भौर के पास के गाँव शेरपुर में ठहर गया। उसने जाटों के लड़ने के पराक्रम को सुन रक्खा था। इसलिये उसने उनके सम्मुख पहुँच कर लड़ने का इरादा स्थगित रक्खा और उनके नष्ट करने का साधन सोचने लगा। आखिरकार मलूकखाँ की इच्छा पूर्ण हुई। पिराणा के जाटों का डोम लोभ में आकर सारा भेद वता गया। वह कह गया कि—"भादों वदी १२

१—'जाटवीर' वर्ष ८। अङ्क ४२ (लेखक रिछपालसिंहजी)। २—'राजस्थान सन्देश' (अर्द्ध साप्ताहिक) वर्ष १। संख्या २।

चौ० रतनसिंह जी B A., B. T.
मास्टर बिड़ला कालेज, पिलानी ।

डा० दामोदर सिंह जी, जे
विभाग, आगरा ।

कुं० विद्याधरसिंह जी B.A., चौ० चिमनाराम जी व उनकी धर्मपत्नी, कुं० भैरोंसिंह जी, सांगा
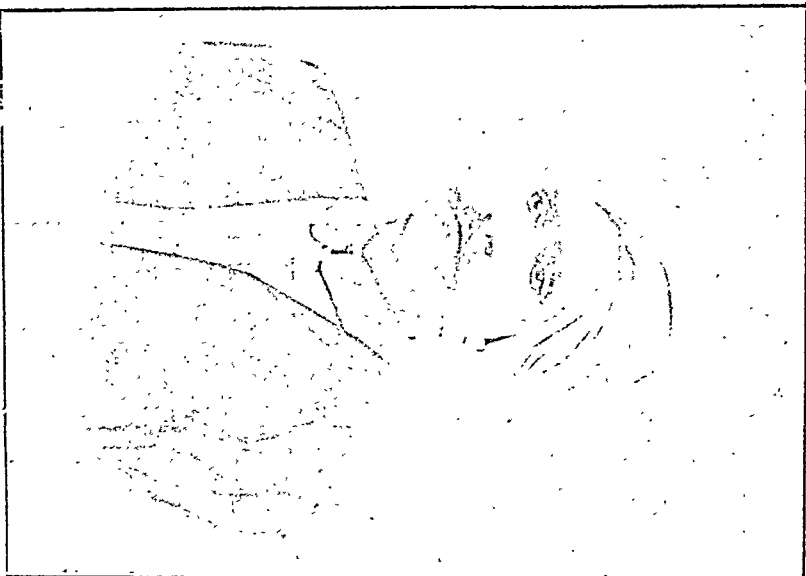
श्री० रत्नाकर जी शास्त्री नाज़िम, भरतपुर।
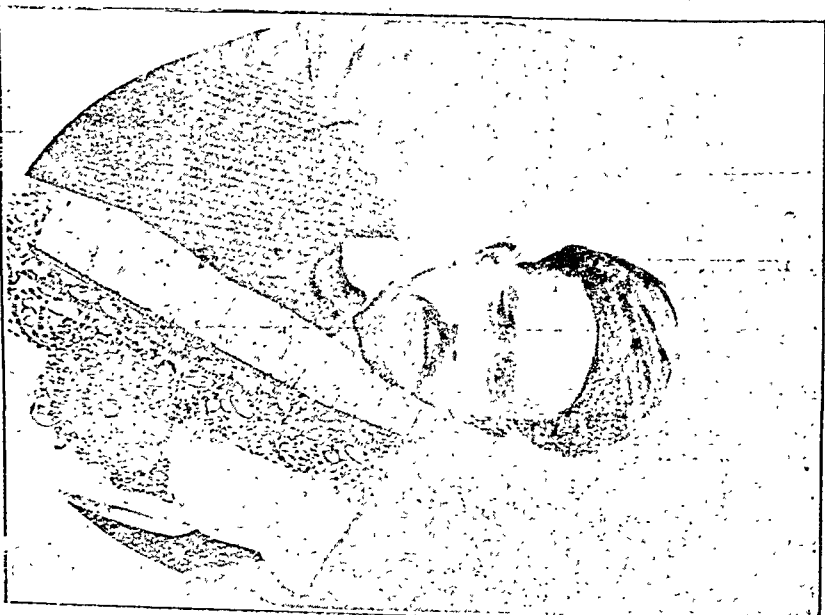
श्री० सेठ महादेव जी कपड़े के व्यापारी कुलटी (वंगाल) जन्म भूमि अलोद (जैपुर राज्य)

श्री० चौ० हरीरामसिंह जी एग्रिकल्चर डिपार्टमेंट, आगरा

को उनके यहाँ वच्छ बारस का मेला होता है। उस दिन वे झूला डालकर और अलगोजे बजा कर झूलते हैं। वृद्ध, बालक, युवा और स्त्री-पुरुष सभी उस दिन निरस्त्र और निर्भय होकर झूलते हैं।" डोम ने यह भी कहा कि—अब की बार जब इनका यह त्यौहार आयेगा मैं ढोल बजा दूंगा, तब तुम आकर उनको नष्ट कर दोगे। आखिर ऐसा ही हुआ। निरस्त्र जाटवीर मलूकखाँ ने वच्छ वारस को घेर लिया और अनेकों को काट डाला। इस तरह जाटों का यह प्रजातन्त्री राज्य नष्ट हो गया। मलूकखाँ ने नमकहरामी करने के अपराध में डोम को भी करारा दण्ड दिया। पिराणा के जाट-वीरों के सरदार जीवन-सिंह और रायमल थे। ये दोनों वीर लड़ाई में काम आये फिर भी निरस्त्र होते हुए इन्होंने पचासों शत्रुओं के सर तोड़ डाले। इनकी स्त्रियां गर्भवती थीं। उनसे जो पुत्र हुए स्त्रियों की इच्छा के अनुकूल उनसे उत्पन्न होने वाले पुत्रों का नाम पिताओं के स्मरणार्थ जीवनसिंह और रायमल ही रक्खे गए। रायमल सांगानेर के पास चले गये और वहाँ अपने निवास के लिए एक नगर बसाया। जीवन ने स्थान को न छोड़ा। उसने अपने बाप-दादों के खेड़ों के पास ही अपनी बस्ती आबाद की। उसने अपने बसाये हुए नगर का नाम भी पुराना रक्खा जोकि आगे पिराना के नाम से ही मशहूर हुआ। यह याद रखने की बात है कि उस युद्ध में कुछ स्त्रियां भी मारी गईं थीं। उनके चबूतरे आज सतियों के चबूतरे के नाम से प्रसिद्ध हैं। सतियों के पत्थर में संवत् १४८८ तक के लेख हैं। इससे मालूम होता है कि इनकी लड़ाई मलूकखाँ से सन् चौदहवीं शताब्दी में हुई थी। उस समय दिल्ली में खिलजी लोगों का राज्य था।

मान

यह भाटी जाटों की एक शाखा है, ऐसा भांट ग्रन्थ मानते हैं। इनकी वंशावली जो भाटों की लिखी हुई है उसमें भाटियों को सूर्यवंशी लिखा है। साथ ही यह भी लिखा है कि भक्त पूरनमल के पिता शंखपती का विवाह इन्हीं लोगों में हुआ था। लगभग पन्द्रहसौ वर्ष पहिले इनका एक समूह देहली के पास बलावांसा नामक स्थान में गजनी से आकर आबाद हुआ था। मानसिंह जिसके नाम पर इस वंश की प्रसिद्धि बताई जाती है उसका पुत्र बीजलसिंह ढोसी ग्राम में आकर अवस्थित हुआ। ढोसी नारनौल के पास पहाड़ों में घिरा हुआ नगर था। इस स्थान पर अब भी दूर दूर के यात्री आते हैं, मेला लगता है। कई मन्दिर और कुंड यहाँ पर उस समय के बने हुए हैं। पहिले यहाँ गंडास गोत्र के जाटों का अधिकार था। इसने नागल की पुत्री गौरादेवी से सम्बन्ध किया और फिर ढोसी से ३ मील हटकर गोरादेवी के नाम पर गोरीर नाम का गाँव बसाया। आगे उनसे जितना भी हो सका अपना राज्य बढ़ाया। बीजल-सिंह से २० पीढ़ी पीछे सरदार रूपरामसिंहजी हुए। उस समय इस प्रदेश पर शेखावत आ चुके थे। खेतड़ी के शेखावतों से रूपरामसिंहजी का १०,१२ वर्ष तक संघर्ष रहा, किन्तु इन्होंने अधीनता स्वीकार न की। मान लोगों के अनेक दल थे और

वे अनेक प्रदेशों में बसे हुए हैं। खेतड़ी के शेखावतों से रूपरामसिंह का युद्ध अब से लगभग ८०-९० वर्ष पहिले हुआ था, क्योंकि कुँ० नेतरामसिंहजी गोरीर वालों से रूपरामसिंहजी चार पीढ़ी पहिले हुए थे। उस समय सुखरामसिंहजी के पास कितना इलाक़ा था भाट लोगों की पोथियों से इतना पता नहीं लगता है।

कुलडिया

यह जोहिया जाटों की एक शाखा मात्र है। इनका इतिहास जो इनके डूम, साँसी और भाटों से मिलता है, इस प्रकार है। मरुधर देश की भूमि पर वहिपाल नाम का जोहिया सरदार कोट मरोट नामक गढ़ में बैठकर मारवाड़ के एक बड़े हिस्से पर राज करता था। हिसार में जो सूबेदार उसके समय में था उससे वहिपाल की लड़ाई हुई। यह घटना ग्यारहवीं बारहवीं शताब्दी के बीच की है। कोट मरोट का राज्य इस लड़ाई में इनके हाथ से निकल गया। तब वहिपाल ने काठोद में जाकर राज्य क़ायम किया। यह स्थान अजमेर से सात आठ कोस की दूरी पर पच्छिम की ओर है। पहाड़ों से सुरक्षित स्थान में रहते हुए इसके वंशजों ने कोलीय में एक क़िला अपना स्थापित कर लिया। इसी बीच में कोयल पट्टन के राजा ने उन्हें गिरफ़्तार कर लिया। भाट ग्रन्थों में लिखा है—*"इनकी कुल देवी पाड़ा ने उस कोयला पट्टन के राजा को परास्त करके इनको छुड़ा लिया।"* और डीड़वाना को अपनी राजधानी बनाया, वहीं पर वहिपाल की और उस देवी की मूर्त्ति स्थापित की। इनका राज कोलीय से लेकर डीड़वाना तक था।

उस समय का एक काव्य गीत इस प्रकार है:—

"सर में देवी सांचली प्रगट पाडल मांय।
दुख काटे दर्द गमावें करै सिकमियां सहाय॥
सौ, सौ, कोसां समर लै, शत्रु भगाये दूर।
ऐसी पाडल माता कहीजे लाद कान्ह हजूर॥
वहिपाल जोहिया को संकट काट्यो दर्द गमायो दूर।
.................................तू हाजरा हुजूर॥"

इन लोगों का एक दल सांगलीय में कुछ समय निवास करता हुआ बोसांणा, चूड़ी और सांगासी में फैल गया। शेखावतों ने अपने समय में इन लोगों की स्वतंत्रता नष्ट कर दी। डीडवान के आस-पास राठौरों ने इनके सरदारी तंत्र के जनपद मिटा दिये।

रामनाथ चारण ने 'राजपूताने के इतिहास' में जोहियों के सम्बन्ध में लिखा है कि—उनके पास १५०० गाँव थे। सीवांणकोट में उनकी राजधानी थी। जोहियों

दो दलों में आपस में तक़रार थी। राठौर वीरमदेव को बैठने के लिये उन्होंने ई गाँव दिये थे। पीछे से वीरमदेव ने उनके साथ घात करना चाहा इससे उन्होंने ढ़े रण (मारवाड़) के पास लड़ाई करके उसे मार डाला। संवत् १४६४ में वीरम के पुत्र ने जोहियों को मारवाड़ की भूमि से निकाल दिया।

खोजा व ख्वाजा — इस गोत्र के जाट मारवाड़, अजमेर मेरवाड़ा और झूझावाटी में पाये जाते हैं। यह नाम किस कारण से पड़ा, यह तो मालूम नहीं हो सका, किन्तु ग्यारहवीं शताब्दी में इनका राज्य टोंक में था यह पता लग गया है। "तारीख राजगान हिन्द" के लेखक मौलवी हकीम नजमुलगनीख़ां ने टोंक राज्य के वर्णन में लिखा है:—

"शहर टोंक लम्बाई में उत्तर २६ अक्षांश १० देशान्तर और चौड़ाई में पच्छिम ७५ अक्षांश ५६ देशान्तर पर देहली से मऊ जाने वाली सड़क से चिपटा हुआ है, देहली से दक्षिण पच्छिम में २१८ मील मऊ से उत्तर में २८६ मील के फ़ासिले पर बनास नदी के किनारे पर अवस्थित है। यहाँ यह नदी प्रायः दो फ़ीट पानी की गहराई से बहती है। शहर के चारों ओर दीवार है और उसमें कच्चा क़िला है। एक इतिहास में लिखा है कि खोजा रामसिंह ने किसी युद्ध के बाद देहली से आकर संवत् १००३ विक्रमी मिती माघ सुदी तेरस को इस स्थान पर नगर आबाद किया। उस नगर का नाम टोंकरा रक्खा था। यह आबादी अब तक क़ोट के नाम से मशहूर है। अर्से के बाद माह सुदी पंचमी संवत् १३३७ को अलाउद्दीन खिलजी ने माधोपुर और चित्तौड़ फ़तह किये, तब इस गाँव की दुबारा आबादी हुई। 'वकाया राजपूताना' में इसी भाँति लिखा हुआ है। किन्तु इसमें शंका यह है कि "सिल सिला तालुमुल्क" के लेखानुसार अलाउद्दीन खिलजी सन् १२९५ ई० में शासक हुआ और सन् १३१६ ई० में मर गया। इस हिसाब से उसका शासन-काल संवत् १३५२ से १३७२ के बीच में या इससे एकाध साल आगे-पीछे करार पाता है। सन् १८०६ ई० में टोंक अमीरख़ाँ के क़ब्जे में आया। उसने शहर से एक मील दक्षिण में अपने निवास के लिये राज-भवन और दफ़्तर बनाये।"

इससे मालूम होता है कि राजा रामसिंह के वंशजों ने टोंक पर सन् १००३ से सन् १३३७ अथवा १३५२ तक राज किया। खिलजी अथवा अन्य किसी भी

१—इतिहास राजस्थान। पे० १४६। ले० रामनाथ चारण।

मुसलमान सरदार ने उनका गढ़ तहस-नहस कर दिया। तब फिर से वह दुबारा बसाया गया।

लौयल

इस वंश के जाट मारवाड़ में रहते हैं। सोलहवीं सदी से पहिले नागौर के प्रदेश पर इन्हीं लोगों का राज था। यद्यपि पठान, मुग़ल नागौर जैसे बड़े बड़े स्थानों पर क़ब्जा कर लेते थे, किन्तु इन लोगों ने उनको अपना शासक कभी नहीं माना, यह भूमिया चारे की पद्धित से अपने अधिकृत प्रदेश पर शासन करते थे। जिन दिनों अकबर बादशाह हुआ और उसे भी इन लोगों ने किसी भाँति की भेंज अथवा शाही कर न दिया तो उसने बहुत से जाट सरदारों को देहली बुला कर गिरफ़्तार करा लिया। तोला नाम के जाट सरदार को जब यह पता लगा कि बादशाह जब तक शाही कर न लेलेगा तब तक उनके जाति भाइयों को न छोड़ेगा, तो तोला अकबर बादशाह के पास गए। बादशाह ने यही सवाल किया कि हमें राजस्व (कर) दो, तोला इस बात पर कड़क कर बोला! इसी लोभ के लिये तुमने हमारे जाति भाइयों को पकड़ा है, तो छोड़ दो। हमारे यहाँ तुम्हारा जैसा घाटा नहीं है। मारवाड़ी भाषा में तोला और अकबर की बात-चीत का इस भाँति काव्य-मय वर्णन किया है।

"अकबर सूं तोला मिला करके बात कराड़ी। पट्टी रहूँ मैं नागौररी घर म्हाड़ा खाड़ी। खच्चर भरले मोहरां की बिरादरी छोड़ म्हाड़ी॥"

परगना नागौर में खारी गाँव में तोला सरदार की राजधानी थी। गाँव में पच्छिम दिशा में तोराणां नाम का तालाब है, जो उसी के नाम से मशहूर है। यहाँ एक शिला-लेख है, उस पर संवत् १५६५ भादवा सुदी ८ खुदा हुआ है। उसी पत्थर पर तोलाजी की मूर्ति है। वे पाँचों हथियार बाँधे हुए हैं। उनके आगे छड़ीदार अथवा चोबदार हैं। खारी के समीप किस्ताना, ढोलोलाव नाम के कई तालाब हैं, जो तोला तथा उसके पूर्वजों की समृद्धि और वैभव को प्रकट करते हैं। उनके खजाने में अपार धन प्रस्तुत रहता था, इसीलिए तो उन्होंने अकबर से कह दिया कि मुहरों से खच्चर भरले।

गैना

इस वंश के जाट सरदार मारवाड़ में हैं। डीडवाने के परगने में इनका राज रहा था। संभवतया जोहिया जाटों का एक दल गैना नाम से मशहूर हुआ। गाँव बडदू (परगना डीडवाना) में एक कुआं के चबूतरे पर मकराना पत्थर पर सरदार किशनारामजी गैना की एक तस्वीर है, उसमें वे सशस्त्र हैं। साथ ही उनकी सती रानी रामा की भी मूर्ति है। शिला-लेख में संवत् १८१४ चैत बदी ६ खुदा हुआ है। इनका यह

राज कई शताब्दी पहिले से चला आता था क्योंकि ऊपर नाम के गाँव में संवत् ११३४ जेठ वदी का एक शिला-लेख व एक गैना गोत्रोत्पन्न लड़की की मूर्ति है। वह किन्हीं कारणों से अपने मायके में ही रहती थी। शत्रुओं से लड़ते हुए अपने एकलौते बेटे के मारे जाने के पश्चात् उसके शोक में मर गई थी। उसके लड़के ने बड़ी वीरता के साथ अपने देश की रक्षा उन शत्रुओं से की थी जो कि सिन्ध की ओर शासन करते थे और जाति के मुसलमान थे।

मारवाड़ की विभूतियाँ

मारवाड़ के जाट सरदारों में अनेकों योद्धा और वीर हुए हैं। साथ ही अनेकों दानी, धर्मात्मा और ईश्वर-भक्त भी उनमें एक से एक श्रेष्ठ हुए हैं। तेजाजी के नाम को सारा राजस्थान जानता है। उनका वर्णन आगे दिया जा रहा है। यहाँ कुछ अन्य जाट सरदार तथा जाट बालाओं का थोड़ा सा परिचय कराते हैं जिनके शुभ कृत्यों से जाटों का सिर उन्नत हुआ था और अब भी जिन पर जाट जन अभिमान कर सकते हैं।

मारवाड़ में एक चुटीसरा गाँव है। उसमें एक बड़े प्रसिद्ध जाट-भक्त हुए हैं। वे सदारामजी महाराज के नाम से पुकारे जाते थे। रेवाड़ गोत्र के जाटों में उनका जन्म हुआ था। उनके २४ शिष्य थे, जिन्होंने राजस्थान के विभिन्न भागों पर मन्दिर स्थापन किये। सभी जातियों के लोग उनकी प्रशंसा करते हैं और श्रद्धा के साथ उनका स्मरण करते हैं। उनके मन्दिर निम्न स्थानों में हैं:—

१—टूटीसरा, २—वलाया, ३—बरनगाँव, ४—फिरोद, ५—खड़नाल, ६—नागौर, ७—फलोदी, ८—मूडवा, ९—सुजानगढ़ (बीकानेर में), १०—ऊटालड़ (जिला हिसार), ११—देश, १२—टेऊ, १३—हुलचासर, १४—नाथासर, १५—बीकानेर, १६—रघुनाथसर, १७—मस्तरामजी आचार्यों के चौक में, १८—बिनानिया के चौक में, १९—गाँवरेन, २०—गच्छीपुरा, २१—जोधपुर, २२—उदयपुर, २३—जयपुर और २४—नागौर। इनके शिष्यों में जोधपुर में जाटों के वास में सूरदासजी के नाम से एक मशहूर संत हुए हैं।

परगना नागौर में गाँव माजावास में एक जाट सरदार थे। उनके यहाँ पूलाबाई नाम की बड़ी प्रसिद्ध बहादुर लड़की थी। ईश्वर-भक्ति में दूर-दूर तक उसका नाम फैल गया था। जिन दिनों बादशाह औरङ्गजेब देहली में शासन करता था, उन्हीं दिनों पूलाबाई की भक्ति का सितारा चमक रहा था। औरङ्गजेब की आज्ञा से राठौर राजा जसवन्तसिंह जिन दिनों क़ाबुल पर चढ़ाई करने गये थे, उन्हीं दिनों साधुओं का एक दल माजावास आया। वे पूलाबाई के तेजोमय ईश्वर-भक्ति से पूर्ण मुख-मंडल को देख कर उसके भक्त हो गये। बाल-ब्रह्मचारिणी पूला का उनके हृदय पर इतना प्रभाव पड़ा कि उन्होंने क़ाबुल से लौटते हुए जसवन्तसिंह

से पूलाबाई की प्रशंसा की। जसवन्तसिंह ने जोधपुर आने पर पूलाबाई के दर्शन उसके गाँव में जाकर किये। पूलाबाई एक ऐसे सरदार की लड़की थी, जिसका कि कई गाँवों पर अधिकार था। इसलिए जसवन्तसिंह के साथ में आये हुए सारे सैनिकों को भोज दिया। मारवाड़ में पूलाबाई की प्रशंसा के गीत गाए जाते हैं, किन्तु उसके भव्य जीवन के गीतों की मारवाड़ी भाषा में एक पुस्तक भी छपी है।

चोटी सराय में चूअरजी नाम के जाट शहीद हुए हैं। उनकी पूजा की जाती है। वहाँ पर उनकी मूर्त्ति भी बनी हुई है, किन्तु कोई शिला-लेख नहीं है। बहुत सम्भव है कि अधिक खोज करने पर शिला-लेख भी मिल जाय। वहाँ उन्हें चूअरजी जाट जूझा के नाम से पुकारते हैं। जूझा के अर्थ शहीद होते हैं। धर्म, देश और जाति की रक्षा के लिए जो युद्ध-क्षेत्र में मारे जाते हैं, उन्हें जूझा कहते हैं और जो विधर्मी तथा विजातीय लोगों पर विजय पाते हैं, उन्हें बली अथवा महावीर कहने की प्रथा प्राचीन लोगों में थी। पीछे से महावीरबली की जगह भूमिया शब्द का प्रयोग होने लग गया था। भूमिया लोगों की पूजा भी होने लग गई है।

मारवाड़ के परवतसर परगने में हरनामा गाँव में सरदार जालिमसिंहजी सरदारी करते थे। आस-पास के बीसियों गाँवों पर उनका अधिकार था। दशहरे पर सभी गाँवों के चौधरी उनको भेट देते थे। सरदार जालिमसिंह के एक पुत्री थी, जिसका नाम रानाबाई था। वह हरि-भक्ता थी। ईश्वर-सेवा और गौ-सेवा ही उसके लिए आनन्द-दायक थीं। उसकी इच्छा आजन्म ब्रह्मचारिणी रहने की थी, इसलिए उसका विवाह नहीं हुआ था। एक समय देहली के बादशाह का सूबेदार उधर से गुजरा। रानाबाई की खूबसूरती को देख कर उसके हृदय में पाजीपन आ गया। एक बार धोखे से जालिमसिंह को अपने यहाँ बुला कर दबाव दिया कि रानाबाई की शादी मेरे साथ कर दो। जालिमसिंहजी ने ललकार के साथ उस सूबेदार को भला बुरा कहा। उसने जालिमसिंह को नजरबन्द करा दिया और खुद सेना लेकर हरनामा गाँव पर चढ़ गया। रानाबाई ने जब सुना कि वह उससे शादी करने के इरादे से आया है, सिंहनी की भाँति खड़ी हो गई और तलवार लेकर मैदान में निकली। आँखें उसकी लाल हो रही थीं, चहरा तमतमा रहा था। यवन सैनिक उसे देख कर एक दूसरे की मुँह की ओर देखने लगे। रानाबाई ने झपट कर सूबेदार का शिर काट लिया। सैनिकों में भगदड़ मच गई। जाट लोगों ने जब सुना तो उनका पीछा किया, जालिमसिंहजी छोड़ दिये गए। रानाबाई की कीर्त्ति सारे मारवाड़ में फैल गई। लोग अब तक उनकी कहानी बड़े चाव से कहते और सुनते हैं। स्वर्गीय पं० जयरामजी ने रानाबाई के चरित्र पर 'जाट-वीर' में सन् १६२६ में एक लेख भी लिखा था।

परगना फलोदी में चापोसर गाँव में भगत नाम से एक जाट गोत्र मशहूर है। कहा जाता है, चापोसर में जाठी गोत्र के जाटों में कल्यानजी नाम के एक

हरिभक्त हुए हैं। उनकी भक्ति की छाप दूर दूर के लोगों पर पड़ी थी। यद्यपि वे साधू नहीं बने थे। गृहस्थ रहते हुए भी वे इतने जबर्दस्त हरि-भक्त हुए कि राठौर नरेश जसवंतसिंह उनकी सेवा में हाजिर हुए थे, और प्रसन्न होकर पाँच सौ हल की भूमि का ताम्र-पत्र इनाम कर दिया। यह इनाम अब तक उनके परिवार-वालों के पास चला आता है ऐसा कहा जाता है।

राठौरों के इतिहास में लिखा हुआ है कि जोधाजी राठौर जिन दिनों मारा मारा फिरता था, उसके बैठने को जगह नहीं थी, साथ की सेना भी नष्ट हो चुकी थी, एक दिन वह भूखे प्यासे शाम के समय एक जाट सरदार के घर ठहरे। उनके खाने के लिए जब घाटि (दलिया) दी गई तो मारे भूख के शीघ्रता करने से घाटि से उनका हाथ जल गया। इस पर जाट-वाला ने कहा अरे सिपाही! तू जोधा की भाँति ही मूर्ख है। गर्म दलिया और प्रबल शत्रु के बीच में हाथ नहीं डालते, उसे किनारों की ओर से निबटाते हैं। जोधा को उस जाट-वाला के इस राजनैतिक ज्ञान पर आश्चर्य हुआ और उसने उसी सिद्धान्त से काम लेकर अपने शत्रुओं पर विजय पाई[1]।

ऊपर मारवाड़ के संत और वीर पुरुषों का इतिहास दिया गया है। यहाँ थोड़ासा समग्र राजस्थान के जाट संतों का वर्णन करके आगे फिर राजस्थान के जाट राज्यों का वर्णन दिया जायगा। धन्ना भगत राजस्थान के ही थे, वे कहाँ जन्में थे, कहाँ उनको ईश्वर का प्रकाश मिला इसका पूरा वर्णन 'धन्ना भगत' पुस्तक में है। किन्तु वे इतने प्रसिद्ध हैं कि समग्र उत्तरी भारत में उनकी चर्चा है। सूरदास और तुलसीदास से भक्ति में वे तनिक भी कम न थे। हाँ, इनसे वे कवित्व की शक्ति रखने में अवश्य ही पीछे थे। कहावत तो यहाँ तक है कि "धन्ना जाट का हरिसों हेत, बिना बीज के निपजा खेत।"

राजस्थान के संत

अलवर राज्य में एक जाट साधू भगवानदास हुए हैं। 'मुरक्कए अलवर' में उनका वर्णन इस प्रकार से दिया हुआ है:—आरम्भ में भगवानदास के मां-बाप हरियाने में रहते थे। वहाँ से आकर मौजा टोकला परगना बीघोता में आबाद हुए। उनके बाप का नाम गोरखा और माँ का नाम केशी था। जाति उनकी जाट थी और हरियानी थी उपाधि। गौ चराया करते थे। समय पाकर वैराग्य की ओर झुके। आगे चल कर इतने प्रसिद्ध महात्मा होगये कि भविष्य की बातें बताने लग गये। उनके तप और सत्य वाणी की चर्चा घर घर फैल गई। वह समय शाहजहाँ बादशाह का था। भगवानदासजी के पास दर्शकों की भीड़ लगी रहती थी। नारनौल में उस समय एक मुसलमान हाकिम था। उसने देखा कि मुसलमान लोग भी इस साधु में श्रद्धा रखते हैं और वे इसकी बातों को मानते हैं, इस्लाम के प्रचार का असर भी इस साधु के कारण कम होता है तो

१—ऊपर जगदीशसिंह गहलोत के लिखे राठौरों के इतिहास के आधार पर।

उसने भगवानदासजी को पकड़वा मँगाया। उन्हें जेल में डाल दिया। मुसलमान हाकिम को इससे भी संतोष न हुआ। उसने घोड़ों के लिए दाना दलने का काम भगवानदासजी को सौंपा। साधु भगवानदास हँसते हुए दाना दलने लगे। साथ ही वह गाते जाते थे, "जो खाएगा मर जाएगा"। आखिर हुआ भी ऐसा ही। जिन घोड़ों ने भगवानदासजी का दला हुआ दाना खाया वे मर गए। हाकिम बड़ा भयभीत हुआ। उसने माँफी मांगी और भगवानदासजी को छोड़ दिया। इस घटना के बाद उनकी भारी प्रसिद्धि हो गई। ब्राह्मण, राजपूत सभी जातियों के लोग भगवानदासजी के चेला हो गये। उन्होंने अपने शिष्यों को यह हिदायतें कीं—(१) गाजर मूली मत खाओ, (२) तम्बाकू मत पीओ, (३) बैलों को वधिया मत कराओ। उनके अनुयायी इन बातों का पालन भी करते हैं। अवतारों की फ़िलासफ़ी के विरुद्ध भी प्रचार किया[१]। सन् १७४० में वह मर गए। मौजा टीकला में जो अब परगना बावल में है उनकी समाधि और छतरी बनाई गई। उनकी मृत्यु का बड़ा भारी शोक मनाया गया था। भादों बदी अष्टमी को वहाँ पर भगवानदास के नाम पर मेला लगता है। उसमें हज़ारों आदमी इकट्ठे होते हैं। दूर-दूर से पूजने वाले आते हैं। बहुत सा चढ़ावा चढ़ाया जाता है। उनके मन्दिर के साध (महंत) जाट लोग हैं। वही उस चढ़ावे को लेते हैं। मशहूर है कि भगवानदासजी कुछ दिनों के लिये मौज़ा काठ के माजरे में भी आये थे, जोकि क़स्बा करनकोट के पास है। वहाँ पर साधु भगवानदासजी ने एक कुआँ बनवाया था। उसका नाम उन्होंने कृष्ण कुआँ रक्खा था। आज भी वह कुआँ इसी नाम से पुकारा जाता है।

महात्मा निश्चलदासजी महात्मा तो थे ही, साथ ही संस्कृत के विद्वान् भी बड़े ऊँचे दर्जे के थे। वह वेदान्ती थे, वेदान्त पर की उनकी टीका बहुत प्रसिद्ध है। कहा जाता है—जब संस्कृत पढ़ने के लिये वे काशी जी पहुँचे तो उन्हें बड़ी कठिनाई उठानी पड़ी। वहाँ ब्राह्मणों के लिये शिक्षा सम्बन्धी विशेष सुविधायें हैं। निश्चलदासजी का दृढ़ निश्चय था कि वे संस्कृत पढ़ें। आखिर उन्हें अपने को जाट के बजाय ब्राह्मण बताना पड़ा। उन्होंने काशी में सारे शास्त्रों का अध्ययन किया। जब संस्कृत के प्रकांड पण्डित हो गये, तब आपने राजस्थान में अपने सिद्धान्तों का प्रचार करना आरम्भ किया। दादू पंथ का राजस्थान में विशेष जोर है। बूंदी के महाराज रामसिंहजी ने महात्मा निश्चलदासजी को अपने यहाँ बुलाकर, अपने यहाँ के विद्वानों से शास्त्रार्थ कराया। निश्चलदासजी की विजय हुई। बूंदी दरबार में दिन में भी दादू संतों के कहने से मसालें जला करती थीं। महात्मा निश्चलदासजी ने उस पाखंड को हटवाया। निश्चलदासजी के विचारों का लोगों पर इतना ज़बर्दस्त असर पड़ा कि आर्य्य-समाज के उपदेशकों को उनके प्रभाव के घटाने के लिये "निश्चलदास की मति जो बौरानी" आदि बेढंगी, कविता की रचना करनी पड़ी। उनके समकालीन लोग उन्हें संस्कृत का वृहस्पति कहा करते थे।

१—मुरक्क़ए अलवर पे० ६७।

मेवाड़ की भूमि पर बख्तावर जी नाम के एक जाट सरदार बड़े नामी संत हो गये हैं। वे दीक्षा लेकर अथवा कपड़े बदल कर साधु तो नहीं बने थे किन्तु मन, वचन से वे पूरे संत थे। ईश्वर भक्ति और गौ-सेवा यही उनकी दिनचर्या थी। खिलजी का दल जब चित्तौड़ को ध्वंश करने के लिये जा रहा था, तो उसके एक सेनापति ने मार्ग में गौ-बध करना चाहा। गौ-बध के लिए उसके साथियों ने भक्त बख्तावर से एक गाय माँगी। बख्तावर भला बध करने के लिए गाय दे सकता था ? छीना झपटी हुई। साधू स्वभाव के बख्तावर को तलवार पकड़नी पड़ी। अकेले ही ने कई मुसलमानों को मार गिराया। अंत में गौ रक्षा करता हुआ स्वयं भी बलिदान हो गया। बख्तावरसिंह के बलिदानों का गीत काव्य "शीतल भजनावली" में लिखा हुआ है।

इनके अतिरिक्त और अनेक जाट संत राजस्थान में हुए हैं। स्थानाभाव से इतने ही संतों का वर्णन किया है। मारवाड़ में तो दानी भी एक से एक बढ़कर हुए हैं। भात देने के समय पर एक गीत भी जाट चौधरी के दान की प्रशंसा में गाया जाता है। कहते हैं उसने उस कुल रकम को जो बादशाह देहली को अपने देश का राजस्व चुकाने के लिए देने को जा रहा था, एक रोती हुई औरत को इसलिए दे दिया था कि वह भाई के अभाव में इसलिए रो रही थी कि उसके कोई भात लाने वाला न था। भात वह दान है जिसे किसी भी स्त्री का भाई अपने भानजी और भानजे के विवाह के समय अपनी बहिन और उसकी सहेली तथा परिवार के लोगों को भेट करता है[1]।

प्रसंग वश इतने साधु-सन्त लोगों का वर्णन हमने जो किया है, वह इस बात के समझ लेने के लिए काफी है कि जाट जहाँ वीर थे, वहाँ हरि-भक्त भी पूरे थे। हम अब अन्य राज-वंशों पर प्रकाश डालते हैं।

बधाला

यह नाम गाँव के नाम पर प्रसिद्ध हुआ है। तोमर जाटों का वह समूह जो राज-स्थान में बधाल नामक स्थान पर बसा बधाला के नाम से मशहूर हुआ। इनके भाट ग्रन्थों में लिखा है कि दिल्ली से खड्गल नामक सरदार ने अपने साथियोंसमेत राज-स्थान में जहाँ अपने रहने के लिए छावनी बनाई वही आगे चल कर खंडेल नाम से मशहूर हुई। यह भी कहा जाता है कि खडगल के नाम से ही कुल खंडेलावाटी प्रसिद्ध हुआ। खड्गल के कई पीढ़ी बाद बधाल नाम का एक पुत्र हुआ। उसने बधाल में अपना अलग प्रभुत्व क़ायम किया। खंडेल और बधाल में लगभग ३० मील का अन्तर है। इन लोगों के दसवीं सदी से लेकर चौदहवीं सदी तक भूमियाँ ढंग के शासन तन्त्र इस भू-भाग पर रहे हैं।

१—खेद है कि उस मारवाड़ी गीत की कापी हमारे पास से इस समय खोगई वरना हम अवश्य उसका कुछ अंश इतिहास में देते।

इनका वर्णन पिछले पृष्ठों में आ चुका है। यह यादव-वंशी समुदाय अब कटेवा नाम से मशहूर है। इन्हीं लोगों के नाम से उस नदी का नाम कटनी प्रसिद्ध हुआ, जिसके किनारे यह जम कर बैठ गए। झंझवन से आगे कटनी नदी वहती थी। वरसात में वह अब भी वहती है। उसीके किनारों पर कटेवा लोगों का जनपद था। कटनी नदी के किनारे खुड़ाना नामक एक गढ़ है। अब सिर्फ वहाँ भी मिट्टी का एक टीला अवश्य है। आस-पास के लोग कहते हैं, यह पहिले गढ़ था। हमें विश्वास के साथ बताया गया है कि कटेवा लोगों का यहाँ राज्य था। ऐसा कहते हैं कि यवनों से युद्ध में लड़ते समय देश की रक्षा के लिए अत्यधिक संख्या में शिर कटाने के कारण उसी भाँति कटेवा मशहूर हुए हैं, जिस भाँति कि शिशोदिया। वास्तव में यह कर्कोटक या वाकाटक यादव हैं।

कर्कोटक

इस नाम के लोग ब्राह्मणों में भी पाये जाते हैं, जो कि नेहरू कहलाते हैं। राजस्थान में नेहरा जाटों का लगभग दो सौ वर्गमील भूमि पर किसी समय अधिकार रहा था। उनके नाम से झुंझनूं के निकट का पहाड़ आज भी नेहरा कहलाता है। दूसरे पहाड़ का नाम मौड़ा (मौरा) है जो कि मौर्य लोगों के नाम पर प्रसिद्ध है। थोड़ा सा परिचय नेहरा लोगों का हम पिछले पृष्ठों में भी दे चुके हैं। नेहरा लोगों में सरदार झूंझा अथवा जुझारसिंह वड़े प्रसिद्ध वीर हुए हैं। उनके नाम से झुंझनूं जैसा प्रसिद्ध नगर विख्यात है। कुँवर पन्नेसिंहजी ने "रण-केसरी सरदार जुझारसिंह" नाम की पुस्तक लिखी थी। उसी में से नेहरा और सरदार जुझारसिंह का थोड़ा सा वर्णन यहाँ पर हम देते हैं। पन्द्रवीं सदी में नेहरा लोगों का नरहड़ में राज्य था, वहाँ पर उनका एक दुर्ग भी था। उससे १६ मील पच्छिम में नहरा पहाड़ के नीचे नाहरपुर में उनके दूसरे दल का राज्य था। सोलहवीं सदी के अन्तिम भाग और सत्रहवीं सदी के आरम्भ में नेहरा लोगों का मुसलमान शासकों से युद्ध हुआ। आखिर नेहरा लोगों ने वादशाहों की अधीनता स्वीकार करली। वे खास वक्त पर वादशाहों को भेट देते थे। शाहों को भेट देने के कारण उनको "शाही भेट वाल" के नाम से पुकारा जाने लगा। आज तक वह 'शाही भेट वाल' कहलाते हैं।

नेहरा राजवंश

सरदार जुझारसिंह का जन्म संवत् १७२१ विक्रम श्रावण महीने में हुआ था। उनके पिता नवाव के यहाँ फौजदार के पद पर थे। युवा होने पर सरदार जुझार नवाव की सेना के जनरल हो गये। उनके हृदय में एक वात थी और वह यह कि वे भारत में फिर से जाट-साम्राज्य स्थापित हुआ देखना चाहते थे। जाट-शाही स्थापन हो-इसके लिये उन्होंने पंजाब और व्रज के जाट राजाओं व गोकुला के वलिदान की चर्चा उनके कानों तक पहुँच गई थी। वे चाहते थे कि मुस्लिम-शाही के विरुद्ध जाट लोग सम्मिलित वग़ावत करदें। इन्हीं दिनों उनकी एक राजपूत से भेट हुई। वह किसी रिश्ते के संबंध से नवाब के यहाँ आकर मुलाज़िम हुआ था। उसका

नाम शार्दूलसिंह था। दोनों में सौदा हुआ। शार्दूल ने वचन दिया कि इधर से नवाबशाही के नष्ट करने पर हम तुम्हें (जुझारसिंह को) अपना सरदार मान लेंगे। अवसर आया और सरदार जुझार ने झुंझनूं और नरहड़ के नवाबों को परास्त कर दिया, उनके साथी भगा दिये। "रणकेशरी जुझारसिंह" नामक पुस्तक में लिखा है कि—जुझारसिंह को दरबार करके सरदार बनाया गया। सरदारी का तिलक करने के बाद उसे एकान्त में अकेला पाकर राजपूतों ने उनके ऊपर हमला कर दिया और इस भांति से उन्हें मार डाला। लिखा गया है कि सरदार जुझार के यह पूछने पर कि यह कैसी सरदारी दी जा रही है जवाब मिला हम मूर्ख नहीं हैं "तुम्हें जिन्दों का नहीं तो मरे हुए लोगों का सरदार बना रहे हैं।" तुम्हें चाहिये था, सावधान रहते। इस घृणित कृत्य का समाचार ज्योंही नगर में फैला, हाहाकार मच गया, जाट सेनायें बिगड़ खड़ी हुई। उनमें से कुछेक लोभी मनुष्यों को विपत्तियों ने अपने में मिला लिया। कहा जाता है उस समय एक चारण ने शार्दूलसिंह के पास जाकर कहा था—"*सादे, लीन्हों झूंझणूं, लीनों अमर पटै। बेटे पोते पड़ौते पीढ़ी सात लटै।*" अर्थात्—सादुल्लेखाँ से इस राज्य को झूंझा (जुझारसिंह) ने लिया था, वह तो अमर होगया। अब इसमें तेरे वंशज सात पीढ़ी तक राज्य करेंगे।

जुझार अपनी जाति के लिए शहीद होगये। वे इस संसार में नहीं रहे किन्तु उनकी कीर्त्ति आजतक गाई जाती है। झुंझनूं नाम उनके ही नाम झूंझा पर से पड़ा है।

शेखावतों ने जाट-क्षत्रियों के विद्रोह को दबाने के लिए तथा उन्हें प्रसन्न रखने के लिए निम्नलिखित आज्ञायें जारी कीं:—

(१) लगान की रक़म उस गाँव के जाट मुखिया की राय से ली जाया करेगी (२) जमीन की पैमायश गाँव के लम्बरदार किया करेंगे। (३) गोचर भूमि के ऊपर कोई टैक्स न होगा (४) जितनी भूमि में चारे के लिए गुवार बोई जायगी उस पर कोई टैक्स न होगा (५) गाँव से चोरी की हुई वस्तु की खोज का खर्चा तथा राज के अधिकारियों के गाँव में आने का एवं खुराक खर्च गाँव के लगान में से काट दिया जायगा। जो नजर राज के ठाकुरों को दी जायगी लगान में वाजिब होगी (६) जो जमीन गाँव के बच्चों को पढ़ाने वाले ब्राह्मणों को दी जावेगी उसका कोई लगान न होगा। जमीन दान करने का हक़ गाँव के मुखिया को होगा। (७) किसी कारण से कोई लड़की अपने माँयके (पीहर) में ही रहेगी तो उस जमीन पर कोई लगान न होगा, जिसे लड़की अपने लिए जोतेगी (८) गाँव का मुखिया किसी काम के लिए बुलाया जायगा तो उसका खर्चा राज देगा (९) गाँव के मुखिया को उसके जोतने के लिए जमीन मुफ्त दी जावेगी। सारे गाँव का जो लगान होगा मुखिया को उसका दसवाँ भाग दिया जायगा। अब भी खेतड़ी

सीकर जैसे बड़े ठिकानों में यह भाग दिया जाता है, पर अब दसवाँ भाग नहीं, वीसवाँ होता है जो पचोतरा कहलाता है। (१०) मुखिया वही माना जावेगा जिसे गाँव के चाहेंगे। (११) यदि सरदार गाँव में पधारेंगे तो उनके खान पान व स्वागत का कुल खर्च लगान में से काट दिया जायगा। (१२) गाँव के टहलकार (कमीन) लोगों को ज़मीन मुफ्त दी जायगी। (१३) जितनी भूमि पर आबादी होगी उसका कोई लगान न होगा। (१४) इस खान्दान में पैदा होने वाले सभी उत्तराधिकारी इन नियमों का पालन करेंगे।

अब तक इनमें से कुछ नियम अनेक ठिकानों में ज्यों के त्यों कुछ में हेर फेर के साथ माने जाते हैं। कुछ ने एक प्रकार से क़तई इन नियमों को मेट दिया है।

चित्र में सरदार झुंझारसिंह घायल अवस्था में टूटी हुई सांग को कंधे पर रखे हुए और घोड़े पर सवार दिखाये गए हैं।

हमें बताया गया है कि सरदार झुंझारसिंह के जीवन पर किसी जाटेतर भाई ने प्रकाश डाला है, कुछ अपशब्द भी झुंझारसिंह के लिए लिखे हैं, इसीलिए वह उस पुस्तक को सर्व साधारण में नहीं वेचता। झुंझनूं का मुसलमान सरदार जिसे कि सरदार झुंझारसिंह ने परास्त किया था, सादुल्ला नाम से मशहूर था। झूंझनूं किस समय सादुल्लाखां से झुंझारसिंह ने छिनाया था। इस वात का पता निम्न-काव्य से मिलता है:—

"सत्रह सौ सत्यासी, आगण मास उदार।
सादै, लीन्हों झुंझनूं सुठि आठें शनिवार॥"

सरदार झुंझारसिंह के पश्चात् ज्यों-ज्यों समय बीतता गया उनकी जाति के लोग पराधीन होते गये, यहाँ तक कि वह अपनी नागरिक स्वाधीनता को भी खो वैठे। एक दिन जो राजा और सरदार थे, आज उन्हें पक्के मकान बनाने के लिये भी ज़मीन ख़रीदनी पड़ती है। उन पर वाईजी का हाथ लगा और भेंट, न्यौता-काँसा आदि अनेक तरह की वेहूदी लाग और लगा दी गई हैं।

पोनियाँ

पोनिया सर्पों की एक नस्ल होती है। इस नाम से जान पड़ता है कि यह नाग-वंशी हैं। 'हिसार गजिटिया' में लिखा हुआ है कि—*"यह अपने लिये शिव गोत्री मानते हैं, साथ ही महादेव की जटाओं से निकलने का भी ज़िकर करते हैं।"* शिव लोग और तक्षक लोग पड़ौसी थे। साथ ही दोनों ही समुदाय आगे शैव मतानुयायी भी हो गये थे। इसलिये उनका निकट सम्बन्ध है। सिकन्दर के आक्रमण के पश्चात् शिवोई (शिवि) और तक्षक वंशी लोग पंजाव से नीचे उतर आये थे। उनमें से ही कुछ लोगों ने जांगल प्रदेश पर अधिकार कर लिया। पोनियाँ भी ऐसे ही जाट
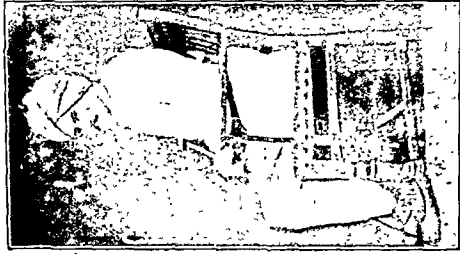
चौ० रामसिंह जी बख्तावरपुरा, (जैपुर)।

कंवर भूरसिंह जी देवरोड़, जैपुर।

बैठे हुये—सूबेदार टीकूरामजी
बूटिया, बीकानेर।
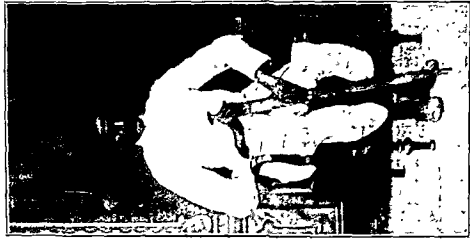
सूबेदार शिवजीरामजी, सरदा
शहर बीकानेर।

समुदायों में से हैं, जिन्होंने एक प्रदेश को अधिकार में कर एक लम्बे अर्से तक उसका उपयोग किया था। जांगल प्रदेश में वे ईसा के आरम्भिक काल में पहुँच गए थे। उन्होंने इस भूमि पर पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्तिम काल तक राज्य किया है। जिन दिनों राठौरों का दल बीका और कान्दल के संचालन में जांगल प्रदेश में पहुँचा था, उस समय पोनियाँ सरदारों के अधिकार में ३०० गाँव थे। वे कई पीढ़ी पहिले से स्वतंत्रता का उपभोग करते चले आ रहे थे। उन्हीं के छः राज्य जाटों के जांगल प्रदेश में और भी थे। रामरत्न चारण ने "राजपूताने के इतिहास" में इन राज्यों को 'भौमियाचारे' राज्य लिखा है। इन राज्यों का वर्णन "भारत के देशी राज्य" "तारीख राजगान हिन्द" "वाकए-राजपूताना" आदि कई इतिहासों में है। हमने भी प्रायः सारा वर्णन उन्हीं इतिहासों के आधार पर लिया है। उस समय इनकी राजधानी भासल थी जो कि हिसार ज़िले की सीमा पर है। रामरत्न चारण ने अपने इतिहास में इनकी राजधानी लुद्धि नामक नगर बताया है। राजा उस समय इनका कान्हादेव था। कान्हादेव स्वाभिमानी और कभी न हारने वाला योद्धा था। उसके अन्य पूनियां भाई उसकी आज्ञा में थे। गणराज्यों को फूट नष्ट करती है। उसके पोनियां समाज में एकता थी। प्रतिक्षण उपस्थित रहने वाली सेना तो कान्हदेव के पास आधक न थी, किन्तु उसके पास उन नवयुवक सैनिकों की कमी नहीं थी, जो अपने अपने घर पर रहते थे और जब भी कान्हदेव की आज्ञा उनके पास पहुँचती थी बड़ी प्रसन्नता से जत्थे के जत्थे उसकी सेवा में हाजिर हो जाते थे। प्रत्येक पोनियां अपने राज्य को अपना समझता था। वे सब कुछ बर्दाश्त करने को तैयार थे। किन्तु यह उनके लिये असह्य था कि अपने ऊपर अन्य जाति का मनुष्य शासन करता। ऐसी उनकी मनोवृत्ति थी जिसके कारण उन्होंने बीका की अधीनता को स्पष्ट रूप से अस्वीकार कर दिया। वे अपनी स्वाधीनता बनाये रखने के लिए उस समय तक लड़ते रहे जब तक कि उनके समूह के अन्दर नौजवानों की संख्या काफी रही। उनके स्थानों पर राठौर अधिकार कर लेते थे। अन्त में राठौरों ने उनके दमन के लिए उनके बीच में गढ़ बनवाना आरम्भ किया। दिन में राठौर बनाते थे, और पोनियां जाट रात को आकर गढ़ को ढहा देते थे। दन्तकथा के आधार पर कहा जाता है कि राजगढ़ के बुर्जों में कुछ पोनियां जाटों को चुन दिया था।

बड़े संघर्ष के बाद पोनियां लोग परास्त कर दिए गये। तब उनमें से कुछ यू० पी० की तरफ चले आये। राठौरों के पास सेना बहुत थी, गोदारे जाटों का समूह भी उनके साथ था। इसलिए पोनियां हार गये। पर यह पोनियों के लिए गौरव की बात ही रही कि स्वाधीनता की रक्षा के लिए उन्होंने कायरता नहीं दिखाई। उन्होंने खून की नदियाँ बहादीं। वे बदला चाहते थे, उनके हृदय में आग जल रही थी। उनके नेताओं के साथ जो घात सरदारों ने किया था उसका प्रति-

कार पोनियों ने राठौर नरेश रायसिंह का वध करके किया। 'भारत के देशी राज्य' में भी पोनियों के द्वारा वदला लेने की वात लिखी हुई है।

पोनियां जाटों के राज्य की सीमा झासल (हिसार की सीमा) से मरोद तक थी। मरोद राजगढ़ के दक्षिण में १२ कोस के फ़ासिले पर है। दन्त-कथाओं के अनुसार किसी साधु ने पोनियां सरदार से कहा था कि घोड़ी पर चढ़ कर जितनी जितनी भूमि दवा लेगा वह सव पोनियों के राज्य में आजायगी। निदान सरदार ने ऐसा ही किया। घोड़ी दिनभर छोड़ने के वाद सायंकाल मरोदा में पहुँचने पर मर गई। उस समय पोनियां सरदार ने कहा था:—

"झासल से चाल मरोदा आई। मर घोड़ी पछतावा नांही॥"

पोनियों की पुरानी राजधानी झांसल में जहाँ उनका दुर्ग था, कुछ निशान अब तक पाये जाते हैं। वाल समद में भी ऐसे ही चिह्न पाये जाते हैं।

इनके वंशधरों को संतुष्ट रखने के लिये कुछ उनके मुखियों को राठौर लोगों के राजा देते रहे। इस समय भी दश पोशाक और कुछ नक़द वह प्रति वर्ष राज से पाते हैं।

वेनीवाल

राठौरों से जिस समय अपने राज्य की रक्षा के लिये वेणीवाल जाटवीरों का संघर्ष हुआ, उस समय उनके पास ८४ गाँव थे। राय सेलाणा नाम के स्थान में इनकी राजधानी थी। राजा का नाम रायसल्ल था जो कि वहादुर किन्तु सीधा सरदार था। गोदारा लोग राठौरों से मिल गये थे। इस कारण इनको युद्ध में बहुत लम्बे अर्से तक डटा रहना कठिन था, इसलिए इन्होंने भी आधीनता स्वीकार कर ली। चारण रामरत्न ने वेनीवालों के अधिकार में चालीस गाँव लिखे हैं, किन्तु "वाक़ए-राजपूताना" जिल्द दो में मुंशी ज्वालासहायजी ने १५० गाँव लिखे हैं।

इनके राज्य में बूकरको, सोन्दरी, मनोहरपुर, कूई और बाई जैसे प्रसिद्ध नगर शामिल थे। पोनियां जिनका कि ऊपर वर्णन किया गया है, वेणीवालों से अधिक शक्तिशाली थे। भादरा, अजीतपुर, सीधमुख, राजगढ़, विदरेवा और साँखू किसी समय उनके अधिकार में रहे हैं।

वेणीवाल भी पोनियों की भाँति नागवंशी अथवा शिव गोत्री हैं। वेणी शिर के बालों के गुच्छे को कहते हैं। महादेव की जटाओं से जाटों के पैदा होने की जो फ़िलासफ़ी है, उसके अनुसार वे शिव गोत्री अथवा नाग-वंशी ही हो सकते हैं। बीकानेर के सिवा पंजाब और संयुक्त प्रदेश में भी उनकी आबादी पाई जाती है। बीकानेर राज की ओर से उनके मुखियाओं के लिये पोशाक सालाना ५००) रुपए और ७५) रुपये की नदकार बंधी हुई बताई जाती है। वेणीवाल लोग जांगल के उस भाग के शासक थे, जो अन्य लोगों के राज्यों

से कहीं अधिक उपजाऊ था। भाटों के ग्रन्थों में इनके दान की और ठाठ-वाट की खूब प्रशंसा की गई है।

सारन

भाट ग्रन्थों में राव सारन नाम के भाटी की औलाद में हुए लोगों का नाम सारन है। भाट लोग कहते हैं कि सारन ने जाटिनी से शादी करली थी। इससे उनके वंशज सारन कहलाये, यह नितान्त झूठी गढ़न्त हैं जिनका हमने पिछले पृष्ठों में काफ़ी खण्डन कर दिया है। सारन यादव वंशीय जाट-क्षत्रिय हैं। सारन व उनके पूर्वज जाट थे। वे उस समय से जाट थे, जिस समय कि लोग यह भी नहीं जानते थे कि राजपूत भी कोई जाति है। जांगल प्रदेश में उनके अधिकार में ३०० से ऊपर नगर और गाँव थे। रामरत्न चारण ने उनके अधिकृत गामों की संख्या ३६० बताई है। उनकी राजधानी भाडँग में थी। कैंजर, फोग, बूचावास, सवाई, बदीना और सरसेला उनके अधिकृत प्रदेश के प्रसिद्ध नगर थे। राठोरों से उनके जिस राजा का युद्ध हुआ उसका नाम पूलोजी था। प्रजा इनकी धन-धान्य से पूरित थी। राज्य में पैदा होने वाली किसी चीज पर टैक्स न था। वहाँ से जो चीजें आती थीं, उन पर भी कोई महसूल न था। कहा जाता है कि जांगल देश के ब्राह्मण घी और ऊन का व्यापार किया करते थे। राज्य में जितनी भी जातियों के प्रजा-जन थे, सब के साथ समानता का व्यवहार किया जाता था। सारन शांति प्रिय थे। उनकी प्रवृत्ति थी, "स्वयं जियो और दूसरों को जीने दो"। रत्नू चारण ने अपने लिखे इतिहास में बताया है कि गोदारा जाटों का सरदार पांडु सारणों के अधीश्वर की स्त्री को भगा ले गया, इस कारण जांगल प्रदेश के सभी जाट-राज्य गोदारों के विरुद्ध हो गये। कहना होगा कि जाटों के लगभग तीन हजार गाँवों की सल्तनत को कुल्हाड़ी के बेंट गोदारा पांडु ने नष्ट करा दिया। पांडु यदि राठोरों के हाथ अपनी स्वाधीनता को न बेच देता तो राठौरों पर इतनी आपत्ति आती कि फिर बेचारे जांगल प्रदेश की ओर आने की हिम्मत तक न करते। गोदारों की शक्ति अन्य समस्त जाट-राज्यों की शक्ति के बराबर थी। यह नहीं कहा जा सकता कि जांगल प्रदेश के जाटों को राठौरों ने जीता। जाटों के सर्वनाश का कारण उनकी पारस्परिक फूट थी। उसी फूट का शिकार सारन जाट हो गये। उनका प्रदेश युद्धों के समय उजाड़ दिया गया और वे पराजित कर दिये गये, किन्तु शांति प्रिय सारनों ने जो वीरता अपने राज्य की रक्षा के लिये दिखाई थी, वृद्ध सारन जाट उसे बड़े गर्व के साथ अपनी सन्तान को सुनाता है।

कस्वां

आरम्भ में यह सिन्ध में राज्य करते थे। ईसा की चौथी सदी से पहिले जांगल प्रदेश में आबाद हुये थे। इनके अधिकार में लगभग चार सौ गाँव थे। सीधमुख राजधानी थी। राठौरों से जिस समय युद्ध हुआ था, कँवरपाल नामी सरदार इनका राजा था। इस

वंश के लोग धैर्य के साथ लड़ने में बहुत प्रसिद्ध थे। कहा जाता है दो हजार ऊँट और पांच सौ सवार इनके प्रतिक्षण शत्रु से मुकाबिला करने के लिए तैयार रहते थे। यह कुल सेना राजधानी में तैयार न रहती थी। वे उत्तम कृषिकार और श्रेष्ठ सैनिक समझे जाते थे। राज उनका भरापूरा था। प्रजा पर कोई अत्याचार न था। सत्रहवीं शताब्दी में इनका भी राज राठौर द्वारा अपहरण कर लिया गया। इनके पड़ोस में चाहर भी रहते थे। राजा का चुनाव होता था ऐसा कहा जाता है। चाहरों की ओर से एक वार मालदेव नाम के उपराजा का भी चुनाव हुआ था।

असियाग

इन लोगों को शब्द असि के कारण कुछ इतिहासकारों ने असीरिया से लौटे हुए लिखा है, किन्तु बात ऐसी नहीं है। आरम्भ में यह असीरगढ़ में रहते थे। यहीं से एक भाग यूरोप चला गया, जिसके कारण उनके उपनिवेश का नाम असीरिया प्रसिद्ध हुआ। जांगल प्रदेश में बसने वाले असियाग नाम से प्रसिद्ध हुए। असि तलवार को कहते हैं। कौटिल्य ने शस्त्रोपजीवी और शास्त्रोपजीवी गणों का उल्लेख किया है। असियाग शस्त्रोपजीवी थे अर्थात् जिनकी उपजीविका शस्त्र अथवा तलवार (असि) थी। जांगल प्रदेश के १५० ग्रामों पर इनका अधिकार था। इनके राज्य की सीमा में ही रावतसर, वीरमसर, दांदूसर और गण्डेली आदि थे। इनके राज्य की राजधानी पल्लू में थी। राजा का नाम था चोखासिंह। राठौरों के युद्ध में वर्षों तक लड़ने के बाद इनका भी राज्य नष्ट होगया। अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए असियागों ने कोई कसर न छोड़ी थी। स्वतन्त्रता अपहरण होजाने के बाद भी इन्होंने उद्योग किया कि शत्रु से अपना राज्य छीन लें, किन्तु उस समय तक शत्रु की शक्ति बहुत बढ़ गई थी। देहली के बादशाहों से उस समय राठौरों का सम्बन्ध स्थापित होजाने के कारण यह एकदम असम्भव होगया था कि असंगठित जाट जो कि आपस में ही एक दूसरे के शत्रु बने हुए थे अपना राज वापिस ले लेते।

गोदारा

भारत की स्वतंत्रता को नष्ट कराने में जिस भाँति जयचन्द राठौर का नाम बदनाम है। उसी भाँति जांगल प्रदेश के जाट-साम्राज्य को पाँडु गोदारा ने नष्ट कराकर अपने नाम को जाटों के लिए अहितकारी सिद्ध कर दिया है। आज उसकी संतान के नौजवान इस बात के लिए हाथ मींज सकते हैं कि शासक जाति के होते हुए भी शासित हैं। किन्तु इतिहास में सभी प्रकार की घटनायें हमें मिलती हैं। पाँडु को यह कुछ भी पता न था कि उनकी संतान के जो अधिकार इस समय सुरक्षित हो रहे हैं वह भविष्य में नष्ट हो जावेंगे। इसमें कोई भी सन्देह नहीं पाँडु बड़ा बहादुर सरदार था। उसके गोदारे बांके योद्धा थे। जांगल प्रदेश में सब से अधिक राज्य गोदारों के ही पास थे। उनके अधिकार में ७०० गाँव थे। इसी एक बात से जाना जाता है कि वे प्रसिद्ध योद्धा और महत्वाकांक्षी थे। पाँडु से एक ग़लती हो गई कि वह सारनपूला

की स्त्री को ले गया। कहा ऐसा जाता है कि सारनपूला से पहिले उस स्त्री की शादी पॉंडु को होने वाली थी। पॉंडु ने स्त्री को उड़ाकर गलती ही की। किन्तु सभी जाट राज्यों का उससे शत्रुता कर लेना भी उचित न था। एक ओर से मोहिल जाति गोदारों की शत्रु बनी हुई थी, दूसरी ओर से जैसलमेर के भाटी उन्हें हड़प जाना चाहते थे, तीसरी ओर स्वयं जाट उन्हें मिटाने पर तुले हुए थे। चौथी ओर से प्रबल राठौर आक्रान्ता आ रहे थे। ऐसी हालत में गोदारा क्या करते? आत्म-समर्पण के सिवा उन्हें कोई चारा नहीं दिखाई दिया। उन्होंने राठौरों के साथ जो संधि की थी उसकी 'शर्तें' मांडलिक राजों से कम नहीं हैं। मुन्शी ज्वालासहायजी ने लिखा है—बीका के वंशजों ने उन शर्तों को पालन नहीं किया १।

गोदारों का वर्णन जो 'वाक़ए राजपूताना' में लिखा गया है उसके कुछ अंश हम ज्यों के त्यों देते हैं—

"अपनी क़दीम रियासत जोधपुर से आने के कुछ दिनों बाद बीका २४७० गाँव का मालिक हो गया। चूंकि इन दलों के लोगों ने उसे ख़ुद मालिक स्वीकार कर लिया था, यह स्वीकारी उसे विजय से अच्छी पड़ी। किन्तु तब से अब तक उनमें से आधे देहात बरबाद हो गये हैं। किन्तु सूरतसिंह के ज़माने में तो आधे भी न रहे थे। इस देश के जाट और जोहिया उत्तरी देशों में गाढ़ा नदी तक फैले हुए थे। वे अपना निर्वाह प्रायः पशुपालन से करते थे। भेड़-बकरियों के ऊन और भैंसों-गायों के घी को सारस्वत ब्राह्मणों के हाथ बेच देते थे। उस रुपये से आवश्यक वस्तु मँगा लेते थे। जाटों की प्राचीन सादगी रफ़ा हो के राजपूतों के आधिकृत होने और राज्य बीकानेर के क़ायम होने में चन्द नगर अनुकूल हो गये थे। बीदा के मोहिलों पर विजयी होने से उन्हें विजय करना सुगम हो गया था। किन्तु जाटों में वह फूट न होती जिसने दुनियाँ की प्रायः सल्तनतों को बर्बाद कर दिया है तो सहज ही में बिना ख़ून ख़राबी के सफल न होता। जाटों के छः दलों में से उनके दो बड़े दलों—जोहिया और गोदारों में अन-बन थी। इससे उन्होंने राजी से बीका की हुकूमत को स्वीकार कर लिया। दूसरे वे बीदा की फ़ौज के उस अत्याचार को देख चुके थे जो उसने मोहिलों पर विजय पाने के समय किये थे। तीसरे वे यह भी चाहते थे कि हमारे और जैसलमेर के बीच कोई सरहद क़ायम हो जाय।

१—वाक़ए राजपूताना। जिल्द ३।

गोदारों का सरदार पाण्डु जो शेखसर में रहता था और रूनियों का सरदार जो उससे दूसरे दर्जे पर था गोदारा जाटों की सभा ने इन दोनों को बीका के पास अधीनता स्वीकार करने की बात तय करने को भेजा। उन्होंने बीका के सामने निम्न प्रस्ताव रक्खेः—

[१] जोहिया आदि दीगर फिरकों के मुक़ाबिले में हमारी मदद की जावे। [२] पच्छिमी सीमा की हिफ़ाज़त रक्खें। [३] हमारी जमात के अधिकार और लाभों में कोई हस्तक्षेप न किया जावे। अर्थात् सुरक्षित रक्खें। 'भारत के देशी राज्य' नामक इतिहास में लिखा है कि—"बीका ने उक्त प्रस्ताव स्वीकृत करते हुए कहा था—'मैं' तथा मेरे उत्तराधिकारी किसी भी समय तुम्हारे अधिकारों में हस्तक्षेप न करेंगे। यह बात रहने के लिये मैं यह नियम बनाता हूँ कि मैं और मेरे उत्तराधिकारी राज्याभिषेक के समय तुम और तुम्हारे दोनों नेताओं के वंशधरों से राजतिलक ग्रहण किया करेंगे और जब तक इस तरह राजतिलक न दिया जायगा, तब तक राज-सिंहासन सूना समझा जायगा।"

मुंशी ज्वालासहाय जी "वाक़ए-राजपूताना" में आगे लिखते हैं—इस पर गोदारों ने अपने इलाके में महसूल धुआँ फ़ी घर एक रुपया और जोता ज़मीन फ़ी सौ बीघे पर दो रुपया लगान वसूल करने का अधिकार बीका को दिया।

इस पशु पालक गिरोह के इस तरह इन्तकाल अताअत करने से शौक़ आज़ादी जो आक्सस और जगजार्टिस के किनारे से हिन्दुस्तान के जंगल तक उनके साथ रहा, बखूबी अयां है और अगर्चे उनकी हुकूमत मालिकाना बिल्कुल चली गई है लेकिन उनका राजपूत आक़ाए, उनके नासुमाकिन उल-इन्तकाल बापोती यानी हुकूक मौरूसी पर दस्तन्दाज़ी करना चाहें तो अब भी खूंरेज़ी पर मुस्तैद हैं[१]।

गोदारों की अनबन से बीका को बिना लड़ाई-झगड़ा किए भू-भाग व हुकूमत मिल गई। ऐसा बहुत कम होता है और कुछ एक रस्में जो बतौर

१—यह शब्द हमारे नहीं। 'वाक़ए राजपूताना' जिल्द में मुन्शी ज्वालासहायजी ने ऐसा ही लिखा है। —(लेखक)

यादगार तरज़ हसूल हुकूमत मालिकाना क़दीम वाशिन्दगान मुल्क से कुल हिन्दुस्तान के राजपूतों में जारी है। असलियत की जानकारी के लिये बड़े काम की हैं। फर्मान रवायां मेवाड़ का मुल्क के क़दीम वाशिन्दगान यानी भीलों से तिलक कराना आमेर में खज़ाने व किलआत का मैनों की हिफ़ाज़त व अहतमाम में रहना। कोटा-बूँदी का कदीम मालिकान हाडौती के नाम से मालूम होना और औलाद बीका का जाटों से टीका कराना ऐसी रस्में हैं कि उनके सबब से कदीम मालीकान सर ज़मीन के हकूक और तर्ज़ हसूल रियासत फर्मान वालिया हाल सद्द नहीं हो सकते। आज तक दस्तूर जारी है कि बीका की औलाद में से कोई तख्तनशीन होता है तो पांडु खान्दान का कोई शख्स उसके राजतिलक करता है। उस जाट को राज पचीस अशर्फियां देता हैं। अलावा इसके जिस ज़मीन को बीका ने अपनी राजधानी बनाने के लिए पसन्द किया एक जाट की मुल्क-मौरूसी थी। उसने भी दावा किया कि शहर के नाम के साथ मेरा नाम भी शामिल किया जावे। उसका नाम नेरा था, इस-लिए बीका और नेरा के नाम से शहर का नाम बीकानेर रक्खा गया। इस दवामी यादगार मिल्कियत के सिवा शेखसर और रूनियां के जमींदार होली और दशहरा पर रईस और उसके सरदारों के टीका करते हैं। रूनियां का सरदार अपने हाथ में नकरई तस्त व प्याला लेता है और शेखसर वाला रईस की पेशानी पर तिलक करता है। रईस इनको एक अशर्फी और पांच रुपये पेश करता है। अशर्फी शेखसर वाला ले लेता है और रुपये रूनियां वाले के पास रहते हैं। अन्य सरदार भी इसी तरह अपनी-अपनी हैसियत के अनुसार नज़र करते हैं।"

ऊपर के वर्णन से मालूम होता है कि गोदारों की जो सन्धि बीकाजी के साथ हुई थी वह सम्मान पूर्ण थी। उसमें यह कहीं भी जाहिर नहीं होता कि, उन्होंने अपनी स्वाधीनता खो दी थी। यह ठीक है कि पीछे से शनैः-शनैः उनकी स्वाधीनता नष्ट हो गई। कई इतिहासकारों ने राठौरों को इसके लिए दोष दिया है, कि उन्होंने यह अच्छा नहीं किया कि अपने सहायक गोदारों की स्वतंत्रता नष्ट करदी; उन्हें ठिकानेदारों के रूप में भी नहीं रहने दिया। कुछ लोगों की ऐसी भी शिकायत है, किन्तु हम इस बात के लिए राठोर शासकों एवं बीकाजी के वंशजों को तनक भी दोष देना उचित नहीं समझते। राजनीति में ऐसा होता ही है। यदि हमें भी राठौरों जैसा अवसर प्राप्त होता तो हम भी उनके साथ यही व्यवहार करते।

यह योधेय हैं। प्रजातंत्री समुदायों में यौधेय बहुत प्रसि

जोहिया

जैसलमेर, जांगल और मारवाड़ के बहुत से प्रदेश समय इनका राज रहा है। राठौरों से पराजित हो उनका ६०० गाँवों पर आधिपत्य था। शेरसिंह इनका जैसा नाम था वैसा ही वह शूरवीर भी था। राठौरों को नाकों चने शे चब वाए थे। भूरूपाल में उसकी राजधानी थी।

गोदारों से सन्धि हो जाने के बाद बीकाजी ने कुछ समय अपनं ठीक करने और शक्ति संचय करने में लगाया। जब अवकाश मिला की ओर अपनी सेनायें लेकर जोहिया जाटों पर आक्रमण किया। अपनी सेनायें इकट्ठी करके दोनों शक्तियों का मुक़ाबिला किया। शे बांका योद्धा था। भय उसके पास तनिक भी न फटका था। वा निरन्तर लड़ने वाले शूरों में से था। "देशी राज्यों के इतिहास" में राय भंडारी ने लिखा है:—

"शेरसिंह ने अपनी समस्त सेना के साथ बीकाजी के रि करने की तयारी कर रक्खी थी। बीकाजी जो कई युद्धों के विजेता थे में सरलता से विजय प्राप्त न कर सके। शत्रु-गण अद्भुत पराक्रम आपके छक्के छुड़ाने लगे। अन्त में विजय की कोई सूरत न दे षड्यन्त्र द्वारा शेरसिंह को मरवा डाला[१]।

शेरसिंह के मारे जाने के बाद भी जोहिया जाट विद्रोही बने सहज ही में अधीनता स्वीकार नहीं की। उनका प्रत्येक युवक प्राण लगा कर स्वाधीनता की रक्षा करना चाहता था। जब भी उनका कोई हो जाता विद्रोह खड़ा कर देते। शेरसिंह के बाद उन्हें कोई उतना नहीं मिला। जोहिया जाट राठौरों को जांगल प्रदेश से अवश्य ही खदे गोदारे उनके साथ न होते। गोदारों की भी शक्ति जोहियों से कम न प्रबल शत्रुओं के मुक़ाबिले में आखिर उन्हें विवश होकर पराजित ह धीरे-धीरे उनका विद्रोही स्वभाव भी जाता रहा। जाटों से अब राठौ हो गये। जाट और राठौरों की सब से बड़ी लड़ाई सीधमुख के पास में हुई थी[२]।

१—'वाक़ए-राजपूताना' में भी यही बात लिखी है। २—रा

ठा० मंगलसिंह जी कागारौल, आगरा।

सूबेदार ठा० चरनसिंह जी
कागारौल (आगरा)
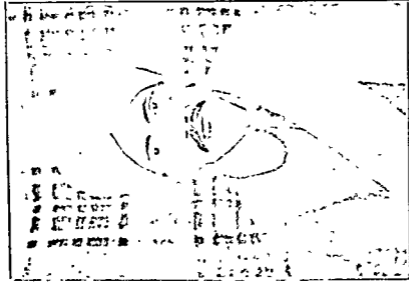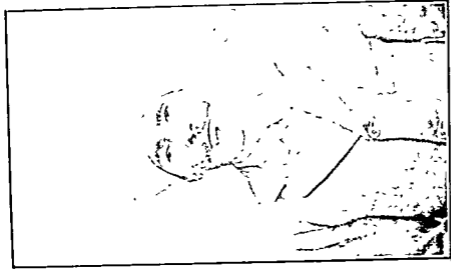
सरदार चौ० कुरड़ाराम जी तहसीलदार
नवलगढ़, मु० वास कुलोठ (सेखावाटी)

चौधरी लादूराम जी, किसारी।
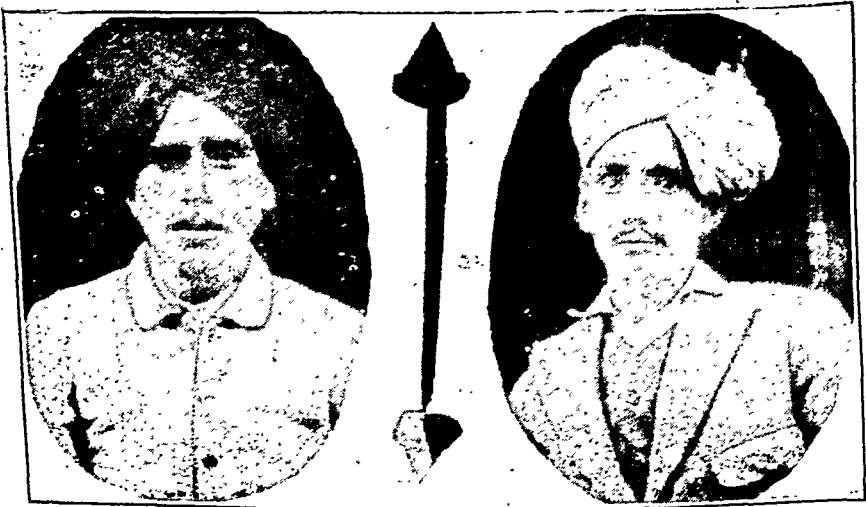
चौधरी किशनलाल जी थाना, ब्यावर।

पं० हरिश्चन्द्र जी पैंघोर, भरतपुर।

इन जाट राज्यों की शासन-व्यवस्था कैसी थी ? इस सम्बन्ध में बहुत कम सामिग्री मिलती है। किन्तु यह दावे के साथ कहा जा सकता है कि जितना प्रजा के लिये उनके शासन में सुख और आजादी थीं, वह अब स्वप्न की बात है। इनके राज्य प्रजातंत्री प्रणाली के थे किन्तु सरदार वंशानुगत होता था। फिर भी अयोग्य व्यक्ति को राजा या सरदार नहीं बनाया जाता था। बड़े सरदारों के नीचे छोटे-छोटे सरदार भी होते थे। गोदारा लोगों में शेखसर का पांडु बड़ा सरदार माना जाता था, वह कुल गोदारों तथा गोदारे राज्य का सरदार था। दूसरे दर्जे का सरदार रोनियाँ में रहता था। एक तीसरे सरदार नेरा का भी पता चलता है जिससे कि बीकाजी ने अपनी राजधानी स्थापित करने के लिये जगह माँगी थी। ये सब सरदार आन्तरिक मामलों में स्वतंत्र थे, लेकिन युद्ध के समय सब को बड़े सरदार की आज्ञा मानना आवश्यक था। युद्ध-विग्रह और सन्धि जैसे महत्व पूर्ण विषयों के निर्णय करने में प्रधान सरदार भी स्वतंत्र न था। ऐसे मामले सभा द्वारा निश्चित होते थे। ऐसी सभायें दो प्रकार की होती थीं—एक सरदार सभा अथवा साधारण सभा, जिसमें केवल सरदार ही उपस्थित होते थे। दूसरी ज्ञाति सभा जिसमें समस्त कुलपति बैठते थे। दूसरे प्रकार की सभा बुलाने की आवश्यकता बहुत कम होती थी। एक तीसरे प्रकार की नगर सभा भी थी। छोटे सरदार, पटेल और चौधरी इन्हीं नगर सभाओं की सहायता से कार्य करते थे। नगर सभाओं के सदस्य कुलपति होते थे। कुलपति वे कहे जाते थे जो एक परिवार के नायक होते थे। कुल की गणना एक ही दादा की सन्तान के कुटुम्बी जनों की की जाती थी। कुलपति थामे के नाम से भी कहीं-कहीं पुकारे जाते थे। राठौर पति बीकाजी के साथ युद्ध किया जाय अथवा मित्रता इस बात का निर्णय गोदारों की सरदार सभा द्वारा हुआ था। इस सरदार सभा को ही सुखसम्पत्तिरायजी भंडारी ने अपने 'भारत के देशी राज्य' नामक इतिहास में साधारण सभा लिखा है। उनका तात्पर्य थोड़े से आदमियों की सभा से है। समस्त गोदारे सरदारों (नेता-मंडल) ने जो निश्चय किया था उसे बीकाजी के सामने रखने के लिये शेखसर और रूनियाँ के सरदार गए थे।

शासन-व्यवस्था

सेना इनकी दो भाँति की हुआ करती थी, एक तो वह जो राजधानी में प्रति क्षण तैयार रहती थी; इस सेना को वेतन दिया जाता था। दूसरी तरह की सेना स्वयम् सेवक-सेना समझनी चाहिये। इस सेना के नौजवान किसी सरदार के निकट रह कर अथवा केन्द्रीय राजधानी में जाकर युद्ध-विद्या सीखते थे। फिर निरन्तर अपने घर के काम-धन्धों में लगे रहते थे। होली-दशहरा अथवा अन्य ऐसे ही निश्चित दिवसों पर किसी मुख्य स्थान में रह कर ऐसे सैनिक अपनी योग्यता का परिचय देते थे। बनेटी के हाथ दिखाने, अग्नि बाण, गोफन और तीरों से निशाना लगाने आदि के कर्तव्यों का प्रदर्शन होता था जो

दंगल, मेला और प्रदर्शन के नाम से पुकारे जाते थे। श्रेष्ठ रहने वालों को पुरष्कार दिया जाता था। पुरष्कार में वस्त्र, मिठाई और रुपया दिये जाते थे। ऐसे सैनिकों के लिए भूमि बिल्कुल मुफ्त मिलती थी। कोई भी कुटम्ब या घर ऐसा न होता था जिनके यहाँ से एक दो सैनिक न हों। वृद्ध लोग स्वयं भी अपने बच्चों को शास्त्र विद्या सिखाते थे। प्रत्येक घर में सभी तरह के हथियार रहते थे। युद्ध अधिकतर ऊँटों पर चढ़कर करते थे। सरदार रथ में बैठकर युद्ध करता था। युद्ध के समय रसद गाँव वाले पहुँचाते थे। पहिले से सेना के आने की खबर सुनकर नगर के पास घने वृक्षों की छाया में खाने-पीने और ठहरने का प्रवन्ध प्रत्येक गाँव कर देता था। खास अवसरों पर हथियार पहुँचाने का काम स्त्रियों द्वारा भी किया जाता था। यहाँ तक होता था कि कभी-कभी तो सैनिकों के लिए गाँवों में घरों से रोटियाँ गाड़ियों में भरकर तथा सिरों पर रखकर सेना में पहुँचा देते थे। सारांश यह है कि युद्ध के समय सारा राष्ट्र ही लड़ता था। सेना के कम होने पर आवाहन का बाजा या टामक (ढोल) बजाया जाता था। खतरे के समय भी ऐसा ही बाजा बजाया जाता था। ऐसे बाजे के बजने पर चुप बैठ रहना या काहिली दिखाना पाप समझा जाता था।

केन्द्रीय तथा स्थानीय सरदार कुछ टैक्स भी लेते थे किन्तु वह बहुत ही थोड़ा होता था। साल भर में प्रत्येक घर से एक रुपया या इससे कुछ अधिक लिया जाता था। जमीन पर तो नहीं किन्तु पैदावार पर कुछ अन्न-कर स्वरूप लेने की पृथा थी जो बैलों के अनुपात से भी कहीं-कहीं बसूल होता था।

गोदारा लोगों ने बीकाजी से संधि करने पर ऐसे ही अधिकार उससे प्राप्त किये थे। "वाक़ए राजपूताना" में प्रति घर धुआँ टैक्स एक रुपया और प्रति सौ बीघे उपजाऊ जमीन पर दो रुपया के हिसाब से देने की स्वीकारी करने का उल्लेख है।

गाय, भैंस, ऊँट और भेड़ सभी लोग पालते थे। सरदार लोगों के यहाँ पशुओं की संख्या और भी अधिक रहती थी। शिक्षक लोगों को जमीन दान दी जाती थी। प्रजा के सभी लोगों के साथ समानता का व्यवहार होता था। न्याय का काम चौधरियों के हाथ रहता था। राज्य में आने वाली चीजों पर कोई टैक्स न था और न बाहर से आने वालियों पर। प्रजा के प्रत्येक व्यक्ति उन राज्यों को अपना ही राज्य समझता था। इस बात का सबसे बड़ा प्रमाण "भारत के देशी राज्यों के इतिहास" की इन लाइनों में पूर्णतः मिल जाता है:—

"यद्यपि बीकाजी ने जोहिया जाटों को परास्त करके उन्हें अपने अधीन कर लिया था; तथापि वे बड़े स्वाधीनता प्रिय थे, और अपनी हरण की हुई स्वाधीनता को फिर से प्राप्त करने का प्रयत्न कर रहे थे। अतः रायसिंहजी ने अपने भाई रामसिंहजी के संचालन में एक प्रबल राठौर-सेना उनके दमन

करने के लिए भेजी। इस सेना ने वहाँ पहुँचकर भयंकर काण्ड उपस्थित कर दिया। प्रबल समराग्नि प्रज्वलित होगई। हजारों जोहिया जाट-गण स्वाधीनता के लिए प्राण-विसर्जन करने लगे। वीर राठौर भी अपने ध्येय से न हटे। उन्होंने इस देश को यथार्थ मरुभूमि के समान कर दिया।"

बीकाजी से लेकर रायसिंह तक जोहिया-वंश के जाट योद्धाओं ने लगातार युद्ध किये। बार-बार स्वाधीनता प्राप्त करने के लिए प्रयत्न किये और वे प्रयत्न उनके तबतक जारी रहे जबतक कि भयंकर काण्ड करके राठौरों ने उनके देश को यथार्थ मरुभूमि न बना दिया।

इनके राज्यों में सिक्के का प्रचलन था। किन्तु वह सिक्के कौनसे थे ? कैसे थे ? किस धातु के थे ? यह तो पता अभी नहीं चला। किन्तु इतना पता अवश्य चला है कि सारस्वत ब्राह्मण के हाथ इनके राज्यों की प्रजा ऊन और घी बेचकर बाहर से आवश्यक वस्तुयें मँगाती थी। गोदारों ने बीकाजी से धूत्राँ टैक्स रुपयों में ठहराया था। तब अवश्य ही इनके यहाँ कोई इनके ही सिक्के थे क्योंकि उस समय तक अर्थात् चौदहवीं-पन्द्रहवीं शताब्दी के आरम्भ और अन्त तक भारत में कोई विदेशी शासक तो ऐसा था नहीं जिसका प्रभाव जांगल देश तक हो। वैसे गोदारा आदि जातियाँ इतनी शक्तिशाली थीं कि बिना मर-मिटे किसी के काबू में आने वाली न थीं। यह नितान्त स्वतन्त्र राज्य थे। किसी के मांडलिक भी न थे। तब अवश्य ही इनके यहाँ अपने सिक्के रहे होंगे।

धार्मिक रस्म-रिवाजों में यह पूर्ण उदार थे। सारांश यह है कि जितनी भी इन राज्यों की शासन-व्यवस्था की झाँकी हमें दिखाई दी है वह श्रेष्ठ तो है ही साथ ही भव्य भी है।

धौल्या

इस वंश के जाट राजस्थान के विभिन्न भागों में पाये जाते हैं। किशनगढ़ और मारवाड़ की भूमि पर राठौरों से बहुत पहिले ये लोग राज करते थे। महा पुरुष तेजाजी जो कि आज राजस्थान में देवता मान कर हनुमान और भैरव की भाँति पूजे जाते हैं, उसी प्रसिद्ध राजवंश में पैदा हुए थे। 'तारीख अजमेर' में तेजाजी के सम्बन्ध में लिखा हुआ है कि:—*जाटों के तेजाजी कुल-देवता हैं। उनका जन्म मौजा खिडनाल परगना नागोर में हुआ था। वह धौल्या गोत के जाट थे। मौजा पनेर इलाका रूपनगर में उनकी शादी हुई थी।"*

कुछ लोग तेजाजी की जन्म-भूमि रूपनगर ही बताते हैं। उनकी जन्म-भूमि खिडनाल थी या रूपनगर इस प्रश्न का हल सहज में हो सकता था, यदि लेखक महानुभाव तेजाजी के समय की राजस्थान की राजनैतिक स्थिति से परिचित होते। तेजाजी का जन्म संवत् १०४० के आस-पास हुआ था, क्योंकि 'तारीख अजमेर'

में उनकी मृत्यु का समय मार्गशीर्ष सुदी दशमी संवत् १०७२ विक्रमी बताया है। वे तरुण अवस्था में स्वर्गवासी हुए थे। इसीलिये हम ने उनका जन्म-समय संवत् १०४० के आस-पास माना है। उस समय समग्र भारतवर्ष छोटे-छोटे राज्यों में बँटा हुआ था। भारत में वल्लभी और भटिंडा (लाहौर) के दो राज्य अवश्य बड़े थे। राजस्थान में उस समय सर्वान्श में नहीं तो अधिकांश में गण-राज्य (पंचायती शासन) थे। नागौर से नाग विताड़ित कर दिये गये थे। गूजर लोग भीनमाल से ख़ारिज हो चुके थे। जातियों में परस्पर संघर्ष भी चल रहा था। तेजाजी के पिताजी स्वयं एक प्रजातन्त्र के सरदार थे। उनका नाम ताहरजी था। कुछ लेखकों ने बक्सारामजी लिखा है, किन्तु खिडनाल के जाट जो तेजाजी के सगोत्री हैं, वे ताहरजी बतलाते हैं। ताहरजी के राज्य में खिडनाल और रूपनगर प्रसिद्ध स्थान थे। उनका राज्य इतने क्षेत्रफल वाला था, जिसके अन्तर्गत रूपनगर और खिडनाल दोनों आ जाते थे। तेजाजी भक्ति-प्रकृत के व्यक्ति थे। इसलिये वे घर के और राज के प्रबन्ध से उदासीन रह कर साधु-सन्तों की सेवा में लगे रहते थे। वे खिडनाल और रूपनगर दोनों ही स्थानों पर जब जहाँ इच्छा होती रहते थे।

तेजाजी कुल सात भाई थे। छः की संतान अब तक मौज़ा खिडनाल में (जो कि पहिले करनाल कहलाता था) रहती है। तेजाजी ने तप करने में पराकाष्ठा कर दी थी। उनका विवाह बाल्य-अवस्था में ही हो चुका था किन्तु तेजाजी को संतों की संगति में देख कर माँ-बाप की यह हिम्मत न होती थी कि उनसे बहू को लाने के लिये कहा जाय। तेजाजी के गोत्र के लोगों का उस समय नाग जाति के लोगों से झगड़ा चल रहा था। किन्तु तेजाजी ऐसे झगड़ों से दूर ही रहते थे। उनके पिता ने आखिर तेजाजी को गौ सेवा पर नियुक्त किया। उस समय जनपदों के शासक पशु ख़ूब रखते थे। उनके राज्य में अनेक तालाब थे, बावड़ी थीं और साथ ही बाग-बगीचे भी थे। वे एक तालाब के किनारे ईश्वर-भक्ति कर रहे थे। उस समय एक गूज़री ने, जिसका नाम माना बताया जाता है बड़ा चुभता हुआ मज़ाक तेजाजी से किया। उसका भाव यह है—"जिसकी स्त्री युवावस्था में तड़पै और उसका मर्द सन्त बना फिरै"। तेजाजी को यह बात चाट गई, वे ससुराल जाने के लिये उसी समय प्रतिज्ञा कर बैठे। ससुराल जाने से पहिले उन्हें बहिन के यहाँ भी जाना पड़ा। उनकी बहिन का नाम राजा और बहनोई का जौंरा था। कुछ लेखकों ने लिखा है बहिन के यहाँ से लौट कर तेजाजी ससुराल को पहुँचे। ससुराल वाले भी पूरे वैभवशाली थे। उनका राज्य भी भरा पूरा था। उनकी लड़की बोदल (जो कि तेजाजी को ब्याही गई थी) के अलग बगीचे और बावड़ी थे। तेजाजी से उनकी ससुराल वाले अप्रसन्न तो थे ही क्योंकि जवान लड़की को घर में देख कर उन्हें रंज होता था, इसलिये उनका कोई अच्छा सत्कार नहीं हुआ। उनकी ससुराल का गाँव पनेर राज्य जैपुर में बनास नदी के किनारे पर कहीं था। उस समय जैपुर के विभिन्न भागों पर मैना जाति का राज्य था। मैना लोग पड़ोसी राज्यों के
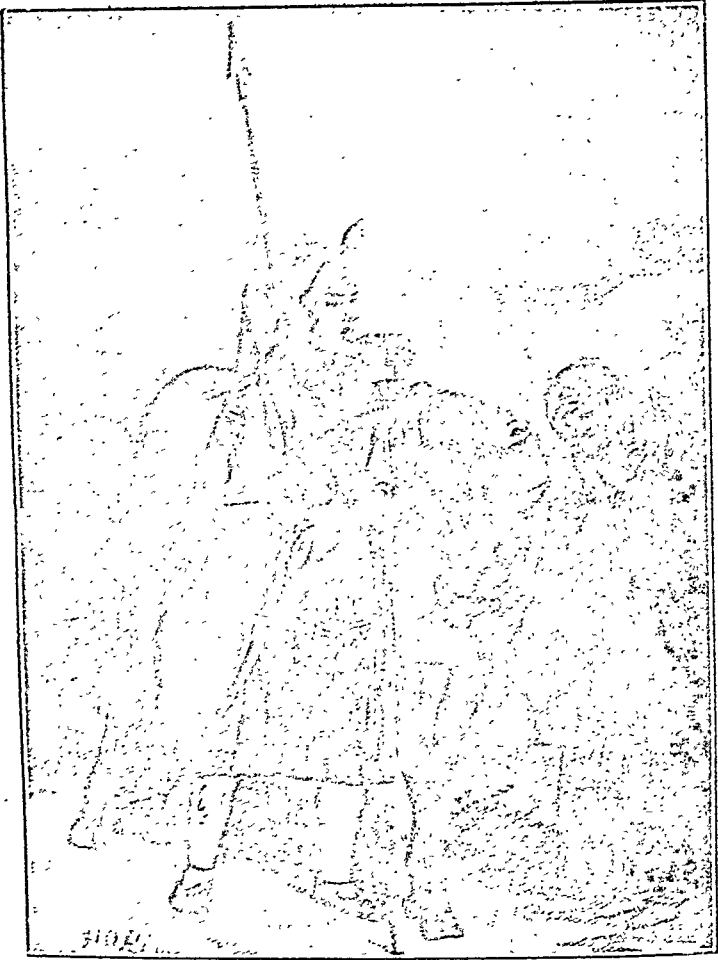
वीर तेजा जी।

प्रजाजन के पशुओं को चुरा ले जाते थे। पनेर में उसी दिन मैनाओं ने आक्रमण करके एक गूजरी के गायों के समूह को चुरा लिया। तेजाजी के ससुर बदनाजी बड़े प्रसिद्ध पुरुष थे। वे उस समय कहीं बाहर गये हुए थे। तेजाजी ने जब मैनों की गाय चुराने की कहानी सुनी तो वे अपनी लीला नाम की घोड़ी पर सवार होकर मीणों के पीछे पड़े। मीणों की संख्या १५० तक बताई जाती है। संभव है तेजाजी के साथ भी दस बीस आदमी हों, किन्तु कहा जाता है कि तेजाजी अकेले ही थे। यह बात उनका महत्व बढ़ाने के लिये कही गई है। तेजाजी इस युद्ध में सख्त घायल हुए। मीणे परास्त हुए। तेजाजी की कीर्ति चारों ओर फैल गई।

ससुराल से लौटते समय तेजाजी पर महान संकट आया अथवा यह कहना चाहिये कि तेजाजी का वह समय आ गया जिसे अन्तिम काल कहते हैं। बालू नाम के नाग ने उनका रास्ता घेर लिया। उसने शत्रुता निभाने का यह सबसे अच्छा मौक़ा समझा। कहा जाता है पहिली बार भी इसने तेजाजी को ललकारा था किन्तु उस समय तेजाजी ने उससे यह इच्छा प्रकट की थी कि मैं ससुराल जाना चाहता हूँ, अपनी स्त्री से मिलने के बाद मैं अवश्य इधर आऊँगा। घायल तेजाजी और उनकी वीर विदुषी स्त्री बोदल ने नाग और उसके साथियों का मुक़ाबिला किया। तेजाजी और उनकी धर्म-पत्नी मारे गये किन्तु बालू नाग भी उन्होंने धराशायी कर दिया। बालू ने तेजाजी की अचेत अवस्था में जिह्वा काटने का प्रयत्न किया था। उनकी घायल घोड़ी भाग कर खड़नाल आ गई। उनकी रानी बोदल के और उनके शव खड़नाल लाये गये। तेजाजी शत्रुओं से लड़ते हुए शहीद हुए थे, इसलिये वे जुझार तेजा कहलाने लगे। नाग बालू के मारे जाने से अन्य नाग भी उस प्रान्त को छोड़ कर भाग गए। चारों ओर शांति हो गई। नाग बड़े कड़वे मिजाज के और सर्व लोगों को दुःखदायी थे। नागों से तेजाजी के शहीद होने से लोगों का पीछा छूट गया। सफल चित्रकार ने तेजाजी का ऐसा चित्र तैयार कर दिया जिसमें उनकी शहादत का पूरा इतिहास आ जाता है। वे पाँचों हथियार बांधे हुए लीला घोड़ी को थामे खड़े हैं। नाग उनके गले में लिपटा हुआ है। शरीर ख़ून से लथपथ है। पास में रानी बोदल खड़ी हैं। तेजाजी के सिर पर कलंगी भी है जो उनके राज-पुत्र होने की सूचना देती है।

तेजाजी की पूजा पहिले उनके राज्य, उनके बहनोई के राज्य तथा ससुराल वालों के राज्य में आरम्भ हुई। पीछे से सर्वत्र राजस्थान में आरम्भ हो गई। उनके नाम का असर और प्रयोग यहाँ तक हुआ कि सर्प (नाग) काटे का इलाज होने लगा। विश्वास और भावनाओं में राजस्थान में यहाँ तक परिपकता आ गई है कि उनके नाम की डसी बाँधने से सर्प के विष का असर नहीं होता है।

राजपूताने में अनेक स्थानों पर तेजा जी के मेले भरते हैं। अनेक स्थानों पर उनके मन्दिर हैं। भादों सुदी दसमीं को सहस्रों यात्री उनके मन्दिरों पर पहुँच

कर चढ़ावा चढ़ाते हैं। राजा, रईस, गरीब, अमीर, ब्राह्मण, क्षत्री सभी तेजा जी के भक्त हैं।

तेजा जी का सब से बड़ा मेला पर्वतसर राज्य जोधपुर में होता है। वहाँ तालाब के किनारे उनकी संगमरमर की मूर्ति है। तेजाजी घोड़े पर सवार तलवार, ढाल, बल्लम आदि शस्त्रों से सुसज्जित हैं। दूसरी ओर उनकी सती रानी घोड़ी पर सवार बाँये हाथ में सर्प पकड़े हुए हैं। मन्दिर में एक शिला लेख है, जिस पर 'संवत् १७६१ शाके १६५६ भादवा वदी ६ भृगुवासरे महाराजाधिराज श्रीश्री १०८ श्री श्री अभयसिंहजी तस्या प्रधानों भंडारीजी श्री विजयराजजी श्री तेजाजी की प्रतिष्ठा' अंकित किया हुआ है। कहा जाता है भंडारीजी ने तेजाजी की मूर्ति सुरसुरे से जहाँ कि तेजाजी शहीद हुए थे उन्हें पर्वतसर में लाकर स्थापित की थी। सुरसुरा गाँव किशनगढ़ राज्य में है।

भादों सुदी एकादशी को पर्वतसर में जोधपुर राज्य के बड़े बड़े अफ़सर जो कि मेले में तैनात होते हैं वे और हाकिम साहब पर्वतसर शुभ मुहूर्त में तेजाजी का झंडा खड़ा करते हैं। झंडा पर्वतसर हुकूमत से मय लवाजमे के लाया जाता है। २० सवार २५ पैदल और २० पुलिसमैन मय अफ़सरों के ठीक समय पर झंडे को सलामी देते हैं। झंडा खड़ा करने की आज्ञा देने से पहिले जाटों को संबोधित करके कहा जाता है—जाटो ! आओ !! झंडा उठाओ !!! झंडे को सभी लोग हाथ लगाते हैं। झंडा खड़ा होते ही ११ तोपों की सलामी होती है। झंडा प्रति वर्ष नया बदला जाता है। चौवीसों घण्टे बाजे, ढोल मेले के दिनों में बजते रहते हैं।

उनकी जन्मभूमि खड़नाल में तेजाजी का मन्दिर गाँव के बीचोंबीच है। वह बहुत पुराना है। उसका जीर्णोद्धार संवत् १६४३ में हुआ है। वहाँ एक शिला-लेख में उन लोगों के नाम हैं जिन्होंने मन्दिर की मरम्मत कराई थी। शिलालेख में एक दोहा है जो इस तरह है:—

खिजमत हतो खिजमत, अजमत दिन चार।
चाहे जन्म बिगार दे, चाहे जन्म सुधार॥

खिड़नाल गाँव के पूर्व में एक तालाब के किनारे तेजाजी की एक दूसरी बहिन का मन्दिर है। उसका नाम बागल था। वह सती हो गई थी। इस पर मेला भरता है—

किशनगढ़, बूंदी, अजमेर आदि प्रदेशों में कई स्थानों पर और भी तेजाजी के मन्दिर हैं।

यह जाट जाति के प्राचीन गौरव की एक हल्की सी झाँकी है। जुझार तेजा महापुरुष थे। महापुरुषों में सभी का साझा होता है और सभी जातियों में महा-पुरुषों की पूजा होती है।

राजस्थान की वीर भूमि पर जाटों ने जो सुख उपभोग किया था आज उतना ही उनके लिए दुख है। उनकी वर्तमान अवस्था को देखकर लोगों को यह ख्याल नहीं होता कि एक समय समग्र राजस्थान उनके अधिकार में रहा है। साम्राज्य के रूप में नहीं तो स्वतंत्र और जनतंत्र के रूप में तो वे उसके अधिकारी रहे ही हैं। यदि पूर्ण रूप से खोज की जाय तो अनेकों शिलालेख और सिक्के जाट राज्यों के राजस्थान की भूमि में प्राप्त होंगे। पण्डित जयरामजी आयुर्वेदाचार्य ने किशनगढ़ में भी ऐसे निशानात और शिलालेख देखे थे जिनके आधार पर उन्होंने वहाँ जाट राज्य होने का वर्णन 'जाटवीर' में प्रकाशित कराया था। उन्हें राजस्थान की भूमि पर के एक जाट राज्य का सिक्का भी मिला था।

परिहार, चौहान, सोलंकी और राठौर आदि के आने के समय तक राजस्थान जाटों के हाथ में रहा है। मींणा और गूजरों से भी पहिले उनके इस प्रदेश में अनेक प्रजातंत्री राज्य थे। कहा जा सकता है कि भीलों के बाद राजस्थान की आदि भोक्ता जाति, जाट-जाति ही है। राजस्थान में वे बहुत प्राचीन समय से बस रहे हैं। यही कारण है कि उन्होंने वर्तमान के अनेक कष्ट सहकर भी अपनी मातृ-भूमि को नहीं छोड़ा है। कर्नल टाड के समय तक उनके पास बापोती थी अर्थात् अपने बाप दादों से प्राप्त हुई भूमि के वे स्वतंत्र मालिक थे। कोई उनसे उनकी भूमि को छुड़ा नहीं सकता था।

इसमें तनक भी सन्देह नहीं कि राजस्थान निवासी जाटों का भूतकाल अति उन्नतावस्था में था और वे इस प्रदेश के अधिकांश भाग के लम्बे अर्से तक शासक रहे हैं।

भरतपुर राज्य

सीमा और विस्तार

किसी समय भरतपुर राज्य बहुत बड़ा था। इटावा से अलवर तक उसकी लम्बाई थी और देहली से हिण्डौन तक चौड़ाई थी। इस समय केवल ७६ मील लम्बाई और ४८ मील चौड़ाई है। इसके उत्तर में गुड़गाँव जिला, दक्षिण में जयपुर करौली-राज्य, पूर्व में मथुरा-आगरा और पच्छिम में जयपुर-अलवर राज्य हैं। भरतपुर राजस्थान का पूर्वी फाटक है। राजस्थान की वर्तमान रियासतों में विस्तार के अनुपात से कुछेक से यह छोटा है किन्तु उसकी प्रतिष्ठा बहुत बड़ी है। बाहुबल से अर्जित किया हुआ राज्य होने के कारण वह लोक का श्रद्धा-भाजन है। जिस राजवंश का इस समय भरतपुर में शासन है उसने इसकी स्थापना सन् १७३३ ई० में की है।

भरतपुर राज्य में पचासों ऐसे स्थान हैं जो ऐतिहासिक होने का महत्व रखते हैं। किन्तु इस समय के प्रसिद्ध स्थानों में ब्याना, कुम्हेर, डीग और कामां हैं। यह चारों ही नगर अति प्राचीन हैं। ब्याना में आरम्भ में वाना (जाटों का एक गोत्र विशेष) लोगों की राजधानी थी। वाना चन्द्रवंशी थे, उन्होंने ईरान में जाकर भी अपना उपनिवेश बसाया था। ईरानी आर्यों को भारतीय आर्य असुर कहते थे। ऊपा देवी का ब्याने में मन्दिर है जो वान लोगों की कन्या थी। वान लोग श्री कृष्ण के ज्ञाति-तंत्र (संघ) के आरम्भ में विरोधी थे, किन्तु पीछे से वह भी ज्ञातिवादी ज्ञात (जाट) हो गए। यहाँ 'फक्क' वंश का भी राज रहा है क्योंकि शिलालेख में फक्क वंश का हाल लिखा हुआ है। संभव है 'फक्क' लोग आगे चल कर फौगाट के नाम से मशहूर हो गए हों। इसका पुराना नाम शोणितपुर भी वताया जाता है। यहाँ एक लाट है जिसे भीम की लाट कहते हैं। वास्तव में यह यज्ञ-स्तूप है। "व्रजेन्द्रवंश भास्कर" में लिखा है:—"*महाराज वरिक् विष्णु वर्द्धन ने संवत् ४२८ वि० में यहाँ यज्ञ किया था*[१]।" यह विष्णुवर्द्धन महाराजा यशोधर्मा मन्दसौर वाले के पिता थे जिसने कि हूणों को हराया था और जिसके शिलालेख में संवत् ५८६ अङ्कित है। महाराज विष्णुवर्द्धन वरक (वरिक्) गोत्री जाट थे, यह आगे के पृष्टों में लिखा जायगा। ब्याने पर मुसलमानों का आक्रमण अबूवकर के समय में हुआ था। कुम्हेर को कुम्भीरगढ़ अथवा कुवेरपुर भी कहते थे। इसे कुम्भ नाम के जाट सरदार ने बसाया था। दीग का पुराना नाम दीर्घ वताया गया है। स्कन्ध पुराण में इस स्थान को तीर्थों की श्रेणी में गिना है। देहली का लूट का बहुत सा सामान यहाँ देखने को मिलता है। कामां जिसे कि काम्यवन कहते हैं पहिले यहाँ काम्यक लोगों का राज था। इसका पहिला नाम ब्रह्मपुर भी वताया जाता है। यदुवंशी राजा कामसेन ने इसका कामां नाम रक्खा ऐसा उल्लेख "व्रजेन्द्र-वंश भास्कर" में है।

प्रसिद्ध स्थान

इस समय भरतपुर पर सिनसिनवार गोत्र के जाट सरदारों का राज्य है। भरतपुर राज्य में डीग के पास सिनसिनी एक गाँव है। भरतपुर से पहिले यही इनकी राजधानी थी, इसलिए यह सिनसिनिवार के नाम से प्रसिद्ध हैं, ऐसा अनुमान लोगों को लगाना पड़ा है। सिनसिनी का पहिला नाम शूरसैनी था और सौरसैन लोगों की यह राजधानी थी। सौरसैन लोगों का किसी समय बड़ा प्रभाव था। उनकी सभ्यता यहाँ तक बढ़ी-चढ़ी थी कि उत्तरी भारत में बोली जाने वाली भाषा ही उनके नाम से सौरसैनी कहलाती है। सौरसैन लोग चन्द्रवंशी-क्षत्रिय थे। भरतपुर का राजवंश भी चन्द्रवंशी है किन्तु यह वृष्णि-शाखा के चन्द्रवंशी हैं जिसमें कि स्वयं भगवान्

वंश-परिचय

१—व्रजेन्द्रवंश भास्कर। पे० १८८।
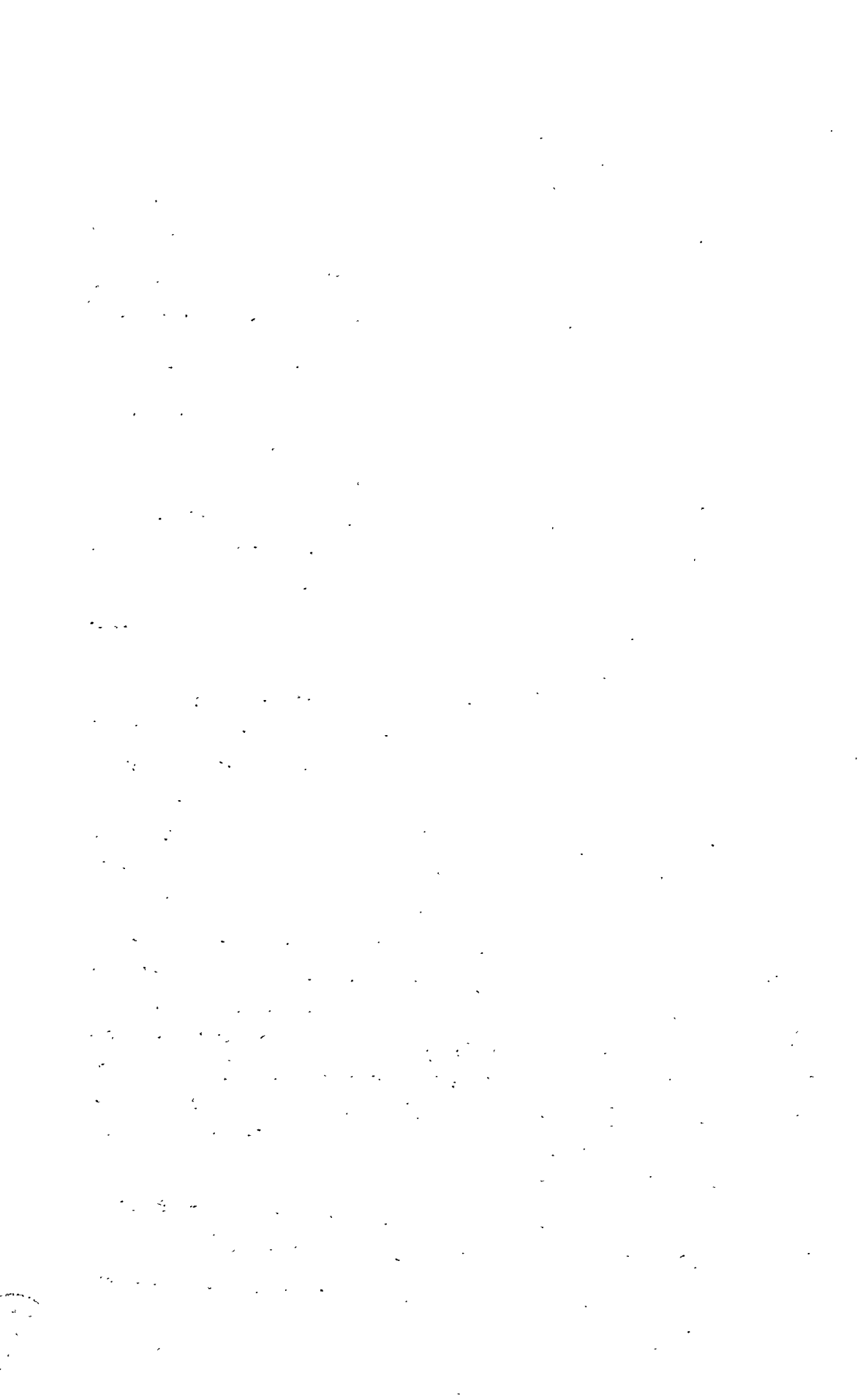
श्रीकृष्ण हुए थे। द्वारिका का ज्ञाति-राज्य नष्ट होने पर यादवों के समूह 'जदु का डूंग' बज्रपुर (साइबेरिया) ग़ज़नी (अफ़ग़ानिस्तान) हिरात (ईरान) आदि में फैल गये। सिन्ध में यादवों का एक समूह 'शिन' (वैदिक देवता) का उपासक था जिसके मोहन जोदारो की खुदाई में कुछ क्रीट और सिक्के मिले हैं। एक क्रीट के ऊपर **"शिन शनि सिनी"** लिखा हुआ है१। यजुर्वेद अध्याय ८ में **"शिनाय स्वाहा"** आता है। एक मुहर पर लिखा मिला है **'सिनी ईसर'** अथर्ववेद में **"सिनी वाली"** शब्द सिनी देवता के लिए प्रयोग किया गया है। सिन्ध देश से इस समुदाय ने लौट कर फिर से व्रज में अपना प्रभुत्व स्थापित करना चाहा। पहिले ब्याना पर अपना अधिकार जमाया। कुछ समय पश्चात सोहेदेव ने शौर-सेनी से बलाई लोगों को निकाल कर अपना अधिकार जमाया। अब सूरसैनी का नाम शिव देवता के उपासक लोगों के कारण शिन सूरसैनी अथवा शिन-सिनी हो गया और वे लोग सिनसिनवार पुकारे जाने लगे। क्योंकि उनका एक समूह सुग्रीवगढ़ में जाकर सुग्रीवगढ़िया या सौगढ़वार कहलाने लग गया था।

ब्याना से इन यादवों का एक समूह दूसरी ओर चला गया और आजकल वह करौली के यादव के नाम से मशहूर हैं। करौली के यादव-राजपूत कहे जाते हैं और भरतपुर के यादव-जाट। इसका कारण साम्प्रदायिक भिन्नता है। भाट ग्रन्थों में इनके वंश का परिचय उसी बेढंगी और मूर्खता पूर्ण शैली से दिया है कि बालचन्द्र ने जाटिनी का डोला लिया, उससे दो पुत्र हुए, वे जाट कहलाने लगे। किन्तु सिनसिनवाल क्यों कहलाये इसका कोई कारण नहीं बताया! हमने ऐसी थोथी धारणाओं का काफ़ी खंडन किया है। यह बातें इतनी झूठ हैं कि अनेक भाटों की किताबें देखने से वे सहज ही झूठी साबित हो जाती हैं। गोधारा लोगों को चित्तौड़ के राजपूतों में से जहाँ अनेक भाटों ने लिखा है वहाँ सिनसिन-वालों की वंशावली रखने वालों ने उन्हें भज्जा सिनसिनवाल के पुत्र गंगदेव की औलाद बताया है२। नवीन हिन्दू-धर्म के मुरीद होते ही करौली के यादवों ने भरतपुर के यादवों की अपेक्षा राजपूतों में अपना चलन कर लिया। भरतपुर के यादव आरम्भ में प्रजातन्त्री शैली से ही कुछेक गाँवों पर अपना प्रभुत्व जमाये रहे। किन्तु मुग़ल सम्राट् औरंगजेब ने उन्हें साम्राज्य वादी बना दिया। महाराजा जवाहरसिंह के समय में तो उनकी भावनायें समस्त भारत पर अधिकार कर लेने की हो गईं। महाराज जवाहरसिंह ने इसी भावना से प्रेरित होकर अपने को 'भारतेन्द्र' की पदवी से विभूषित कर लिया था।

किन कठिनाइयों का सामना करके और किस प्रचंड वीरता से सिनसिन-वार जाटों ने इतना बड़ा राज्य स्थापित किया वह वर्णन इस प्रकार है:—

१—"नागरी प्रचारिणी पत्रिका"। भाग १३। अङ्क २। पे० २४४। २—बृजेन्द्र वंश भास्कर। पे० ५।

शहीदे-क़ौम वीर गोकुला

औरंगज़ेब के अत्याचारों से देश पीड़ित था। प्रत्येक कोने में हाहाकार मचा हुआ था। कहीं दीन के नाम पर मंदिर ध्वंश किये जाते थे तो कहीं चोटी और जनेऊ तोड़े जाते थे। कहीं अवलायें जवरन भ्रष्ट की जाती थीं और कहीं दुधमुंहे बच्चे दीवारों में चुने जाते थे। देश कराह भरता था और अत्याचारी यवन ठहाका भरते थे। औरंगज़ेब चाहता था सारा भारत उसके आगे मुसलमान हो जाय। हिन्दुओं पर ज़ज़िया लगाया गया। उन्हें चर्ख़ पर चढ़ाया गया। एक दिन और एक वर्ष भी नहीं वर्षों तक यही अत्याचार होता गया। अत्याचार का पुत्र असंतोष और असंतोष का पुत्र विद्रोह है। शान्ति से जीवन विताने वाले वृज के जाटों का हृदय असंतोष की आग से धधकने लगा। उनसे मथुरा और वृन्दावन के मन्दिरों को यवनों के हाथों से ध्वंश होते हुए न देखा गया। वे नहीं चाहते थे कि उनके जिन्दा रहते हुए हिन्दुओं की अवलाओं का यवन सतीत्व नष्ट करें। उन्होंने विद्रोह का झंडा उठा लिया। विद्रोह के लिये उनको खड़ा करने वाला मथुरा का फौजदार मुर्शिदकुलीखाँ था जो कि हिन्दू स्त्रियों को उड़ाने में ही अपनी वहादुरी समझता था। वे विद्रोही हो गये और मुर्शिदकुलीखाँ को गढ़ में घेर कर मार डाला[१]। औरंगजेब ने इसी समय अब्दुलनवी को मथुरा का हाकिम बना कर भेजा। वह औरंगजेब की नीति का वड़ी तत्परता से पालन करने लगा। गोकुला जो इस समय तिलपत में रहता था[२] विद्रोही जाट-समूह का नेता बन गया। उसने अपने समस्त साथियों को मुग़ल राज्य की नींव उखाड़ फेंकने के लिये आव्हाहन किया। साथ ही विजेता विद्रोहियों के एक दल को लेकर सादाबाद की मुग़ल छावनी को लूट कर तहस-नहस कर दिया। सादाबाद की लूट से गोकुला की शक्ति नित-प्रति जोर पकड़ने लगी। उसके वढ़ते हुए प्रभाव को देख कर मुग़ल सरकार ने उसे लूट-पाट बन्द कर देने की शर्त पर उसे क्षमा कर देने की चर्चा चलाई। किन्तु गोकुला और उसके साथी जाट धर्म-द्रोहियों के विरुद्ध निरन्तर लड़ने की शपथ ले चुके थे। गोकुला ने लूट-पाट जारी रक्खी। सन् १६७० ई० में औरंगजेब ने खुद जाटों और उनके नेता गोकुला को दवाने के लिये चढ़ाई की। वीर गोकुला भी वीस हज़ार जाट सैनिकों को लेकर औरंगजेब के मुक़ाविले पर अड़ गया। तिलपत से २० मील की दूरी पर दोनों सेनायें भिड़ गईं। अब्दुलनवी और चार हज़ार मुग़ल सैनिकों को वीर जाटों ने धराशायी कर दिया। यदि सहायता के लिये दूसरा दल मुग़लों का न आ गया होता तो खेत जाटों के हाथ रहता। हुसैनअलीखाँ और रज़ीउद्दीन नाम के मुग़ल सेनापतियों ने जाटों के सामान और हथियारों की तीन गाड़ियों को लूट लिया। जब जाटों ने जीत के कोई लक्षण न देखे तो मर मिटने के लिये अन्तिम हमला कर दिया। स्त्री और पुरुष सभी ने जौहर के हाथ दिखाये।

१—'व्रजेन्द्र वंश भास्कर' में इनका नाम कान्हादेव (सिनसिनवार) लिखा है।

२—'आर्मी कलेक्शन"। लेखक—जोन शर्मन।

किन्तु इसी बीच उनके बहादुर सरदार गोकुला और उदयसिंह 'सिंघी' गिरफ़्तार हो गये। मैदान मुग़लों के हाथ रहा। किन्तु केवल तीन हज़ार जाटों के मारने में चार हज़ार मुग़ल सदा के लिये संसार से बिदा हो गये।

गोकुला को गिरफ़्तार करके आगरे लाया गया और शेष जाटों को भयभीत करने के लिए कोतवाली पर उसके शरीर के टुकड़े-टुकड़े कर डाले गये। जिस समय गोकुला के शरीर के जोड़ खोले जा रहे थे उस समय दर्शक हिलकियाँ भर कर रोते थे, किन्तु गोकुला निश्चल और प्रसन्न चित्त था। उसे जंजीरों से जकड़ कर कुल्हाड़ों से लकड़ियों की भाँति काट डाला गया, किन्तु उसकी यह ज़िद न गई कि **"छोड़ देने पर फिर विद्रोह की आग जला दूंगा।"** गोकुला के साथी उदयसिंह की भी यही दशा हुई। मुसलमान लेखकों ने लिखा है कि गोकुला के पुत्र और पुत्री को औरङ्गज़ेब ने ज़बरदस्ती मुसलमान बना लिया था, किन्तु यह बात विश्वास योग्य नहीं।

वीरवर राजाराम

गोकुला का ख़ून व्यर्थ नहीं गया। जाट दाँत पीसते थे, वह मुग़लों का ध्वंश करने के लिए उन्मत्त हो रहे थे। उन्हें केवल योग्य नेता की तलाश थी। सच्ची भावनायें पूरी होती हैं—इस सिद्धान्त के अनुसार उन्हें एक सरदार मिल गया। सिनसिनी के भज्जासिंह के रणबाँके पुत्र राजाराम ने विद्रोही जाटों का नेतृत्व ग्रहण किया। राजाराम ने सिनसिनवार जाटों का रामकी चाहर की अध्यक्षता में सोगरिया जाटों के साथ-साथ जिनके पास सोगर का क़िला था, संगठन किया। उसने बन्दूक़ों का संग्रह किया और जंगलों में कच्चे दुर्ग बना कर छावनियाँ क़ायम कीं। सब से मुख्य शिक्षा उसने विद्रोहियों को यह दी कि वे अपने सेना-नायकों की आज्ञा-पालन में त्रुटि न आने दें। उसने विशृंखलित जाति को संगठित करके आक्रमणकारी के साथ ही चतुर सैनिक बना दिया।

गोकुला की मृत्यु के ठीक पन्द्रह वर्ष बाद जाटों ने राजाराम की अध्यक्षता में मुग़लों को दण्ड देने के लिए आगरे पर हमला कर दिया। आस-पास का सारा प्रदेश उनके अधिकार में हो गया। आगरे ज़िले से मुग़ल-शासन का अन्त कर दिया। सड़कें बन्द हो गईं। मुग़ल हाकिम शफ़ीख़ां को क़िले में घेर लिया और सिकन्दरे पर आक्रमण कर दिया। इसके थोड़े ही दिन पश्चात् धौलपुर के क़रीब अगरख़ां तूरानी को जा घेरा और उसके घोड़े, गाड़ियों यहाँ तक कि औरतों को भी छीन लिया। अगरख़ां और उसका दामाद इस लड़ाई में मारे गये। उसकी लड़की, औरत जाटों के हाथ रहीं। मई सन् १६८६ ई० में सफ़दरजंग ने राजाराम का मुक़ाबिला किया, किन्तु बेचारे को भागना पड़ा और अपने पुत्र आज़मख़ां को मुक़ाबिले के लिए भेजा। आज़मख़ां के आने से पहिले ही राजाराम ने सिकन्दरे पर आक्रमण कर दिया। मुग़लों के ४०० आदमियों को जहन्नमरसीद कर दिया

और शाइस्ताखां जो कि आगरे का सूबेदार था उसके इधर आने से पूर्व ही अकबर की क़ब्र को खोद डाला और उसकी हड्डियों को अग्नि में झोंक दिया। उसने सोने-चांदी के बर्तन, चिराग़ और दूसरे सामानों से हाथ नहीं लगाया। केवल औरङ्गज़ेब का अपमान करने के लिए जिसने कि गोकुला का वध कराया था उसके बुजुर्ग अकबर की समाधि को अवश्य लूट लिया।

मुग़लों का नाक में दम करने के कारण राजाराम की धाक यहाँ तक बैठ गई थी कि जब शेखावतों और चौहानों में लड़ाई हुई तो चौहानों ने अपनी सहायता के लिए राजाराम को बुलाया। उसने बीजल गांव के युद्ध में चौहानों को मदद दी। इसी युद्ध में चार जौलाई सन् १६८८ ई० को राजाराम की एक मुग़ल सैनिक की गाली से मृत्यु हो गई। ऐसा भी कहा जाता है कि सिनसिनी पर जब बेदारबख़्त ने चढ़ाई की तो वह युद्ध में मारा गया था। उसकी मृत्यु का समय सभी लेखकों ने सन् १६८८ ई० बतलाया है।

वृद्ध केसरी भज्जासिंह

वीरवर राजाराम के मारे जाने के पश्चात् उसके बूढ़े पिता भज्जासिंह जाटों के सरदार बने। औरङ्गज़ेब ने इस समय एक चाल चली। आमेर के राजा बिशनसिंह को मथुरा का फ़ौजदार नियत किया। कछवाहा सरदार स्वतन्त्रता के प्यासे जाटों को दमन करने पर तैयार हो गया। उसने सिनसिनी के क़िले को तहस-नहस कर देने की लिखित प्रतिज्ञा बादशाह से की। 'कालिकारंजन क़ानूनगो' लिखते हैं—"*वह अपने बाप रामसिंह और दादा जयसिंह की भांति ऊँचा मनसब हासिल करने के लिए उतावला हो रहा था।*" मुग़ल और राजपूतों की सम्मिलित सेना को चार महीने में तो जाटों ने सिनसिनी के गढ़ तक पहुँचने दिया। एक महीना घेरा डाले पड़े रहे। क़िले को उड़ाने के लिए सुरंग लगाई। जाटों ने पता पाकर उसका द्वार क़िले की ओर से पत्थरों से भर दिया इसलिए बारूद में आग लगाने पर उल्टा मुग़ल और राजपूतों का नुक़सान हुआ। दूसरी सुरंग फिर लगाई गई। अबकी बार चालाकी में बिशनसिंह और मुग़ल सेनापति बेदारबख़्त सफल हुए। क़िला इनके हाथ आगया। जाटों ने जिनके कि पास तोपख़ाना न था, मुग़ल और राजपूतों पर हमला कर दिया। तोपों के गोलों के सामने बढ़ते हुए उन्होंने अपने को समाप्त कर दिया। इस युद्ध में २०० मुग़ल और ७०० राजपूत तोपख़ाना रखते हुए भी जाटों ने मार डाले। यह घटना जनवरी सन् १६९० ई० की है। इस लड़ाई में १५०० जाट वीर-गति को प्राप्त हुये।

ब्रजराज

जाट लोगों को इस बात पर तनिक भी निराशा नहीं हुई कि मुग़लों ने उनका सिनसिनी का राज्य छीन लिया है। उन्होंने ब्रजराज की अधीनता में संगठित होकर अऊ में रहने वाले मुग़ल थानेदार पर हमला कर दिया और अऊ को अपने अधिकार में कर लिया। केवल

२०० की संख्या में एकट्ठे होकर सिनसिनी पर कब्जा कर लिया। अजराज भी भज्जासिंह के ही परिवार का था। मुग़लों ने फिर सिनसिनी पर आक्रमण किया। अजराज अपने पुत्र भाऊसिंह के समेत वीर-गति को प्राप्त हुआ।

सिनसिनी उस समय कोई बड़ा राज्य न था केवल ३० गाँव का राज्य था। किन्तु मुग़लों को जाटों का बड़ा भय था। वह समझते थे कि जाटों की शक्ति का बढ़ना हमारे नाश का कारण होगा। स्वतंत्रता के लिए इस समय युद्ध भी मध्य-भारत में केवल जाट ही कर रहे थे। वे किसी लोभ और लालच में मुग़लों के मित्र नहीं बनना चाहते थे।

वीर चूरामणि

यह भज्जासिंहजी के पुत्र और वीरवर राजारामजी के छोटे भाई थे। जदुनाथ सरकार ने इनके विषय में लिखा है—"*चूरामणि में जाटों की जैसी स्थिरता और मराठों जैसी धूर्तता मौजूद थी। राजनैतिक चालाकी उसमें कूट-कूट कर भरी गई थी।*" वह अनुचित दया और शत्रु पर उदारता दिखाने के सिद्धान्त के काहिल नहीं थे। सन् १७०२ ई० में अपने बूढ़े पिता भज्जासिंहजी के स्वर्गवास के पश्चात् जाटों के नेतृत्व को आपने सँभाला। थोड़े ही दिनों में इन्होंने ५०० सवार और हजारों पदाति सैनिक संग्रह कर लिए और हाथरस के जाट-नरेश नन्दराम के साथ मिल कर मेंडू और मुरसान के प्रसिद्ध लुटेरों को अपनी सेना में भर्ती कर लिया। आगरे से पच्छिम ४६ कोस की दूरी पर घने जंगलों में थून नाम का एक दुर्ग बनाया। थोड़े ही दिनों में थून राज्य में ८० गाँव हो गए। सेना भी १४-१५ हजार उसके पास रहने लगी। इतनी बड़ी सेना के लिए धन की भारी आवश्यकता थी। इसलिए कोटा-बूंदी के सम्पन्न इलाक़े को भी इन्होंने लूटा। सन् १७०४ ई० में सिनसिनी को मुग़ल हाकिम से छीन कर अपने राज्य में मिला लिया। सन् १७०५ ई० में आगरे के मुग़ल सूबेदार मुख्तारखाँ और सन् १७०७ ई० में राजाबहादुर से सिनसिनी के मैदान में लड़ाई हुई। दूसरी लड़ाई में एक हजार जाट शहीद हुए और दस गाड़ी हथियार उनके दुश्मन के हाथ लगे, किन्तु विजय जाटों की ही रही[१]।

सन् १७०७ ई० में औरंगजेब की मृत्यु हो गई। चूरामणि ने ऐसे समय पर राज्य बढ़ाने की सोची, किन्तु नीतिमत्ता के साथ इस काम में हाथ डालने लगे। औरंगजेब के बाद बहादुरशाह के शासनकाल में जब बहादुरशाह और आजम में जाजऊ गाँव के पास लड़ाई हुई तो चूरामणि ने अवसर के अनुसार हारने वाले को लूट कर जीतने वाले के साथ अपनी सहानुभूति प्रकट की। सन् १७११ ई० में चूरामणि ने बहादुरशाह के साथ पंजाब जाकर उसके अयोग्य लड़कों के गृह-युद्ध को भी देखा था।

१—'मआसिर-उल उमरा' नामक पुस्तक से।

बहादुरशाह के बाद उसका लड़का जहाँदार राज्य का मालिक हुआ। सन् १७१३ ई० में जब जहाँदार और फर्रुखसियर में लड़ाई हुई तो युद्ध के अंत में चूरामणि ने दोनों को लूट लिया। इस लूट में उन्हें वहुतसा धन प्राप्त हुआ। इसी प्रकार हसनपुर की लड़ाई के समय उन्होंने शाही सेना के हाथियों को छीन लिया। इस पर क्रोधित होकर मुहम्मद अमीनखाँ ने अफ़गानों की सेना सरदार चूरामणि के दमन करने के लिए भेजी। अज़ीजखाँ, बंगस अफ़गान, सआदतखाँ और उमरखाँ रुहेला कई हज़ार सेना तथा सैकड़ों तोप लेकर अकेले चूरामणि को नष्ट करने के इरादे से अमीनखाँ के सहायक हो गए। यही क्यों राजा गोपालसिंह भदौरिया और राजा राजबहादुरसिंह किशनगढ़ भी मुसलमानों के साथी हो गए। चूरामणि ने बड़ी वीरता और सावधानी से काम लिया। पहिली बार के आक्रमण में शत्रुओं की सेना के दो भाग कर दिये। अपनी सेना बीच में घुसा दी। दो हमले दक्षिण और पूर्व से उनके शेष सैनिकों ने किये। सारे दुश्मन भाग खड़े हुए। जाटों ने शत्रुओं को भागते समय लूट लिया। एक हजार बैलों और ऊँटों से भरा हुआ धन और सामान चूरामणि के हाथ लगा। 'फ़ादर बेण्डल' ने लिखा है कि निकोसियर बादशाह के भाई जफ़र को जब कि वह आमेर जा रहा था चूरामणि ने लूट लिया। इस लूट में उन्हें पचास हजार मुहरें हाथ लगीं।

दिल्ली के तत्कालीन बादशाह ने शान्ति बनाये रखने के लिए चूरामणि से प्रस्ताव किया और उनके स्वीकार कर लेने पर १५०० ज़त का मनसव, ५०० घोड़े पुरस्कार और 'राहदार' की उपाधि दी। कामराज के इवारतनामे में लिखा है कि:—"*चूरामणि का राज इतना बड़ा हो गया था कि उसको पार करने में २० दिन लगते थे।*"

सन् १७१५ ई० में बादशाह फ़र्रुखसियर ने इकरन, अघापुर, मलाह, बाढ़ा गाँव और भरतपुर तथा रूपवास के परगने जागीर में दिए। किन्तु फिर भी रुस्तम और खेमकरन सोगरिया के साथ मिल कर चूरामणि लूट-पाट करते ही रहे। इनको इतने लोभ-लालच देने पर भी फर्रुखसियर जब शान्त न कर सका तो उसने जयपुर के राजा सवाई जयसिंह को सन् १७१६ ई० में इनके दमन करने को भेजा। इस युद्ध में जीत चूरामणि की ही हुई और राजपूती तथा शाही सेना वापिस लौट गई। सन् १७१६ ई० में जब निकोसियर और शमशेरखाँ की लड़ाई हुई तो चूरामणि ने हाथरस के नंदराम के पुत्र गोविन्दसिंह की अध्यक्षता में सेना देकर शमशेरखाँ की सहायता की। १३ वीं नवम्बर सन् १७२० को अब-दुल्लाखाँ को लूट लिया और २० लाख मुहरें उससे प्राप्त कीं। चूरामणि देहली से चम्बल तक जमुना के पच्छिमी प्रदेश के वास्तविक शासक हो गये थे[1]।

१—'हिस्ट्री आफ़ जाट्स्' कालिकारञ्जन कानूनगो कृत।

सरदार चूरामणि के स्वर्गवास के सम्बन्ध की घटना कई प्रकार से वर्णन की जाती है—कोई कहता है लड़ाई में मारे गये, कोई कहता है हीरे की कनी खाली।

इनकी मृत्यु के पश्चात् गृह-कलह आरम्भ हो गया। इनके बेटे मुहकमचन्द ने जो कि बादशाहों की अधीनता में रहने के कायल न थे अपने चचेरे भाई बदनसिंह को क़ैद कर लिया। बदनसिंह जब क़ैद से छोड़े गये तो उन्होंने बादशाह की सहायता लेकर थून पर चढ़ाई कर दी। राजा जयसिंह मदद को आये। यदि बदनसिंह साथ न होते तो जयसिंह को थून के क़िले में मार डाला जाता, क्योंकि सुरंग से क़िला उड़ा देने की तयारी कर ली गई थी। इस गृह-युद्ध का ब्रज में इस प्रकार गायन होता है:—*''लेन चहत है दिल्ली आगरा घर की थून दई। बन्धु-बैर अनबन के कारण फैली कुमति ठई॥''*

स्वदेश-बन्धु जाटों के राज्य थून को विजय करने के उपलक्ष में राजा सवाई जयसिंह ने धर्म-द्रोही बादशाह से ''राजराजेश्वर श्री राजाधिराज'' की उपाधि प्राप्त की।

राजा बदनसिंह

सवाई महाराज जयसिंहजी से इनका बड़ा मेल-जोल था। अधिकांश समय उनका जयपुर ही में बीतता था। जयपुर में उनके नाम से एक स्थान बदनपुरा भी है। संवत् १७७५ में यह डीग के मालिक बने। डीग में इन्होंने अच्छी-अच्छी इमारतें बनवाई और कुम्हेर में सुदृढ़ दुर्ग निर्माण कराया।

राजा बदनसिंहजी लड़ाई-झगड़े की अपेक्षा राज्य-व्यवस्था में अधिक संलग्न रहे। फिर भी उन्होंने अठारह लाख की आमदनी का जयपुर का इलाक़ा प्राप्त कर लिया और कुछ हिस्सा आगरे की ओर दबा लिया। कामर के सरदार चौधरी मोहनराम और महार के रईस की लड़की से शादी करने के कारण इनका प्रभाव मथुरा ज़िले पर हो गया था। आपने अपने दूसरे पुत्र प्रतापसिंह को वैर का मालिक बनाया। महाराज सूरजमलजी इनके सभी पुत्रों में श्रेष्ठ थे। अठारह लड़कों की सन्तानें कोठरी बन्द के नाम से मशहूर हैं। आपको जयपुर के महाराज जयसिंह सवाई 'ब्रजराज' कहा करते थे[1]।

राजा बदनसिंहजी का स्वर्गवास संवत् १८१२ विक्रमी में हुआ था। उस समय श्री सुजानसिंह उपनाम सूरजमलजी ४२ वर्ष के थे।

---

[1]—'मथुरा मेमायर्स'।

महाराज सूरजमल एक लम्बे-तड़ंगे और सुदृढ़ शरीर के योद्धा थे। उनका रंग साँवला था। उनकी आँखों से तेज टपकता था। उनके चेहरे को देखने से ऐसा मालूम होता था, मानो अग्नि निकल रही है। वे नेक मिजाज और सादे चाल-चलन के व्यक्ति थे। राजनैतिक योग्यता, सूक्ष्म-दृष्टि तथा निश्चल बुद्धिमता उनमें एक बड़े अंश में विद्यमान थी। 'इमादुस्सादत' का लेखक लिखता है कि:—

महाराज सूर्यमलजी

"यद्यपि वह (सूरजमल) एक कृषक जैसा पहनावा पहनता था और केवल अपनी व्रज भाषा ही बोल सकता था, परन्तु वास्तव में वह जाट-जाति का प्लेटो था। चतुराई, बुद्धिमता और लगान तथा अन्य माल के महकमे आसिफ़जाह बहादुर निज़ाम के सिवाय भारत के प्रसिद्ध पुरुषों में और कोई उसकी समानता नहीं कर सकता था। जोश, साहस, चतुराई, अटूट दृढ़ता तथा अजय और न दबने वाला स्वभाव आदि सभी अपनी जाति के अच्छे-अच्छे गुण सूरजमल में एक विशेष अंश में पाये जाते थे।"

महाराज सूरज़मल का चालबाज़ मरहठे और धोखेबाज़ मुग़ल दोनों ही से पाला पड़ा था, किन्तु उन्होंने दोनों ही को असफल बना दिया था। अपनी शक्ति और राज का विस्तार दोनों ही के जाल के होते हुए भी बढ़ा लिए थे। सब से पहिले सन् १७३२ ई० में महाराज सूर्यमलजी ने भरतपुर को रात के समय खेमकरन सोगरिया पर चढ़ाई करके विजय किया। तब से भरतपुर की राज्य-श्री की उत्तरोतर वृद्धि होने लगी। इन्होंने राजा जयसिंहजी जपुर नरेश से मित्रता पैदा करली। महाराज जयपुर भी इनसे पुत्रवत् प्यार करते थे। जब कि सवाई जयसिंह के बाद ईश्वरीसिंह और माधौसिंह में झगड़ा हुआ तो सूर्यमलजी ने उनके बड़े बेटे ईश्वरीसिंहजी को सहायता दी और माधौसिंह के हिमायतियों को जिनमें माधौराव होलकर, गंगाधर ताँतिया और मेवाड़, मारवाड़ और कोटा, बूँदी के भी राजा शामिल थे एक साथ ही परास्त किया। इस युद्ध में पचास शत्रुओं को स्वयं महाराज सूरजमल ने अपने हाथ से काट डाला और एक सौ आठ को घायल किया था १। यह घटना सन् १७४६ ई० की है। बूँदी के कवि सूरजमल ने इस समय की महाराज सूरजमल की वीरता को इस भाँति वर्णत किया है:—

"सह्यो भले ही जट्टिनी, जाय अरिष्ट अरिष्ट।
जाठर तस रवि मल्ल हुव, आमेरन को इष्ट ॥

१—'हिस्ट्री आफ़ जाटस्' लेखक कालिका रंजन कानूनगो।

'बहुरि जट्ट मलहार सन', लरन लग्यो हर बल्ल ।
आंगर है हुलकर जाट, मिहर, मल्ल प्रति मल्ल ॥"

अर्थात्—जाटिनी ने व्यर्थ ही प्रसूति की पीड़ा नहीं सही। उसके गर्भ से शत्रु का संहारक और आमेर के राजा का हितैषी सूरजमल उत्पन्न हुआ है। फिर जाट सेना के आगे के भाग में मल्हारराव से युद्ध करने लगा (क्योंकि पीछे का भाग उसने जीत लिया) होलकर (रात्रि की) छाया और जाट सूर्य था। दोनों वीर अच्छी तरह से युद्ध में भिड़े।

इस युद्ध के पश्चात् महाराज सूर्यमल की कीर्ति सारे भारत में फैल गई क्योंकि उन्होंने शिशोदियों, राठौरों, चौहानों और मराठों को एक ही साथ हरा दिया था। यह बात राजस्थान क्या भारत के इतिहास में एक दम विचित्र और अपूर्व थी।

सन् १७४८ ई० में पलवल के स्थान पर महाराज सूरजमलजी ने सआदत-अलाखां को और १७५२ ई० में घासहरे के ठाकुर रावबहादुरसिंह को परास्त किया। मेवों को तो अपने पिता के आगे ही परास्त कर चुके थे। सआदतअलीखां ने महाराज की इन दो शर्तों को मान लिया था कि उसके आधीन मनुष्यों में से कोई न तो पीपल का पेड़ काटेगा, न हिन्दू-मन्दिरों का अपमान करेगा।

महाराज सूरजमल ने वैवाहिक-सम्बन्धों द्वारा भी अपना राज्य विस्तृत किया। उन्होंने अपनी शादी होड़ल के मुखिया चौ० काशीरामजी की सुपुत्री रानी किशोरी से की थी, जो कि एक समृद्धिशाली जाट सरदार था। इसी भाँति अपने पुत्र नवलसिंह की शादी कोटमणि के शक्तिशाली सरदार सीताराम की लड़की से की थी।

आपने बल्लभगढ़ के राजाओं की मुग़लों से सहायता की। उन्होंने १८३१ ई० में अहमद बंगस की राजधानी फ़र्रुख़ाबाद को भी लूट लिया। १७५२-५३ ई० में इन्हें मराठों के साथ दुबारा युद्ध करना पड़ा। गाज़ीउद्दीन इमादुलमुल्क ने अहमद-शाह के पुराने मन्त्री सफ़दरजंग को महाराजा सूरजमल के ख़िलाफ़ लड़ने के लिए निमन्त्रित किया। सन् १७५३ ई० में रघुनाथराव मराठा की अध्यक्षता में मराठा और मुसलमानों की सम्मिलित सेना ने धावा कर दिया। जनवरी सन् १७५४ में इनकी सेनाओं ने कुम्हेर को घेर लिया। तीन महीने तक लगातार युद्ध होता रहा। इसी बीच महाराजा सूरजमल ने देहली के बादशाह और ग्वालियर के सेन्धिया से मित्रता कर ली, इसलिए मराठों को कुम्भेर का घेरा उठा लेना पड़ा।

सन् १७५७ ई० में अहमदशाह दुर्रानी ने अपने तमाम साथियों को यह आज्ञा दी कि भरतपुर के समस्त शहरों को नष्ट कर डालो और जो जितने जाटों को इकट्ठा करे, उसे उसका पंचगुना रुपया इनाम में दिया जायगा। सब से पहिले बल्लभगढ़ पर जो कि भरतपुर के ही आधीन था, धावा हुआ। यहाँ उस समय महाराज जवाहरसिंह अपने थोड़े से साथियों के साथ ठहरे हुए थे। दिन

भर लड़ने के पश्चात् रात के समय उन्होंने भरतपुर की ओर कूंच कर दिया। २८ फर्वरी सन् १७५७ को दुर्रानी सेना ने मथुरा पर आक्रमण किया। यहाँ महाराज सूरजमल की तरफ़ से ५००० सैनिक थे। अचानक घिर जाने पर भी उन्होंने बड़ी बहादुरी के साथ पठानों का मुक़ाबिला किया और तीन हज़ार जाट धर्म की रक्षा करते हुए शहीद हो गये।

मथुरा को तबाह करने के बाद दुर्रानी आगरे की तरफ़ बढ़ा, क्योंकि उसने सुना था कि उधर की तरफ़ बड़े-बड़े मालदार जाट हैं। किन्तु इसी बीच उसकी फ़ौज में बीमारी फैल गई और १५० प्रति दिन उसके सैनिक मरने लगे। इस तरह से मार्च के महीने में उसे लौट जाना पड़ा। महाराज सूरजमल इस बाट में थे कि अगर यह गर्मी के दिनों तक ठहर जाय तो इसे जेठ-मास की धूप में तंग किया जाय। वह महाराज से सिर्फ़ अपने खर्चे के लिए पहिले एक करोड़ और फिर दस लाख रुपया माँगता रहा, किन्तु महाराज ने उसे कानी कौड़ी भी न दी। वह जाट-राज्य को धूल में मिला देने के इरादे से आया था, किन्तु अपना-सा मुँह लेकर उसे लौट जाना पड़ा।

शाह अब्दाली के आक्रमणों से जब कि देश भयभीत था उस समय की परिस्थिति के अनुसार सहज ही में सोच लेना महाराज सूरजमल के लिए कठिन था। वह मराठा और अब्दाली में से किस के साथ मैत्री स्थापित करें क्योंकि एक ओर देश को मरहठे तबाह कर रहे थे और दूसरी ओर अब्दाली। अब्दाली यदि विधर्मी था तो मराठे चञ्चल मनोवृत्ति वाले और अविश्वासी। लेकिन आदर्श इसी में था जिसे कि स्वयं महाराज सूरजमल ने पसन्द किया कि वह स्वदेश हित के लिए मराठों में मिल गए। देहली के मंत्रित्व पद के लिए उस समय गाज़ीउद्दीन और नज़ीबुद्दौला दोनों ही दाँत गड़ाए हुए थे। गाज़ीउद्दीन के पक्ष में रघुनाथराव जो मराठों का उस समय का सब से बड़ा सरदार था झुका हुआ था। उसने पंजाब से लौट कर के देहली को जीत लिया और गाज़ीउद्दीन को वज़ीर बना दिया। नज़ीबुद्दौला महाराज होल्कर की शरण में पहुँचा। लेकिन महाराज सूरजमल की इच्छा देहली के मंत्रि-पद के लिए शुजाउद्दौला को दिलाने के पक्ष में थी। वे चाहते थे कि नज़ीबुद्दौला को खतरा कर दिया जाय। क्योंकि वह धोखेबाज है और गाज़ीउद्दीन को इसलिए हटा दिया जाय कि उसका कोई प्रभाव नहीं। इस तरह महाराज सूरजमल उस भावी भय को मिटा देना चाहते थे जिस की आशंका अब्दाली के आक्रमण करने के समय की जा सकती थी। दत्ताजी सेंधिया और रघुनाथराव महाराज सूरजमल के विचार का समर्थन करते थे किन्तु मल्हारराव होल्कर ने इस समय भयंकर भूल की।

होल्कर की इस भूल का परिणाम दो ही वर्ष आगे चल कर के स्पष्ट हो गया। कुछ समय पहिले रघुनाथराव ने पंजाब से अब्दाली के लड़के और हाकिमों को खदेड़ दिया था। इसलिए एक तो स्वयं उसकी इच्छा थी कि मरहठों से वह

बदला ले, दूसरे नजीबुद्दौला और देहली के बादशाह ने उसे भारत आने के लि
निमन्त्रण भी भेजा। अब्दाली के इस भयंकर आक्रमण से सारे उत्तरी भारत
आतंक छा गया। जिनके पास धन और मान कुछ खोने के लिए था वे ज
रियासत भरतपुर में भाग आये जो कि हिन्दू व मुसलमान प्रत्येक पीड़ित व्यक्
और जाति के लिए स्वागत-स्थान था। मरहठा सरदारों ने भी अपनी स्त्री औ
बालबच्चों को महाराजा सूरजमल की रक्षा में भेज दिया। यहाँ तक कि हिन्दुस्तान
उस वजीर गाजीउद्दीन ने भी जो कि महाराज का परम शत्रु था, अपने स्त्री-ब
को उन्हीं की शरण भेजना उचित समझा। महाराजा सूरजमल की इच्छा थी
सिंधिया सरदार की वह किसी आपत्ति के समय में सहायता करे। क्योंकि व
सेंधिया के उस अहसान से उऋण होना चाहते थे जो कि उसने मल्हारराव
कुम्हेर पर चढ़ाई करने के समय किया था।

अकाली और दत्ताजी में देहली के समीप वादली नामक स्थान पर घो
युद्ध हुआ। मरहठे दिल तोड़ कर लड़े किन्तु विजय अकाली की हुई। वजी
गाजीउद्दीन भय के मारे देहली छोड़ कर भाग गया था। उसे भाग्य ने साथ क
भी न दिया तो लाचार होकर के उसे उसी भरतपुर की शरण लेनी पड़ी जिसे
वह कुछ दिन पहिले नष्ट कर देने की इच्छा से चढ़ाई करके आया था और उसे ए
दम नष्ट कर देना चाहता था। महाराज ने उसके पूर्व कुटिल व्यवहार को भुला क
उसे शरण दी और यथोचित स्वागत-सत्कार के साथ रहने के लिए उचि
प्रबन्ध कर दिया।

अब्दाली से हारने के बाद में जो मरहठे घायल और पीड़ितावस्था में थे उन
भरतपुर के जाट कुम्हेर में लिवा लाये और उनका पूरी तरह से उपचार किया
अकाली महाराज सूरजमल के इस व्यवहार से चिढ़ गया कि उन्होंने उसके शत्रुओं
को आश्रय दिया इसलिए उसने दण्ड स्वरूप महाराज से एक करोड़ रुपया मांगा
लेकिन महाराज शत्रु को इतनी बड़ी रक़म देकर और भी अधिक बलवान् बना
की क्यों ग़लती करते। उन्होंने उस धन को शत्रु से युद्ध करने में व्यय कर
अधिक उचित समझा।

एक ओर तो महाराज सूरजमल थे जो कि अपने कट्टर शत्रु मराठों क
इसलिए मदद दे रहे थे कि वे स्वदेशवासी और स्व-धर्मी हैं। दूसरी ओर आमे
के माधोसिंह और मारवाड़ के विजयसिंह आदि राजपूत राजा थे जो विदेशी औ
विधर्मी अब्दाली की विजय का स्वागत कर रहे थे। हालांकि उन्होंने महारा
सूरजमल के बराबर मराठों द्वारा हानि न उठाई थी।

२ फर्वरी सन् १७६० ई० को अहमदशाह अब्दाली ने महाराज सूरजमल
विरुद्ध भरतपुर की ओर प्रस्थान किया और तारीख ७ फर्वरी को उसने डीग क
घेर लिया। इस समय महाराज सूरजमल ने एक चाल चली। मरहठा सेना की ए

दल जाट-सेना का अलीगढ़ की तरफ़ भेज दिया। १७ मार्च को जाट-सेना ने अलीगढ़ को लूट लिया और वहाँ के क़िले को नष्ट कर दिया। अब्दाली को डीग पर से घेरा उठा लेना पड़ा। उसने मेवात में होकर मरहठों का पीछा किया। होल्कर भी इस समय महाराज सूरजमल का मित्र बन गया था। सिकन्दरा नामक स्थान पर अब्दाली के जनरल साहबपसन्दखाँ से पराजित होने पर उसने भी भरतपुर में शरण ली।

सन् १७६० ई० के पूरे साल भर महाराज सूरजमल को शस्त्रों से लड़ाइयाँ ही न लड़नी पड़ीं बल्कि राजनैतिक चालों से भी अब्दाली का सामना करना पड़ा।

आखिर सन् १७६१ ई० में उस युद्ध के आसार प्रगट होने लगे जो भारतवर्ष के इतिहास में पानीपत के दूसरे युद्ध के नाम से पुकारा जाता है। पेशवा बालाजी-बाजीराव ने अपने भाई सदाशिव और लड़के विश्वासराव को एक बड़ी सेना देकर भारतवर्ष के भाग्य के अन्तिम निपटारे के लिए रवाना किया। पेशवा ने राजपूताने के समस्त राजाओं के पास हिन्दू-धर्म की रक्षा के नाते से युद्ध में सम्मिलित होने का निमन्त्रण दिया। किन्तु किसी भी राजपूत राजा ने पेशवा के इस आवाहन को स्वीकार नहीं किया। चम्बल के किनारे पहुँच कर जब भाऊ ने महाराजा सूरजमल को एक लंबा पत्र लिख कर धर्म के नाम पर सहायता करने के लिए भेजा। महाराजा सूरजमल ने एक सच्चे हिन्दू की भाँति मराठों के निमन्त्रण को स्वीकार किया और वह २०००० जाट सैनिकों के साथ मरहठों के कैम्प में पहुँच गए।

मरहठा कमाण्डर-इन-चीफ़ ने आगरे में एक सभा की और उसमें युद्ध-विषयक मशविरा किया गया। उस समय महाराज ने मराठों को बड़ी उत्तम राय दी और कहा कि हमें यह लड़ाई किसी छोटे-मोटे सरदार से नहीं लड़नी है—यह युद्ध तमाम मुसलमानों से है और बड़ा भयङ्कर युद्ध है। इसलिए इसके पूर्व स्त्रियों को किसी सुरक्षित दुर्ग में भेज देना चाहिए। हमारे साथ पैदल सेना, तोपें अत्यधिक हैं और मैदान में हैं। रसद तक का यथोचित प्रबन्ध नहीं है। इसलिए मेरी समझ से अगर कोई दूसरा स्थान न हो सके तो मेरे यहाँ एक क़िले में पैदल सेना के साथ स्त्रियों, बालबच्चों और सामान को रखना चाहिए। नहीं तो शत्रु सेना कभी भी नष्ट करने में सफल हो सकती है। यद्यपि होल्कर वग़ैरह ने इस बात का समर्थन किया परन्तु भाऊ ने इसे उचित सलाह न बता कर ऊट-पटांग बातें कीं जिससे महाराज सूरजमल ने दूसरी बार भी विवेचना-पूर्वक एक-एक पहलू को समझाने की कोशिश की; परन्तु सब बेकार हुई। ठीक ही है "**विनाश काले विपरीत बुद्धिः।**" अर्थात् नाश होने का वक्त आजाने पर बुद्धि विपरीत हो जाती है।

एक दूसरी बात सूरजमल के रुष्ट होने की यह और हुई कि भाऊ ने देहली के आमखास की चाँदी की छत को उनकी इच्छा के विरुद्ध तुड़वा दिया। महाराज

उस छत के एवज में पाँच लाख रुपया तक देने को तैयार थे। पर लालची भाऊ को कहीं उससे भी अधिक का माल उसमें दिखाई दे रहा था। वह अपने हठी और लालची स्वभाव होने के कारण महाराज सूरजमल से बिगाड़ बैठा। छत तुड़वा देने पर भी उसे जब ३ लाख रुपये का ही माल मिला तो महाराज सूरजमल ने फिर कहा कि "आप इस छत को फिर बनवा दीजिए जिससे देहली की प्रजा और आपके प्रति सरदारों का बढ़ा हुआ असन्तोष दूर हो जाय। सहयोगियों की सलाह से राज्य-कार्य कीजिए जिससे शासन के प्रति प्रेम उत्पन्न हो और मैं अब भी कहता हूँ कि स्त्रियों को मेरे यहाँ के क़िले में भेज दीजिए। क्योंकि भरतपुर के आस-पास के जमींदार खुश हाल हैं इसलिए वहाँ रसद भी इकट्ठी हो जायगी। आपको रसद और सैनिकों से मैं पूरी सहायता देता रहूँगा।"

महाराज सूरजमल ने यह बात मार्मिक शब्दों में कही थी परन्तु भाऊ के पत्थर-हृदय पर कुछ भी असर न हुआ। महाराज ने देख लिया कि इस समय इसके सिर पर दुर्भाग्य सवार है और वह बिना कुछ कहे अपने शिविर को लौट आया।

भाऊ राव इतने ही से सन्तुष्ट नहीं हुआ, किन्तु उसने यहाँ तक निश्चय किया कि सूरजमल के डेरों को लूट लिया जाय और उसे गिरफ़्तार कर लिया जाय। किन्तु महाराज सूरजमल को सेंधिया और होल्कर के द्वारा इस षड्यंत्र का पता लग गया और वह उसी रात को चार बजे अपने लश्कर समेत भरतपुर की ओर रवाना हो गये। भाऊ ने अपने सवार दौड़ा कर उनका पीछा भी किया लेकिन चूंकि वे बल्लभगढ़ के क़िले में जोकि जाटों के अधिकार में था पहुँच चुके थे इसलिए मराठों के यहाँ की भी सेना कुछ नहीं बिगाड़ सकी।

पानीपत के मैदान में वही हुआ जिसकी कि आशंका की जा रही थी। मराठों को बुरी तरह से परास्त होना पड़ा क्योंकि मुसलमान सब संगठित हो चुके थे। शुजाउद्दौला भी उनकी सेना में मिल गया था। इधर भाऊ की कुबुद्धि से पहिले ही फूट पड़ चुकी थी। इस लड़ाई में मराठों को भारी हानि उठानी पड़ी। उनके बड़े योद्धा इस युद्ध में मारे गए। शेष जो बचे वह बड़ी बुरी दशा में पड़ते-गिरते भरतपुर पहुँचे। महाराज सूरजमल ने मराठों की पुरानी बातों को भूल करके उनकी बड़ी आव-भगत की। ब्राह्मण सैनिकों को दूध और पेड़ा खिलाया जाता था। सभी सैनिकों को जो जाट राज्य में पदार्पण करते पूरा आराम पहुँचाया। घायल सैनिकों की सेवा-सुश्रूषा और इलाज किया गया। महारानी किशोरी ने स्वयं उनकी आवभगत में बड़ी दिलचस्पी ली। उस समय महाराज ने प्रजा में मुनादी करवादी थी कि जो कोई दुखी सैनिक जिसके यहाँ पहुँचे यथोचित सहायता की जावे। इस आव-भगत में महाराज का दस लाख रुपया खर्च हुआ। बाजीराव पेशवा की मुसलमान स्त्री से शमशेरबहादुर नाम का एक लड़का था। पानीपत के मैदान से यह भी घायल होकर महाराज के यहाँ आ गया था। महाराज ने उसके उपचार का पूरा प्रबन्ध

किया किन्तु वह मर गया। उस समय महाराज के यहाँ बड़े-बड़े सरदारों ने आश्रय लिया था। सदाशिवभाऊ की स्त्री पार्वती बाई भी दुर्दिनों के फेर से वहाँ पहुँच गई थी। महाराज ने उन सबका उचित सम्मान योग्य प्रबन्ध किया और पार्वती बाई और सरदारों को एक-एक लाख रुपया देकर अपनी अधिरक्षता में दक्षिण की ओर भिजवा दिया। अन्य सभी महाराष्ट्रीय ब्राह्मणों को महारानी किशोरी ने पाँच-पाँच रुपया और वस्त्र वगैरह देकर विदा किया।

नाना फड़नवीस ने महाराजा सूरजमल के इस सद्व्यवहार के सम्बन्ध में इस प्रकार लिखा था—"अब हम ग्वालियर में होल्कर के साथ ठहरे हुए हैं। भरतपुर में हमें सूरजमल ने आराम देने में कोई कसर नहीं रक्खी। हम १५-२० दिन तक वहाँ रहे, उन्होंने हमारा बड़ा आदर सम्मान किया और हाथ जोड़ कर कहा—मैं तुम्हारे ही घर का हूँ, मैं तुम्हारा एक सेवक हूँ तथा ऐसे ही शिष्टाचार के अन्य शब्द भी कहे। उन्होंने हमें ग्वालियर तक बड़ी हिफ़ाजत के साथ पहुँचा दिया है। अफ़सोस है कि उस जैसे बहुत थोड़े मनुष्य होते हैं।" पेशवा यह पत्र पढ़ कर सूरजमल के लिए बड़ा प्रसन्न हुआ।

जब पानीपत की लड़ाई के पश्चात् अब्दाली देहली आया तो उसने सूरजमल पर मराठों को शरण देने के कारण चढ़ाई करने की बाबत सोचने लगा। नागरमल नाम के एक व्यक्ति सूर को महाराज सूरजमल के पास इसलिए भेजा कि यदि सूरजमल कुछ भेंट देदे तो लड़ाई स्थगित करदी जाय। महाराज ख़ूब जानते थे कि पठान अभी जल्दी कोई नई लड़ाई नहीं लड़ सकते हैं। इसलिए मार्च सन् १७६१ ई० तक सन्धि के भुलावे में ही अब्दाली को डाले रहे और इसी बीच में आगरे पर अधिकार जमा लिया। शहर और क़िले की लूट से उन्हें ५००००००) रुपये मिले। ऐसे मौक़े पर एक लाख रुपया शाह को दे दिया और पाँच लाख का वायदा कर दिया; जिन्हें फिर कभी भी न दिया। २१ मई सन् १७६१ ई० को अब्दाली अपने देश के लिए प्रस्थान कर गया। अब महाराज सूरजमल को अपने राज्य के बढ़ाने का पूरा अवसर मिल गया।

महाराज ने हरियाने के प्रदेश पर जहाँ कि जाटों की अधिक आबादी थी और अनेक छोटे-छोटे मुसलमान जागीरदार राज्य कर रहे थे, को विजय करने के लिए महाराज जवाहरसिंह की अध्यक्षता में सेना भेजी। छोटे लड़के नाहरसिंह की अध्यक्षता में द्वावा में अधिकार स्थापित करने और पूर्वी रुहेला सरदारों की चाल का निरीक्षण करने के लिए दूसरी सेना भेजी। जवाहरसिंह ने फ़र्रुख़नगर पर जो कि एक बिलोची सरदार मुसाबीखां के अधिकार में था, चढ़ाई की। यह क़िला बड़ा मजबूत था, इसलिए महाराज स्वयं तोपखाना लेकर के जवाहरसिंह की सहायता को पहुँचे। दो महीने के घेरे के पश्चात् मुसाबीखां ने क़िले को खाली कर दिया। उसे क़ैद करके भरतपुर भेज दिया गया। फ़र्रुख़नगर अपने जाट-राज्य में मिला लिया। रेवाड़ी, गढ़ी हरसरू और रोहतक तो पहिले ही जाटों के अधिकार

में आ चुके थे और वह नवलसिंह तक उनके अधिकार में रहे थे। कहा जाता है कि गढ़ी हरसरू की चढ़ाई में सूरजमल का हाथी जो कि क़िले के बड़े फाटक को तोड़ने के लिए जुटाया गया था, थक कर बिना ही फाटक तोड़े लौट आया। तब सरदार सीताराम ने जो कि जाट (Ajax) था, यह देखा तो कुल्हाड़ी लेकर बाहर आया और बड़ी वीरता-पूर्वक फाटक को काट डाला। इसके बाद सूरजमल ने दूसरे सरदार बहादुरखां के क़िले पर चढ़ाई कर दी। इसी समय में जाट सेना का एक दूसरा भाग नाहरसिंह और बलरामसिंह तथा अन्य प्रसिद्ध सेना-नायकों की अध्यक्षता में मुग़ल सरकार के अफ़सरों के हाथ से अनेक स्थानों को जीतते हुए जल्दी से जल्दी नजीबुद्दौला से भिड़ने के लिए तैयार हो रहे थे। लेकिन नजीबुद्दौला इस मौक़े को टालना चाहता था और सूरजमल इस मौक़े से लाभ उठाना चाहते थे। इस से पहिले सूरजमल के राज्य में इतना प्रदेश आ गया था कि पूर्व में उनके राज्य की सीमा रुहेला राज्य तक पहुँच गई थी। कोल, जलेसर, एटा के ज़िले उन्हीं के राज्य में थे। जमुना के इस किनारे पर देहली के फाटकों से लेकर चम्बल तक उनके सिवाय और किसी का राज्य नहीं था और गंगा की ओर भी करीब-करीब यही हालत थी। आगरे का क़िला ले लेने के पश्चात् उन्हें दक्षिण में अपने राज्य को फैलाने के लिए बहुत कुछ नहीं करना था। उनका ख़याल देहली के पश्चिम की ओर लगा हुआ था। इसीलिए उन्होंने नजीबुद्दौला के सामने दिल्ली के आसपास के ज़िलों की गवर्नरी देने का प्रस्ताव रखा। पहिले तो नजीबुद्दौला संधि की चर्चा चलाता रहा। लेकिन आख़िर जब उसने समझ लिया कि सूरजमल से बिना लड़ाई लड़े अथवा गवर्नरी दिए तीसरी युक्ति से काम नहीं चल सकता तो दस-बारह हज़ार घुड़सवार और पैदलों की सेना लेकर २४ दिसम्बर सन् १७६३ ई० को सूरजमल से लड़ने के लिए जमुना पर क़दम रखा। हिन्डौन नदी के किनारे दोनों सेनाओं ने आमने-सामने डेरे लगा दिए। पहिले दिन की लड़ाई में जाट ही विजयी रहे। जब कि घमासान युद्ध मच रहा था महाराजा सूरजमल केवल ३० घुड़सवारों के साथ मुग़ल और बिलोचियों की सेना में पिल पड़े और वीरगति को प्राप्त हुए। जाट सेना इतनी सुव्यवस्थित थी कि सूरजमल की मृत्यु के समाचार के चारों ओर फैल जाने पर भी एक भी योद्धा विचलित न हुआ। वे इस भाँति लड़ते रहे मानो कुछ भी नहीं हुआ है। जाट सेना ने विजेताओं की भाँति युद्ध-क्षेत्र को छोड़ा। महाराज सूरजमल की लाश शत्रुओं के हाथ न पड़ी। उनकी मृत्यु का विश्वास भी तब तक दुश्मनों को नहीं हुआ जब तक कि जाट हिन्डौन को छोड़ कर भरतपुर की तरफ़ न चल दिए।

फ़ादर वेन्डिल ने महाराजा सूरजमल के स्वर्गवास का २५ दिसम्बर रविवार सन् १७६३ ई० माना है। उनका मत इसलिए भी सही माना जा सकता है कि उन्होंने भरतपुर का इतिहास इस घटना के ५ वर्ष बाद ही लिखा था।

महाराज सूरजमल जो कि जाट जाति के नेत्रों के तारे और उसकी चमकती ज्योति तथा अखीरी १५ वर्ष से हिन्दुस्तान में सब से अधिक प्रवल राजा थे अपने काम को अधूरा छोड़ कर इस संसार से चल बसे। वह अत्यन्त विशालकाय और दबदबे के आदमी थे। उनकी बुद्धि जिसकी कि प्रत्येक १८ वीं शताब्दी के इतिहास लेखकों ने पूर्णतः इज्जत की है अद्वितीय थी। महाराजा सूरजमल वास्तव में अपने समय के योद्धाओं में भीम, नीतिज्ञों में कृष्ण और अर्थ-शास्त्रियों में कौटिल्य थे। एक मुसलमान यात्री ने तो उन्हें भारत का अन्तिम हिन्दू-सम्राट् लिखा है।

भारतेन्द्र जवाहरसिंह

महाराज सूरजमल के चार रानियाँ थीं। जिनसे जवाहरसिंह, रतनसिंह, नवलसिंह, रणजीतसिंह, नाहरसिंह पाँच पुत्र पैदा हुए थे। कहा जाता है जवाहरसिंह और रतनसिंह एक राजपूत रानी से थे जिसको कि महाराज सूरजमल ने उसके सौन्दर्य पर मुग्ध हो करके शादी कर ली थी। फादर वेण्डिल और इमादुस्साहत का लेखक दोनों ही इस बात का समर्थन करते हैं कि जवाहरसिंह की माँ एक राजपूतनी थी। महाराज सूरजमल अपनी सब रानियों में वीर किशोरी रानी को जिसके कि कोई भी सन्तान नहीं हुई थी अधिक प्यार करते थे। सौभाग्य से जवाहरसिंह को रानी किशोरी ने गोद ले लिया था और इसी के प्रभाव और प्यार के कारण विद्रोह-प्रिय जवाहरसिंह अपने पिता के क्रोध से वंचित रह गया था।

आरंभ में नवयुवक जवाहरसिंह के हृदय में यवन शासकों के लिए भारी घृणा थी। उन्होंने देहली के वजीर को सिर्फ इस बात के लिए फटकार दिया था कि उसने उनके हाथ को चूमकर अपवित्र क्यों कर दिया। महाराज सूरजमल की इच्छा नाहरसिंह को अपना उत्तराधिकारी बनाने की थी। नाहरसिंह अपने पिता का आज्ञाकारी, गुरुजनों का सन्मान करने वाला, नम्र और सादा स्वभाव था। किन्तु वह आवश्यकता के अनुसार निर्भयता और वीरता के गुणों से भरपूर न था। जवाहरसिंह को न ईश्वर से भय था और न मनुष्य से। वह अपने इरादों को पूरा करने तथा बदला लेने में दोनों मनुष्य और ईश्वर का सामना करने के लिए तैयार रहता था। वह रणकुशल, प्रबन्ध करने में योग्य, फुर्तीला, चतुर तथा वीर होने के कारण जन्म से ही शासक होने के योग्य था। किन्तु महाराज सूरजमल को उसकी निरंतर लड़ाकू प्रवृति होने से भय था कि बहुत संभव है जाट-जाति को यह नष्ट कर दे। इसीसे वह इन्हें जाट शक्ति अर्थात् अपना राज्य नहीं देना चाहते थे। महाराज सूरजमल जितने मितव्ययी थे जवाहरसिंह उतने ही अपव्ययी। यही कारण था कि उन्होंने अपनी एक अलग पार्टी बनाली। अलग दरबार और सेना रखने लगे जिसका कि खर्च सूरजमल के स्वीकार किए हुए धन से कहीं अधिक था। महाराज सूरजमल ने जवाहरसिंह की अल्हड़पन-युक्त-वीरता से खूब लाभ उठाया। कठिन से कठिन मोर्चों पर उन्हें भेजा गया। कुछ दिन के बाद डीग का

इलाक़ा जवाहरसिंहजी के सुपुर्द कर दिया गया। किन्तु उनका खर्च डीग के इलाक़े की आमदनी से कहीं अधिक बढ़ चुका था। साथ ही जवाहरसिंहजी को कुछ ऐसे साथी मिले जिन्होंने महाराज जवाहरसिंह को अपने पिता के विरुद्ध उभाड़ दिया।

महाराज सूरजमल उसके साथियों को दण्ड देना चाहते थे, इसलिये उन्होंने डीग पर चढ़ाई की। किन्तु जवाहरसिंह ने इसे अपमान समझा और वे लड़ाई के मैदान में आ गये। थोड़े ही समय में उनके साथी तो भाग खड़े हुए, लेकिन वह मैदान में डटे रहे। अनेक लोगों के बीच में घिर जाने के कारण वह ज़ख्मी हो गये। सूरजमल जो कि अपने वीर पुत्र की मृत्यु के मुक़ाबिले में हार जाना पसन्द करते थे घायल पुत्र के पास लपक कर पहुँचे और अपने प्यारे पुत्र को छाती से लगा लिया। तब से वह जवाहरसिंह को बहुत प्रेम करने लगे। उनकी लड़ाकू-प्रकृति को ध्यान में रखते हुए महाराज सूरजमल ने यह विचार किया कि जवाहरसिंह को हरियाने प्रान्त का स्वतन्त्र शासक बना दिया जाय। यदि उनका यह विचार पूर्ण हो जाता तो महाराज जवाहरसिंह को निरन्तर युद्ध के लिए साधन मिलते रहते, क्योंकि पंजाब की तरफ़ से ही देहली की ओर आने वाले आक्रमण-कारियों के बीच में उनका राज्य पड़ता और भरतपुर राज्य भी आज की अपेक्षा बहुत बड़ा होता। वह इतना बड़ा होता कि जिसे "जाट साम्राज्य" के नाम से पुकार सकते थे।

महाराज सूरजमल की जिस समय मृत्यु हुई थी, उस समय भरतपुर राज्य का विस्तार और वैभव इस प्रकार था:—आगरा, धौलपुर, मैनपुरी, हाथरस, अलीगढ़, एटा, मेरठ, रोहतक, फ़र्रुखनगर, मेवात, रेवाड़ी, गुड़गाँव और मथुरा के ज़िले जाटों के अधिकार में थे। गंगाजी का दाहिना किनारा इस जाट राज्य की पूर्वी सरहद, चम्बल दक्षिणी, जयपुर का राज्य पश्चिमी और देहली का सूबा उत्तरी सरहद थे। इसकी लम्बाई पूर्व से पश्चिम की ओर २०० मील और उत्तर से दक्षिण १५० मील के क़रीब थी[1]।

राज्य की माली हालत के बारे में फ़ादर वेण्डिल लिखता है कि:—
"खज़ाने और माल के विषय में जो कि सूरजमल ने अपने उत्तराधिकारी के लिये छोड़ा भिन्न-भिन्न मत हैं। कुछ इसे नौ करोड़ बताते हैं और दूसरे कुछ कम। मैंने उसकी वार्षिक आय तथा व्याज का उन लोगों से जिनके हाथ में यह हिसाब था, पता लगाया है, जैसा कि मुझे मालूम हुआ है उसका खर्च ६५ लाख से अधिक और ६० लाख सालाना से कम नहीं था और अपने राज्य के अन्तिम ५-६ वर्षों में उसकी वार्षिक मालगुज़ारी

1—De Nabab Reno Madeo, see page 45,

एक करोड़ पचहत्तर लाख से कम नहीं थी। उसने अपने पूर्वजों के ख़जाने में ५।६ करोड़ रुपया जमा कर दिया। जवाहरसिंह के गद्दी पर बैठने के समय १० करोड़ रु० जाटों के ख़जाने में है। बहुत सा गढ़ा हुआ न जाने कहाँ है। यहाँ के गुप्त ख़जाने में अब भी बहुत से अमूल्य पदार्थ और देहली, आगरे की लूट की अद्वितीय तथा छटी हुई चीज़ें जिनका मिलना अब बहुत मुश्किल है बताई जाती हैं। ख़जाने के सिवाय सूरजमल ने अपने उत्तराधिकारी के लिए ५००० घोड़े, ६० हाथी, १५००० सवार, २५००० से अधिक पैदल, ३०० से अधिक तोपें और उतनी ही बारूद-खाना तथा अन्य युद्ध का सामान छोड़ा। "सियार" का लेखक लिखता है—"सूरजमल के तबेले में १२००० घोड़े उतने ही चुनीदा सवारों सहित थे जिनको कि उसने स्वयं दूसरों के घुड़-सवारों पर निशाना लगाने का और फिर अपनी बन्दूकें सुरक्षित होकर भरने के लिए चक्कर खाने का अभ्यास कराया था। यह आदमी रोजाना के अभ्यास से इतने निपुण और भयानक निशाने-बाज़ और मार्च करने में इतने चतुर बन गए थे कि हिन्दुस्तान में कोई भी ऐसी सेना नहीं थी जो खुले मैदान में उनका सामना कर सके और न ऐसे राजा के विरुद्ध लड़ाई मोल लेना ही फ़ायदा के लिए सम्भव समझा जाता था।"

महाराज जवाहरसिंह तारीख २ जनवरी सन् १७६४ ई० को अपने बाप की गद्दी पर बैठे। उनको भरतपुर के महाराजा होने में कुछ कठिनाइयाँ भी उठानी पड़ीं। बलराम जो कि महाराज सूरजमल की सेना का एक बड़ा सरदार और नाहरसिंह का मामा था वह चाहता था कि नाहरसिंह को भरतपुर का राजा बनाया जाय। जवाहरसिंह उस समय फ़र्रुख़नगर में थे। उन्होंने अपने भाइयों के लिए कहला भेजा कि यह समय उत्तराधिकारी बनने का समय नहीं किन्तु अपने पिता की मृत्यु का बदला लेने का है। मैं अपनी थोड़ी सी सेना को जो कि मेरे पास है लेकर चढ़ाई करूँगा और पीछे देखूँगा कि पिता का उत्तराधिकारी कौन है? इस धमकी से नाहरसिंह तो भरतपुर को छोड़ कर अपनी जागीर जो पिता के समय से मिली हुई थी धौलपुर को चला गया और बलराम ने इसमें बुद्धिमत्ता समझी कि वह जवाहरसिंह का साथी बन जाय। जवाहरसिंह के डीग में आने पर उन्हें राजतिलक किया गया। फिर भी महाराज जवाहरसिंह की स्थिति निर्बल थी। बैर में उनका चचेरा भाई बहादुरसिंह अपनी स्वतन्त्र रियासत क़ायम करने में लग रहा था। सरदारों की ओर से भी कोई अधिक सहयोग मिलने की आशा नहीं थी। फिर भी वे अपने पिता की मृत्यु का बदला लेने के लिए नजीबुद्दौला (नजफ़खां) पर चढ़ाई करना चाहते थे।

सन् १७६५ अक्टूबर महीने के अंत में एक बड़ी भयानक सेना लेकर देहली के दरवाजे के सामने सूरजमल की मृत्यु का बदला लेने और पानीपत विजय के मुस्लिम प्रभाव को नष्ट करने के लिए महाराज जवाहरसिंह जा डटे। इनके साथ निजी ६० हजार पैदल और सौ तोपें थीं। २५००० मरहठे होल्कर की अध्यक्षता में और लगभग २५००० सिख वेतन पर बुलाए गए थे। प्रत्येक सिपाही को एक रुपया रोज दिया जाता था।

महाराज जवाहरसिंह ने नजीबुद्दौला (नजफखां) को बाहर निकल कर लड़ने के लिए ललकारा। अफ़ग़ानों को बाहर निकलने का मौक़ा देने के लिए अपनी सेना को ४-६ कोस पीछे को हटा लिया। नजीबुद्दौला अफ़ग़ानों के साथ बाहर निकला। जाट भूखे भेड़िये के समान अफ़ग़ानों पर टूट पड़े। उन्होंने अफ़ग़ानों को शहर में घुसा दिया। महाराज जवाहरसिंह ने होल्कर तथा दूसरे सरदारों को साथ लेकर जमुना को पार करके शाहदरे को लूट लिया। जाटों की १७ नवम्बर की तोपों की लड़ाई से नजीबखाँ की सेनायें मैदान छोड़कर क़िले में घुस गईं। अब क़िले और शहर पर गोला पड़ना शुरू हुआ। तीन महीने तक जाट अफ़ग़ानों का नाक में दम करते रहे। फरवरी सन् १७६५ को सब्जीमण्डी और पशुओं की पैठ के समीप की ऊँची भूमि पर खड़े होकर अफ़ग़ानों ने सिख और जाटों पर गोलियों की बौछार की। किन्तु जाट गोलियों की कुछ भी परवा न करके अफ़ग़ानों के दल में घुस पड़े। विवश होकर अफ़ग़ानों को फिर भागना पड़ा। जब कि जवाहरसिंह को पूर्ण विजय मिलने ही को थी उनके नमकहराम दोस्त मल्हारराव होल्कर ने उनकी आशाओं पर पानी फेर दिया। फ़ादर वेण्डल लिखते हैं—

"मल्हारराव ने बड़ी लापरवाही और खुल्लम-खुल्ला नजीबखाँ की तरफ़-दारी प्रगट की। ऐसे समय पर जब कि रुहेले बिना किसी शर्त के आत्म-समर्पण करने ही वाले थे उसने तमाम मामले को बिगाड़ दिया। महाराज जवाहरसिंह को विवश होकर संधि की स्वीकृति देनी पड़ी। १४ फरवरी को नजीबुद्दौला की ओर से जाब्तिखाँ एक हाथी और अदब की पोशाक लेकर जवाहरसिंह की भेंट करने आया।"

जवाहरसिंह इस संधि से प्रसन्न नहीं थे। वह मल्हारराव से खुनस मानते हुए डीग को लौट आए। फिर भी देहली की लड़ाई में लूट में उन्हें बहुत से जवाहिरात और क़ीमती सामान हाथ लगे थे। "अष्ट धाती" नाम का फाटक जिसे कि चित्तौड़ से मुसलमान बादशाह देहली में ले गये थे आज तक भरतपुर में चढ़ा हुआ है। डीग में संगमरमर का सिंहासन भी दिल्ली की लूट का मौजूद है। भरतपुर के देहातों में अब भी ऐसी चीजें पाई जाती हैं जिन्हें वे देहली की लूट से लाया हुआ बतलाते हैं। जाटों में 'दिल्लीवारे की लूट' नाम की एक कहावत भी प्रचलित है।

देहली की चढ़ाई से लौट आने के पीछे उन्होंने अपने आन्तरिक शत्रुओं के दमन करने की अत्यन्त आवश्यकता समझी। उन्हें यह भी सन्देह हो गया था कि उनके सेना के सरदार मल्हारराव होल्कर की साज़िश में शामिल थे। उनके पास समरू नाम का प्रसिद्ध जनरल आ चुका था। महाराज ने उसकी अध्यक्षता में एक अच्छी सेना तैयार की। कुछ समय के पश्चात् वह आगरे गए और बलराम तथा दूसरे लोगों को गिरफ़्तार करा लिया। बलराम और एक दूसरे सरदार ने अपने अपमान के डर से आत्महत्या करली। महाराज जवाहरसिंह चाहते थे कि इन लोगों के पास जो बेईमानी पूर्वक इकट्ठा किया हुआ धन है वह उन्हें प्राप्त हो जाय। कहा जाता था कि मोहनराय सरदार के पास निजी सम्पत्ति को छोड़ कर ८० लाख रुपए नक़द थे। लेकिन मृत्यु पर्यन्त इन सरदारों ने जवाहरसिंह को कुछ नहीं बताया। महाराज जवाहरसिंह ने उनको, जिन पर कि कुछ भी धन होने का सन्देह था अत्यन्त कष्ट दिया।

इतना करने पर भी महाराज जवाहरसिंह को जितनी आशा थी, उतना धन प्राप्त न हुआ, क्योंकि वे लोग जिन्हें पूरे धन का पता था, दुराग्रह-पूर्वक पता बतलाने से मर जाना उचित समझे। इसके पश्चात् जवाहरसिंह के विरोध में एक शक्ति बहादुरसिंह की भी थी, जिसने महाराज सूरजमल की सेवाओं द्वारा बहुत-सा पुरस्कार भी पाया था। यह जवाहरसिंह का चचेरा भाई था और वैर का स्वामी था। बहुत से धन के साथ ही यह एक अच्छी सेना भी रखता था।

महाराज सूरजमल की मृत्यु के बाद बहादुरसिंह को अभिमान हो गया था। वह जाट-राज्य क़ायम करने और उस पर शासक होने का उतना ही अधिकार समझता था, जितना कि जवाहरसिंह। उसके तत्कालीन व्यवहारों द्वारा प्रगट होता था कि वह वैर के मैदान पर स्वतन्त्र शासक बन कर रहना चाहता था। वह जवाहरसिंह के रोकने पर भी बाज़ न आया। उसने क़िलेबन्दी करनी शुरू की। जवाहरसिंह अगस्त सन् १७६५ में वैर पर चढ़ आये और चारों ओर से घेरा डाल दिया। बहादुरसिंह ने पहिले से ही बड़ी तैयारी कर ली थी, इसलिए उसने डट कर सामना किया। तीन महीने तक इसी तरह आक्रमण होते रहे और बहादुरसिंह बेकार करता रहा। आखिरकार वह चालाकी से गिरफ़्तार कर लिया गया। जवाहरसिंह द्वारा क़ैद हो कर बहादुरसिंह भरतपुर लाया गया और नवम्बर सन् १७६५ में ही छोड़ दिया गया।

इधर महाराज जवाहरसिंह बहादुरसिंह के दमन में लगे थे और उधर नाहरसिंह जवाहरसिंह का छोटा भाई धौलपुर रहते हुए भरतपुर पर अधिकार कर लेने की चेष्टा में था। वह यह अच्छी तरह जानता था कि जवाहरसिंह बहादुरसिंह से निपट कर तेरी ओर फिरेगा। संयोग से मल्हारराव होल्कर भी समीप के ही एक जाट सरदार की ताक में फिर रहा था। नाहरसिंह ने भरतपुर पर अधिकार करा

परन्तु महाराज जवाहरसिंह के इरादे केवल इरादे ही न थे। उस समय की बढ़ती हुई शक्ति में सिख सैनिक उसकी अध्यक्षता में रहते थे। इसलिए समस्त उत्तरी भारत में सूरजमल के जाट राज्य की डाली हुई नींव को वह पूरा और दृढ़ कर लेने के विचार में था। अब्दाली के मुक़ाबिले में डटे रहने के लिए सिख काफ़ी थे और इधर वह मरहठों के लिए तरकीबें सोच रहा था। मालवा के जाटों को जट-सङ्घ में मिला कर वह मरहठों को दबा कर देने की तैयारी कर रहा था।

गोहद का राणा छत्रसाल अत्यन्त वीरता और बहादुरी से मरहठों से युद्ध कर रहा था। पंजाब और भरतपुर के जाटों की भाँति वहाँ के जाटों ने भी अपने स्वतन्त्र विचार और महान् साहस का परिचय दिया। मरहठों की विशाल सेना के सामने भी वर्षों तक अपने स्वतन्त्र विचार और ध्येय को क़ायम रखा। महाराज जवाहरसिंह ने वीरवर राणा छत्रसाल की सहायता कर मरहठों की शक्ति क्षीण करने की ठान ली।

जब माधोराव पेशवा को इस जबरदस्त "जट-सङ्घ" का पता चला तो उसे बड़ा भय हुआ। क्योंकि वह जानता था कि इसकी जड़ बड़ी मजबूत है और वह है जवाहरसिंह, जिसकी मार से मराठे धौलपुर से कुछ दिन पहिले ही भाग आये थे जिनके समाचार वह पा चुका था। उसने १७६६ बसन्त ऋतु में रघुनाथराव को होल्कर के साथ ६० हज़ार घुड़सवार और एक सौ बड़ी तोपों के साथ मराठों का दबदबा जमाने के लिए भेजा। रघुनाथराव ने पहिले ही गोहद पर घेरा डाल दिया और बड़ी कड़ी-कड़ी माँगें पेश कीं। जवाहरसिंह इस समय बहुत बीमार था। परन्तु शीघ्र ही स्वास्थ्य लाभ कर लेने पर मरहठों से युद्ध करने पहुँच गया। पर जिस दुर्भाग्य से हमारे देश भर को कितनी ही वार भयंकर विपत्तियाँ सहनी पड़ीं और देश इस चिन्त्य-दुर्दशा पर पहुँच चुका है वही दुर्भाग्य वहाँ भी अड़ गया। महाराज के दल में दो दुष्ट जयचन्द खड़े हो गए। उन्होंने थोड़े से लालच पर महाराज जवाहरसिंह को उसी के कैम्प में क़ैद करा देने का वायदा किया। फूट जाने वाले विश्वासघाती अनूपगिरि गोसाईं के भेद की सूचना गुप्तचरों द्वारा महाराज को ठीक समय पर लगी। उन्होंने अर्द्ध रात्रि के समय ही अपनी सेना को तैयार किया और एक दम से गोसाइयों के कैम्प पर हमला कर दिया। दुष्ट विश्वासघाती ने बड़ी कठिनता से भाग कर प्राण बचा पाए, परन्तु उसके साथी एक बड़ी संख्या में क़ैद कर लिए गए। उनका कैम्प लूट लिया जिसमें १४०० के करीब घोड़े, १० हाथी, १०० तोपें व अन्य और भी कितना ही सामान महाराज के हाथ आया। इस प्रकार उन्हें उनकी करनी का फल मिल गया।

इसी समय अब्दाली ने फिर पैर बढ़ाया और मरहठों की तरह वह भी भारत में पुनः रौब-दौब बैठाने पंजाब में उपस्थित हुआ। अब्दाली से सामना करने के लिए जवाहरसिंह और रघुनाथराव में एक संधि हुई—एक तरह से उन्होंने

अपने झगड़ों का फ़ैसला किया। आपस में यह तय पाया कि १—जो क़ैदी भरतपुर में हैं छोड़ दिए जाँय। २—जब कि मरहठे दूसरी सन्धि की शर्तों को पूरा कर दें तो जवाहरसिंह मल्हारराव के तय किए हुए बक़ाया रुपये दे दें। ३—रघुनाथराव, महाराज जवाहरसिंह के राज्य के आस-पास का राजपूताने का हिस्सा राजा को ५०००००) रुपया सालाना लगान पर दे दें।

इस प्रकार यह शर्तें दोनों ओर से ही साफ़ दिल से नहीं हुई थीं और न इन्हें निभाने की इच्छा ही थी अगर किसी ओर वालों को इसे तोड़ देने से लाभ दिखलाई पड़ता। सन् १७६७ के मध्य तक सिखों के जोर पकड़ जाने से अब्दाली का भय न रहा। उस समय जवाहरसिंह चुप-चाप बैठा न रहा। उसने वर्षा ऋतु में ही युद्ध के लिए क़दम बढ़ाया। अटेर और भिंड जहाँ के राजा मरहठों के अधीन थे, महाराज जवाहरसिंह पहिले इन्हीं की ओर बढ़ा। वह उस ओर बहुत बढ़ गया जितना कि उसने स्वयं न सोचा था। उसने अपनी शक्तिशाली सेना के साथ कालपी तक मरहठे और छोटे-छोटे अन्य जागीरदारों को अपने अधिकार में कर लिया। इस तरह जाट राज्य की सीमा उसने बहुत कुछ बढ़ा दी।

भारतवर्ष में एक शक्ति इस समय और पैर जमा रही थी और वह थी अंग्रेज़! परन्तु अंग्रेज़ भी किसी ऐसे मित्र की खोज में थे जो उनकी मदद कर सके। चतुर अंग्रेज़ों ने महाराज जवाहरसिंह के पास १६ अगस्त सन् १७६५ ई० को एक पत्र भेजा, जिसमें लिखा गया था कि महाराज अगर समरू नामक जर्मन को अपने यहाँ से हटा दें तो अंग्रेज बाहरी आक्रमणों के विरुद्ध भरतपुर की सहायता करेंगे। परन्तु महाराज ने इस पत्र पर किंचित भी ध्यान न दिया। यहाँ तक कि महाराज इसके लिए एक दम भूल गए। लेकिन अँगरेज़ महाराज जवाहरसिंह से संधि करने के लिए व्यग्र हो रहे थे। वे बार बार इसकी चेष्टा कर रहे थे। जवाहरसिंह ने देखा कि संधि के लिए मराठे जब स्वयं प्रार्थना कर रहे हैं तो उनसे तो संधि के लिए दरख्वास्त की गई है। वह शीघ्र ही अब्दाली के विरुद्ध अँगरेज़ों में जा मिला। संधि शर्तों को ईमानदारी से पालने के कारण वह अधिक अँगरेज़ों की तरफ़ आकर्षित हुआ। जवाहरसिंह ने भी अपनी मित्रता को पूरी तरह निभाया। अँगरेज़ों से मित्रता होने पर उसने अब्दाली से किसी तरह का सम्बन्ध न रक्खा और उसके प्रार्थना करने पर भी अपने निश्चय और पद पर अटल रहा। इसी तरह मरहठों से अँगरेज़ों के कारण मित्रता तोड़ दी। महाराज जवाहरसिंह ने इस समय भी जब भी मौक़ा मिला मराठों के राज्य पर हाथ मारा और उनकी उदासीनता के कारण मरहठों के बहुत से अधिकृत प्रदेश पर अपना कब्ज़ा कर लिया।

महाराज जवाहरसिंह का प्रताप-सूर्य शिखर पर था। वह अपने बढ़े हुए राज्य-प्रबन्ध की उतनी चिन्ता में न था जितना कि बढ़ाने में। महाराज जवाहर-

सिंहजी राजपूतों को अपने से अधिक ऊँचा कभी न खयाल करते थे। बल्कि अपने को यादव-कुल होने से सूर्य्य वंशी, चंद्र वंशी राजपूतों से अपने को उच्च बतलाते थे। एक समय जयपुर के राजा के लिए एक सलाहकार ने राय दी कि—"महाराज वह (जयपुर के शासक) रामचन्द्र जी के वंशज हैं जिन्होंने समुद्र का पुल बाँधा था; इसलिए उनकी प्रतिष्टा करनी चाहिए।" इस पर महाराज ने उत्तर दिया—"इसमें उनका कौनसा वड़प्पन है कि उन्होंने समुद्र का पुल बाँधा था। मेरे पूर्वज तो गोवर्द्धन पहाड़ को एक सप्ताह तक अँगुली पर थामे रहे थे।" महाराज सूरजमल तो व्रज पर ही शासक होने से व्रजराज कहला कर सन्तुष्ट हो गए थे परन्तु जवाहरसिंह ने अपना वहुत कुछ राज्य वढ़ा लिया था और अभी उसकी और इच्छा थी। उन्होंने महत्वाकांक्षी होने से अपनी पदवी "महाराज सवाई जवाहरसिंह भारतेन्दु" धारण कर ली थी। उन्होंने दरवार की सजावट भी सम्राटों की तौर पर की थी।

देहली पर चढ़ाई करने के समय देहली के आस-पास और मेरठ के जाटों ने जब सुना कि जाट-नरेश जवाहरसिंह देहली पर चढ़ाई करने को चढ़ कर आया है तो वे लाठी, वल्लम जो भी हाथ लगा लेकर सेना में आ मिले। इसी तरह व्रज के जाट भी उनके साथ सम्मिलित होते थे। जब उन्होंने मालवे पर चढ़ाई की तो वहाँ के जाटों का हाल और प्रेम भी वह देख चुके थे। अव उनकी इच्छा राजपूताने की ओर पश्चिम के जाटों को देखने की हुई। उनका राज्य तीन ओर तो वढ़ चुका था अव यह चौथी कोण वाकी थी जिस पर कि उन्होंने अव तक ध्यान न दिया था।

अलवर राज्य के संस्थापक राजा प्रतापसिंह के द्वारा जवाहरसिंह को उधर की तरफ़ वढ़ने का अधिक समर्थन हुआ। उसने समर्थन ही नहीं वल्कि इनसे प्रार्थना की क्योंकि यह जयपुर-नरेश से झगड़ा कर महाराज सूरजमल की रक्षा में आया था। इसलिए यह चाहता था कि जिस राज्य ने इसके साथ अन्याय किया है उसका बदला ले। वास्तव में भरतपुर और जयपुर के विरोध का कारण भी अधिकतर यही था। लेकिन वाद में इसी की विश्वास-घातकता से महाराज जवाहरसिंह को उसी प्रकार लाभ को छोड़ भयंकर हानि उठानी पड़ी। इस हानि का फल भी जवाहरसिंह के लिए वहुत वुरा हुआ। महाराज ने जिसकी भलाई की उसी ने धोका दिया। ठीक ही है—

"पयः पानं भुजंगानां केवलं विष वर्द्धनम्।"

भारतेन्दु जवाहरसिंह ने पुष्कर स्नान के नाते सदल-बल यात्रा कर दी। रावराजा प्रतापसिंह भी महाराज के साथ था। जाट सैनिकों के हाथ में बसन्ती झण्डे फहरा रहे थे। जयपुर नरेश के इन जाटवीरों की यात्रा का समाचार सुन कान खड़े हो गये। वह घवड़ा सा गया। हालांकि जवाहरसिंह इस समय किसी ऐसे इरादे से नहीं गये थे। पर यात्रा की थी शाही ढङ्ग से। जयपुर नरेश वग़ैरह

किसी सूर्यवंशी, चन्द्रवंशी जागीरदार की हिम्मत न पड़ी कि जाते हुए जाट वीर को रोक सके। वह गाजे-वाजे के साथ निश्चित स्थान पर पहुँच गये।

स्नान-ध्यान करने के पश्चात् भी महाराज कुछ दिन वहाँ रहे। राजा विजयसिंह से उनकी मित्रता हुई। इधर महाराज के जाते ही राजपूतों में तूफ़ान सा मच गया। उधर के शासित जाट और इस शासक जाट राजा को वे एक दृष्टि से देखने लगे। उन्हें इसका स्मरण भी न था कि शासित राजपूतों और अपने पर एक सरसरी नजर से भी देख लेते। इस क्षुद्र विचार के उत्पन्न हो जाने से राजपूतों में उद्दण्डता आगई और झुण्ड के झुण्ड जयपुर नरेश के पास पहुँच कर उन्हें उकसाने लगे। परन्तु जाट सैनिकों से जिन्हें कि उन्होंने जाते समय देख लिया था उनकी वीरता और अधिक तादाद को देख कर आमने-सामने का युद्ध करने की इनकी हिम्मत न पड़ती थी।

महाराज जवाहरसिंह में जाति-प्रेम की अत्यधिक मात्रा थी। वह अधिकतर स्नान करने के बजाय उधर वहाँ के जाटों की परिस्थिति देखने के ख़याल से गया था। इसी कारण जब उसे मालूम हुआ कि तौरावाटी (जयपुर का एक प्रान्त) में अधिक संख्या में जाट निवास करते हैं तो उधर वापिस लौटने का निश्चय किया। राजपूतों ने लौटते समय आक्रमण करने की पूरी तैयारी करली थी। यहाँ तक कि जो प्रतापसिंह निराश्रय होकर भागकर भरतपुर राज की शरण में गया था और उन्होंने आश्रय ही नहीं कई वर्ष तक अपने यहाँ सकुशल और रक्षित रखा था षड्यन्त्र में शामिल हो गया। उसने महाराज की परिस्थिति—वातावरण का पूरा भेद दिया। राजपूत तंग रास्ते नाले वग़ैरह में महाराज जवाहरसिंह के पहुँचने की प्रतीक्षा करते रहे। वे ऐसा अवसर देख रहे थे कि जाट वीर एक दूसरे से अलग हो दो-तीन भागों में दिखलाई पड़ें कि आक्रमण कर दिया जाय।

तारीख १४ दिसम्बर सन् १७६७ को महाराज जवाहरसिंह एक तंग रास्ते और नाले में से निकले। स्वभावतः ही ऐसे स्थान पर एक साथ बहुत कम सैनिक चल सकते हैं। ऐसी हालत में वैसे ही जाट एक लम्बी कतार में जा रहे थे। सामान वग़ैरह दो-तीन मील आगे निकल चुका था। आमने-सामने के डर से युद्ध न करने वाले राजपूतों ने इसी समय धावा बोल दिया। विश्वास-घातक प्रतापसिंह पहिले ही महाराज जवाहरसिंह का साथ छोड़कर चल दिया था। घमासान युद्ध हुआ। जाट वीरों ने प्राणों का मोह छोड़ दिया और युद्ध-भूमि में शत्रुओं पर टूट पड़े। जयपुर नरेश ने भी अपमान से क्रोध में भरकर राजपूत सरदारों को एकत्रित किया। जयपुर के जागीरदार राजपूतों के १० वर्ष के बालक को छोड़कर सभी इस युद्ध में शामिल हुए थे। सब सरदार छिन्न-भिन्न रास्ते जाते हुए जाट सैनिकों पर पिल पड़े। जाट सैनिकों ने भी घिर कर राजपूतों के युद्ध के आव्हान को स्वीकार किया

और घमासान युद्ध छेड़ दिया। आक्रमण-कारियों की पैदल सेना और तोपखाना बहुत कम रफ़्तार से चलते थे। जाट सैनिकों ने इसका फ़ायदा उठाया और घाटी में घुसे। क़रीब मध्याह्न के दोनों सेनायें अच्छी तरह भिड़ीं। इस समय महाराज जवाहरसिंहजी की ओर से मैडिक और समरू की सेनाओं ने बड़ी वीरता और चतुराई से युद्ध किया। जाट सैनिकों ने जयपुर के राजा को परास्त दी। परन्तु जाटों की ओर से सेना संगठित और संचालित होकर युद्ध क्षेत्र में उपस्थित न होने के कारण इस लड़ाई में महाराज जवाहरसिंह को सफलता न मिली। लेकिन वह स्वयं सदा की भाँति असाधारण वीरता और जोश के साथ अँधेरा होने तक युद्ध करते रहे। जयपुर सेना का प्रधान सेनापति दलेलसिंह अपनी तीन पीढ़ियों के साथ मारा गया। यद्यपि इस युद्ध में महाराज को विजय न मिली और हानि भी बहुत उठानी पड़ी परन्तु साथ ही शत्रु का भी कम नुक़सान नहीं हुआ। कहते हैं युद्ध में आये हुए क़रीब २ समस्त जागीरदार काम आये और उनके पीछे जो ८-१० साल के बालक रहे थे पीढ़ी चलाने के लिए शेष रहे थे। इसमें सन्देह नहीं कि महाराज जवाहरसिंह को वहाँ के जाटों की परिस्थिति और मनोवृत्ति का भी पता चल गया कि बहुत दिन तक शासित रहने के कारण उनका स्वाभिमान मर चला है। नहीं तो क्या कारण था कि जब वह देहली की ओर चढ़ाई करने गया तो यू० पी० और मेरठ के जाट प्रत्येक घर से लाठी कंधे पर रखकर आ मिले और महाराज पर इधर आक्रमण होने पर भी उनके कानों पर जूं भी न रेंगी।

महाराज जवाहरसिंह की यात्रा शुभ फलदायक न हुई। अब उनका मध्याह्न सूर्य ढला। परिवर्त्तनशील संसार का यही नियम है कि हमेशा एक सी धाक (समय) नहीं रहती। इस महत्त्वाकांक्षी जाट सरदार को भी परिवर्त्तन का सामना करना पड़ा। उसके शत्रुओं ने जब सुना कि जवाहरसिंह को जयपुर वाले युद्ध से हानि हुई है तो उन्होंने देख लिया कि अब मौक़ा है। यह समाचार सुनते ही चम्बल पार का प्रदेश विद्रोही बन गया और जिस शीघ्रता से वह जाट-राज्य में मिला था उसी तरह निकल भा गया। इधर माधौसिंह का भी साहस बढ़ गया था और भारी हानि उठाने के कारण बदला लेने के लिए ६० हज़ार सेना के साथ जाट-राज्य में घुस गया। फ़र्रुख़नगर का नवाब मुसाबीखां बलोच (जो कि एक वर्ष पूर्व ही भरतपुर से उदारता-पूर्वक क़ैद से रिहा हुआ था) और रुहेले राजपूतों की सहायता करने को तत्पर हो गए। ठीक ही कहा है "दुर्दिन पड़े रहीम कहि, भूलत सब पहिचान" की भांति सिख भी महाराज की मित्रता छोड़ने पर उतारू हुए और उसके दोनों बाहरी प्रान्तों को छोड़ना शुरू किया। माधौसिंह के आगे बढ़ने और आगरे के दुर्ग को मुसाबीखां की सेना से मिल कर जीतने के लिए शाही हुक्मनामा भेजा।

इस समय प्रत्येक व्यक्ति महाराज जवाहरसिंह को राजपूतों से सुलह करने की सलाह दे रहा था, परन्तु स्वाभिमानी जाट-सरदार ने गौरव-पूर्ण समझौता युद्ध

के बीच लड़ कर तय कर लेना पसन्द किया। वह युद्ध के लिए तत्परता से तैयारी करने लगा। उसने सिखों को लूट के लोभ के बदले ७ लाख रुपये दिये। एम० मैडिक का भत्रा सेना बढ़ाने के लिये ५०००) रुपये माहवार बढ़ा दिया। अब राजपूतों को भय हुआ। वे सोच रहे थे जवाहरसिंह स्वयं सन्धि का प्रस्ताव करेगा, परन्तु अब उन्होंने देखा कि सिखों को उसने अपनी ओर कर लिया है, तो वे घबड़ाये। उनके सभी इरादों पर पानी तो फिरा सो फिरा, लेने के देने पड़ गये। जाट-राज्य से सकुशल निकल जाना उन्हें असम्भव मालूम हुआ। आगत भय की आशंका से महाराज जवाहरसिंह से उन्होंने सन्धि कर लेना ही अपनी रक्षा का एक मात्र उपाय सोचा। जाट-नरेश से सन्धि-प्रार्थना कर सन्धि कर ली गई और वह शीघ्रता से अपने स्थान को लौट गये। इस तरह से राजपूत पंजाब के भयानक घुड़सवारों के आने से पहिले ही अपने देश में पहुँच गये।

जब से जवाहरसिंह राजपूताने से लौटा था वह शान्त न बैठा था। उसके शत्रुओं ने भूल की थी कि वह साहस-हीन हो गया। यद्यपि उस समय उसे शत्रुओं के एकदम खड़े हो जाने से उसे हानि तो बहुत उठानी पड़ी पर [illegible] अस्थिर न हुआ। उसका स्वभाव ही अल्हड़पन की वीरता से ओतप्रोत था। [illegible] यह तो जानता ही न था कि भय किसे कहते हैं। लड़ाई करने की इच्छा उ[illegible] रग-रग में भरी थी। बिना लड़ाई के किये उसके लिए जीवन नीरस था। माध[illegible] के चले जाने पर जब उसने देखा कि यह आया हुआ युद्ध रूपी खेल खेल[illegible] अवसर निकल गया तो मैडिक के एक क़िले को जहाँ राजपूतों का एक [illegible] वंश राज्य करता था अधिकार में करने की तैयारी कर कूँच कर दी। डेढ़[illegible] पश्चात् वह क़िले पर चढ़ने में समर्थ हुआ। उसकी सेना जब क़िले के गो[illegible] से भयभीत होगई तो भी यह निडर भाव से डटा रहा। दूसरी बार वह दराज के नीचे से गया और दुर्ग-रक्षक डर कर अधीन हो गये।

महाराज जवाहरसिंह इस तरह दृढ़ चित्तता और अदम्य उत्सा[illegible] सम्हल बैठा था जिसे जानकर शत्रुओं को भय होने लगा था। अत्य[illegible] से महाराज ने बिगड़ी हुई परिस्थिति को फिर वैसा ही बना लिया। उ[illegible] पहिले की भांति चमकने लगे और राज्य धन-धान्य से समृद्ध होने [illegible] प्रजा का प्रेम भी प्राप्त हो गया। उसने अपनी सेना का योरोपियन ढं[illegible] किया, तोपखाने बढ़ाये जिससे बाहर वाले उसकी प्रतिष्ठा करने [illegible] शत्रुओं को बड़ा भय हुआ कि कहीं उसके क्रोध का ज्वालामुखी [illegible] पड़े। परन्तु दुर्भाग्य से होना कुछ और ही था जिससे उसके [illegible] चिराग़ जल गये।

[illegible] मास में महाराज भारतेन्दु जवाहरसि[illegible] [illegible]वंश-भास्कर' में उस[illegible]

सुजात मेव लिखा है। "इमाद" का लेखक लिखता है कि—*महाराज जवाहरसिंह ने केवल अज़ाँ देने पर एक मनुष्य की जिह्वा निकलवा ली थी। आगरे की मसजिद को बाजार कर दिया था और उसमें अनाज की दुकानें खुलवा दी थीं। कोई भी कसाई मांस नहीं बेच सकता था।* इससे सम्भावना होती है कि किसी तास्सुबी मुसलमान ने उन्हें मार डाला होगा।

महाराज जवाहरसिंह की मृत्यु के लिए इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि जाटों का सितारा, हिन्दू-धर्म का रक्षक जिसकी अभी भारी आवश्यकता थी असमय में ही विलुप्त हो गया। उनके निधन से जाट-साम्राज्य की गाड़ी तो रुक ही गई पर साथ ही हिन्दू-हितों को भी भारी ठेस लगी।

भारतेन्दु जवाहरसिंह में अपने पिता की जैसी योग्यता, शासक होने के गुण, साहस, धीरता, स्वाभिमान और वीरता पूर्णतः विद्यमान थी। उसके शासन-प्रबन्ध की योग्यता का इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि उसने अपने काल में अगणित लड़ाइयों में लड़ते हुए लगे रहने के कारण भी शासन-प्रबन्ध सुधारने और शान्ति स्थापित करने में शिथिलता न आने दी। उसका दरबार बड़ा सजधज का था। वह अपनी सेना का वेतन ठीक समय पर चुकवा देता था जिससे फ़ौज में किसी तरह की अशान्ति पैदा होने का अवसर ही न आता। समय-समय पर सैनिकों को पुरस्कार देकर भी उनका उत्साह बढ़ाता था। उसके राजनैतिक विचार योरोपियन सैनिकों की दृष्टि में भी बड़े अनुभव के थे। वह राज्य को झगड़ों और बखेड़ों में फाँस कर नहीं मरे बल्कि एक बड़ी संगठित सेना राज-भक्त अफ़सरों के नीचे छोड़ी। महाराज जवाहरसिंह में अगर कोई अपने पिता का गुण नहीं था तो सिर्फ़ यही कि वह मुसलमानों को उनकी तरह न देखता था। वह मक़बरों और मस्जिदों का कट्टर शत्रु था। कहते हैं कि वह बादशाह जहाँगीर के काले पत्थर के तख़्त पर भी बैठ गया था। यह उसी जाट राजा की धाक थी कि आगरे की सब से बड़ी जुम्मा मस्जिद को बाज़ार बना दिया गया था। अनाज के बेचने वाले व्यापारियों को वहाँ अपना माल बेचने के लिए इकट्ठा करने का हुक्म था। लोग एक बड़ी तादाद में जाते और वहाँ ख़रीद-फ़रोख़्त होती। उसने बड़े-बड़े कड़े दण्डों से सर्व साधारण में मुसलमानी धर्म-प्रचार करना बन्द कर दिया। अज़ाँ देने की प्रथा बिलकुल रोक दी गई। जवाहरसिंह ने ही जाट-सङ्घ की नींव डाल कर स्वयं भारतेन्दु की पदवी धारण की थी। जाट राज्य की वह बढ़ी हुई शक्ति, जाटों का गौरव सूर्य्य महाराज की असामयिक मृत्यु से अस्त हो गया।

महाराजा रतनसिंह

वीरवर महाराज जवाहरसिंह की मृत्यु के पश्चात् मई सन् १७६८ में महाराज रतनसिंह गद्दी पर बैठा। यह जवाहरसिंह का छोटा भाई था। परन्तु उसमें शासन-योग्यता की कमी थी। उसके शासन-काल में विशेष उल्लेखनीय घटना नहीं हुई। दुस्सादत के

के अनुसार उसने दस महीने तेरह दिन राज्य किया। कहते हैं कि वह एक
र गुसाईं के बहकाव में आ गया। उसने उन्हें सोना बना कर दिखाने का
कार वतलाया। जब महाराज ने उसे बना हुआ सोना दिखलाने के लिए कहा
उसने एकान्त में अकेले राजा को दिखाने का वायदा किया और जब राजा को
केला पाया तो उन्हें तलवार से मार डाला और स्वयं भी मर गया।

यह महाराज रतनसिंहजी के सुपुत्र थे। जिस समय उनके पिता का स्वर्ग-
वास हुआ उस समय वे केवल दो वर्ष के थे। दानशाह नामक
एक सरदार को महाराज के शासन-कार्य में सहकारी नियुक्त
किया गया। किन्तु उससे महारानी किशोरी असन्तुष्ट थीं,
इसलिए उसे निकाल कर कुँवर नवलसिंहजी को महाराज का
सहकारी नियुक्त किया। यह महाराज जवाहरसिंह के भाई थे। महारानी किशोरी
और उनका मनमुटाव आरम्भ से ही था। फिर भी महारानी किशोरी
चाहती थीं कि राज-काज भली प्रकार चले। इसलिए एक दिन उन्होंने इन्हें कुम्हेर
में इसलिए बुलाया कि पहिली वैमनस्य की वातें भुला दी जायँ। किन्तु नवलसिंहजी
को कुम्हेर जाने पर कुछ सन्देह मालूम हुआ। उन्हें बताया गया कि आपको यहाँ
धोखे से बुलाया गया है। वह चुपचाप वहाँ से चल दिए और पाँच हजार सैनिक
लेकर कुम्हेर पर चढ़ाई कर दी। राव रतनसिंहजी भी इस चिन्ता में थे कि
भरतपुर पर उनका अधिकार जमे। इस समय को लड़ने के लिए उपयुक्त समझ
और नवलसिंह के मुक़ाबिले पर आ डटे। उन्होंने सिख और मराठों की बीस
हजार सेना किराये पर मँगा ली। इस बार विजय कुँवर नवलसिंह की ही हुई।
यह घरू युद्ध बराबर चार महीने चला था।

महाराज केहरीसिंह

रणजीतसिंहजी को अपनी हार से दुख हुआ इसलिए वे चुप न बैठे। फिर
उन्होंने मराठों को बुलाया। इस बार मराठा एक लाख सेना लेकर चढ़ आये।
नवलसिंह ने बीस-पचीस हजार नागे लेकर मराठों का मुक़ाबिला किया।
अऊ नामक स्थान पर युद्ध हुआ। लगातार पाँच दिन तक युद्ध होता रहा। विजय
का कोई उपाय न देखकर नवलसिंह ने मराठों को सत्तर लाख रुपये देकर अपने
देश को वापिस चले जाने पर तैयार कर लिया। इस सन्धि के अनुसार यमुना
के पूर्ववर्ती देश भी मराठों को देने पड़े। लौटते हुए मराठों से राव रणजीतसिंह ने
रूपवास में भेंट करके पूछा—"आप तो हमें राज दिलाने आये थे अब कहाँ जा
रहे हैं?" मराठों ने कहा—हम आपको राज्य तो दिलाना चाहते हैं। इस बार उनका
मान बिगाड़ने के लिए रणजीतसिंह ने कहा—"भरतपुर तो हमारा है ही" आप
क्या दिलायेंगे? वास्तव में उनके हृदय को एक दम इतनी हानि होते देखकर दुख
हुआ था। वे अपने भाई नवलसिंह के पास गोवर्धन पहुँचे, क्योंकि इस समय
गोवर्धन में ही थे।

भरतपुर के राज-परिवार को इस तरह घरेलू झगड़ों और शाही युद्धों में फँसा हुआ देखकर माचेडी के राव प्रतापसिंह ने जो कि किसी समय भरतपुर में शरणागत रहा था भरतपुर के अधीनस्थ अलवर, बहादुरपुर, देहरा, भिदौली, बानसूर, बहरोर, बरौद, रामपुर, हरसौरा, हाजीपुर, नारायनपुर, थानागाजी और गढ़ी मासूर पर अधिकार कर लिया। अलवर को प्रतापसिंह ने युद्ध द्वारा और बहादुरी के साथ प्राप्त नहीं किया; किन्तु अलवर के क़िलेदारों को लालच देकर अपनी ओर मिलाया था। उन लोगों की कई महीने की तनख़्वाहें चढ़ी हुई थीं१। राजाधानी भरतपुर में आन्तरिक कलह छिड़ा हुआ था। प्रतापसिंह एक स्वतंत्र राजा बन गया और अलवर का क़िला भरतपुर के हाथ से क़तई निकल गया। यह घटना सन् १७७५ से १७८२ ई० के बीच की है।

इससे भी पहिले नजफ़खाँ ने आगरे पर सन् १७७३ ई० में आक्रमण किया। दुर्ग के जाट सिपाहियों ने डट कर युद्ध किया किन्तु नजफ़खां सवाया पड़ा। नजफ़खाँ जब रुहेलखण्ड की ओर गया तो कुँवर नवलसिंह ने बदला चुकाने के लिए उसकी राजधानी देहली पर चढ़ाई की। दस हज़ार सवारों से ही सिकन्दराबाद को विजय कर लिया। किन्तु अपने सरदारों के षड्यंत्र के कारण वापिस लौट आए। आगरा जाटों के ही अधिकार में रहा। दूसरी बार नवलसिंहजी ने समरू की सेना लेकर देहली पर फिर चढ़ाई की। किन्तु उस समय नजफ़खाँ रुहेलखण्ड से लौट आया था।

थोड़े ही दिनों बाद नजफ़खाँ ने धोखे से बरसाने और डीग पर चढ़ाई करदी। लगातार चौदह महीने तक नवलसिंह ने उससे युद्ध किया। विवश होकर उन्हें डीग छोड़नी पड़ी। इन्हीं दिनों संवत् १८३३ वि० में नवलसिंह की मृत्यु हो गई। नवलसिंहजी साहित्यक पुरुष थे। उनके पास शोभाराम नाम का कवि रहता था। उसने "नवल-रसनिधि" नामक काव्य पुस्तक लिखी है।

नवलसिंह की मृत्यु के पश्चात् राव रतनसिंहजी महाराज केहरीसिंह के मंत्री नियुक्त हुए। दानशाह ने इनको थोड़े दिन भी आनन्द से मंत्रित्व न करने दिया। वह रुहेलों को चढ़ा लाया। अचानक रात्रि में रुहेलों ने रणजीतसिंह की सेना पर छापा मार कर बहुत नुक़सान पहुँचाया। दानशाह ने कुम्हेर के क़िलेदार को भी बहकाना चाहा। किन्तु वह दानशाह की बातों में नहीं आया। राव रणजीतसिंह को इसी वर्ष डीग पर अधिकार करके नजफ़खाँ से भी लड़ना पड़ा।

संवत् १८३४ वि० में जब कि महाराज केहरीसिंह केवल बारह वर्ष के थे उनके शीतला (चेचक) निकल आई और इसी संक्रामक रोग में उनका स्वर्गवास हो गया। नवलसिंह ने केहरीसिंह के राज्य की रक्षा के लिए घर और बाहर के

१—राजपूताना गज़ेटियर।

सभी लोगों से युद्ध किये थे। किन्तु केहरीसिंह राज का सुखोपभोग करने का समय आने से पहिले ही इस संसार से चल बसे। इस समय यह प्रश्न खड़ा हुआ कि जाट-राज्य का अधीश्वर किसे बनाया जाय ?

महाराज रणजीतसिंहजी

महाराज केहरीसिंहजी के बाद भरतपुर और जाट जाति का अधीश्वर महाराज रणजीतसिंहजी को बनाया गया। अब वे राव से महाराज हो गए। डीग इस समय तक भी नजफ़खां के अधिकार में था[1]। किन्तु उसके पीछे लोगों ने विद्रोह खड़ा कर दिया। विद्रोह को शान्त करने के लिए जब नजफ़खां डीग की ओर आया तो महाराज रणजीतसिंह और महारानी किशोरी देवी ने मार्ग में उससे मुलाक़ात की और उसकी आव-भगत भी की। नजफ़खां जानता था कि जाट डीग को उसके कब्जे में रहने नहीं देंगे, इसलिए उसने अपना अहसान करने की ग़र्ज से नौ लाख की आमदनी के अन्य परगने महाराज रणजीतसिंहजी को दे दिये और आप इस तरफ़ के झगड़ों से निश्चिन्त हो गया।

सन् १७८२ ई० में नजफ़खां मर गया। महादाजी सेंधिया ने जो कि अपना राज्य बढ़ाने की चेष्टा में लगा हुआ था, मिर्जा नजफ़खां के दिये हुए इलाक़े को अपने कब्जे में करने के लिए लड़ाई छेड़ दी। महाराज रणजीतसिंहजी अभी अपनी शक्ति का संगठन भी भली प्रकार नहीं कर पाये थे, इसलिए वे सेंधिया पर विजय प्राप्त न कर सके। उनके हाथ से परगने निकल गये। सन् १७८३ ई० में मुग़लों के कर्मचारियों की अनबन से लाभ उठा कर महाराज रणजीतसिंह ने डीग पर अपना अधिकार जमा लिया। उन्हीं दिनों मिर्ज़ा शफ़ी की रणजीतसिंह के राज्य में अऊ नामक स्थान पर मृत्यु हो गई। महादाजी सेंधिया जब ग्वालियर से आगरा आया तो उसने सन्देह किया कि शफ़ीखां को महाराज रणजीतसिंहजी ने मरवा डाला है। किन्तु जब वह देहली की ओर जाने लगा तो राजमाता किशोरी और महाराज रणजीतसिंहजी ने उससे मार्ग में भेट करके सब बातें समझाईं। वह बहुत प्रसन्न हुआ। उसने महाराज रणजीतसिंहजी से मित्रता कर ली और दस लाख वार्षिक आमदनी के ग्यारह परगने उसने महाराज को दे दिये।

सन् १७८६ ई० में महादाजी सेंधिया का जयपुर और जोधपुर के सम्मिलित राजाओं से 'तोंगा' नामक स्थान पर युद्ध हुआ। सेंधिया की इस बार हार हुई। महाराज रणजीतसिंहजी ने मित्र के नाते सेंधिया की सेवा-सुश्रूषा की और उसे गवालियर पहुँचा दिया। सेंधिया के गवालियर चले जाने पर रुहेलों ने भरतपुर

१—डीग के सम्बन्ध में 'इम्पीरियल गजेटियर' में लिखा है कि डीग और देहली इस समय बराबर की शोभा और व्यापार के केन्द्र बने हुए थे और डीग भारतवर्ष भर के दुर्गों से रक्षित स्थानों में प्रथम श्रेणी का था।

पर धावा किया। महाराज रणजीतसिंहजी ने मराठों की फ़ौज के द्वारा उनको मार भगाया।

उन दिनों मराठों की ओर से अलीगढ़ में पैरन नाम का फ्रान्सीसी अफ़सर हाकिम था। महाराज रणजीतसिंहजी ने कई बार उसे सहायता दी। इस सहायता के बदले में कामों, खोरी, पहाड़ी के तीन परगने उससे प्राप्त किये। महाराज सूरजमल और जवाहरसिंहजी के समय जिन सारे प्रान्तों पर अधिकार था आज वे मरहठा रुहेले और पठानों के हाथ में चले गए थे। थोड़े से परगने वापिस करके वे बड़ा अहसान करते थे। अलवर का नरूका कछवाहा जैसा आदमी भी इस समय से लाभ उठा चुका था। सब से अधिक कृतघ्न मराठे थे जिनकी सहायता महाराज सूरजमल ने भारी विपत्तियों में की थी। उन्होंने उनके पुत्र और पौत्र के राज्य को चारों ओर से दवा लिया था। धौलपुर के महाराज लोकेन्द्रसिंहजी ने तो आखिर इनसे तंग आकर अँग्रेज़ों से मित्रता करली। सन् १८०३ ई० में जब लार्ड लेक ने आगरा जीत लिया तो पड़ौसी के नाते से महाराज रणजीतसिंहजी ने भी अँग्रेज़ों से मित्रता करली। उस समय ऐसी मित्रतायें खेल हो रही थीं। ऐसा अविश्वास फैलाया था मरहठों ने।

इस समय अँग्रेज़ों का सूर्य उत्तरोत्तर चढ़ता जाता था। सारे देशी राजा उनके मित्र और मांडलिक बन चुके थे। केवल जसवंतराव होल्कर ही ऐसा आदमी था जो अँग्रेज़ों के अधीन नहीं हुआ था और उनकी जड़ उखाड़ फेंकना चाहता था। उसकी अँग्रेज़ों से कई स्थानों पर मुठभेड़ भी होती रही थी। अंत में २० हज़ार सैनिक और १३० तोपें लेकर उसने दिल्ली पर चढ़ाई कर दी। किन्तु दिल्ली के रेज़ीडेण्ट ने बड़ी बहादुरी और योग्यता से होल्कर का सामना किया। होल्कर दिल्ली से लौट कर डीग पहुँचा। महाराज रणजीतसिंहजी की अँगरेज़ों से मित्रता हो चुकी थी। किन्तु शरणागत को आश्रय न देना उनके धर्म के विरुद्ध था। ऐसा भी कहा जाता है कि यह अफ़वाह उड़ रही थी कि अगरेज़ों का गो-वध की ओर झुकाव है, इसीसे महाराज ने सहधर्मी होल्कर की सहायता करना उचित समझा। होल्कर ने डीग में शरण ही नहीं ली किन्तु वहाँ बैठकर उसने अँगरेज़ों से युद्ध भी किया। विजय-लक्ष्मी होल्कर के पक्ष में न थी। वहाँ भी उसे हारना पड़ा और भाग कर भरतपुर आया। महाराज ने उसे क़िले में ले लिया। लार्ड लेक को जोकि होल्कर के पीछे पड़ा हुआ था महाराज रणजीतसिंह का यह कृत्य बहुत अखरा। उसने सन् १८०५ की दूसरी जनवरी को भरतपुर पर चढ़ाई करने के लिए डीग से कूँच कर दिया। भरतपुर के पच्छिम की ओर अँगरेज़ी सेना ने डेरे डाल दिये। सेनाध्यक्ष मेटलेंड दुर्ग की ओर गए। चौथी जनवरी सन् १८०५ ई० को खाइयाँ खोदी गईं। छठी जनवरी को क़िले पर गोलाबारी करने के लिए टीले बनाये गए। इस प्रकार तयारी करके सातवीं जनवरी को लार्ड लेक ने क़िले पर हमला बुलवा दिया। लगातार दो दिन तक गोले-गोलियों की बौछार बिना अवकाश लिए भरतपुर-क़िले पर अँगरेज़

करते रहे। जाट वीर भी चुप न थे। वे बड़े धैर्य के साथ अँगरेजों का मुक़ाबिला करते रहे। वे भी गोलों का जवाब गोलों से दे रहे थे। नवमीं जनवरी को अँगरेजों को प्रतीत हुआ कि दीवाल में सूराख़ हो गया है। अँग्रेजी फ़ौजों को उस सूराख़ के रास्ते क़िले में घुसने की आज्ञा दी। संध्या के सात बज चुके थे। बादल हो रहे थे और कभी-कभी बिजली भी चमक रही थी। अँग्रेजी सेना ने तीन भागों में विभक्त होकर तीन ओर से क़िले पर आक्रमण किया। पहिले भाग का सेनापति लेफ़्टीनेण्ट रिपन था। उसके साथ २४० गोरे और देशी सिपाही थे। अपनी सेना की तोपों के बाईं ओर से उसने क़िले पर आक्रमण किया। दूसरे भाग के सेनापति मिस्टर हाक्स ने दो गोरी और दो काली पल्टनें लेकर दक्षिण की ओर से धावा किया। लेफ़्टीनेण्ट मेटलेण्ड बीच के भाग से ५०० गोरे और एक पल्टन देशी सिपाहियों के साथ टूटे हुए हिस्से की ओर बढ़े। जाट योद्धाओं को चतुर अँग्रेजों की इस चाल का पता लग गया। उन्होंने अन्धाधुन्ध गोले बरसाना आरम्भ कर दिया। रात्रि के बारह बजे तक गोले बरसते रहे। गोलों की वर्षा, रात्रि के अन्धकार, जाटों की किलकिल ने मेटलेण्ड की अक़्ल को चकरा दिया। वह मार्ग भूल गया और दलदल में जा फँसा। अँग्रेज साहसी होते हैं। आन के लिए प्राणों का लोभ उन्हें भयभीत नहीं करता। एक अँग्रेज युवक विलसन अपने २० साथियों के साथ टूटी हुई दीवार में से निकल कर ऊपर चढ़ गए। किन्तु जाटों ने उन्हें दीवार के ऊपर से ढकेल दिया। अङ्गरेजी सेना हानि उठा कर वापिस आई। इस आक्रमण में तीन अङ्गरेज, दो सौ देशी सैनिक मारे गये।

लार्ड लेक इस हानि से हताश नहीं हुए। उन्होंने दूसरे आक्रमण की आयोजना की। छः दिन तक तैयारी की गई। तारीख़ १६ जनवरी को भरतपुर-क़िले पर दूसरा आक्रमण किया गया। इस बार भारी-भारी तोपों को काम में लाया गया। जाट लोगों ने इन दिनों में टूटे हुए स्थानों की मरम्मत कर ली थी। दोनों ही दल समझते थे कि अब की बार में फ़ैसला हो जायगा। सोलहवीं जनवरी को बड़े जोर से अङ्गरेजी सेना ने क़िले पर धावा किया। गोलों के धमाकों से दीवार का एक हिस्सा टूट गया। किन्तु जाट लोगों ने गोलों की बौछार में लकड़ी और पत्थर डाल कर सूराख़ को पाट दिया और दीवार की मरम्मत भी कर दी। चार दिन तक अङ्गरेजी सेना दीवार को तोड़ती रही और जाट वीर उसकी मरम्मत करते रहे। मरने का भय किधर भी नहीं था। जाट गोरों से लड़ने में बड़े प्रसन्न होते थे। अपनी स्त्रियों को उनकी सूरतें दिखा कर ताली पीट कर हँसते थे। लगातार गोलों की मार से दीवार में एक बड़ा छिद्र हो गया। दीवार के सहारे जो खाई थी उसमें जाटों ने पानी भरने के नल खोल दिये। मोती झील से इन नालियों का सम्बन्ध था। पानी लबालब कर दिया। इधर महाराज रणजीतसिंह जी ने अमीरखां को बुला लिया। अमीरखां के आने की ख़बर सुन कर जाट वीरों में और भी साहस भर गया। उन्होंने अँग्रेजों के साथ चाल चली। वे टूटी हुई दीवारों

के सहारे छिप कर खड़े हो गये और अँग्रेज़ों के आने की वाट देखने लगे। अँग्रेज़ों ने भी इस समय एक चाल चली। तीन देशी सैनिक भरतपुर के क़िले की ओर दौड़ाए और उनके पीछे गोरे सैनिक लगा दिए। वे देशी सैनिक चिल्लाते थे कि हमें फिरंगियों से बचाओ। जाट गोता खा गये, उन्होंने उन देशी सैनिकों को जो कि चाँदी के टुकड़ों के ग़ुलाम वन कर यह प्रपंच रच रहे थे, क़िले में घुसा लिया। वे थोड़ी ही देर में दीवार और भीतरी वातों को देख कर उल्टे भाग गये और सारा भेद दीवार और सेना का अँग्रेज़ सेनापतियों को वता दिया।

२१ वीं जनवरी को वड़ी प्रसन्नता और आशाओं के साथ अँग्रेज़ों ने क़िले पर आक्रमण करने की तैयारी की। कप्तान लिण्डसे ४७० सैनिक और उन भेदी सिपाहियों को साथ लेकर आगे वढ़े। खाई को पार करने के लिए पुल और सीढ़ियाँ वनाई गई थीं, किन्तु वह ओछी रहीं। और भी अँग्रेज़ी सेना कप्तान लिंडसे की सहायता को पहुँच गई। खाई तैर कर पार करने की सोची गई। खाई में धड़ाधड़ अँग्रेज़ी सैनिक कूदने लगे, किन्तु जाटों ने एक को भी टूटी दीवार तक न पहुँचने दिया। ५१७ कूदने वालों को जाटों ने गोली का निशाना वना दिया, जिनमें १७-१८ तो अफ़सर थे। इस तीसरे आक्रमण में जहाँ अँग्रेज़ों के इतने आदमी मारे गए, भरतपुर वालों के केवल २५ आदमी ही मरे। इधर तो अँग्रेज़ खाई पर जूझ रहे थे, उधर पीछे से अमीरखां पिंडारी ने हमला करके उनके कैम्प में लूट-पाट मचा दी।

अँग्रेज़ी सेना हिम्मत हार चुकी थी, किन्तु लार्ड लेक के लिए यह वड़ी शर्म की वात होती कि वह हार कर लौट जाते। इसलिए उन्होंने सैनिकों में एक घोषणा-पत्र वाँट कर उत्साह पैदा करने की चेष्टा की। रसद कम हो चुकी थी। तारीख़ २३ जनवरी को मि० वेल्स मथुरा की ओर से रसद ला रहे थे। अमीरखां ने अचानक ही आक्रमण करके रसद को लूट लिया। उसके पास चार तोपें थीं। मि० वेल्स उसके धावे का सामना नहीं कर सके। २८ जनवरी को आने वाली अँग्रेज़ों की रसद पर होल्कर, रणजीतसिंह और अमीरखां तीनों की सेनाओं ने आक्रमण किया, किन्तु सफलता नहीं मिली। क्योंकि इस समय अँग्रेज़ सावधान हो चुके थे।

छठी फ़रवरी को अँगरेज़ी सेना ने अपने डेरे पच्छिम की वजाय भरतपुर की दक्षिण ओर जमाये। खाई को पार करने के लिए ४० फुट लम्बे और १६ फुट चौड़े वेड़े वनाये। अमीरखाँ अपने देश को लौट गया क्योंकि महाराज रणजीतसिंह उससे नाराज़ हो गए थे। अँगरेज़ों ने एक सुरंग भी वनाई किन्तु जाटों को जब पता चल गया तो वे उसमें घुस गए और जिस समय अँगरेज़ों के कारीगर उसे आगे खोदने को पहुँचे तो जाटों ने उनको मारकर औज़ार छीन लिए। इस युद्ध में भी अँगरेज़ों को नुक़सान रहा। २० वीं फ़रवरी को अँगरेज़ी सेना ने क़िले पर फिर आक्रमण किया। इस वार सेनाध्यक्ष मि० डेन थे। तोपों की धूआँधार मार से

दीवार का कुछ हिस्सा टूट गया। लेफ्टीनेण्ट डेन ने अपनी सेना को उस टूटे हुए स्थान की ओर बढ़ने को कहा। किन्तु अँगरेजी सेना इतनी भयभीत थी कि आगे बढ़ने से उसने साफ़ इनकार कर दिया। दीवार का हिस्सा अवश्य टूट गया था किन्तु यह किसी को विश्वास नहीं होता था कि वे जाटों के निकट पहुँच कर जीवित भी रह सकेंगे। डेन के बारबार कहने और धमकी देने पर इतनी बड़ी सेना में से केवल १४ आदमी तयार हुए। वे दीवार तक पहुँच गए और ऊपर भी चढ़ गए, किन्तु जाटों ने उनकी बड़ी दुर्गति की। साथ ही उस बारूद में आग लगा दी जो टूटे हुए स्थान पर बिछा रक्खी थी। डेन आगे की ओर थोड़ा भी और बढ़ जाता तो चन्द ही मिनट में उसे चौथे आसमान की सैर करनी होती।

इस आक्रमण में ४६ अँगरेज सिपाही और ११३ देशी सिपाही अँगरेजी सेना के मारे गए और १७६ अँगरेज तथा ५५६ इण्डियन सिपाही घायल हुए।

लार्ड लेक बड़े हैरान हुए। उन्हें अब तक जो अभिमान था वह मिट गया। उन्हें पता चल गया कि हिन्दुस्तान में ऐसे लोग हैं जो यूरोपियन सैनिकों के होश ठिकाने कर सकते हैं। उन्होंने अपने साथियों को इकट्ठा किया और हारने के दुष्परिणाम पर स्पीच देते हुए बताया कि हम यदि यहाँ से हार कर लौटते हैं तो हमारी स्थित क्या हो जायगी।

२१ वीं फरवरी को चौथा आक्रमण फिर किया गया। इस बार अँगरेज सैनिक प्राणों की बाजी लगाकर आगे को बढ़ने लगे। जाटों की तोपें दीवारों के ऊपर ऊँचे-ऊँचे चबूतरों पर रखी हुई थीं। अँगरेजी सेना के वीर बिना बुर्जों पर पहुँचे हुए जाटों का कर ही क्या सकते थे। इसलिए दीवारों पर चढ़ने के लिए अँगरेजी सेना के सिपाही दीवार पर एक दूसरे के कन्धे पर चढ़ कर चढ़ने लगे। किन्तु जाटों ने ऊपर से लकड़ी और ईंट-पत्थर फेंक कर उनके इस प्रयत्न को निष्फल कर दिया। आगे बढ़ने वालों को गोली का निशाना बना देते थे। तोपों के गोलों से जो छेद अँगरेजी सेना ने किए थे उसमें से घुसने का प्रयत्न भी किया गया किन्तु वहाँ भी पिटना पड़ा। ऊपर की ओर जो कोई चढ़ कर पहुँचता था वह लुढ़क पड़ता तो उसके साथ ही कई और भी लुढ़क जाते थे। गोलियों, पत्थरों और लक्कड़ों की मार से जाटों ने अँगरेजी सेना के पैर उखाड़ दिए। किन्तु इसी समय लेफ्टीनेण्ट 'टेम्पलटन' नामक एक अँगरेज किसी तरह से दीवार पर चढ़ गया और बुर्ज पर चढ़ कर अँगरेजी पताका को फहराना ही चाहता था कि जाट वीरों ने उसे मार डाला और पैर पकड़ कर खाई में फेंक दिया। इस समय जाट वीरों ने अपने कौशलों को और भी बढ़ा दिया। गोले-गोलियों के सिवा मिट्टी और लकड़ियों के कुंडों में बारूद भरकर उसमें बत्ती लगा कर फेंकने लगे। यही क्यों ईंटों की वर्षा भी आरम्भ करदी। इस विकट मार से अँगरेजी सेना ... छोड़ कर भाग खड़ी हुई। इस बार के आक्रमण में अँगरेजों के कई प्रसिद्ध- ... लड़ाइयों में अँगरेजी सेना के ३२०३ आदमी

मारे गए ऐसा अँगरेज़ लेखकों ने लिखा है। यदि इसी बात को सही माना जावे तो ८-१० हज़ार घायल भी हुए होंगे। खाई लोथों से पट गई जिन पर होकर आने-जाने वालों ने अपना रास्ता बना लिया।

इस चौथी बार भी हार होने के कारण लार्ड लेक की चिन्ता और भी बढ़ गई। वह बहुत सोचते थे कि किसी भाँति विजय प्राप्त हो। किन्तु विजय स्वप्न मालूम होती थी। जाटों ने इसी समय उनके तोपखाने में आग लगा दी इससे अँगरेज़ों का और भी नुकसान हुआ। लार्ड लेक को आज की जैसी कठिनाई का पहिले मौक़ा न पड़ा था। अब उसने फ़ौज हटा कर छः मील की दूरी पर उत्तर-पूर्व में अपने डेरे डाले।

महाराज रणजीतसिंहजी की यद्यपि विजय हुई थी फिर भी उन्होंने यही उचित समझा कि टंटे को मिटा दिया जाय। क्योंकि वह पिछले ६-७ वर्ष से लगातार युद्धों में फँसे हुए थे। राज-कोप में भी घाटा था। इसलिए सन्धि की चर्चा चलाई गई। मि० लेक को तो मानो मन चाही वस्तु मिल गई। वे सन्धि करने पर तैयार हो गये। लार्ड लेक ने भरतपुर वालों का बड़ा सम्मान किया। अन्त में दोनों ओर से निम्न शर्तों पर सन्धि हो गई:—

(१) डीग का क़िला अभी कुछ दिन अँगरेज़ों के ही पास रहेगा। यदि भरतपुर महाराज अँगरेज़ों से शत्रुता न करेंगे तो डीग का क़िला उन्हें लौटा दिया जायगा।

(२) भरतपुर नरेश बिना अँगरेज़ों की राय के किसी भी यूरोपियन कर्मचारी को अपनी सेना में भर्ती न करेंगे।

(३) वह इस युद्ध के व्यय स्वरूप बीस लाख रुपये अँगरेज़ों को देंगे।

(४) भरतपुर नरेश और अँगरेज़ परस्पर एक दूसरे के मित्र और शत्रु को अपना मित्र और शत्रु समझेंगे।

(५) उनका एक पुत्र इस सन्धि की पूर्ति में सदैव बृटिश फ़ौजी अवसरों के साथ दिल्ली अथवा आगरे में रहेगा।

(६) महाराजा रणजीतसिंह यह बीस लाख रुपया किस्तों में दे सकेंगे।

(७) ईस्ट इण्डिया कम्पनी वचन देती है कि जब अन्तिम किस्त के पाँच लाख देने को शेष रह जावेंगे और गवर्नमेण्ट महाराजा साहब की मित्रता का प्रमाण पावेगी तो वह किस्त छोड़ देगी।

इस सन्धि-पत्र पर महाराज रणजीतसिंह और लार्ड लेक की सही हो गई।

भरतपुर में लार्ड लेक की इस हार को विलायत तक बड़े-बड़े रंग देकर पहुँचाया था। स्वयम् लार्ड लेक ने इस हार का विवरण इस प्रकार दिया था—

"भरतपुर की भूमि ऊबड़-खाबड़ है । साथ में कोई अच्छा इंजीनियर नहीं था, इससे पूर्व कभी उसकी परिस्थिति का पता लगा नहीं । बस यही कारण थे कि विजय प्राप्त नहीं हुई ।" ड्यूक आफ़ विलिंगटन ने जो कि तत्कालीन गवर्नर जनरल लार्ड वेलेजली के भाई थे लार्ड लेक की हार का कारण इस तरह बताया था—*......'उन्हें नगर-वेष्टन* (परकोटे) *का कुछ ज्ञान न था इसलिए असफलता हुई ।*

इसमें कोई सन्देह नहीं इस युद्ध का प्रभाव अँगरेजों के शत्रुओं पर बहुत बुरा पड़ा । भरतपुर के गौरव-गान की चर्चा तो गीत-काव्यों में गाई जाने लगी ।

महाराज रणजीतसिंह जी आजीवन अङ्गरेजों के मित्र बने रहे । उन्होंने सन्धि का पूर्णतः पालन किया । भरतपुर युद्ध को साल भर भी न हो पाया था कि दिसम्बर सन् १८०५ ई० में उनका स्वर्गवास हो गया । उनके चार पुत्र थे । बड़े राजकुँवर रणधीरसिंह जी थे । वही गद्दी पर बिठाये गये ।

महाराज रणधीरसिंह

अपने पिता रणजीतसिंह जी की मृत्यु के बाद सन् १८०५ ई० में आप राज सिंहासन पर बैठे । सब से पहिले रणधीरसिंह जी ने राज्य के भीतरी प्रबन्ध को सुधारने की चेष्टा की । वेतन देर से मिलने के कारण उपद्रव करने वाली सेना को तोड़ कर रणधीरसिंह जी ने शान्ति स्थापित करने में अपनी बुद्धिमानी का अच्छा परिचय दिया था । इन्होंने महाराजा रणजीतसिंह की छतरी और महल बनवाये । पिण्डारियों के दमन में अङ्गरेजों की सहायता की । बड़ी रीति के साथ १८ वर्ष तक आपने राज किया । सन् १८२३ ई० में आपका स्वर्गवास हो गया ।

महाराज बल्देवसिंह

महाराज रणधीरसिंह निःसंतान मरे थे । इसलिये नियम के अनुसार उनके छोटे भाई बल्देवसिंह जी राजा बनाये गये । किन्तु रानी 'लक्ष्मी' जो कि महाराज रणधीरसिंह जी की महारानी थीं इन से नाराज थीं, वे क़िले की कुंजियों को लेकर वृन्दावन चली गईं । वहीं उनका स्वर्गवास हो गया । इस तरह देवर-भाभी का यह झगड़ा तो शान्त हो गया किन्तु उनके छोटे भाई राव लक्ष्मणसिंह जी के पुत्र दुर्जनसाल और माधौसिंह उपद्रव पर उतारू हो गये । उन्होंने एक दिन तो महाराज बल्देवसिंह पर जवाहर बुर्ज में आक्रमण कर दिया । उनके स्थान को तोड़ डाला । किन्तु माधौसिंह को पकड़ लिया गया और झगड़ा बढ़ने नहीं पाया । इस घटना के बाद महाराज को सन्देह हो गया कि मेरे पश्चात् यह मेरे पुत्र बलवंतसिंह को अवश्य हानि पहुँचायेंगे । इसलिये उन्होंने सर डेविड अक्टरलोनी को बुला कर बालक बलवंतसिंह को स्वत्वाधिकारी स्वीकार करा दिया । इसके कुछ दिन ही बाद २६ फरवरी सन् १८२५ ई० को बलदेवसिंहजी का स्वर्गवास हो गया । उनके स्वर्गवास

के पश्चात् वही हुआ जिसकी कि उन्हें आशंका थी। दुर्जनसाल और उसके पुत्र जगतसिंह ने सेना को अपनी ओर मिला लिया। माधौसिंह जो कि अब तक क़ैद में था उसे क़ैद से छुड़ा लिया और वालक वलवन्तसिंह और माजी अमृतकुँवरि को क़ैद कर लिया। राज्य पर दुर्जनसाल और माधौसिंह ने कब्ज़ा तो कर लिया, किन्तु अनेकों सरदार उनके विद्वेषी और वालक वलवन्तसिंह के पक्षपाती थे। अकृरलोनी ने जब इस बात को सुना तो वे सेना संगठन करने लगे। किन्तु गवर्नमेण्ट ने उस समय भरतपुर पर चढ़ाई करना उचित न समझा। अकृरलोनी ने इस्तैफ़ा दे दिया और मिस्टर मैटकाफ़ अकृरलोनी के स्थान पर मुक़र्रिर हुए।

थोड़े दिन ही वाद माधौसिंह और दुर्जनसाल में भी अनबन हो गई। माधौसिंह डीग में जाकर सेना संगठन करने लगा। परिस्थिति अनुकूल देख कर सर चार्ल्स मेटकाफ़ ने भरतपुर पर चढ़ाई करने की घोषणा जारी की। १० दिसम्बर सन् १८२५ को अँगरेज़ी सेनायें लार्ड केम्बलमियर की अध्यक्षता में भरतपुर पहुँच गईं। २३ दिसम्बर से लड़ाई आरम्भ हो गई। ५ जनवरी सन् १८२६ तक भरतपुर पर गोले वरसाये जाते रहे। कई वार क़िले पर धावा किये गये। कई वार क़िले में घुसने की चेष्टा की गई। १८ जनवरी तक यही होता रहा। इस युद्ध में अँगरेज़ी सेना के ६१ अँगरेज़, ४१ देशी सिपाही मरे और २८३ अँगरेज़, १८३ हिन्दुस्तानी घायल हुए।

इस गृह-कलह के कारण ६० लोहे की तोपें और ७३ पीतल की तोपें भरतपुर की अँगरेज़ों के हाथ लगीं। अजेय दुर्ग भरतपुर केम्बलमियर ने जीत लिया। यह वात भरतपुर के इतिहास में लिख गई। केवल गृह-कलह से ही ऐसा हुआ। भरतपुर विजय के वाद अँगरेज़ों की धाक समस्त राजपूताने पर वैठ गई।

महाराज वलवन्तसिंहजी

अँगरेज़ों ने भरतपुर को विजय करने के पश्चात् वहीं दरवार किया और उसी दरवार में ५ फरवरी सन् १८२६ ई० को महाराज वलवन्तसिंहजी को राज-गद्दी दी गई। माजी श्रीमती अमृतकौर की रेजेन्सी में राज्य-प्रवन्ध सौंपा गया। संवत् १८८४ विक्रमी में महाराज का पिछोरवाली राजपुत्री से विवाह हुआ। महाराज ने युवा होते ही भोलानाथ दीवान और उसके साथियों को क़ैद कर लिया। संवत् १८६६ में लार्ड एलनवरा से मिल कर आपने वल्लभगढ़ के राजा को पुनः उसका राज दिलाया।

संवत् १६०७ विक्रमी में आपको पुत्र लाभ हुआ जिनका शुभ नाम यशवन्तसिंहजी रक्खा गया। आपकी प्रजा आपसे वहुत प्रसन्न थी। आप भी प्रजा की प्रसन्नता के लिए सदैव प्रयत्न करते रहते थे। इस प्रकार २७ वर्ष सुख-शान्ति के साथ राज करके २१ वीं मार्च सन् १८५३ ई० को आप इस संसार से पधार

गये। महाराज काव्य-प्रेमी थे। उनके दरबार में कई कवि रहते थे। वह स्वयं भी कविता करते थे।

महाराज यशवन्तसिंहजी

जिस समय महाराज बलवन्तसिंहजी का स्वर्गवास हुआ उस समय उनके प्यारे पुत्र महाराज यशवन्तसिंहजी की आयु केवल तीन वर्ष की थी। इसलिए राज्य का कार्य-भार धाऊ ग्यासीरामजी करने लगे। चार महीने पश्चात् ही महाराज की माँ का भी स्वर्गवास हो गया। मेजर मोरीसन महाराज के अभिभावक (A. D. C.) नियुक्त हुये। सिपाही विद्रोह में सरकार अँगरेज को भरतपुर की ओर से भी सहायता दी गई। सिपाही-विद्रोह के पश्चात् मोरीसन चले गये और कप्तान निक्सन भरतपुर के पोलीटिकल एजेण्ट नियुक्त होकर आये। महाराज यशवन्तसिंहजी को अँग्रेजी, हिन्दी, फ़ारसी की शिक्षा दी गई। उसमें आपने पूर्ण निपुणता प्राप्त की। सन् १८५८ ई० में आपका विवाह पटियाले के महाराज नरेन्द्रसिंहजी की सुपुत्री के साथ हुआ। सन् १८६८ ई० में उन रानीजी से कुँवर भगवन्तसिंहजी का जन्म हुआ। किन्तु ५ दिसम्बर सन् १८६६ ई० को भगवंतसिंहजी का स्वर्गवास हो गया। पुत्र शोक में महारानीजी भी ७ फर्वरी सन् १८७० को इस संसार से चल बसीं।

११ मार्च सन् १८६२ ई० को बृटिश सरकार की ओर से महाराज को भी भारत के अन्य महाराजाओं की भांति गोद लेने का अधिकार मिल गया था।

सन् १८७१ ई० में महाराज को राज्य के पूर्ण अधिकार प्राप्त हुए। महाराज ने मेयो कालेज की स्थापना के लिए पचास हजार रुपये दान दिये थे। आपने अलवर के महाराज श्यौदानसिंहजी को मथुरा के सेठों से तीन लाख रुपया कर्जा भी दिलाया था।

सन् १८७१ ई० में महाराज अजमेर गये थे। वहाँ से लौटकर मि० जैकब के साथ जयपुर ठहरे और आमेर के महलों को नंगी तलवारों के साथ देखा। इस तरह बीस दिन तक जयपुर में रहे। राज्य का प्रबन्ध महाराज जसवंतसिंहजी ने बड़ी योग्यता के साथ किया। आज तक प्रजा उनके न्याय और प्रेम का बखान किया करती है।

६ सितम्बर सन् १८७२ ई० में श्री रामसिंहजी युवराज का जन्म हुआ। बड़ी धूमधाम के साथ उत्सव मनाया गया। सन् १८७५-७६ ई० में प्रिन्स आफ वेल्स सप्तम एडवर्ड भारत में पधारे। उस समय महाराज ने उनको भरतपुर में बुला कर खूब आव-भगत की। देहली में जो प्रथम दरबार हुआ था उसमें आपको सरकार की ओर से जी० सी० एस० आई० की उपाधि दी थी। उन्होंने अपने यहाँ से पोलीटिकल एजेण्ट को हटा दिया था, क्योंकि वह अपने काम में किसी का हस्तक्षेप नहीं चाहते थे। उस समय पोलीटिकल एजेण्ट 'हरीपर्वत' आगरे में रहने लग गया था।

संवत् १६३४ में राज्य में भारी अकाल पड़ा। तब आपने प्रजा की पूरी सहायता की। लगान तो माफ़ कर ही दिया साथ ही कर्जा भी दिया और बौहरों से भी अपनी जिम्मेदारी पर दिलाया। डीग और भरतपुर में सदावर्त खोल दिए। लोगों को काम देने के लिये घने का वाड़ा वनवाया और क़िले की मरम्मत कराई।

भरतपुर का नमक बड़ा प्रसिद्ध है। भरतपुर में नमक का कटरा नाम की एक मण्डी अब तक है। प्रतिवर्ष १५००००० मन नमक तयार होता था जिसकी वार्षिक आय ३०००००) भरतपुर राज्य को और ४५०००००) की आय भारत सरकार को होती थी। राज्य में नमक बनाने की ५१ फ़ैक्ट्रियाँ थीं। भरतपुर के ५०००० प्रजाजनों का नमक के व्यापार से निर्वाह होता था। सन् १८७६ ई० में भारत सरकार के परामर्श से नमक बनना बन्द कर दिया गया। कहा जाता है यह बन्दी ५० वर्ष के लिये हुई थी। गवर्नमेंट ने क्षति-निवारणार्थ १५००००) नक़द महाराज को दिया और एक हज़ार मन साँभर नमक प्रतिवर्ष देने का वचन दिया।

सन् १८८४ ई० में महाराज ने सिवाय मादक वस्तुओं के अन्य सब चीज़ों पर से चुँगी उठा दी। काबुल के अमीर और अँगरेज़ों में जब लड़ाई हुई तो महाराज ने अँगरेज़ों को मदद दी।

सन् १८८६ ई० में महाराज ने "माफ़ी" की ज़मीनों की पटवारियों द्वारा पैमायश कराई। किन्तु पथैने के ठाकुरों (जाट सरदारों) ने महाराज की इस आज्ञा को नहीं माना और लड़ाई के लिए तयार हो गए। महाराज ने एक सेना भेज कर उनका दमन किया। पथने के गढ़ को गिरा दिया। राजपाल जो कि कन्हींसिंह का कारिन्दा था इस युद्ध में बड़ी बहादुरी से लड़ा। पथैने वालों के २५ आदमी मारे गए और १५ घायल हुए। पथैने के ठाकुरों को परास्त करने के बाद महाराज ने उनके साथ भलमनसाहत का व्यवहार किया।

सन् १८८६ ई० की ३० वीं नवम्बर को महाराज कुमार नारायणसिंह और सन् १८८७ ई० की ७ वीं जनवरी को महाराज कुमार रघुनाथसिंहजी का जन्म हुआ।

सन् १८६० ई० में भारत सरकार ने महाराज की तोपों की सलामी १७ के बजाय १६ की करदी। १८६२ ई० में एक दुखद घटना यह हुई कि राजकुमार नारायणसिंहजी का स्वर्गवास हो गया।

महाराज यशवंतसिंहजी ने अपने जीवन में ऐसे कृत्य किये जिनसे उनका यशवंत होना सार्थक हो गया। प्रजा के साथ हिलमिल कर बैठना, भाई-चारा निभाना, दुःख-सुख में शामिल होना यह उनकी विशेषतायें हैं। वे बड़े हँस-मुख हृष्ट-पुष्ट व्यक्ति थे। उनके चेहरे से तेज टपकता था। वह धार्मिक जीवन विताते थे। प्रातः काल चार बजे बिस्तरे से उठ कर नित्य-नियम करते थे। इन्साफ़ का कार्य भी आप ख़ूब सुनते थे। यही कारण हैं कि जब सन् १८६३ ई० की २२ दिसम्बर
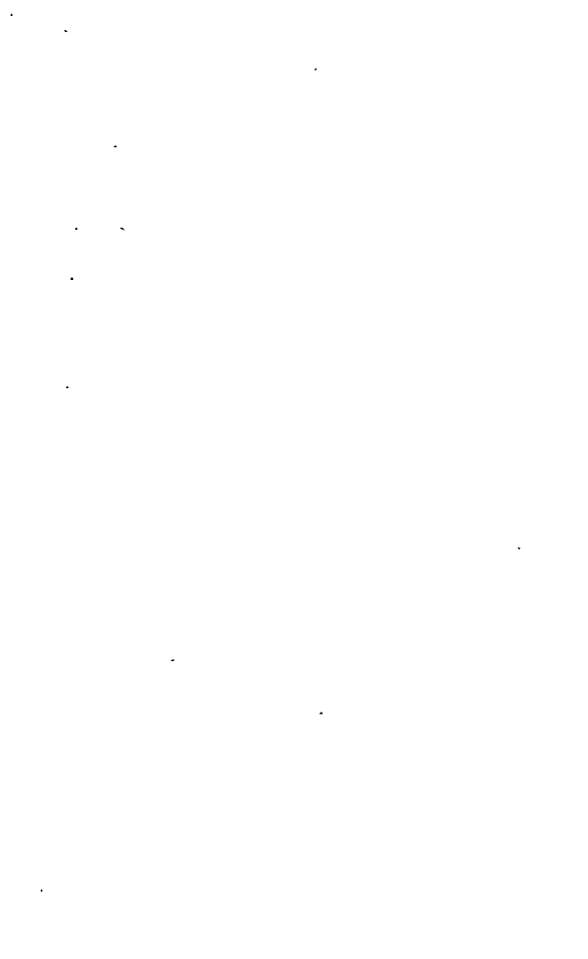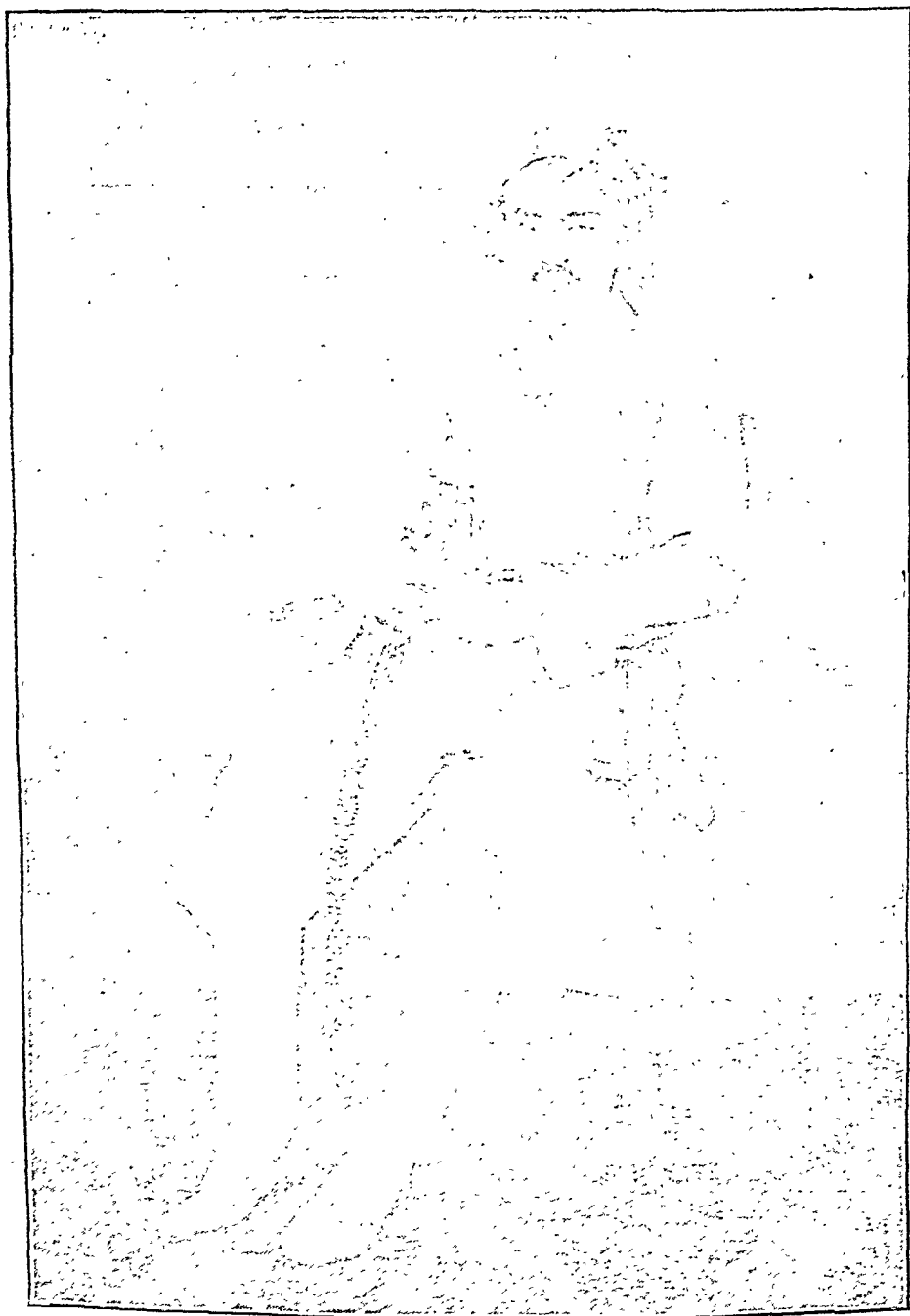
महाराजा सर कृष्णसिंह बहादुर, बहादुरजंग, भरतपुर-नरेश ।

को आपका स्वर्गवास हुआ प्रजा में हाहाकार मच गया। कोई ऐसा जन न था जिसने महाराज के लिए आँसू न बहाये हों। वे स्वतंत्रता-प्रिय और दबंग नरेशों में से थे। उन्होंने सेना का संगठन बड़े अच्छे ढंग से किया था। वे सत्यता और ईमानदारी को बहुत पसंद करते थे। ग़रीब और अमीर सभी की पहुँच उन तक थी। प्रजा की शिक्षा के लिये उन्होंने तहसीली स्कूल और सदर स्कूल तथा पाठशालायें खुलवाई थीं। ग्रामों में तथा नगरों में औषधालय भी स्थापित किये थे।

महाराज रामसिंहजी

महाराज जसवंतसिंहजी की मृत्यु के पीछे उनके ज्येष्ठ पुत्र राज सिंहासन पर विराजे। २५ दिसम्बर सन् १८९३ ई० को उनका राज-तिलक हुआ। इनके सहकारियों में कुछ अयोग्य लोग प्रविष्ट हो गए जो प्रजा के शुभ-चिन्तक की अपेक्षा अहितकारी थे। संयमी न होने के कारण उनका स्वास्थ्य बिगड़ गया ऐसा इतिहासकार मानते हैं। सन् १९०० में महाराज रामसिंहजी ने एक नाई को गोली से मार दिया। इसी घटना से आपको अँगरेज़ी सरकार ने गद्दी से हटा कर देवली की छावनी में भेज दिया। इनके दो सुपुत्र हुए थे। एक स्वनाम धन्य महाराज श्रीकृष्णसिंहजी और दूसरे कुँवर गिर्राजसिंहजी।

सन् १९२२ ई० में आप देवली से आगरा आ गये थे और कोठी भरतपुर में रहते थे। सन् १९२९ ई० में आपका स्वर्गवास हो गया।

महाराज श्रीकृष्णसिंहजी

आपका जन्म ४ अक्टूबर सन् १८९९ ई० को हुआ था। महाराज रामसिंहजी के गद्दी से हट जाने पर सन् १९०० ई० की २९ अगस्त को आपको राजगद्दी पर बिठाया गया था। चूँकि आप नाबालिग़ थे, इसलिए सरकार ने राज्य का प्रबन्ध स्टेट-कौंसिल के हाथ में दिया। महाराज जसवन्तसिंहजी के समय में 'पंचायत' नाम की राज-सभा थी, उसी का रूप पलट कर स्टेट-कौंसिल हो गया। राज-माता श्रीमती गिर्राजकुमारीजी ने आपके लालन-पालन और शिक्षा का पूर्णतः प्रबन्ध किया। जब महाराज साहब कुछ सयाने हुए तो 'मेयो कॉलेज' अजमेर में पढ़ने के लिए भेजे गये। सन् १९१० ई० में आप इङ्गलैंड भी गये। उन्हीं दिनों सप्तम एडवर्ड का स्वर्गवास हुआ था। महाराज भी बादशाह की अर्थी में शामिल हुए। सन् १९१४ ई० में महाराज ने दुबारा अपनी माताजी के साथ विलायत की यात्रा की। लड़ाई के लिए भरतपुर से २५ लाख से ऊपर सहायता सरकार को दी गई। इङ्गलैंड से लौट कर महाराज फिर मेयो कॉलेज में पढ़ने लगे।

आपका विवाह फ़रीदकोट की वीर राजकुमारी श्रीमती राजेन्द्रकुमारी के साथ हुआ था।

२८ नवम्बर सन् १९१८ ई० को भारत के तत्कालीन लार्ड चेम्सफ़ोर्ड ने भरतपुर आकर महाराज को अधिकार दिए। इसी प्रसन्नता के समय एक महान्

ख़ुशी यह हुई कि ३० नवम्बर सन् १९१८ ई० को श्रीमान्जी के यहाँ युवराज श्री व्रजेन्द्रसिंहजी देव का शुभ जन्म हुआ। प्रजा में भारी ख़ुशी हुई। नगर-नगर और गाँव-गाँव में आनन्द-बधाये गाये जाने लगे।

सन् १९१९ ई० में महाराज ने सेना का पुनः संगठन किया। राज-भाषा और लिपि हिन्दी कर दी गई, क्योंकि अब तक राजकीय सारा कार्य उर्दू में होता था। २४ सितम्बर सन् १९२२ को श्रीमती राजमाता गिर्राजकुमारीजी का स्वर्गवास हो गया। महाराज ने लंका की भी यात्रा की थी और शिमले में 'व्रज-मण्डल' की स्थापना की। आपके समय में प्रारम्भिक शिक्षा अनिवार्य कर दी गई। समाज-सुधार-एक्ट पास किया गया। क्रेडिट बैंक व सुसायटी तथा ग्राम्य-पंचायत-एक्ट जारी करके प्रजा को प्रबन्धाधिकार दिए। राज्य भर में देशी औषधालयों की स्थापना की। व्यापार और कला-कौशल में प्रजा की रुचि बढ़ाने के लिए प्रति वर्ष क्वार के महीने में भरतपुर में प्रदर्शिनी करने की नींव भी आप ही ने डाली। आपकी मित्रता भारत के अनेकों राजा, रईस और अँगरेज़ों से थी। बेलजियम के बादशाह से भी आपका सामाजिक सम्बन्ध था। वह अपनी महारानी समेत भरतपुर में पधारे भी थे। गौ-रक्षा के लिए राज्य के प्रत्येक बड़े नगर में प्रबन्ध किया गया।

सन् १९२४ ई० की भयंकर बाढ़ में प्रजा के जान-माल की रक्षा के लिए जो आपने कष्ट उठाये और प्रजा की सेवायें कीं वे भारत के वर्त्तमान देशी नरेशों के लिए अनुकरणीय हैं।

महाराज को इस बात पर बड़ा अभिमान था कि मैं जाट हूँ। वह अपने जातीय गौरव से पूर्ण थे। सन् १९२५ ई० में पुष्कर में होने वाले जाट महा-सभा के अधिवेशन के आप ही प्रेसीडेण्ट थे। आपने कहा था:—

"मैं भी एक राजस्थानी निवासी हूँ। मेरा दृढ़ निश्चय है कि यदि हम योग्य हों तो कोई शक्ति संसार में ऐसी नहीं है जो हमारा अपमान कर सके। मुझे इस बात का भारी अभिमान है कि मेरा जन्म जाट-क्षत्रिय जाति में हुआ है। हमारी जाति की शूरता के चरित्रों से इतिहास के पन्ने के पन्ने अब तक भरे पड़े हैं। हमारे पूर्वजों ने कर्त्तव्य-धर्म के नाम पर मरना सीखा था और इसी से बात के पीछे अब तक हमारा सिर ऊँचा है। मेरे हृदय में किसी भी जाति या धर्म के प्रति द्वेषभाव नहीं है और एक नृपति-धर्म के अनुकूल सबको मैं अपना प्रिय समझता हूँ। हमारे पूर्वजों ने जो-जो वचन दिये, प्राणों के जाते-जाते उनका निर्वाह किया था। तवारीख़ बतलाती है कि हमारे बुज़ुर्गों ने काम की बहबूदी और तरक़्क़ी के लिए कैसी-कैसी कुर्बानियां की हैं। हमारी तेजस्विता का बखान संसार करता है। मैं विश्वास करता हूँ कि शीघ्र ही हमारी जाति की यश-पताका संसार भर में फहराने लगेगी।

आपने अपने व्यय से भरतपुर में हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन भी कराया था। देश के प्रत्येक हितकर कार्य में वे भाग लेते थे। प्रजा में ज्ञान और जीवन पैदा करने के लिए उन्होंने 'भारत-वीर' नाम का पत्र भी निकलवाया था। वे प्रजा को शासन-कार्य में सहयोगी बनाना चाहते थे; इसी उद्देश्य से उन्होंने शासन-समिति की स्थापना की थी। म्यूनिस्पलटियाँ क़ायम की थीं। महाराज जहाँ एक ओर समाज-सुधार और प्रजा-हित के कार्य कर रहे थे वहाँ दूसरी ओर उनके विरोधियों की संख्या बढ़ रही थी। सन् १९२८ में उन्हें अपव्ययी सिद्ध करके सरकार ने राज्य छोड़ देने पर विवश किया। उन्होंने गवर्नमेण्ट के इस कार्य का विरोध किया। वे न्याय के लिए अन्त तक लड़े। देहली में उनके जन्म-दिवस के अवसर पर जब इन लाइनों का लेखक उनकी सेवा में उपस्थित हुआ था तब उन्होंने कहा था—"मैं अपने अधिकार को छोड़ने के लिए तैयार नहीं हूँ। तुम्हारा (प्रजा का) अधिकार (शासन समिति) में पहिले ही दे चुका हूँ।" आज सारा भारत कहता है महाराज श्रीकृष्णसिंह वीर थे, देश भक्त और समाज-सुधारक थे। वे भारत के मौजूदा राजाओं में से सैकड़ों से बहुत श्रेष्ठ थे। ऐसे महारथी का देहली में मार्च सन् १९२९ को स्वर्गवास हो गया। उनके लिए राजा-प्रजा, हिन्दू-मुसलमान, ग़रीब-अमीर सभी श्रेणियों के लोग रोये। उनकी मृत्यु से सारे भारत के हृदयवान् लोगों के हृदय को धक्का लगा। दूसरे केवल पांच ही महीने बाद राजमाता श्रीमती राजेन्द्रकुमारी का जौलाई सन् १९२९ को स्वर्गवास हो गया। आपने चार राजकुमार और तीन राजकुमारियाँ छोड़ीं जिनमें से मँझली बहिन का सन् १९३० में विछोह हो गया।

महाराज सर श्रीकृष्णसिंहजी के० सी० एस० आई० के स्वर्गवास के पश्चात् उनके ज्येष्ठ राजकुमार श्रीव्रजेन्द्रसिंहजी देव भरतपुर की गद्दी पर बैठाये गये। आपके तीन छोटे भाइयों के नाम—श्रीमानसिंह गिरेन्द्रसिंह और गिर्राजसरनसिंह हैं। आप इस समय अपने भाइयों समेत योरुप शिक्षाध्ययन कर रहे हैं।

महाराजव्रजेन्द्रसिंह

महाराज श्री कृष्णसिंहजी के निर्वासन के समय से ही राज-परिवार और प्रजाजनों पर आपत्तियाँ आना आरम्भ हो गई थीं। उनके स्वर्गवास के पश्चात् तो कुछेक पुलिस के उच्च कर्मचारियों ने अन्याय की हद कर दी थी। सुपरिण्टेंडेण्ट पुलिस मुहम्मद नक़ी को तो उसके काले कारनामों के लिए भरतपुर की जनता सदैव याद रक्खेगी। धार्मिक कृत्यों पर उसने इतनी पाबन्दियाँ लगवाईं कि हिन्दू-जनता कसक गई। यही क्यों भरतपुर राजवंश के बुज़ुर्गों के स्मृति-दिवस न मनाने देने के लिए भी पाबन्दी लगाई गई। जिन लोगों ने हिम्मत करके अपने राज के संस्थापकों की जयंती मनाई उनके वारंट काटे गए। ऐसे लोगों में ही इस इतिहास के लेखक का भी नाम आता है। आज तक उसे भरतपुर की पुलिस के रजिस्टरों में "पोलीटिकल सस्पैक्ट क्लास ए" लिखा

आपत्तियाँ

जाता है१। उसका एक ही कसूर था कि उसने दीवान मैकेंजी और एस० पी० नकी मुहम्मद के भय प्रदर्शन की कोई परवाह न करके ६ जनवरी सन् १६२८ ई० को महाराज सूर्यमलजी की जयंती का आयोजन किया और महाराज कृष्णसिंहजी की जय बोली। इसी अपराध के लिए दीवान मि० मैकेंजी ने अपने हाथ से वारण्ट पर लिखा था *"मैं देशराज को दफ़ा १२४ में गिरफ्तार करने का हुक्म देता हूँ और उसे जमानत पर भी विना मेरे हुक्म के न छोड़ा जावे।"* हवालातों के अन्दर जो तकलीफें दी गईं, पुलिसमैनों के जो कड़वे वचन सुनने पड़े उन बातों का यहाँ वर्णन करना पोथा वढ़ाने का कारण होगा। पूरे एक सौ आठ दिन तंग किया गया। सवूत न थे, फिर भी जुटाये गए। गवाह न थे, लालच देकर बनाये गए—उनका तंग करके गवाही देने पर विवश किया गया। किन्तु आखिर जज को यही कहना पड़ा कि पुलिस सवूत जुटाने में और देशराज से वहस करने में फेल हुई।

जिस किसी प्रजाजन और राज-कर्मचारी पर यह सन्देह हुआ कि यह जाट हितैषी और स्वर्गीय महाराज श्रीकृष्ण का भक्त है उसे दण्ड दिया गया। दीवान ने महाराज और महारानी तथा वावा साहव (श्री रामसिंहजी) के अंत्येष्टि कर्मों के समय पर सम्मानित भाव से उपेक्षा की। आखिर जाटों के लिए यह वात असहस्य हो गई और सन् १६२६ ई० के दिसम्बर के अंतिम दिनों में भरतपुर-सप्ताह मनाने का आयोजन हुआ। सारे भारत के जाटों ने भरतपुर के दीवान मैकेंजी और मियाँ नकी की अनुचित हरकतों की गाँव-गाँव और नगर-नगर में सभायें करके निन्दा की। राव वहादुर चौधरी छोटूराम जी रोहतक, राव बहादुर चौधरी अमरसिंह जी पाली, ठाकुर झम्मनसिंह जी एडवोकेट अलीगढ़ और कुँवर हुक्मसिंह जी रईस आंगई जैसे प्रसिद्ध जाट नेताओं ने देहातों में पैदल जा-जा कर जाट-सप्ताह में भाग लिया। आगरा ज़िला में कुँवर रतनसिंह जी, पं० रेवतीशरण जी, वावू नाथमल जी, ठाकुर माधौसिंह जी और लेखक ने रात-दिन एक करके जनता तक भरतपुर की घटनाओं को पहुँचाया। महासभा ने उन्हीं दिनों आगरे में एक विशेष अधिवेशन चौधरी छोटूराम जी रोहतक के सभापतित्व में कर के महाराज श्री ब्रजेन्द्रसिंहजी देव के विलायत भेजने और दीवान के राजसी सामान को मिट्टी के मोल नीलाम करने वाली उसकी पक्षपातिनी नीति के विरोध में प्रस्ताव पास किए। इस समय भरतपुर के हित के लिए महाराज राजा श्री उदयभानसिंहजी देव ने सरकार के पास काफ़ी सिफ़ारिशें भेजीं।

आखिरकार गवर्नमेण्ट की आज्ञा से कुछ दिनों वाद दीवान मकेंजी साहव की भरतपुर से दूसरे स्थान की नियुक्ति का हुक्म हुआ। जव कि उन्हें शहर की म्यूनिसपलटी की ओर से मान-पत्र दिया जा रहा था, पं० हरिश्चन्द्रजी पेंघोर ने

१—वीकानेर के सुप्रसिद्ध राजनैतिक केस में भरतपुर पुलिस के सी० आई० डी० इन्सपैक्टर ने यही वात अपनी गवाही में कही थी।

महाराजाधिराज श्री० श्री० १०८ महाराजा
बहादुर सवाई ब्रजेन्द्रसिंह जी भरतपुर ।

उनको उसी समय छपा हुआ विरोध-पत्र देकर रंग में भंग और मान में अपमान का दृश्य उपस्थित कर दिया। मुक़दमा चला और पं० जी को एक साल की सजा हुई। उसके थोड़े ही दिन बाद नरेन्द्रकेसरी (महाराज श्री कृष्णसिंहजी के जीवन चरित्र) को बेचते हुए बालक दौलतराम पेंघोर को गिरफ़्तार किया गया। कहा जाता है कि जिस समय श्रीमान् दीवान साहब भरतपुर से विदा हुए उस समय ठा० उम्मेदसिंहजी तुरकिया और पं० साँमलप्रसादजी चौबे ने उन्हें काले झण्डे स्टेशन भरतपुर पर दिखाये। उनके बाद में भी मियां नकी अपनी चालें बराबर चलता रहा। भुसावर के आर्य-समाजियों को अनेक तरह से केवल इसलिए तंग किया कि वे उधर जोरों से वैदिक-धर्म का प्रचार कर रहे थे। पं० विश्वप्रिय, ला० बाबूराम, ला० रघुनाथप्रसाद, चौधरी घीसीराम पथैना पर केस भी चलाया गया। पेंघोर के पटवारी किरोड़ीसिंह और कमलसिंहजी पर तो "भरतपुर तू बीरों की खानि" जैसी भजन पुस्तकों के छपाने के कारण मुक़दमा चलाया गया और सजा दी गई। उनके भाई प्यारेलाल पटवारी को अलग किया गया। एक मास्टर और बौहरे पर केवल इस पुस्तक को रखने के कारण मुक़दमा चला। सन् १९२८ ई० से सन् १९३३ ई० तक जब तक मियां नकी जी भरतपुर में रहे किसी को दफ़ा १२४ ए० व १०८ में और किसी को दफ़ा १५३ में रगड़ते रहे। ऐसे लोगों में श्रीमान् गोकुलजी वर्मा और पं० गोकुलचन्दजी दीक्षित विशेष उल्लेखनीय हैं। वर्माजी को तो दो बार जेल पहुँचाने से भी मियाँ साहब की संतुष्टि नहीं हुई। यही क्यों उसने राव राजा श्री रघुनाथसिंहजी के विरुद्ध भी मुक़दमा बनाने की धृष्टता की। दीवानों को बना लेना उसके बाँये हाथ का काम था। भले से भले दीवान को उसने हिन्दुओं के विरुद्ध कर दिया। स्वर्गीय महाराज साहब द्वारा पेंघोर के जिन महंत श्री स्वामी सच्चिदानन्दजी को महामान्य की उपाधि मिली थी उन्हीं को राजद्रोही सावित करने की चेष्टा की गई। बाबू दयाचन्द, भोली नम्बरदार, जगन्नाथ, किशनलाल और उसके बूढ़े बाप आदि अनेकों सीधे नागरिकों को तंग किया गया। यह सब कुछ महाराज श्री कृष्णसिंहजी के स्वर्गवास के बाद उनकी प्यारी प्रजा के साथ हुआ। यही क्यों मेव विद्रोह के लक्षण भी दीखने आरम्भ हो गए थे। यदि दीवान श्री हैंक्कोक साहब थोड़े समय और सावधान न होते तो स्थिति भयंकर हो जाती।

इस एडमिनिस्ट्रेशनरी शासन में सब से कलंक पूर्ण बात यह हुई कि 'सूर्यमल शताब्दी', जो कि बसंत पंचमी सन् १९३३ ई० में भरतपुर को जाट महासभा की ओर से मनायी जाने वाली थी हेकड़ी के साथ न मनाने की आज्ञा दी गई। ठाकुर झम्मनसिंहजी और कुँवर हुक्मसिंहजी जैसे जाट नेताओं को कोरा जवाब दे दिया गया। इस घटना ने जाट जाति के हृदय को हिला दिया। यद्यपि महासभा नहीं चाहती थी कि क़ानून तोड़कर भरतपुर में 'सूरजमल शताब्दी' मनाई जावे। किन्तु उत्साह और जोश के कारण जाट लोगों के जत्थे बसंत पंचमी ३० जनवरी सन् १९३३ ई० को

भरतपुर पहुँच गए और नगर में घूम-घूम कर उन्होंने 'सूरजमल शताब्दी' मनाई। इसी शताब्दी-उत्सव का 'जाटवीर' में इस भाँति वर्णन छपा थाः—

सूरजमल शताब्दी नियत समय पर मनाई गई—

जाट-जगत् यह सुनकर फूला नहीं समायेगा कि वसन्त पञ्चमी ता० ३० जनवरी सन् १६३३ ई० को नियत समय पर भरतपुर में परम प्रतापी महाराजा सूरजमल की शताब्दी अपूर्व शान और धूम-धाम के साथ मनाई गई।

पिछली बातें

जाट-जगत् को सूरजमल शताब्दी के सम्बन्ध की पिछली बातों की खबर तो 'जाटवीर' द्वारा मिलती ही रही हैं इसलिए उन सब बातों पर प्रकाश डालने की जरूरत नहीं, किन्तु कुछेक बातों को लिखना उचित भी है। ता० १३ जनवरी को जाट-महासभा के डेपूटेशन को भरतपुर के कुचक्रियों द्वारा वहकाये हुए प्रेसिडेण्ट मि० हेङ्कोक ने जो सूखा जवाव दे दिया था उससे जाट-जगत् तिलमिला उठा था। ता० २२ जनवरी की मीटिंग की ओर सभी जाट भाइयों की निगाह लगी हुई थी।

यद्यपि भरतपुर के प्रतिष्ठित प्रेसिडेण्ट कौंसिल साहब के सूखे और कड़वे फ़ैसले ने बड़े-बड़े राज-भक्त और उपाधिधारी जाटों के दिल पर गहरा आघात किया था, किन्तु फिर भी उन्होंने अपनी बृटिश-शासन-परस्ती का सबूत देने के लिए बड़ी सहन-शीलता से काम लिया और सूरजमल शताब्दी को मुल्तबी कर दिया। लेकिन सर्व-साधारण जाट-जगत् ने भरतपुर के प्रेसिडेण्ट साहब के फ़ैसले को अपमान-जनक और अन्याय पूर्ण समझा और वह तिलमिला उठा। चारों ओर से यही सुनाई देने लगा कि यह आज्ञा ऐसी है जैसी असभ्य सरकार भी नहीं दे सकती।

बस यही बात थी कि प्रायः भारतवर्ष के सभी प्रान्तों के जाट-युवक व वृद्ध भरतपुर की ओर सूरजमल की जयन्ती मनाने के लिए चल पड़े।

उत्साह—

यद्यपि महासभा शताब्दी को मुल्तबी कर चुकी थी फिर भी सूरजमल-शताब्दी-समिति, जिसका कि जन्म आदि सृष्टि की भांति हुआ था के पास बीसियों स्थानों से तार आने लगे कि हम आरहे हैं। लगभग दो हज़ार मनुष्यों के बिस्तर भरतपुर-दर्शन के लिए बँध चुके थे। फिर भी ता० ३० जनवरी को हिन्डौन, खेरली, जाजन पट्टी, आगरा और मथुरा में ५०० जाट आ चुके थे जो स्वागत-समिति ने यहीं रोक दिए।

सूचना—

ता० २६ जनवरी को शताब्दी-स्वागत-समिति के सेक्रेटरी ने भरतपुर के प्रेसिडेण्ट साहब को इस आशय का तार दिया—"सूरजमल शताब्दी हमारा

धार्मिक उत्सव है। उसे कल वसन्त पंचमी को भरतपुर में मनाया जावेगा और कल १० बजे रेलवे स्टेशन से प्रेसिडेण्ट का जुलूस निकलेगा। अतः सहयोग देने की कृपा करें।"

इसी तरह का एक तार भरतपुर के पोलिटीकल एजेण्ट महोदय को भी दिया गया—

भरतपुर में इस तार के पहुँचते ही जो कार्यवाही हुई, वह इस तरह सुनने में आई है कि—दीवान ने कौंसिल के मेम्बरों को बुला कर मीटिंग की। एक मेम्बर इस पक्ष में थे कि उन्हें यहाँ आते ही गिरफ़्तार किया जाय; पर नहीं मालूम कि उनकी राय का क्या हुआ? रात के नौ बजे सी० आई० डी० वालों को स्टेशन पर तथा शहर के दरवाजों पर नियुक्त कर दिया। उन्होंने उसी समय से स्टेशन पर प्रत्येक ट्रेन के मुसाफिरों में सूरजमल के जयन्ती के आगत जनों की तलाश की। कहा जाता है कि स्वयं दीवान साहब ने भी स्टेशन तक आने का कष्ट किया।

वसन्त पञ्चमी

भरतपुर में यद्यपि इस खबर को छिपाने की काफी कोशिश अधिकारियों की ओर से हुई थी, कि यहाँ ब्रज के धर्म-प्रिय हिन्दू जाट सरदार शताब्दी मनाने आ रहे हैं। फिर भी अधिकारियों की फुस-फुस से जनता को पता चल ही गया। इधर ठीक १० बजे की ट्रेन से वसन्ती पोशाक में सजे हुए शताब्दी के प्रेसीडेण्ट ठाकुर भोलासिंहजी मय अपने साथियों के स्टेशन पर उतरे। 'महाराज सूरजमल की जय', 'महाराज ब्रजेन्द्रसिंह की जय' और 'जाट-जाति की जय' से प्लेटफार्म गूंज गया। बेंड बाजे से (भरतपुर) प्रेसीडेण्ट तथा उनके साथियों का स्वागत हुआ। बेंड बाजे और बीन बाजे वालों ने बाजे में ही एक स्वागत-गान गाया। जिस समय जुलूस प्लेटफार्म से बाहर निकला, उस समय सरकारी मोटरें और गाड़ियाँ इधर-उधर से जुलूस का चक्कर काटने लगीं। ठा० हुक्मसिंह, ठा० रामबाबूसिंह जी "परिहार" के भतीजे कुँ० बहादुरसिंह, कुँ० प्रतापसिंह और चिरञ्जीव फूलसिंहजी परिहार-वंश के नवयुवक अपनी भड़कीली वसन्ती पोशाक में जनता के मन को मोह रहे थे। चौधरी गोविन्दरामजी, चौ० थानसिंह, कुँ० जगनसिंह, कुँ० नरायणसिंह राजस्थानी सैनिक, तथा अन्य जाट वीर अपनी गम्भीर मुद्रा से हँसते हुए उत्साह प्रगट कर रहे थे। साथ में लम्बे बाँस में महाराज सूर्यमलजी तथा भरतपुर के अन्य महाराजगान के फ़ोटू थे, जिनपर पुष्प-मालायें लहरा रही थीं।

गिरफ़्तारी की आशङ्का

आशंका यह थी कि पुलिस जुलूस को भंग करेगी और लोगों को गिरफ़्तार करेगी, किन्तु पुलिस ने उस समय तक कुछ नहीं किया, जब तक कि जुलूस

प्रवेश-द्वार गोवर्धन दरवाजे तक पहुँचा। किन्तु हुआ यह कि एक भले-मानस मोटर लेकर आये। पहिले तो मोटर को जुलूस के आगे-पीछे घुमाया और फिर कहने लगे—आप लोग मोटर में बैठ कर चलिए, इतनी तकलीफ़ क्यों उठाते हो? मालूम होता है कि जुलूस को वह मोटरों के द्वारा शीघ्रता से घुमा कर बाहर निकाल देना चाहते थे, किन्तु उनसे साफ़ कह दिया कि आपकी महरवानी को सधन्यवाद अस्वीकार करते हैं। बेचारे अपना सा मुँह लेकर चले गए। इस मौक़े पर अधिकारियों ने एक और भी चाल चली। हिन्दी-साहित्य-समिति के द्वारा भी सूरजमल-शताब्दी मनाने का आयोजन कर डाला और उसके जुलूस को इसके जुलूस से मिला दिया। यह कार्यवाही इसलिए की गई जान पड़ती है, कि भरतपुर की आम पब्लिक को इस बात से अँधेरे में रक्खा जाय कि दीवान की हेकड़ी में दी हुई आज्ञा को उल्लंघन करके यह बृज-वासी हिन्दू तथा जाट लोग शताब्दी मना रहे हैं। साहित्य-समिति का जुलूस भी इसी जुलूस में शामिल हो गया। ठाकुर भोलासिंहजी से काफ़ी तौर पर कहा कि प्रेसीडेण्ट साहब पैदल न चलिए, घोड़ा गाड़ी में बैठ जाइए या मोटर ले लीजिए। किन्तु उन्होंने अस्वीकार कर दिया और राज महलों से आगे निकल कर अपना जुलूस भी अलग कर लिया और बाजार में होते हुए नाज-मण्डी में गंगा-मन्दिर के पास जहाँ सभा का आयोजन किया गया था ठहर गए।

दूसरा जत्था

भरतपुर पुलिस के अब तक की स्वच्छन्दता और प्रेसीडेण्ट साहब की भूल से यह सही सी बात जान पड़ रही थी कि स्टेशन से जाने वाला पाहला जत्था शहर में पहुँचने से पहिले ही गिरफ़्तार कर लिया जायगा। इसी ख़याल से दूसरा जत्था दूसरे रास्ते से शताब्दी समिति के मंत्री ठा० तारासिंहजी के साथ रवाना हुआ। इस जत्थे में मेरठ जिले के कुँवर लालसिंह, कुँवर बलवन्तसिंह, आगरे जिले के कुँवर श्री रामसिंह, सेन्ट्रलइण्डिया के भाई जादवेन्द्र, राजस्थानी भाई सूरजमल और दलेलसिंहजी आदि सरदार थे। ज्यों ही इन्होंने भरतपुर में चौबुर्जा पर इक्कों से उतर कर 'महाराजा सूरजमल की जय' बोली कि सी० आई० डी० वाले अचानक शहर में इस तरह जत्थे को आता देख कर भौचक्के हो गए। यह जत्था भी गंगाजी के मन्दिर के पास ठीक साथ ही साथ अपने पहिले आए जत्थे में मिल गया।

सभा समारोह

यद्यपि इन लोगों के साथ ही हज़ारों मनुष्यों की भीड़ थी फिर भी कुछ उत्साही भाइयों ने प्रमुख मुहल्लों में बुलावा दे दिया। थोड़ी ही देर में मंडी खचा-खच भर गई। चारों ओर भीड़ जमा हो गई। मंगल-गान के बाद स्वागताध्यक्ष कुँवर बहादुरसिंह जी (सुपुत्र स्वर्गीय ठाकुर पीतमसिंह जी परिहार, ज़मींदार

सूरजमल शताब्दी में जाने वाला पहिला जत्था—

खड़े हुये बाईं ओर से—मा० बलवन्तसिंह, कं० बहादरसिंह परिहार स्वागताध्यक्ष, कं० प्रतापसिंह, कं० श्रीरामसिंह

सूरजमल शताब्दी में जाने वाला दूसरा जत्था—

कठवारी) ने अपना छपा हुआ भाषण पढ़ा । अनन्तर ठाकुर हुक्मसिंहजी परिहार ने ठाकुर भोलासिंहजी फौजदार का,नामी नाम इस महोत्सव के प्रधान बनाए जाने के लिए पेश किया । कुँवर प्रतापसिंहजी परिहार सुपुत्र ठाकुर रामसरनसिंहजी परिहार ने समर्थन. व कुँवर लालसिंहजी ने अनुमोदन किया। करतल ध्वनि के बीच ठाकुर भोलासिंहजी सभापति के आसन पर आसीन हुए और अपने छपे हुए वीर-रस-पूर्ण भाषण को पढ़ा। इसके बाद ठाकुर तारासिंहजी का मर्मस्पर्शी भाषण हुआ और तत्पश्चात् निम्नलिखित प्रस्ताव सर्व-सम्मति से पास हुए:—

(१) यह शताब्दी महोत्सव निश्चय करता है कि प्रत्येक दसवें वर्ष महाराजा सूरजमल की यादगार में सूरजमल-शताब्दी-महोत्सव मनाया जाया करेगा।

(२) क्योंकि महाराजा सूरजमल की तरह महाराजा जवाहरसिंह भी जाट इतिहास में खास स्थान रखते हैं, इसलिए इस महोत्सव की राय है कि उनकी भी शताब्दी मनाई जाया करे।

(३) पंजाब-केसरी महाराजा रणजीतसिंहजी की सन् १६३६ ई० में शताब्दी मनाने का जो आयोजन सिख-समाज की ओर से हो रहा है उस पर यह महोत्सव हर्ष प्रगट करता है और सर्व जाट भाइयों से निवेदन करता है कि इस पवित्र कार्य में सहयोग दें। महाराज रणजीतसिंह जाट-जाति के ही सपूत थे।

(४) इस महोत्सव की राय है कि प्रतिवर्ष महाराज श्री कृष्णसिंहजी की स्मृति मनाई जाया करे।

कार्यवाही समाप्त होने ही को थी कि एक सी० आई० डी० ने कहा कि आप लोग कोतवाली के सामने पहुँचते ही गिरफ्तार कर लिए जावेंगे। अतः सब लोग शेष यात्रा करने 'सूरजमल-कीर्त्ति-गान' (जाट-जाति के सुप्रसिद्ध कवि ठाकुर रामबाबूसिंहजी "परिहार" द्वारा रचित) गाते हुए कोतवाली के सामने पहुँचे और आध घण्टे तक 'सूरजमल-गान' को दुहरा-दुहरा कर गाया। अन्त में महाराज सूरजमल की जय बोलकर बीसों सहयोगियों तथा आठों बेण्ड वालों के साथ ट्रेन में बैठकर रवाना हो गए। इस तरह महाराज सूरजमल की यह ऐतिहासिक शताब्दी सफलता पूर्वक सम्पन्न हो गई।

धारणायें

लोगों का कहना है कि प्रेसिडेण्ट साहब भरतपुर कौंसिल ने जाटों के वास्तविक जोश का खयाल करके अपनी त्रुटि को संभाल लेने की चेष्टा करली थी।······

विशेष बातें

जिन लोगों के लिये दूसरे दिन के लिए रोका जा रहा था वह इस बात के लिए नाराज हो रहे थे कि हमें आज ही क्यों नहीं भेजा जाता। पटवारी के मुख्य-मुख्य सरदार ठा० मूंगासिंहजी, ठा० हिरासिंहजी, ठा० गोपीचन्दजी,

ठा० कलियानसिंहजी, (ठा० रामबाबूसिंहजी "परिहार" के बड़े भाई) और महाशय प्यारेलालजी ने आये हुए लोगों की आव-भगत में अपनी पूरी शक्ति लड़ा दी थी।

शाम को जब दोनों जत्थे महाराज सूरजमलजी की जय बोलते हुए वापिस लौटे तो परिहार बन्धुओं ने आगे बढ़कर स्वागत किया। श्रीमती ठकुरानी उत्तमा-देवीजी ने सब की आरती उतारी। इसके पश्चात् ठा० तारासिंहजी, ठा० भोला-सिंहजी, कुं० पन्नेसिंहजी, सरदार हरलालसिंहजी आदि के भाषण हुए।"

मीठी विजय

भरतपुर के प्रेसीडेण्ट कौंसिल को उल्टा-सीधा समझा कर जो लोग जाट-जाति को कोरी बातून जाति साबित करने की चेष्टा में थे उनकी यह धारणा भ्रम-मूल सिद्ध हुई। उनके इस भ्रम को मिटाने के लिए यह एक जीता-जागता उदाहरण है। फिर भी भरतपुर के दीवान साहब ने असलियत को समझ कर ऐसा काम किया जिसके लिए उन्हें हृदय से धन्यवाद देना पड़ता है और जाट-जाति तथा व्रजवासियों को इस 'सूरजमल जयन्ती' के मनाने के निश्चय को साहस पूर्वक नियत समय पर पूर्ण करने के लिए बधाई है।

धौलपुर-राज्य

सीमा और विस्तार

इस राज्य की उत्तरी-पूर्वी सीमा पर बृटिश राज्य का आगरा जिला है। दक्षिणी-पूर्वी ओर चम्बल नदी बहती है। उत्तर में राज गवालियर, पच्छिम में करौली व भरतपुर रियासत हैं। विषुवत रेखा से उत्तर २६ अक्षांश ३० देशान्तर और २८ अक्षांश २० देशान्तर के मध्य स्थित है। पूर्व-उत्तर से दक्षिण-पश्चिम लम्बाई ५४ और उत्तर-पच्छिम से दक्षिण-पूर्व चौड़ाई ३२ मील है। क्षेत्रफल १६२६ वर्ग मील है।

इस राज के दक्षिण-पूर्व में चम्बल बहती हुई गवालियर की ओर चली गई है। वानगंगा भी इस राज्य में बहती है। चम्बल से कहीं-कहीं सिंचाई भी हो जाती है। जमीन कहीं-कहीं बड़ी ऊबड़-खाबड़ है। कहीं-कहीं पहाड़ भी हैं। कोई-कोई हिस्सा उपजाऊ भी है। धौलपुर, बाड़ी, राजाखेड़ा और श्रीमथुरा इस राज्य के नामी क़स्बे हैं। आगरा-गवालियर वाली सड़क इसी राज्य में से होकर गुज़री है। रेलवे लाइन भी ख़ास धौलपुर होकर आगरे से गवालियर को जाती है।

धौलपुर

आगरा-गवालियर सड़क पर आगरे से ३४ मील की दूरी पर स्थित है। एक मील के फ़ासले पर चम्बल नदी बहती है। चम्बल के किनारे पर एक विशाल क़िला बना हुआ है। यद्यपि बरसात में चम्बल का फांट बहुत बढ़ जाता है किन्तु क़िला इतनी ऊँचाई पर है कि

वहाँ तक पानी नहीं पहुँचता। मुग़ल-काल में धौलपुर मुसलमानों के अधीन था। 'हुमायूँ नामे' में धौलपुर का कई स्थानों पर वर्णन आता है। मुसलमान शासकों ने वहाँ कई मसजिदें बनवाई थीं। कहा जाता है धौलपुर बहुत पुराना शहर है। एक अँग्रेज ने जिनका नाम मि० टफन्थलर था, लिखा है कि धौलपुर को दौला नाम के एक आदमी ने बसाया था। हमारा मत है कि धौलपुर को धौल्या गोत्र के जाटों ने बसाया था। उन्होंने अलवर राज्य में स्थित धौलागढ़ को भी बसाया था जहाँ कि उनकी एक वीर लड़की की पूजा होती है जो कि धौलागढ़ की देवी कही जाती है। ब्रज के जाटों में धौलागढ़ की देवी मशहूर है। बारहवीं सदी के आसपास धौलपुर आबाद किया गया है यह भी हमारा ख़याल है।

बाड़ी—धौलपुर से दक्षिण-पश्चिम पहाड़ों के बीच में स्थित है। यहाँ से धौलपुर १८ मील दूर रह जाता है। इसके सम्बन्ध में कोई ख़ास बात उल्लेखनीय नहीं है।

राजाखेड़ा—यह परगने का सदर मुक़ाम है और धौलपुर से उत्तर-पच्छिम २३ मील के फ़ासले पर आबाद है। इधर गोलापूर्व ठाकुरों की आबादी अच्छी संख्या में है।

श्रीमथुरा—यह एक ऐतिहासिक स्थान है। शायद मथुरा के नाम पर भक्ति प्रधान हृदय के व्यक्तियों द्वारा यह प्रसिद्ध हुई है।

रानावंश

धौलपुर के शासक जाट कुल दिवाकर राणावंश के हैं। कहा जाता है राणा जाट सूर्यवंशी हैं। सूर्यवंश और चन्द्रवंश क्या हैं इसके दुहराने की यहाँ आवश्यकता नहीं है। पिछले अध्यायों में इस भाव का हम वर्णन कर ही चुके हैं। कुछ लोग कहते हैं कि राणा जाट शिशोदिया वंश के हैं। वास्तव में बात यह हो सकती है कि शिशोदिया और राणा एक ही वंश-वृक्ष की दो शाखायें हैं। रस्म-रिवाजों के अन्तर से कुछ लोग इनमें से राजपूत हो गए और शेष जाट कहलाते रहे। यह भिन्नता नवीन हिन्दू-धर्म के विस्तार के साथ हुई। राणावंश के लोग गोहद में आकर आबाद हुए। वास्तव में यह लोग ईरान से लौटकर पंजाब में आबाद हुए थे और वहाँ से चलकर गुजरात होते हुए राजस्थान में आकर आबाद हुए। पुराने रस्म को मानते रहने वाले समुदाय ने गोहद में अपनी बस्ती आबाद की। बप्पा तथा उनके साथी हारीत नाम के साधू के उपदेश से नवीन हिन्दू-धर्म में दीक्षित होकर कालानुसार शिशोदिया नाम से प्रसिद्ध हुए। इस विषय में भाटों का जो कथन है उससे हमारा कथन कहीं अधिक सही और बुद्धि-संगत है। राणा लोग आरम्भ में बमरौली में बसे थे। वहाँ से गवालियर पहुँचे। वहाँ उनका मुस्लिम सम्राटों के विरुद्ध युद्ध जारी रहा। गवालियर से हटकर गोहद में अपना राज स्थापित किया और अपने सरदार सुरजनसिंह देव को "राणा गोहद" बनाया। यह घटना १५०५ ई० की है।

अब से १५० वर्ष पूर्व तक वे शान्ति के साथ गोहद में प्रजा सत्तात्मक ढंग से शासन करते रहे। उनके कुछ दल आगरे के पास बमरौली कटारा, मथुरा ज़िले में भुड़ावई आदि गाँवों में फैल गये।

मराठों के उत्कर्ष के समय में राणा वीर भी सचेत हुए। उन्होंने संतोष की वृत्ति को उस समय के लिये अग्राह्य समझ कर तलवार संभाली। उधर जाटों की संख्या कम होने के कारण मराठों के साथ मिलकर ही वह अपनी वीरता के जौहर दिखाने लगे। उनके सहयोग से मरहठा लोग खूब लाभ उठाते थे। विजय पाकर वे खुशी मनाते थे।

बाजीराव पेशवा को उन्होंने बहुत सहयोग दिया, इसलिये वे गोहद के हाकिम मरहठों की ओर से भी मान लिये गये। यह घटना सन् १७२५ व सन् १७४० ई० के बीच की है। जिस सरदार को मरहठों ने गोहद का अधीश्वर स्वीकार किया था, वे अठारहवीं सदी के मध्य में स्वर्गवासी हो गये। उनके पश्चात् उनके भतीजे ने अध्यक्ष की कमान सँभाली। चचा से बढ़ कर भतीजा निकला। उन्होंने अपने राज्य को खूब बढ़ाया। वे पूरे राजनीतिज्ञ थे। मरहठों को वे परख चुके थे। मरहठे जहाँ बहादुर थे, वहाँ स्वार्थी भी पूरे थे। मरहठों की इसी मनोवृत्ति ने राना वीरों को उनसे अलग हो जाने पर बाध्य कर दिया। जब पानीपत का युद्ध हुआ तो गोहद के राना भीमसिंह मरहठों की सहायता से दूर रहे। उन्होंने मरहठों के साथ जितना बलिदान किया था, उसका मूल्य मरहठों ने कुछ नहीं के बराबर उनको चुकाया था। यही कारण था कि जब मरहठे पानीपत की सन् १७६१ ई० की लड़ाई के बाद शक्ति संचय करने में व्यस्त थे, राना लोगों ने भीमसिंह की अध्यक्षता में गवालियर पर कब्जा कर लिया। गवालियर पर अधिकार प्राप्त करने वाले राना सरदार श्रीलोकेन्द्रसिंहजी के चाचा थे। श्रीलोकेन्द्रसिंहजी ने अपने को गोहद का महाराज राना होने की घोषणा कर दी। उनका ऐसा करना उचित ही था। जिस भांति मरहठों को मरहठा-साम्राज्य स्थापन का अधिकार था, उसी भांति जाटों को भी अधिकार था कि वे समस्त भारत पर जाट-शाही स्थापित करने की घोषणा कर देते। सैनिक जातियाँ यदि संगठित रूप से अपना प्रभुत्व स्थापित करना चाहें तो किसी भी समय वह अपने उद्देश्य के लिए प्रयत्न कर सकती हैं। संसार भर में सदैव सैनिक-बल पर शासन रहा है और भविष्य में भी रहेगा। मरहठे लोकेन्द्रसिंह की सैनिक-शक्ति से परिचित थे। उनमें उस समय इतना दम न था कि वे लोकेन्द्रसिंह और उनके साथी जाटों के साथ छेड़-छाड़ करें। आगरे से इटावा तक इस समय भरतपुरी जाटों का बसन्ती झण्डा फहरा रहा था।

मरहठे लगातार ६ वर्ष तक चुप रहे। इस बीच में शक्ति-संचय कर सन् १७६७ ई० में उन्होंने राना पर चढ़ाई की। इस बीच में मरहठों का पेशवा रघुनाथ बन चुका था।
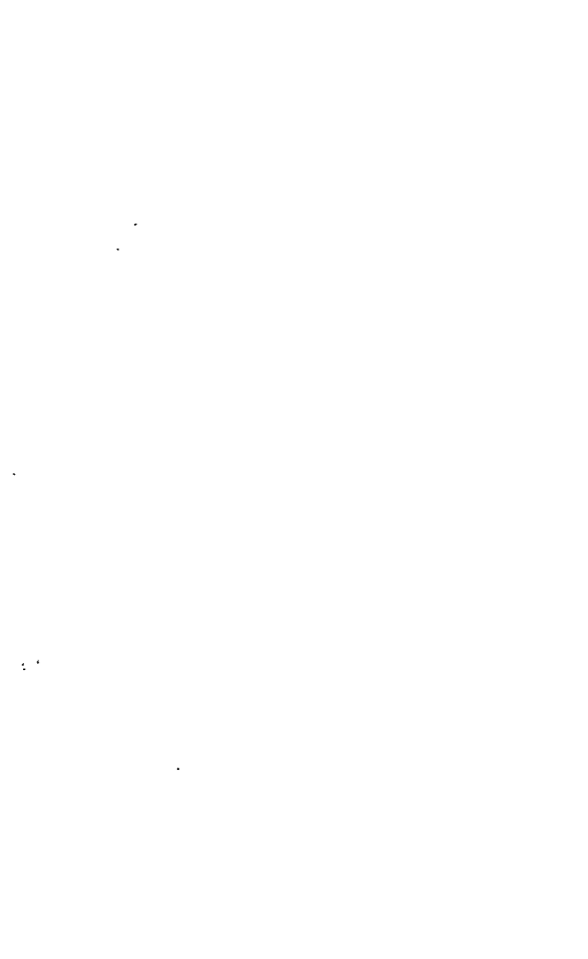
महाराजाधिराज श्री सवाई सर उदयभानुसिंह जी लोकेन्द्र बहादुर दिलेरजंग जयदेव K. C. S. I.; K. C. B. O.

महाराजा राणा धौलपुर

लोकेन्द्रसिंह ने पहिले से ही इस युद्ध के लिए तैयारी कर ली थी। वह स्वयं भी प्रसिद्ध रण बांके योद्धाओं में से थे। उन्हें तलवार पर विश्वास था। मरहठे दिल तोड़कर लड़े किन्तु जाट सिपाही हटना तो जानते ही नहीं थे। रघुनाथराव पेशवा की समझ में आ गया कि जाट मुग़ल और पठानों की भांति मरहठों से भयभीत होने वाले सैनिक नहीं हैं। इसलिए उसने राजा के सामने तीन लाख रुपये खर्च की मांग पेश की। तीन लाख मिलने पर वह वापिस लौट जायगा और राना को स्वतन्त्र राजा मान लेगा। इस प्रस्ताव से राना भी सहमत क्यों न होते। उन्होंने तीन लाख रुपये रघुनाथराव को दे दिये। मरहठे वापिस लौट गये। खिराज देने की शर्त को राना ने कभी नहीं निभाया।

अँग्रेज सरकार ने ऐसे बहादुर और मराठों के विद्रोही राजा से लाभ उठाने की बात सोची। अँग्रेज सरकार को बम्बई हाते की ओर मराठों के आक्रमण का डर था। दिल्ली और बम्बई के बीच अँग्रेज अपना ऐसा दोस्त चाहते थे जहाँ बीच में उनकी फ़ौज को आराम से ठहराया जा सके। ऐसे ही राजनैतिक कारणों से प्रेरित होकर अँग्रेजों ने लोकेन्द्रसिंहजी से मैत्री सम्बन्ध स्थापित करने की इच्छा प्रकट की। लोकेन्द्रसिंह और अँग्रेजों के बीच जो सन्धि हुई उसका संक्षिप्त रूप यह है:—

१ धारा—आनरेबुल इंग्लिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी व महाराजा लोकेन्द्रसिंह बहादुर दोनों पक्षों के उत्तराधिकारियों में सदैव मित्रता रहेगी और निम्न लिखित कार्यों के लिए उनमें सदैव एकता रहेगी।

२ धारा—जब कभी दोनों पक्षों में से किसी की मरहठों से लड़ाई होगी तब अगर महाराजा लोकेन्द्रसिंह साहब अपने देश की रक्षा अथवा शत्रु से देश विजय करने के लिए कम्पनी सरकार अङ्गरेजी से सेना चाहेंगे तो उनकी लिखित पत्रिका अँगरेजी फ़ौज के प्रधान सेनापति के पास पहुँचने पर आवश्यकतानुसार सेना उनके पास पहुँच जावेगी। जब तक उन्हें जरूरत होगी उनके पास रहेगी। उनके विदा करने पर वापिस आयेगी। इस फ़ौज का व्यय महाराजा साहब से महलीदार सिक्कों में बीस हजार मासिक लिया जावेगा। जिस समय फ़ौज कम्पनी के मुल्क व नवाब अवध के मुल्क से कूंच करेगी और जिस समय उक्त स्थान पर वापिस आजायेगी, फ़ौज के वेतन के दिन होंगे। मंजिल प्रतिदिन चार कोस की समझी जावेगी।

३ धारा—यह सेना महाराज साहब को भीतरी-बाहरी शत्रुओं से सुरक्षित रखने और मरहठों से विजय करके उनके देश की वृद्धि करने में संलग्न रहेगी।

४ धारा—इस प्रतिज्ञा-पत्र के अनुसार जो प्रदेश सेना सरकार कंपनी या सेना महाराज साहब या दोनों सम्मिलित रूप से युद्ध द्वारा अथवा संधि द्वारा मरहठों से हासिल करेंगे उन ५६ मुहालों के समेत जो महाराज के क़दीम मुल्क हैं

और इस समय मरहठों के अधिकार में हैं बटवारा इस हिसाब से होगा कि एक रुपये में नौ आना कंपनी सरकार और सात आना महाराज बहादुर का होगा। कुल आमदनी की औसत की जाँच दोनों ओर के अमीन दो साल की जमाबन्दी से कर लेंगे। प्रदेश और दुर्ग महाराज साहब के अधिकार में ही रहेंगे। कंपनी के हिस्से की रक़म महाराज साहब वसूली में से ख़िराज के तौर पर कंपनी सरकार को देते रहेंगे।

५ धारा—जब कभी महाराज तथा कंपनी की सेना को महाराज साहब के प्रदेश से बाहर मरहठों से लड़ना पड़ेगा, तो प्रार्थना-पत्र के पहुँचने पर महाराज साहब दस हज़ार सेना एकत्रित करेंगे। ख़र्च दोनों ओर अलग किया जावेगा और यदि वापिसी के समय महाराज अँगरेज़ी सेना को रखने की इच्छा प्रकट करेंगे तो धारा दूसरी के अनुसार उन्हें फ़ौज का ख़र्च देना होगा। किन्तु कंपनी सरकार को अधिकार न होगा कि महाराज की फ़ौज को उज्जैन वा द्वावा इन्दौर की सीमा के बाहर उनकी ख़ास मंजूरी के बिना भेजें। इस विषय में उनसे प्रार्थना भी न करेंगे।

६ धारा—जब कि अँगरेज़ी सेना महाराज साहब के देश व सेना की रक्षा या अन्य प्रदेश के विजय करने में नियुक्त होगी महाराज साहब उसे आज्ञा प्रदान करेंगे (अर्थात् वह सेना महाराज की अधीनता में रहेगी)। किन्तु अँगरेज़ी सेना आज्ञा-पालन अँगरेज़ी क़मान अफ़सर के द्वारा करेगी।

७ धारा—जब कभी महाराज साहब और कंपनी सरकार की फ़ौजें दैवयोग से कहीं दूर की लड़ाई पर होंगी तब अँगरेज़ी सेनापति उचित सेवाओं के लिए महाराज साहब की राय लेगा। किन्तु मत-विभिन्नता के समय पर अन्तिम निर्णय अँगरेज़ी कमान अफ़सर की राय पर होगा। परन्तु महाराजा साहब अपनी फ़ौज के स्वयं ही संचालक व नायक होंगे।

८ धारा—जब क़भी अँग्रेज़ी सरकार और मरहठों के बीच सन्धि होगी, उस समय जो अहदनामा होगा, महाराजा साहब बतौर एक फ़रीक के उसमें शामिल होंगे। उस अहदनामे में महाराजा साहब के वर्तमान अधिकृत प्रदेश और क़िला ग्वालियर क़दीम से महाराजा साहब का ख़ानदान उस पर अधिकारी रहा है। बशर्ते कि क़िला मज़कूर उनके क़ब्ज़े में होगा। साथ ही अन्य प्रदेश भी जो विजय होने पर महाराजा साहब के अधिकार में सिद्ध होवें, पूर्वानुसार महाराजा साहब के अधिकार में रहने की सम्मति दी जावेगी।

९ धारा—महाराजा साहब के मुल्क में कोई अङ्गरेज़ी कोठी न बनाई जावेगी और न कोई आदमी अँगरेज़ों का जब तक कि गवर्नर जनरल व कौंसिल अँग्रेज़ी महाराजा साहब से मंजूरी हासिल न कर लेगी उनके राज में पहुँचेगा। सेना की

वाओं के लिए उनकी प्रजा बेगार में नहीं पकड़ी जावेगी और न महाराज साहब के अतिरिक्त कोई उन पर किसी तरह की हुकूमत करेगा।

व मुकाम फ़ोर्ट विलियम क़िला कलकत्ता तारीख २ दिसम्बर सन् १७७८ ई० में व मुहर व दस्तखत निर्णय हुआ।

इस सन्धि-पत्र के अनुसार १७७८ ई० में दो हजार चार सौ सैनिकों के साथ कप्तान पोफम की आधीनता में अङ्गरेजों ने महाराजा साहब की सहायता के लिए फ़ौज भेजी। कप्तान पोफम ने लाहौर के क़िले से मरहठों को महाराज की फ़ौज की सहायता से निकाल दिया। लाहौर पर महाराज राना का अधिकार हो गया। इसी वर्ष चौथी अगस्त को क़िला गवालियर भी फ़तह कर लिया गया। राना गोहद का गवालियर पर भी झण्डा गाड़ दिया गया।

१३ अक्टूबर सन् १७८१ ई० को जो अहदनामा सरकार अँगरेजी और माधौजी सेंधिया के बीच हुआ उसके अनुसार महाराना को सम्मति दी गई थी कि जब तक अहदनामा सरकार अँगरेजी पर वे क़ायम रहेंगे, गवालियर और अन्य प्रदेश उनकी सम्पत्ति समझे जायँगे और सेंधिया उसमें हस्तक्षेप न कर सकेगा।

कहा जाता है कि सन् १७८१ व १७८२ ई० में अँगरेजों के विरुद्ध जो संगठन हुआ था राना उसमें शामिल हुए थे। इसलिए अँग्रेजों ने अपनी ओर से सन्धि तोड़ दी। हो सकता है यह बात सही हो, क्योंकि स्वतन्त्रता की आग प्रत्येक देशवासी के हृदय में होती है। किन्तु बात यह थी कि सेंधिया से बार-बार राना के पीछे अँग्रेजों को टक्कर लेने में कठिनाई मालूम पड़ रही थी। सन् १७८२ ई० के मई महीने में सलवाई के स्थान पर सन्धि करके सिन्धिया ने जब अँग्रेजों के युद्ध से छुट्टी पाई तो उसने गवालियर को वापिस लेने के लिए राना पर चढ़ाई करदी। सेंधिया जैसे प्रचण्ड वीर का बड़ी बहादुरी के साथ महाराना ने मुक़ाबिला किया। किन्तु आख़िरकार उन्हें गवालियर खाली करना पड़ा। गोहद भी उनके हाथ से निकल गया। अङ्गरेजों ने कुछ भी मदद न की। रानासाहब भी क़ैद हो गये। महाराना को तथा उनके साथियों को २२ वर्ष तक परेशानी उठानी पड़ी।

सन् १८०४ ई० में सिन्धिया और अँग्रेजों की फिर अनबन हो गई। दौलतराव के पुत्र माधौजी सेंधिया से अँगरेजों की लड़ाई हुई

राना कीरतसिंहजी और क़िला गवालियर तो अपने क़ब्ज़े में रक्खा और गोहद

राना लोकेन्द्रसिंहजी के पुत्र महाराज राना कीरतसिंहजी को सौंप दिया। किन्तु एक ही बरस बाद सेंधिया से अँगरेजों को सन्धि करनी पड़ी जिसके अनुसार गवालियर और गोहद वापिस कर देने पड़े। गोहद महाराज राना कीरतसिंह से सेंधिया को अँगरेजों ने दिला दिया किन्तु उसके बदले में धौलपुर, बाड़ी और राजाखेड़ा के परगने रानासाहब को अँगरेजों ने दिये। गोहद

में महाराज रानाओं ने ४४ वर्ष तक राज किया था। अब वे गोहद के बजाय धौलपुर के राना कहलाने लगे।

चम्बल नदी धौलपुर और गवालियर की सरहद नियुक्त हुई। सेंधिया और महाराना साहब में प्रेम-भाव स्थापित नहीं हुआ। सन् १८३१ ई० में महारानी बीजावाई और उनके भाई सिन्धुराव गवालियर से निकाले गये; तब महाराना ने उनका स्वागत-सत्कार भले प्रकार किया।

सन् १८३६ ई० में महाराज राना कीरतसिंहजी का स्वर्गवास हो गया। श्रीभगवन्तसिंहजी राजसिंहासन पर बैठे। सन् १८३७ ई० में सरकार अँगरेजी की ओर से राज्य का खिलअत प्रदान हुआ।

कहा जाता है कि महाराज सेंधिया सरावगी वैश्यों द्वारा धौलपुर के साथ साजिश कर रहे थे, इसलिए महाराज भगवन्तसिंहजी ने सरावगियों के मन्दिर में पारसनाथ की बजाय महादेव की मूर्ति स्थापित कर दी। सिंधिया ने सरकार अँगरेज को इस मामले में हस्तक्षेप के लिए लिखा, किन्तु सरकार अँगरेज ने इस मामले को ग़ैरदस्तन्दाजी का बता दिया।

सन् १८५८ ई० में विद्रोहियों द्वारा ताड़ित होकर जो अँगरेज़ धौलपुर भाग आये, महाराज राना ने उनकी पूर्ण रूप से हिफ़ाज़त की।

महाराज राना भगवन्तसिंहजी निहायत खुश मिजाज़ और हर दिल अज़ीज़ थे। सारी प्रजा उनकी सराहना करती थी। राज के काम में उनकी चतुर भौजाई भी सहयोग देती थीं।

सन् १८६१ ई० में राज्य में कुछ षड्यंत्रकारियों ने बग़ावत खड़ी करदी। वे महाराज राना के प्राणों के भी ग्राहक हो गये। महाराज को विवश होकर आगरा जाना पड़ा। देवहंस जो कि राज की ओर से मुख्तार था महाराज को गद्दी से हटाना चाहता था। अँगरेज़ सरकार ने इस मामले को अपने हाथ में लिया। जाँच में मालूम हुआ कि ग़दर के समय में उसने इलाक़ा आगरे में भी लूटपाट की थी। उसे क़ैद करके बनारस भेज दिया गया।

सरकार ने महाराज को गोद लेने का हक़ और के० सी० आई० ई० का ख़िताब दिया था।

देवहंस के बाद सर दिनकर के भाई गंगाधरराव राज्य के दीवान नियुक्त हुए। मुन्शी प्रभूलाल को नायब दीवान बनाया गया। राज्य की दशा सुधरने लगी। कर्जा भी कम हुआ। महाराज के यहाँ एक गजरा नाम की निहायत हसीन स्त्री की पहुँच का कुछ इतिहासकार वर्णन करते हैं। २८ वर्ष की युवावस्था में महाराज राना के बेटे का देहान्त हो गया। उसकी और महाराजा की अनबन भी रहती थी। उसने अपने पीछे एक पाँच वर्ष का सुकुमार बालक छोड़ा।

महाराज राना उसकी बड़े लाड़-चाव से शिक्षा कराने लगे। पोलीटिकल एजेण्ट भी उन्हें खूब प्यार करते थे और कहा करते थे कि यह राजकुमार बड़े योग्य साबित होंगे।

१८७१ ई० में गंगाधरराव ने दीवानी से इस्तेफ़ा दे दिया और प्रभूलाल का काम खराब करने के कारण निकाल दिया गया। इससे एक साल पहिले महाराज ने कलकत्ते में जाकर ड्यूक आफ़ कनाट से मुलाक़ात की थी और सितारे हिन्द का प्रथम श्रेणी का खिताब भी प्राप्त किया था। कहा जाता है, महाराज राना का खिताब भी उन्हें इसी मौक़े पर मिला था। गंगाधरराव के दीवानी से अलग होने पर कुछ दिन तक सर दिनकरराव ने दीवानी का काम किया। पीछे पटियाले से हकीम अब्दुलनबीखां को बुलाया गया। आगरा में लाट साहब से मुलाक़ात करने के बाद अब्दुलनबीखां को स्थायी रूप से दीवान बना दिया गया। यह बड़ा योग्य आदमी निकला। रियासत पर जितना भी कर्ज़ा हुआ था इसने उसे चुकाने में बड़ी योग्यता दिखाई।

डांग के आस पास के कुछ लुटेरे गूजरों का दमन किया। कुछेक बदचलन लोगों के कारण धौलपुर की जो बदनामी हो रही थी उसे मिटाया। राज्य भर में दौरा किया। जगह-जगह थाने क़ायम किये। तहसील के काम के लिए तहसीलदार बनाये। वह अपने काम में बहुत होशियार था। १८७२ ई० में महाराज राना के ऐसे सुयोग्य दीवान का इन्तकाल हो गया। राज की भलाई के लिए महाराज ने निम्न सुधार किये:—

१—इजलास खास की स्थापना की जिसमें महाराजा साहब व दीवान बैठ कर अपीलें तथा संगीन मुक़द्दमों को सुनते थे। २—महकमा पंच सरदारान जिसमें विभिन्न जातियों के प्रतिष्ठित व्यक्ति बैठते थे, वे अपनी राय और रिपोर्ट इजलास खास को देते थे। ३—अदालत आला दीवानी व फ़ौजदारी के लिए दो हाकिम नियुक्त किए। एक दीवानी और दूसरा फ़ौजदारी सम्बन्धी निर्णय करता था। ४—महकमा माल की स्थापना जमीन सम्बन्धी मामलों के लिए की गई। ५—दफ़्तर इलाक़ा ग़ैर महकमे इसलिए क़ायम किए कि इलाक़ा अँगरेज़ों और अन्य रियासतों के सम्बन्ध की कुल कार्रवाही उसी के जरिये से हो। ६—फ़ौजी विभाग सेना सम्बन्धी समस्त हिसाब और कार्य इस महकमे के द्वारा होते थे। इसके अलावा अन्य भी महकमे बनाये।

राज्य में जेलखाना बनने की तयारी भी हो रही थी। उनकी इच्छा थी कि आबपाशी का इंतज़ाम भी करें। क्योंकि राज्य में चम्बल, बान, उटंगन नाम की नदियाँ थीं। हिन्दी, उर्दू, फ़ारसी की शिक्षा के लिए मदरसे भी खोले गये।

सन् १८७३ ई० में महाराज राना भगवन्तसिंहजी का स्वर्गवास हो गया। उनके सम्बन्ध में तत्कालीन पोलीटिकल एजेण्ट ने लिखा था—"महाराजा साहब

निहायत खुशमिजाज, वामुरव्वत व हरदिल अज़ीज़ हैं। सरकार अँगरेज़ी के निहायत वफ़ादार और श्रीमती सम्राज्ञी मल्का महान अधीश्वरी इंगलिस्तान व हिन्दुस्तान के पूर्णतः हितचिन्तक हैं। इस बात में वे कुछ भी संकोच नहीं करते। इधर से गुजरने वाले यूरोपियन अँगरेज़ यात्री और सरकारी कर्मचारियों की आव-भगत बहुत अच्छी तरह से करते हैं।" धौलपुर पहिले राजनैतिक दृष्टि से आबू से सम्बन्ध रखता था। किन्तु पीछे से भरतपुर के पोलीटिकल एजेण्ट से सम्बन्धित हो गया। महाराज के स्वर्गवास की खबर पाकर मि० रावर्ट पोलीटिकल एजेण्ट धौलपुर पधारे और राज्य का शासन-सूत्र चलाने का प्रबन्ध किया। गद्दीनशीन महाराज नाबालिग़ थे। सर दिनकरराव को राज्य का दीवान बनाया गया। सर दिनकरराव ने अवैतनिक रूप से कार्य करके राजभक्ति प्रकट की। उनका कहना था कि राज्य से हमने बहुत लाभ उठाया है।

महाराज निहालसिंह

नाबालिग़ महाराज राना "प्यारे राजा साहब" राज्य के मालिक हुए। उनकी शिक्षा का प्रबन्ध उनकी माताजी के सुपुर्द हुआ। उनकी माताजी पटियाले के महाराज नरेन्द्रसिंह जी की पुत्री थीं। वह शिक्षित और बहुत चतुर थीं। सर दिनकरराव ने पोलीटिकल एजेण्ट को यही राय दी थीं। एक अङ्गरेजी पढ़ा हुआ ब्राह्मण भी उनकी शिक्षा के लिये रक्खा गया। यह भी प्रबन्ध किया गया कि कभी-कभी महाराज आगरा जाकर अङ्गरेज लोगों तथा उनकी मेम साहिबान से बात-चीत किया करें, इससे अङ्गरेजी बोलना उन्हें जल्द आजावेगा। सन् १८७३-७४ में धौलपुर मदर्से के हेडमास्टर से उन्होंने अङ्गरेजी सीखी। साथ ही हिन्दी, संस्कृत और फ़ारसी भी सीखते रहे।

महाराज राना अङ्गरेजी के क्रिकेट पोलो आदि खेल में बड़ी प्रसन्नता से शामिल होते थे। सन् १८७६ में महाराजा साहब प्रिन्स आफ़ वेल्स के दरबार में शामिल हुए। यह प्रिन्स साहब सप्तम एडवर्ड थे जो भारत यात्रा के लिये पधारे थे। दरबार से लौटते हुए महाराज गवालियर व शाहज़ादे साहब धौलपुर में आये, उनका आतिथ्य-सत्कार ख़ूब किया।

पंज सरदारों में उस समय ठा० दरियावसिंह जी (जाट) रिश्तेदार महाराना साहब, कुँवर हरदेवसिंह खान्दान महाराना साहब, लल्लू लक्ष्मनसिंह, लाला सुन्दरलाल और मीर आबिद थे। माल, फौजदारी, दीवानी और सेना विभाग का काम पंज सरदारों के उत्तरदायित्व में था।

अब तक राज्य की ज़मीन का बन्दोबस्त न हुआ था। सन् १८७५ में मि० स्मिथ को बन्दोबस्त के लिये बुलाया। मुँशी कन्हैयालाल और दुर्गाप्रसाद के सहयोग से सन् १८७७ तक बन्दोबस्त हो गया, और जमाबन्दी की कठिनाई भी हल हो गई।

मिती वार हिसाब भी राज्य की आय-व्यय का रक्खा जाने लगा था जिससे ख़र्च करने में आमदनी के हिसाब से विचार कर लिया जाता था। सन् १८७५ ई० में मौज़ा साहनपुर को जो कि जागीर में था ख़ालसे में मिलाया गया।

धौलपुर में दो खिराज गुजार रियासतें हैं। दोनों यादव राजपूतों की हैं। एक सरमथुरा की और दूसरी बिजौली की। सरमथुरा से खिराज में वीस हज़ार रुपये आते हैं और बिजौली से १६३१) रुपये सालाना खिराज में महाराना धौलपुर को मिलता है। ये दोनों टॉकेदार कहलाते हैं। राज गवालियर में एक मौज़ा निमरौल का है, वहाँ टॉकेदार नहीं है, किन्तु खिराज गुजार है।

धौलपुर राज्य में ३८० देहात मालगुज़ारी देने वाले हैं। २१० गाँव नानकार हैं। जिन लोगों को जमाबन्दी में कुछ दिया जाता था, नम्बरदारी आदि का हक़ था, ऐसे हक़ लेने वाले गाँवों को नानकार कहा जाता था। पीछे से यह नानकारी हटाना मुनासिब समझा गया।

महाराज राना निहालसिंहजी के समय तक जो प्यारे राजा साहब भी कहे जाते थे, इस राज ने ६१ देहात जागीरों में दे रक्खे थे। जागीरदार लोग सवारों की नौकरी देते थे। उन्हें राज-सेवा के उपलक्ष में जागीरें दी गई थीं।

इस समय मालगुजारी और सायर से राज-कर में आमदनी भी बढ़ी। चूँकि अनेक लोगों ने अनेक गाँवों में मुआफ़ी के नाम पर ज़मीन के बहुत से हिस्से पर कब्ज़ा कर रक्खा था, उसकी जाँच करके बहुत ज़मीन पर लगान बाँध दिया गया। कस्टम चौकियों पर रवन्ना होने का क़ायदा हो जाने से आमदनी बढ़ गई और जो गड़बड़ पहिले होती थी वह भी कम होने लगी।

पंज सरदारों ने पंचायत के ज़रिये नमक और अफ़ीम पर जो कि आगरा बम्बई के बीच धौलपुर होकर जाते थे, महसूल बाँध दिया। स्टाम्प जारी होने से भी राज की आमदनी बढ़ी। इसी भाँति कोयल व सरपते की बिक्री से भी आमदनी बढ़ गई। कहने का सारांश यह है कि राज्य की आमदनी बढ़ाने के तरीक़ों पर खूब ध्यान दिया गया।

सन् १८८४ ई० में महाराज राना नौनिहालसिंहजी को राज के कुल अधिकार अँगरेज़ सरकार की ओर से प्रदान किये गए। इस समय राज्य में राज परिवार और प्रजा-वर्ग सभी ने खूब प्रसन्नता मनाई।

महाराज राना नौनिहालसिंह बड़ी खुश तबियत के आदमी थे। उनकी यह इच्छा कभी नहीं रहती थी कि कोई भी प्रजा-जन उनकी जात ख़ास से दुख पा सके। फ़िज़ूलख़र्ची उनके समय में खूब हुई। महाराज राना नहीं चाहते थे कि इतना ख़र्च हो, इसलिए वे सम्हल भी गये। सन् १८८८ ई० में उनकी नेकनाम दादी-साहिबा का स्वर्गवास हो गया जिससे सर्व साधारण को बड़ा भारी रंज हुआ।

इन महाराज के समय में अस्पताल, तालाव, इमारतों की दुरुस्ती आवपाशी के साधनों में अच्छी तरक्की हुई। रेलवे लाइन और कुछ सड़कें भी बनीं। पोलीटिकल एजेण्ट के रहने के लिए भी अलग भवन निर्माण हुआ।

कहा जाता है कि ये महाराज घोड़े के वड़े प्रसिद्ध चढ़नेवाले थे। रेल के साथ शर्तवन्दी पर घोड़ा दौड़ाने की चर्चा इनके सम्बन्ध में आगरा ज़िले के सभी वर्ग के लोगों से सुनी जाती है। प्रजा जनों के साथ हिलमिलकर बात करने में महाराज खूब प्रसन्न होते थे।

धर्म-कर्म में इस राजवंश की निष्टा सदैव से अधिक मात्रा में चली आई है। आपके समय भी सैकड़ों ब्राह्मणों को पूजा-पाठ के लिए वेतन दिया जाता था।

अँगरेज़ सरकार की ओर से आपको 'सेन्ट्रल इण्डिया हार्स' में आनरेरी मेजर और फ्रान्टियर मेडिल और सी० वी० की उपाधियाँ मिली थीं। इन महाराज ने वृटिश सरकार के पक्ष में तेराह के युद्ध में बहुत सहायता दी थी। अँगरेज़ सरकार के यहाँ उनकी वड़ी इज़्ज़त थी। सन् १९०१ में महाराज के लिए भी वह समय आ गया जो कि सभी के लिए आता है। वे इस संसार से कूँच कर गये।

महाराना रामसिंह

महाराज निहालसिंहजी के वाद राजगद्दी पर उनके वड़े वेटे रामसिंहजी वैठे। इन्होंने लगभग ग्यारह वर्ष राज किया। इनके समय में राज्य में साधारण सुधार हुए। नये ढङ्ग के क़ानूनों का प्रचलन जो कि वृटिश भारत में हो चुका था इनके राज्य में भी होने लगा। धौलपुर की भूमि की प्राकृतिक वनावट वड़ी वेढङ्गी है। सैकड़ों मील भूमि वैसे ही पड़ी रह जाती है। 'राजपूताना गज़ेटियर' में धौलपुर की खेती के योग्य भूमि २५६६८५ एकड़ वताई है। नाक़ाविल भूमि जिस पर खेती नहीं होती २३४८६२ एकड़ लिखी है। कुछ भूमि ऐसी भी 'गज़ेटियर' ने वताई है कि जिस पर कभी फ़सल हो जाती है, कभी नहीं। ऐसी भूमि ८८९२३ एकड़ है। महाराना रामसिंह के समय तक राज्य छः परगनों में विभक्त हो चुका था। वे परगने मनिया, कुलारी, वारी, विसहरी, राजाखेड़ा और धौलपुर के नाम से मशहूर हैं। उनके समय राज्य की आय ग्यारह लाख रुपये से अधिक न थी। इस समय तो वहुत वढ़ गई है। तीस लाख के लगभग है। ख़ास शहर धौलपुर की आवादी भी शनैः शनैः वढ़ रही थी। उनके समय में लगभग बीस हज़ार जन संख्या धौलपुर की थी। इनको सरकार ने के० सी० आई० ई० का ख़िताब भी दिया था। सन् १९११ ई० में महाराज रामसिंहजी का स्वर्गवास हो गया। उनके कोई पुत्र न था। इसलिए उनके छोटे भाई श्री उदयभानसिंहजी राजसिंहासन पर वैठे। उस समय आप भी नावालिग़ थे। इसलिए राज्य का प्रबन्ध पोलीटिकल एजेण्ट व कौंसिल के द्वारा होने लगा।

महाराज रानाउदयभानुसिंहजी

श्रीमान् जी का जन्म सन् १६०१ ई० में हुआ था। आप महाराज रामसिंहजी के छोटे भ्राता हैं। १६११ ई० में ज्येष्ठ भ्राता के स्वर्गवास होने पर गद्दी पर बैठे। सन् १६१३ ई० में राज्याधिकार प्राप्त हुए। आपने केडिट कोर में भी शिक्षा पाई है। महाराज राना बहादुर का उपाधि सहित पूरा नाम "रईस उद्दौला सिपाहदार उलमुल्क महाराजाधिराज श्री सवाई महाराज राणा लेफ्टीनेण्ट कर्नल सर उदयभानसिंह लोकेन्द्र बहादुर दिलेरजंग जयदेव के० सी० एस० आई०, के० सी० बी० ओ०" हैं। यह अभिमान की बात है कि भरतपुर की भाँति महाराज राना धौलपुर भी सरकार अँग्रेजों को कोई खिराज नहीं देते हैं। महाराज रानाओं के लिए १७ तोपों की सलामी है। श्रीमान् जी जातीय कार्यों में भी खूब दिलचस्पी लेते हैं। मेरठ में जिस समय जाट महासभा का वार्षिक अधिवेशन हुआ था श्रीमान् जी ने उसका सभापतित्व ग्रहण करके अपने जातीय प्रेम का परिचय दिया था। लखावटी का प्रसिद्ध जाट कालेज आपही के नाम पर प्रसिद्ध है। आप उसके संरक्षक हैं। सन् १६३० ई० में देहली में होने वाले जाट महासभा के महोत्सव में पधार कर आपने अपने हृदय-द्वार का खोलकर बता दिया था *"मैं अपनी जाति की जितनी भी सेवा करूँगा उतना ही मुझे आनन्द प्राप्त होगा"*। भरतपुर की भलाई के मामलात में महाराज श्री कृष्णसिंहजी के पश्चात् आपने पूर्ण दिलचस्पी ली है। पहिली 'गोलमेज कान्फ्रेन्स' में शामिल होकर देश और गवर्नमेण्ट के लिए उनके हृदय में जो सद्भाव हैं उन्हें भली भाँति प्रकट किया था। इस बात पर उन्हें अभिमान है कि उनका जन्म उस महान जाट जाति में हुआ है जो सदैव उन्नत और उदार विचारों वाली सिद्ध हुई है। पिछले वर्ष आप नरेन्द्र-मंडल के प्रो० चांसलर नियुक्त हुए हैं। यह बात आपकी सर्व-प्रियता का उदाहरण है। आप एक तपस्वी और धर्मिष्ट नरेश हैं। ईश्वर-वन्दना, संत-सेवा, मिलनसारी और मृदु-भाषण आपके सर्वोत्कृष्ट गुण हैं। अन्याय और पक्षपात आपके राज्य में इस समय तक प्रवेश नहीं कर सका है। प्रजा न कर-भार से दुखित है और न बेगार की मार से पीड़ित। राजस्थान की अन्य रियासतों की जब हम प्रजा के सुख की दृष्टि से तुलना करते हैं तो धौलपुर हमें सर्व-श्रेष्ठ दिखाई देता है। शारीरिक स्वास्थ्य के अनुपात से सभी राज्यों की प्रजा से धौलपुर की प्रजा श्रेष्ठ दिखलाई पड़ती है। आज अधिकांश भारतीय-नरेश शराबी, कबाबी और विलासी बने हुए हैं। महाराज राना एक दम इन दुर्व्यसनों से कोसों दूर हैं। वास्तव में धौलपुर के महाराज राना "तपेश्वर और राजेश्वर" का सम्मिश्रण हैं। यदि हम यह कह दें कि वे कलियुग के "जनकराज विदेह" हैं तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।

जन-संख्या

राजपूताने में जाटों की संख्या प्रायः सभी जातियों से अधिक है जो कि कुल आवादी का ६२'८ फी हज़ार है। सन् १६३१ की राजपूताना सेंसर रिपोर्ट के अनुसार १०४२१५२ राजपूताने में और करीब ३०००० अजमेर-मेरवाड़े में हैं। अलग-अलग खास २ रियासतों में जिनमें जाट अधिक तादाद में बसते हैं उनकी संख्या इस प्रकार है:—भरतपुर ७२,३७८, बीकानेर २,१५,६४७, जैपुर ३,१३,६०६, मारवाड़ २,८३,६३३, विश्नोई जाट जो बीकानेर, जैसलमेर और मारवाड़ (सांचौर इलाक़ा) में ज्यादा बसते हैं, राजपूताने में ६६८७३ हैं। बीकानेर, जैपुर, भरतपुर, मारवाड़, किशनगढ़ और मेवाड़ इन रियासतों में हर एक दूसरी जाति से इनकी संख्या अधिक है। किसी किसी रियासत में उनकी आवादी कुल आवादी का २३ प्रति सैकड़ा तक है।

भरतपुर-राज्य की ड्योढ़ी, डीग, कुम्हेर और नदवई; बीकानेर की प्रत्येक तहसील; जैपुर की मालपुरा, सांभर, शेखावाटी, तोरावाटी, खेतड़ी और सीकर; किशनगढ़ की अराई, किशनगढ़, रूपनगर और सरवाड़; मारवाड़ की विलाड़ा, डिडवाना, जोधपुर, मालानी, मेरता, नागौर, पर्वतसर और सांभर; मेवाड़ की भीलवाड़ा, कपसिन और रसमिन तहसील और निज़ामतों में वे मधु-मक्खियों की भाँति भरे पड़े हैं।

राजपूतों जिनके कि नाम से यह प्रान्त सम्बोधित होता है की आवादी कुल ६,३३८३० समस्त राजपूताने में है जोकि कुल आवादी का ५६·५ है। विश्नोई जाटों को मिला कर राजपूताने के जाटों की जो संख्या होती है राजपूत उनके आधे के क़रीब होते हैं। अर्थात् राजपूताने में जाट राजपूतों से दुगनी संख्या में बसे हुए हैं जो कि इस स्थान पर राजपूतों से बहुत पहिले से आबाद हैं[१]।

राजपूताने में जाटों के कुछ एक गोत्र और वंश इस प्रकार हैं:—सिनसिनवार, सोगरवार, खूँटेल, कटेवा, कुहाड़, कुलड़िया, क़ासणियाँ (कुषाण), काजिला, भाभड़िया, भूरिया, धीवां, कड़वासरा, महला, बिराला, कोठारी, नूहनियां, कैरवा (कौरव), जणावा, लाम्बा, लम्बोरिया, डांगी, जादू (यादव), डूडी, कालेर, नैण, बासोड़ा, पायेल, अजरा, जाणी, वाना, कसवां (कुषान), फोगाट, वेनीवाल, भाखर, भानभू, चाहर, चब्बरवाल, भालोटिया, बावल, सिंहाग, सोमरा, थोरी, खीचड़, खरवास, ओला, बुड़ानियाँ, खरीटा, बरसरा, सोराण, वैरड़, दूथ, मोगा, जटराणा, सेवदा, बौराण, पंघाल, गावड़िया, स्याम, सोहू, देवन्दा, बधाला, मालवीय, हरनवाल, गोरया, गोदारा, विजयरणीय, महेरिया, दूलड़, ढाका, रणावा, सूरा, दहिया, गेटा, मान, गढ़वाल, डागर, राठी, अहिलावत, मिरदा, सामोता, मुहाल, बोचल्या, सागवाण, जाखड़, खारवेल, सोलंकी, मील,

१—सन् १६३१ की राजपूताना सेंसर रिपोर्ट के आधार पर।

गीला, लीला, नहरा, पोनिया, नाग, भादू, साहसी, दलाल, टोकस (तक्षक), वेदा, गोदारे, पौवन्या, सारन, राव, चोयल, कड़वासर, खोजा, पांडुल (पांडु), बाण, हाला, भूकर, गेना, सीवर, भीचर, लोल, धार, भगल, ऑचरा, रणवा, गुर्जर, जिज्झा, देवाछ, जोहिल, दायल, नवा, ककड़ा, मोरी (मौर्य), नागा, सेल, सूद, काला, पांडर, गोरा, तागू, धौलिया, धोला, मन्दोवारिया, घांगल, कुलवारिया, सिपरोटा, शेसमो, आदि-आदि ।

इनमें से अनेक गोत्र वंशों के नाम पर और अनेक व्यक्ति, उपाधि, गाँवों के नाम पर पड़ गये हैं। हमारे पास राजपूताने के ७०० गोत्रों की फ़हारस्त है। इनमें से अनेक राजपूताने की भूमि के किसी न किसी हिस्से के शासक रह चुके हैं।

राजस्थान में अनेकों स्थानों पर जाटों की ओर से छोड़ी हुई गोचर-भूमि ब्राह्मण और साधुओं और मन्दिरों को दान दी हुई जमीन अब तक चली आती है, जो कि उनके शासक होने का प्रबल प्रमाण है[1]।

१—हम राजपूताने के प्राचीन जाट-राज्यों का एक अलग इतिहास लिखने का आयोजन कर रहे हैं। (लेखक)

दशम् अध्याय
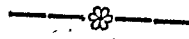
सिंध के जाट-राज्य

नाम, सीमा, प्राचीन राज्य और वर्तमान दशा

इस प्रदेश का नाम सिन्धु नदी के कारण तथा समुद्र के किनारे अवस्थित होने के कारण सिन्धु देश पड़ा जो अब सिन्ध कहलाता है। महाभारत-काल में सिन्धु नाम की एक जाति भी थी। सिन्धु देश सप्त-सिन्धु के अन्तर्गत है। प्राचीन समय में इसकी सीमा पूर्व में काश्मीर, पच्छिम में मकरान, उत्तर में कन्दहार, सुलेमान और दक्षिण में सूरत बन्दर तक थी।

मुसलमान लेखक 'कनीज बेग' अपने इतिहास में इस देश का सिन्धु नाम होने की एक बड़ी विचित्र बात लिखता है—*हिन्द और सिन्ध दोनों भाई थे जो जाम के बेटे थे। वह जाम हज़रत नूह का बेटा था। उनकी सन्तान के ही नाम से सिन्ध नाम पड़ा।* यह निरी बेहूदी कल्पना है। जाम नाम बहुत पीछे का है। जैसलमेर के भाटियों के ग्रन्थों से पता चलता है—ग़ज़नी की ओर से लौटकर आने वाले लोगों में से किसी सरदार का नाम जाम था जो कि ईस्वी सन् के आरम्भिक काल में भारत में लौटे थे। कोई-कोई जाम को साम्य का अपभ्रंश मानते हैं। साम्य श्रीकृष्ण के पुत्र का नाम था जो ईरान से मग ब्राह्मणों को भारत में लाया था। इन सब घटनाओं से जाम विदेशी तो जान पड़ते हैं किन्तु यह सही नहीं कि जाम की सन्तान में कोई सिन्धू व हिन्दू थे अथवा जाम्ब नूह का बेटा था।

प्राचीन बातें—महाभारत में जयद्रथ को सिन्धुराज के नाम से याद किया गया है। उनकी राजधानी सेवन में थी। उनका राज्य प्रबन्ध प्रशंसनीय था। तीन सभाओं द्वारा वह शासन करते थे—राजसभा, शासकसभा और धर्मसभा उनके नाम थे[१]।

१—सिन्ध देश का सच्चा इतिहास (उर्दू) लेखक 'गोवर्धन शर्मा'।

जयद्रथ के पश्चात् सिन्ध देश के एक बड़े प्रदेश पर श्रीकृष्ण और युधिष्ठिर के पक्ष के लोगों ने अपना अधिकार जमा लिया और दोनों जातियों के लोगों ने वहाँ ज्ञाति-राज्य की नींव डाली। जिस स्थान पर उनकी राजधानी थी वह (मोहन + युधिष्ठिर के नाम से) मोहन + युधरा कहलाता था जो कालान्तर में मोहनजुधारो अथवा मोहनजोदारो के नाम से प्रसिद्ध हुआ। पिछले वर्षों में पुरातत्व विभाग की ओर से इसकी खुदाई हुई है। उसमें अति प्राचीन नगर, प्रतिमा, सिक्के, क्रीट, बर्तन आदि निकले हैं। कोई उन्हें सुमेरियन सभ्यता और कोई द्रविडियन तथा कोई रोमन सभ्यता के चिह्न बताता है। क्योंकि उनको देखने से पांच हजार वर्ष से पूर्व-काल की सभ्यता का अनुमान होता है। आर्य्यन शिल्प कारीगरी और सभ्यता से प्रतिमाओं और सिक्कों में कुछ भेद बताया जाता है। किन्तु ऐसे अनुमान गलत हैं। इस देश में सिन्धु-वंश अति प्राचीन है जो कि शिव उपासक आरम्भ से ही रहे हैं। जयद्रथ के पिता वृहद्रथ को महाभारत में शिव का उपासक लिखा है। अथवा यह समझना चाहिये कि सिन्धु-वंश शिव ज्ञाति का ही एक अंग है। नन्दी की मूर्ति और आराधक की मूर्ति जो मोहनजोदारो में मिली हैं वह सिन्धु लोगों की उन्नति और सभ्यता का नमूना हैं। सिन्धु लिपि भी एलाम और क्रीट से मिलती-जुलती है।

हमारे कहने का मतलब यह है कि मोहनजोदारो की मिली हुई वस्तुओं से सिन्धु लोगों की ही उन्नति और सभ्यता का बोध होता है न कि विदेशियों की सभ्यता का। सिन्धु लोग किसी न किसी रूप में ईसा की चौथी शताब्दी तक राज करते चले आए हैं जो कहीं सिन्धुराज और कहीं सिन्धुसैन लिखे गए हैं। पंजाब और सिन्ध के जाटों में सिन्धु एक प्रसिद्ध गोत्र है। अनेकों उपगोत्र भी सिन्धु गोत्र में से निकले हैं।

"मुजमलुत तवारीख़" में एक बड़ी मजेदार कहानी लिखी हुई है। जाट और मेड सिन्ध में बहर नदी के किनारे पर रहते थे। दोनों जातियों में सदैव विरोध रहा करता था। जाट पवन नदी के दूसरे किनारे पर चले गये। नाविक विद्या में कुशल होने के कारण मेडों पर आक्रमण करके उन्हें तंग करते थे। मेडों की शक्ति क्षीण हो गई। उन्हें तलवार के घाट उतार दिया गया। उनके देश को लूट लिया गया। तब मेड जाटों की अधीनता में आ गये।

जाटों के एक सरदार ने मेडों की इस दुर्दशा को देख अपनी जाति के लोगों को समझाया कि इन दोनों जातियों के मिल कर रहने में ही भलाई है। हमने अपना बदला ले लिया है। अंत में दोनों जातियों की ओर से

दुर्योधन के पास प्रतिनिधि भेजे कि वह अपनी ओर से इन दोनों जातियों पर शासन करने के लिये शासक भेज दे। दुर्योधन ने अपनी वहिन दुशाला को जो कि जयद्रथ को व्याही थी और वड़ी बुद्धिमान थी इस देश पर शासन करने को भेज दिया। दुशाला ने जाट और मेडों के नगरों और देश का शासन अपने हाथ में ले लिया। चूंकि उस देश में ब्राह्मण न थे इसलिए उसने तीस हजार ब्राह्मण बुला कर उस देश में वसाये।

महाभारत में इस सम्बन्ध की कोई चर्चा नहीं है। किन्तु ऐसा जान पड़ता है ब्रह्मनावाद के ब्राह्मणों ने इस कथा को गढ़ा होगा। क्योंकि जाट और मेड़ बौद्ध धर्मावलम्वी थे। वरना जयद्रथ तो सिन्धु लोगों के आरम्भ से ही राजा थे। जाट राज्य का खात्मा इन्हीं ब्रह्मनावाद के ब्राह्मणों ने किया था। श्री कालिकारंजन कानूनगो ने इन ब्रह्मनावाद के ब्राह्मणों के सम्बन्ध में लिखा है:—*ब्रह्मनाबाद नामक प्रसिद्ध नगर का नाम उस स्थान को बतलाता है जहाँ वाहर से आने वाले ब्राह्मण पहिले पहल वसे थे। वे अपने देश के राजाओं की अध्यक्षता में फूले-फले और इतने शक्तिशाली होगये कि चच नामक ब्राह्मण ने अपने ही स्वामी साहसीराय द्वितीय की गद्दी पर सुन्दर किन्तु अविश्वस्त रानी सुहानदी के प्रभाव से जो कि उस से प्रेम करने लगी थी अधिकार जमा लिया।*

जाटों की सिन्ध देश को कुछ लोग तो आदि भूमि मानते हैं। आरम्भ में समस्त आर्य ही सिन्ध प्रदेश में वसे थे। किन्तु सिन्ध में अधिकांश ऐल (चन्द्र-वंशी) आर्यों का समूह आवाद हुआ था। जाटों का आवास द्वावे में था। वे वहीं से सर्वत्र फैले थे। सिन्ध में उनके अनेक छोटे-छोटे राज्य थे जो गणतंत्र प्रणाली पर संचालित थे। वंगला विश्वकोष में लिखा है कि "*पूर्वे सिन्धु देश जाट गनेर प्रभुत्व थी लो*" अर्थात् पूर्वकाल में सिन्धु देश में जाटों का राज्य था[१]। इसी विश्वकोप में पेज ७ पर जाट रमणियों के सम्बन्ध में लिखा है:—"*सिन्धु प्रदेश जाट रमणी गण सुन्दर च औ, सतीत्व जन्य सर्वत्र प्रसिद्ध होइय*" सिन्धु देश की जाट स्त्रियाँ सुन्दर और सतीत्व के लिए सर्वत्र प्रसिद्ध हैं।

कुछ ऐतिहासकारों ने (जिनमें मेगस्थनीज भी है) लिखा है कि भारत पर असीरिया से सेमिरे मिस ने ईसा से लगभग १६६४ वर्ष पूर्व चढ़ाई की थी। उसके साथ में चालीस लाख पैदल घुड़सवार, दो लाख ऊँट, तीन हजार जहाज, चार हजार नौकायें थीं। इसने ऊँटों

शत्रुवत्स

१—वंगला विश्वकोप। जिल्द ७। पेज ६। लेखक नगेन्द्रनाथ वसु।

पर चर्म चढ़ाकर नक़ली हाथियों की सेना भी इकट्ठी की थी। उस समय सिन्ध नदी के पास शत्रुवत्स राजा राज करता था। यूनानी लेखकों ने शत्रुवत्स को सटारोबेटस लिखा है। उसने अपने देश में सूचना देदी कि युद्ध के लिए तयार हो जाओ। पहिली लड़ाई में मिस जीत गई किन्तु राजा ने हिम्मत न हारी। इतने में बरसात आ गई और ऊँटों पर की कची खाल में से बदबू आने लग गई। लोगों ने नक़ली हाथियों का भेद पा लिया। घनघोर युद्ध हुआ। मिस हारकर भाग गई। यह लड़ाई सिन्धू लोगों के सरदार शत्रुवत्स की अध्यक्षता में हुई थी। किन्तु इसका समय ईसा से पूर्व आठ सौ वर्ष से अधिक नहीं माना जा सकता। यूनानी लेखक भी समय और घटनाओं का वर्णन पुराणकारों की भाँति ही करते हैं।

मूसक सैन — इसे यूनानी लेखकों ने मूसीकेनस लिखा है, किन्तु काशीप्रसाद जायसवाल इसे एक जाति मानते हैं। इसका वर्णन हम पिछले पृष्ठों में कर चुके हैं। यह सिकन्दर का समकालीन था। जब सिकन्दर इसके राज्य में होकर गुजरने लगा तो इसने बिना युद्ध किए उसे उधर से नहीं जाने दिया। इसकी राजधानी अलोर थी। अलोर में आगे एक दूसरे जाट वंश का भी हम राज्य पाते हैं।

हिन्दू कुश से सिन्ध तक आने में सिकन्दर को केवल १० महीने लगे थे, किन्तु उसे सिन्ध से व्यास तक आने में १६ महीने लग गए१। इसका कारण सिन्ध के लोगों का सिकन्दर से पग-पग पर लोहा लेना था। यह लड़ाइयाँ उसे जाट और मीडों के भिन्न-भिन्न वंशों से लड़नी पड़ी थीं।

सिन्धु सैन — जिस समय सिकन्दर ईरान पर हमला करने के लिए बढ़ रहा था उस समय पर्शिया के अधीश्वर शैलाक्ष (सेल्यूकस) ने सिन्धु देश के राजा सिन्धु सैन के पास जोकि सिन्धु जाटों के गणतंत्र के अध्यक्ष थे सहायता के लिए याचना की। महाराज ने यहाँ से तीर-कमान और बर्छे धारण करने वाले सैनिकों को उसकी सहायता के लिए भेज दिया। हेरोडोटस ने इस लड़ाई के सम्बन्ध में लिखा है कि सिकन्दर की सेना के जिस भाग पर जेटा लोग झुक जाते थे वही भाग कमजोर पड़ जाता था। उनके योद्धा लोग रथों में बैठकर लड़ते थे। वह अपनी कमान को पैर के अँगूठे से दबा कर और कान की बराबर तानकर तीर छोड़ते थे। सिकन्दर को स्वयं इनके मुक़ाबिले के लिए सामने आना पड़ा था। इसी समय बिलोचिस्तान में राजा चित्रवर्मा राज करता था। कुलत उसकी राजधानी थी।

इससे पहिले जाटों को हम साइरस की सहायता देते हुए भी पाते हैं। साइरस ईसा से ६०० वर्ष पूर्व हुआ था। मेसोडोनिया के लोगों से उसे युद्ध करना

१—मौर्य-साम्राज्य का इतिहास, लेखक सत्यकेतु विद्यालंकार।

था। उस समय सिन्धु लोगों के अधीश्वर सिन्धुराज ने एक प्रतिनिधि-मंडल इस बात की जाँच करने के लिये भेजा था कि वह जाँच करे कि कौनसा पक्ष न्याय पर है जिसे कि सहायता दी जाय। अन्त में साइरस का पक्ष न्याय-संगत ज्ञात हुआ, इसलिये उसे सहायता दी गई। यहाँ से जो सेना गई थी, उसके पास सूती-वर्दी और तीर-कमान थे। सिन्धुराज की इस सहायता से साइरस की विजय हो गई। कर्नल टाड ने इस समय के जाट-जाति के वैभव के लिए निम्न लिखित शब्दों का प्रयोग किया है:—

"साइरस के समय में ईसा से ६०० वर्ष पहिले इस बड़ी जेटिक जाति के राजकीय प्रभाव की यदि हम परीक्षा करें तो यह बात हमारी समझ में आजायगी कि तैमूर की उन्नत दशा में भी इन जातियों का पराक्रम ह्रास नहीं हुआ था।" जिस साइरस को जाटों ने सहायता दी थी, उसीने इनकी स्वाधीनता को भी अपहरण करना चाहा। इसीसे उन्हें साइरस से भी लोहा लेना पड़ा था। निरन्तर लड़ाई करते-करते उन्हें सतलज पार उतरना पड़ा। इस लड़ाई से पीछे को हटने की घटना ने जाटों के हृदय को बड़ा धक्का पहुँचाया। पंजाब के जाट अब तक कहते रहते हैं कि सिन्धु छोड़ देने के कारण हम नीचे हो गये हैं[१]।

साहसीराय द्वितीय यह मौर्य वंश के जाट थे। इनके मरने के बाद जाट और लुहानों पर भारी आपत्तियाँ आईं। इनके पूर्वज और वंशज सब की उपाधि राय थी। ये लोग राय के नाम से मशहूर थे। इनकी राजधानी अलोर में थी। उनका राज्य पूर्व में कश्मीर और कन्नौज तक और पश्चिम में मकरान तथा समुद्र के देवल बन्दर तक, दक्षिण में सूरत बन्दर तक, उत्तर में कंधार, सीस्तान, सुलेमान, फरदान और केकानान के पहाड़ों तक फैला हुआ था। (१) राय देवायज नाम का सरदार इन लोगों में सबसे बड़ा, पहिला ज्ञात पुरुष था। (२) राय महरसन, (३) राय साहसी, (४) राय महरसन द्वितीय, (५) राय साहसी द्वितीय नाम के राजा राय वंश में हुये। राय महरसन द्वितीय को ईरान के बादशाह नीमरोज से लड़ना पड़ा था। गले में तीर लग जाने के कारण राय महरसन की मृत्यु हो गई। इसकी मृत्यु के बाद इसका बेटा राय साहसी राजा बनाया गया। इसने पहिले तो अपने राज्य की सीमाओं का प्रबन्ध किया और फिर प्रजा को हुक्म दिया कि एक वर्ष के लगान के बदले में माथेला, सिवराय, मऊ, अलोर और सेविस्तान के क़िलों की मरम्मत कर दी जावे। प्रजा ने ऐसा ही किया। इस तरह इसके राज्य का विस्तार भी होने लगा। सारी प्रजा प्रसन्न थी। कोई भी लोग इससे खिन्न न थे।

१—डिस्ट्रीब्यूशन आफ़ दी नार्थ वैस्टर्न प्रोविन्सेज़ आफ़ इण्डिया। लेखक—सर हेनरी एम० इलियट के० सी० बी०।

इसके यहाँ राम नामक एक वजीर था और इसी नाम का एक ड्योढ़ीदार था। एक समय शालायज नाम के ब्राह्मण का एक लड़का जिसका कि नाम चच था इस ड्योढ़ीदार राम से आकर मिला। ड्योढ़ीदार ने उसे मंत्री के यहाँ नौकर करा दिया। एक समय राजा साहसीराय बीमार हुआ तो उसने मंत्री को इस वास्ते महल में ही बुलाया कि देश-प्रदेश से आई हुई चिट्ठियों को सुनादे। मंत्री ने अपने मुंशी चच को भेज दिया। राजा साहसीराय चच की विद्वत्ता को देख कर प्रसन्न हुआ और उसे ड्योढ़ीवान बना दिया। वह बे रोक-टोक जनाने में जाता था। राजा साहसी की स्त्री सुहानदी की नीयत में फ़र्क आ गया और उसने चच से अनुचित सम्बन्ध स्थापित कर लिया और चच ने नमकहरामी करके रानी की मदद से राज्य को हड़प लिया। साहसीराय के मरने पर चच ने उस रानी से शादी करली।

चच के इस धोखेबाजी के समाचार जब साहसीराय के दामाद राना महारथ जो कि चित्तौड़ का शासक था[1] ने सुने तो वह क्रोध से जल गया और सेना लेकर उसने चच पर चढ़ाई करदी। चच पहिले तो घबरा गया किन्तु रानी सुहानदी के साहस दिलाने पर उसने लड़ाई की तैयारी करदी। यहाँ भी चच ने धोखे से काम लिया और यह तय होने पर कि राना और चच दोनों एक दूसरे को निपट लें बिना बात हजारों आदमियों का ख़ून क्यों हो। चच ने राना के साथ विश्वासघात करके मार डाला। यह घटना संवत् ६८६ ई० सन् ६३२ की है।

मत्ता

शिवस्तान में उस समय शिव-गोत्री जाट मत्ता का राज था। वह साहसीराय से द्वेष तो रखता था किन्तु किसी अवसर की ताक में था। कुछ दिन बाद जब चच मर गया तो राना मत्ता ने कन्नौज के महाराज के पास जाकर कहा कि अब मौक़ा है कि हम सिन्ध का राज अपने हाथ में लेलें। उसने अपने भाई बसाइस को सेना देकर मत्ता के साथ कर दिया। इन्होंने सिन्ध में लूट-मार तो की किन्तु चच के लड़के चन्द्र को हरा न सके और उससे मित्रता करली। अलोर में जब चन्द्र का लड़का और चच का पौत्र दाहर गद्दी पर बैठा तो कन्नौज के राणा रणमल ने भी इरादा किया कि इस ब्राह्मण-राज्य को नष्ट कर दिया जाय जो कि जाट और लुहानों के लिए अहितकारी है। किन्तु राणा भी विफल रहा।

नेरुन

नेहरा वंश के लोगों का उस समय राज नेरुन में था। जब उन्होंने देखा कि अरब के रास्ते में बजौल जो कि आड़ था मर गया तो उसने हजाज के पास अपने आदमी भेज कर मित्रता कायम करली। उस समय लुहाने और जाटों को एक तरफ अरब-आक्रमण कारियों से लड़ना पड़ता था और दूसरी ओर उनके बीच में घुस पड़ने,

१—यह चित्तौड़ और कन्नौज, राजस्थान और सिन्ध में थे।

वाले ब्राह्मण राजाओं से संघर्ष करना होता था। नेरुन की भूमि पर इस समय हैदराबाद बसता है।

चन्द्रराम

यह चन्द्रराम "हाला" वंश का जाट सरदार था। पहिले सूस्थान का शासक था किन्तु सूस्थान इसके हाथ से निकल गया था। कुछ समय यह इधर उधर मारा-मारा फिरता रहा। किन्तु ज्योंही अवसर आया सूस्थान से मुसलमानों को निकाल कर किले पर क़ब्जा कर लिया। मुहम्मद कासिम ने इस खबर को सुना तो वह बहुत नाराज हुआ और अब्दुल रहमान के साथ एक हज़ार सवार और दो हज़ार पैदल देकर चन्द्रराम को दमन करने के लिये भेजा। 'चन्द्रराम हाला' बड़ी बहादुरी से लड़ा किन्तु हार गया। उसका प्रदेश हालाखण्डी नाम से प्रसिद्ध है १।

केकान

यह एक प्रदेश का नाम है। कीकानियां नाम का एक पहाड़ भी है। जिस समय कीकान पहाड़ में पहिले पहल अरब विजेता आये थे तो जाटों ने उन्हें मारकर भगा दिया था। 'हिस्ट्री आफ़ जाटस्' में श्री कालिकारंजन कानूनगो ने कैकान प्रदेश के जाटों का वर्णन इस प्रकार किया है—*कैकान का देश, जोकि अफ़गानिस्तान के दक्खिन-पूर्व में अनुमान किया जाता है जिसे अरब के सेनापति अमरानवीन मूसाने बाद में उनसे सन् ८३३ ई० के लगभग छीन लिया था। उन्हीं दिनों में जाटों पर ज़िन्होंने कि हजारा की सड़क पर अपना अधिकार जमा लिया था और रेगिस्तान की तरफ़ खंभे गाड़कर सब के दिल दहला दिये थें दूसरा हमला किया गया। पच्चीस दिन के ख़ून-खच्चर के बाद वे जीत लिये गये और वे सत्ताईस हज़ार की संख्या में कैद कर लिये गयें। इन लोगों में लड़ाई के समय तुरई बजाने का रिवाज था।*

कहा जाता है कि सिन्ध में सातवीं शताब्दी तक जाटों का राज रहा था। चच ने उन्हें सामाजिक स्थिति से बहुत कुछ गिरा दिया। नये शासक मुहम्मद कासिम ने भी उनके साथ कोई अच्छा व्यवहार नहीं किया। ब्राह्मण वजीर ने तो मुहम्मद कासिम को बताया था कि जाट, राजाओं के विरुद्ध विद्रोह करने में प्रवीण हैं। वे कभी भी आपका साथ नहीं दे सकते।

मौलाना सुलेमान नदवी ने अपने 'अरब भारत के संबंध' नामक व्याख्यान में लिखा है—

"सिन्ध में काका नाम का एक व्यक्ति प्रसिद्ध, बुद्धिमान और राजनीतिज्ञ था। जाट रईस लोग उसके पास जाकर उससे सलाह करते हैं कि क्या मुसलमानों की सेना

१—सिन्ध का इतिहास। पे० ३०

पर छापा मारा जाय ? वह उत्तर में कहता है—यदि तुम ऐसा कर सको तो अच्छा है। पर सुनो हमारे पण्डितों और योगियों ने मंत्र देखकर भविष्यवाणी की है कि इस देश को एक दिन मुसलमान जीत लेंगे। जाट लोग उसकी बात नहीं मानते और हानि उठाते हैं।.........इसके बाद काका मुहम्मद कासिम के पास जाता है और जाटों के विचार से सूचित करता है।

यद्यपि उस समय ब्राह्मण राजाओं के साथ जाटों का संघर्ष था फिर भी वे अपनी मातृ-भूमि की रक्षा के लिये मुहम्मद क़ासिम के विरुद्ध युद्ध छेड़ते हैं। यदि काका भी जो कि चन्ना वंश का राजपूत था जाटों के साथ शामिल हो जाता तो मुसलमानों के सिन्ध में पैर न जमते।

जहाज़ी बेड़ा

सिन्ध के जाट नाविक विद्या में बड़े निपुण थे। अपने पड़ौसी मेड़ लोगों से उनका अतीत काल तक विरोध रहा था। फिर भी जहाँ जाट पाये जाते हैं वहाँ मेड़ भी मिलते हैं। ईरान में जाटाली के पास ही मेड़ लोगों का राज्य मीडिया था। अजमेर-मेरवाड़े में जाटों के पड़ौस ही में मेर या मेड़ मिलते हैं। इन मेड़ों का परास्त करने के लिये उन्होंने अपनी नाविक-विद्या का ही सहारा लिया था। वे जहाज़ों के द्वारा विदेश में भी जाते थे। समोस टापू में वे जहाज़ों द्वारा ही गये थे। सिकन्दर के आने के समय भी उन्होंने जल मार्ग से उसका सामना किया था। यूनानी लेखकों ने उन्हें अर्ध-सभ्य के नाम से लिखा है। उनके लड़ने के ढंग और पहनावे की निन्दा की है। उनके जहाज़ों के, उनके बड़े-छोटे होने के आकार और जाति के अनुसार नाम होते थे।

कच्छ

बंगला विश्व-कोष में उनके कच्छ में अवस्थित होने का वर्णन है—नागेन्द्रनाथ वसु द्वारा सम्पादित बंगला विश्व-कोष की सातवीं जिल्द में लिखा है:—*कच्छ के जाट सैनिक होते हैं। वह बर्छी अधिक पसन्द करते हैं। अपने सरदार की आज्ञा को मानना अपना कर्तव्य समझते हैं। अपने देश की रक्षा के लिये इन्हीं सरदारों की अध्यक्षता में लड़ने को तत्पर रहते हैं। जाट नौजवान अपने सरदारों के पास सैनिक-शिक्षा पाता है। वे ऊँची भूमि पर बसना पसन्द करते हैं।*

उनके नाम

जाट कहीं अवार और कहीं वार और कहीं अरट्ट कहलाते थे। यह नाम उनके सिन्ध में रहने के समय तक के थे। क़न्दहार के आस-पास जाटों का एक समूह गूजर भी कहलाता था। हमें सातवीं सदी में क़न्दहार में जयपाल नामक राजा का पता चलता है। मुसलमानों के आक्रमण के समय इसने सामना किया था। उसने अपने सूबे मकरान को

हमारा यह भी मत है कि विलोचिस्तान जो कि सिन्ध का ही एक सूबा था विलोच गोत्र के जाटों का अधिकृत प्रदेश था और मौर्यकालीन राजा चित्रवर्मा जाट था।

इस्लाम का प्रभाव

सातवीं सदी से सत्रहवीं सदी तक सिन्ध में मुसलमानों का राज्य और आक्रमण रहा है। ऐसी स्थिति में यह कैसे हो सकता था कि जाटों पर इस्लाम का कुछ असर न होता ? आज सारे सिंध में मुसलमानों की संख्या इतनी वढ़ गई है कि मुसलमान उसे स्वतंत्र मुस्लिम प्रान्त वनवाने की कोशिश कर रहे हैं। इन मुसलमानों में सिंध के प्राचीन हिन्दू परिवार ही तो हैं। ज्यों-ज्यों सिंध में इस्लाम का ज़ोर वढ़ता गया त्यों ही त्यों वे अपनी प्यारी मातृ-भूमि को छोड़ कर इधर-उधर के निकटवर्ती देशों में सरक गए। सिन्ध में डटे रहने वालों में से कुछ जाट मुसलमान भी हो गए हैं। सिन्ध गज़ेटियर दूसरी जिल्द में इन मुसलमान जाटों के सम्बन्ध में इस तरह से लिखा हुआ है:—

The Jats were found all over Sindh but those in the South acknowledge as their chief a "Malik" who held lands in the Jali Talluka (which perhaps took its name from them) under title deeds from the Emperors of Delhi. The present representative is Malik Mohammad Sadiq Walad Malik Gulam Hussain, first class Jagirdar. (Gazetter of the Proma of the Sindh. B. Vol. I Kiranchi. P.II.)

अर्थात्—जाट प्रायः सिन्ध में सब जगह पाये जाते हैं, लेकिन जो दक्षिण में हैं उनके सरदार को मालिक कहते हैं, जो जाटी तालुका में जमीन के मालिक हैं (शायद यह नाम उनसे लिया गया हो) जोकि देहली के वादशाहों ने उन्हें दिया था। उनका वर्तमान प्रतिनिधि मालिक मुहम्मद सदीक वल्द मालिक गुलाम हुसैन फर्स्ट क्लास जागीरदार हैं।

शिकारपुर ज़िले में जो मुस्लिम जाट हैं वह विलोच जाटों की छः शाखाओं में से हैं। वह इस समय अपने को अरब कहते हैं। संभव है कि व उस पार्टी के जाट हों जो सिन्ध और मकरान (विलोचिस्तान) से अरब में जाकर बसे थे और फिर इस्लाम-तूफ़ान के समय भारत में आ गये। सिन्ध में मुस्लिम जाट प्रायः जट-मुसलमान के नाम से पुकारे जाते हैं। सारे प्रान्त में इन जट-मुसलमानों की संख्या अस्सी हज़ार के लगभग है। वे देहात में ऊँट खूब रखते हैं। शिक्षा का प्रचार भी उनमें इस समय खूब हो रहा है। किरांची में सिन्ध मदर्से के नाम से एक विद्यालय है; उसमें अधिकांश में जट-मुसलमानों के बालक पढ़ते हैं। इस समय इस विद्यालय में कुल १२०० छात्र पढ़ते हैं और सरकार की ओर से एक लाख वार्षिक सहायता इस विद्यालय को दी जाती है।

जाट कौम से जाट है चाहे वह किसी धर्म को मानता हो। इस सिद्धान्त के अनुसार समस्त जाट सिन्ध के सम्बन्ध में यह अभिमान कर सकते हैं कि वहाँ हमारी जागीरें हैं, हम वहाँ के भुमिया हैं और समय आयेगा जब विभिन्न मतों के मानने वाले जाट-पताका (बसंती झण्डे) के नीचे एकत्रित होकर अपनी और देश की सेवा करेंगे।

उमर कोट

सिन्ध और राजपूताना के मध्य में यह स्थान है। इस पर हुमायूं के समय तक पवार गोत्री जाटों का राज्य था। पँवार शब्द के कारण कर्नल टाड ने उसे राजपूतों का राज्य बताया है। किन्तु जनरल कनिंघम ने "हुमायूं नामा" के लेखक के कथन का हवाला देकर उसे जाट पँवार लिखा है। टाड राजस्थान के कथन का प्रतिवाद करते हुए जनरल कनिंघम साहब लिखते हैं—"*किन्तु हुमायूं की जीवनी लिखने वाले ने प्रमार के राजा और उनके अनुचरों का "जाट" के नाम से परिचय दिया है*[१]।" यह वंश धारा नगर के जाट पमारों से सम्बन्धित रहा होगा। क्योंकि धारा नगर में जगदेव नाम का जाट राजा राज्य करता था और वह प्रमार जाट था। बिजनौर के कुछ जाट अपने को धारा नगर के महाराज जगदेव की संतान बताते हैं[२], जोकि वहाँ से महमूद गजनवी के आक्रमण के समय यू० पी० की ओर बढ़ गए। प्रमार भी "अवार" की भाँति एक शब्द है। जाट एक समय अवार कहलाते थे जिसका कि भारत में अवेरिया से सम्बन्ध है। इसी भाँति एक प्रदेश का नाम पँवार प्रदेश था जोकि धारा नगर और उज्जैन के मध्य में था|और जो प्रान्त लोगों के बसने के कारण प्रसिद्ध हुआ।

इसी तरह से सिन्ध के अन्य अनेकों स्थानों पर जाट राज्यों की सामग्री मिल सकती है; किन्तु उसके लिए महान् साधन और खोज की आवश्यकता है।

१—Momoirs of Humayoon P. 45 । २—ट्राइब्स एण्ड कास्टस आफ दी नार्थ वेस्टर्न प्राविंसेज एण्ड अवध ।

एकादश अध्याय

मालवा के जाट-राज्य

इस प्रदेश का मालवा नाम क्यों पड़ा ? ऐसा प्रश्न होना स्वाभाविक है। हमारे मत से तो मल्ल लोगों के कारण इसका नाम मालवा पड़ा है। मल्ल गण-तन्त्री थे और वे महाभारत तथा बौद्ध-काल में प्रसिद्ध रहे हैं। यह मल्ल ही आगे चल कर सिकन्दर के समय में मल्लोई के नाम से प्रसिद्ध थे। इस समय इनका अस्तित्व ब्राह्मण और जाटों में पाया जाता है। 'कात्यायन' ने शब्दों के जातिवाची रूप बनाने के जो नियम दिये हैं, उनके अनुसार ब्राह्मणों में वे मालवी और क्षत्रियों (जाटों) में माली कहलाते हैं, जो कि मालवः शब्द से बने हैं। मल्ल लोग विदेहों के पड़ौसी थे। इधर कालान्तर में आये होंगे। पहिले यह देश अवन्ति के नाम से प्रसिद्ध था। राजा विक्रमादित्य इसी देश में पैदा हुए थे। मालवा समृद्धिशाली और उपजाऊ होने के लिए प्रसिद्ध है। पंजाब और सिन्ध की भांति जाटों की निवास-भूमि होने का इसे सौभाग्य प्राप्त है। जाटों का इस धन-धान्य से सम्पन्न भूमि पर राज्य ही नहीं किन्तु साम्राज्य रहा है। खेद इतना है कि उनके राज्य और साम्राज्य का पूरा हाल नहीं मिलता। अब तक जो सामग्री प्राप्त हुई है, वह गौरव-पूर्ण तो अवश्य है, किन्तु पर्याप्त नहीं।

ईसा से चार शताब्दी पूर्व से पहिले का इतिहास अन्धकार में है। जो मिलता भी है वह क्रम-बद्ध नहीं। महाभारत-काल में उज्जैन में बिन्दु और अनुबिन्दु नाम के राजा राज करते थे। उनका राज्य द्वैराज्य-प्रणाली पर चलता था। वे अवश्य ही दो जातियों की ओर से चुने हुए होंगे। इस तरह उनका राज्य ज्ञाति-राज्य था। वर्त्तमान में जिस देश को मालवा कहते हैं, उसमें दशार्ण, दशार्ह, मालवत्स्य, कुकर, कुन्ति, भोज, कुन्तल और चर्मन् आदि अनेक जाति-समूह रहते थे। धारानगर के निकटवर्त्ती प्रदेश में भोज और मन्दसौर के आस-पास दशार्ण और दशार्ह लोगों का राज्य था। आज के मन्दसौर का पूर्व नाम दशपुर अथवा दसौर था[१]। चम्बल के किनारे पर चम्पानगरी में चर्मन्वत लोगों का राज था। भारत के राष्ट्रीय इतिहास में (जिसे कि श्री विजयसिंहजी पथिक लिख रहे हैं) दशार्ण

१—भारत का राष्ट्रीय इतिहास। श्री बी०एस० पथिकजी द्वारा लिखित (अप्रकाशित)।

लोगों को दस जातियों का समूह माना है। किन्तु प्राचीन ग्रन्थों में वह एक ही जाति माने गए हैं।

इन जातियों के अलावा इस देश पर मौर्य, गुप्त, अन्धक और पँवार लोगों का भी राज रहा है। यह जातियाँ मालवा प्रदेश से बाहर की थीं और इन्होंने ऊपर लिखे प्रजातन्त्रों को नष्ट करके अपना राज्य जमाया था। इनसे पहिले यहाँ मल्लोई जाति का प्रजातन्त्र बहुत बड़ा था। सिकन्दर के समय में इन्होंने उससे युद्ध किया था। इनके पास ६०००० सैनिक और बहुत से रथ और हाथी थे। क्षुद्रक लोगों का भी पता इनके ही पड़ौस में लगता है। इन सब जातियों में से कुछ न कुछ समूह जाट और राजपूत दोनों में पाये जाते हैं। किन्तु दशपुरिया, भोज और कुन्तल केवल जाटों में ही मिलते हैं। मालवा में बाँगरी लोगों का भी आधिपत्य रहा था और उनके नाम से एक हिस्से का नाम बाँगर प्रसिद्ध हो गया था। उनका निशान ब्राह्मण और जाट जातियों में मिलता है।

विष्णुवर्द्धन

मालवे के बाहर से आने वाले जाति समूहों ने यहाँ के गणवादी और ज्ञातिवादी राज्यों को बहुत हानि पहुँचाई। अपनी स्वाधीनता की रक्षा के लिए उन्होंने लम्बे अर्से तक लड़ाइयाँ कीं। किन्तु साम्राज्य वादियों द्वारा वे पराजित और अर्द्ध मूर्छित कर दिए गए। कई शताब्दियों के पश्चात् गणवादियों में विवश होकर अपने अस्तित्व को बनाये रखने के लिए एकतंत्र के भाव आये। उनमें से कुछ महामना व्यक्ति आगे बढ़े और अपने राज्य किन्तु कई-कई ने साम्राज्य भी स्थापित किये। ज्ञातिवादी (जाट) लोगों में से ऐसे महानुभावों में कनिष्क, शालेन्द्र और यशोधर्मा के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। महाराज विष्णुवर्द्धन सम्राट् यशोधर्मा के पिता थे।

महाराज विष्णुवर्द्धन जिन्हें कि कहीं-कहीं विष्णुधर्मा भी लिखा गया है वरक् वंश के जाट थे। ब्याने में जो उनका विजय-स्तम्भ है उस पर उनका नाम वरिक् विष्णुवर्द्धन लिखा हुआ है[1]। आज की स्थिति में वरक या वरिक् वंश अधिक प्रसिद्ध नहीं है। उसका केवल अस्तित्वमात्र मौजूद है जो कि जाटों के गोत्रों की लम्बी सूची में गणित में आ जाता है[2]। सी० वी० वैद्य ने अपने 'हिन्दू मिडिवल इण्डिया' में विष्णुवर्द्धन के सम्बन्ध में इस प्रकार लिखा है:—

The kingdom of Malapo or western Malwas belonged to Yasodharman Vishnuvardhan of the Mandasaur inscription. In our surmise their name ending Vardhana shows that he was a Vaishya like the Guptas. His great exploit was that he defeated Mihirgula the Hun. Now we already quoted the sentence in

---

१—देखो 'यजेन्द्र वंश भास्कर' में ब्याने का वर्णन। २—'जाटों की उत्पत्ति और इतिहास'। पेज ४८।

Chandra's Grammer अजय ज्जर्टो हूणान् "The Jats conquered the Huns." If we apply this sentence to Yashodharman and there is none else to whom it can well be applied, we may surmise that he was a Jarta or Jat from the Punjab. In fact like the Gujars of Bhinwal we may suppose the Jats from the Punjab to have migrated to Malwa (which like Rajputana is a favourite land with Migrators) to take refuge from the invasions of the Huns and these Jats in Malwa of getting strong under Yasodharman inflicted in 528 A. D. a signal defeat on the Huns who had overrun their motherland, the Punjab.

अर्थात्—मोलायो या पच्छिमी मालवे का राज मन्दसौर के शिला-लेख वाले यशोधर्मन व विष्णुवर्द्धन के अधिकार में था। हमारे अनुमान में नाम के वर्द्धन से यह ज्ञात होता है कि वह गुप्तों की भाँति वैश्य था[१]। उसकी महान् वीरता का काम यह था कि उसने मिहरकुल हूण को जीत लिया था। चन्द्र के व्याकरण के इस वाक्य को "अजयज्जर्टो हूणान्" जाटों ने हूणों को जीत लिया, हम उद्धृत कर ही चुके हैं। अगर हम इस वाक्य का प्रयोग यशोधर्मन पर करें क्योंकि यह किसी अन्य पर प्रयोग भी नहीं हो सकता है तो वह (यशोधर्मन) पंजाव का जर्टा या जाट था। वास्तव में भीनमाल के गूजरों की तरह हम यह अनुमान कर सकते हैं कि पंजाब के जाट लोग मालवा में जा बसे,[२] (जो कि राजपूताने की तरह वसने वालों के लिये सुन्दर देश है) और वह वहाँ हूणों के धावों से बचने के लिये चले गये और यशोधर्मन के अधिपत्य में ५२८ ई० में इन जाटों ने हूणों को पूर्ण रूप से हरा दिया जो कि उनकी मातृ-भूमि पंजाव में अत्याचार कर रहे थे।

व्याना जो कि इस समय भरतपुर-राज्य का एक प्रसिद्ध नगर गिना जाता है में महाराज विष्णुवर्द्धन का एक स्तंभ है जो भीम की लाट के नाम से मशहूर है।

१—वैद्यजी के इस अनुमान की निस्सारता हम दूसरे अध्याय में सिद्ध कर चुके हैं। वर्द्धन नाम से यदि वैद्यजी विष्णुवर्द्धन को अथवा उसके सजातीय जाटों को वैश्य मानते हैं तो क्या वैदिक-कालीन दिवोदास को दास शब्द साथ आने से शूद्र मानेंगे? (लेखक)

२—किन्तु अति प्राचीन काल से वहाँ रहते थे जो दशार्ण और भोज कहलाते थे और आज दसौर, दशपुरिया और भोजू कहलाते हैं। (लेखक)

इससे पता चलता है कि उनका राज्य इतना विस्तृत था जिसमें ब्याना भी आ जाता था। व्रजेन्द्र-वंश-भास्कर के लेखक ने लिखा है कि वरिक विष्णुवर्द्धन ने संवत् ४२८ में यहाँ यज्ञ किया था। हमारे मत से यह समय संवत् ५२८ के आस-पास का हो सकता है क्योंकि यशोधर्मा ने संवत् ५८६ अर्थात् सन् ५२९ के आस-पास हूणों को हराया था। यदि 'व्रजेन्द्र-वंश-भास्कर' में दिये हुए (संवत् ४२८) को ही ठीक मानें तो विष्णुवर्द्धन का समय संवत् ४०० से संवत् ५५० के बीच का अर्थात् १५० वर्ष के लगभग मानना पड़ता है और यदि यह मानलें कि यशोधर्मा ने वृद्ध अवस्था में जब कि वह लगभग अस्सी वर्ष की आयु का होगा हूणों को हराया तो इस तरह विष्णुवर्द्धन का शासन-समय ९०-९५ का मानने से भी काम चल जाता है।

जनरल कनिंघम के मत से काश्मीर के प्रवरसेन का समय ४३२ ईस्वी है१। प्रवरसेन यशोधर्मा का समकालीन था, क्योंकि उसने यशोधर्मा के पुत्र शिलादित्य को काश्मीर लेजा कर गद्दी पर बिठाया था। यदि इस मत को सही मान लिया जाय तो 'व्रजेन्द्र-वंश-भास्कर' में दिये हुए विष्णुवर्द्धन के यज्ञ संवत् ४२८ अर्थात् सन् ३७१ को मानने में कोई आपत्ति नहीं रहती। किन्तु इतिहासवेत्ताओं का एक बड़ा दल इसी मत का पोषक है कि यशोधर्मा ने हूणों को ५२९ ईस्वी के लगभग हराया। इस तरह विष्णुवर्द्धन के जय (यज्ञ) स्तंभ का समय संवत् ५२८ के आस-पास का मानना ही ठीक है।

श्री सी० वी० वैद्य इन जाट नरेशों का शासनकाल ५०० ई० से ६४१ ई० तक मानते हैं। किन्तु हमें इनका समय सन् ३४० ई० से आरम्भ होने का पता चलता है। उस समय इनकी स्थिति यशोधर्मा जैसे सम्राट् की जैसी तो न थी किन्तु मालवे के पश्चिमी हिस्से पर राज्य इनका अवश्य था। जिस समय उज्जैन में गुप्त राजाओं का शासन था उसी समय मन्दसौर में इनका भी राज था। इनमें से एक-दो नरेश तो गुप्तों के मांडलिक भी रहे थे। गुप्त राजाओं के साथ-साथ ही एक दूसरे राजवंश को राज करते हुए हम मालवा में देखते हैं। उस राजवंश की सूची इस प्रकार प्राप्त होती है:—

(१) सिंहवर्मा—यह समुद्रगुप्त का समकालीन था। समुद्रगुप्त गुप्त-वंश का परम प्रतापी राजा हुआ है जिसका कि शासन ईस्वी सन् ३३५ से ३८५ तक बताया जाता है। सिंहवर्मा के दो पुत्र चन्द्रवर्मा और नरवर्मा हुए। चन्द्रवर्मा ने मालवा से हट कर पुष्करण (मारवाड़) में राज्य स्थापित किया और नरवर्मा मालव-राज बने रहे। नरवर्मा के पुत्र विश्ववर्मा हुए। गंगधार में मिले शिलालेख में इन्हें स्वतन्त्र नरेश लिखा है। इनके दो पुत्र हुए, बंधुवर्मा और

१—राजतरंगिणी-कमल यन्त्—हरिश्चन्द्र भारतेन्दु द्वारा संपादित।

भीमवर्मा। गुप्तों का प्रभाव बढ़ गया था इसलिए वंधुवर्मा को गुप्त राजाओं की जो कि उज्जैन में राज करते थे अधीनता स्वीकार करनी पड़ी। भीमवर्मा ने कुमारगुप्त प्रथम के पुत्र स्कंधगुप्त विक्रमादित्य के यहाँ सामन्त के स्थान पर रहना स्वीकार कर लिया और वह सम्भवतः कौशाम्बी का सामन्त वनाया गया। स्कंधगुप्त का समय ईस्वी सन् ४५५ से ४६७ तक का है[१]।

गुप्त वंश में स्कंधगुप्त विक्रमादित्य के चालीस वर्ष पश्चात् उज्जैन की राजगद्दी पर भानगुप्त वालादित्य वैठता है। जाट नरेश यशोधर्मा के साथ हूणों को हराने में इसी वालादित्य का नाम आता है[२]। यदि वंधुवर्मा के वाद विष्णुवर्द्धन का नाम जोड़ दें तो यह वंश-सूची इस प्रकार वन जाती है:—
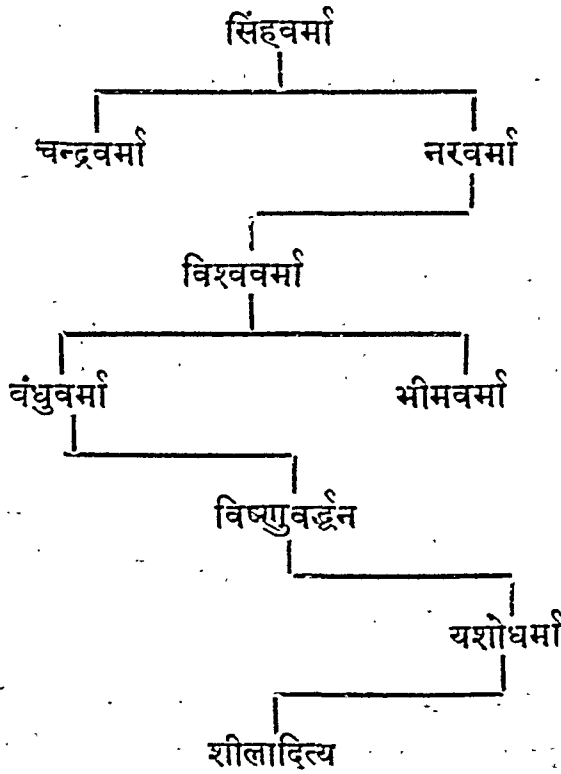
वंधुवर्मा जो कि प्रथम कुमारगुप्त और समुद्रगुप्त का समकालीन था यशोधर्मा की हूण विजय से ८०-६० वर्ष पहिले मालवा के पच्छिमी हिस्से अर्थात् मन्दसौर का शासक था, क्योंकि मन्दसौर में उसके समय का एक लेख मिला है। मन्दसौर में रेशम के कारीगरों का वनवाया हुआ एक सूर्य्य का मन्दिर था। जीर्ण हो जाने के कारण वन्धुवर्मा ने संवत् ५३० तदनुसार सन् ४७३ ई० में मरम्मत कराई थी। इसी सुकृत्य का उस लेख में वर्णन है। अर्थात् वन्धुवर्मा दशपुर (मन्दसौर) में सन् ७७३ ई० तक मौजूद था। उस विष्णुवर्द्धन जिसने कि व्याने

१—यह वंश-सूची जयशंकर 'प्रसाद' के 'स्कंधगुप्त विक्रमादित्य' नामक नाटक की परिशिष्ट में भी दी हुई है। २—भारत के प्राचीन राजवंश। भाग २।

में विजय स्तंभ खड़ा किया था और जिसके कारण ग्याने का नाम भी विजय गढ़ पड़ गया था उसने अवश्य ही गुप्तों से स्वतंत्रता प्राप्त की होगी जोकि बन्धुवर्मा के पीछे मन्दसौर का शासक हुआ। बन्धुवर्मा यदि वर्द्धन के पूर्वजों में न होकर शत्रुओं में रहा होता तो मन्दसौर के शिला लेखों में अवश्य ही उससे मन्दसौर छीनने का वर्णन होता। बन्धुवर्मा से मिले हुये राज्य को थोड़े ही समय में विष्णु-वर्द्धन व यशोधर्मा ने इतना विस्तृत कर दिया था जिसके कारण यशोधर्मा ने सम्राट्-पदवी धारण करली। हमें यह भी लिखा मिलता है कि यशोधर्मा के पिता विष्णु-वर्द्धन ने महाराजाधिराज की पदवी धारण की थी१।

यशोधर्मा

भारत क्या संसार के इतिहास में हूणों के आक्रमण प्रसिद्ध हैं। इन्होंने यूरोप और एशिया दोनों ही जगह उथल-पुथल मचादी थी। जाट जाति के लिये यह सर्वत्र नाशकारी सिद्ध हुये। किन्तु यूरोप और एशिया दोनों ही स्थानों पर, जाटों ने इनकी शक्ति का सामना किया। यद्यपि जाट भी इनके युद्धों में क्षीणबल हो गये किन्तु उन्होंने हूणों के बढ़ते हुये प्रभाव को इतना धक्का पहुँचाया कि आज हूणों की न कोई स्वतंत्र जाति है और न राज्य। सुदूर कश्मीर में अवश्य कुछ दिन उनका राज्य रहा। यूरोप को रोंदते हुये इनका दल जब रोम पहुँचा तो वहां के गाथ (जाट) योद्धाओं ने ऐसा लोहा बजाया कि इन्हें उलटे पैरों लौटना पड़ा। भारत में आने पर भी जल-प्रलय की भांति जब यह आगे को बढ़ने लगे तो मध्य भारत के अधीश्वर महाराजा यशोधर्मा ने इनको ऐसा खदेड़ा कि कश्मीर में जाकर दम लिया।

यशोधर्मा के समय के तीन शिला लेख प्राप्त हुये हैं। ये तीनों ही मन्दसौर में पाये गये हैं। इनमें से एक शिला लेख मालव संवत ५८६ ईस्वी (सन् ५३२ का है)। इन लेखों में से पहिले लेख में लिखा है:—

ये भुक्ता गुप्त नाथैर्न्न सकल वसुधा क्क्रान्ति दृष्ट प्रतापै—
र्न्नाज्ञा हूणाधिपानां क्षितिपति मुकुटाध्यासिनी यान्प्रविष्टा ॥
+ + + + +
आलौहित्योप कण्ठात्तलवन गहनो पत्य का दा महेन्द्रा—
दा गंगा श्लिष्ट सानो स्तुहिन शिखरिणः पश्चिमादा पयोदधेः ॥
सामन्तैर्यस्य बाहु द्रविणहृत मदैः पाद यो रानभाङ्गः।
+ + + + +
नीचै स्तेनापि यस्य प्रणति भुजबला वर्ज्जन क्लिष्ट मूर्ध्ना-
चूडा पुष्पोपहारै र्मिहिरकुल नृपेणार्चितं पाद युग्मं ॥

१ काशी नागरीप्रचारिणी पत्रिका। भाग १२। अंक ३। पे० २४२

अर्थात्—प्रबल पराक्रमी गुप्त राजाओं ने भी जिन प्रदेशों को नहीं भोगा था और न अति बली हूण राजाओं की ही आज्ञाओं का जहाँ तक प्रवेश हुआ था, (ऐसे प्रदेशों पर भी महाराज यशोधर्मन् का राज है)।

पूर्व में लौहित्य नदी अर्थात् ब्रह्मपुत्र से लेकर पश्चिम में समुद्र तक और उत्तर में हिमालय से दक्षिण में महेन्द्र पर्वत तक के सामन्त जिसके पैरों में गिरते हैं।

जिसके चरणों पर प्रतापी (राजा हूणों के सरदार) को भी शिर झुकाना पड़ता है।

महाराज यशोधर्मा ने मिहिरकुल हूण को हरा कर अपने को उत्तरी भारत का सम्राट् घोषित किया[१]। गुप्त राज्य की समाप्ति भी इसी समय के कुछ काल के पश्चात् हो गई होगी।

हूणों से जिस समय यशोधर्मा का युद्ध हुआ था, उस समय उनकी अध्यक्षता में उज्जैन और मगध दोनों प्रदेशों के राजा इकट्ठे हुए थे। कोई-कोई इतिहास-लेखक कहरूर में इस युद्ध का होना बतलाते हैं और कोई-कोई मध्य-भारत के किसी स्थान पर। मि० एलन लिखते हैं कि:—"*बालादित्य ने तो केवल मगध की रक्षा की होगी, परन्तु अन्त में यशोधर्मा ने ही उसे पूर्णतया परास्त कर कैद कर लिया होगा।*" "अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया" के पृष्ठ ३१८–३१६ में मि० विन्सेण्ट स्मिथ ने भी इस बात का समर्थन किया है कि महाराज यशोधर्मा ने मिहिरकुल को गिरफ़्तार कर लिया था।

कुछ दिन कैद रखने के पश्चात् महाराज यशोधर्मा ने मिहिरकुल को छोड़ दिया और वह छूटने पर काश्मीर की ओर चला, क्योंकि इसी बीच साकल नगरी पर जो कि आरम्भ में वहाँ के जाट-राज्य को इन्होंने नष्ट करके अपनी राजधानी बनाई थी इसके हाथ से निकल चुकी थी। इसी के छोटे भाई ने उस पर अपना अधिकार जमा लिया।

महाराज यशोधर्मा के सम्बन्ध में यह भी कहा जाता है कि उन्होंने विक्रमादित्य की पदवी धारण की थी[२] और मालवे के मालव संवत को विक्रमी संवत् के नाम से प्रसिद्ध किया था। अभी इस मत का समर्थन पूरी तरह से नहीं हुआ है। कुछ इतिहासकार इस मत का विरोध भी करते हैं।

काश्मीर के प्रसिद्ध संस्कृति-कवि जल्हण ने तीन कालिदासों का वर्णन किया है। दूसरा कालिदास जिसने कि 'रघुवंश' और 'ज्योतिर्विदाभरण' आदि ग्रन्थ लिखे हैं इन्हीं महाराज यशोधर्मा की सभा का एक रत्न था। रघुवंश में राजा रघु

१—भारत के प्राचीन राज्य-वंश। भाग २। २—राजतरंगिणी काव्य।

की दिग्विजय के वर्णन को पढ़ने से स्पष्ट हो जाता है कि महाराज यशोधर्मा ने किस भाँति से किन-किन देशों को विजय किया था। कालिदास ने महाराज यशोधर्मा के ही विजय को रघु-दिग्विजय का रूप दिया है। जिन प्रदेशों का वर्णन रघुवंश में है, रामायणकाल में उनके इससे कुछ भिन्न नाम थे। इनका राज्य उत्तर में हिमालय से लेकर दक्षिण में ट्रावनकोर तक फैल गया था। मगध का राजा इनका मित्र बन गया था।

उसी समय भारत में फाहियान चीनी यात्री आया था। उसने भारत का हाल इस तरह लिखा है—

"भारत में इस समय सुख-संपत्ति पूर्ण रूप से है। सदाचार उसके निवासियों का धर्म है। धार्मिक सत्रों में निर्धनों को अन्न बाँटे जाते हैं। मुफ्त इलाज करने वाले औषधालय जगह-जगह स्थापित हैं। अपराध बहुत ही कम होते हैं। राज्य कर्मचारियों को ठीक समय पर वेतन मिलता है। रिश्वत लेना पाप समझा जाता है। समस्त देश में मांस-मदिरा का प्रचार बहुत ही थोड़ा है। प्याज और लहसुन खाना अच्छा नहीं समझा जाता। बौद्ध भिक्षुओं के खान-पान का प्रबन्ध धनिकों की ओर से होता है। डकैतियां और चोरियां भी नहीं होती हैं। प्राण-दण्ड किसी को भी नहीं दिया जाता। कठोर दण्ड देते समय पंचायत से राय ली जाती है। सिक्के थोड़े हैं; कौड़ियों का भी चलन है। लोग इतने ईमानदार हैं कि ताले नहीं लगाने पड़ते।"

शिलादित्य

यह महाराज यशोधर्मा के पुत्र थे। अपने पिता के पश्चात् मालवे के शासक हुए। यह बौद्ध-धर्म के मानने वाले थे। चीनी यात्री ह्वानच्वांग ने अपने यात्रा-वर्णन में इनका उल्लेख किया है। इनके पड़ौसियों ने जोकि ब्राह्मण धर्म के मानने वाले थे इन पर आक्रमण करके राज्य से भगा दिया। यह काश्मीर पहुँचे[१]। ५४० ई० के लगभग काश्मीर के प्रवरसेन ने इनको फिर से राजा बना दिया।

जिन दिनों ह्वानच्वांग ने मालवे की यात्रा की उन दिनों यहाँ यशोधर्मा का नाती शिलादित्य हर्षदेव राज करते थे। यह बौद्ध धर्म के पालक थे। इनके समय में मन्दिर जो कि राजधानी के निकट कई पीढ़ियों पहिले से बन रहा था, पूर्ण होगया। इसी समय कान्य-कुब्ज और थानेश्वर में हम एक हर्ष उपनाम शिलादित्य को और शासन करते देखते हैं। थानेश्वर का शिलादित्य-हर्ष उस समय का विश्व-विजेता था, इसलिए मालवे के इस हर्ष का चरित्र विलुप्त सा हो जाता है।

१—सी० वी० वैद्य की 'हिन्दू मिडीवल इण्डिया'।

बहुत सी घटनायें ऐसी आजाती हैं कि जिनका निर्णय करना कठिन हो जाता है कि आया वह किस हर्ष से सम्बन्ध रखती हैं। राजतरंगिणी में मालवे के हर्ष को मातृगुप्त का समकालीन बताया गया है।

श्री सी० वी० वैद्य लिखते हैं कि—"*अतः यह वंश अवश्य ही ६४१ ई० तक खतम हो गया जो कि ह्वान-च्वांग के भ्रमण का समय है। हम इस बात का वर्णन नहीं कर सकते कि हर्ष के पश्चात् इसका क्या हुआ? मालवे का इतिहास परमार वंश से पहिले का अन्धकार में है। परन्तु हम यह वर्णन कर सकते हैं कि 'पच्छिमी मालवा' गुजरात और मध्यभारत के किनारों पर था और बहुधा बदलता रहता था। इसके पश्चात् यह कुछ समय के लिए वल्लभी लोगों के अधिकार में था। यह पूर्णतया निश्चित है क्योंकि वल्लभी राजाओं ने बख़्शीसें (दान) दी थीं। यहां तक कि उन्होंने मन्दसौर के पास तक की भूमि दान में दी थी। अतः यह स्पष्ट है कि जब हर्ष साम्राज्य का अन्त हो गया तो मोलायो—पच्छिमी मालवा—वल्लभी राजाओं के अधिकार में चला गया।*

सम्राट् हर्ष या शिलादित्य और यह मालवे का हर्ष बिलकुल भिन्न हैं; किन्तु समकालीन होने से भारी भ्रम हो जाता है। एक बात और भी कठिनाई की आनकर पड़ती है कि जिस समय मन्दसौर के इस वंश का अभ्युदय होता है, उसी समय थानेश्वर में एक दूसरा वंश वैस-वंश प्रकट होता है और साथ ही दोनों समाप्त हो जाते हैं। यही क्यों दोनों की समाप्ति भी हर्ष पर हो जाती है।

इतिहासों में थानेश्वर के राजाओं का आदि पुरुष पुष्पभूति पाया जाता है। यदि पुष्पभूति को भीमवर्मा का पुत्र मान लिया जाय जो कि समुद्रगुप्त का सामंत बन गया था तो मन्दसौर और थानेश्वर के दोनों राजवंश एक हो जाते हैं। गुप्तों के सामन्त रहने के कारण शायद उनको दूसरे लोग वैस या वैसोरा कहने लग गये हों। इस वंश के लोग राजपूत और जाट दोनों ही समूहों में पाये जाते हैं। अवध में वैसवाड़ा के राजपूत प्रसिद्ध हैं। आगरा प्रान्त में बैसौरे नाम के जाट मौजूद हैं। थानेश्वर के राजा बौद्ध थे। मौखरी क्षत्रियों में उनकी लड़कियों की शादी हुई थी जिनकी कि उपाधि वर्मा थी। इसलिए वैस अथवा वर्द्धन उपाधि वाले होने से इनको वैश्य मानना तो भूल होगी। यह पीछे भी लिखा जा चुका है कि जाटों में मौखरी वंश के लोग भी हैं। धार्मिक मत भेद के कारण यह वैस क्षत्रिय कुछ जाट और कुछ राजपूत दलों में बँट गये। मालवा के कुछ जाट संयुक्त प्रदेश में और कुछ राजपूताने की तरफ़ चले गये। युक्त प्रदेश में जो मालवे के जाट हैं वे मान, भूलर, दशपुरिया, वरक, हिरन्द, पमार, पचहरे आदि गोत्रों से प्रसिद्ध हैं।

मालवा से वरिक जाटवंश के राज्य के समाप्त होने पर जाटों के पास कोई बड़ा राज्य न रह गया था। फिर भी वे जहाँ-तहाँ अपने चार-चार पाँच-पाँच या दस-बीस गाँव के छोटे-छोटे जनपदों के अधीश्वर बहुत समय तक बने रहे थे। मुसल्मानी सल्तनत के भारत में आने के समय तक उन्होंने मालवा में पंचायती और भौमियाचारे के ढंगों से राज-सुख भोगा था। गुरु गोविन्दसिंह जिस समय मालवे में पधारे थे उस समय भी वहाँ पर जाटों का शासकपने का ढँग अवशेष था। "इतिहास गुरु खालसा" में ऐसे एक जाट चौधरी का वर्णन है जिसके अधिकार में कई गाँव थे। लिखा हुआ है:—"संवत् १७६१ में गुरु गोविन्दसिंहजी *मालवा के दीना नामक गाँव में पहुँचे। यहाँ पर चौधरी लखमीर ने* आपको गढ़ में ठहराया। आज कल उस स्थान पर लोहगढ़ नाम का गुरुद्वारा है[१]। यहाँ आस-पास के अनेक प्रसिद्ध लोगों ने आपके लिए इतने अस्त्र-शस्त्र और धन दिया कि थोड़े ही दिनों में गुरुजी के पास शाही ठाठ हो गया था।

लेकिन जिस स्थान पर जाटों के एक बड़े साम्राज्य की राजधानी रही थी उस स्थान के आस-पास यह बहुत कम संख्या में पाये जाते हैं। परिस्थितियों ने उन्हें तितर-बितर कर दिया है।

१—"इतिहास गुरु खालसा"। साधु गुरु गोविन्दसिंह द्वारा लिखित।

द्वादश अध्याय

देहली प्रान्त के जाट-राज्य

देहली आज से पाँच हज़ार वर्ष पूर्व इन्द्रप्रस्थ के नाम से प्रसिद्ध था। उससे भी पहिले यह हस्तिनापुर-राज्य के अन्तर्गत था। महाराज युधिष्ठिर के वंशजों ने इस पर कई पीढ़ी राज्य किया। 'सत्यार्थ प्रकाश' में उन सब राजाओं का वर्णन है जिन्होंने इन्द्रप्रस्थ में राज किया। 'राजतरंगिणी' के लेखक और 'हरिप्रिया' के संपादक ने भी वह सूची अपनी पुस्तकों में दी थी। उसके देखने से इन्द्रप्रस्थ पर चौहानों से पहिले कई राज-वंशों का राज हुआ है ऐसा पता चल जाता है।

जीवनसिंह

उस सूची में जीवन नामक राजा का भी जो कि वीरमहा का वंशज था नाम आता है। 'वाक़आत पंच हज़ार रिसाला' के लेखक ने जीवन को जीवन-जाट के नाम से संबोधित किया है[१]। जिस समय भारत में जीवन जाट राज्य करता था उसी समय उक्त रिसाला के लेखानुसार हज़रत मूसा अपने धर्म का प्रचार कर रहे थे। युधिष्ठिर से २६१९ वर्ष पीछे जीवन का राज्य देहली में होना बताया है। रिसाले में जीवन के समय का तूफ़ानी सन् २६१९ लिखा है। उसने युधिष्ठिर संवत् की वजाय तूफ़ानी सन् का वर्णन किया है। यह समय ईसा से ४८१ वर्ष पहिले जाकर बैठता है। अर्थात् ईसा से ४८१ वर्ष पूर्व महाराज जीवनसिंह देहली के राज सिंहासन पर बैठे थे। उन्होंने २६ वर्ष तक राज्य किया था। उनके राज्य-काल का सन् रिसाले में २६१९ से २६४५ तूफ़ानी सन् तक दिया हुआ है। उनका राज-वंश इस प्रकार है—

१—"वाक़आत पंज हज़ार रिसाला" अनेक फ़ारसी किताबों के आधार पर लिखी गई थी।

राजावीरमहा
|
महाबल
|
सर्वदल या स्वरूपदल
|
वीरसेन
|
सिंहदमन या महीपाल
|
कलिक या सिंहराज
|
जीतमल या तेजपाल
|
कालदहन या कामसेन
|
शत्रुमर्दन
|
जीवन
|
वीरभुजंग या हरिराव
|
वीरसेन (द्वितीय)
|
उदयभट या आदित्यकेतु

रिसाले के अनुसार इनका वर्णन इस प्रकार मिलता है—महाबल ईसवी सन् से लगभग ८०० वर्ष पूर्व हुए थे। इनके समय में भारत के उज्जैन नगर में बुद्ध नाम का राजा शासक था। फ़ारिस में बहमनशाह राज्य करता था। महाबल के पश्चात् सर्वदत्त या स्वरूपदत्त दिल्ली के सिंहासन पर बिठाये गए। इनके सिंहासन पर बैठने का समय ईसा से ७४४ वर्ष पूर्व का है। इन्हीं दिनों खता में लादकून के यहाँ तामीसॉग का जन्म हुआ था। इनके पश्चात् ईसा से ७०८ वर्ष पूर्व ईरान के प्रथम दाराशाह के समय में महाराज वीरसेन गद्दी पर बैठे। खता में जिन दिनों पैगम्बरलिंक (इंक) बालक्रीड़ा कर रहे थे उन्हीं दिनों भारत में दिल्ली की गद्दी पर महाराज महीपाल बैठे। वे इतने बहादुर थे कि उन्हें सिंहदमन के नाम से पुकारा जाता था। उनका सिंहासन पर बैठने का समय ईसवी पूर्व ६६८ है। इनके समय में ईरान में कस्ताप नाम के बादशाह का राज-समारोह मनाया गया था। इनकी मृत्यु के पश्चात् कलिक या संघराज नाम के महाराज दिल्लीश्वर बने। यह घटना ईसवी पूर्व ६२४ की है। ईसवी सन् से ५६५ वर्ष पूर्व जब कि खता में आदकून फ़ोरी नामक अवतार का जन्म हुआ था। राजा जीतमल गद्दी पर बैठे। 'हरिप्रिया' के संपादक ने इन्हें तेजपाल नाम से याद किया है किन्तु हमारे मत से उसके पढ़ने में भूल

हुई है। यदि उसने फ़ारसी पुस्तकों से अनुवाद किया होगा तो जीतमल को ही तेजपाल पढ़ लिया होगा। जीतमल के पश्चात् कालदहन या कामसैन राजा हुए। इनके राजगद्दी पर बठने का समय ईसा से ५१५ वर्ष पहिले का है। हमारा अनुमान है कि ब्रह्मपुर तक इसका राज्य था और ब्रह्मपुर इसी के नाम पर काम्यवन (कामां) कहलाया। यह स्थान दिल्ली से ६० मील पूर्व-दक्षिण में है। ५०६ ई० पूर्व में कामसेन के पश्चात् शत्रुमर्दन नाम के महाराज देहली के शासक हुए और शत्रु-मर्दन से २८ वर्ष बाद ईसवी पूर्व ४७८ में महाराजा जीवन दिल्ली के अधिराज हुए। इनके समय में हज़रत मूसा यूरोप में अपने धर्म का प्रचार कर रहे थे। एक पार्सी दल भी भारत में आया था, जिसने घूम-घूम कर भारत की परिस्थिति का अध्ययन किया था। डेरियस (दारा) को हम लोग खूब जानते ही हैं, उसी के बाप की महान् इच्छा थी कि भारत पर आक्रमण किया जाय। किन्तु वह इच्छा दारा के समय में पूरी हुई और सिन्ध के एक बड़े भाग पर ईरानियों का अधिकार हो गया, किन्तु वह अधिकार स्थिर न रहा। जीवन महाराज के पश्चात् ईसवी पूर्व ३७२ तक वीर-भुजंग उर्फ़ हरिराव, वीरसेन और उदयभट उर्फ़ आदित्यकेतु नाम के तीन जाट राजाओं का राज्य रहा। आदित्यकेतु से उनके ही एक सरदार धन्धर या धरनीधर ने धोखे से राज्य छीन लिया।

इस तरह से इस वंश का राज्य लगभग ४५० वर्ष तक दिल्ली में रहा। इनके बाद जोगी, कायस्थ, पहाड़ी और वैरागी लोगों का राज्य हुआ। बीच में विक्रमादित्य का भी रहा। अन्त में तोमर लोगों का राज्य हुआ। तोमरों से चौहानों और फिर मुसलमानों का हुआ। जीवन और उसके वंशज पांडव वंशी ही थे। युधिष्ठिर से २७ पीढ़ी राज करने के बाद दूसरे लोगों के हाथ राज चला गया था और फिर समय पाते ही उन्हीं के वंशजों ने क़ब्जा कर लिया।

'वाक़आत पंज हज़ार' रिसाला में ईरान, अरब, मिश्र, खता, चीन, तिब्बत, रूम आदि कई प्रदेशों के वर्णन तूफानी सन्, विक्रम संवत् और ईस्वी सन् में दिये हुए हैं। यह पुस्तक मुंशी राधेलालजी नाम के सज्जन ने फ़ारसी इतिहासों के आधार पर सन् १८६८ ई० में प्रकाशित की थी जो कि अब अप्राप्य है[१]।

जाटवान

यह रोहतक के जाटों का एक प्रसिद्ध नेता था। शहाबुद्दीन गोरी ने जिस समय पृथ्वीराज को जीत लिया और दिल्ली में अपने एक सेनापति को जो कि उसका गुलाम भी था विजित देश के शासन के लिए छोड़ गया तो जाट भाइयों ने विद्रोह खड़ा कर दिया, क्योंकि वे पृथ्वीराज के समय में भी एक तरह से स्वतन्त्र से थे। अपने देश के वे स्वयम् ही शासक थे, पृथ्वीराज को नाममात्र का राजा मानते थे। उन्होंने देखा कि

१—हमने यह पुस्तक ठाकुर नारायनसिंहजी, गोकुलपुरा-आगरा के पास देखी है। (लेखक)।

क़ुतुबुद्दीन जहाँ उनकी स्वतन्त्रता को नष्ट करेगा, वहाँ विधर्मी भी है। अतः इकट्ठे होकर मुसलमानों के सेनापति को हाँसी में घेर लिया। वे उसे मार भगा कर अपने स्वतन्त्र राज की राजधानी हांसी को बनाना चाहते थे। इस ख़बर को सुन कर क़ुतुबुद्दीन घबरा गया और उसने रातों-रात सफ़र करके अपने सेनापति की हांसी में पहुँच कर सहायता की। जाटों की सेना के अध्यक्ष जाटवान ने दोनों दलों को ललकारा। 'तुमुल मसीर' के लेखक ने लिखा है कि दोनों ओर से घमासान युद्ध हुआ। पृथ्वी ख़ून से रँग गई। बड़े ज़ोर के हमले होते थे। जाट थोड़े थे, फिर भी वे ख़ूब लड़े। क़ुतुबुद्दीन स्वयं चकरा गया, उसे कोई उपाय न सूझता था। जाटवान ने उसे पास आकर नीचे उतर लड़ने को ललकारा, किन्तु क़ुतुबुद्दीन इस बात पर राज़ी नहीं हुआ। जाटवान ने अपने चुने हुए बीस साथियों के साथ शत्रुओं के गोल में घुस कर उन्हें तितर-बितर करने की चेष्टा की। कहा जाता है, जीत मुसलमानों की रही, किन्तु उनकी हानि इतनी हुई कि वह रोहतक के जाटों को दमन करने के लिए जल्दी ही सर न उठा सके।

बल्लभगढ़ राजवंश

यहाँ तेवतिया गोत्र के जाटों का राज्य था। देहली गज़ेटियर से जो इन का हाल मिलता है वह संक्षेप में इस तरह से है—बल्लभगढ़ से उत्तर की ओर ३ मील के फ़ासले पर सूही नाम का एक ग्राम है। १७०५ ई० के लग भग सरदार गोपालसिंह नाम का एक जाट वीर यहाँ आकर बसा। औरंगज़ेब उस समय मर चुका था। उसके पीछे के मुग़ल शासक ऐश, आराम और पारस्परिक कलह में नष्ट हो रहे थे। गोपालसिंह ने अपने साथियों के साथ राज्य-स्थापन की भावना से प्रेरित होकर देहली और मथुरा के बीच के प्रदेश में लूटमार आरम्भ करदी। थोड़े ही समय में बहुत साधन और शक्ति एकत्रित करली। उस समय बल्लभगढ़ से ८ मील पूर्व की ओर 'लागोन' नाम के गाँव में गूजर बड़ा ज़ोर पकड़ रहे थे। इसने उनसे मित्रता करली। आस पास के गाँवों की चौधरायत एक राजपूत के पास थी। गूजरों की सहायता से उस राजपूत पर चढ़ाई करके गोपालसिंह ने उसे मारडाला और उसके प्रदेश पर अधिकार कर लिया।

फ़रीदाबाद में उस समय मुग़लों की ओर से मुर्तिजा ख़ाँ ऑफ़ीसर था। उसे चाहिए तो यह था कि गोपालसिंह को दण्ड देता, क्योंकि उसने मुग़लों के राजपूत चौधरी को मारकर राज-द्रोही होने का परिचय दिया था। किन्तु उसने भय-भीत होकर गोपालसिंह से संधि करली और उसे फ़रीदाबाद के परगने का चौधरी बना दिया। कुल लगान में से एक आना फ़ी रुपये के हिसाब से कटौती का हक़ भी उसे दे दिया। यह घटना १७१० ई० की है। गोपालसिंह मुग़लों की कमज़ोरी से ख़ूब लाभ उठाना चाहता था। इसलिए सेना की भर्ती और धन भी संग्रह शीघ्रता पूर्वक करने लगा। किंतु उसका इरादा पूरा होने से पहिले ही मृत्यु होगई। उसके पश्चात् उसका लड़का चरनदास अपनी रियासत का मालिक हुआ। चरनदास

भी महत्वाकांक्षी था। उसने जब आसपास के ज़िलों में बादशाही हुकूमत को कम
ज़ोर होते देखा तो मालगुज़ारी देना बन्द कर दिया। मुग़लों की ओर से चरनदा
के ख़िलाफ़ सेना भेजी। चूँकि चरनदास की अभी इतनी शक्ति नहीं थी कि
मुग़ल सेना का सामना कर सके, इसलिए चरनदास मुग़लों द्वारा गिरफ़
फ़्तार कर लिया गया।

चरनदास के पुत्र बलराम ने जब देखा कि युद्ध द्वारा अपने पिता को
लेना कठिन है तो उसने एक चाल चली। वह यह कि मालगुज़ारी का रुपय
का वायदा करके अपने बाप चरनदास को मुग़ल-सैनिकों के पहरे में बल्लभ
बुलवा लिया। रुपयों की जो थैलियाँ थीं उनमें दो-एक में तो रुपये भरे, बा
में पैसे भर दिए। चरनदास छोड़ दिया गया और मुग़ल-सैनिक थैलिय
के प्रस्थान कर गए।

पिता और पुत्र दोनों ने उस समय यही उचित समझा कि बल्ल
छोड़ करके भरतपुर के महाराज सूरजमलजी की शरण में चले जायँ
शाह अहमदशाह के गद्दी पर बैठने के समय तक यानी सन् १७४७ ई
विद्रोहियों की लगातार लिखत-पढ़त जारी रक्खी परन्तु हर समय वह
टाल दिया गया। वज़ीर की क्रोधाग्नि धधकाने और उससे जाटों
करने की प्रतिज्ञा कराने के लिये यह पर्याप्त था। अतएव सन्
अमीरुल उमरा के साथ साथ ही वह उनके विरुद्ध मैदान में आया औ
को अपने क़ाबू में कर लिया। सूरजमल जिसका कि हौसला, हा
सेना के ऊपर जिसका कि सेनापति शहनशाह (साम्राज्य) का कम
स्वयं था, विजय पाने से बहुत कुछ बढ़ गया था। इस झगड़े से परा
शान्ति से राज्य कर लेने देने वाला नहीं था। उसने सब तरह सेसी
सहायता करने की तैयारी की। डीग और कुम्हेर के क़िलों को
वज़ीर के विरुद्ध कूँच बोल दिया। भाग्य ने सूरजमल की सहा
अपने सूबे अवध के आस-पास ही में रुहेलों के भयङ्कर विद्रो
पाकर जाटों के साथ झगड़े का फ़ैसला न करके ही देहली को व
उसने इन अफ़ग़ानों से युद्ध किया और उपद्रव को शान्त कर
नाइब नवलराम को उनसे निकाले हुए ज़िलों का चार्ज देक
कार्यवाही को फिर से अपने हाथ में लिया और उनके विरु
जाटों के युद्ध के लिये तैयारी हो जाने पर वह जौलाई सन्
में उनका मुकाबिला करने के लिये बढ़ा चला आया। परन्तु
बंगाश द्वारा नवलराम के हराये और मारे जाने के समाचा
साथ अपना झगड़ा निबटा लेने के लिये बाध्य किया।
... वकील के बीच में पड़ने से सन्धि हुई। ...
... कि उसे क्षमा ...

क़ानूनी रीति से क़ब्ज़ा की हुई भूमि आदि को उसी के अधिकार में बने रहने की गुप-चुप आज्ञायें दीं। राजा सूरजमल को ६ भागों की और उसके बख़्शी को एक भाग की ख़िलअत दी गई।

बलराम को सन् १७५३ ई० की २६ नवम्बर को आकबितमहमूद ने इसलिए मरवा डाला कि बलराम ने उसके बाप मुर्तिजाखां को क़त्ल किया था। बलराम के मारे जाने के बाद में महाराजा सूरजमल ने उनके लड़के विशनसिंह और किशनसिंह को क़िलेदार और नाज़िम बनाया। वे सन् १७७४ तक बल्लभगढ़ के कर्ता-धर्ता रहे। उनके बाद हीरासिंह बल्लभगढ़ का मालिक हुआ।

कैथल व उनके सजातीय बन्धुओं के साथ बल्लभगढ़ के राजाओं ने वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करने के लिए एक सभा भी कराई थी, क्योंकि मांझ के जाट भलोई जाटों को अपने से हेटा समझते थे।

बल्लभगढ़ के राजाओं का ख़िताब राजा का था। अँगरेज़ी राज्य के समय में इनका सूर्यास्त हो गया।

कुछ प्रसिद्ध ख़ान्दान

आज की अपेक्षा देहली प्रान्त बड़ा था। उसी समय की विस्तृत सीमा के अनुसार हम देहली के कुछ प्रसिद्ध और ऐतिहासिक जाट-वंशों का यहाँ परिचय देते हैं। गटवारा जाट इस प्रान्त में और यू० पी० में भी पाये जाते हैं। इनकी आहोलानियां भी एक शाख है। सोनीपत बाँगर और द्वाब तथा जमुना के सामने इनकी बस्तियाँ हैं। मलिक या मालिक इनकी उपाधि है जो कि उनको उस समय मिली थी जब कि वे अफ़ग़ानिस्तान में रहते थे। गजनी के आस पास इनका जनतंत्र था। इस्लामी आक्रमण के समय इन्होंने उस देश को छोड़ दिया था[१]। बागरी जाट आरम्भ में मालवा के प्रदेश बांगर में रहते थे। पृथ्वीराज के साथ बागरीराय नाम का इनका एक प्रसिद्ध योद्धा रहा था। उसी के साथ ये जब कि पृथ्वीराज देहली आया, आये थे। बागरीराय के पास अपने ही सजातीय भाइयों की एक अलग सेना थी। ब्राह्मणों में भी बागरी गोत पाया जाता है। संगवान देहली प्रान्त के जाटों की एक मुख्य जाति है। यह दादरी के पच्छिम दिशा में फैले हुए हैं।

१—गठवाला जाटों के सम्बन्ध में डब्ल्यू. क्रुक साहब इस भाँति लिखते हैं.—इनका मुख्य स्थान गोहाना में घेर का सोलाना था। पड़ोसी राजपूतों के साथ इनके निरन्तर युद्ध होते रहे। उसमें यह पूर्ण सफल रहे। इसलिये अन्य जाटों ने इनको प्रधान मान लिया। दिल्ली के बादशाह ने मंडहार राजपूतों के दबाने के लिये इनको सहायतार्थ बुलाया था। विजयी होने पर इन्हें मलिक की उपाधि दी गई। एक बार धोखे से मन्डहारों ने इन्हें बुला कर बारूद से उड़ा दिया। बचे हुए लोग हांसी के पास देपाल चले गये और देपाल [illegible] राजधानी बनाया।

दहिया जाटों का मुख्य स्थान सूरपति में भट गाँव के निकट है। आरम्भ में देहली के पास मवाना में रहते थे। यह पूर्ण शक्तिशाली थे, किन्तु गटवालों के वढ़े हुए प्रताप से जल कर एक वार इन्होंने मन्दहार राजपूतों की सहायता की थी। इस संघर्ष में थापानोलिया के जगलान और रोहतक के लतमार जाट दहिया लोगों के और हूदा तथा अन्य सभी जाट गटवालों के साथ मिल गये। इस तरह इन दोनों शक्तिशाली वंशों ने अपनी पारस्परिक लड़ाई में शक्ति को नष्ट कर दिया और शक्ति के वल पर जो स्वतन्त्रता क़ायम कर रक्खी थी उसे खो दिया।

दहाये जाट आरम्भ में भारत से कास्पियन सागर के किनारे चले गये थे। यूनानी लेखक स्ट्रावो ने उनके वैभव का वर्णन किया है। ये युधिष्ठिर के साथियों में से थे जो यौधेय कहलाते थे। यौधेय से ढे, और दहाये नाम भाषा के हेर-फेर से पड़ गये। ढे लोगों की समान हेले भी हैं। यह जाटों के दो वड़े दल कहे जाते हैं।

देहली प्रदेश में सहरावत जाट एक समय इतने प्रसिद्ध थे कि उनके सरदार ने पृथ्वीराज के युद्ध में जाने पर देहली के आस पास कब्जा कर लिया था। इनके सिवा देहली के आस पास और भी कई जाट राज्य-वंशों ने छोटे-मोटे राजा के रूप में शासन किया था। जिनका कि इतिहास अभी अस्पष्ट तथा अप्राप्त है।

देहली प्रान्त की सन् १६११ की जन-गणना के अनुसार जाटों की संख्या ११४६६८ थी। इस समय क़रीब सवा लाख की है। यहाँ के जाटों के सम्बन्ध में इम्पीरियल गजेटियर यों लिखता है:—

The Jats are the chief landowning tribe, numbering 114,000, and are almost entirely Hindus. Those of the south of the District centre about Ballabgarh, and their traditions are connected with Jat Rajas of that place. Those of the north are divided into two factions, the Dahiyas, and the Ahulanas.

Imperial Gazetteer of India

Vol XI, Page 226.

गजेटियर के कथन से हमारा मत प्रमाणित हो जाता है कि यहाँ अनेक जाट-वंश ऐसे हैं जिनका सम्वन्ध शासन से रहा है।

त्रयोदश अध्याय

जाट-संस्थायें

अखिल भारतवर्षीय जाट महासभा

इस नाम से पहिले इस संस्था का नाम 'आल इण्डिया जाट कान्फ्रेन्स' था। पुनः जाट महासभा कर दिया गया[1]। कुँ० हुक्मसिंह जी रईस आँगई, चौधरी कन्हीसिंह जी कागारोल, राजा दत्तप्रसाद जी मुरसान, राव राजा रघुनाथसिंह जी भरतपुर, कुँ० कल्यानसिंह जी बरकातपुर, चौधरी अमरसिंह जी राव बहादुर पाली, मास्टर शादीराम जी मेरठ, चौधरी मुख्तारसिंह जी वकील मेरठ, महाराज राना धौलपुर और राय साहब हरीरामसिंह जी इस संस्था के जन्मकाल से पोषक रहे हैं। लोकेन्द्र सवाई महाराज राना श्री उदयभानसिंह जी, महाराजा बहादुर श्री कृष्णसिंह जी धौलपुर और भरतपुर, राव बहादुर छोटूराम जी, राव बहादुर अमरसिंह जी, राव बहादुर लालचन्द जी और डाक्टर भूपालसिंह जी जैसे प्रसिद्ध पुरुषों को इस सभा का सभापति बनाने का जाट जनता को सौभाग्य प्राप्त हुआ है। इसके अलावा अन्य भी कई नामी-नामी जाट सरदार इस संस्था के सभापति रहे हैं। कुँ० सरदारसिंह जी रईस मुरादाबाद और बाबू मूलसिंह जी न्यू होटल जैपुर इस संस्था के खजाञ्ची और ठा० तेजसिंह जी रईस बाँहपुर, कुँ० चित्तरसिंह जी धौलपुर, वकील टीकमसिंह जी ओडीटर रह चुके हैं और ठा० झम्मनसिंह जी जनरल सेक्रेटरी हैं, जो अपनी मिलनसारी और सची जाति-भक्ति के लिये प्रसिद्ध हैं।

ठाकुर भोलासिंह जी और हुक्मसिंह जी इस समय सभा के उपदेशक हैं जो प्रचार कार्य के लिये पर्याप्त ख्याति प्राप्त कर चुके हैं। राजस्थान में आप दोनों ने फौजदार घासीराम, पं० दत्तूराम जयपुर प्रांतीय सभा के उपदेशक और पं० साँमलप्रसाद राजस्थान सभा के उपदेशक के साथ मिल कर काफी जाग्रति कर दी है।

सभा के पास एक साप्ताहिक पत्र है जिसका नाम 'जाटवीर' है। इसका प्रकाशन सन् १९२५ से होने लगा है। कुँ० हुक्मसिंह जी के सम्पादन में निकलना

१—लेखक के लिये महासभा के इतिहास का पूरा ज्ञान नहीं क्योंकि वह स्वयम् सन् १९२८ ई० से इस संस्था में भाग लेने लगा है। (लेखक)

आरम्भ हुआ था। उस समय चौधरी रिछपालसिंह जी बी० ए० इसके उपसम्पादक थे। इस समय ठाकुर झम्मनसिंह जी सम्पादक और मास्टर हेतराम जी उपसम्पादक हैं। इस इतिहास के लेखक को कुछ समय तक इस पत्र का स्थानापन्न उपसम्पादक रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। इस समय ठा० बाबूसिंह जी स्थानापन्न उपसम्पादक हैं।

जाति के अन्दर जितनी भी जाग्रति दिखाई देती है उसका श्रेय 'जाटवीर' को ही है। इस से पहिले मेरठ का उर्दू पत्र 'क्षत्रिय' महासभा का मुख-पत्र था। अब वह मास्टर शादीराम जी के संचालन में जाति की सेवा कर रहा है। रोहतक से उर्दू पत्र 'जाट गज़ट' निकलता है। उसके प्राण-रक्षक चौधरी छोटूराम जी राव बहादुर हैं। पंजाब के जाटों के हित के लिये लड़ने में इस पत्र ने एक बाँके योद्धा का काम किया है। आरम्भ में 'जाट हितकारी' ने कौम की अच्छी सेवा की थी। वह हिन्दी में आगरे से निकलता था। प्रसिद्ध जाति-सेवी चौधरी कन्हीसिंह जी उसके सम्पादक थे।

जाट-महासभा ने एक जाट-कॉलेज स्थापित करने का अनुभव किया था और प्रस्ताव भी पास किया था। राय बहादुर चौधरी अमरसिंह जी रईस आजमपाली ने अपने अतुल-त्याग और साहस से लखावटी में जाट-कॉलेज स्थापित करके सर सैयद जैसा काम जाटों के लिये कर दिया है। इसके अलावा यू० पी० में अन्य हाई स्कूल और शिक्षणालय जाटों के हैं।

जाट-महासभा ग़रीब बालकों को छात्र-वृत्ति भी देती है। अब तक लगभग २०० बालकों को उसकी ओर से छात्र-वृत्ति और मान-ऋण दिया जा चुका है।

महासभा के इतिहास में अब तक पुष्कर का और झुंझनूँ का, दो जल्से एक ख़ास स्थान रखते हैं। पुष्कर के जल्से के सभापति जाटों के हृदय-सम्राट् महाराज श्रीकृष्णसिंह जी बहादुर भरतपुर थे। उस जल्से के सम्पन्न करने के लिये सर सेठ छाजूराम जी कलकत्ता निवासियों की ओर से पाँच हज़ार रुपए दान में दिए गए थे। इस जल्से से राजस्थान के जाटों की नींद खुल गई थी। झुंझनूं का जलसा अपनी बहु संख्यक उपस्थिति और स्वागत-समिति के कार्य-कर्त्ताओं की तत्परता के लिए प्रसिद्ध है। इस जल्से के बाद जयपुर-नरेश महाराजा बहादुर सवाई मानसिंह जी को जाट-महासभा की ओर से मान-पत्र दिया गया था और उन्होंने अपने राज्य के जाटों की दशा पर विचार करने के लिए विश्वास दिलाया था। इस महोत्सव में ही जयपुर पुलिस के इन्सपैक्टर जनरल श्री एफ० ऐस० यंग साहब ने अपने श्रीमुख से फ़र्माया था कि "जाट सच्चा क्षत्रिय है"।

महासभा ने भरतपुर राज-वंश की जो सेवायें की हैं, वह चिरस्मरणीय हैं। छोटे से लेकर बड़े तक प्रत्येक पदाधिकारी ने भरतपुर के हित के लिए आवाज़ उठाई। भरतपुर सप्ताह भी महासभा की ओर से मनाया गया।

सिंह जी ओ० बी० ई०,

चौ० रामऋषिसिंह जी, कृषि सुपरिण्टेण्डेण्ट फ़ार्म, चिचपुरी।
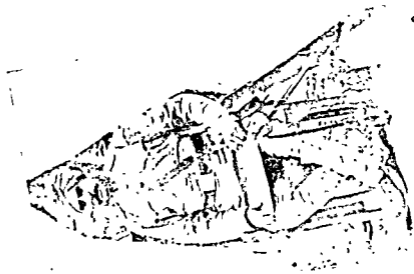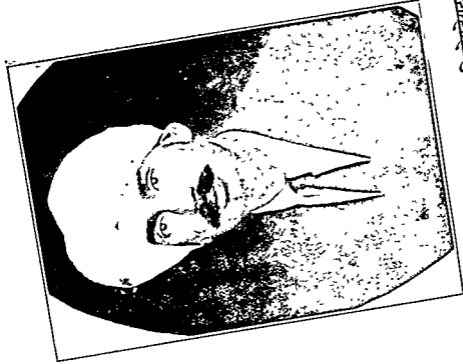
डाढ़ी वाले--ठा० कुन्दनसिंह जी, सर्वेन्ट की गोद में उनके पुत्र कुं० अजीत-सिंह। तथा उनके चाचा ठा० झम्मनसिंह जी बी० ए० एल० एल० बी० एडवोकेट मंत्री जाट महासभा, अलीगढ़।

प्रत्येक जातीय मामले में महासभा सहयोग देने को तैयार रहती है। यहाँ तक कि सरकार से नौकरी व वज़ीफ़ा दिलाने, ग़रीबों की आवाज़ को सरकार के सामने रखने, राजा, रईस और जागीरदारों को जाट-प्रजा के साथ न्याय और सद्भाव व्यवहार करने के लिए आवाज़ उठाने में महासभा सदैव तत्पर रहती है। व्यक्तिगत मामलों को छोड़ कर जातीय मामलों में महासभा प्रत्येक जाट की सहायक है।

वह राज-भक्त संस्था है, किन्तु देश-भक्ति उसे प्रिय है। शुद्ध खादी पहनने का महासभा ने प्रस्ताव पास कर दिया है। वह अपने जाट का चाहे वह राज-भक्त हो अथवा राज-द्रोही, जाट के अर्थ में प्यार करना अपना धर्म समझती है। देहली के महोत्सव में उसने राजा महेन्द्रप्रताप को भारत आने देने में सरकार की ओर से कठिनाइयों को उठा लेने का प्रस्ताव पास किया था।

महासभा के आधीन अनेकों प्रान्तीय, जिला और स्थानीय जाट-सभायें हैं, जो कि अपने केन्द्र में काम करती हुईं, महासभा का हाथ बटाती हैं। वास्तव में जाट-महासभा अखिल विश्व के जाटों की माँ है, जो अपने बच्चों की उन्नति और समृद्धि के लिए प्रति क्षण चिन्तित और तल्लीन रहती है। इस महासभा का दफ़्तर अलीगढ़ में ठाकुर झम्मनसिंहजी की कोठी में है और ठाकुर पंचमसिंह उसके उत्साही क्लर्क हैं।

जाट-महासभा के उद्योग और प्रचार से जाति के अन्दर से अनेक बुराइयाँ उठ गई हैं। अबसे दस वर्ष पूर्व विवाह में रण्डी ले जाने की कुप्रथा थी। यह कुप्रथा इस समय बिल्कुल उठ गई है। आम जाट-जनता रण्डी के नाच के इतनी विरुद्ध हो गई है कि वह उसे अपने गांवों में देखना नहीं चाहती। कुछ अन्य लोगों की सोहबत से जाट धनी पुरुष शराबख़ोरी की ओर बढ़ रहे थे, महासभा ने उनका आगे क़दम उठाना बन्द कर दिया है। विवाह-शादियों में आतिशबाजी ले जाना भी बन्द हो रहा है। विवाह की फ़िजूलख़र्चियों को घटाकर जाट लोग अपनी जातीय संस्थाओं को दान देना सीख रहे हैं।

महासभा से सम्पर्क रखनेवाला कोई भी आदमी बरात में पचास आदमी से अधिक नहीं लेजा सकता है, न जेवर में फ़िजूल ख़र्ची कर सकता है। सारे ख़र्च वह महासभा के प्रस्ताव के अनुसार करता है। छोटी उम्र की लड़कियों की शादी कर देने का रिवाज भी उठ रहा है। लड़कों की भांति लड़कियों को भी शिक्षा दी जा रही है। इन सुधारों का प्रायः सारा श्रेय जाट महासभा और 'जाटवीर' को है।

एक महान् कार्य जाट महासभा की ओर से यह भी हुआ है कि जिन लोगों को मुसलमानी काल में जबरदस्ती या प्रलोभन से मुसलमान बना लिया

था और जो मलकाने कहलाते थे उनमें जो जाट थे उन्हें जाट भाइयों में मिलाने में सभी जातय-संस्थाओं से अधिक तत्परता जाट महासभा ने दिखाई है।

चौधरी-प्रधान, हेले और ढे के बीच के अनुचित अभिमान से पैदा हुये अन्तर को दूर करने में जाट महासभा ने ख़ूब दिलचस्पी ली है। जाट महासभा ने जाट-जाति को समुन्नत बनाने के लिए वहुत अधिक काम किया है।

राजस्थान

सामाजिक सुधार और शिक्षा में राजस्थान के जाट अन्य दूसरे प्रान्तों से पीछे समझे जाते हैं। वास्तव में ऐसा समझना है भी ठीक, किन्तु यह बात नहीं है कि इस ओर राजस्थान के समझदार जाटों ने प्रयत्न न किया हो। वीकानेर राज्य में चौधरी हरिश्चन्द्रजी वकील श्रीगंगानगर ने अपने मित्रों के सहयोग से वीकानेर के जाटों की शिक्षा के लिए ऐंग्लो-वरनाक्यूलर जाट स्कूल की नींव डाली। चौधरी वहादुरसिंहजी ने इस कार्य में अपनी समस्त शक्तियों को ख़र्च किया। चौधरी जीवनरामजी की कार्य तत्परता और चौधरी पोइकररामजी की दानशीलता से इस विद्यालय को जीवन मिलता रहा। इस विद्यालय से जाट ही नहीं किन्तु अन्य हिन्दू बालकों का भी बहुत कुछ भला हुआ है। इस स्कूल के कर्णधार राजा प्रजा दोनों ही के प्रिय और जाति प्रेमी सज्जन हैं। इस समय स्वामी केशवानंदजी का सहयोग इस विद्यालय को प्राप्त हो रहा है। मास्टर गिरबरसिंहजी विद्यालय के प्रधानाध्यापक हैं। अन्य अनेकों जाट सरदार इस विद्यालय के सहायक हैं। महाराजा बहादुर परम माननीय श्री गंगासिंहजी की सरकार भी विद्यालय के लिए राज्य-कोष से सहायता देकर उसे चिरंजीव रखने का शुभ कार्य कर रही है।

जोधपुर में जाट बोर्डिङ्ग की स्थापना द्वारा जातीय बालकों की सहायता की जा रही है। श्रीमान् बल्देवरामजी मिर्दा सुपरिण्टेडेण्ट इस समय बोर्डिङ्ग कमटी के प्रधान हैं। चौधरी भियांरामजी मोतीरामजी ईसरावा, बा० गुल्लूरामजी, जेतारामजी, कुँ० रामचन्द्रजी मिर्दा इस बोर्डिङ्ग कमैटी के कार्य-कर्त्ता हैं। दरबार जोधपुर से भी इस छात्रावास को सहायता मिलती है। चौधरी बल्देवरामजी जोधपुर के जाटों के परम शुभचिन्तक और कर्णधार हैं।

नागौर में जो बोर्डिङ्ग है उसके संस्थापक देवता स्वरूप चौधरी मूलचन्दजी हैं। क़ौम की उन्नति के लिए उनके रोम-राम में लगन है। इस बोर्डिङ्ग को भी जोधपुर राज्य से कुछ सहायता मिलती है।

अजमेर-मेरवाड़े में एक जाट कृषाण नाम की सभा है, उसके कार्य-कर्त्ता पटेल रामप्रतापजी मकरेड़ा, चौ० श्यौवक्सजी जेठाना, चौधरी कज्जाजी सराधना और चौधरी गुलाबचन्दजी अजमेर हैं। इन लोगों ने पुष्कर में लगभग छत्तीस हज़ार रुपया चंदा करके एक मन्दिर बनवाया है।

पुष्कर महोत्सव के समय शेखावाटी में शेखावाटी जाट सभा नाम की एक संस्था स्थापित हुई थी। उसके मंत्री चौधरी रतनसिंहजी पिलानी बी० ए० थे। चौधरी रामसिंहजी, चौधरी गोबिन्दरामजी और चौधरी भूदाजी उनके सहायक थे। कुँवर पन्नेसिंहजी भी इस सभा में भाग लेते थे। इस सभा ने "शेखावाटी के जाट" नामक एक पुस्तक भी प्रकाशित कराई थी।

इसी समय राजस्थान में एक सितारा चमका था। उसने अन्धकार को दूर करने के लिए काफ़ी प्रयत्न किया, वह पंडित जयरामजी मठा निवासी थे। वे जाट जाति के रत्न और दादूपंथी साधू थे। पुष्कर के महोत्सव के बाद उन्होंने राजस्थान में जाग्रति के लिए ख़ूब प्रयत्न किया किन्तु वह समय से पहिले स्वर्गवासी हो गए।

उनके पश्चात् स्वामी बालदासजी और कुँवर हरलालसिंहजी ने राजपूताने के जाट शिक्षा-मण्डल का आयोजन किया, किन्तु काम बड़े पैमाने पर खोल देने के कारण वे सफल नहीं हुए।

पुष्कर महोत्सव के समय पर "राजपूताना अजमेर मेरवाड़ा जाट क्षत्रिय" सभा की भी स्थापना हुई थी। जाट-जगत् के चिर-परिचित युवक नेता कुँवर रतनसिंहजी उसके प्रधान और श्रद्धेय भाई (मास्टर) भजनलालजी मंत्री थे।

चौधरी लादूरामजी "जाखड़" जाटवीर के द्वारा राजस्थान के जाट भाइयों की दशा पर प्रकाश डालते थे। वह कुछ भाइयों को उत्साहित भी करते रहते थे।

सन् १९३० ई० में राजस्थान महा सभा का उत्सव देहली में हुआ, उस समय राजस्थान जाट-क्षत्रिय सभा की स्थापना हुई। कुँवर रतनसिंहजी को प्रधान और इन लाइनों के लेखक को मंत्री बनाया गया। कुँवर पन्नेसिंहजी उपमंत्री थे। झुंझनूं का महोत्सव इसी सभा के निमंत्रण पर हुआ था। झुंझनूं जाट महा सभा का महोत्सव एक ऐतिहासिक महोत्सव था। इसमें साठ हजार जाट इकट्ठे हुए थे। हाथी पर प्रधान का जुलूस निकाला गया था। इसके पश्चात् राजस्थान सभा ने अपना प्रथम वार्षिकोत्सव सराधने में कुँवर बलरामसिंहजी एम० बी० बी० एस० के सभापतित्व में मनाया। इस वर्ष सीकर में इसी सभा के तत्वावधान में यज्ञ हो रहा है। इस समय सभा के आधीन दो उपदेशक और चार पाठशालायें हैं। दानवीर चौधरी लादूरामजी रानीगंज के दान से तथा स्थानीय सहयोग से पाठशालायें चलती हैं। अब तक सभा ने ठोस काम यह किया है कि इन पाठशालाओं में लगभग १२५ बालक शिक्षा पाते हैं। अजमेर-मेरवाड़े से समस्त नाम के नुकते को उठा दिया है। जयपुर, जोधपुर, बीकानेर, करौली, किशनगढ़ और अजमेर-मेरवाड़े के लगभग पाँच हजार जाट स्त्री-पुरुष और बालकों के जनेऊ संस्कार करा दिये हैं। खंडेलावाटी से कई फ़िजूल ख़र्चियों को हटा दिया है। शेखावाटी में नुकते का नाम भी नहीं रहने दिया है। सरदार हरलालसिंह, चौधरी रामसिंह, ठा० किशनलालजी धाना, पटेल रामप्रतापजी, बाबू भैरोंसिंहजी, कुँ० पन्नेसिंहजी और मास्टर भजनलालजी ने दिल तोड़ कर क़दम को आगे बढ़ाने का प्रयत्न

किया है। चौ० दलेलसिंह, चौ० गोविन्दराम, कुँ० पृथ्वीसिंह और खंडेलावाटी जाट पंचायत के मेम्बर ठा० देवासिंह तथा कुँ० भूरसिंह और नेतरामसिंहजी ने सहायता देने में पूरा हाथ बटाया है। चौधरी चिमनरामजी और चौधरी लादूरामजी किसारी राजस्थान सभा के प्रेमी सहायक रहे हैं।

खंडेलावाटी जाट पंचायत राजस्थान-जाट-क्षत्रिय-सभा से भी एक वर्ष पुरानी है। उसका महोत्सव इसी वर्ष वैसाख के महीने में हुआ था। प्रेसीडेण्ट चौधरी लादूरामजी रानीगंज और मंत्री हरवक्तसिंहजी हैं। कुँ० भगवानसिंहजी, चौधरी गोविन्दरामजी, बालूरामजी, कुँ० नारायणसिंहजी, कुँ० मांगूरामजी, ठा० देवासिंहजी और कुँ० मोतीरामजी इसके उत्साही कार्य-कर्ता हैं। ला० मूलचंदजी इस पंचायत के जन्मदाता हैं जिन्हें कि वैश्य होते हुए भी जाटों से प्रेम है।

राजपूताने में जयपुर-प्रान्तीय जाट सभा और जाट-कुमार सभा भी हैं। मा० प्रतापसिंहजी मंत्री, बा० मूलसिंहजी कोषाध्यक्ष हैं। अजमेर-मेरवाड़ा जाट-कुमार सभा के मा० नारायणसिंह, मा० किशनलाल और कुँवर सूआलालजी कार्य-कर्ता हैं।

बा० भैरोंसिंहजी और कुँवर पन्नेसिंहजी, चौधरी हरिश्चन्द्र के सुपुत्र की मृत्यु से राजस्थानी जाटों की बहुत बड़ी हानि हुई है। झुंझनूं में एक जाट बोर्डिङ्ग हाउस है जो कि नवस्थापित संस्था है, किन्तु आशा है कि आगे उन्नतशील अवस्था में पहुँच जायगा। यह संक्षिप्त वर्णन राजस्थान की जाग्रति का है।

संयुक्त प्रदेश

आगरा जिला में एक जिला जाट सभा है। उसके प्रधान कार्यकर्त्ता सूबेदार करनसिंह, मास्टर हेतराम, हकीम चुन्नालालजी हैं। भरतपुर सप्ताह के समय इस सभा ने भी खूब काम किया था। ज़िला बदायूँ में सन् १९२८ ई० में बदायूँ ज़िला जाट सभा का एक वार्षिक अधिवेशन कुँवर रतनसिंहजी के सभापतित्व में हुआ था। ठाकुर रामलालजी हाला और चौधरी कुन्दनसिंहजी इन्सपेक्टर इस ज़िले के खास कार्यकर्त्ता हैं।

मुज़फ्फ़रनगर में एक जाट बोर्डिङ्ग हाउस है। उसके सुपरिन्टेण्डेण्ट ठा० शेरसिंहजी हैं जो कि बड़े उत्साही सज्जन हैं।

एक बोर्डिङ्ग हाउस आगरा में है। इसके संस्थापक कुँवर हुकमसिंहजी और चौधरी कन्हीरामजी "जाट हितकारी" के सम्पादक हैं। इस समय चौधरी कन्हीरामजी इस संसार में नहीं हैं, किन्तु वह जाट जाति के लिए अमर हैं। उन जैसे परिश्रमी और लग्नशील आदमियों की बहुत कमी है। उन्होंने जाट कान्फ्रेन्स की स्थापना में कुँवर हुकमसिंहजी की बड़ी सहायता की थी। 'जाट हितकारी' नाम का पत्र भी निकाला था। कई ज़िलों का भ्रमण करके जाट जाति की हालत देखी थी। हमें बताया गया है कि वे अपनी घोड़ी पर चढ़ कर गाँवों में जाते थे। स्वयम् ही घास खोद कर घोड़ी को डाल देते थे और फिर शाम को उपदेश करते
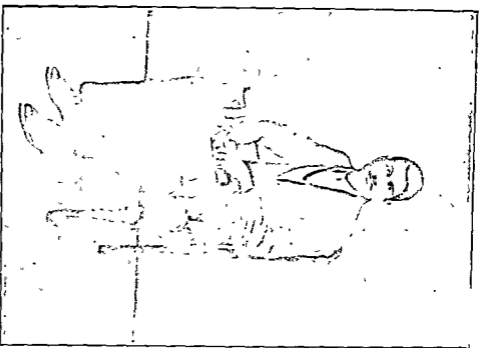
पं० ताड़केश्वर जी शर्मा, पचेरी (जयपुर)
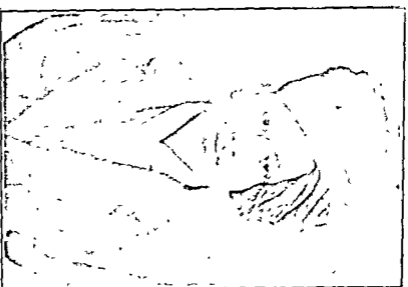
कुं० पद्मसिंहजी, परिहार कठवारी (आगरा)

जाट-जाति के सुप्रसिद्ध कवि तथा लेखक—

ठा० रामबाबूसिंह जी "परिहार" जमींदार

कटघारी-आगरा।

थे। राजपूताने में अजमेर-मेरवाड़े और जयपुर के गाँवों में उन्होंने भ्रमण करके जाति की दशा को देखा था। वे पक्के और सच्चे आर्यसमाजी थे। उनके सुपुत्र श्री रत्नाकरजी शास्त्री आजकल भरतपुर में मजिस्ट्रेट हैं जो कि अपनी नेकनामी के लिए प्रसिद्ध हैं।

विजनौर जिले की जाट सभा के गढ़मुक्तेश्वर के मेले में कई जल्से हुए हैं। इसके सिवा जाट सभा जिला मथुरा, जाट उपकारिणी सभा बुलन्दशहर, जाट सभा तहसील हापुड़, जाट सरकिल सभा सैदपुर, जाट सभा जिला अलीगढ़ और मेरठ जिला जाट सभा भी इस प्रान्त में हैं।

सी० पी०—सी० पी० प्रान्त में जाट सभा नरसिंहपुर, जालन्धर जाट सभा, सिन्धी वर्द्धा नाम की जाट संस्थायें हैं। कुँवर नारायणसिंहजी इस जिले के मुख्य कार्यकर्त्ता हैं।

इन्दौर में भी एक जाट सभा क़ायम हुई थी जिसका नाम मध्य भारत जाट क्षत्रिय सभा था। एक सभा मालवा प्रदेशीय जाट सभा के नाम से है। उसके मंत्री कुँ० नारायणसिंहजी भाटी हैं। आप सिख सरदार हैं। आप अपने लिए पहिले जाट और पीछे सिख समझते हैं। आपके सभी भाई विद्वान् देशभक्त हैं।

उत्तरी गुजरात खेरालू में एक अंजना चौधरी सभा है जिसके अवैतनिक मंत्री श्री रमण भाई धीर भाई देसाई हैं। अंजना चौधरी जाट ही हैं। यह गुजरात राजाओं के त्रत्रप रहे हैं। इनमें जागीरदार भी हैं। देशाई उपाधि भी इनके नाम के साथ लगाई जाती है। हमारे मत से यह अंधक-वंशी हैं। जाटों के पुरुषा श्रीकृष्ण के संघ में अंधक लोगों के उग्रसेन प्रतिनिधि थे।

पंजाब

पंजाब के जाटों ने शिक्षा सम्बन्धी उन्नति खूब की है। वे इन सभी प्रान्तों से आगे हैं। यह पंजाब के जाटों को सौभाग्य प्राप्त है कि उनके चार व्यक्ति पंजाब के मिनिस्टर पद पर रह चुके हैं। जिनमें दो हिन्दू जाट, एक सिख जाट और एक मुसलमान जाट हैं। बड़ी कौंसिल में भी पंजाब के ही जाटों ने अन्य प्रान्त के जाटों से अधिक शीट प्राप्त की हैं। खेड़ागढ़ी, रोहतक, हिसार आदि में उनके हाईस्कूल हैं और एक दो गुरुकुल भी उनके खर्च से चलते हैं। पंजाब के हिन्दू जाटों में पहिला नम्बर रोहतक का है।

देहली में देहली सूबा जाट सभा है। पं० सूर्यकान्त शास्त्री, चौधरी उमरावसिंह आदि सज्जन इस संस्था के कार्यकर्त्ता हैं।

जाट संस्थाओं का यह संक्षिप्त इतिहास है। इन संस्थाओं द्वारा जाति की महान् सेवा हुई है और अनेक महान् आत्माओं ने इन संस्थाओं में काम किया है, जिनकी कीर्ति उनके सजातीय बन्धु बखान करते हैं।

चतुर्दश अध्याय

परिशिष्ट (१)

जाट-शब्द के सम्बन्ध में

जैसा कि हमने पिछले अध्यायों में लिखा है कि जाट-शब्द संघ का बोधक है। पाणिनी के धातु पाठ का हवाला इस कथन के लिये पर्याप्त है। जनरल कनिंघम ने जाट-शब्द के अर्थ बौद्ध-ग्रन्थ अभिधान के अनुसार अपने सिख इतिहास की पाद टिप्पणी में जाति के लिखे हैं। जाति मनुष्य समूह को कहते हैं, किन्तु जाट वंशों का समूह है। कौटिल्य ने संघ और जाति दोनों को एक स्थान पर एक ही माना है। हिस्ट्री आफ़ जाट्स के लेखक प्रोफ़ेसर क़ानूनगो भी यही बात कहते हैं कि जाट संघ है और उसमें अपने वंश शामिल हैं। वे लिखते हैं:—"*पुराने यादव आजकल के जाटों की भाँति एक ही जाति के न थे, बल्कि एक संमिश्रित जाति और जातियों का संघ था। जिसमें कि अंधक, भोज, कुक्कुर व दशार्ण आदि क़ौमें शामिल थीं। जिस प्रकार यदु बहुत थे उसी प्रकार आजकल के जाट हैं।*" हम कहते हैं जाटों में अंधक, भोज, कुक्कुर और दशार्ण आज भी पाये जाते हैं जो कि अंधल, भोजा और दसौरे अथवा दसपुरिया नामों से मशहूर हैं, इनके अलावा गाँधार, पाण्डव, कौरव और मद्र लोगों के जाटों में होने का उल्लेख पिछले अध्यायों में हमने कर दिया है। कहने का सारांश यही है कि जाट नाम अनेक राज-वंशों के संगठन के कारण (संगठित समूह का) पड़ा है। कब पड़ा? तिथि और संवत् बता देना तो उतना ही कठिन है कि ब्राह्मण राजपूत और कायस्थ नाम पड़ने की तिथि बता देने के सम्बन्ध में है। पर हम इतना कह सकते हैं, जैसा कि इस इतिहासमें हमने लिखा भी है कि वह समय ईसा से बहुत पहिले कृष्णकाल का है। चूँकि पाणिनी ईसा से ६०० वर्ष पहिले हुआ है, इसलिये यह मान लेना तो निहायत भूल है कि बौद्ध-काल में भिक्षु संघों का भाँति जट (संघ) भी बन गया। जट (संघ) में जितने भी वंश हैं वे योद्धा और क्षत्रिय जाति के हैं। इसलिये यह निश्चित है कि उनका संघ

(फेडरेशन) राजनैतिक कारणों से बना होगा। समस्त हिन्दू ग्रन्थों में राजनैतिक क्रान्ति (हेर फेर) हम केवल चार बार देखते हैं—(१) दाशराज्ञ युद्ध जो कि वैदिक काल में हुआ था और वेदों में ही जिसका वर्णन है। उस समय भी यदु तुर्वस लोगों के साथ कुछ अन्य अनार्य जातियाँ सम्मिलित हुई थीं। अर्थात् भरत लोगों के विरुद्ध एक संघ बना था। (२) मनु के साथ पट्टा—शतपथ और महाभारत के लेखानुसार—अराजकवाद से घबराकर ऋषि समूह मनु के पास ब्रह्मा की आज्ञानुसार गये और मनु को कुछ शर्तों के साथ राजा बना दिया। किन्तु इस समय किन्हीं वर्गों का अथवा राजवंशों का संघ बना ऐसा वर्णन हम नहीं पाते हैं। यह क्रान्ति अवश्य थी। (३) परशुराम—क्षत्रिय संघर्ष का तीसरा राजनैतिक हेर-फेर है। क्षत्रिय ब्राह्मणों से लड़े अवश्य किन्तु वे संगठित भी हुए यह उल्लेख हमें नहीं मिलता है। (४) यादव-कलह से समस्त संसार परिचित है। इस बात को आज सभी विद्वान् मानते हैं कि श्रीकृष्ण प्रजातन्त्री विचार के थे और जरासन्ध, कंस और दुर्योधनादि साम्राज्यवाद के समर्थक। सब से प्रथम श्रीकृष्ण भगवान् ने गोप लोगों को जो कि प्रजातन्त्री थे, कंस के विरुद्ध उभाड़ा था। वृष और गोपों को संगठित करने की भी चेष्टा की थी। कंस से निबट लेने के पश्चात् उन्होंने द्वारिका में जाकर जहां कि प्रजातन्त्री और अराजकवादी जातियों के समूह अधिक थे, अन्धक और वृष्णि लोगों का एक संघ बनाया जो कि ज्ञाति कहलाता था और जिसका कि महाभारत में भी वर्णन है।

हिन्दू ग्रन्थों में यह चार राजनैतिक हेर-फेर हमें मिलते हैं जिनमें दो का हमें ऐसा इतिहास मिलता है कि क्षत्रियों के भिन्न-भिन्न कुल व राजवंशों ने मिलकर संघ बनाया। दाशराज्ञ युद्ध के समय का जट (संघ) नहीं है इस बात के लिए इतना ही लिखना काफ़ी है कि वह अति प्राचीन बात है। तब इसमें कोई सन्देह करने की गुञ्जायश नहीं रह जाती है कि जाट ज्ञात हैं जो कि श्रीकृष्ण के स्थापित संघ (ज्ञाति) के नियमों को मानने से इस नाम को प्राप्त हुए हैं। अरब में उनका ज्यत कहलाना भी इसी बात को बतलाता है कि उनका जाट नाम संस्कृत के ज्ञात से प्राकृत भाषा में जाट हो गया है। पाणिनी जो कि उत्तर भारत में पैदा हुआ था उनके इतिहास और उनके यह नाम पड़ने के कारण से भली-भाँति परिचित होगा।

जाटों के दो बड़े समूह शैव्य (शिव वंशी) और काश्यप भी इसी बात को सिद्ध करते हैं कि जाट जाति अनेक राजवंशों का समूह है। एक तीसरा समूह उनमें नाग लोगों का भी है। फिर यह किसी भी भांति नहीं माना जा सकता कि ये किसी एक मनुष्य की सन्तान से इतने बढ़ गये हैं। वीर भद्र आदि शिव-गणों की कथा जो जाटों के सम्बन्ध में बहुत प्रसिद्ध है सिद्ध कर देती है कि जाट, गण (संघ) हैं। इन्हीं बातों को सामने रखने से न ये 'मुजटा' हैं और न 'जरिका'। इस सीधी और सही बात को मान लेने के बाद उनकी उत्पत्ति की खोज के लिए दिमाग़ खपाने का कोई काम शेष नहीं रह जाता कि "जाट संघ वाची शब्द है" और उनका संघ ऐसा है जिसमें अनेक प्राचीन और मध्यकालीन राजवंश प्रविष्ट हैं।

वर्तमान समय में जाटों की संख्या लगभग एक करोड़ है, जो कि समस्त भारत की जन-संख्या का पैंतीसवाँ भाग है। भारत में जातियों की विभाजन संख्या दो हज़ार से ऊपर है। इस तरह भारत की प्रत्येक जाति से जाट अधिक हैं। कहा जाता है कि ब्राह्मणों की संख्या उनसे अधिक है, किन्तु काश्मीर का ब्राह्मण और मद्रास का ब्राह्मण सामाजिक सम्बन्ध में एक-दूसरे से बिल्कुल अलग है। जाट चाहे जहाँ रहता हो जाट ही है। खान-पान और शादी-व्यवहार में वे परस्पर एक हैं।

संख्या और विस्तार

प्राचीन समय में उनकी संख्या आज से बहुत ज्यादा थी। इस कथन की साक्षी में हम जनरल कनिंघम के सिख इतिहास से यहाँ कुछ लाइनें देते हैं। उनका कहना है:—

"इस समय बराबर इस शब्द से वह कोई एक सम्प्रदाय ही जाना जाता है। जाट लोग एक ओर राजपूतों के साथ और दूसरी ओर अफ़गानों के साथ मिल गये हैं, किन्तु यह छोटी-छोटी जाट जाति की शाखा सम्प्रदाय पूर्व अंचल के 'राजपूत' और पश्चिम के 'अफ़गान' और 'बिलोची' के नाम से अभिहित हैं। अन्यान्य जातियों की वंशावली की आलोचना करने से बेशुबहा प्रमाणित होता है कि वह लोग भी 'अफ़गान', 'राजपूत' या 'जाट' जाति के अन्तर्भुक्त हैं। कितने ही इतिहास लेखकों ने ऐसा ही लिखा है कि यह जाट-वंश राजस्थान के ३६ विभिन्न स्वेच्छाचारी राजवंशों में एक प्रबल पराक्रान्त राजवंश है। अधिकतर जाट जाति "चन्द्रवंश संभूत" और भोटिया लोगों के वंशधर के नाम से परिचय देती है। टाड साहब ने 'वर्क' या विर्क नामक विख्यात जाति का "चालुक्यवंशीय" जाट जाति के वंशधर के नाम से परिचय दिया है। उन्होंने और भी कहा है कि काकुर और ककार सम्प्रदाय के जाट और 'कुकार' 'कोकुर' और 'काकुर' नामक अफ़गान जाति भी उसी वंश संभूत है।"

इस कथन से स्पष्ट प्रकट है कि जाटों का एक बड़ा हिस्सा राजपूत, अफ़गान और बिलोचों में बँट गया। यही क्यों और भी अनेक जातियों में निकल गया। ईसायत, इस्लाम और वर्त्तमान पौराणिक धर्म सभी ने उनकी संख्या घटाने में शक्ति खर्च की है। इस तरह से जाटों को इन धर्मों से बहुत हानि उठानी पड़ी है। यूरोप की ओर गए हुए जाट समुदायों को ईसायत निगल गई और अफ़ग़ानिस्तान, ईरान, अरब, तुर्किस्तान और बिलोचिस्तान के जाटों को इस्लाम खा गया। यही क्यों सिन्ध और पंजाब में भी लगभग २० लाख जाटों को इस्लाम निगले हुए है।

हैं। पौराणिक धर्म के संघर्ष ने भी जाटों को राजपूत, गूजर और काठी आदि अनेक दलों में बाँट दिया है। सत्रहवीं सदी में जन्म लेने वाले सिख-धर्म ने यद्यपि जाटों में नव-जीवन का संचार किया था, किन्तु जातीयता को उससे धक्का न लगा हो, ऐसी बात नहीं है। भरतपुर के राजवंश को अपने लिए "जाट" कहने में जितना अभिमान होता है, उतना सिख-धर्म के मानने वाले जाटों को नहीं। वे पहिले सिख और पीछे जाट हैं। यदि कोई समुदाय अपने लिए पहिले भारतीय और पीछे और कुछ कहे तो यह राष्ट्र के लिए सौभाग्य की बात है। किन्तु वह जाति की अपेक्षा सम्प्रदाय को प्रेम करे तो यह दुर्भाग्य की बात है। इसी भांति पंजाब के मुसलमान-जाट पहिले मुसलमान और पीछे जाट अपने लिए कहने में अभिमान समझते हैं। हालांकि सिख और मुसलमान दोनों ही भांति के जाटों को वैवाहिक सम्बन्धों के लिए अपनी जाति का ही सहारा मिलता है। वर्तमान आर्य-समाज ने शिक्षा सम्बन्धी उन्नति में जाटों को बहुत ऊंचा उठा दिया है, किन्तु जाटों की संख्या कम करने में इस संस्था का भी उद्योग जारी है। सन् १६३१ ई० की जन-गणना की रिपोर्ट देखने से पता चलता है कि अकेले संयुक्त-प्रदेश में हजारों जाटों ने अपने लिए आर्य लिखाया है। राजस्थान में लगभग चौथाई लाख जाट विश्नोई हैं, जोकि अन्य जाटों के साथ कोई घनिष्ट सम्बन्ध नहीं रखते हैं। इन विभिन्न धर्म सम्प्रदायों ने जाट जाति को घटाया ही है। इस तरह एक जाति का अनेक सम्प्रदायों में बट जाना राष्ट्र हित के लिए तनक भी लाभदायक नहीं है।

हमारा मुख्य कथन तो यह है कि जाट जाति अब से लगभग अठारह सौ वर्ष पहिले तक कई करोड़ की संख्या में थी। जाट-जगत् हमें इस कड़वी सचाई के लिए क्षमा करेगा ऐसी आशा नहीं कि "जटिया अथवा जाटव नाम के चमार उसी भाँति जाटों से बहिष्कृत किए हुए लोग हैं जिस भाँति कि चन्देरे चमार चन्देल राजपूतों द्वारा बहिष्कृत किये हुए हैं।" हम बौद्ध धर्म की महायान और हीनयान नामक दो शाखाओं से भली भाँति परिचित हैं, और यह भी जानते हैं कि बौद्ध-धर्म हिंसा का विरोधी है, फिर भी तिब्बत के बौद्ध मरे हुए (हलाल किए हुए नहीं) पशुओं का मांस खा लेने में कोई परहेज नहीं करते। जाटव जोकि आज-कल अपने को यादव और राजपूत भी कहते हैं और जिनके कथन का समर्थन कोटला-धीश श्रीमान् राजा कुशालपालसिंहजी राजपूत वंश संभूत ने भी किया है[१] बौद्ध-काल के निरामिष भोजी जाट क्षत्रियों द्वारा बहिष्कृत किये हुए जाट हैं जोकि उत्तरोत्तर पतित होते गए।

महाभारत युद्ध की समाप्ति और यादव-गृह-युद्ध के बाद जाट (ज्ञातिवादी समूह) भारत और उससे बाहर सभी मुल्कों में फैल गए थे। यूरोप का कोई भी

१—'क्षत्रिय सेवक' वर्ष १ संख्या ५। राजा साहब जाटव (चमारों) को यादव राजपूत मानते हैं।

ऐसा देश नहीं जिसमें जाट न पहुँचे हों। ईरान में तो वे इतनी अधिक संख्या में बसे हुए थे कि अनेक इतिहासकारों को उन्हें शक व इण्डोसिथियन समझ लेना पड़ा। प्रोफ़ेसर कालिकारंजन क़ानूनगो ने लिखा है:—

"भारत की सीमा से उत्तर तथा पच्छिम की ओर जाट जाति किस प्रकार गई इसका कोई प्रमाणिक इतिहास नहीं मिलता, क्योंकि भारतीय इतिहास के आरम्भ में उन्होंने किरमान, मसूर के अन्तर्गत ईरान के सहारे के प्रदेशों पर अपना अधिकार जमा लिया था। जैसा कि अरब के इतिहासों से प्रकट है, हिन्दू जाति के यही पहिले पुरुष थे जिनसे अरब वालों का वास्ता पड़ा। अरब वाले तमाम हिन्दुओं को केवल जाट नाम से पुकारते थे। उन्होंने पीछे से एक बड़े हिन्दू राज्य को स्थापित किया और मुसलमानों के क्रूर आक्रमणों के पहिले से इन्होंने सिन्ध नदी की ओर लौटना आरम्भ कर दिया। जाटों की कुछ टोलियाँ पूर्व की ओर भी हटीं जिससे मालूम होता है कि ये भारतीय युद्ध-प्रिय आक्रमणकारी थे।"

ईरान और अफ़ग़ानिस्तान से पूर्व (यूरोप की) ओर बढ़ने वाले ही लोग गाथ, जेटी, जोथी और गिप्सी आदि अनेक नामों से प्रसिद्ध हुये थे और उन्होंने लगातार छः सदी तक यूरोप के प्रायः सभी देशों के भागों पर राज्य किया था। उनकी निन्दा, स्तुति, बहादुरी और सहन-शीलता तथा युद्ध और व्यवस्था के वर्णन से यूरोप के प्राचीन इतिहास भरे पड़े हैं। किन्तु ईसाइयत के अजगर ने आज उनका वर्णन केवल इतिहासों के पृष्ठों की चीज़ रहने दिया है। उनमें से जिन्हें यह पता है कि उनके पूर्वज भारतीय थे उन्हें भी अपने प्राचीन देश भारत से अब कोई सहानुभूति नहीं।

प्रोफ़ेसर क़ानूनगो जाटों की क्षति के सम्बन्ध में एक बात और भी कहते हैं:—
"ईस्वी सन् की आरम्भिक शताब्दियों में मध्य ऐशिया से आने वाले बहुत से गिरोहों ने जाट तथा अन्य भारतीय जातियों में से कुछ को तो इस संसार से मिटा ही दिया और कुछ को भगा कर सिन्ध नदी के किनारे जा पहुँचाया। अब सिन्ध का अगम्य रेगिस्तान जाटों का नवीन स्थान बना और संस्कृत जातियों से संमिश्रण असंस्कृत जीवन तथा जाति के नियम और ब्राह्मणों की शिक्षा के प्रति लापरवाह होने के कारण उन्हें जाति च्युत होना पड़ा। कट्टर ब्राह्मणत्व की दृष्टि में क़ाबुल के अल्प संख्यक हिन्दुओं की तरह वे भी अर्द्ध म्लेच्छ समझे जाने लगे। सम्भवतया इसी कारण से चीनी यात्री ह्वानच्वांग सातवीं

शताब्दी में सिन्ध देश के राजा को शूद्र कहता था। अलवरुनी ने भी ग्यारहवीं शताब्दी में जाटों को इसी दशा में पाया। वहाँ वे खेती करने लगे और पुराने ही संगठन (प्रजातन्त्र) से रहे, परन्तु बाद में उनमें भी एक-तंत्र राज्य की नींव पड़ गई।"

जाट भारतीय हैं

जाट आर्य हैं और वे यदुओं के सिवा और कुछ हो नहीं सकते। इस सम्बन्ध में पिछले अध्यायों में हमने काफ़ी लिखा है। जब वे आर्य हैं और अधिकांश में यादव ही हैं तब वे न तिब्बती हैं और न ईरानी। हाँ, इन प्रदेशों में उन्होंने अपने राज्य अवश्य क़ायम किए और साथ ही बस्तियाँ भी आबाद कीं। क्योंकि यदुओं की संख्या इतनी बढ़ चुकी थी कि भारत के बाहर उन्हें बस्तियाँ आबाद करना अनिवार्य हो गया था। अरबी की "मुअज्जिमुत्तवारीख" में लिखा है कि:—"*मनसूरा और किरमान पर जाटों का अधिकार है और इस जाति ने अरबों से सब से पहिले लड़ाई ली थी*[१]।

तामिल भाषा में "मणि मेखले" नामक एक ग्रन्थ है, उसमें जाट जाति के अभिमान और शौर्य का वर्णन किया हुआ है[२]। बौद्ध ग्रन्थ अभिधान में जाट जाति की विशेषता का उल्लेख है। जिन वंशों का जट (संघ) में निशान है वे भारत के वैदिक रामायण और महाभारत कालीन राजवंश हैं और जिनके वर्णन से सारा आर्य-साहित्य भरा पड़ा है।

यदि जाट यूरोप से आये हुए गेटा होते तो अरबों से किरमान के जाटों से पूर्व यूरोप से आते हुए गाथ अथवा गेटाओं का युद्ध होता और दक्षिण भारत के "मणि मेखले" के ग्रन्थकार को उनके सम्बन्ध में गाथ से जाट बनने का पूरा पता होता और वह गाथ शब्द का अवश्य प्रयोग करता। क्योंकि भारतीय लिपि पूर्ण है। न जाटों में गांधार, पांडु और अंधक, दशार्ण का पता होता, क्योंकि जाट कोई धार्मिक संघ तो था नहीं जो इन भारतीय राजवंशों को अपना मुरीद बना लेता। इस सम्बन्ध में विदेशी लेखकों के सिवा हम अनेक देशी इतिहासकारों के मत पिछले अध्याय में दे चुके हैं। यहाँ श्री कालिकारंजनजी क़ानूनगो का एक मत देकर इस विषय को समाप्त करते हैं—

"यदि जाटों का निकास ठीक तौर से मालूम करना है तो हमें मुख्य धार में चलना चाहिए शाखों में नहीं। यह कहना कि जाटों का निकास बाहर से आने वाली कौमों से है, क्योंकि बाहर से आने वाली कुछ कौमें

१—यह तवारीख़ सन् ६१२ में लिखी गई थी। २—ब्रजेन्द्र वंश भास्कर। पे० ११।

जाटों में शामिल हो गई उसी प्रकार असम्भव है जैसा कि गंगा को निकलने के लिए हिमालय से निकलने के बजाय विन्ध्याचल से निकलना बताया जाय; क्योंकि सोन नदी जो उसमें गिरती है विन्ध्याचल से भी पानी लाती है।"

यही महानुभाव जाट हिस्ट्री के दूसरे पृष्ठों में लिखते हैं कि:—"हम इतना जानते हैं कि कोई वैज्ञानिक कारण (फिलालाजिकिल) या (एथोनोलोजीकल) इनके भारतीय आर्य होने के विपक्ष में नहीं है। ये न सिथियन हैं, न जथरा हैं; ये मध्य ऐशिया के जथरा पहाड़ों से आने वाले नहीं हैं, किन्तु सच्चे भारतपुत्र हैं जिन्होंने मालवा और राजपूताना को पंजाब से जाने के पहिले अपने पुरुषों का घर बतलाया था। जाटों से इस बात को स्वीकार कराना कि वे पुराने यादवों की सन्तान नहीं हैं बहुत मुस्किल है।"

यहाँ हमें एक बात याद आती है कि भारतेन्द्र महाराज जवाहरसिंहजी को एक सलाहकार ने राय देते हुए कहा कि महाराज! जयपुर नरेश भगवान् राम की सन्तान हैं जिन्होंने लंका का समुद्र बांधा था। इसलिए उन पर चढ़ाई न करिये। इसके उत्तर में महाराज जवाहरसिंह ने कहा—"हम भी तो भगवान् कृष्ण की सन्तान हैं जिन्होंने सात दिन तक पहाड़ को उँगली पर उठाये रक्खा था।" हमने यह भी सुना है शेखावाटी के राजपूतों ने 'जय गोपीनाथजी' की करना इसलिए छोड़ दिया है कि कृष्ण तो जाटों का पुरुषा था। वे सब परस्पर 'जय रघुनाथजी' की करते हैं।

जाट-प्रदेश

सिन्ध, पंजाब, देहली, संयुक्त-प्रदेश और राजस्थान जाट प्रदेश के नाम से पुकारे जा सकते हैं। गुजरात, महाराष्ट्र प्रदेश में उनकी संख्या कम है। काठियावाड़ के काठियों में जेठी एक गोत्र है, किन्तु वे आज-कल अपने को जाट नहीं कहते हैं। पटेलों के सम्बन्ध में हमें बताया गया है कि जाटों का और उनका अति निकट सम्बन्ध है। गुजरात में अंजना चौधरी रहते हैं। हमें उनके सम्बन्ध में कुछ भी पता न था किन्तु वे जाट हैं। उन्हीं के एक प्रतिनिधि के पत्र को हम यहां प्रकाशित करते हैं जो उन्होंने खण्डेलावाटी जाट पंचायत के सरपंच चौधरी लादूरामजी को लिखा है। इससे जनरल कनिंघम की यह बात बिल्कुल सही हो जाती है कि भारत की अनेकों जातियों की वंशावली की समालोचना करें तो उनमें जाटों के वंशज मिलेंगे। अंजना चौधरियों के सम्बन्ध का पत्र इस प्रकार है—

From,
Ramanbhai Dhirubhai Desai
Hon. Secretary Anjana Chaudhri Kshatriya
Youth League.

DESAI VADO
KHERALU
(North Gujrat)
via Mehsana,
26th December. 1933

To,
Laduram Chaudhari,
Sar Panch Jat Panchayat,
Sekha Vati,
Jaypur (Rani Ganj.)

Dear Sir,

I, the undersigned the Hon. Secretary of the Anjana-Chaudhari Khsatriya Youth League, beg to request you to provide me with the following informations if you at all can find from your History of Jat Sardars just published known from your Jat Bulletin No. 5 or from your personal knowledge.

We, here, believe that your Jat Chaudhari population of Northern India is the same as our Anjana Chaudhari population of Gujarat. Does the belief tally with the facts of your History? Just as Jat Sardars, we have here Vatandar or Inamdar Desais, in other words, Sardars of the various Governments in Gujarat.

Hoping to be favoured with an early reply by the above mentioned address.

I remain, yours faithfully,
Ramanlal Dhirubhai desai,
Hon. Secretary Anjana Chaudhari Kshatriya
Youth League.

भेजा—रमणभाई धीरूभाई देशाई,
अवैतनिक-मंत्री, अंजना चौधरी-क्षत्रिय युवक संघ
देसाई वाडू खेरालू (उत्तर गुजरात)
वीया—मेहसाना

सेवा में
ता० २६ दिसम्बर १६३३

लादूराम चौधरी, सरपंच जाट-पंचायत शेखावाटी
जयपुर (रानीगंज)

प्रिय महाशय,

मैं अंजाना चौधरी-क्षत्रिय-युवक-संघ का अवैतनिक मंत्री आपसे निवेदन करता हूँ कि कृपया आप नीचे लिखी वात का विवरण यदि आपके जाट सरदारों के इतिहास से जिसके छपने की वात आपके जाट वुलेटिन नं० ५ से मालूम हुई है, या अपने निजी अनुभव से लिखने की कृपा करें।

हमारा ख़याल है कि उत्तरी भारत के जाट चौधरी और गुजरात के हम अंजाना चौधरी एक ही वंश के हैं। क्या यह वात आपके इतिहास से प्रमाणित होती है ? ठीक जाट सरदारों की तरह हमारी ओर भटएडार या इनामदार देशाई यानी गुजराती राजाओं के भिन्न-भिन्न सरदार हैं।

आशा है आप कृपा कर शीघ्र ही उपरोक्त पते पर पत्रोत्तर देने की कृपा करेंगे।

मैं हूँ, आपका विश्वासी

हस्ताक्षर—

इस पत्र के उत्तर में हमें सखेद इतना ही लिखना पड़ा कि हम इस सम्बन्ध की सामग्री संग्रह नहीं कर सके। किन्तु इस समाचार से हम प्रसन्न हैं कि अंजाना चौधरी उत्तरी भारत के जाटों का ही एक अंग हैं। देशाई भाइयों के साथ उत्तर भारत के जाट अपने वैवाहिक सम्वन्ध यदि बन्द हो रहे हों तो अवश्य प्रचलित कर देंगे ऐसी हमें पूर्ण आशा है।

"जाट लोग जिनकी संख्या इस समय करीव ६० लाख की है ऐसी तरह से फैले हुए हैं और उनकी संख्या इतनी अधिक है कि वह खुद ही एक जाति के वरावर हैं। मुल्क जिसमें कि वह खास तौर से वसे हुए हैं उसकी सीमा मोटे तौर से इस प्रकार है—उत्तर में हिमालय पर्वत की नीचे की पहाड़ियां; पच्छिम में सिन्ध नदी; दक्षिण में एक रेखा जो हैदरावाद से अजमेर तक खींची जाय और फिर वहाँ से भूपाल तक पूर्व में गंगा नदी। जाटों का देश पंखे की शकल के मानिन्द फैला हुआ है मानों सिन्ध उसका आधार है। जाटों की थोड़ी सी आवादी इधर-उधर पेशावर, विलोचिस्तान और सुलेमान पर्वत के पच्छिम में है। करमान और इराक में करीव वीस हज़ार के आदमी हैं जो जाट और जिप्सी कौम से मिले हुए हैं। मकरान और अफ़गानिस्तान में करीव पचास हज़ार आदमी जाट हैं।"

इस तरह इस समय भी भारत का ऐसा कोई कोना खाली नहीं जहाँ जाट न हों। हाँ दूर-दूर रहने के कारण कुछ लोगों के तो सम्बन्ध भी विच्छेद हो गए हैं। क़ानूनगो महोदय ने जाट देश की रूप रेखा इस भाँति बताई है।

स्वभाव और आदतें — प्राचीन काल में प्रजातंत्री रहने के कारण उनमें समानता, मिलनसारी, व्यक्तिगत स्वतंत्रता, अभिमान एक बड़े अंश में पाये जाते हैं। प्रजातंत्री लोगों को राज-काज और जीविका-उपार्जन दोनों ही काम करने पड़ते थे। शांति के समय में वे खेती करते और युद्ध के समय में अपने नेता के साथ मिलकर युद्ध करते थे। युद्ध करने में भी वे उतने ही निपुण थे, जितने खेती करने में। जाटों में यह दोनों बातें अब तक चली आती हैं। अभी पिछले दिनों जर्मन महायुद्ध के अवसर पर उन्होंने अपनी पुरानी आदित का परिचय देकर संसार को चकित कर दिया है। अनेक जर्मन और फ्रांस लेखकों ने जाटों की वीरता और बहादुरी की प्रशंसा की थी। झुंझनू में जाट महासभा के महोत्सव पर सन् १९३१ ई० में सुप्रसिद्ध अंग्रेज योद्धा मि० एफ़० सी० यंग बहादुर इन्सपेक्टर जनरल पुलिस ने अपने भाषण में कहा था—"*जाट सच्चे क्षत्रिय हैं, हमने जर्मन युद्ध के समय उनकी वीरता को देख लिया है। वे मैदान में मरना जानते हैं। अँग्रेज सरकार की ओर से उनकी पल्टन को 'रोयल' की उपाधि मिली है। मैं यह भी कहता हूँ कि जाट बहादुर के साथ ही सच्चे ईमानदार और अपनी बात के पक्के होते हैं। वे दगा नहीं करते हैं। मैंने स्वयं कुछ जाटों को परखा है। वे पूरे उतरे हैं।*"

'हिस्ट्री ऑफ़ जाट्स' के लेखक ने जाटों के स्वभाव और आदतों के सम्बन्ध में इस प्रकार लिखा है:—"*वह खेती करने और तलवार चलाने में एक बराबर दिलचस्पी रखते हैं और यहाँ तक उन्नति की है कि मिहनत और हिम्मत में हिन्दुस्तान की कोई अन्य क़ौम इनके मुक़ाबिले में नहीं है। डील-डौल में वे राजपूतों और खत्रियों से समानता रखते हैं और भारत के पुराने आर्य्यन से बहुत मिलते-जुलते हैं। इनका क़द अधिकतर लम्बा होता है। रंग सफ़ेद, आँखें काली, मुँह पर बाल अधिक, सर लम्बा, नाक नुकीली होती हैं।...... पंजाब की तमाम क़ौमों से यह क़ौम बहुत उतावल और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को चाहने वाली है।......एक जाट करता वही है जिसे वह ठीक समझता है। वह स्वतन्त्र और खुद-पसन्द है। जाटों की समस्त उपजातियां बराबर हैं। ये बग़ैर किसी भेद-भाव के अपने बड़े भाई की बेवा से शादी कर लेते हैं, जो कि उनके असली क्षात्रिय कहाने का सबूत है। यह प्रथा वैदिक-काल की तीन बड़ी-बड़ी जातियों में प्रचालित थी।*"

आगे यही महाशय लिखते हैं:—"*चाहे सुल्तान महमूद गज़नवी या नादिरशाह या अहमदशाह अब्दाली किसी के साथ उनके किए गए संघर्ष*

और विरोध की ओर नज़र डालिये, हर एक से और हर ज़माने में उनके जातीय चरित्र का पता चलता है। बड़े से बड़े विजेता की दिल दहला देने वाली तारीफ़ सुन कर उससे न डरना और बाद में हो जाने वाले नुक़सान का खयाल न करके भागते हुए दुश्मन को खदेड़ते चले जाना, लड़ाई में शत्रु से भिड़ जाने पर पूर्ण धैर्य धारण करना और अद्वितीय गम्भीर साहस का दिखाना, युद्ध-क्षेत्र में तथा हार जाने पर आने वाली आपत्तियों का तनिक भी खयाल न करना और अपने दुश्मन की निर्दय तलवार के सिखाये हुए सबकों को बहुत जल्दी से भूल जाना आदि बातें जाटों के चरित्र का मुख्य अंग हैं।"

भारत के इतिहास में जब से कि प्राप्त होता है जाटों ने विदेशी आक्रान्ताओं का सामना भारत की अन्य जातियों की अपेक्षा कहीं अधिक किया है। जगजार्टिस से लेकर राजपूताने के मैदानों तक उन्हें स्वदेश की रक्षा के लिए खून बहाना पड़ा है और उन्होंने वह कार्य करके दिखाये हैं जो अचम्भे की बात समझे जाते हैं। तैमूर ने जो भारत के लिए एक राक्षस से भी बढ़ कर भयानक और हानिकर साबित हुआ था जाटों को जीत लेने के बाद बड़ी खुशी मनाई थी। "वह जाटों के लिए एक अत्यन्त मज़बूत जाति—देखने में दैत्य जैसे, चींटी और टिड्डियों की तरह बहु संख्या वाले और शत्रुओं के लिए सच्ची महामारी के नाम से याद करता था"। तैमूर जैसा खूंखार और मज़बूत तथा डरावनी सूरत का आदमी जाटों को अत्यन्त और अपने लिये दैत्य समझता था। इसीसे जाटों के सर्वोपरि मज़बूत होने का प्रमाण मिलता है। अनेक इतिहासों के लेखक और हिन्दू जाति के प्रसिद्ध नेता देवता स्वरूप भाई परमानन्द जी ने जाटों के संबंध में लिखा था:—

"एक शब्द में इतना कह देना ज़रूरी है कि पंजाब में खालसा राज्य को स्थापित करके सीमा-प्रान्त की तमाम पठान जातियों को अपने आधीन करना और अफ़गानिस्तान के पठानों को कई दफ़े हरा देना, जो कि हमारी जाति के इतिहास में एक अचम्भा समझा जाता है, जाट जाति के वीरों का ही काम था। मैं इतना कहना चाहता हूँ कि इस देश में क्षत्रिय के कर्त्तव्य को जाटों ने यदि राजपूतों से बढ़ कर नहीं तो कम भी पालन नहीं किया है।"

—*—

परिशिष्ट (२)

शिला लेख, राज-प्रासाद

जाट-राज्य-पूर्ण वैभव-संपन्न और समृद्धिशाली हुआ करते थे। वे किसी देश को जीत भी लेते तो उसकी सभ्यता को नष्ट नहीं करते थे। उनमें एक आदत ऐसी भी थी जिससे उनका गौरव आज नष्ट प्रायः हो गया। वे कहते थे कि शुभ कृत्य ही स्मृति के लिये पर्याप्त है स्मार्क-स्तूप आदि बनाने की क्या आवश्यकता है? यही कारण है कि उनमें से बहुत कम ने यह चेष्टा की कि कोई अपना निशान खड़ा करदे। यूरोप में उन्होंने एक स्तूप रायन नदी के किनारे खड़ा किया था। भारत में भी ब्याने में राजा विष्णुवर्द्धन का एक जय-स्तंभ है जो भीम की लाठ के नाम से मशहूर है। राजस्थान में उनके खुदाये हुए बहुत से तालाब और कुए हैं। अलवर में महाराज सूर्यमलजी के समय के बनवाये हुए बहुत से तालाब हैं। वे सूरजकुण्ड, डूँडिया और चांदपोल के नाम से मशहूर हैं। इनका परिमाण इस प्रकार है:—सूरजकुण्ड ८० गज़ लम्बा, ३६ गज़ चौड़ा और १५ गज गहरा है। डूँडिया ६२ गज़ लम्बा, ३२ गज चौड़ा, ६ गज गहरा है। चांदपोल २७ गज़ लम्बा, २५ गज चौड़ा और ११ गज़ गहरा है। दो महल भी अलवर में महाराज सूरजमलजी के बनवाये हुए हैं जो सूरज-महल के नाम से मशहूर हैं। उनमें एक जनाना महल है। क़िले के दर्वाजों के नाम महाराज सूरजमलजी ने बदल दिये थे जो अब तक सूरजपोल, चांदपोल, लक्ष्मनपोल और रामपालपोल के नाम से मशहूर हैं। ऐसा कहा जाता है कि अलवर के क़िले में महाराज सूरजमलजी का एक खज़ाना भी था, किन्तु विश्वास नहीं होता[१]।

आगरे में महाराज जवाहरसिंहजी ने एक हंसमहल बनवाया था जिसके पास उनकी रानी महाराज के आगरा क़िले में मारे जाने के पश्चात् सती हो गई थीं।

काशी में विश्वनाथ महादेव के मन्दिर के ऊपर चाँदी का काम हो रहा है। वहाँ के पंडा बतलाते हैं कि इसे लाहौर के महाराज रणजीतसिंहजी ने एक लाख

१—मुरक़ए अलवर। सफ़ा ८४—८५

रुपया खर्च कर के बनवाया था। महाराज रणजीतसिंहजी ने ज्वालामुखी के मन्दिर के लिये एक लाख रुपया दान दिया था। अमृतसर के लिये भी उन्होंने लाखों रुपये दान दिये थे।

देरावल में जाट-राज्य के समय के राज-महलों के कुछ खंडहर अब तक पाये जाते हैं। 'वाक़ए राजपूताने' के लेखक ने लिखा है कि शालिवाहन से विताड़ित होकर जाट लोग देरावल में आकर राज करने लग गये थे। रंगमहल के पास भी उनके राज-भवनों के चिह्न मिलते हैं[१]।

मन्दसौर में राजा यशोधर्मा के और गंगधार में ईश्वरवर्मा आदि के शिलालेख मिले हैं। जोधपुर राज्य में जाटों के अनेक शिलालेख और तालाब हैं।

महाराज कनिष्क की मूर्ति इस समय लखनऊ म्यूज़ियम में रक्खी हुई है जो पाँच फ़ीट के लगभग ऊँची है किन्तु शिर कटा हुआ है। घुटनों से नीचे तक अंगरखा, हाथ में गदा जैसा हथियार है। किन्तु शायद गदा नहीं है। मूर्ति विशाल पुरुष की जैसी है[२]।

किशनगढ़ में अगम जाट का एक कूप है जिसका वर्णन पं० जयरामजी वैद्य ने जाटवीर के लेखों में किया था।

इटावा और कानपुर के मध्य में एक शहर फफूँद है उसमें जाट नरेश भागमल के जो कि महाराज सूरजमल के समकालीन थे क़िले के चिन्ह मिलते हैं। एक मसज़िद के पत्थर में जो कि उन्होंने मुसलमानों की प्रार्थना पर बनवाई होगी उनका नाम खुदा हुआ है[३]।

सिन्ध में मोहन गोदारे की खुदाई में कुछ मोहरें ऐसी निकली हैं जिन पर शिन देवता के उपासक जाट लोगों के देवता का नाम अंकित है।

पुष्कर में महाराज जवाहरसिंहजी का जवाहर घाट बना हुआ है। साथ ही मकानात भी हैं। वहाँ जाटों का एक मन्दिर है। गोवर्धन में भरतपुर के महाराजगान की छतरियाँ और घाट हैं। मथुरा में एक बाग़ और सराय है। आगरा और शिमला में कोठियां हैं। शिमला की कोठी ब्रजेन्द्र मण्डल कहलाती हैं।

पंजाब में जहाँ भी देखिये जाट-साम्राज्यों का वैभव दिखाई देगा।

अलीगढ़, हाथरस, सासनी में जाटों के क़िले हैं जो कि मुरसान और वृन्दावन के पूर्वजों ने बनवाये थे। सोंख, पेंठा, अडींग में भी जाटों की गढ़ियाँ बनी हुई हैं। मथुरा मेमायर्स के पढ़ने से मालूम होता है कि नोहवार जाटों ने नोह झील को खुदवाया था।

१—'वाक़ए राजपूताना'। जिल्द दोयम। २—इस प्रस्तर मूर्ति को हमने स्वयं म्यूज़ियम में जाकर देखा है। लेखक। ३—'यू० पी० के जाट' नामक पुस्तक से।

किशनगढ़, अजमेर, जोधपुर के अनेक स्थानों में तेजाजी के मन्दिर हैं। जिन पर हज़ारों हिन्दू भादों की तेजा दसमी को वन्दना करने के लिये आते हैं।

बिलोचिस्तान में हिंगलाज नाम की देवी का मन्दिर जाटों का बनवाया हुआ है जिसे वे एक कन्या के रूप में मानते थे। कप्तान एवट को उदयान के निकट पूर्व समय में ऐसे चिन्ह मिले थे जो कि वहाँ के यज्ञ-प्रेमी जटों के ही कहे जा सकते हैं।

पण्डित जैरामजी ने अपने जीवन-काल में जाट जाति के कुछ समृद्धि चिन्हों का पता लगाया था और जाटवीर के द्वारा उन्होंने अपनी खोज में पाये हुये शिला लेखों और सिक्कों के संबंध में लेख भी लिखे थे। उन्हीं लेखों का सार हम यहाँ देते हैं।

किशन गढ़ में तीन छतरियां हमने देखीं—दो राजपूतों की और एक तीसरे वंश की छतरी देखी गई। यह छतरी बहुत ही पुरानी है और जेवल्या की छतरी जेवल्या गोत के जाट सरदार की है। इसके पच्छिम-दक्षिण की ओर एक बड़ा भारी कीर्ति-स्तम्भ खड़ा है।

इस पत्थर में मनुष्य की मूर्ति खुदी हुई है और संवत ११,११ का लेख खुदा हुआ है। यह शिला लेख बहुत पुराना होने से घिस गया है इसलिये समूचा लेख साफ़-साफ़ पढ़ने में नहीं आता। दूसरे दो राज वंशो की छत्तरियों के पास ऐसे अक्षय पुण्यदान के चिन्ह देखने में नहीं आते जैसे जाट की छतरी के पास देखने में आ रहे हैं। छत्तरी से क़रीब दस हाथ उत्तर की ओर गौओं की प्याऊ के लिए कुंआं बनाया गया है। इस कुएं की चुगाई अपनी प्राचीनता को बता रही है। पत्थरों को काट कर पूठियां खड़ी हुई हैं। जैसे गाड़ी के पहियों की पूठियां होती हैं वैसी पूठियों को जोड़कर कुंआ चुगाया गया है। इसलिए इस कुऐ की मज़बूती ऐसी है कि हज़ारों वर्ष तक रह सकता है। कुंएं के पास गौओं को जल पीने के लिए खेली बनाई गई है। खेली की कारीगरी भी देखने योग्य है। पांच-पांच हाथ लम्बी और तीन-तीन हाथ चौड़ी पत्थर की शिलाओं को ज़मीन में गाड़ कर खेली बांधी गई है जिससे पत्थर की मरम्मत का सैकड़ों वर्षों तक भी काम न पड़ सके। लोगों से सुना गया है कि जिस जाट की कीर्त्ति को चिरकाल तक स्मरण रखने के लिए कुंआं और छतरी बनाये थे उसी ही महापुरुष का बनाया हुआ उसकी छतरी के पश्चिम की ओर एक तालाब है जो गौओं को जल पीने के लिए खुदवा कर बनाया गया था। यह तालाब बड़ा भारी है। लगभग पचास बीघे में होगा। जाटों के खोजने से थोड़े बहुत जो प्राचीन इतिहास के चिन्ह मिलते हैं ये प्रमाद, अत्याचार और दूसरों की बुराई के कभी नहीं मिलते। किन्तु संसार की भलाई, परोपकार, गोचर भूमि दान, तालाब, कुंआं और निर्बल की रक्षा के लिए पौरुष, ये ही चिन्ह प्राचीन जाटवीरों के इतिहासों में मिलते हैं। नराना गांव के

नीचे अठारह हज़ार बीघे ज़मीन है। अन्दाजन छः हज़ार बीघे ज़मीन जोती जाती और क़रीब बारह हज़ार बीघों में गायें चरती हैं। इस गांव में गौओं और भैंसों का झुंड देखकर सतयुग याद आता है। हर एक आदमी के घर में दूध दही के भण्डार भरे ही रहते हैं।

राजपूताने में जाटों के राज्यों के बाद कई राजवंशों के राज्य हो गये हैं इसलिए जाटों के इतिहास खोजने के लिए सहसा कोई खड़ा ही नहीं होता। लोगों को ऐसा विश्वास नहीं होता कि राजपूताने में जाट सदा से हल जोतकर दूसरों को खिलाने वाले ही नहीं थे किन्तु जाट ही भूमिपति थे और अपनी भूमि की मालगुज़ारी जाट दूसरों से लेते थे।

महादानी भक्त चौधरी हर्षरामजी

बहुत दिनों से सुनते आये हैं कि रियासत जोधपुर के आकोदा गाँव में एक कूंआँ है। वह राजा सगर का बनाया हुआ सतयुग का है और जब तक पृथ्वी आकाश रहेंगे तब तक यह कूंआँ भी रहेगा। कोई कहता है कि कूंआँ देवताओं का बनाया हुआ है क्योंकि ऐसे कूंए बनाने में मनुष्य की शक्ति काम नहीं कर सकती। इस कूंए को बनाने वाले हमारी ही जाट जाति के एक महान् पुरुष थे। विक्रम संवत् १००० के आरम्भ में हर्षराम जी नाम के एक बड़े भारी दानी ईश्वर भक्त 'फगोड़चा' गोत्र के जाट भूमिपति हो गये हैं। यह प्रान्त जो चौरासी कहलाता है (जिसमें ८४ गाँव हैं) इन्हीं के शासन में था। सिवाय दिल्ली-पति सम्राट् के ये दूसरे किसी को ख़िराज नहीं देते थे। क़रीब एक हज़ार वर्ष हुए इन्होंने अकोदा गाँव बसाया था और गाँव के उत्तर की तरफ़ ५२५ बीघे बीड़ के नाम से गोचर भूमि छोड़ी थी जिसमें दो तालाब हैं। यह बीड़ अभी तक मौजूद है जो फगोड़चा का बीड़ कहलाता है। इसी ही महापुरुष का बनाया हुआ अकोंदा का कूंआँ है जिस को देख कर यही कहना पड़ता है कि संसार में सात चीज़ आश्चर्य्य की बताते हैं यदि आठवीं चीज़ इस कूंए को भी मान लिया जाय तो भी अत्युक्ति नहीं समझनी चाहिए। चार-चार हाथ लम्बाई में, दस-दस हाथ भीतर पोल की गालाई में ढोलों की नाल का रद्दा एक हाथ चौड़ा है। आकार में समझ लीजिए पोले बांस की भोगली (नाल) या चाम से बिना मंढा हुआ पोला ढोल दोनों तरफ़ खुला हुआ मुँह का, इस तरह से पत्थर के १६ ढोल बनाकर पानी के पैंदे से लेकर ऊपर तक कच्चे कूंए के बीच बैठा दिए गए हैं। जैसे चूड़ी पर चूड़ी रखने से चूड़ा बन जाता है वैसे ही ऊपर-ऊपर १६ ढोलों को रखने से ६४ हाथ लम्बी कूंए की नाल बन गई है। इन ढोलों का रङ्ग लाल है। इससे अनुमान किया जाता है कि ये पत्थर खाटू के पहाड़ के हैं। इस कूंए से खाटू बारह कोस है। अचम्भे की बात यह है कि यदि खाटू से पत्थर लाकर अकोदा में ढोल बनाये गये हों तो एक-एक पत्थर में एक-एक हज़ार मन भार होगा। इतने भारी पत्थर कैसे लाए गए और यदि खाटू में ही पत्थरों को भीतर से खुदवा कर बने बनाए ढोल मँगवाये हों तो

भी एक-एक ढोल में चार सौ मन से कम बोझा न होगा। ये भी कैसे लाए गए और इतने भारी ढोल कूंए में ऊपर नीचे कैसे जचाए गए। एक मन आध मन के तो पत्थर थे ही नहीं जो हाथों से रख दिए जाते। इतने भारी ढोल बराबर की मोटाई में कैसे काटे गए ? किस औजार से ये ढोल ६४ हाथ गहरे कूए में पहुँचाए गए ? गाँव के राजपूत ठाकुर, वैश्य, जाट आदि को हमने इस कूंए की जाँच के लिए पूछ-ताछ की। राजपूत तो बोले कि इस कूंए को राजा सगर ने बनाया था। बहुत काल के बाद यह कूंआँ जमीन में गढ़ गया था और बहुत काल तक जमीन में ही गड़ा रहा। सम्वत् १००० के आरम्भ में हर्षराम चौधरी से देवी प्रसन्न होकर बोली कि हे ईश्वर भक्त, गो सेवक, धर्म मूर्ति महादानी चौ० हर्षराम ! मैं तुम से बहुत प्रसन्न होकर आज्ञा देती हूँ कि तू यहाँ गाँव बसा और इस जगह राजा सगर का बनाया हुआ कूंआँ है इस को खुदवा कर जमीन से निकलवाले। चौधरी हर्षराम ने जमीन खुदवा कर कूंए को ठीक किया। इस प्रकार की अनेक दन्त-कथायें हैं। चौ० गङ्गाराम जी ने बताया कि हमारे पुरुपा हर्षराम जी ने स्वयं इस कूंए को बनाया था। न तो देवी ने बताया और न राजा सगर या देवताओं का बनाया हुआ है। फिर लोगों में विवाद हुआ कि हर्षराम मनुष्य होकर ऐसा कूंआँ कैसे बना सकते थे ? चौ० गङ्गाराम जी ने कहा कि हमारे यहाँ कोई सौ वर्ष पहिले की लिखी हुई पोथी मौजूद है जिसमें लिखा है कि चौधरी हर्षराम ने इस कूंए को खुद बनवाया था और इसका पूरा-पूरा विवरण कूंए के भीतर के ढोल में शिला-लेख हैं उसको देख लें। भाट की पुस्तक को सब पंचों ने सही मान कर महापुरुष हर्षराम जी के पुरुषार्थ को याद करके सभी लोग आश्चर्य में मग्न हो गए।

एक हजार वर्ष पहिले जाट जाति में कैसी विद्या और पुरुषार्थ था कि जाटों के बनाए हुए कुओं को लोग देवताओं के बनाए बतलाते हैं क्योंकि लोगों की बुद्धि में नहीं जंचता कि मनुष्य हो कर ऐसे कूंए बना सकते ! लोगों का विचार ठीक ही है क्योंकि उस समय के जाट जाति में इतनी विद्या थी तभी इस जाति का गौरव सूर्य आकाश में तपता था। यदि आजकल के बड़े भारी इञ्जीनियर भी इस कूंएं को देखें तो उनको भी आश्चर्य हुए बिना न रहे। यदि भारतवर्ष के प्राचीन शिल्प-विद्या की मूर्ति का नमूना देखना हो तो चौ० हर्षराम जी के बनाए हुए हजार वर्ष के पुराने कूंएं के दर्शन कर जाइये। यह जाट जाति के ही गौरव की चीज नहीं हैं वरन् हिन्दू जाति की प्राचीन विद्या के नमूना दिखाने के लिए चौ० हर्षराम जी का कूंआँ आदर्श वस्तु है। जिस जाति में अपने महापुरुषाओं के इतिहास जब तक बने रहेंगे तब तक वह जाति अमर रहेगी और जो जाति अपने महापुरुषाओं के इतिहासों की क़दर करेगी वह दीन-हीन दशा भोग कर भी फिर उन्नति के शिखर पर चढ़ेगी, क्योंकि गिरी हुई जाति को उठाने वाला अपने पुरुषाओं का इतिहास ही है। महादानी राजर्षि हर्षरामजी की संक्षिप्त जीवनी जाति को समर्पण करके मैं अपना अहोभाग्य मानता हूँ।

उगम जाट कीर्ति स्तम्भ

राज्य श्री जयपुर के सांभर प्रान्त में करड़ और कांकरा नाम के ग्रामों में ८०० वर्ष के पुराने जो जादू के मन्दिर कहलाते हैं वे जाट भूमिपति के बनाये हुए हैं। इन मन्दिरों से तीन कोस दक्षिण की ओर भादवा गाँव है। यहाँ एक बहुत पुरानी बावड़ी और एक कुआँ है। बड़ी बड़ी पत्थरों की शिलाओं को घड़ कर पूठियों को जोड़ जोड़ कर कूएं की नाल बनाई गई है। इस कूऐं की मजबूती, सुन्दरता और प्राचीन शिल्प प्रशंसनीय हैं। इस कुऐं से उत्तर की ओर एक बड़ा भारी नील पत्थर कीर्ति-स्तम्भ खड़ा है। कीर्ति-स्तम्भ के दक्षिण भाग में घुड़सवार सामने खड़े हुए दुश्मन पर दाहिने हाथ से तलवार का वार करते हुए वीर उगम जाट बायें हाथ से घोड़े की लगाम खींचे हुए अपनी इतिहास प्रसिद्ध जाति की स्वाभाविक वीरता दिखला रहे हैं। एक शत्रु कटा हुआ घोड़े के पैरों में पड़ा है और दूसरे के सिर के ऊपर उगम वीर की तलवार का वार हो रहा है। कीर्ति-स्तम्भ के उत्तर भाग में ऊपर शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म धारे हुए मस्तक पर मुकट से सुशोभित भगवान् कृष्णचन्द्र खड़े हैं। उनके चरणों के नीचे ऐसा शिलालेख खुदा हुआ है—उगम जाट भादवा का सं० ११९६ वि० आषाढ़ सुदी ९ मङ्गलवार।

यह अनुमान अच्छी तरह से किया जा सकता है कि उगम जाट कोई साधारण मनुष्य नहीं था। क्योंकि कई हजार रुपयों की लागत का कुआं और बावड़ी जिसने बनवा कर राजाओं के तुल्य अपना नाम चिरस्मरण रखने के लिए ऐसा विशाल कीर्ति-स्तम्भ खड़ा किया था वह अवश्य कोई बड़ा भारी रईस था और जो इतिहास लेखक भूल से लिख गये हैं कि वर्तमान देवनागरी अक्षर चार-पाँच सौ वर्षों से प्रचलित हुए हैं यह लोगों का झूठा विश्वास नराना गांव के सं० ११११ के जेवल्या जाट के कार्ति-स्तम्भ से आकोदा के हर्षराम चौ० के सं० १००० से, और भादवा के उगम जाट के सं० ११९६ के कीर्ति-स्तम्भ की नागरी लिपि और हिन्दी भाषा से, खंडित हो जाना चाहिए और जानना चाहिए कि एक हजार वर्ष पहिले राजपूताने में नागरी लिपि और हिन्दी भाषा प्रचलित थीं और राजपूताने में बड़े भारी बुद्धिमान शिल्पी बसते थे और यह भी जाना जाता है कि विक्रमी सम्वत् १०००, सं० ११११ और सं० ११९६ में राजपूताने के जाटों की कीर्ति, गौरव, स्वतन्त्रता, वीरता ये सब विभूतियां उनके पास मौजूद थीं।

जाट-सिक्के

राज्य किशनगढ़ के स्थान निराने से हमको ४ सिक्के मिले हैं। तीन सिक्के चांदी और तांबा के मेल के हैं। एक सिक्का सोने का है (यह आठ माशे की मौहर है)। एक हजार वर्ष के बाद के पुराने जितने सिक्के राजपूताने में मिले हैं उन सब सिक्कों से यह सिक्के पुराने मालूम होते हैं। सं० ११११ का जो जेवल्या-गोत के जाट की छत्तरी से पश्चिम की ओर घिसा हुआ कीर्त्ति स्तम्भ है उस कीर्त्ति स्तम्भ के पास दो वर्ष

पहिले एक गूजर जमीन खोद रहा था। उसको जमीन में मिट्टी के दो ढकनों के बीच ये सिक्के मिले थे। सोने की मौहर में एक ओर मनुष्य की मूर्त्ति है। इसके बांयें हाथ में धनुप है और दाहिने हाथ में तीर है। मौहर के दूसरी ओर अग्निकुंड है जिसमें से अग्नि की झलें निकल रही हैं और झलों के बीच एक मूर्ति दीख रही है। इस दृश्य से साफ़-साफ़ अनुमान किया जाता है कि एक हजार वर्ष पहिले जाटों का मुख्य धर्म अग्नि-पूजा (यज्ञ हवन) करना था। सम्वत् ११११ की बनी हुई जाट की छत्तरी, ५० बीघों में इसका बनाया हुआ तालाब, कुआ, कीर्तिस्तम्भ इतने जाट के चिह्नों के पास यह मौहर मिली है। इससे अनुमान किया जाता है कि रईस जाटक दशवीं शताब्दी के पहिले इसके वंश में कोई बड़ा भारी राजा हुआ था जिसकी यह मौहर और सिक्का है। राजा की मूर्ति के दाहिने ओर छड़ी (राज दण्ड) खड़ी है। इस मूर्ति के मस्तक के बराबर द्वितीया के चन्द्रमा की मूर्ति का अभिप्राय यह है कि यदि पूर्ण चन्द्रमा की मूर्ति रखते तो चन्द्र और सूर्य की पहचान होना कठिन हो जाता। दशवीं शताब्दी से बारहवीं शताब्दी तक के जाट वीरों की पापाण मूर्त्तियां घुड़सवार हाथ में भाला या तलवार लिए हुए हैं। पर मौहर वाली मूर्त्ति दशवीं शताब्दी से पुरानी होने से इसके हाथों में धनुप बाण है। इन पापाण मूर्त्तियों में वीर क्षत्रियों के चिन्ह होने से जाना जाता है कि बारहवीं शताब्दी तक जाट जाति अपने को वीर क्षत्रिय जाति मानती चली आई और इन की पापाण मूर्त्ति या सिक्कों में चन्द्रमा की मूर्त्ति अवश्य होने से जाट जाति अपने को चन्द्रवंशी यादव क्षत्रिय मानने में किसी भी तरह सन्देह नहीं कर सकती।

सिख-जाट वैभव

सिख जाटों के वैभव का अनुमान इसी एक बात से लगाया जा सकता है कि उनके पास वह चीज रही थी जो संसार की सर्व श्रेष्ठ चीजों में गिनी जाती है। कोहनूर हीरा को रखने का सौभाग्य पंजाब के ही जाटों को प्राप्त हुआ था। उन्होंने यह हीरा अफ़ग़ानों के जाल में से निकाल लिया था। कहा जाता है सब से पहिले वह हीरा गोदावरी के किनारे कर्ण को मिला था। फिर महाराज युधिष्टर के पास रहा। क्योंकि उस पर यु······र घिसे हुए अक्षर पाए गए थे। उनके वंशजों के हाथ से भारत में कई नरेशों के पास रहकर यह अफ़ग़ानों के हाथ पहुँच गया और अफ़ग़ानों से महाराज रणजीतसिंहजी ने प्राप्त किया। उनके पुत्र दिलीप से अँग्रेजों ने ले लिया। कोहनूर की क़ीमत इतनी कूती जाती है कि उससे एक समय सारा संसार भोजन कर सकता है।

महाराज रणजीतसिंह के समय ही पंजाब के जाटों का प्रताप शिखर पर था। महाराज रणजीतसिंह का वैभव कितना था उसका पता इस बात से चल जाता है कि उनके यहाँ दर्जनों अँग्रेज, फ्रेंच और यूरोपियन नौकर थे। ऐसे ३३ यूरोपियन नौकरों की सूची इस प्रकार है—

१ जनरल वभूरा (फ्रांस) २ जनरल अड़ी तोयला (फ्रांस) ३ जनरल कोरट (फ्रांस) ४ व्लाउस साहव (फ्रांस) ५ कर्नल स्पेन यंग (इंगलेण्ड) ६ फोविन सा० (फ्रांस) ७ क्रुट (फ्रांस) ८ फास्टर सा० (फ्रांस) ९ हेनरी (फ्रांस) १० अरानोल (फ्रांस) ११ लापट (फ्रांस) १२ लाकून (फ्रांस) १३ डाकूर नार्टन हौविन (जर्मनी) १४ यांग पीगर जान होम (ऐंग्लो इण्डियन) १५ कोर्ट लेंडप (इंगलेंण्ड) १६ लारेंस १७ आर्ज टामस (फ्रांस) १८ शीगर १९ हाम जैकब २० वैसन (अमेरिका) २१ कनोरा (अमेरिका) २२ गार्डन (अमेरिका) २३ इस्टाफ (अमेरिका) २४ कोला (इंगलेण्ड) २५ अल्कजेन्डर २६ होर्बन (स्पेन) २७ एक्टी २८ जोसेफ होसल (जर्मनी) २९ वी० वी० हाल (इंगलेण्ड) ३० समट (इंगलेण्ड) ३१ विलियम टी० वाडोल (इंगलेण्ड) ३२ हेनेरी डिफेन्स (फ्रांस) ३३ मालकम (ऐंग्लो इण्डियन)

इनमें किसी-किसा को तो दो हजार से ऊपर तक वेतन मिलता था। इतने विदेशी अफसरों के नीचे जो सेना थी वह एक छोटे से साम्राज्य के बराबर थी। पृथ्वीराज चौहान जिसे कि कभी-कभी भारत का अंतिम हिन्दू सम्राट् भी कहा जाता है उसके राज्य से सेना से सब से बढ़ कर महाराज रणजीतसिंहजी के पास था। उन्हें यदि अंतिम हिन्दू समाट् कह दिया जाय तो कोई भी अत्युक्ति न होगी।

जनरल कनिंघम ने सिख-राज्य की सीमा इस भाँति बताई है—*"दिल्ली से पेशावर और सिन्ध से काराकोरम पर्वत-श्रेणी तक विशाल भूखंड में उनका अधिकार और आधिपत्य है। इस समय सिख जाति का अधिकृत राज्य उत्तर अक्षांश की २८ और ३६ समानान्तर रेखा के और पूर्व दाघिमा की ७१ और ७७ संख्यक माध्यन्दिन रेखा के मध्यवर्ती है। पानीपत से खैवर तक साढ़े चार सौ मील परिमित एक भूमि रेखा खींचने में उस पर दो समबाहु त्रिभुज अंकित हो सकते हैं। रणजीतसिंह का विजित राज्य और सिख जाति का स्थायी उपनिवेश समूह उसके ही अन्तर्गत हैं।*

लोग खयाल करते होंगे कि महाराज रणजीतसिंहजी सिर्फ एक प्रसिद्ध विजेता थे, किन्तु उपलब्ध ऐतिहासिक सामिग्री बताती है कि वे एक योग्य शासक भी थे। प्रजा को वे भरा-पूरा देखना चाहते थे। उनकी प्रजा की माली हालत बहुत ठीक थी। उनके समय में व्यापारिक और कारीगरी तथा शिक्षा सम्बन्धी सभी प्रकार की उन्नति प्रजा ने की थी। उनका राज्य कितना सुखकर था इस बात से पता चल जाता है कि लाहौर की जन-संख्या उनके समय में १५०३४५ थी।

अकेले लाहौर शहर में उस समय १४३ शिक्षणालय इस प्रकार थे:—फ़ारसी १९, अरबी ३६, हिन्दी ६, शास्त्री ३८ अरबी-फ़ारसी के सम्मिलित ४४ थे।

लाहौर व्यापारिक क्षेत्र में भी ख़ूब बढ़ा हुआ था। सन् १८५० ई० से पहिले उसमें ७४६३ दुकानें थीं। सैकड़ों क़िस्म का माल लाहौर में तैयार होता था ८७ क़िस्म का माल तो लाहौर से बाहर के बाज़ारों यही क्यों विदेश में भी जाता था। २४५४४५) दो लाख पैंतालीस हज़ार चार सौ पैंतालीस रुपये का माल हर साल लाहौर के कारीगर तैयार करते थे जिसमें से २४१३१२) दो लाख इकतालीस हज़ार तीन सौ बारह रुपये का माल हर साल दिसावर को जाता था।

लाहौर में उस समय बड़े बड़े कारीगर और पच्चीकार थे। कर्मसिंह नामी एक सख्श जो सन् १८५० में मौजूद था वह एक प्रसिद्ध दस्तकार था। मकानात के वह बढ़िया से बढ़िया नक़शे खींच सकता था। मीनाकारी, पच्चीकारी और चित्रकारी सभी में वह निपुण था।

उस समय लाहौर एक चमन था जिसमें जाट सिख कोकिल अपनी सर्वप्रियता से लोगों को प्रसन्न रखते हुए किलोल करते थे। लाहौर अकेले में उस समय ३० बाग़ थे। फिर उसे चमनिस्तान कहने में क्या हर्ज है।

सिख-साम्राज्य-वैभव का यह वर्णन "सैरे पंजाब" नामक किताब के आधार पर है जो कि अंगरेज़ सरकार के महकमा बन्दोबस्त के कर्मचारियों द्वारा लिखी गई थी। थोड़ा सा वर्णन अब जनरल कनिंघम के सिख इतिहास से देते हैं। वे लिखते हैं:—"जनाकीर्ण शहर, कपास, रेशम और पशम बुनने वाले कारीगरों से परिपूर्ण हैं। इस देश में चमड़ा, बाल और लोहे के रोज़गारी बहुसंख्यक सुदक्ष दिखाई देते हैं। आबपाशी प्रभृति कामों में साधारणतः फ़ारिस देश के यंत्रादि व्यवहार में लाये जाते हैं। यहाँ चीनी प्रचुर परिमाण में होती है। आर्यावर्त में अमृतसर व्यवसाय-वाणिज्य का केन्द्र स्थान है। यहाँ के सौदागर लोग इन मूल्यवान् द्रव्यों का कितना ही अंश काबुल और सिन्धु देश में बेचने के लिए भेजते हैं।"

सन् १८४४ ई० में महाराजा रणजीतसिंह को आयात-निर्यात के टैक्स से ढाई लाख पौण्ड के लगभग प्राप्त हुआ था जो कि उनके राज्य की कुल आमदनी का तेरहवां अंश था। उनके राज्य की कुल आमदनी बत्तीस लाख पचास हज़ार पौण्ड अर्थात् लगभग छः करोड़ रुपए सालाना थी।

मि० मूरक्रोफ़्ट ने अपने 'भ्रमण वृत्तान्त' की दूसरी जिल्द सफ़ा १६४ पर लिखा है कि—काश्मीर के शाल की तीन लाख पौंड सालाना की बिक्री होती थी।

भावलपुर में नील तयार होता था और फिर यहाँ से ख़ुरासान में बिक्री के लिए जाता था। मुलतान से गेहूँ सारे भारत में जाता था। मुलतान के बने कपड़े पचास हज़ार सालाना तक के बिक जाते थे और रेशमी कपड़ा ढाई लाख रुपए तक का बिक जाता था। भावलपुर की कारीगरी की चीज़ें चार लाख

सालाना की बिक जाती थीं। इस वर्णन से सिख साम्राज्य की समृद्धि और सुशासन का पता लग जाता है।

लोकेन्द्र ब्रजेन्द्र-वंश वैभव

धौलपुर के रानाओं की उपाधि लोकेन्द्र और भरतपुर के महाराजाओं की उपाधि ब्रजेन्द्र है। किसी समय राना लोगों के हाथ एक बड़ा राज्य था। भारत में सेंधिया खान्दान बड़ा प्रसिद्ध है। उसे महारथियों में दर्जा मिलता है। इन्हीं सेंधिया लोगों से महाराज राना लोकेन्द्रसिंह जी ने गवालियर को छीन लिया था। छः वर्ष तक वे राज्य करते रहे किन्तु सेंधिया की हिम्मत बिना अपरिमित शक्ति संचय किये उनसे लड़ने की न हुई। गवालियर कितना बड़ा राज्य है इसके संबंध में कुछ बताने की आवश्यकता नहीं। किन्तु मित्र अंग्रेजों की महरबानी से गवालियर को सेंधिया को दे दिया गया।

भरतपुर राज्य में इस समय भी सुदृढ़ १० गढ़ हैं। यदि आज हवाई जहाजों का जमाना न होता तो ये किले महत्त्व की चीज़ समझे जाते। सासनी, हाथरस मुरसान के और अलीगढ़ के भी प्रसिद्ध दुर्ग जाटों के ही हैं।

भरतपुर राज्य में रूपवास, डीग, और ब्याना पहिले व्यापारिक केन्द्र थे। डीग देहली से टक्कर लेता था इस बात को एक मुसलमान ऐतिहासिक लेखक ने भी माना है।

भरतपुर के खज़ानों में किसी समय अतुल धन राशि रही है। यह भरतपुर को ही सौभाग्य प्राप्त है कि राजपूताने को लूटने वाले देहली के शासकों को भरतपुर वालों ने लूटा था। भरतपुर का अष्टधाती दरवाजा भारत भर में एक प्रसिद्ध दर्वाजा है।

भरतपुर-सैनिक इतने चतुर होते थे कि कन्धे पर बन्दूक रखकर पीठ की ओर रखी हुई मिर्च में निशाना लगा देते थे।

महाराजों के अंग-रक्षक सैनिक सोने के कंठे और कड़े पहनते थे। महाराजा जसवंतसिंह जी के समय तक एक एक किसान के यहां दस से लेकर सौ गायें थीं। अब भी पचास-पचास गाय-भैंस अनेक परिवारों के पास पाई जाती हैं। भरतपुर की प्रजा कभी भी इस बात का अनुभव नहीं करती थी कि अकाल भी कोई चीज़ है। फ़ादर वेंडिल ने जोकि महाराज जवाहरसिंह का समकालीन था भरतपुर को दूसरा मालवा बतलाया था।

प्रजातन्त्री समृद्धि

ऊपर का वर्णन जाटों के एकतन्त्री राज्यों का है। प्रजातन्त्री जाट-समुदायों ने जो उन्नति की थी, उसका वर्णन फ़रिस्ता और यूनानी इतिहास ग्रन्थों में थोड़ा सा मिलता है:—जाट लोग स्थल-युद्ध में तो प्रवीण थे ही, इसके अलावा वे जल-युद्ध में भी खूब चतुर थे। मेड़ लोगों से अन्तिम लड़ाई उन्होंने जल-मार्ग से की थी और सिकन्दर के आक्रमण के समय

भी जब वह सिन्धु के रास्ते से जा रहा था, उन्होंने उससे जल-युद्ध किया था। महमूद गजनवी ने सत्रहवीं लड़ाई जाटों से झेलम नदी में की थी। तात्पर्य यह है कि वे नाविक विद्या में पूर्ण योग्यता रखते थे। फरिश्ता ने तो उनके पास चार हजार से आठ हजार तक नाव होने का वर्णन किया है। इससे उनके पूर्ण वैभवशाली होने का पता लगता है।

कैकान प्रदेश में तो उन्होंने एक और विचित्र लड़ाई लड़ी थी। रेतीले मैदान में उन्होंने खम्भे गाड़ दिये थे और फौजों का रास्ता जो कि अरब और अफगानों की आती थीं, रोक दिया था। ऐसे लट्ठे पचासों मील के घेरे में थे। लट्ठों पर झूले बने हुए थे, इन्हीं झूलों पर बैठ कर शत्रु पर वार करते थे। बहुत दूर तक के शत्रु को लट्ठों पर से देख कर अगल-बगल से उस पर धावा भी कर देते थे। यह उनकी लड़ाई का तीसरा तरीका था।

प्रजातन्त्री समुदायों के पास हाथी, घोड़े और रथों की बहुतायत रहती थी। प्रत्येक गाँव में दस-दस, बीस-बीस रथ और घोड़े उनके पास रहते थे। कोष उनका पूर्णतया भरा हुआ रहता था। भारत और ईरान के बीच जाटों के जहाज चलते थे। वे विद्वान, कारीगर और वैद्य भी होते थे। बीबी आइशा का इलाज अरब में एक जाट ने ही किया था।

जाटकी लिपि जो कि अब खुदावादी, मुल्तानी, महाजनी नामों से भी पुकारी जाती है, का आविष्कार जाटों ने ही किया था। सिन्धी लिपि भी जाटकी लिपि से निकली हुई है।

पूरनमल, धना, भगवानदास, तेजा जैसे भक्त, सुल्तान (ढोला की स्त्री का प्रिय) रांझा जैसे उत्कृष्ट किन्तु पवित्र हृदय के प्रेमी, यशोधर्मा, रणजीत और सूरजमल जैसे विजेता, निश्चलदास जसे विद्वान् कनिष्क जैसे सम्राट् और गोकुला, शहबेगसिंह जसे शहीद इसी जाट क़ौम में उत्पन्न हुए हैं।

विशेष

अब भी उदयभानसिंह जैसे धार्मिक पुत्रों को जन्म देने का सौभाग्य जाट जाति को ही प्राप्त है।

यदि पूर्व-काल में महारानी जिन्दा और वीर जननी किशोरी ने जाट जाति का माथा ऊँचा किया था तो इस काल में भी राजेन्द्रकुँवारी (भरतपुर के वर्तमान महाराज की माता श्री) अपने स्वाभिमान का परिचय दे गई हैं।

जाट जाति के अन्दर सदैव महापुरुष उत्पन्न हुए हैं और सदैव उससे होते रहेंगे, क्योंकि यह एक उर्वरा भूमि से अपनी समता रखती है।

❁ समाप्त ❁

सहायक सूची जाट इतिहास
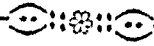
रक़म	नाम और पता
२५१)	श्रीयुत चौधरी लादूराम जी सरपंच खंडेलावाटी जाट पंचायत (जैपुर)
२००)	,, होतीलाल जी वर्म्मा प्रसिद्ध व्यवसायी, झरिया
१६०)	,, पौहकरराम जी पूरणसिंह जी ठेकेदार, सुजानगढ़
१०१)	,, कुंवर पृथ्वीसिंह जी, गोठरा (सीकर)
१०१)	,, कुंवर भूरसिंह जी, देवरोड़
१०१)	श्री माता स्वरूपादेवी जी, चौधरी फ्लावर मिल, रानीगंज
१००)	श्रीयुत चौधरी हरिश्चन्द्र जी, ढाका (भागलपुर)
१००)	,, सरदार हरलालसिंह जी, हनुमानपुरा (जयपुर)
१००)	,, कुंवर नेतरामसिंह जी, गोरीर (जयपुर)
१००)	,, हरिश्चन्द्र जी वकील, श्रीगंगा नगर
१००)	,, ठाकुर देशराज जी, जघीना (भरतपुर)
१००)	,, ठाकुर भोलासिंह जी, हुक्मसिंह जी, उपदेशक जाट महासभा
१००)	श्री खंडेलावाटी जाट पंचायत (जयपुर)
५१)	श्रीयुत चौधरी लादूराम जी, किसारी (जयपुर)
५१)	,, ,, चिमनाराम जी, साँगासी (जयपुर)
५१)	,, बाबू रतनलाल जी S. P. W. I. (जयपुर)
५१)	,, सेठ महादेवलाल जी कुलटी (बङ्गाल)
५०)	,, भाई दलेलसिंह जी हनुमानपुरा (जयपुर)
५०)	,, चौधरी घासीराम जी भागीरथसिंह जी, खारियावास (जयपुर)
५०)	,, सरदार कुरड़ाराम जी तहसीलदार, नवलगढ़